प्रथम संस्करण, १९५१
सप्तम संस्करण, १९६९

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रामकुमार वर्मा को सादर

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद
मुद्रक—ईगल ऑफसेट प्रिन्टर्स, १५, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद

व्यंजन

क —

ख —

ग —

घ —

ङ —

च —

छ —

ज —

झ —

झ —

ञ —

परिचय

हिन्दी में भाषाविज्ञान-सम्बन्धी साहित्य इतना कम है कि इस विषय पर लिखी गई प्रत्येक पुस्तक का हिन्दी भाषा-प्रेमी स्वागत करेंगे। जैसा कि भूमिका में स्पष्ट किया गया है, सुयोग्य लेखक का प्रस्तुत पुस्तक में विशेष मौलिकता का दावा तो नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इस विषय-सम्बन्धी सामग्री का संचय करने तथा उसे क्रमबद्ध रूप से सजाने में परिश्रम किया है। साथ ही भाषाविज्ञान-सम्बन्धी नवीन खोज तथा दृष्टिकोण का यथास्थान समावेश करने की ओर भी पूरा ध्यान दिया है।

लेखक ने इस विषय का अध्ययन नियमित रूप से विश्वविद्यालय में किया था, यह प्रसन्नता की बात है कि इस जटिल विषय के प्रति उनका अनुराग बना रहा और वे अपने अध्ययन को अधिक व्यापक तथा पूर्ण बनाने में निरंतर प्रयत्नशील रहे। वर्तमान पुस्तक उनके इस दिशा में सतत् परिश्रम का परिणाम है। मेरा विश्वास है कि पुस्तक उच्च कक्षा के विद्यार्थियों और इस विषय के प्रति अनुराग तथा जिज्ञासा रखने वाले साधारण पाठकों, दोनों के लिये हितकर सिद्ध होगी।

हिन्दी-प्रेमियों को आशा करनी चाहिये कि हिन्दी-साहित्य के इस आवश्यक, किन्तु साथ ही जटिल अंग की पूर्ति में सुयोग्य लेखक हाथ बटाते रहेंगे और उनकी लेखनी द्वारा लिखा भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अधिकाधिक प्रौढ़ साहित्य भविष्य में प्रकाश में आता रहेगा।

धीरेन्द्र वर्मा

अ –

म –

य –

र –

ल –

व –

श –

ष –

स –

ह –

ळ –

क्ष –

ज्ञ –

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में संशोधनों परिवर्तनों के अतिरिक्त कई नये अध्याय और उप-अध्याय जोड़ दिये गये हैं। इस संस्करण में मुझे अपने तीन मित्रों—डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ० एस० के० वर्मा, तथा डॉ० बाल गोविन्द मिश्र से बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिए मैं इनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

भोलानाथ तिवारी

प्रथम संस्करण की भूमिका से

एम० ए० के लिए भाषाविज्ञान का अध्ययन करते हुये मैंने अनुभव किया था कि हिन्दी या अंग्रेजी में इस विषय पर बहुत अच्छी-अच्छी विद्वतापूर्ण पुस्तकों के होते हुए भी कोई एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें साधारण पाठकों तथा एम० ए० आदि के विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित सारी सामग्री एक स्थान पर सुलभ हो। इसी अनुभव ने इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा दी।

पुस्तक लिखने में ग्रील, मैक्समूलर, ह्विटनी, वेबर, कार्लग्रेन, वेन्द्रिये, जेस्पर्सन, ब्लूमफील्ड, टक्कर, ग्रियर्सन, टर्नर, वेलवेलकर, बुलनर, भंडारकर, ओझा, गुणे, चटर्जी, तारापूरवाला, श्यामसुन्दरदास, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी, मंगलदेव शास्त्री तथा नलिनी मोहन सान्याल आदि विद्वानों के ग्रन्थों, लेखों या भाषणों से सहायता ली गई है, जिसके लिए इनका ऋणी हूँ। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, हिन्दी विश्वभारती, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, हिन्दुस्तानी तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी कुछ लेखों से सहायता मिली है। उनके लेखकों का भी आभारी हूँ।

'परिचय' लिखकर गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने मेरी पुस्तक को जो महत्त्व प्रदान किया है, उसके विषय में मेरा और मेरी पुस्तक का मौन ही कृतज्ञता प्रकाशन कर सकता है। अपनी कल्पना को इस प्रकार पुस्तकाकार होते देखकर सत्येन्द्र 'शरत्' को जो खुशी होगी, धन्यवाद सुनकर उसे समाप्त हो जाने की बहुत आशंका है, इसलिये इसकी कंजूसी ही अच्छी। उपयोगी सामग्री के चयन तथा उसके कुछ विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में डा० पारसनाथ तिवारी, डॉ० जयचंद राय, डॉ० मातावदल जायसवाल, डॉ० भोलानाथ 'भ्रमर' तथा डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल आदि अभिन्न मित्रों से लड़ने-झगड़ने से भी बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिये, जैसा कि उन लोगों का कहना है, वे मुझसे कम आभारी नहीं है।

पुनर्जन्म दिवस १२ अगस्त, १९५१
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

भोलानाथ तिवारी

विषय-तालिका

प्रवेश | १

भाषा किसे कहते हैं ?

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में रहने के नाते उसे सर्वदा आपस में विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी हम स्फुट शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं, तो कभी केवल सर हिलाने से हमारा काम चल जाता है। समाज के धनी वर्ग में निमंत्रण देने के लिए पत्र लिखे या छपवाये जाते हैं, तो गरीबों में या कुछ जातियों में हल्दी या सुपारी देना ही पर्याप्त होता है। स्काउट लोगों का विचार-विनिमय झंडियों द्वारा होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करत हैं नयनन ही सों बात'। चोर लोग अँधेरे में एक दूसरे का हाथ दबाकर ही अपने को प्रकट कर लिया करते हैं। इसी प्रकार करतल-ध्वनि, हाथ हिलाकर संकेत करना (पास बुलाने, दायें-बायें हटने या कहीं भेजने आदि के लिए), चुटकी बजाना, आँख घुमाना, आँख दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना या टेढ़ा करना, उँगली दिखाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों द्वारा हमारे विचार-विनिमय का कार्य चलता है। इन साधनों को हम निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(क) पहले वर्ग में वे साधन आते हैं, जिनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों का ग्रहण स्पर्श द्वारा होता है, जैसे चोरों का हाथ दबाना।

(ख) दूसरे वर्ग में वे साधन आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्त विचारों को समझने के लिए आँख की आवश्यकता होती है। हल्दी बाँटना, स्काउटों का झंडी दिखलाना या हाथ हिलाकर संकेत करना आदि इसी वर्ग के हैं।

(ग) तीसरे वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण साधन आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्त भावों का ग्रहण कान द्वारा होता है। इनका सम्बन्ध ध्वनि से होता है। करतल-ध्वनि, चुटकी बजाना, तार बाबू का टरा-टक्कू या गर-गट्ट करना, या बोलना आदि इस वर्ग के विचार-विनिमय के साधन हैं।

व्यापक रूप से विचार-विनिमय के उपर्युक्त तीनों[1] ही साधनों को भाषा कहा जा सकता है, किन्तु साधारणतया भाषा का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लिया जाता। वह केवल साधनों के अंतिम या तीसरे वर्ग तक ही सीमित मानी जाती है। बल्कि उसका रूप और भी सीमित हो जाता है; क्योंकि उसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले सभी साधनों को स्थान न देकर केवल बोलने को स्थान दिया गया है, और बोलना भी मनुष्यों का;

१. इन तीन के अतिरिक्त नासिका आदि अन्य इन्द्रियों से भी विचार-विनिमय हो सकता है, किन्तु प्रायः उपर्युक्त तीन का ही प्रयोग होता है।

पशु-पक्षियों का नहीं। मनुष्यों में भी गूँगों का बोलना नहीं। ऐसा बोलना, जिनके द्वारा परस्पर बातचीत की जा सकती हो।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद, 'भाषा की परिभाषा क्या होनी चाहिए, यह प्रश्न उठाया जा सकता है। यों इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि किसी की भी ठीक-ठीक परिभाषा देना बहुत ही कठिन है। परिभाषाओं में प्रायः अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष आ जाते हैं। 'अतिव्याप्ति' का आशय यह है कि परिभाषा को जितने पर लागू होनी चाहिए, वह उससे अधिक पर लागू हो, अर्थात् उसकी 'व्याप्ति' में 'अति' हो। उदाहरण के लिए, हम पुस्तक की परिभाषा दें कि 'पुस्तक उसे कहते हैं जिसे पढ़ा जाय' तो इसमें अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि चिट्ठी, पत्रिका, अखबार आदि भी पढ़े जा सकते हैं, यद्यपि वे पुस्तक नहीं हैं। इसी प्रकार यदि हम कहें कि 'पुस्तक उसे कहते हैं जिस पर जिल्द हो' तो इसमें अव्याप्ति दोष है, क्योंकि ऐसी भी पुस्तकें होती हैं, जिन पर जिल्द नहीं होती। यहाँ परिभाषा जितने पर लागू होनी चाहिए, उससे कम पर लागू हो रही है, अर्थात् परिभाषा की 'व्याप्ति' 'अ' (=नहीं) है, या उसमें अपेक्षित व्यापकता नहीं है। इस प्रसंग में कुछ लोग यह भी कहते हैं कि परिभाषा में असंभव दोष नहीं होना चाहिए। मेरे विचार में यह कहना तो ठीक है कि परिभाषा में अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष नहीं होने चाहिए, किन्तु असंभव दोष का प्रश्न नहीं उठता। जो व्यक्ति किसी को परिभाषित करने चलेगा, उसे कम-से-कम इतना ध्यान तो रहेगा ही कि वह असंभव परिभाषा न दे। उदाहरण के लिए, कोई भी व्यक्ति पुस्तक की परिभाषा 'वह जिसे खाया जाय' नहीं देगा।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं : (१) 'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'बोलना' या 'कहना'। अर्थात् 'भाषा वह है जिसे बोला जाय'। (२) प्लेटो ने 'सोफ़िस्ट' में विचार और भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अंतर है। 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।' (३) स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।' वेन्द्रेज कहते हैं, 'भाषा एक तरह का चिह्न है। चिह्न से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' आधुनिक भाषाशास्त्रियों में अधिकांश ने भाषा की परिभाषा लगभग एक-सी दी है। उदाहरणार्थ, (५) ब्लाक तथा ट्रेगर—A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group cooperates. (६) स्त्रुतेवाँ—A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate and interact. विश्वकोशों में भी लगभग यही बात कही गई है। (७) Language may be defined as an arbitrary

system of vocal symbols by means of which, human beings, as members of a social group and participants in culture interact and communicate.—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका। दो अन्य परिभाषाएँ हैं : (८) Language can be thought of as organised noise used in situations actual social situation, or in other words contextualised systemic sound.—हैलिडे। (९) Language is articulated limited sound organised for the purpose of expression.—क्रोचे।

वस्तुतः भाषा को उसके पूरे या व्यापकतम रूप में लें, तो ऊपर की सभी परिभाषाओं में अव्याप्ति दोष है। धात्वर्थ पर आधारित परिभाषा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों ही दोष हैं। भाषा अपने व्यापकतम रूप में 'वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा विचारों या भावों को अभिव्यक्त करते हैं।' किन्तु भाषा-विज्ञान में जिस भाषा का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है, वह भाषा इतनी व्यापक नहीं है। भाषा का वह रूप अपेक्षाकृत बहुत सीमित है। भाषा के उस सीमित रूप को दृष्टि में रखकर ही ऊपर की परिभाषाएँ दी गई हैं, और उनमें कई ठीक भी हैं।

वस्तुतः यदि गहराई से देखें तो भाषा में मूलभूत बातें निम्नांकित हैं—

(१) भाषा प्रयोक्ता के विचार आदि को श्रोता या पाठक आदि तक पहुँचाती है, अर्थात् वह विचार-विनिमय का साधन होती है।

(२) भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारणावयवों से निःसृत ध्वनि-समष्टि होती है। इसका आशय यह है कि अन्य साधनों से अन्य प्रकार की ध्वनियाँ (जैसे चुटकी बजाना, ताली, बजाना, आदि) से भी विचार-विनिमय हो सकता है, किन्तु वे भाषा के अन्तर्गत नहीं हैं।

(३) भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-समष्टियाँ (या शब्द) सार्थक तो होती हैं, किन्तु उनका भावों या विचारों से कोई सहजात सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध 'यादृच्छिक' या 'माना हुआ' होता है। इसीलिए भाषा में यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक (arbitrary vocal symbol) होते हैं। इसका आशय यह है कि किसी ध्वनि-समष्टि या शब्द का जो अर्थ है वह मात्र परंपरा के कारण, यों ही, बिना किसी नियम या कारण आदि के मान लिया गया है। यदि यह संबन्ध सहजात, स्वाभाविक या नियमित होता तो सभी भाषाओं में शब्दों का साम्य मिलता। अँग्रेज 'व्, आ, ट्, अ, र्' (वाटर) के योग को पानी समझता, तो इसका हिन्दी पर्याय भी लगभग यही होता। वह प्, आ, न्, ई (पानी) का योग न होता। इसी कारण एक ही वस्तु, भाव या विचार के लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्द मिलते हैं। इस प्रसंग में कभी-कभी एक प्रकार की शंका उठाई जाती है। वह शंका ध्वन्यात्मक (Onomotopoetic) शब्दों के बारे में है। लोगों की धारणा है कि यदि अन्य नहीं तो कम से कम ध्वन्यात्मक शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ध्वनि से है। इसमें संदेह नहीं कि ध्वन्यात्मक (तड़तड़, धड़धड़, भों-भों आदि) शब्दों में, अर्थ का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध ध्वनि से अवश्य है, किन्तु वह इतना अधिक नहीं है,

जितना प्रायः लोग मानते हैं। यदि यह सम्बन्ध पूर्ण होता तो सभी भाषाओं में 'तड़तड़ाहट' को 'तड़तड़ाहट' ही कहते। कुत्ते सारे संसार में प्रायः एक से भूँकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उसके भूँकने की ध्वनि के लिए प्रयुक्त शब्द सारी भाषाओं में एक या एक-से होने चाहिए। किन्तु, तथ्य यह है कि इसके लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में बहुत अंतर है। उदाहरणार्थ, हिन्दी भौं-भौं, अँग्रेजी bow-bow, फ्रांसीसी gnaf-gnaf, जापानी wan-wan, रूसी गफ़-गफ़, उजबेक वोव-वोव, गुजराती भस-भस, तथा तमिल कोल-कोल आदि। इसका अर्थ यह है कि एक ही ध्वनि के लिए विभिन्न भाषाओं में थोड़े-बहुत अनुकरण का सहारा लेते हुए बिना किसी खास नियम या पूर्ण व्यवस्था के ही ये शब्द बना या मान लिये गये हैं। यही स्थिति सभी प्रकार के शब्दों के बारे में है। यदि शब्द या भाषा में प्रयुक्त ये सार्थक ध्वनि-समष्टियाँ यों ही मानी हुई या यादृच्छिक (arbitrary) न होतीं तो संसार की सभी भाषाएँ लगभग एक-सी होतीं। हिन्दी का 'भाषा' शब्द अंग्रेजी में 'लैंग्विज', फ़ारसी में 'जबान', रूसी में 'यज़िक', जर्मन में 'स्प्राखे', अरबी में 'लिस्सान' तथा ग्रीक में 'लेइख्ेइन' न होता। यों इसमें संदेह नहीं कि इस यादृच्छिकता की अपनी सीमा होती है। ऐसा भी असंभव नहीं कि अनेक शब्दों के निर्माण के समय निर्माणकर्त्ता के मस्तिष्क में या उसके सामने कुछ ऐसे आधार रहे हों जिन्होंने शब्द के बनाने में सहायता की हो। साथ ही भाषा के अस्तित्व में आ जाने के बाद ऐसे बहुत से शब्द बनते हैं (वायुयान, रेलगाड़ी, घुसपैठिया) जो यादृच्छिक न होकर साधार होते हैं।

(४) भाषा में एक व्यवस्था (System) होती है। भाषा अव्यवस्थित नहीं है। इस संबंध में यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि अत्यंत प्राचीन काल में भाषा अपेक्षाकृत अधिक अव्यस्थित रही होगी। ज्यों-ज्यों हम विकास कर रहे हैं, हमारी भाषाएँ अधिक व्यवस्थित और नियमित होती जा रही हैं। एसपैरेंतो-जैसी कृत्रिम भाषाएँ तो पूर्णतः व्यवस्थित हैं, और उनमें तो अपवाद जैसी कोई चीज ही नहीं है।

(५) एक भाषा का प्रयोग एक विशेष वर्ग या समाज में होता है। उसी में वह बोली और समझी जाती है।

उपर्युक्त सारी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भाषा की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

भाषा, उच्चारण-अवयवों से उच्चरित मूलतः प्रायः यादृच्छिक (arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा किसी भाषा-समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

भाषाविज्ञान की परिभाषा

ऊपर हम लोग भाषा की परिभाषा पर विचार कर चुके हैं। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही 'भाषाविज्ञान' कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास आदि के अध्ययन से है।

भाषाविज्ञान के निम्नांकित कई प्रकार हैं—

(१) समकालिक (Synchronic)—'समकालिक' का अर्थ है किसी एक समय या काल का। इसे 'सांकालिक' भी कहते हैं। यह शब्द ऐतिहासिक का उलटा है। इतिहास में किसी लम्बे काल को लेते हैं, किन्तु उसकी तुलना में समकालिक में एक समय को ही लेते हैं। यह किसी भाषा की एक स्थिति का चित्र देता है, इसीलिए इसे स्थित्यात्मक कहा गया है। उदाहरण के लिए, आज हिन्दी का स्वरूप क्या है, यह अध्ययन समकालिक भाषाविज्ञान के अंतर्गत आयेगा। ऐतिहासिक अध्ययन कई समकालिक अध्ययनों का शृङ्खलाबद्ध रूप होता है। समकालिक के अब कई भेद किए जा सकते हैं जिनमें मुख्य दो हैं—

(क) वर्णनात्मक (Descriptive)—इसमें किसी भाषा का एक समय में वर्णन किया जाता है। वर्णन से आशय उसकी ध्वनियों, रूप एवं वाक्य-गठन आदि के वर्णन से है। ग्लीसन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (An Introduction to Descriptive Linguistics) में इसके स्वरूप को विस्तार से समझाया है।

(ख) संरचनात्मक (Structural)—इसे हिन्दी में रचनात्मक, गठनात्मक घटनात्मक, संघटनात्मक आदि कई नामों से अभिहित किया गया है। इसे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है, जिसमें वर्णनात्मक भाषा विज्ञान की तो सारी बातें आ ही जाती हैं, साथ ही भाषा विशेष की पूरी संरचना (structure) का विश्लेषण करके उसकी आन्तरिक व्यवस्था को भी सामने लाते हैं। समकालिक में इन दो के अतिरिक्त स्तरिक व्याकरण (stratificational grammar), बंघिमी (tagmemics) तथा रूपांतरिक (transformational) व्याकरण भी लिए जा सकते हैं। हैरिस की पुस्तक 'Methods in Structural Linguistics' इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

(२) ऐतिहासिक (Diachronic या Historical)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें कई समकालिक अध्ययन को मिला देते हैं तथा इसमें समय के साथ भाषा विशेष में हुए परिवर्तन या विकास का अध्ययन करते हैं। इस तरह इसमें किसी भाषा के विभिन्न कालों का स्वरूप शृङ्खलाबद्ध रूप में सामने आ जाता है। पीछे समकालिक को स्थित्यात्मक कहा जा चुका है। उसकी तुलना में यह गत्यात्मक या विकासात्मक होता है।

(३) तुलनात्मक (Comparative)—इसमें प्रायः एक परिवार की दो या अधिक भाषाओं का ध्वनि, रूप, शब्द-समूह, वाक्य-गठन आदि दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। यों एक से अधिक परिवार की भाषाओं का भी इस प्रकार का अध्ययन किया जा सकता है।

परंपरागत रूप में प्रायः ऐतिहासिक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान को एक ही माना जाता है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक अध्ययन प्रायः तुलनात्मक होता है। किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास को देखने के लिए तुलनात्मक दृष्टि भी डालनी ही पड़ती है। साथ ही किसी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में या उसके पुराने रूप के पुनर्निर्माण में तुलनात्मक पद्धति की सहायता अनिवार्य हो

जाती है। बल्कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्राचीन काल (१९२५ के पूर्व) का भाषाविज्ञान, तुलनात्मक और ऐतिहासिक ही था। इसीलिए उसे तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative Philology) या ऐतिहासिक भाषाविज्ञान (Historical Philology) कहते थे। किन्तु अब यह दृष्टिकोण छोड़ दिया जाना चाहिए, क्योंकि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, समकालिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। उदाहरणार्थ, आज की पंजाबी और खड़ीबोली का तुलनात्मक अध्ययन करके साम्य-वैषम्य आदि विषयक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। दूसरी ओर इन दोनों भाषाओं के इतिहास या विकास का भी तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। कहना न होगा कि ये दोनों प्रकार के अध्ययन तुलनात्मक हैं, यद्यपि प्रथम केवल समकालिक है, और दूसरा ऐतिहासिक। इसीलिए तुलनात्मक भाषाविज्ञान को ऐतिहासिक से अलग स्थान देना उचित है।

(४) इन तीन के अतिरिक्त भाषाविज्ञान या भाषा-अध्ययन का एक प्रायोगिक (applied) रूप भी अब विकसित हो गया है, जिसे प्रायोगिक भाषाविज्ञान (Applied Linguistics) कहते हैं। इसमें विदेशी या देशी भाषा कैसे पढ़ाएँ, पाठ्य पुस्तकें, व्याकरण एवं कोश आदि कैसे बनाएँ, अनुवाद कैसे करें, टाइपराइटर या भाषा से सम्बद्ध अन्य यंत्रों में ध्वनि आदि की व्यवस्था कैसे करें, किसी भाषा के व्याकरण कैसे बनाएँ, भाषा-सर्वेक्षण कैसे करें तथा लोगों की उच्चारण-विषयक अशुद्धियों आदि को कैसे दूर करें, आदि व्यावहारिक बातों को लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भाषाविज्ञान के निम्नांकित प्रकार हो सकते हैं :
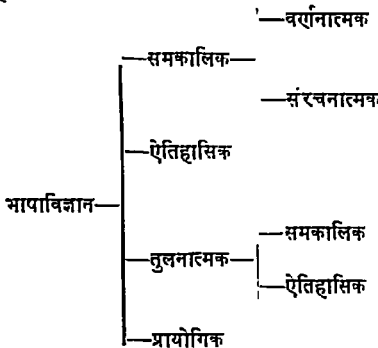
भाषाविज्ञान में इन पद्धतियों पर भाषाओं का अध्ययन कर विभिन्न भाषाओं के रूप और इतिहास आदि की जानकारी तो प्राप्त की ही जाती है, साथ ही इसी अध्ययन के आधार पर भाषा (सामान्य) की उत्पत्ति, उसकी आरम्भिक अवस्था, विकास (बाह्य और आंतरिक) तथा गठन आदि के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का निर्धारण भी होता है। इसका आशय यह है कि भाषाविज्ञान के अध्ययन के दो रूप हैं : (१) एक तो भाषाओं

का वर्णनात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक या प्रायोगिक अध्ययन, और (२) दूसरे उस अध्ययन के आधार पर भाषा के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का अध्ययन और निर्धारण। आगे फिर इन सिद्धान्तों के आधार पर भाषाओं का अध्ययन होता है। इस प्रकार दोनों रूप एक दूसरे का सहारा लेते हुए आगे बढ़ते हैं।

भाषाविज्ञान के इन दोनों रूपों को क्रम से 'व्यावहारिक' (practical) रूप और 'सैद्धान्तिक' रूप कहा जा सकता है। भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक रूप में भाषा-विषयक सिद्धान्तों का अध्ययन और निर्धारण होता है, और प्रयोगात्मक रूप में भाषा-विशेष का सिद्धान्तों के आधार पर अध्ययन होता है।

भाषाविज्ञान नाम से प्राय: भाषाविज्ञान के सैद्धांतिक रूप का ही अर्थ लिया जाता है। इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान की निम्नलिखित परिभाषा हो सकती है—

जिस विज्ञान के अन्तर्गत समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक (इसमें बहुत कम सहायता मिलती है) अध्ययन के सहारे भाषा (विशिष्ट नहीं, अपितु सामान्य) की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे 'भाषाविज्ञान' कहते हैं।

भाषाविज्ञान का, यदि केवल सैद्धांतिक रूप ही दृष्टि में न रखा जाय तो कहा जा सकता है—

भाषाविज्ञान वह विज्ञान है. जिसमें भाषा—विशिष्ट, कई और सामान्य—का समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।

भाषाविज्ञान का नाम

भाषाविज्ञान के लिए आरम्भ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ, उनमें Comparative Grammar उल्लेख्य है। पहले लोग व्याकरण और भाषाविज्ञान को मूलत एक मानते थे, भाषाविज्ञान में कोई विशेषता यदि थी, तो उसके तुलनात्मक (comparative) होने की। इसी कारण उसे 'कम्परेटिव ग्रामर' (Comparative Grammar) कहा गया, किन्तु यह स्पष्ट हो जाने पर कि भाषाविज्ञान केवल तुलनात्मक व्याकरण ही नहीं है, यह नाम छोड़ दिया गया। १९वीं सदी में भाषाविज्ञान में भाषाओं की तुलना पर पर्याप्त बल दिया जाता था। इस अधार पर इन लोगों ने 'कंपरेटिव फ़िलालोजी' (Comparative Philology) कहा। यह नाम कुछ दिन तक चला, पर बाद में यह भी छोड़ दिया गया। इसमें सबसे अधिक आपत्ति 'कम्परेटिव' (तुलनात्मक) शब्द पर थी, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान प्राय: सर्वदा ही तुलनात्मक होता है, अत: यह पूंछ व्यर्थ थी। सन् १७१६ ई० में डेवीज़ ने भाषाविज्ञान के मिलते-जुलते अर्थ में ग्लासॉलोजी (Glossology) का प्रयोग किया था। १९वीं सदी के प्रथम तीन चरणों में भाषाविज्ञान के लिए इसका प्रयोग कुछ लोगों ने किया, किन्तु बाद में यह भी न चल सका। इसी प्रकार प्रिचर्ड ने १८४१ में ग्लाटॉलोजी (Glottology) का प्रयोग भाषाविज्ञान के लिए किया। बाद में मैक्समूलर ने थोड़े भिन्न अर्थों में इसका

प्रयोग किया। २०वीं सदी के आरम्भ में टकर ने इस विज्ञान के नामों पर विचार करते हुए Glottology को सर्वोत्तम ठहराया, किन्तु उनके बाद किसी ने इस नाम को याद करने का भी गौरव न दिया।

कई देशों में इसके लिए फ़िलालोजी (Philology) शब्द चलता रहा है। भारत में पुरानी पीढ़ी के लोगों में (तथा कुछ अन्य देशों में भी) तो आज भी यह शब्द प्रचलित है। 'फिलालॉजी' मूलतः यूनानी भाषा का शब्द है। इसमें Philos का अर्थ है 'प्यार' या 'प्रेमी' और logos का अर्थ है 'बातचीत', 'शब्द, या 'भाषा' आदि। यूनानी से लैटिन में इसका रूप Philologia और फ्रांसीसी में Philologie हुआ। अंग्रेजी 'फिलालोजी' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सन् १३८६ ई० में मिलता है। उस समय इसका अर्थ था—व्याकरण, आलोचना, साहित्य और ज्ञान का प्रेम। बाद में विकसित होकर इसका अर्थ हो गया, 'वह ज्ञान जो ग्रीक और लैटिन आदि क्लैसिकल भाषाओं को समझाने में सहायता दे'। भाषाविज्ञान के लिए अंग्रेजी में इस शब्द का पहला प्रयोग १८वीं सदी के दूसरे दशक में मिलता है। बीच में जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इसके साथ 'कम्परेटिव' शब्द जोड़ दिया गया था, पर फिर व्यर्थ समझ कर हटा दिया गया। भाषाविज्ञान के आधुनिक विद्वान् अब इस शब्द को पसन्द नहीं करते। फ्रांसीसी भाषा में तो इस (Philologic) का प्रयोग 'पाठ-विज्ञान' के लिए भी होता है, और यों अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन में 'फिलालोजी' में भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त साहित्य, शैली तथा इनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि भी आता है। कभी-कभी इसका अर्थ साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भाषा का अध्ययन भी किया जाता है।

अंग्रेजी में इस विज्ञान के लिए 'साइन्स ऑव लैंग्वेज' नाम भी चलता है, किन्तु यह नाम एक फ्रेज जैसा है। अपनी लम्बाई के कारण ही नाम जैसा नहीं लगता। आज इसके लिए अधिक प्रचलित (और कदाचित ठीक भी) नाम लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) है। इसका आधार लैटिन शब्द lingua (= जीभ) है। मूलतः भाषाविज्ञान के अर्थ में Linguistique रूप में यह शब्द फ्रांस में चला और वहाँ से 'Linguistic' रूप में १९वीं सदी के चौथे दशक में यह अंग्रेजी में गृहीत हुआ और लगभग दो दशकों तक इसी रूप में चलता रहा। छठे दशक से इसका रूप Linguistics हो गया और तब से यही नाम चल रहा है। फ्रेंच में यह अब भी Linguistique है। जर्मन में Sprachwissenschaft नाम प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ भी भाषाविज्ञान है। यही दशा रूसी की भी है। उसमें यजिकाज्नानिये शब्द है, जिसमें 'यजिक' तो 'भाषा' या 'जिह्वा' है और 'ज्नानिये' विज्ञान। यों Filologiya तथा Linguistika भी चलते हैं।

भारत में ठीक आज के अर्थ में तो भाषाविज्ञान जैसा विषय पहले कभी नहीं था, किन्तु उसके समीपवर्ती अर्थों में प्राचीन काल में निर्वचन-शास्त्र, व्याकरण, शब्दानुशासन तथा शब्दशास्त्र आदि का प्रयोग होता था। आधुनिक काल में तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, भाषाविचार, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, शब्दशास्त्र, भाषा-तत्त्व,

शब्द-तत्त्व, भाषालोचन (पंडित सीताराम चतुर्वेदी की पुस्तक), भाषिकी आदि शब्द हिन्दी, मराठी तथा बंगला आदि में प्रयुक्त हो रहे हैं। हिन्दी में 'भाषाविज्ञान' अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो गया है। यों कुछ लोगों का कहना है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फ़िलालोजी' का प्रतिशब्द था, और आज 'फ़िलालोजी' शब्द इस विज्ञान के नये अर्थ का द्योतक नहीं है, अतः 'भाषाविज्ञान' शब्द को फिलालोजी का प्रतिशब्द मान कर, उसी के स्थान पर प्रयुक्त करना चाहिए, और 'लिंग्विस्टिक्स' के अर्थ में 'भाषा तत्त्व' को अपना लेना चाहिए। किन्तु तथ्य यह है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फ़िलालोजी' का समानार्थी भले ही रहा हो, किन्तु हिन्दी आदि में उसका प्रयोग और अर्थ 'लिंग्विस्टिक्स' से भिन्न प्रायः नहीं रहा है, साथ ही वह, इस विज्ञान के लिए, अपने यहाँ दो-तीन दशकों से अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित भी है, अतएव 'लिंग्विस्टिक्स' के स्थान पर हिन्दी में 'भाषाविज्ञान' का प्रयोग ही उचित माना जा सकता है। यों 'भाषाशास्त्र'[1] या इस तरह के अन्य नामों में भी कोई अशुद्धि नहीं है, किन्तु एक विज्ञान के लिए एक ही शब्द निश्चित कर लेना स्पष्टता आदि की दृष्टि से अधिक अच्छा रहता है।

इधर कुछ लोगों ने भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र में अन्तर करते हुए आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए भाषाशास्त्र नाम को उपयुक्त माना है। डॉ० उदय नारायण तिवारी लिखते हैं कि "अमेरिका में फ़िलालोजी शब्द (भाषाविज्ञान) का व्यवहार प्राचीन भाषा तथा साहित्य एवं शिलालेखों की भाषा के अध्ययन के संदर्भ में किया जाता है। दूसरे शब्दों में फ़िलालोजी के अन्तर्गत प्राचीन भाषा-सामग्री का विश्लेषण किया जाता है और लिंग्विस्टिक्स (भाषाशास्त्र) के अंतर्गत आधुनिक जीवित भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत केवल कथ्य भाषा की ही व्याख्या की जाती है। साहित्य की लिखित भाषा-सामग्री की व्याख्या प्रस्तुत करना इस विषय की सीमा के बाहर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लिंग्विस्टिक्स भाषा के यथातथ्य रूप का अध्ययन करता है, आदर्श रूप का नहीं।"

इस सम्बन्ध में मुझे निम्नलिखित बातें कहनी हैं—(क) यह बात अपने आप में अजीब-सी लगती है कि पुरानी भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करना हो तो हम भाषावैज्ञानिक अध्ययन कहें और आधुनिक भाषा का अध्ययन -विश्लेषण करना हो तो भाषाशास्त्रीय अध्ययन कहें। अध्ययन-विश्लेषण की किसी भी शाखा में इस प्रकार का अन्तर बहुत सार्थक नहीं कहा जा सकता। (ख) और मान लें किसी भाषा के पूरे इतिहास पर काम किया गया और एक पुस्तक प्रकाशित हुई, तो क्या उस पुस्तक के उन अंशों को, जो पुराने साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्र आदि के आधार पर लिखे गए हैं (मान लें

---

१. डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'भाषाशास्त्र' को लिंग्विस्टिक्स के लिए अशुद्ध नाम माना है। किन्तु आज 'शास्त्र' शब्द, मात्र अपने मूल अर्थ में ही न प्रयुक्त होकर बहुत विस्तृत अर्थ रखने लगा है। यदि 'भौतिकशास्त्र', 'तर्कशास्त्र', 'रसायनशास्त्र' आदि में उसका प्रयोग ठीक है, तो 'भाषाशास्त्र' में उसके अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं दीखता।

१००० से ४०० तक की हिन्दी), भाषाविज्ञान का कहेंगे और उस अंश को जो २०वीं सदी उत्तरार्ध से सम्बद्ध है, भाषाशास्त्र का कहेंगे ! वह पुस्तक किस विषय की कहलाएगी, भाषाविज्ञान की या भाषाशास्त्र की ? (ग) लिंग्विस्टिक्स की एक शाखा ऐतिहासिक भी है जिसमें भाषा के इतिहास पर विचार किया जाता है और यदि भाषा विशेष का इतिहास प्राचीन है तो इसमें साहित्य, शिलालेख आदि से मदद लेनी ही पड़ेगी। तो क्या भाषाशास्त्र की यह शाखा भाषाविज्ञान कहलायेगी ? (घ) 'फिलॉलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' में जो भेद है, वह वस्तुतः ठीक उस प्रकार का नहीं है जैसा कि डॉ० उदय नारायण तिवारी के उद्धरण में है। जहाँ तक मैं समझता हूँ 'फ़िलालोजी' का कभी-कभी अर्थ लिया जाता है साहित्यिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन, जैसा कि डॉ० गुणे ने किया है। इसी प्रकार कुछ मतों के अनुसार पाठविज्ञान भी उसमें समाहित है। वेब्स्टर के अनुसार फिलालोजी 'Study of literature that includes or may include grammar, criticism, literary history, language history, system of writing and any thing else that is relevant to literature or to language as used in literature.' है। किन्तु, हमारे यहाँ भाषाविज्ञान इस व्यापक अर्थ में कभी भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः उसे 'फ़िलालोजी' का प्रतिशब्द मानने का कोई ठोस आधार नहीं है। इस तरह मेरे विचार में भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र में ऐसा भेद करना बहुत वांछनीय नहीं है। प्रचलित नाम भाषाविज्ञान हर दृष्टि से भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए काफी अच्छा है। यों आवश्यकता पड़ने पर भाषाशास्त्र को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला ?

जैसा कि पीछे भाषाविज्ञान पर विचार करते समय कहा जा चुका है, इसमें भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, और इस तरह स्पष्ट ही यह विज्ञान है।

'विज्ञान' शब्द का मूल अर्थ 'विशिष्ट ज्ञान' है। उपनिषदों में इसका प्रयोग 'ब्रह्मविद्या' के लिए भी हुआ है। आज सामान्य प्रयोग में 'शास्त्र' में और इसमें कोई भेद प्रायः नहीं किया जाता। यों मूलतः शास्त्र और विज्ञान में अंतर है। 'विज्ञान' तो 'विशेष ज्ञान' है और शास्त्र 'शासन करने वाला' है, अर्थात् वह यह बतलाता है कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय। अपने यहाँ अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र के प्राचीन प्रयोग इसी ओर संकेत करते हैं। इस अर्थ में व्याकरण को शास्त्र कह सकते हैं, किन्तु इस मूल अर्थ की दृष्टि से भाषाविज्ञान को शास्त्र नहीं कह सकते। यह बात दूसरी है कि अब मूल अर्थ भुला दिया गया है और 'विज्ञान' तथा 'शास्त्र' पर्याय से हो गए हैं। इसीलिए राजनीतिक विज्ञान (Political Science) तथा राजनीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान और भौतिक शास्त्र, समाजविज्ञान और समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और मानवशास्त्र एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि भाषाविज्ञान किस सीमा तक विज्ञान है। वस्तुतः 'विज्ञान' का अर्थ आज के प्रयोग में केवल एक नहीं है। गणित,

भौतिक और रसायन जिस अर्थ में विज्ञान हैं, ठीक उसी अर्थ में मानवविज्ञान, राजनीति-विज्ञान, समाजविज्ञान आदि विज्ञान नहीं हैं। विज्ञान में प्रायः विकल्प नहीं होता और उसके सत्य (जैसे अमुक कारण हो तो अमुक कार्य होगा) काफी सीमा तक देश-काल से परे, अर्थात् सार्वत्रिक और सर्वकालिक होते हैं। ये बातें गणित या भौतिकी पर जितनी लागू होती हैं, उतनी राजनीतिविज्ञान आदि पर नहीं, फिर भी वे विज्ञान कहे जाते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान विज्ञान तो है, किन्तु उस सीमा तक नहीं जितना कि गणितादि। यों इसमें सन्देह नहीं कि दिनोंदिन यह विकसित तथा अधिक वैज्ञानिक होता जा रहा है।

अब 'विज्ञान' और 'कला' का प्रश्न लें। अध्ययन के विषयों को विज्ञान और कला दो वर्गों (वाणिज्य आदि के अतिरिक्त) में बाँटा जाता रहा है। बी० ए०, एम० ए० या आर्ट्स फैकल्टी में 'कला' का यही अर्थ है। वस्तुतः ज्ञान की इन दो शाखाओं के कारण ही यह प्रश्न उठा था कि भाषाविज्ञान 'विज्ञान' है या 'कला'। यह बात ध्यान देने की है कि इस प्रश्न में 'कला' का अर्थ 'ललित' या 'उपयोगी कला' नहीं है, जैसा कि कुछ लोग ले लेते हैं। इस प्रकार भाषाविज्ञान, 'ललित कला' या उपयोगी कला' में कला का जो अर्थ है, उस दृष्टि से तो कला नहीं है, किन्तु बी०ए० आदि में कला का जो विस्तृत अर्थ है, उस दृष्टि से कला है, क्योंकि मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ऐसे विषय जो रसायन, भौतिकशास्त्र आदि की भाँति निश्चित विज्ञान (exact science) नहीं हैं, कला के ही अन्तर्गत आते हैं। भाषाविज्ञान भी लगभग इन्हीं की कोटि का है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि इस रूप में 'कला' का अर्थ या क्षेत्र बहुत निश्चित नहीं है। गणित को इस संदर्भ में कला में रखते भी हैं और नहीं भी रखते। कुछ विश्वविद्यालयों में बी० एस-सी० पास व्यक्ति गणित में मास्टर की डिग्री ले तो उसे एम० एस-सी० की उपाधि मिलती है, और बी० ए० पास व्यक्ति डिग्री ले तो उसे एम० ए० की उपाधि मिलती है। यही नहीं, यूरोप के कुछ विश्वविद्यालय सभी विषयों को साइंस मानकर साइंस की डिग्री देते हैं तथा कुछ परंपरागत रूप से सभी में आर्ट की।

आजकल अध्ययन के विषयों को मोटे रूप से तीन वर्गों में रखने की परम्परा चल पड़ी है : (क) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science), जैसे भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि; (ख) सामाजिक विज्ञान (Social Science), जैसे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि; (ग) मानविकी (Humanities), जैसे साहित्य, संगीतशास्त्र, चित्रकला आदि। यदि भाषा-विज्ञान को इनमें रखने की बात उठाई जाए तो वह समवेत रूप से सामाजिक विज्ञान के निकट पड़ेगा। यों यदि उसके विभिन्न विभागों की ओर दृष्टि दौड़ाएँ तो उसकी ध्वनि-विज्ञान-शाखा, विशेषतः ध्वनि के उच्चरित होने के बाद कान तक के संचरण का अध्ययन, प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में पड़ता है तो उसकी शैलीविज्ञान-शाखा एक सीमा तक मानविकी में।

व्याकरण और भाषाविज्ञान

'व्याकरण' शब्द का अर्थ है 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थात् 'टुकड़े-टुकड़े करके उसका

ठीक स्वरूप दिखाना।' यह किसी भाषा के टुकड़े-टुकड़े करके उसके ठीक स्वरूप को दिखाता हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है (साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरण स्मृतिः—वाक्यपदीय), यह शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग का ज्ञान कराता है। इस प्रकार किसी भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिए व्याकरण सीखा जाता है। पहले लोग व्याकरण और भाषा-विज्ञान में अधिक अन्तर नहीं मानते थे, इसीलिए भाषाविज्ञान को तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) कहा गया था, किन्तु यथार्थतः इन दोनों में पर्याप्त भेद है। यदि शास्त्र तथा विज्ञान का ठीक और मूल अर्थ में प्रयोग करें तो व्याकरण शास्त्र है तथा भाषाविज्ञान विज्ञान। यों साम्य भी है। आगे संक्षेप में कुछ बातें दी जा रही हैं—

साम्य

(१) दोनों का सम्बन्ध भाषा के अध्ययन से हैं। (२) व्याकरण के समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक ये तीन भेद होते हैं। भाषाविज्ञान के भी इस प्रकार के रूप हैं, जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है। दोनों के इन समनामी रूपों में पर्याप्त साम्य भी है। यों कुछ लोगों ने व्याकरण और वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को एक ही माना है, किन्तु वस्तुतः दोनों एक नहीं हैं।

भेद

(१) भाषाविज्ञान 'विज्ञान' है। यह भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। किन्तु व्याकरण का रूप इससे भिन्न है। वह भाषा का विवेचन तो करता है, किन्तु साथ ही भाषा को शुद्ध रूप में बोलना, समझना और लिखना आदि सिखाता भी है। करणीय-अकरणीय प्रयोगों का ज्ञान कराने के कारण वह शास्त्र है। साथ ही दैनिक जीवन में उपयोगिता के कारण किसी अंश तक वह कला भी है। स्वीट ने इसीलिए व्याकरण को भाषा की कला और विज्ञान दोनों ही कहा है।

(२) व्याकरण का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। उसका ध्यान एक भाषा के रूप पर ही प्रायः केन्द्रित रहता है, पर दूसरी ओर यद्यपि 'भाषाविज्ञान' 'बहुभाषा-ज्ञान' नहीं है, किन्तु उसमें प्रायः एकाधिक भाषाओं की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही वह अनेक भाषाओं के अनेक प्रकार के अध्ययनों द्वारा अनेक शास्त्रों और विज्ञानों से सहायता लेता और अपने सामान्य सिद्धान्तों का भी निर्धारण करता है। वह इस दिशा में कार्य करता है, व्याकरण के भी दार्शनिक आधारों की व्याख्या करता है, किन्तु व्याकरण में इस प्रकार के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन प्रायः नहीं आता है।

(३) व्याकरण सीधे किसी भाषा के नियम तथा साधु रूप आदि सामने रख देता है। वह वर्णन-प्रधान है। भाषा के व्यावहारिक पक्ष पर ही उसका ध्यान केन्द्रित रहता है, कारण आदि पर नहीं; किंतु भाषाविज्ञान विवेचन और शोध-प्रधान है, उसका ध्यान रूप आदि के पूरे-पूरे विवेचन, कारण तथा इतिहास आदि पर जाता है। प्रयोग-निर्देश पक्ष उसका विषय ही नहीं है। भाषाविज्ञान सीधे यह नहीं कह देगा कि हिन्दी में 'जाना' क्रिया का सामान्य भूत का रूप गया होगा, जैसा कि व्याकरण कहता है। वह

जांच-पड़ताल आरम्भ करेगा और अंत में यह भी बतलाएगा कि हिन्दी की 'जा' क्रिया से मूलत: 'गया' का संबंध नहीं है। वह संस्कृत धातु 'गम्' के रूप 'गत:' का विकसित रूप है जबकि 'जा' का संबंध धातु 'या' से है। आज 'गम्' धातु का यह एक ही रूप बचा है, अन्य सारे रूप 'या' या 'जा' के हैं, अत: इसे भी 'जा' से सम्बद्ध मान लिया गया है। यदि कोई संस्कृत में 'एकादश' न कहकर 'एकदश' कहे तो व्याकरण केवल असाधु प्रयोग कह कर मौन हो जायगा, किन्तु भाषाविज्ञान इसे स्पष्ट करेगा कि एकदश ही कभी शुद्ध रहा होगा, पर बाद में 'द्वादश' के सादृश्य से उसे 'एकादश' हो जाना पड़ा। व्याकरण मात्र इतना कहकर संतोष कर लेगा कि बँगला में अपेक्षाकृत लिंग का ध्यान कम रखा जाता है, किन्तु भाषाविज्ञान उसका कारण भी देगा कि संभवत: यह आसपास की मुंडा आदि भाषाओं का प्रभाव है। इस प्रकार व्याकरण के मूल का पूर्ण विवेचन भाषाविज्ञान का कार्य है और इस प्रकार वह व्याकरण का भी व्याकरण है।

(४) एक प्रकार से व्याकरण भाषाविज्ञान का अनुगामी है। भाषाविज्ञान नये विकासों का भी लेखा-जोखा लेता चलता है, बाद में उसे व्याकरण साधु मानता चलता है। इसी कारण फ्रांस में प्राय: प्रति दसवें वर्ष व्याकरण में परिवर्तन कर देने की परंपरा रही है। इस रूप में भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अधिक से अधिक जीवित रूप से होता है, पर व्याकरण इतना प्रगतिवादी नहीं है। वह जीवित रूपों को प्रारम्भ में असाधु मानता है। हाँ, कुछ दिन में उसे इनके प्रयोगों के आगे झुकना अवश्य पड़ता है, और उस असाधु को साधु स्वीकार करना पड़ता है। भाषाविज्ञान के अंतर्गत ध्वनि-विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनांत माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है, किंतु व्याकरण के ग्रन्थों में अभी हाल तक और कुछ में तो अब भी इन्हें अकारांत माना जाता है। धीरे-धीरे व्याकरण भाषाविज्ञान की इस मान्यता को ग्रहण कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है और इसकी तुलना में भाषाविज्ञान प्रगतिवादी या नवींनतावादी है। यह व्याकरण की प्राचीनवादिता का ही परिणाम है कि संस्कृत के विकास से उत्पन्न भाषाओं के 'प्राकृत' (=असंस्कृत) और 'अपभ्रंश' (=बिगड़ी हुई) जैसे नाम पड़े और दूसरी ओर यह भाषाविज्ञान की प्रगतिवादिता का ही ज्वलन्त उदाहरण है कि यह 'धर्म' से 'धम्म' या 'धरम' हो जाने को 'अवनति' या 'विकार' न मानकर 'विकास' मानता है।

(५) आधुनिक मतानुसार व्याकरण के प्रमुख विवेच्य हैं भाषा की रूप-रचना और वाक्य-गठन, किन्तु भाषाविज्ञान ध्वनि, अर्थ, शब्द-समूह और लिपि आदि की भी विवेचना प्रस्तुत करता है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन के विभाग

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में भाषा-सम्बन्धी लगभग सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है। इनमें कुछ प्रश्न तो अपना अधिक महत्त्व रखते हैं और कुछ साधारण।

यद्यपि यह महत्त्व इतना कम नहीं होता कि उनको छोड़ दिया जा सके। इस प्रकार इन प्रश्नों या विभागों के प्रधान और गौण दो वर्ग बनाए जा सकते हैं।

क : प्रधान

(१) वाक्यविज्ञान (Syntax)—हम ऊपर कह चुके हैं कि भाषा का प्रधान कार्य विचार-विनिमय है और विचार-विनिमय वाक्यों द्वारा किया जाता है; अतः वाक्य ही भाषा में सबसे अधिक स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। भाषाविज्ञान के जिस विभाग में इसका अध्ययन होता है, उसे 'वाक्यविज्ञान', 'वाक्य-विचार' या 'वाक्य-रचनाशास्त्र' कहते हैं। इसके तीन रूप हैं— (१) समकालिक, (२) ऐतिहासिक तथा (३) तुलनात्मक। वाक्य-रचना का सम्बन्ध बहुत-कुछ बोलने वाले समाज के मनोविज्ञान से होता है। वाक्यविज्ञान में वाक्य का अध्ययन पदक्रम, अन्वय, निकटस्थ अवयव, केन्द्रिकता, परिवर्तन के कारण, परिवर्तन की दिशाएँ आदि दृष्टियों से किया जाता है। भाषाविज्ञान की यह शाखा बहुत कठिन है। इस दिशा में कार्य तो काफ़ी हुआ है, किंतु अभी बहुत अधिक कार्य की आवश्यकता है।

(२) रूपविज्ञान (Morphology)—वाक्य का निर्माण पदों (या रूपों) से होता है, अतः वाक्य के बाद रूप का विचार आवश्यक है। इसे रूपविचार, पदविज्ञान या पदरचना-शास्त्र आदि भी कहा गया है। रूपविज्ञान के अंतर्गत संबंध तत्त्व, उसके प्रकार तथा रूप, भाषा के वैयाकरणिक रूपों के विकास, उसके कारण, तथा धातु, उपसर्ग, प्रत्यय आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है, जिनसे रूप बनते हैं। रूप-निर्माण-प्रक्रिया भी उसमें आती है। इसका भी अध्ययन समकालिक, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक इन तीनों ही रूपों में हो सकता है।

(३) शब्दविज्ञान (Wordology)[१]—रूप या पद का आधार शब्द है। शब्दों की रचना पर तो रूपविज्ञान में विचार करते हैं, किंतु शब्दों का वर्गीकरण, नामविज्ञान, व्यक्ति या भाषा के शब्द-समूह में परिवर्तन के कारण और दिशाओं आदि का विचार इसके अंतर्गत आता है। कोशविज्ञान तथा व्युत्पत्ति-विज्ञान भी शब्दविज्ञान के ही अंग हैं। शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाता है, प्रमुखतः व्युत्पत्तियों के प्रसंग में।

(४) ध्वनिविज्ञान (Phonetics)—शब्द का आधार ध्वनि है। ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों पर अनेक दृष्टियों से विचार किया जाता है। इसके अंतर्गत फोने-

१. Wordology शब्द मेरा अपना बनाया हुआ है। वस्तुतः भाषाविज्ञान में केवल चार ही शाखाएँ मानी जाती रही हैं—Syntax, Morphology, Semantics तथा Phonetics। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, हिन्दी आदि सभी भाषाओं में यही बात रही है। किन्तु, मेरा विचार है कि एक पांचवीं शाखा भी मानी जानी चाहिए (देखिए, शब्दविज्ञान शीर्षक अध्याय)। इसी आधार पर मैंने एक नई शाखा जोड़ने का दुस्साहस किया है। यह इसलिए करना पड़ा है कि इसमें जो विवेचन किया जा सकता है, उपर्युक्त चार में से किसी में भी नहीं रखा जा सकता।

टिक्स (Phonetics) या ध्वनिशास्त्र एक उपविभाग है, जिसमें ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अवयवों (मुख-विवर, नासिका-विवर, स्वर-तन्त्री तथा ध्वनि-यंत्र आदि), ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया तथा ध्वनि-लहर और उसके सुने जाने आदि का अध्ययन होता है। किसी भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का वर्णन और विवेचन आदि भी इसी के अंतर्गत आता है। ध्वनि-प्रक्रिया इसका दूसरा उपविभाग है, जिसमें ध्वनि-परिवर्तन या ध्वनि-विकास पर, उसके कारणों और दशाओं के विश्लेषण के साथ विचार होता है। इस अध्ययन के भी तीन रूप हैं—समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक। इसमें एक परिवार की भाषाओं को लेकर ध्वनि-विकास पर विचार करके नियम-निर्धारण होता है। ग्रिम-नियम का सम्बन्ध इसी से है। इसमें भाषा के इतिहास का भी ध्वनि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। ध्वनिविज्ञान के अंतर्गत ध्वनिग्रामविज्ञान आदि कुछ नये उपविभाग भी हैं, जिन पर आगे ध्वनिविज्ञान के अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

(५) अर्थविज्ञान (Semantics)—भाषा का शरीर, वाक्य से चलकर ध्वनि की इकाई पर समाप्त होता है। इसके बाद उसकी आत्मा पर विचार करना पड़ता है। आत्मा से हमारा तात्पर्य 'अर्थ' से है। शब्दों के अर्थ का विवेचन अभी हाल तक आधुनिक भाषाविज्ञानविदों द्वारा भाषाविज्ञान के क्षेत्र का न होकर, दर्शन के क्षेत्र का कहा जाता रहा है, किन्तु अब इसे भाषाविज्ञान के अंतर्गत माना जाने लगा है। अर्थ का अध्ययन भी समकालिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों ही रूपों में हो सकता है। अर्थविज्ञान में प्रमुख रूप से शब्दों के अर्थ का निर्धारण, उसके स्तर, उसमें विकास और उनके कारणों आदि पर विचार किया जाता है। साथ ही अर्थ और ध्वनि के सम्बन्ध, पर्याय, विलोम आदि के भी विवेचन उसमें समाहित हैं। इसे अर्थ-विचार आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है।

ख : गौण

(१) भाषा की उत्पत्ति—भाषाविज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक, किन्तु विचित्र प्रश्न 'भाषा की उत्पत्ति' का है। इस पर विद्वानों ने तरह-तरह से विचार कर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आधुनिक काल के अधिकांश विद्वान् तो इस प्रश्न को भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मानते ही नहीं; किन्तु इसे बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। जब भाषा का पूरा जीवन हमारे अध्ययन का विषय है तो उसके जन्म के प्रश्न को कैसे ठुकरा सकते हैं? हाँ, इसका अध्ययन कठिन अवश्य है, और यही कारण है कि इसका कोई निश्चित उत्तर हम नहीं पा सके हैं और न निकट भविष्य में ही इसकी कोई आशा है।

(२) भाषाओं का वर्गीकरण—ऊपर के प्रधान विभाग के अन्तर्गत कहे गये पाँचों उपविभागों (वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि तथा अर्थ) के आधार पर, प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हम संसार की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर उनका वर्गीकरण करते हैं। इसी आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन भाषाएँ एक परिवार की हैं। साथ ही इससे अर्थ या ध्वनि सम्बन्धी अनेक गुत्थियों पर

भी प्रकाश पड़ता है। तत्त्वतः यह भाषाविज्ञान का स्वतन्त्र विभाग न होकर उपर्युक्त पाँचों विभागों के आधार पर अध्ययन का एक पृथक् कक्ष मात्र है।

(३) भाषिक भूगोल (Linguistic Geography)—इसमें किसी भाषा-क्षेत्र (के भौगोलिक विस्तार) का ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ तथा शब्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके उसे भाषाओं और बोलियों में बाँटा जाता है। उत्तरी भारत में भारतीय आर्यभाषा-परिवार की कितनी भाषाएँ हैं और उसकी कितनी बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं, एवं उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं, इस प्रकार का अध्ययन इसी के अंतर्गत आता है। इसमें आवश्यकतानुसार, समकालिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक, भाषा के अध्ययन की तीनों ही पद्धतियों को अपनाना पड़ता है। भाषाविज्ञान की 'बोली-भूगोल' (Dialect Geography) नाम से प्रसिद्ध शाखा भी यथार्थतः इसी के अंतर्गत आती है। इन दोनों के आधार पर भाषा या बोली आदि के एटलस या भाषिक एटलस भी बनाये जाते हैं, जिनमें ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ या शब्द आदि विषयक विशेषताएँ दिखाई जाती हैं। यह भी वस्तुतः पाँच प्रमुख अध्ययनों या विभागों का भौगोलिक स्तर पर प्रयोग है।

(४) भाषाकालक्रमविज्ञान (Glottochronology)– सांख्यिकी (Statistics) या गणनाशास्त्र के आधार पर अनेक विज्ञानों में बड़े उपयोगी निष्कर्ष निकाले जाने लगे हैं। भाषाकालक्रमविज्ञान गणनाशास्त्र के आधार पर बहुत से ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को ज्ञात करने की एक पद्धति है, जिन्हें ज्ञात करने के भाषाविज्ञान के पास अभी तक निश्चित और वैज्ञानिक साधन नहीं थे। इसमें आधारभूत शब्द-समूह में पुराने और नये तत्त्वों के आधार पर किसी भाषा की आयु आदि का पता लगाया जाता है। अभी तक यह शाखा अपनी बाल्यावस्था में है और इसके निष्कर्षों के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एक-मत नहीं है।

(५) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)—इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के पास उस काल के सम्बन्ध में कुछ जानने के लिये अभी तक कोई साधन नहीं था, या था भी तो अपर्याप्त; किन्तु भाषाविज्ञान के इस विभाग ने अब एक नवीन आशा की किरण दे दी है। अभी तो इसकी शैशवावस्था है, पर संभव है कि इस आधार पर हम निकट भविष्य में प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का विशेष परिचय पा सकें।

(६) लिपिविज्ञान—लिपि भाषा का अंग न होने के कारण प्रत्यक्षतः भाषा-विज्ञान के अंतर्गत न आने पर भी उससे असंबद्ध नहीं कही जा सकती, क्योंकि लिखित भाषा में हमें लिपि का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी कारण भाषाविज्ञान के अंतर्गत इसका भी अध्ययन किया जाता है। इसमें लिपि की उत्पत्ति, विकास, शक्ति तथा उप-योगिता आदि पर विचार करते हैं। ध्वनिविज्ञान की सहायता से लिपि के सुधार आदि पर भी भाषाविज्ञान के अंतर्गत विचार किया जाता है।

(७) मनोभाषाविज्ञान (Psycholinguistics)—इसमें भाषाविज्ञान के मनो-वैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

(८) समाजभाषाविज्ञान (Socio-linguistics)—इसमें समाज और भाषा का संबंध तथा विभिन्न सामाजिक स्तरों द्वारा प्रयुक्त भाषा की ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य-रचना तथा अर्थ आदि विषयक विशिष्टताओं का अध्ययन होता है।

(९) शैलीविज्ञान (Stylistics)—एक भाषाभाषी सभी व्यक्तियों की भाषा ध्वनि, शब्द, रूप तथा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से पूर्णतः समान नहीं होती। इसी प्रकार एक ही भाषा में लिखने वाले लेखकों एवं कवियों की भाषा में उनकी कुछ शैलीगत विशेषताएँ होती हैं, जिनके आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि कौन किसकी रचना है। इन वैयक्तिक अंतरों या शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन शैलीविज्ञान का विषय है।

(१०) सर्वेक्षण-पद्धति (Field Method)—किसी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा के विश्लेषण के लिए सामग्री एकत्र करने की पद्धति का अध्ययन इसके अंतर्गत आता है। इसमें 'सूचक कैसा चुने,' 'सर्वेक्षक कैसा हो,' 'प्रश्नावली कैसे बनाएँ,' 'सामग्री कैसे लिखें' जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

(११) भूभाषाविज्ञान (Geo-linguistics)—इसके अंतर्गत विश्व में भाषाओं का वितरण, उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का आकलन, वे कैसे एक दूसरे पर अंतःक्रिया (interact) करती हैं, राष्ट्रों की संस्कृति भाषा को कैसे प्रभावित करती हैं तथा राष्ट्रभाषा या राजभाषा जैसी समस्याओं का अध्ययन इसके अंतर्गत आता है। यह भाषाविज्ञान की अपेक्षाकृत नई शाखा है।

(१२) शेष—उपर्युक्त मुख्य तथा गौण शाखाओं के अतिरिक्त, भाषाविज्ञान के अंतर्गत कुछ और विषयों और विभागों का भी अध्ययन किया जाता है और इनमें कुछ का भाषाविज्ञान के विभागों के रूप में उल्लेख भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, सुरविज्ञान (Tonetics) – इसमें भाषाओं के सुरों का अध्ययन होता है। ग्लासेमेटिक्स (Glossematics)—हेल्म्स्लेव द्वारा प्रतिष्ठापित भाषाविज्ञान की इस अध्ययन-शाखा में ग्लासीम (smallest meaningful linguistic unit—ब्लूमफील्ड) का अध्ययन किया जाता है। भाषा-विकास (Linguistic Phylogeny)—इसमें भाषा में परिवर्तन-शीलता या विकास तथा उसके कारणों का अध्ययन होता है। व्यक्तिबोली-विकास (Linguistic Ontogeny)—इसमें एक व्यक्ति की भाषा या बोली में विकास का अध्ययन किया जाता है। रूपांतरण (Transformation)—चॉम्स्की द्वारा प्रवर्त्तित इस विश्लेषण-पद्धति में भाषा के व्याकरण तथा ध्वनियों का रूपांतरण की दृष्टि से अध्ययन होता है। व्यतिरेकी विश्लेषण (Contrastive Analytis)—इसमें दो भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके उनकी समानताओं का विश्लेषण किया जाता है। व्यवस्था-केन्द्रित व्याकरण (Systemic Grammar)—हैलिडे द्वारा प्रवर्त्तित इस पद्धति में चार कोटियों, तीन आयामों तथा गहराई की दृष्टि से भाषा की वाक्य-रचना का अध्ययन होता है। बंधिमविज्ञान (Tagmemics)—इसमें भाषा के बंधिम

(Tagmeme—smallest meaningful unit of grammatical form—ब्लूमफ़ील्ड) का अध्ययन होता है। बोलीविज्ञान (Dialectology)—इसका संबंध बोलियों के अध्ययन से है। भाषा-प्रकारविज्ञान (Linguistic Typology)—इसमें भाषाओं का उनकी ध्वनि तथा रूप-विषयक विशेषताओं के आधार पर ही वर्गीकरण किया जाता है। प्रो० पेई जैसे कुछ विद्वान् तो इसमें केवल रूप पर बल देते हैं। इस प्रकार यह भाषाओं के रूपात्मक या आकृतिमूलक वर्गीकरण के अधिक समीप है।

तुलनात्मक पद्धति (Comparative Mehod)—इसका अर्थ है दो या अधिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं उस अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकालने की पद्धति। इस पद्धति पर अध्ययन एक या कई कालों का हो सकता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भी इस पद्धति से सहायता ली जाती है। पुनर्निर्माण (Reconstruction) का अर्थ है एक परिवार की दो या अधिक भाषाओं या बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उस अज्ञात भाषा के स्वरूप का पता लगाना, या उसका पुनर्निर्माण करना, जिससे वे दोनों निकली हों और जिसके स्वरूप को जानने के लिए अन्य कोई पूर्ण साधन न हो। इसी तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति से इंडो-हिट्टाइट तथा इंडो-यूरोपियन (भारोपीय) आदि प्राचीन भाषाओं का पुनर्निर्माण किया गया है।

'मेटा-लिंग्विस्टिक्स' (Metalinguistics)—इसका प्रयोग भाषाविज्ञान में कई अर्थों में किया गया है। ट्रेगर ने इसका प्रयोग अर्थविज्ञान के लिए किया है, क्योंकि वे उसे भाषाविज्ञान से, बाहर मानते हैं। कुछ लोग इसका प्रयोग भाषाविज्ञान के उस अंग के लिए करते हैं, जिसमें संस्कृति के अन्य अंगों से भाषा के सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। कुछ अन्य लोगों ने इसका प्रयोग भाषा के दार्शनिक स्वरूप के विवेचन के लिए किया है। रूसो, मॉरिस तथा कारनेप आदि तर्कशास्त्र में इसका प्रयोग एक चौथे अर्थ में करते हैं। यहीं से लेकर भाषाविज्ञानवेत्ता इसका प्रयोग भाषा के अध्ययन की टेकनीक या शिल्प-विधि (हॉगन इसे Metalanguage कहते हैं) के अध्ययन के लिए कर रहे हैं। इसी के अंतर्गत उस भाषा तथा पारिभाषिक शब्दावली का भी अध्ययन आता है, जिसका भाषा के अध्ययन में प्रयोग होता है। इसे कुछ लोग Exoo-linguistics, कुछ लोग Meta-research तथा कुछ लोग Meta-sprog भी कहते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थविज्ञान को कुछ लोग मेटालिंग्विस्टिक्स कहकर उसे भाषाविज्ञान से बाहर रखते हैं। इसी प्रकार फ़ोनेटिक्स को कुछ लोग प्रिलिंग्विस्टिक्स (Prelinguistics) मान कर इसके शुद्ध सैद्धांतिक रूप (ध्वनि-उत्पत्ति, ध्वनि-अवयव आदि) को भाषाविज्ञान से बाहर रखना चाहते हैं। जाति-भाषाविज्ञान (Ethnolinguistics)—इसमें जातिविज्ञान और भाषाविज्ञान इन दोनों विज्ञानों के सम्बन्धों और आपसी प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भाषा के विविध रूपों (भाषा, बोली, उपबोली आदि), उन रूपों के बनने के कारण, भाषा की प्रकृति तथा भाषाविज्ञान का इतिहास आदि का भी अध्ययन भाषाविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है।

उपर्युक्त शाखाओं-प्रशाखाओं में बहुतों के बारे में आगे स्वतंत्र अध्यायों के रूप में या अन्य अध्यायों के अंतर्गत विस्तार से विचार किया गया है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन से लाभ

इस विषय में ऊपर तथा आगे भी यत्र-तत्र विचार किया गया है। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख बातें गिनाई जा रही हैं—

(१) अपनी चिरपरिचिता भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तृप्ति।

(२) प्राचीन तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति पर प्रकाश।

(३) किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का प्रत्यक्षीकरण।

(४) प्राचीन साहित्य के अर्थ, उच्चारण तथा प्रयोग आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान।

(५) पूरे विश्व के लिए एक कृत्रिम भाषा का विकास(जैसे 'एसपेरैंतो' आदि)।

(६) मातृ भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं के सीखने में पूर्णता, सरलता और शीघ्रता।

(७) सटीक अनुवाद में सहायता।

(८) अनुवाद करने वाली, स्वयं टाइप करने वाली, टाइपराइटर तथा इसी प्रकार की अन्य मशीनों के विकास में सहायता।

(९) भाषा, लिपि आदि में सरलता एवं शुद्धता आदि की दृष्टि से परिवर्तन-परिवर्द्धन करने में सहायता।

(१०) किसी भाषा के लिए लिपि, उसका व्याकरण, कोश तथा उसे पढ़ाने के लिए पाठ्य पुस्तक बनाने में सहायता।

(११) तुतलाहट, हकलाहट; अशुद्ध उच्चारण आदि दूर करने में सहायता।

(१२) मनोविज्ञान, प्राचीन भूगोल, शिक्षा, समाजविज्ञान, दर्शन तथा इंजीनियरिंग (कम्यूनिकेशन) आदि में सहायता।

भाषाविज्ञान से मनुष्य के अन्य ज्ञानों का सम्बन्ध

ज्ञान अपने विराटतम रूप में अखंड है। तत्त्वतः उसे अलग-अलग शास्त्रों तथा विज्ञानों आदि में इस प्रकार नहीं विभाजित किया जा सकता कि एक दूसरे से पूर्णतः अलग हो। केवल सुविधा के लिए अखंड ज्ञान को हमने अलग-अलग विज्ञानों एवं शास्त्रों आदि में विभाजित कर रखा है। इस तरह अखंड ज्ञान का यह विभाजन केवल व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं। यदि इस तात्त्विक स्थिति को ध्यान में रखें तो स्पष्ट ही एक अखंड ज्ञान के अंश होने के कारण सभी ज्ञान-विज्ञान किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

ऊपर तात्त्विक दृष्टि से बात कही जा रही रही थी। व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य ने अपनी ज्ञान की सीमा और अध्ययन-विश्लेषण की सुविधा के अनुसार अखंड ज्ञान-क्षेत्र को कुछ विभागों में बाँट रखा है जिसको उसने अलग-अलग विज्ञानों एवं शास्त्रों आदि

की संज्ञा दी है। इन ज्ञानों, विज्ञानों एवं शास्त्रों में कुछ तो सामान्य और व्यावहारिक धरातल पर एक-दूसरे से बहुत संबद्ध नहीं कहे जा सकते, जैसे साहित्य और गणित, रसायनशास्त्र और भाषाविज्ञान, काव्यशास्त्र और भौतिकशास्त्र या वनस्पतिविज्ञान और दर्शन आदि। दूसरी ओर ज्ञान के ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो एक दूसरे से संबद्ध हैं। यह सम्बन्ध कई प्रकार का है। उदाहरण के लिए, कुछ तो एक दूसरे से सामान्य सम्बन्ध रखते हैं, कुछ एक दूसरे के पूरक-जैसे होते हैं, और कुछ का तो आपस में ऐसा सम्बन्ध होता है कि एक की जानकारी के बिना दूसरे का अध्ययन प्रायः असंभव है। दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं। भाषाविज्ञान से भी अनेक ज्ञानों, विज्ञानों एवं शास्त्रों से अनेक स्तरों में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं। यहाँ कुछ प्रमुख के साथ भाषाविज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा रहा है—

(क) व्याकरण—भाषाविज्ञान और व्याकरण एक दूसरे के इतने समीप (दोनों का सम्बन्ध भाषा से है) हैं कि कभी-कभी दोनों को एक, या भाषाविज्ञान को व्याकरण तथा व्याकरण को भाषाविज्ञान मानने का भ्रम लोगों को हो जाता है। यों दोनों में अंतर स्पष्ट है। व्याकरण को हम शास्त्र कह सकते हैं जो इस बात के निर्देश पर अधिक बल देता है कि भाषा में कहाँ कैसा प्रयोग होना चाहिए, कैसा प्रयोग शुद्ध है और कैसा अशुद्ध (साधुत्वज्ञान विषया सैषा व्याकरण स्मृतिः—भर्तृहरि १.१४२)। इसके विपरीत, भाषा-विज्ञान विज्ञान है जिसका सम्बन्ध इस आदर्श से नहीं है कि कहाँ कैसा प्रयोग होना चाहिये। वह तो केवल इस बात को जानना चाहता है कि कब कहाँ कैसा प्रयोग होता है। व्याकरण विवरण और वर्णन प्रधान है तो भाषाविज्ञान विवेचन-विश्लेषण प्रधान। एक और प्रमुख अंतर यह है कि व्याकरण केवल व्याकरण के रूप आदि देकर चुप हो जाता है, जबकि भाषाविज्ञान और गहराई में जाकर यह भी पता लगाता है कि वह रूप क्या है, कहाँ से आया है, कितना पुराना है, आदि। उदाहरण के लिए, व्याकरण यह कहकर चुप हो जाएगा कि 'जा (ना)' का भूतकाल का रूप 'गया' होता है, किन्तु भाषा-विज्ञान और गहराई में जाकर यह खोज लगाएगा कि मूलतः 'गया' का 'जा' से कोई संबन्ध नहीं है। संस्कृत में 'गम्' और 'या' दो धातुएँ थीं। 'या' से 'जा' का विकास हुआ जिससे जाता, जाना, जाए, जाया आदि रूप बनते हैं। 'गम्' से हिन्दी में केवल एक ही रूप आया 'गया'। अकेला रूप होने के कारण इसके लिए अलग धातु की कल्पना नहीं की गई और इसे भी 'जा' का ही रूप मान लिया गया। इस तरह भाषाविज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है। जहाँ तक संबन्धों का प्रश्न है, भाषा के अध्ययन में दोनों एक दूसरे के पूरक तो हैं ही, अन्योन्याश्रित भी हैं। बिना भाषाविज्ञान की जानकारी के अच्छा व्याकरण नहीं लिखा जा सकता और दूसरी ओर भाषाओं के विश्लेषण से भाषाविज्ञान व्याकरण से पर्याप्त सामग्री और सहायता लेता है। उदाहरण के लिए, व्याकरण का संधि-प्रकरण पूरी तरह भाषाविज्ञान पर आधारित है। दूसरी ओर भाषाविज्ञान अपनी प्रमुख शाखा रूपविज्ञान तथा वाक्यविज्ञान में सारी की सारी मूलभूत सामग्री व्याकरण से ही लेता है।

(ख) साहित्य—भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए (जीवित भाषाओं के जीवित रूप को छोड़कर) सारी सामग्री साहित्य से लेता है। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता या ग्रीक साहित्य हमारे सामने न होता तो किस आधार पर भाषाविज्ञान कह पाता या जान पाता कि ये तीनों भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। इसी प्रकार यदि आदि काल से आधुनिक काल तक का हिन्दी साहित्य हमारे सामने न होता तो भाषाविज्ञान हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किस प्रकार कर पाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक दोनों ही अध्ययनों में भाषाविज्ञान को साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। सत्य तो यह है कि केवल जीवित भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर पुरानी या मृत भाषा का, भाषाविज्ञान चाहे जिन रूप में अध्ययन करना चाहे, उसे पग-पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ेगी और जीवित भाषा के सम्बन्ध में भी 'क्यों', 'कब' एवं 'कैसे' आदि के उत्तर के लिए उसे साहित्य की ही छानबीन करनी पड़ेगी। जीवित भाषा यह तो बतला देगी कि भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है, पर यह कहाँ से आया, इसके लिए भाषाविज्ञान संस्कृत साहित्य को छानेगा और तब कह सकेगा कि इसका मूल संस्कृत रूप 'वर्त्तते' है, या बुन्देलखण्ड की ओर नटखट लड़कों से

ओना मासी धम
बाप पढ़े न हम

सुनकर जब भाषाविज्ञान का कान खड़ा होगा कि यह 'ओना मासी धम' क्या बला है, तो प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही उसे बतलायेगा कि शाकटायन के प्रथम सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्' का ही यह बिगड़ा रूप है।

दूसरी ओर साहित्य भी भाषाविज्ञान से कम सहायता नहीं लेता। भाषाविज्ञान उसके क्लिष्ट अर्थों एवं विचित्र प्रयोगों तथा उच्चारण-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालता है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर जायसीकृत 'पदमावत' के बहुत से शब्दों को उनके मूल रूपों से जोड़कर उनके अर्थों को स्पष्ट किया है, साथ ही शुद्ध पाठ के निर्धारण में भी इससे पर्याप्त सहायता ली है। इस प्रकार साहित्य और भाषाविज्ञान दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं।

(ग) मनोविज्ञान—भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषा विचारों की वाहिका है और विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस प्रकार भाषा की आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषाविज्ञान मनोविज्ञान से बहुत अधिक सहायता लेता है। विशेषतः अर्थविज्ञान तो पूर्णतः मनोविज्ञान पर ही आधारित है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वाक्यविज्ञान के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है। इसी प्रकार कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन के कारण जानने के लिए भी हमें मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप की जानकारी में भी मनोविज्ञान, विशेषतः बाल-मनोविज्ञान और अविकसित लोगों का मनोविज्ञान हमारी बहुत सहायता करता है। दूसरी ओर मनोविज्ञान भी भाषाविज्ञान से

कम सहायता नहीं लेता। पागलों के मनोवैज्ञानिक उपचार में उनके द्वारा कही गई ऊल-जलूल बातों के विश्लेषण—जिसमें भाषाविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है—के द्वारा ही उनकी मानसिक गुत्थियों एवं ग्रंथियों का पता लगाया जाता है। यों भी विचारों के विश्लेषण आदि में उसे भाषाविज्ञान से कुछ सहायता अपेक्षित होती है। दोनों के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही अब भाषाविज्ञान की एक नई शाखा अस्तित्व में आ गई है जिसे मनोभाषाविज्ञान (Psycho-linguistics) कहते हैं।

(घ) शरीरविज्ञान—भाषा मुख से निकली ध्वनि है, अतएव भाषाविज्ञान को—हवा भीतर से कैसे चलती है, स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्री, नासिका-विवर, कौवा, तालु, दाँत, जीभ, ओठ, कंठ, मूर्द्धा तथा नाक के कारण उसमें क्या परिवर्तन होते हैं तथा कान द्वारा कैसे ध्वनि का ग्रहण होता है—इन सब का अध्ययन करना पड़ता है और इसमें शरीरविज्ञान ही उसकी सहायता करता है। लिखित भाषा का ग्रहण आँख से होता है, अतएव इस प्रक्रिया का भी अध्ययन भाषाविज्ञान के अंतर्गत ही है और इसके लिए भी उसे शरीरविज्ञान का ऋणी होना पड़ता है। इसी प्रकार सुरलहर, अक्षर बलाघात आदि का अध्ययन भी शरीरविज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

(ङ) भूगोल—भाषाविज्ञान से भूगोल का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ लोगों के अनुसार स्थानीय भौगोलिक परिस्थिति का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किसी स्थान में बोली जाने वाली भाषा में वहाँ के पेड़-पौधे, जानवर, पक्षी तथा अन्न आदि के लिए शब्द अवश्य मिलते हैं, पर यदि उनमें किसी की समाप्ति हो जाय तो उसके नाम का वहाँ की भाषा से भी लोप हो जाता है। 'सोमलता' शब्द का आज हमारी जीवित भाषा में न पाया जाना सम्भवतः भौगोलिक कारण से ही है। किसी स्थान में एक भाषा का दूर तक प्रसार न होना, भाषा में कम विकास होना तथा किसी स्थान में बोलियों का अधिक होना भी भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। जहाँ दुर्गम पहाड़ एवं रेगिस्तान होंगे तथा गहरे समुद्र होंगे, स्वभावतः इनके दोनों ओर के लोगों में संपर्क कम हो सकेगा, अतएव भाषा के प्रसार या उसमें परिवर्तन की सम्भावना कम होगी। पहाड़ तथा जंगली लोगों में आपस में कम मिलने के कारण ही प्रायः भिन्न-भिन्न बोलियों का विकास हो जाता है। भूगोल देशों, नगरों, नदियों तथा प्रान्तों आदि के नामों के रूप में भाषाविज्ञान को अध्ययन की बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रदान करता है। अर्थ-विचार में भी भूगोल भाषाविज्ञान की सहायता करता है। 'उष्ट्र' का अर्थ 'भैंसा' से 'ऊँट' कैसे हो गया तथा 'सैंधव' का अर्थ 'घोड़ा' और 'नमक' ही क्यों हुआ, या संस्कृत में 'कश्मीर' का अर्थ केसर क्यों है, आदि समस्याओं पर विचार करने में भी भूगोल की सहायता अपेक्षित है। भाषाविज्ञान की शाखा 'भाषा-भूगोल' तो भूगोल से और भी अधिक सम्बद्ध है और इसकी अध्ययन-पद्धति भी भूगोल की पद्धति पर ही बहुत कुछ आश्रित है।

दूसरी ओर किसी जगह के प्रागैतिहासिक काल के भूगोल के अध्ययन में भाषाविज्ञान भी पर्याप्त सहायता देता है।

(च) इतिहास—इतिहास का भी भाषाविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास

के तीन रूपों को लेकर यहाँ भाषाविज्ञान से उसका सम्बन्ध दिखलाया जा रहा है।

(१) राजनीतिक इतिहास—किसी देश में किसी अन्य देश का राज्य होना दोनों ही देशोंकी भाषाओं को प्रभावित करता है। भारतीय भाषाओं में कई हज़ार अंग्रेज़ी शब्दोंका प्रवेश तथा दूसरी ओर अंग्रेजी में कई हज़ार भारतीय शब्दों का प्रवेश, भारत की राजनीतिक परतंत्रता या इन दोनों के बीच राजनीतिक सम्बन्ध का ही परिणाम है। हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा पुर्तगाली शब्दों के आने का कारण जानने के लिए भी हमें राजनीतिक इतिहास का ही सहारा लेना पड़ेगा। पूर्वी द्वीपसमूह की भाषा तथा वहाँ के नामों में संस्कृत शब्दों का आधिक्य भी भारत से वहाँ के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस प्रकार राजनीतिक इतिहास तथा भाषा-विज्ञान दोनों एक दूसरे के अध्ययन में सहायता पहुँचाते हैं। (२) धार्मिक इतिहास—भारत में हिन्दी-उर्दू-समस्या धर्म या सांप्रदायिकता की ही देन है। धर्म के रूप के परिवर्तन का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। यज्ञ का लोकधर्म से उठ जाने का ही फल है कि यज्ञ से सम्बन्धित अनेक शब्द जो कभी जीवित भाषा में प्रचलित रहे होंगे, आज अज्ञात हैं। व्यक्तियों के नामों को भी धर्म प्रभावित करता है। इस प्रकार धर्म से व्यक्ति-वाचक नामों पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक इतिहास ही इस प्रश्न का उत्तर देता है कि क्यों बङ्गाली तथा मराठी में व्रजभाषा के भी कुछ रूप आ गये हैं, या एक ही गाँव के रहने वाले हिन्दू की भाषा क्यों अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत मिश्रित है, तो मुसलमान की भाषा अधिक अरबी-फ़ारसी मिश्रित है। धर्म के कारण ही बहुत-सी बोलियाँ अन्यों की तुलना में महत्वपूर्ण होकर भाषा बन जाती हैं। मध्ययुग में व्रज, अवधी के महत्त्व का कारण हमें धार्मिक इतिहास में ही मिलता है। दूसरी ओर धर्म के प्राचीन रूप की बहुत-सी गुत्थियाँ भाषाविज्ञान से सुलझ जाती हैं। एक देश के दूसरे देश पर धार्मिक प्रभाव के अध्ययन में धर्म से सम्बद्ध शब्दों का अध्ययन बड़ी सहायता करता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे से सहायता लेते हैं। (३) सामाजिक इतिहास—सामाजिक व्यवस्था तथा परंपराओं का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है, और दूसरी ओर भाषा से भी सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान तथा सामाजिक इतिहास भी एक दूसरे के सहायक हैं। प्राचीन साहित्य में पतिविहीन स्त्री के लिए 'विधवा' शब्द है, किंतु पत्नीविहीन पति के लिए कोई शब्द नहीं है। यह सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है। पुरुष स्त्री के मरने पर फिर शादी कर लेता था, अतः उसके लिए पत्नी-विहीन रूप में किसी नाम की आवश्यकता नहीं थी, पर दूसरी ओर पति के मरने पर पत्नी को आजीवन उसी रूप में रहना पड़ता था, अतः उसके लिए एक नाम आवश्यक था। प्रागैतिहासिक काल के समाज के अध्ययन के लिए तत्कालीन भाषा से पर्याप्त सहायता ली जाती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन के आधार पर मूल भारोपीय लोगों की सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भाषा के आधार पर की गई प्रागैतिहासिक खोज भी इसी प्रकार का अध्ययन है। भारतीय भाषाओं में माँ, बाप, बहिन, चाचा तथा भाई आदि के अतिरिक्त साला, बहनोई, मौसी, मौसा, फूफा,

परदादा, मामा, ससुर तथा सास जैसे शब्द भी हैं, पर यूरोपीय भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। आवश्यकतानुसार उन्हें जोड़-जाड़कर बनाना पड़ता है। यह भी सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है। इस भाषावैज्ञानिक तथ्य से इन दोनों देशों के समाज पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में मौसी और बूआ के लिए 'मातृस्वसा' और 'पितृस्वसा' शब्द हैं पर मौसा और फूफा के लिए नहीं हैं। इससे तत्कालीन कौटुम्बिक व्यवस्था पर यह प्रकाश पड़ता है कि परिवार में फूफा और मौसा के लिए कोई विशेष स्थान नहीं था। इसीलिये उनके लिए किसी नाम की आवश्यकता का अनुभव उस युग में हुआ ही नहीं। बाद में जब उनका स्थान हो गया तो 'मौसा' और 'फूफा' जैसे शब्द बना लिए गये। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के अध्ययन में हाथ बँटाते हैं।

(छ) भौतिकशास्त्र—मनुष्य जब कुछ कहता है तो ध्वनि उसके मुँह से निकलने के बाद और किसी के कान तक पहुँचने के पूर्व आकाश में लहरों के रूप में चलती है। इन लहरों का अध्ययन करने में भौतिकशास्त्र ही हमारी सहायता करता है। वह बतलाता है कि ये लहरें किस प्रकार की होती हैं तथा अन्य ध्वनियों एवं भाषा-ध्वनियों की लहरों में क्या अन्तर होता है। प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र (experimental phonetics) के अध्येता भाषाविज्ञान के इस क्षेत्र के अध्ययन में भौतिकशास्त्र से बहुत लाभ उठा रहे हैं। स्वर-व्यंजन आदि के तात्त्विक रूप पर भौतिकशास्त्र के आधार पर इधर बहुत प्रकाश डाला गया है।

(ज) तर्कशास्त्र—तर्कशास्त्र का भाषाविज्ञान से कोई बहुत सीधा सम्बन्ध तो नहीं है, पर भाषाविज्ञान वर्णनात्मक विषय न होकर व्याख्या-प्रधान है और व्याख्या में बिना तर्क के काम नहीं चल सकता, अतएव उसे तर्कशास्त्र का ऋणी होना ही पड़ता है। यास्क मुनि ने अपने अर्थविज्ञान-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निरुक्त' में तर्कशास्त्र से बहुत सहायता ली है। दूसरी ओर तर्कशास्त्र भी भाषाविज्ञान का कम ऋणी नहीं है। तर्क भाषा के ही सहारे चलता है, अतएव उसे अपने अध्ययन में बड़ी सतर्कता से प्रतिक्षण अपने सामने आने वाले शब्दों एवं वाक्यों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखनी पड़ती है।

(झ) मानवविज्ञान—मानवविज्ञान में मानव के विकास का विविध दृष्टियों (मर्यादा, सामाजिक मनोविज्ञान, धर्म, अन्धविश्वास तथा पर्व आदि) से अध्ययन किया जाता है और भाषा स्वयं मानव के विकास का प्रतीक है, अतएव दोनों ही एक दूसरे से अपने अध्ययन के लिए सामग्री लेते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य में तरह-तरह के अन्धविश्वास घर करते रहे हैं, जिनका लेखा-जोखा मानवविज्ञान में मिलता है। इन अन्धविश्वासों का भाषा पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में जिनके दो-चार लड़के मर जाते हैं, उनके लड़कों को जीवित रखने के लिए लोग अधिकतर रद्दी नामों से पुकारने लगते हैं, जैसे जोखू (उसे तराजू में जोख या तौलकर), छेदी (उसकी नाक छेदकर), बेंचू (उसे दो-चार पैसे में किसी दूसरे के हाथ बेंचकर), घुरहू (कूड़ा), कतवारू (कूड़ा), अलियार (कूड़ा) या लेंढ़ा (रद्दी) आदि। स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं

और उसे घुमा-फिराकर किसी और रूप में पुकारती हैं। इसी प्रकार माँ-बाप अपने बड़े लड़के का नाम नहीं लेते। अन्धविश्वास के ही कारण बिच्छू को 'टेढ़की', 'साँप को जेवर' (रस्सी), या 'कीरा', लाश को 'मिट्टी' तथा चेचक को 'माता' कहते हैं। पाखाना के लिए जितने भी नाम हैं, उसे घुमा-फिरा कर कहने का प्रयास है। उदाहरणार्थ, छिया (घृणित), पाखाना (पैर रखने की जगह), टट्टी (आड़ की जगह) तथा झाड़ा (झाड़ी में जो हो) आदि। क्रिया रूप में भी इसके लिए घुमा-फिराकर ही प्रयोग मिलते हैं, जैसे वहरे जाना (औरतें 'पाखाना जाने' के लिए कुछ भोजपुरी क्षेत्रों में इसका प्रयोग करतीं हैं, इसका अर्थ बाहर जाना है), दिसा जाना, जंगल जाना, नद्दी जाना, मैदान जाना, निपटने जाना तथा फ़राक़त होने जाना आदि।

अन्धविश्वास के अतिरिक्त और भी सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बद्ध बहुत-सी गुत्थियाँ हैं, जिनके उदाहरण भाषा में मिलते हैं और उनके स्पष्टीकरण के लिए भाषा-विज्ञान को मानवविज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, अशोक ने अपने शिलालेखों में अपने लिए 'देवानांप्रियः' का प्रयोग किया है, पर बाद में संस्कृत के ग्रन्थकारों ने इसे मूर्ख का पर्याय बना दिया है। द्रविड़ भाषाओं में 'पिल्ले' या 'पिल्लई' अच्छे शब्द हैं और इनका प्रयोग नामों में भी किया जाता है, पर हिन्दी प्रदेश में 'पिल्ला' कुत्ते के बच्चे को कहते हैं। ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में 'असुर' का अर्थ देवता है, पर परवर्ती काल की ऋचाओं में 'राक्षस'। 'यक्ष' शब्द का पालि साहित्य में प्रयोग बुरे अर्थ में है, पर संस्कृत में अच्छे अर्थ में। इन सभी के कारण जानने के लिए भाषाविज्ञान को मानवविज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। भाषा की उत्पत्ति और उसके प्राचीन रूप तथा लिपि की उत्पत्ति आदि के अध्ययन में भी मानवविज्ञान से सहायता मिलती है।

(अ) दर्शन—दर्शन और भाषाविज्ञान दोनों में घनिष्ठ संबंध है। भारत में मीमांसकों, नैयायिकों आदि दार्शनिकों ने इसी कारण अपने विषय पर विचार करते समय भाषाविज्ञान की भी अनेक बातों पर विचार किया है। जैसे मीमांसा के अन्विताभिधानवाद सिद्धांत के अनुसार भाषा में वाक्य की ही सत्ता मूल है, 'पद' उसी के तोड़े गए अंश हैं। किन्तु, अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सत्ता है, वाक्य उसी का जोड़ा हुआ रूप है। भाषाविज्ञान की अर्थविज्ञान-शाखा को तो लोग बहुत दिनों तक दर्शन के अन्तर्गत मानते रहे हैं। भाषा, भाषाविज्ञान और व्याकरण का भी अपना दर्शन होता है।

इनके अतिरिक्त सांख्यिकी, गणित, भाषा-शिक्षण, काव्यशास्त्र, यांत्रिकी आदि अन्य ज्ञान-विज्ञानों से भी भाषाविज्ञान का संबंध है।

२ | भाषा

भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप

भाषा की उत्पत्ति

जब हम भाषा पर विचार करने चलते हैं तो स्वभावत: पहला प्रश्न यह उठता है कि भाषा की उत्पत्ति हुई कैसे ? इस प्रश्न पर विचार अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है, पर अब भाषाविज्ञानवेत्ता इस प्रश्न को भाषाविज्ञान के क्षेत्र का नहीं मानते। कोई इसे मानव-विज्ञान के क्षेत्र का मानता है, तो कोई प्राचीन इतिहास का। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है; अत: इसके अन्तर्गत विचारणीय विषय केवल वे हो सकते हैं, जिन पर विचार करने के लिए वैज्ञानिक और ठोस आधार हो; किन्तु भाषा की उत्पत्ति—जो कदाचित् लाखों वर्ष पूर्व हुई थी—पर विचार करने के लिए ऐसे आधार का अभाव है। केवल अनुमान ही किया जा सकता है, अतएव यह भाषाविज्ञान का अंग नहीं माना जा सकता। इन्हीं सब बातों के कारण अब से लगभग एक सदी पूर्व (१८६६ ई० में) जब पेरिस में भाषाविज्ञान-परिषद् (La Societe de Linguistique) की स्थापना की गई तो संस्थापकों ने परिषद् के परिनियमों (सेक्शन २) में स्पष्ट शब्दों में भाषा की उत्पत्ति पर विचार आदि करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, और इस प्रकार इस प्रश्न को सदा-सर्वदा के लिए भाषाविज्ञान से निकाल देने का प्रयास किया। उसके बाद भी अन्य अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मत व्यक्त किये और आज तो प्राय: सभी मूर्धन्य विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत-से हैं कि इस प्रश्न का स्थान भाषाविज्ञान में नहीं है। किन्तु, इस प्रतिबन्ध और उपेक्षा के बावजूद भी इन सौ वर्षों में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है, और यह कहना भी अनुचित न होगा कि न केवल उठाया गया है, अपितु प्राय: हर दशक में इस सम्बन्ध में एक-दो नये सिद्धान्त या पुराने सिद्धान्तों की नवीन व्याख्याएँ हमारे समक्ष रक्खी गई हैं। बात बड़ी सीधी है। जब भाषाविज्ञान 'भाषा' का विज्ञान है तो निश्चय ही 'भाषा' का पूरा इतिहास और उसका हर रूप भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय है। ऐसी स्थिति में भाषा की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप के अध्ययन को निश्चय ही इससे अलग नहीं किया जा सकता। और यह तर्क कि विचार करने के लिए सामग्री का अभाव है, अत: उसे विषय से अलग माना जायगा, कोई तर्क नहीं है। विचार करते रहने से तो सम्भव है इस दिशा में हम कुछ आगे बढ़ते रहें—जैसा कि मनोविज्ञानवेत्ता तथा मानवविज्ञानविद् कर रहे हैं—किन्तु छोड़ देने पर तो यह प्रश्न जहाँ का तहाँ रह जायगा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस प्रश्न पर अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है और लोगों ने कई वादों या सिद्धान्तों को इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप संसार के समक्ष रक्खा है। ये सभी वाद या सिद्धान्त सीधे यह बतलाते हैं कि अमुक प्रकार से भाषा की उत्पत्ति हुई, अर्थात् ये सीधे जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं, इसी कारण इनको 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अन्तर्गत रक्खा जाता है। दूसरी ओर भाषा के आरम्भ तक पहुँचने का एक 'परोक्ष मार्ग' भी है। 'परोक्ष मार्ग' में जन्म पर दृष्टि न ले जाकर भाषाओं के वर्तमान रूप पर दृष्टि ले जाई जाती है और उनके ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि के आधार पर धीरे-धीरे वर्त्तमान से भूत की ओर चला जाता है। इससे भाषा की उत्पत्ति पर तो प्रकाश नहीं पड़ता, पर उसके आरम्भिक रूप का कुछ अनुमान अवश्य लग जाता है। यहाँ दोनों मार्गों को संक्षेप में देखा जा सकता है।

क : प्रत्यक्ष मार्ग

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीनतम विचार यूनानियों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। ओल्ड टेस्टामेंट में भी इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कुछ बातें कही गई हैं। इसी प्रकार भारत, मिस्र, अरब तथा अन्य देशों की धार्मिक तथा भाषाशास्त्र-विषयक पुस्तकों में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ न कुछ बातें मिल जाती हैं। १८वीं सदी के पूर्व व्यक्त लगभग सारे मत दिव्य सिद्धान्त (आगे देखिये) के अंतर्गत आ सकते हैं। १८वीं सदी में इस प्रश्न पर कई भाषाविज्ञानवेत्ताओं तथा अन्य क्षेत्रों के विद्वानों ने गम्भीरता से विचार किया। इन विद्वानों में गियाम्बटिस्टा, ब्रासेस, कांडिलाक, रूसो तथा हर्डर के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। इनमें भी हर्डर का नाम विशेष उल्लेख्य है। इन्होंने भाषा की उत्पत्ति पर एक लेख लिखा था, जिस पर बर्लिन अकादमी ने पुरस्कार दिया था। यों, बाद में हर्डर ने अपने ही मत को महत्त्वहीन करार दिया।

१९वीं सदी में इस प्रश्न पर विचार करने वालों की संख्या और भी बढ़ गई। इनमें न्वायर, ग्रिम, राये, डार्विन, हम्बोल्ट, श्लाइखर, अर्नेस्ट रेनन, जेस्पर्सन, मैक्समूलर, गाइगर, स्टाइन्थल, स्वीट, मार्टी, स्पेंसर, रेगनॉड तथा टेलर आदि के नाम उल्लेख्य हैं। आगे जिन वादों का उल्लेख किया जायेगा, उनमें बहुत से इसी युग के हैं।

२०वीं सदी की आयु अभी आधी से कुछ ही अधिक बीती है, किन्तु काफी विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। कुछ उल्लेख्य नाम वुण्ट, डिलेगुना, बर्नर्ड शा, होनिग्स्वाल्ड, रेवेज, जोहानसन, हम्फरी तथा समरफेल्ट आदि के हैं। इनमें रेवेज तथा जोहानसन के सिद्धान्त विशेषतः उल्लेख्य हैं, जिन पर आगे विचार किया गया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त, मतवाद या वाद विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ कुछ प्रमुख मत दिये जा रहे हैं। इनमें प्रथम दो का सीधे भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्ध है, तो अन्यों का विशेषतः अर्थ-ध्वनि के संबंध से।

(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त—भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सबसे प्राचीन मत है। लोगों का विश्वास रहा है, और कुछ अंशों में तो आज भी है कि संसार और उसकी अनेकानेक चीजों की भाँति ही भाषा को भी भगवान ने ही बनाया। भारतीय पंडित वेदों को अपौरुषेय मानते रहे हैं। उनका दृढ़ विश्वास रहा है कि संस्कृत को ईश्वर ने बनाया और फिर उसी भाषा में वेदों की रचना की। संस्कृत को 'देव-भाषा' कहने में भी उनके इसी विश्वास की ओर संकेत है। संस्कृत भाषा तथा उसके व्याकरण के मूलाधार पाणिनि के १४ सूत्र शिव के डमरू से निकले माने जाते हैं। यहाँ भी उसी ओर संकेत है। ईश्वर-निर्मित होने के कारण ही इसे सनातनी पंडित संसार की सभी भाषाओं का मूल मानते हैं। बौद्ध लोग 'पालि' को भी इसी प्रकार मूल भाषा मानते रहे हैं, और उनका विश्वास रहा है कि भाषा अनादि काल से चली आ रही है। जैन लोग तो संस्कृत पंडितों और बौद्धों से भी चार कदम आगे हैं। उनके अनुसार तो अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं है, बल्कि सभी जीवों की मूल भाषा है, और जब महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते थे तो क्या देव-योनि के लोग और क्या पशु-पक्षी, सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे। ईसाई और उनमें भी प्रमुखतः कैथोलिक लोग 'हिब्रू' (जिनमें उनका धर्म-ग्रंथ Old Testament लिखा गया है) को संसार की सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। उनके अनुसार 'हिब्रू' आदम और हव्वा को पूर्ण विकसित भाषा के रूप में भगवान द्वारा दी गई थी, फिर बाबुल की मीनार-वाली घटना के कारण उसी के अनेक रूप हो गये और इस प्रकार संसार में अनेक भाषाएँ हो गईं। इसके आधार पर हिब्रू के विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं से उन शब्दों को इकट्ठा किया था, जो हिब्रू शब्दों से मिलते-जुलते थे और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यथार्थतः हिब्रू सभी भाषाओं की जननी है। मुसलमान लोग 'कुरान' को खुदा का कलाम मानते हैं। मिस्र में भी वहाँ के प्राचीन लोगों का अपनी भाषा के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विश्वास था। प्लेटो ने सभी चीजों के नामों को प्राकृतिक या प्रकृति-प्रदत्त कहा था, यह भी मत 'दैवी-उत्पत्ति' का ही एक रूप है। इसी मत के प्रभाव से लोगों का यह भी मत रहा है कि मनुष्य जन्म से ही एक भाषा सीख कर आता है और वही भाषा ईश्वर की बनाई तथा सबसे पुरानी भाषा है। इसी का निश्चय करने के लिए मिस्र के राजा सैमेटिकस (Psammitichos) ने दो बच्चों को जन्म के बाद ही अलग रखा था। उनके पास जाने वालों को कुछ बोलने का निषेध था। बड़े होने पर उनके मुँह से केवल 'बेकोस' (bekos) शब्द ही सुना गया। (रोटी देने वाले फ्रीजियन नौकर ने गलती से कभी इस शब्द का उच्चारण उनके सामने कर दिया था। 'बेकोस' फ्रीजियन शब्द है, और इसका अर्थ 'रोटी' होता है।) फ्रेडरिक द्वितीय (११९४-१२५०), स्काटलैंड के जेम्स-चतुर्थ (१४८८-१५१३) तथा अकबर-बादशाह (१५५६-१६०५) ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये थे। अकबर का प्रयोग बहुत सफल था और फल यह हुआ कि लड़के गूँगे निकले। इस प्रकार कहना न होगा कि बच्चा पेट से कोई भाषा सीख कर नहीं आता, अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त कोई भाषा नहीं है,

और ऐसा मानना अंधविश्वास मात्र है। आज इस मत को कोई भी नहीं मानता। इसके विपक्ष में दो बातें मुख्यतः कही जा सकती हैं : (क) एक तो यह कि यदि यह ईश्वर-प्रदत्त है तो विभिन्न भाषाओं में इतना भेद क्यों है ? पूरे संसार के गदहे, घोड़े, भैंसे, कुत्ते आदि एक से बोलते हैं, किंतु मनुष्यों में वह एकरूपता नहीं है। (ख) दूसरे, यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो कदाचित् आरंभ से ही वह विकसित होती, किंतु इतिहास में इसके उलटे प्रमाण मिलते हैं।

(२) विकासवादी सिद्धान्त—इसके अनुसार भाषा का धीरे-धीरे विकास हुआ है। सिद्धांततः तो यह ठीक है, किन्तु इसमें विकास या उत्पत्ति एवं अर्थ-ध्वनि के संबंध का संकेत नहीं है।

(३) धातु सिद्धान्त—इस ओर संकेत प्लेटो ने किया था, किंतु इसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय जर्मन प्रोफेसर हेस (Heyse) को है। इन्होंने कभी अपने किसी व्याख्यान में इसका उल्लेख किया था, जिसे बाद में उनके शिष्य डॉ० स्टाइन्थाल ने मुद्रित रूप में विद्वानों के समक्ष रक्खा। मैक्समूलर ने भी पहले इसे स्वीकार किया, और अपनी पुस्तक में भी इसे स्थान दिया, किन्तु बाद में इसे निरर्थक कहकर छोड़ दिया।

इसी को डिंग-डांगवाद (Ding-dong theory) या रणन सिद्धान्त भी कहा गया है। कुछ लोग गलती से 'डिंग-डांगवाद' का प्रयोग 'अनुकरण सिद्धान्त' या 'अनुरणन सिद्धांत' के लिए करते हैं। धातु-सिद्धांत का 'डिंग-डांगवाद' नाम साधार है, जो आगे की बातों से स्पष्ट हो जायगा। इस सिद्धांत के अनुसार संसार की हर चीज की अपनी ध्वनि होती है। यदि हम एक डंडे से एक काठ, एक लोहे, एक सोने, एक कपड़े और एक कागज पर मारें तो देखेंगे सब का 'डिंग-डांग' (मूल अर्थ घंटे पर मारने का शब्द या टन-टन) या सब की 'ध्वनि' अलग-अलग होगी। इसी प्रकार आरंभ में, मनुष्य में एक ऐसी सहजात शक्ति थी कि जिस किसी चीज के संपर्क में वह आता, उसके लिए उसके मुँह से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती।* विभिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ 'धातु' थीं। आरम्भ में इस प्रकार से धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी, किन्तु उनमें बहुत-सी (पर्याय होने के कारण या योग्यतमावशेष-सिद्धान्त के कारण) धीरे-धीरे लुप्त हो गईं और केवल ४००-५०० धातुएँ शेष रहीं। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार उन धातुओं की ध्वनि तथा उनके अर्थ में एक रहस्यात्मक सम्बन्ध (mystic harmony) था। इस मत के समर्थकों का यह भी कहना था कि प्राचीन मनुष्य में वह शक्ति थी, किन्तु भाषा बन जाने पर शक्ति की आवश्यकता नहीं रही, अतः वह धीरे-धीरे नष्ट हो गई। आज का मनुष्य इसीलिए उससे शून्य है। इस सिद्धान्त को कुछ दार्शनिकों ने भी कभी किसी रूप में माना था, और इसे नेटिविस्टिक थ्योरी (Nativistic theory) की संज्ञा दी थी।

---

* Human speech is the result of an instinct of primitive man which made him give a vocal expression to every external impression.

इस सिद्धान्त के विरुद्ध कई बातें कही जा सकती हैं : (क) पहली बात तो यह है कि आदि मनुष्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। कुछ कल्पनाएँ साधार होती हैं, इसीलिए उन्हें माना जाता है, किन्तु यह तो निराधार कल्पना है, अतः सर्वथा त्याज्य है। (ख) दूसरे, संसार की भाषाओं में भारोपीय तथा सेमिटिक आदि कुछ परिवारों में तो धातुओं का पता चलता है, किन्तु अन्य ऐसे बहुत से भाषा-परिवार हैं, जिनमें धातु जैसी कोई चीज ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि धातु की बात मान भी लें तो ऐसी भाषाओं की समस्या का हल इससे नहीं निकलता। (ग) तीसरे, भाषा केवल धातु से ही नहीं बनती। प्रत्यय, उपसर्ग आदि अन्य रूपों की भी आवश्यकता पड़ती है। इस मत में उनके लिए कुछ नहीं कहा गया है। (घ) चौथी बात, जो इसके विरुद्ध कही जा सकती है, सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिन भाषाओं में धातुएं हैं, उनमें वे कृत्रिम या खोजी हुई हैं। आज भाषा-विज्ञानवेत्ता यह नहीं मानते कि धातुओं के आधार पर प्राचीन काल में शब्द बने, अपितु यह माना जाता है कि भाषा के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर धातुओं का पता, भाषा की उत्पत्ति के कई हजार वर्ष बाद लगाया गया और धातु में उपसर्ग या कृत प्रत्यय जोड़ कर शब्द बनाने का ढंग उसके बाद अपनाया गया। इस प्रकार इस मत में कोई तत्त्व नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यही सब सोच कर, बाद में मैक्समूलर ने इसे छोड़ दिया था।

(४) निर्णय सिद्धान्त—इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, संकेत-सिद्धांत संकेतवाद आदि भी कहा गया है। इस सिद्धांत के अनुसार आरंभ में मनुष्यों ने जब देखा कि हाथ आदि के संकेतों से काम नहीं चल रहा है, तो उन्होंने इकट्ठे होकर आवश्यक वस्तुओं या क्रियाओं आदि के लिए प्रतीक ध्वनि-संकेत, सांकेतिक नाम, या शब्द निश्चित करके स्वीकार किया और वहीं से भाषा का आरंभ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त भी निरर्थक है। (क) यदि कोई भाषा नहीं थी तो आरंभ में लोग कैसे इकट्ठे हुए? (ख) एकत्र भी हो गए तो शब्द कैसे गढ़े गए? (ग) वस्तुतः बिना विचार-विनिमय के न तो इकट्ठा होना संभव है, और न प्रतीक रूप में नामों आदि का निर्णय ही। और, यदि इकट्ठा होने के लिए या नाम निश्चित करने के लिए लोग विचार-विनिमय कर ही सकते थे, तो उसके बाद किसी अन्य भाषा की क्या आवश्यकता थी? वह तो स्वयं एक सफल या असफल भाषा थी। इस प्रकार इस वाद में निर्णय के पूर्व इकट्ठा होने तथा निर्णयार्थ विचार-विनिमय के लिए प्रयुक्त भाषा की उत्पत्ति का भी प्रश्न खड़ा हो जाता है, अतः इसके सहारे भी हमारी समस्या का हल नहीं मिलता।

(५) अनुकरण सिद्धान्त (Imitative Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अनेक विद्वानों ने किया है कि भाषा की उत्पत्ति अनुकरण के आधार पर हुई। मनुष्य ने अपने आसपास के जीवों और चीजों आदि की आवाज आदि के अनुकरण पर प्रारंभ में शब्द बनाए और उसी पर भाषा का महल खड़ा हुआ। इस सिद्धान्त के अंतर्गत तीन उपसिद्धान्त रखे जा सकते हैं : (क) ध्वन्यात्मक अनुकरण, (ख) अनुरणनात्मक

अनुकरण, तथा (ग) हस्यात्मक अनुकरण। नीचे तीनों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क) ध्वन्यात्मक अनुकरण सिद्धान्त—इसके अन्य नाम अनुकरण-सिद्धान्त, अनुकरणमूलकतावाद, भों-भों वाद, शब्दानुकरणवाद तथा शब्दानुकरणमूलकतावाद आदि हैं। अंग्रेजी में इसे Bow-wow theory, Onomotopoeic या Onomotopoetic Theory या Echoic Theory आदि कहते हैं। इसके अनुसार मनुष्य ने अपने आस-पास के पशु-पक्षियों आदि से होने वाली ध्वनियों के अनुकरण पर अपने लिए शब्द बनाये और फिर उसी आधार पर पूरी भाषा खड़ी हुई। इसके विरुद्ध कई बातें कहीं गई हैं: (क) रेनन ने इस सिद्धांत का विरोध इस आधार पर किया था कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ एवं विकसित प्राणी होता हुआ भी मनुष्य स्वयं कोई ध्वनि नहीं उत्पन्न कर सका और दूसरों की ध्वनियों का उसे अपनी भाषा बनाने के लिए सहारा लेना पड़ा। किन्तु, तत्वतः इस प्रकार के विरोध के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। मनुष्य स्वयं ध्वनि उत्पन्न करता रहा होगा, पर अन्य जानवरों आदि के नामों या उनकी क्रियाओं के लिए उसने उनकी ध्वनियों के अनुकरण पर शब्दों का अनजाने ही निर्माण किया होगा। (ख) यदि इसे स्वीकार भी करें तो हर भाषा के कुछ ही शब्दों की रचना इससे स्पष्ट होती है। जैसे चीनी मिआऊ (=बिल्ली); हिन्दी म्याउँ (म्याऊँ का मुँह कौन पकड़े), में-में (भेड़ की बोली), बे-बे (बकरी की बोली), मिमियाना, विवियाना, दहाड़ना, गरजना, गुर्राना, हिनहिनाना, फटफटिया (मोटर साइकिल के लिए देहाती नाम), पों-पों (मोटर के लिए बच्चों द्वारा प्रयुक्त शब्द), घुग्घू (=उल्लू, अपनी आवाज के कारण); अंग्रेजी कक्कू, काक; संस्कृत काक (काक इति शब्दानुकृतिः—निरुक्त) तथा कोकिल आदि। शेष ९९ प्रतिशत से भी अधिक शब्दों के बारे में यह मत मौन है। अतएव इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से सत्य माना जा सकता है। (ग) कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनमें ऐसे शब्द हैं ही नहीं। उदाहरण के लिए, उत्तरी अमेरिका की 'अथबस्कन' में इस प्रकार के शब्दों का एकान्त अभाव है। ऐसी भाषाओं की दृष्टि से इस मत का कोई मूल्य नहीं है। (घ) कुछ लोग इस सिद्धान्त का विरोध इस आधार पर करते हैं कि इन शब्दों का आधार ध्वनि-अनुकरण होता तो संसार की सभी भाषाओं में इनके लिए एक-से शब्द होते, किन्तु यह आवश्यक नहीं है। अनुकरण प्रायः सर्वदा ही अपूर्ण रहता है; यह आवश्यक नहीं कि शब्द बिल्कुल ही ध्वनि के अनुरूप हो। प्रायः उसमें ध्वनि का थोड़ा या अधिक आधार होता है और इसलिए एक ही ध्वनि के अनुकरण पर बने विभिन्न भाषाओं के शब्दों में ध्वन्यात्मक अंतर असम्भव नहीं है (देखिए भाषा की परिभाषा में 'यादृच्छिकता')।

मैक्समूलर ने इस बात की हँसी उड़ाई थी और हँसी में ही इसे Bow-wow theory कहा था। 'वाउवाउ' अंग्रेजी में कुत्ते की बोली को कहते हैं, और यों अंग्रेज बच्चे कुत्ते को भी 'वाव-वाव' कहते हैं, किन्तु साथ ही पापुआ के पूर्वोत्तरी किनारे की भाषा में भी ध्वनि के आधार पर कुत्ते को इसी नाम से पुकारते हैं। मैक्समूलर ने

पापुवा की भाषा के आधार पर ही यह नाम दिया था। किन्तु, यह स्पष्ट है कि यह मत बिल्कुल ही त्याज्य नहीं है। पर साथ ही भाषा के सारे शब्दों या सारी भाषाओं का समाधान इससे नहीं किया जा सकता। हाँ, यह आवश्यक है कि अधिकांश भाषाओं के विकास की प्राथमिक अवस्था में ऐसे शब्द पर्याप्त रहे होंगे।

(ख) अनुरणात्मक अनुकरण, अनुरणन सिद्धान्त या अनुरणनमूलकतावाद—इसको बहुत-सी पुस्तकों में ध्वनि-अनुकरण से अलग रखा गया है, पर यथार्थतः यह भी एक प्रकार का ध्वनि-अनुकरण ही है। ऊपर पशु-पक्षियों आदि के अनुकरण की बात थी; यहाँ धातु, काठ, पानी आदि निर्जीव चीजों की ध्वनि का अनुकरण है, जैसे झनझनाना, तड़तड़ाना, कल-कल, छल-छल, ठक-ठक, खट-पट आदि। अंग्रेजी में murmur, gazz, thunder, jazz आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में, नद-नद नाद के आधार पर ही नद या नदी आदि हैं। इस प्रकार पत् धातु (= गिरना) का आधार कदाचित् पत्र का 'पत्' ध्वनि करते हुए गिरना है। इस वर्ग के भी कुछ शब्द प्रायः सभी भाषाओं में मिल जायेंगे। जैसे कि ऊपर 'क' के बारे में कहा गया है, इसके आधार पर भी भाषा के दो-चार या दस-बीस शब्दों का ही समाधान हो सकता है, पूरी भाषा का नहीं।

(ग) दृश्यात्मक अनुकरण—इसके शब्द (बगबग, दगदग, जगजग) तो भाषा में और भी कम होते हैं। उपर्युक्त आक्षेप इस पर भी लागू होते हैं।

(६) मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त—मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजक शब्द-मूलकतावाद, आवेग सिद्धान्त, पूह-पूहवाद, मनोभावाभिव्यंजकतावाद आदि कुछ अन्य नामों का भी हिन्दी में प्रयोग होता है। अंग्रेजी में इसे Pooh-pooh[1] या Interjectional Theory कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार आरंभ में मनुष्य विचारप्रधान प्राणी न होकर अन्य पशुओं की भाँति भावप्रधान था और प्रसन्नता, दुःख, विस्मय, घृणा आदि के भावावेश में उसके मुख से ओ, छिः, धिक्, आह, ओह, फ़ाई, पूह, पिश आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते थे।[2] धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के मान्य होने में कई कठिनाइयाँ हैं: (क) पहली बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नहीं मिलते। यदि स्वभावतः आरम्भ में ये निःसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यों में लगभग एक से होते। संसार भर के कुत्ते दुःखी होने पर लगभग एक ही प्रकार भूँक कर रोते हैं, पर संसार भर के आदमी न तो दुःखी होने पर एक प्रकार से 'हाय' करते हैं और न प्रसन्न होने पर एक प्रकार से 'वाह'। बल्कि लगता है कि इनके साथ संयोग से ही इस प्रकार के भाव सम्बद्ध हो गये हैं, और ये पूर्णतः याहच्छिक हैं। (ख) साथ ही इन शब्दों से पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। किसी भाषा में इनकी संख्या चालीस-पचास से अधिक नहीं होगी, और वहाँ भी इन्हें पूर्णतः भाषा का अंग नहीं माना जा सकता। बेनफ़ी ने यह ठीक ही कहा था कि ऐसे शब्द केवल वहाँ प्रयुक्त होते हैं जहाँ बोलना सम्भव नहीं होता, इस प्रकार ये भाषा नहीं हैं। (ग) यदि इन्हें भाषा का अंग भी माना जाय तो अधिक से अधिक इतना कहा जा

१. यह नाम मैक्समूलर ने मज़ाक में दिया था।
२. विकासवाद के पिता डार्विन इन ध्वनियों का कारण शारीरिक मानते हैं।

सकता है कि कुछ थोड़े शब्दों की उत्पत्ति की समस्या पर ही इससे प्रकाश पड़ता है। यों इसमें यह तो बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं है कि और शब्द, जो भाषा के अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख अंग हैं, इन शब्दों से किस प्रकार विकसित या उत्पन्न हुए ?

हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की ध्वनियाँ आरम्भ में अधिक रही होंगी और उनका प्रयोग भी भाषा के अभाव में अधिक होता रहा होगा, अतः इसके कारण धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण का अभ्यास बढ़ा होगा, जिससे भाषा के विकसित होने में कुछ सहायता मिली होगी।

(७) यो-हे-हो सिद्धान्त—इसे यो-हे-हो-वाद, श्रमध्वनि सिद्धान्त या श्रम-परिहरणमूलकतावाद भी कहते हैं। इसके जन्मदाता न्वायर (Noire) नामक विद्वान् थे। उनका सिद्धान्त था कि परिश्रम का कार्य करते समय साँस के तेजी से बाहर-भीतर आने-जाने, और साथ-साथ स्वरतंत्रियों के विभिन्न रूपों में कम्पित होने, एवं तदनुकूल ध्वनियाँ उच्चरित होने से कार्य करने वाले को राहत मिलती है।

इसीलिए कठिन परिश्रम करते समय कुछ कहकर श्रमिक लोग श्रम-परिहार किया करते हैं। धोबी 'हियो' या 'छियो' कहते हैं। मल्लाह थकान के लिए 'यो-हे-हो' कहते हैं। क्रेन पर काम करने वाले मजदूर भी काम करते समय 'हो-हो' या कुछ इसी प्रकार के शब्द कहते हैं। इसी प्रकार सड़क कूटने वाले श्रमिक जब-जब दुर्मुस (सड़क कूटने का डंडा लगा हुआ लोहा या पत्थर) उठाते हैं तो 'हं' या 'हूँ' आदि कहते हैं। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावतः होने वाली ध्वनि उस क्रिया की बोधिका होती है।

यह सिद्धान्त ऊपर के सभी सिद्धान्तों से गया-बीता है, क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई भी स्थान नहीं है और न तो इन ध्वनियों से किसी विशिष्ट अर्थ का ही सम्बन्ध है।

(८) इंगित सिद्धान्त (Gestural Theory)—इस सिद्धान्त की ओर सर्व-प्रथम संकेत करने का श्रेय पालिनेशियन भाषा के विद्वान् डॉ० राये को है। कुछ दिन बाद डार्विन ने भी छः असम्बद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इसे प्रमाणित किया था। इस सदी में १९३० के लगभग रिचर्ड ने इस सिद्धांत को पुनः उठाया और अपनी पुस्तक 'ह्यूमन स्पीच' में मौखिक इंगित सिद्धांत (oral gesture theory) नाम से इसे विद्वानों के समक्ष रक्खा। आइसलैंडिक भाषा के विद्वान् अलेक्जेंडर जोहान-सन भी लगभग इसी समय भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। बाद में उन्होंने अपनी तीन पुस्तकों में इंगित सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया। अपने विवेचन को उन्होंने भारोपीय भाषाओं के अतिरिक्त हिब्रू, पुरानी चीनी, तुर्की तथा कुछ अन्य भाषाओं पर भी आधारित किया है। ये भाषा के विकास की चार सीढ़ियाँ मानते हैं। पहली सीढ़ी भाव-व्यंजक ध्वनियों की है जब भय, क्रोध, दुःख, खुशी, भूख, प्यास, मैथुनेच्छा के कारण मनुष्य बन्दरों आदि की तरह इस प्रकार की ध्वनियों द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है। दूसरी सीढ़ी अनुकरणात्मक शब्दों

की है। इस अवस्था में विभिन्न जीव-जन्तुओं तथा निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण पर,शब्द बने होंगे। तीसरी सीढ़ी भाव-संकेत या इंगितों की है। इनका भी आधार अनुकरण है पर यह अनुकरण (जीभ आदि द्वारा) बाहरी चीजोंका न होकर अपने अंगों का (प्रमुखतः हाथ का) या अंगों के संकेतों (gestures) का है। इसे जोहानसन ने बिना जाने किया हुआ अनुकरण (unconscious imitation) कहा है। भाषा के विकास में इसी को वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं (इसकी आलोचना के लिए देखिए टाटा सिद्धान्त)। पर, इस तीसरी स्थिति में केवल स्थूल के लिए शब्द बने होंगे। मानव के मानसिक विकास के और आगे बढ़ने पर धीरे-धीरे सूक्ष्म भावों आदि के लिए भी शब्द बने। यह चौथी अवस्था थी। इस प्रसंग में उन्होंने स्वर, व्यंजन आदि विकास की अवस्था की ओर भी संकेत किया है। ध्वनियों से अर्थ का सम्बन्ध भी वे स्थापित करते हैं, जैसे 'र' से आरम्भ होने वाले धातुओं का अर्थ 'गति' (क्योंकि जीभ इसके उच्चारण में दौड़ती है) तथा 'म्' से आरम्भ होने वाले धातुओं का अर्थ बन्द करना, चुप होना, तथा समाप्त करना आदि, क्योंकि इसके उच्चारण में ओंठ लगभग यही क्रिया, करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आदि मानव ने अपने शरीर में तरह-तरह के 'कर्व' देखे और उनके अनुकरण पर उसने १६६ मूल भावों के द्योतक शब्दों का आरम्भ में निर्माण किया।

इस मत में भाषा के विकास की आरम्भिक स्थितियाँ तो निश्चय ही आरम्भ और विकास की दृष्टि से मान्य हो सकती हैं, किन्तु इसके बाद मुँह के जीभ आदि अंगों से हाथ आदि बाह्य अंगों के अनुकरण के आधार पर ध्वनि या शब्दों की उत्पत्ति गले से नहीं उतरती। दूसरे, इस प्रसंग में ध्वनि और अर्थ का तर्कसम्मत सम्बन्ध स्थापित करने की जोहानसन ने जो कोशिश की है, वह तो और भी असन्तोषजनक सिद्ध होती है। इसके आधार पर कुछ भाषाओं के कुछ शब्दों में उनकी बातें मिल जायँ, यह बात दूसरी है, किन्तु पुरानी भाषाओं के प्राचीनतम शब्द-समूह पर दृष्टि दौड़ाने पर भी यह बात पूर्णतः सही नहीं उतरती। उदाहरणतः 'र' से आरम्भ होने वाली धातुओं का अर्थ वे 'गति' मानते हैं। उदाहरण में वे हिब्रू धातु rbk (मिलाना), rkb (चढ़ना) आदि देते हैं, किन्तु संस्कृत तथा ग्रीक आदि में अन्य ध्वनियों से आरम्भ होने वाले गत्यार्थक धातुओं की भी कमी नहीं है। इस सिद्धान्त को और सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि धातु या शब्द का क्या केवल प्रथम वर्ण ही महत्त्वपूर्ण है, और यदि है भी तो बाद के वर्ण किस आधार पर रक्खे गये। यों यदि तर्क देने ही हों तो गणितशास्त्र के आधार पर इनके भी कुछ उत्तर दिये जा सकते हैं, पर प्रश्न उठेगा कि उस काल में क्या मनुष्य में इतनी तर्कशक्ति आ गई थी। शायद नहीं। तर्कबुद्धि और भाषा का विकास तो साथ-साथ हुआ है। इस मत के प्रतिपादक ने शब्दों के बनने में सामान्य सिद्धान्त की बात उठाई है। यदि उसे उतना यांत्रिक माना जाय तो संसार की प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं में प्रारम्भिक भावों को व्यक्त करने वाले समानार्थी शब्दों में पर्याप्त साम्य होना चाहिये, किन्तु यह बात भी नहीं के बराबर है। इस सिद्धान्त के

विरुद्ध इसी प्रकार की और भी कई आपत्तियां उठाई जा सकती है। फलतः इसके आरम्भिक अंश को छोड़कर शेष को स्वीकार्य नहीं माना जा सकता।

(९) टा-टा-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त (टा-टा वाद ta-ta theory) के आरम्भ में आदिम मानव काम करते समय जाने-अनजाने उच्चारण-अवयवों से काम करने वाले अवयवों की गति का अनुकरण करता था और इस अनुकरण में कुछ ध्वनियों और ध्वनि-संयोगों से शब्दों का उच्चारण हो जाया करता था। इन्हीं ध्वनियों और शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। कहना न होगा कि यह अनुकरण वाली बात बहुत कुछ इंगित सिद्धान्त से मिलती-जुलती है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न इससे भी सुलझता नहीं दिखाई देता। ऐसा अनुकरण न तो आज का सभ्य मानव करता है और न असभ्यतम और अविकसिततम मानव जो विश्व के कुछ स्थलों में मिला है। साथ ही तरह-तरह के बन्दरों में भी जो हमारे तथाकथित जनक हैं, यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। फिर किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है, पता नहीं चलता (जोहानसन के इंगित-सिद्धांत के इस प्रकार के अंश के विरुद्ध भी यही आपत्ति उठाई जा सकती है)। यदि इस प्रश्न को छोड़ दिया जाय तो भी उन आरंभिक निरर्थक ध्वनियों से भाषा का विकास कैसे हुआ, इस बात का इस सिद्धान्त में कोई दो-टूक उत्तर नहीं दिया गया है, और इस तरह यह भी अमान्य ही कहा जायगा।

(१०) संगीत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त (संगीतवाद या Sing-Song theory) में भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव के संगीत से मानी जाती है। डार्विन तथा स्पेंसर ने इसे कुछ रूपों में माना था। येसपर्सन ने भी—जहाँ वे कहते हैं कि भाषा की उत्पत्ति खेल के रूप में हुई; और उच्चारणावयव खाली वक्त में गाने के खेल (singing sport) में उच्चारण करने में अभ्यस्त हुए—इसका समर्थन किया है। इसके अनुसार गाने (प्रेम, दुःख आदि के अवसर पर) से प्रारम्भिक अर्थविहीन अक्षर (meaningless syllable) बने, और विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने से उन अक्षरों से अर्थ का सम्बन्ध हो गया।

आदिम मनुष्य भावुक अधिक रहा होगा, और सम्भव है गुनगुनाने में उसे आनन्द आता रहा हो, किन्तु गुनगुनाने के अक्षरों से भाषा कैसे निकली, इसका स्पष्ट चित्र इसके समर्थकों ने हमारे सामने नहीं रक्खा है। साथ ही गुनगुनाने की बात भी अनुमान पर ही अधिक आधारित है। ऐसी स्थिति में इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस संगीत का सम्बन्ध अपेक्षतया प्रेम से अधिक है, इसी कारण कुछ लोगों ने इसे प्रेम सिद्धान्त (woo-woo theory) भी कहा है। (प्रो० हडसन के अनुसार उनके विद्यार्थियों ने सादृश्य के आधार पर यह नाम दिया था।)

(११) सम्पर्क सिद्धान्त (Contact Theory)—इस मत के प्रतिपादक जी० रेवेज (Revesz) हैं, जो मनोविज्ञान के विद्वान् थे। इस सिद्धान्त में 'सम्पर्क' का अर्थ है सामाजिक जीवों (जिनमें मनुष्य प्रमुख हैं) में आपसी सम्पर्क रखने की सहजात प्रवृत्ति।

समाज का निर्माण इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। आदिम मनुष्य के भी छोटे-छोटे वर्ग या समाज थे और उसमें आपस में प्रारम्भिक भावनाओं (भूख-प्यास, कामेच्छा, रक्षा आदि से सम्बन्ध) को एक दूसरे पर अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न स्तरों पर तरह-तरह के सम्पर्क स्थापित किये जाते थे। इन सम्पर्कों के लिए स्पर्श आदि का सहारा भी चलता रहा होगा, पर साथ ही मुखोच्चरित ध्वनियाँ भी सहायक रही होंगी। भाषा उसी का विकसित रूप है। जैसे-जैसे सम्पर्क की आवश्यकता बढ़ती गई और उसकी स्पष्टता की आवश्यकता का अनुभव होता गया, सम्पर्क के माध्यम (ध्वनि) का भी विकास होता गया। आरम्भ की ध्वनियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक थीं, पर धीरे-धीरे मानव आवश्यकतानुसार कृत्रिमता के आधार पर उन्हें विकसित करता गया। सम्पर्क प्रारम्भ में भावों के स्तर पर (emotional contact) रहा होगा और बाद में विचारों के स्तर पर (intellectual contact)। विचारों के स्तर पर सम्पर्क के बढ़ने पर भाषा में अधिक विकास हुआ होगा। रेवेज़ ने इस सिद्धान्त पर विचार करते हुए ध्वन्यात्मक रूप के विकास पर भी प्रकाश डाला है। हर्ष, शोक आदि की स्थिति में, भावावेशात्मक ध्वन्याभिव्यक्ति को रेवेज़ विनिमय या दूसरे तक अपने भावों को पहुँचाने वाली अभिव्यक्ति नहीं मानते। किन्तु, सम्पर्क-ध्वनि का इससे सम्बन्ध अवश्य है, और कदाचित् एक दूसरे का विकसित रूप भी है। सम्पर्क-ध्वनि का विकास संसूचक ध्वनि में होता है, जिसमें चिल्लाना, पुकारना आदि हैं। इसी अवस्था में भाषा के आदिम शब्दों का विकास हुआ होगा जिनका विशेष अवसरों पर प्रयुक्त होने के कारण विशेष अर्थों से भी सम्बन्ध स्थापित हो गया होगा। इस समय सम्बन्धियों एवं वस्तुओं के लिए शब्द रहे होंगे, किन्तु उसका सम्बन्ध संज्ञा से न होकर क्रिया से रहा होगा। 'माँ' का अर्थ 'माँ दूध दो या कुछ और करो' आदि। इस प्रकार क्रिया पहले आई, संज्ञा बाद में। साथ ही व्याकरणिक दृष्टि से ये शब्द न होकर वाक्य रहे होंगे। फिर और विकास होने पर कई प्रकार के शब्दों को मिलाकर छोटे-छोटे वाक्य बने होंगे, किन्तु वाक्यों में अलग-अलग शब्दादि का बोलने वालों को पता न रहा होगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों विचारों के स्तर पर सम्पर्क बढ़ता गया होगा, भाषा विकसित होती गई होगी।

प्रो० रेवेज़ ने बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान तथा आदिम अविकसित मनुष्य के मनोविज्ञान के सहारे जो यह सिद्धान्त रचा है, पूर्णतः तर्कसम्मत है, किन्तु इसमें मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्पत्ति और विकास के सामान्य सिद्धान्तों का ही विवेचन है। हम शायद अधिक निकट होकर उत्पत्ति और विकास के और ठोस रूप को जानना चाहते हैं। इसीलिए इनके सिद्धान्तों को देखने के बाद भी कासिडी आदि विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को अनिर्णीत ही माना है।

(१२) समन्वित रूप—पिछली सदी के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानविद् स्वीट ने उपर्युक्त सिद्धान्तों में कुछ के समन्वय के आधार पर भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उनका कहना था कि भाषा प्रारम्भिक रूप में 'भाव संकेत' या 'इंगित' (gesture) और 'ध्वनि-समवाय' (sound group) दोनों पर आधारित थी।

ध्वनि-समवाय आधार पर ही शब्दों का आगे विकास हुआ। आरम्भिक शब्द-समूह स्वीट के अनुसार तीन प्रकार के शब्दों का था—(१) पहले प्रकार के शब्द अनुकरणात्मक (imitaive) थे, जैसे मिस्री माउ (बिल्ली, जो म्याऊँ-म्याऊँ करती), सं० काक (जो का-का करता है), अं० cuckoo, हिन्दी घुग्घू आदि। स्वीट का यह भी कहना था कि आवश्यक नहीं है कि ध्वनि के अनुकरण पर आधारित शब्द पूर्णत: आधार-ध्वनि के अनुसार ही हों। उनमें थोड़ा-सा भी सादृश्य हो सकता है। (२) दूसरे प्रकार के शब्द भावावेशव्यंजक या मनोभावाभिव्यंजक (interjectional) रहे होंगे। व्याकरण में विस्मयादिबोधक के अन्तर्गत रक्खे जाने वाले शब्द इसी श्रेणी के हैं। जैसे ओह, आह, धिक, हुश, हाय तथा वाह आदि। इस वर्ग में धातुएँ भी होती हैं, जैसे डेनिश fy, सं० पू; पी, धिक्कारना आदि। (३) तीसरे प्रकार के शब्दों को स्वीट ने प्रतीकात्मक (symbolic) कहा है। भाषा के प्रारम्भिक शब्द-समूह में इस वर्ग के शब्दों की संख्या बहुत बड़ी रही होगी और इसमें अनेक प्रकार के शब्द रहे होंगे। कुछ संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया शब्दों के उदाहरण स्पष्टीकरण के साथ नीचे दिये जा रहे हैं—

प्रतीकात्मक शब्द उसे कहते हैं, जिसका संयोग से या किसी अत्यन्त सामान्य और थोड़े सम्बन्ध से किसी अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वह उनका प्रतीक बन जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चे यों ही मामा, पापा, बाबा जैसे शब्द बहुत छोटी अवस्था में बोलने लगते हैं। माँ-बाप उनका प्रयोग प्राय: अपने लिए समझ लेते हैं, और फल यह होता है कि विभिन्न अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे शब्द उनके प्रतीक बन जाते हैं। भाषाविज्ञान में जिन्हें 'नर्सरी शब्द' (nursery word) कहते हैं, प्राय: इसी प्रकार के होते हैं। इनमें अधिकांश में आद्य ध्वनियाँ ओष्ठ्य होती हैं, और इनके अर्थ माता, पिता, चाचा, चाची, दाई आदि ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बच्चे की देखरेख करते हैं। अंग्रेजी mamma, papa, abba, mother, father, brother, dady; सं० माता, पिता, भ्राता, तात, मामा; ग्रीक meter, phrater, paters; लैटिन mater, amita, pater, frater; जर्मन muhme, bruder, vater; फारसी मादर, पिदर, बिरादर; अल्बानियन ama; पुरानी नार्स amma; असीरियन ummu; हिब्रू em; स्लावैनिक baba, tata, ded, dyadya; हिन्दी माता, पिता, बाबा, दादा, भाई, बाई, दाई; टाँगा bama; तुर्की बाबा; इटैलियन babbo बलगेरियन; baba; सर्बियन baba; बास्क ama; तथा मांचू ama, eme आदि मूलत: इसी प्रकार के शब्द रहे होंगे।

बहुत से सर्वनामों का भी निर्माण इसी प्रकार होता है। सं० त्वम्, ग्रीक to, लैटिन tu, हिन्दी तू जैसे शब्दों के उच्चारण में सामने के किसी व्यक्ति की ओर मुँह से संकेत करने का भाव स्पष्ट है। बहुत-सी प्राचीन भाषाओं में 'यह' और 'वह' के लिए पाये जाने वाले सर्वनामों में भी इसी प्रकार की प्रतीकात्मकता दिखाई पड़ती है, जैसे अंग्रेजी This, that; रूसी तोत, एतअ; संस्कृत इदम्, अदस् तथा जर्मन dies, das आदि।

बहुत-से क्रिया शब्दों या धातुओं के निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है। 'पीना'

साँस अन्दर लेने की तरह द्रव भीतर ले जाना है। लगता है कि प्रारम्भ में पीने के लिए साँस अन्दर लेकर इंगित किया जाता रहा होगा। इसी आधार पर संस्कृत पिबामि या लैटिन bibere जैसे क्रियाएँ बनीं। अंग्रेजी के blow में स्पष्टतः फूँकने की क्रिया है। 'पीना' अर्थ रखने वाली अरबी धातु 'श्-र्-ब्' भी इसी प्रकार की है। 'शरबत' तथा 'शराब' आदि शब्द इसी की देन हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जो किन्हीं दो वर्गों में आते हैं। स्वीट के अनुसार अंग्रेजी का 'hush' ऐसा ही शब्द है, जो भावाभिव्यंजक होता हुआ अंशतः या पूर्णतः प्रतीकात्मक भी है।

इस प्रकार आरम्भ में बहुत-से शब्द बने होंगे, किन्तु संसार में जितने पैदा होते हैं, सभी नहीं रह जाते। वनस्पति और जीवों आदि में जैसे योग्यतमावशेष (survival of the fittest) का सिद्धान्त चलता है, वैसे ही शब्दों में भी चलता है। फल यह हुआ होगा कि 'बोलने', 'सुनने' और अपने अर्थ को स्पष्टतापूर्वक व्यंजित करने, इन तीनों ही कसौटियों पर जो खरे उतरे होंगे, वे ही भाषा में स्थान प्राप्त कर सके होंगे।

इस प्रसंग में एक-दो प्रश्न और भी विचारणीय हैं। आरम्भ के शब्द तो स्थूल वस्तुओं या विचारों के द्योतक रहे होंगे, पर भाषा में सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने वाले शब्द भी बहुत अधिक हैं। ऐसे शब्द आदिम मनुष्य के वश के हैं नहीं, फिर ये कहाँ से आये ? इनका बाद में विकास हुआ होगा 'सादृश्य आदि के आधार पर'। इस प्रकार के निर्माण आज भी होते हैं। 'मक्खन' के आधार पर 'मक्खन लगाना' का प्रयोग 'बहुत चापलूसी करने' के लिए होता है। स्वीट के अनुसार दक्षिणी अफ्रीका की सासुतो भाषा में भिनभिनाने के आधार पर 'मक्खी' को 'न्त्सी-न्त्सी' कहते थे। अब इस शब्द का यहाँ मक्खी की तरह चारों ओर चक्कर लगाकर चापलूसी करने वाले तथा चूसने वाले के अर्थ में भी प्रयोग होता है। सूक्ष्म भाव के अतिरिक्त नवज्ञात (स्थूल) वस्तुओं के नाम भी प्रायः इसी प्रकार सादृश्य आदि के कारण पुराने शब्दों के आधार पर रख लिए गये होंगे। अब भी ऐसा होता है। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों की भाषा में 'मूयूम' शब्द का अर्थ 'स्नायु' था। पुस्तक से वे अपरिचित थे। जब पहले-पहले उन लोगों ने पुस्तक देखी तो स्नायु की तरह खुलने-बन्द होने के कारण उसे भी 'मूयूम' कहने लगे, इस प्रकार 'मूयूम' शब्द पुस्तक का भी वाचक हो गया। इस प्रकार के शब्दों का विकास उपचार[1] के कारण होता है। इन औपचारिक या लाक्षणिक प्रयोगों के कारण ही शब्द का अर्थ कहाँ से कहाँ चला आता है। यों उपचार के अतिरिक्त भी और रूपों में अर्थ का विस्तार, संकोच और आदेश[2] आदि होता है।

---

१. यहाँ उपचार का अर्थ है ज्ञात के आधार पर नवज्ञात (या अपूर्व ज्ञात) का परिचय, व्याख्या या नामकरण। अँग्रेजी में इसके लिए metaphor शब्द है, किन्तु उपचार अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।

२. देखिये 'अर्थविज्ञान' का अध्याय।

इस प्रकार स्वीट के अनुसार भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से भाषा शुरू हुई। फिर उपचार के कारण बहुत से शब्दों का अर्थ विकसित होता गया या नये शब्द बनते गये।

नवीनतम खोजों के प्रकाश में स्वीट के मत में, मैं कुछ और बातें जोड़ लेने की आवश्यकता के पक्ष में हूँ। मेरा आशय उन सिद्धान्तों से है, जिनमें कुछ तथ्य की बातें हैं। ऊपर इनका परिचय दिया जा चुका है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं, जितनी खोजें हुई हैं, उनके प्रकाश में केवल इतना ही कहना सम्भव है कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से हुई, और इसमें इंगित सिद्धान्त, संगीत सिद्धान्त एवं सम्पर्क सिद्धान्त से भी सहायता मिली। आगे चलने पर नवाभिव्यक्ति की आवश्यकता, योग्यतमावशेष सिद्धान्त, एवं अर्थ (उपचार आदि) तथा ध्वनि में परिवर्तन, के कारण भाषा में तेजी से परिवर्तन आता गया। यह परिवर्तन इतना बड़ा और बहुमुखी था कि आज इतने दिनों बाद, इसे भेद कर, इसके पूर्व की भाषा के रूप के सम्बन्ध में निश्चय के साथ और अधिक कहना अब प्रायः सम्भव नहीं है।

ख : परोक्ष मार्ग

ऊपर हम लोगों ने सीधी शैली से 'भाषा की उत्पत्ति' के प्रश्न पर विचार किया। इन सारे सिद्धान्तों और निष्कर्षों के बावजूद भी विद्वानों का कहना है कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक सुलझा नहीं है। इसीलिए कुछ लोग 'उलटी शैली' या 'परोक्ष मार्ग' से आदिम भाषा के स्वरूप के परिचय पर ही अधिक बल देते हैं। इससे मूल समस्या 'भाषा का उद्‌गम' या 'ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध' आदि पर तो प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु प्रारम्भिक भाषा का विविध दृष्टिकोणों से परिचय अवश्य मिल जाता है।

यह मार्ग तीन बातों पर आधारित किया जा सकता है—

(१) बच्चों की भाषा—कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत विकास की ही भाँति सामूहिक या जातीय विकास भी होता है। इसीलिए व्यक्तिगत विकास के अध्ययन से सामूहिक विकास पर प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ, इसका आशय यह है कि ऐसे लोगों के अनुसार मानव ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी, जैसे एक बच्चा सीखता है। कुछ लोगों ने इसी आधार पर भाषा के आरम्भ पर प्रकाश भी डाला है; पर, सच पूछा जाय तो इन दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण समानता नहीं है। बच्चों को एक बनी-बनाई भाषा सीखनी होती है, पर दूसरी ओर भाषा के आरम्भ के समय लोगों को भाषा का आविष्कार भी करना रहा होगा, केवल सीखना ही नहीं। आज एक विद्यार्थी किसी टेकनिकल स्कूल में जाकर दो एक वर्ष में किसी वस्तु का निर्माण करना सीख सकता है। उसके सीखने का रास्ता वैसा दुर्गम नहीं होगा, जैसा कि उस वस्तु के आविष्कार या प्रथम बनाने वाले का रहा होगा। भाषा के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। बच्चा

भाषा सीखता है, वह आविष्कार नहीं करता, अतः उसके आधार पर भाषा के आरम्भ के विषय में पता लगाने का प्रयास हास्यास्पद ही होगा। हाँ, एक बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है। बच्चा आरंभ के वर्षों में निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण करता है, और उसे दूसरे के अनुकरण का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। उस समय उसके बोलने की दशा से भाषा की आरंभिक दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कभी-कभी बच्चे उस समय पूर्णतः नवीन शब्द भी गढ़ डालते हैं, जो आज की भाषा की विकसित दशा में तो ग्रहण नहीं किये जा सकते, पर आरंभिक दशा में ऐसे शब्दों का लिया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता है।[1]

(२) असभ्य जातियों की भाषा—असभ्य तथा अत्यन्त पिछड़े हुए लोगों की भाषा के विश्लेषण से भी भाषा के आरम्भिक रूप पर प्रकाश पड़ सकता है; पर, बड़ी ही सतर्कता से इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिये। सच तो यह है कि ये भाषाएँ सभ्य भाषाओं से कुछ ही पीढ़ी पूर्व की हो सकती हैं, अतः इनको बिल्कुल आरं-

---

[1] एक नवीन प्रयोग—मेरा अपना विचार यह है कि यदि एक प्रयोग किया जाय तो बच्चों के द्वारा प्रस्तुत विषय पर यथेष्ठ प्रकाश पड़ सकता है। मैं नहीं कह सकता कि इस विषय में किसी ने कुछ लिखा या किया है अथवा नहीं। कम से कम मेरे देखने में यह चीज नहीं आई। प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है —

अधिक से अधिक असभ्य और पिछड़ी जातियों के लगभग ५ लड़के और ३ लड़कियाँ (जो अवस्था में एक वर्ष से कम के हों) लिये जायें। एक बड़े से अहाते में वे रखे जायें, जिसमें कुछ टीले हों, कुछ फल वाले पेड़ हों (जिसमें कुछ ऐसे हों जिनका फल खाया जाता हो और कुछ ऐसे हों जिसका फल न खाया जाता हो।) एक तालाब हो, तथा मछली, चिड़ियां और दो-एक कुत्ते आदि भी हों। उनकी सेवा किसी ऐसे होशियार आदमी से करवाई जाय जो वहाँ एक शब्द भी न बोले। पांच-छः वर्ष की अवस्था से आगे चलने पर उनको आसानी से भोजन न दिया जाय। कभी पेड़ पर टाँग दिया जाय तो कभी टीले पर रखा जाय और कभी जब केवल एक अलग हो तो उसे भोजन उसकी आवश्यकता से अधिक दिया जाय, ताकि उसे औरों को बुलाने या देने का अवसर मिले। कुछ आदमी उनको चौबीसों घंटे आलोचनात्मक और अध्ययनपूर्ण दृष्टि से देखते रहें। कभी-कभी उनको कठिनाइयों का सामना करने का भी अवसर दिया जाय। कभी एक को औरों से अलग कर कष्ट भी दिया जाय। साथ ही ऐसी परिस्थितियाँ भी लाई जायें, जब उनमें एक-दूसरे के सहयोग की भावना उत्पन्न हो। मेरा विश्वास है कि ३०-४० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनमें कोई साधारण टूटी-फूटी भाषा अवश्य विकसित हो जाएगी। उनको सर्वदा देखने वाले अवश्य ही उस भाषा को समझेंगे और इस प्रकार भाषा के उद्गम की गुत्थी किसी सीमा तक सुलझ जायेगी। मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि पर भी ऐसे प्रयोगों से प्रकाश पड़ सकता है।

भिक भाषा नहीं माना जा सकता। असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी जाने कितनी ही सदी पुरानी होगी। इनसे इतना ही लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओं की तुलना में इनमें अंतर देखकर इनकी तुलना में और पहले की भाषा की दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) आधुनिक भाषाओं का इतिहास—भाषा की आरंभिक दशा के विषय में कुछ जानने का, यह सबसे सीधा, अच्छा और महत्त्वपूर्ण पथ है। ऊपर हम लोगों ने देखा कि कुछ लोगों ने भाषा के आरंभ के विषय में कुछ सिद्धान्त दिये हैं, जिनके आधार पर आरंभ से चलकर हम अंत तक पहुँचते हैं। यहाँ हमारा रास्ता उसके ठीक उलटा है। हम अंत से शुरू करके आरंभ तक पहुँचना चाहते हैं। इस पथ के ठीक होने का निश्चय इसलिए है कि हमारा आरंभ अनुमान पर आधारित न होकर निश्चित दशा पर आधारित है जबकि उपर्युक्त सिद्धांतों में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष अनुमान ही अनुमान था।

आज की किसी भी भाषा को लें, उसका अध्ययन करें और फिर पीछे उसके इतिहास का वहाँ तक अध्ययन करते जायँ जहाँ तक सामग्री मिले। इस अध्ययन के आधार पर भाषा के विकास का सामान्य सिद्धान्त निकाल लें। उन सिद्धांतों के प्रकाश में आज की भाषा की तुलना उसके प्राचीनतम उपलब्ध रूप से करें और देखें कि कौन-सी बातें आज की भाषा में नहीं हैं, पर प्राचीन में हैं। इसके बाद हम यह आसानी से कह सकते हैं कि वे विशेषताएँ यदि भाषा से प्राचीनतम उपलब्ध रूप में दस प्रतिशत हैं तो भाषा के बिल्कुल प्रारम्भ में सत्तर या अस्सी प्रतिशत रही होंगी।

उदाहरण के लिए, हिन्दी (खड़ीबोली) को लें। इसके अध्ययन के उपरान्त पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत और वैदिक संस्कृत का अध्ययन करके विकास के सिद्धांतों पर विचार करें। फिर खड़ी बोली की तुलना वैदिक संस्कृत से ध्वनि, व्याकरण के रूप, शब्द-समूह, वाक्य आदि के विचार से करके वैदिक संस्कृत की वे विशेषताएँ निश्चित करें जो या तो खड़ीबोली में बिल्कुल नहीं हैं, या हैं भी तो बहुत कम। प्राचीन भारतीय भाषा में निश्चित ही उन विशेषताओं का विशेष स्थान रहा होगा, जो घटते-घटते वैदिक संस्कृत में कुछ शेष थीं और खड़ीबोली तक आते-आते प्रायः नहीं के बराबर रह गई हैं।

इसी प्रकार किये गये अध्ययन के आधार पर भाषाओं की प्रारम्भिक प्रकृति पर यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रारम्भिक अवस्था में भाषा की प्रकृति

(क) ध्वनि—किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियों एवं ध्वनि-संयोगों में, धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा आगे बढ़ती है, सरलता आती जाती है। इस बात पर कुछ विस्तार से ध्वनि के अध्याय में विचार किया जायेगा। यहाँ इस सरल होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक भाषा में आज

की विकसित भाषाओं की तुलना में ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होंगी। यहाँ कठिन से आशय उच्चारण में कठिन संयुक्त व्यंजन (जैसे आरंभ में प्स, क्न, ह्म आदि) या मूल ध्वनि आदि हैं। प्राचीन और पिछड़ी अनेक अफ्रीकी तथा अन्य भाषाओं में 'क्लिक'[1] ध्वनियाँ अधिक हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि आरम्भ की भाषा में क्लिक ध्वनियाँ भी कदाचित् अधिक रही होंगी। वैदिक संस्कृत और हिन्दी की तुलना से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अपेक्षाकृत अब शब्द सरल एवं छोटे हो गये हैं। अन्य भाषाओं में भी यही बात मिलती है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि भाषा की आरम्भिक अवस्था में शब्द अपेक्षतया बड़े एवं उच्चारण की दृष्टि से कठिन रहे होंगे। होमरिक ग्रीक तथा वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात की उपस्थिति के यथेष्ठ प्रमाण मिलते हैं। अफ्रीका की असंस्कृत भाषाओं में यह बात पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, पर अब धीरे-धीरे उसका लोप हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भिक अवस्था में लोग बोलने की अपेक्षा गाते ही अधिक रहे होंगे, अर्थात् आरम्भिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात (सुर) बहुत अधिक रहा होगा।

(ख) व्याकरण—प्रारम्भिक भाषा में शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद में सादृश्य या ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारण आपस में मिल कर कम हो गये। भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में हम देखते हैं कि आधुनिक भाषाओं की तुलना में पुरानी भाषाओं में सहायक क्रिया या परसर्ग आदि जोड़ने की आवश्यकता कम या नहीं के बराबर होती है। इसका आशय यह है कि आरम्भिक भाषा संश्लेषणात्मक रही होगी, अर्थात् सहायक क्रिया या परसर्ग इत्यादि जोड़ने की उसमें बिल्कुल ही आवश्यकता न रही होगी। अपने में पूर्ण नियमों की उस समय कमी रही होगी, और अपवादों का आधिक्य रहा होगा। उन लोगों का मस्तिष्क व्यवस्थित न रहा होगा, अतः भाषा में भी व्यवस्था का अभाव रहा होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिल्कुल आरम्भ में व्याकरण या भाषा-नियम नाम की कोई चीज ही न रही होगी।

(ग) शब्द-समूह—भाषा का जितना ही विकास होता है, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावों के प्रकट करने के लिए शब्द बन जाते हैं। इसका आशय यह है कि आरंभिक भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति अत्यल्प रही होगी, और सूक्ष्म तथा सामान्य भावनाओं के लिए शब्दों का एकान्त अभाव रहा होगा। आज भी कुछ असंस्कृत भाषाएँ हैं जो लगभग इसी अवस्था में हैं। उत्तरी अमेरिका की चेरोकी भाषा में सिर धोने के लिए, हाथ धोने के लिए, शरीर धोने के लिए अलग-अलग शब्द हैं, पर 'धोने' के सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाला एक भी शब्द नहीं है। टस्मानिया की मूल भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के सभी पेड़ों के लिए अलग-अलग शब्द हैं, पर 'पेड़' के लिए कोई शब्द नहीं है। उनके पास कड़ा, नरम,

---

१ ध्वनि के अध्याय में इसका विशेष विवरण है।

ठंडा और गरम आदि के लिए भी शब्द नहीं हैं। इसी प्रकार ज़ूलू लोगों की भाषा में लाल गाय, काली गाय और सफ़ेद गाय के लिए शब्द हैं, पर गाय के लिए नहीं। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि आरम्भ में शब्द केवल स्थूल और विशिष्ट के लिए ही रहे होंगे, सामान्य और सूक्ष्म के लिए नहीं।

ऊपर की बातों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भ के कुछ दिनों के बाद शब्दों का बाहुल्य हो गया होगा। कुछ वर्तमान असभ्य भाषाओं के आधार पर इस बाहुल्य का एक और कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे लोग अंधविश्वासी रहे होंगे, अतः सभी शब्दों को सर्वदा प्रयोग में लाना अनुचित माना जाता रहा होगा। उन्हें भय रहा होगा कि देवता या पित्र आदि कुपित न हो जायें, अतः एक ही वस्तु या कार्य के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग में आते रहे होंगे।

(घ) वाक्य—भाषा वाक्य पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उसके साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है। आरम्भ में इन शब्दों का हमें पता न रहा होगा और वाक्य एक इकाई के रूप में रहे होंगे। शब्दों के रूप में उनका 'व्याकरण' या विश्लेषण नहीं हुआ रहा होगा। उत्तरी अमेरिका के वासियों की कुछ बहुत पिछड़ी भाषाओं में कुछ दिन पूर्व तक वाक्यों में अलग-अलग शब्दों की कल्पना तक नहीं की गई थी।

(ङ) विषय—अपने विकास की आरम्भिक अवस्था में लोग भावना-प्रधान रहे होंगे। तर्क या विचार की वैज्ञानिक शृंखला से वे अपरिचित रहे होंगे। पद्यात्मकता की ही प्रधानता रही होगी। यही कारण है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्य या काव्य बहुत प्राचीन मिलता है, किंतु गद्य नहीं। इसी प्रकार गीत आदि की भी प्रधानता रही होगी। गीतों में भी स्वाभाविक और जन्मजात् भावना के कारण प्रेम, भय, क्रोध आदि के चित्र ही अधिक रहे होंगे।

निष्कर्ष—भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में संगीतात्मक थी। उसमें वाक्य शब्द की भाँति थे। अलग-अलग शब्दों में वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नहीं की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजना का अभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण-सम्बन्धी नियम नहीं थे। केवल अपवाद-ही-अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा की उत्पत्ति के संबंध में हमें अभी तक कोई निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका। हाँ, एक सीमा तक समन्वित रूप अवश्य मान्य हो सकता है। यों परोक्ष मार्ग के आधार पर भाषा की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में जो बातें ऊपर कही गई हैं, वे निश्चित रूप से काफी सही हैं।

भाषा-विकास के चरण

इस प्रसंग में भाषा के विकास के तीन चरणों की ओर भी पर्याप्त निश्चय के

साथ संकेत किया जा सकता है। डार्विन ने हमें बताया है कि हम बंदरों के विकसित रूप हैं। इसका आशय यह हुआ कि कभी हमारी भाषा बंदरों के समीप रही होगी, और कभी उससे भी पिछड़ी। बंदरों में उच्चरित या वाचिक भाषा के साथ-साथ आंगिक संकेतों की भी भाषा मिलती है, और दूसरी ओर असभ्य आदिम जातियों की तुलना में शिक्षित लोगों में भाषा का लिखित रूप मिलता है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य में भाषा का प्रारंभिक रूप विभिन्न प्रकार के पशुओं की तरह आंगिक रहा होगा। वनविलाव गुस्सा प्रकट करने के लिए अपने बालों को खड़ा कर लेता है, तो बन्दर ओंठों को अजीब ढंग से फैलाकर दाँत निकाल देता है, और कुत्ता प्यार-प्रदर्शन के लिए मालिक के शरीर को कभी चाटता है, तो कभी पूंछ हिलाता है। ये आंगिक भाषा के ही रूप हैं। भाषा का दूसरा रूप वाचिक हुआ। इसमें उच्चरित ध्वनियों का प्रयोग हुआ। आरंभ में मानव-भाषा में आंगिक संकेत अधिक थे और वाचिक कम, किंतु धीरे-धीरे पहले का प्रयोग सीमित होता गया और दूसरे का बढ़ता गया। यों आज का सभ्य मानव भी अपनी भाषा के उस आदिम आंगिक रूप को पूर्णतः भूल नहीं सका है। इसी कारण वाचिक भाषा के साथ-साथ विभिन्न अंगों को हिला-उठा-तान आदि कर वह अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाता है। भाषा का तीसरा रूप लिखित है। इसने भाषा की उपयोगिता बहुत बढ़ा दी है।

आंगिक भाषा बड़ी स्थूल और सीमित थी। प्रेम, क्रोध, भूख आदि के सामान्य भाव ही वह प्रकट कर सकती थी। साथ ही उसके लिए एक दूसरे की आंगिक चेष्टाओं को देखना भी आवश्यक था। बिना दिखाये अभिव्यक्ति संभव न थी। इसका आशय यह हुआ कि इसके लिए प्रकाश अनिवार्यतः आवश्यक था। वाचिक भाषा के प्रयोग से ये तीनों कठिनाइयाँ दूर हो गईं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव एवं विचार व्यक्त होने लगे तथा प्रत्यक्षता या प्रकाश भी अनावश्यक हो गए। किंतु वाचिक भाषा इन तीनों दृष्टियों से आगे बढ़कर भी देश-काल की सीमा से बँधी थी। इसका प्रयोग उतनी ही दूरी (देश) तक हो सकता था, जहाँ तक सुनाई पड़े और उसी समय (काल) इससे अभिव्यक्ति संभव थी, जब यह बोली जा रही हो। मनुष्य ने भाषा को लिखित रूप देकर ये दोनों बंधन समाप्त कर दिए। अपने लिखित रूप में भाषा देश काल से बँधी नहीं है। आज लिखकर दो-चार-दस वर्ष बाद भी उसे पढ़ा जा सकता है या इसी प्रकार यहाँ लिखकर उसे सात समुन्दर पार भी पहुँचाया जा सकता है।

भाषा के दो आधार

भाषा के दो आधार हैं। एक मानसिक (psychical aspect) और दूसरा भौतिक (physical aspect)। मानसिक आधार भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय है, वे विचार या भाव, जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर से आशय है भाषा

में प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावों और विचारों की वाहिका हैं, जिनका आधार लेकर वक्ता अपने विचारों या भावों को व्यक्त करता है और जिनका आधार लेकर श्रोता विचारों या भावों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, हम 'सुन्दर' शब्द लें। इसका एक अर्थ है। इसके उच्चारण करने वाले के मस्तिष्क में वह अर्थ होगा और सुनने वाला भी इसे सुनकर अपने मस्तिष्क में उस अर्थ को ग्रहण कर लेगा। यही अर्थ 'सुन्दर' की आत्मा है। दूसरे शब्दों में यही है मानसिक पक्ष। पर साथ ही मानसिक पक्ष सूक्ष्म है, अतः उसे किसी स्थूल का सहारा लेना पड़ता है। यह स्थूल हैं स्+उ+न्+द्+अ+र्। सुन्दर के भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए वक्ता इन ध्वनि-समूहों का सहारा लेता है, और इन्हें सुनकर श्रोता 'सुन्दर' का अर्थ ग्रहण करता है, अतएव ये ध्वनियाँ उस अर्थ की वाहिका, शरीर या भौतिक आधार हैं। भौतिक आधार तत्वतः अभिव्यक्ति का साधन है, और मानसिक आधार साध्य। दोनों के मिलने से भाषा बनती है। कभी-कभी इन्हीं को क्रमशः बाह्य भाषा (outer speech) तथा आन्तरिक भाषा (inner speech) भी कहा गया है। प्रथम को समझने के लिए शरीरविज्ञान तथा भौतिकशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है, और दूसरे को समझने के लिए मनोविज्ञान की।

कुछ लोग वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार को भी भाषा का मानसिक आधार मानते हैं और इसी प्रकार बोलने और सुनने की प्रक्रिया को भी भौतिक आधार। एक दृष्टि से यह भी ठीक है। यों तो उच्चारणावयवों एवं ध्वनि ले जाने वाली तरंगों को भी भौतिक आधार तथा मस्तिष्क को मानसिक आधार माना जा सकता है, किन्तु परम्परागत रूप में भाषाविज्ञान में केवल ध्वनियाँ, जो बोली और सुनी जाती हैं, भौतिक आधार मानी जाती हैं; और विचार, जो वक्ता द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं और श्रोता द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, मानसिक आधार माने जाते हैं।

भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति

(क) भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है—कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है। किन्तु, यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से ही फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति रहती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग १२ वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िये-सी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी भेड़िये से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूँगा नहीं था।

(ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है—ऊपर के दोनों उदाहरण में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसी लिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िये का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका, और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आसपास के लोगों से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैत्रिक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।

(ग) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है—ऊपर हम भाषा को अर्जित सम्पत्ति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है? इसका एकमात्र उत्तर है 'समाज से'। इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका विकास समाज में हुआ है, उसका अर्जन समाज से होता है, और उसका प्रयोग भी समाज में ही होता है। और इसीलिए वह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।

(घ) भाषा परम्परागत है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, उसे उत्पन्न नहीं कर सकता—भाषा परम्परा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहाँ नहीं की जा रही है)। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा।

(ङ) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है—ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एवं समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण' द्वारा सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

(च) भाषा चिर परिवर्तनशील है—यथार्थः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं हो सकती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक' न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार है: (१) शारीरिक (भौतिक) और (२) मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती है

जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

(छ) भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है—जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अन्तिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अन्तिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अन्तिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है, भाषा के विषय में असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

(ज) प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है—हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। उस सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है, या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णतः भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

(झ) प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है—भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात्, प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारम्भ हो कर इतिहास के किसी निश्चित काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की पूर्ववर्ती या परवर्ती भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवी से ५०० ई० तक माना जाता है। इस कड़ी में इसके पूर्व पालि भाषा थी, तथा इसके बाद अपभ्रंश, और ये दोनों भाषायें (पालि तथा अपभ्रंश) प्राकृत से भिन्न हैं।

(ञ) प्रत्येक भाषा का अपनी संरचना अलग होती है—दूसरे शब्दों में किन्हीं भी दो भाषाओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर अवश्य होता है। यही अन्तर उनकी अलग या स्वतन्त्र सत्ता का कारण बनता है।

(ट) भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है—सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने कीं बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात् स्वाभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी "कम प्रयास" के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और

एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब वह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' से सम्बन्धित है। किन्तु, व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं (ग्रीक, संस्कृत आदि) में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है, किन्तु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं और अपवाद कम हो गये हैं, और आगे भी कम होते जा रहे हैं। भाषा पानी की धारा है जो स्वभावतः ऊँचाई (कठिनाई) से नीचे (सरलता) की ओर जाती है।

(६) भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है—भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि आरम्भ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास होता रहा है, और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ और प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धान्त तो है, किन्तु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी, किन्तु संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

(ङ) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है—पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग (व्यवहिति या विश्लेष) से संयोग (संहिति या संश्लेष) की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है। किन्तु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति जैसे 'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति 'राम जाता है'। संस्कृत में केवल 'गच्छति' (संयुक्त रूप) से काम चल जाता था, पर हिंदी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) का प्रयोग करना पड़ता है।

भाषा का विकास (परिवर्तन) और उसके कारण

भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा चिर परिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों—ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य में होता है (ध्वनि—लोप, आगम, विपर्यय, परिवर्तन आदि; रूप—रामस्य, राम का; वाक्य—शब्द क्रम, अन्वय आदि; शब्द—पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ—अर्थ में विस्तार, संकोच या आदेश आदि) इन परिवर्तनों के कारण और उनके रूपों या दिशाओं पर अच्छी प्रकार विचार, इन पाँचों से सम्बद्ध अलग-अलग अध्यायों में आगे किया गया है। यहाँ संक्षेप में केवल कुछ सामान्य बातें ही कही जा रही हैं।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी न किसी रूप में विचार

किया गया है। शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पतंजलि, कैयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति डैनिश विद्वान् जे० एच० ब्रेड्सडॉर्फ हैं। इन्होंने १८२१ में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के ७-८ कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

विकास के कारणों के प्रमुख दो वर्ग—भाषा में विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखतः दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक आभ्यंतर (या आंतरिक वर्ग) और दूसरा बाह्य। आभ्यंतर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति (जिसमें प्रमुखतः भाषा की कठिन से सरल होने की प्रवृत्ति है) तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण भीतरी, आंतरिक या आभ्यंतर कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारणों को 'बाहरी' या 'बाह्य' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्त्व के कारण सादृश्य पर अलग से विचार किया गया है।[1]

(क) आभ्यन्तर वर्ग

आभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो बाहर से प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है।

(१) प्रयोग से घिस जाना—अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी

---

१. कुछ भाषाविज्ञानविदों ने भाषा के विकास के मूल कारण के रूप में चार बातों का उल्लेख किया है : १. शारीरिक विभिन्नता, २. भौगोलिक विभिन्नता, ३. जातीय मानसिक अवस्था-भेद, ४. प्रयत्न-लाघव। इनमें प्रयत्न-लाघव तो स्पष्टतः ही मूल कारणों में है, जैसा कि आगे समझाया गया है। शेष तीन के सम्बन्ध में थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यदि नं० १ का अर्थ यह लें, कि एक ही समाज का एक व्यक्ति स्वस्थ या मोटा-ताजा है, और दूसरा दुबला-पतला, अतः दोनों की भाषा में अन्तर होगा, तो यह प्रायः व्यर्थ है। दूसरे का अर्थ यह लें कि रेगिस्तानी मुँह ढँके होंगे संदर्भ में रहने वाले सर्दी के कारण कम मुँह खोलेंगे, अतएव भाषा में अन्तर होगा, तो यह भी बहुत सार्थक नहीं है। इसी प्रकार यदि मानें कि मानसिक अवस्था के उच्च या निम्न होने से भाषा में भेद होगा, तो यह भी ठीक नहीं है, किंतु यदि दूसरा अर्थ लें जैसा कि आगे लिया गया है तो तीनों ही किसी न किसी रूप में भाषा के विकास में काम करते हैं।

चीजों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गईं।

(२) बल—जिस ध्वनि या अर्थ पर बल अधिक दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'ध्वनि' और 'अर्थ' के प्रकरण में विस्तार से विचार किया जायेगा।

(३) प्रयत्न-लाघव—भाषा में विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के ६० प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इसी पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

आदमी कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतों में भी लोगों की यही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास, या प्रयत्न-लाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास में ही, शब्दों को सरल बनाने या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, 'बीबी जी' का बीजी, गोपेन्द्र का गोविन, गृद्ध का गिद्ध तथा आलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो (Know) का उच्चारण नो, क्नाइफ (Knife) का नाइफ तथा टाल्क (Talk) का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिये कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते हैं, जैसे उपाध्याय से ओझा, 'कब ही' से कभी, 'जबही' से जभी, 'हास्तिन् मृग' से 'हस्ती' फिर 'हाथी' या बोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', 'पंडित जी' का 'पंडी जी', 'जैराम जी की' का 'जैरम', मारडाला का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्ण से कन्हैया, स्कूल से इस्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, ग्रहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी० एम० (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट), एन० टी० (नायब तहसीलदार) भारत (भारतवर्ष) या सुदी (शुक्ल दिवस) आदि, भी प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही कि जाता है।

प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें स्वरलोप (जैसे अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन लोप (जैसे स्थाली से थाली), अक्षरलोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट, कर्म से करम, कृपा से किरिपा), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस, या पहुँचना से चहुँपना), समीकरण (शर्करा से शक्कर या कलक्टर से कलट्टर), विषमीकरण (काक से काग), तथा स्वतः अनुनासिकता (उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस तथा राम से राँम) तथा कुछ अन्य (जैसे गृह से घर, वधू से बहू आदि) आदि प्रमुख हैं। प्रयत्न-लाघव के अन्तर्गत

आने वाले इन प्रधान तथा अन्य और प्रकारों[1] का विस्तृत और सोदाहरण परिचय 'ध्वनिविज्ञान' अध्याय के अन्तर्गत आगे दिया गया है।

(४) मानसिक स्तर—बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है; विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है, पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

(५) अनुकरण की अपूर्णता—यह इस वर्ग का अन्तिम कारण है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किंतु प्राय: ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्राय: अपूर्ण या बेठीक होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर (जितना दिखाई दे सके) किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप में समझ कर किया जाता है। होता यह है कि अनुकरण में अनुकर्त्ता (क) कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा (ख) कुछ को अपनी ओर से अनजाने ही जोड़ देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ, भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इसी छोड़ने और जोड़ने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है। आर० एम० पिडल (१९२६) तथा ए० डुरेफर (१९२७) ने कुछ स्थानों में इस बात का अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है। समाज में मोटे रूप से तीन पीढ़ियाँ होती हैं। नवोदित जो २०-२२ या २५ से कम के उम्र हैं, बहुत सक्रिय जो २०-२३ या २५ से ६० वर्ष के बीच के होते हैं, और अस्तप्राय जो ६० से ऊपर के होते हैं। एक ही समाज में इन तीनों की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि यह अन्तर यों देखने में बहुत अधिक नहीं होता और कई पीढ़ियों के बाद ही भाषा पर उनकी सुस्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। पीढ़ी-परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यों अन्य कारण भी काम करते हैं, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग, या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक-दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ-दस पीढ़ी पीछे की भाषा की आठ-दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं, तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है, और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गई है।

---

१. घोषीकरण, अघोषीकरण, अभिश्रुति, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अग्रागम, स्वरभक्ति, उभय सम्मिश्रण, स्थान-विपर्यय, मात्राभेद, ऊष्मीकरण तथा संधि आदि।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) शारीरिक विभिन्नता—ध्वनियों का उच्चारण अंगों के सहारे करते हैं और सब उच्चारण-अंग एक-से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नहीं हो पाता। सामान्यतः इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नहीं चलता, पर कई पीढ़ी बाद जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है। उनमें निश्चय ही इसका भी कुछ न कुछ हाथ रहता है।

(ख) ध्यान की कमी—इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस-बीस पीढ़ी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

(ग) अशिक्षा— अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स (देश से देस), ष का स (तृष्णा का तिसना), ण का न (गुण का गुन या कर्ण का कान) तथा क्ष का च्छ या छ (शिक्षा का सिच्छा या क्षत्रिय का छत्री) आदि मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। विदेशी शब्द सामान्य जनता में अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदारणार्थ रैविट का 'रिवीट' या 'रिविट', डाक्टर का 'डगडर', ज़माना का 'जमाना', एंजिन का 'इंजन', या 'अंजन', या मोहताज का 'मुस्ताज', लाइब्रेरी का 'रायबरेली' या 'लायबरेली', रिपोर्ट का 'रपट', गार्ड का 'गारद', ड्रिल का 'दलेल', इन्सपेक्टर का 'इसपट्टर', 'हू कम्स देयर' का 'हुकुमसदर', लार्ड का 'लाट', टाइम का 'टैम', सिगनल का 'सिगल', दर्ख्वास्त का 'दरखास', मास्टर का 'महटर' या 'महट्टर', कानूनगो का 'कनुनगोह', प्लाटून का 'पलटन', ज्वाइन का 'जैन', तथा काजी हाउस का 'काजीहौद', आदि देखे जा सकते हैं।

(६) जानबूझकर परिवर्तन—भाषा में, कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलेक्जेंडर' का अलक्षेन्द्र कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफ़ियून' का 'अहिफेन' या तुर्की 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान-बूझकर किसी मिलते-जुलते शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा तो उस नए अर्थ में चल पड़ता है। जैसे 'ट्रेजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमेडी' से 'कामदी'। अभिव्यक्ति में चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरंकुश प्रयोग भी इस प्रकार के परिवर्तन भाषा में ला देता है।

(७) जातीय मनोवृत्ति—हर जाति की अपनी मनोवृत्ति होती है, और भाषा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। यही कारण है कि एक ही भाषा दो या अधिक जातियों में प्रचलित होकर दो या अधिक प्रकार से विकसित या परिवर्तित होती है। एक जातीय मिश्रण ग्रिम नियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का कारण बना दूसरा दूसरे का।

(अ) बाह्य वर्ग

(१) भौतिक वातावरण—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

एक भाषा के अंतर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है—

(क) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।

(ख) मैदान आदि में दूर तक लोग संपर्क रख पाते हैं, अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर, पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं। फल यह होता है उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाएँ या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूरी पर, थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अंतर दिखाई देता है। ग्रीस में ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गई।

(ग) भूमि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अतः उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे; अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भी भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

(२) सांस्कृतिक प्रभाव—संस्कृति समाज का प्राण है, अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। १९वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं, कि कहने की आवश्यकता नहीं।

(ख) व्यक्ति—महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़-कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गांधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।

(ग) संस्कृतियों का सम्मिलन—व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या

परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम से कम पाँच अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।

(२) द्रविड़ों और आर्यों का।

(३) आर्यों और यवनों का।

(४) भारतीयों और मुसलमानों का।

(५) भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं—

(अ) प्रत्यक्ष—जैसे : (क) शब्दों की लेन-देन—आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि; द्रविड़ों के नीर, आलि, मीन आदि; यवनों (ग्रीकों) के होड़ा, दाम, सुरंग आदि; तुर्कों एवं मुसलमानों के पाजामा, बाजार, दूकान, क़ागज़, क़लम, सन्दूक, किताब, तकिया तथा रजाई आदि; तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी, हाकी, टेनिस, कॉलर, टाई, पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन, निब, कोट, कलक्टर तथा पेन, आदि हज़ारों प्रचलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हजार से कम न होगी।

(ख) ध्वनि का आना—मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, पर भारत में आने पर कदाचित् द्रविड़ों के प्रभाव से आर्यभाषा में ये ध्वनियाँ आ गईं और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में मुसलमानों तथा अंग्रेजों के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ज़, ग़, ख़, फ़ तथा ऑ।

(ग) वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी इसी दृष्टि से फ़ारसी, तथा अंग्रेजी आदि से पर्याप्त प्रभावित है। 'पानी-पानी होना' मूलतः फारसी 'आब-आब शुदन' का अनुवाद है तो 'कार्य रूप में परिणत करना' अंग्रेजी To translate into action का।

(आ) अप्रत्यक्ष—विचार-विनिमय के कारण एक दूसरे का साहित्य, कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा (गठन, अभिव्यक्ति-पद्धति तथा मुहावरे आदि) अछूती नहीं रहती।

(३) समाज की व्यवस्था—सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शांति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम-फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रांति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। आधुनिक काल में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गये हैं। हम कृ० पृ० उ० (P. T. O.) लिखकर 'कृपया पृष्ठ उलटिए' का काम चला लेते हैं। पूरा

नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी० आई० डी०, वी० सी०, डी० एम०, नेफा, पेप्सू तथा युनेस्को आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

(४) बोलने वालों की उन्नति—बोलने वालों की उन्नति वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में होती है तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नई उन्नति के अनुरूप नई अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नई चीजें—मशीन, वस्त्र, खाना, मनोरंजन आदि—(या विचार) आ जाते या आविष्कृत हो जाते हैं, तो उनके लिये नये शब्द आ जाते हैं। भारत इधर दिन-पर-दिन उन्नति करता जा रहा है, अतः उसकी भाषाओं में बड़ी तेजी से नये शब्द आते जा रहे हैं। यदि कोई देश उसके उल्टे बहुत अवनति करने लगे और खाने को मुहताज हो जाय तो अत्यधिक आराम (luxury) की बहुत-सी चीजें लुप्त हो जायँगी, और यदि स्थिति बदली नहीं तो उनके प्रसंग में प्रयुक्त शब्द भी लुप्त हो जायँगे।

(ज) सादृश्य[1]

कहते हैं खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा हाथ है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और बाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य-रचना बहुत-से लेखकों में अँग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है।[2] यह बाह्य है। दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द चल रहा है, 'एकदश' द्वादश के सादृश्य पर 'एकादश' हो गया है, या 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' 'सर्गुण' या 'सर्गुन' हो गया है यह आभ्यंतर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।[3]

भाषा के विकास के सम्बन्ध में अंतिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा, और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुरी तथा ओज आदि की दृष्टि से ऊँचे भी उठ सकती है और नीचे भी जा

---

१. सादृश्य स्वयं स्वतन्त्र कारण नहीं कहा जा सकता, किंतु सुविधा के लिए घटित परिवर्तनों में इसका स्थान अलग है, क्योंकि इसके परिवर्तन का परिणाम किसी अन्य वाक्य या शब्द के अर्थ या ध्वनि पर आधारित रहता है। इस कारण इसे यहाँ अलग माना गया है और आगे भी कई स्थानों पर इसे, इसी अर्थ में, कारण के रूप में, अलग रखा गया है। इसका स्पष्टीकरण विस्तार से 'सादृश्य' पर अलग विचार करते समय ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, शब्द-समूह तथा परिशिष्ट शीर्षक अध्यायों में किया जायेगा।

२. नेहरू जी के भाषणों में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है।

३. भ्रामक व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार का कारण (देखिये, ध्वनि का अध्याय) है।

सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्रायः सरलता की ओर जाती है।[1]

भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ बहुत कम समय में आश्चर्यजनक विकास कर लेती है और दूसरी ओर कुछ ऐसी भी भाषाएँ मिलती हैं जो अधिक समय में भी बहुत कम विकास कर पाती हैं। ऐसे ही कुछ बोलियाँ उन्नति कर भाषा हो जाती हैं और उनमें उत्तम साहित्य की रचना होने लगती है, किंतु दूसरी ओर कुछ ज्यों की त्यों बोली ही बनी रहती हैं। उपर्युक्त दोनों कथनों में से पहले पर तो आगामी प्रकरण 'भाषा के विभिन्न रूप' में विचार किया जायगा, किंतु दूसरे पर यहीं विचार करना उचित होगा।

भाषा के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। बहुधा उन कारणों के उलटे कारण जब उपस्थित होते हैं तो भाषा के विकास में व्याघात उपस्थित होता है।

प्रधान कारण निम्नांकित हैं—

(१) भौगोलिक परिस्थिति—यदि कोई देश अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इस प्रकार घिरा हुआ हो कि सरलता से लोग वहाँ न पहुँच सकें तो वहाँ की भाषा में विकास बहुत धीमा होता है। इसका कारण यह होता है कि बाहरी लोगों से सम्पर्क नहीं हो पाता, अतः बाह्य प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ता। भारोपीय परिवार की 'आइसलैंडिक' भाषा इसी कारण अन्यों की अपेक्षा बहुत ही कम विकसित हुई है।

(२) खाद्यान्न की कमी—देश में यदि खाद्याभाव है तो स्वभावतः लोगों का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है, अतः अन्य सूक्ष्म समस्याओं पर विचार करने का उन्हें समय नहीं रहता, न कला और साहित्य की ही उन्नति होती है। ऐसी अवस्था में भी भाषा का विकास नहीं होता, या बहुत कम होता है। रेगिस्तानी और जंगली भाषाएँ इसी कारण प्रायः कम या बहुत धीरे-धीरे विकसित होती हैं।

(३) अभिव्यक्ति के लिए यथासाध्य प्रचलित भाषा से न हटना—अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये ही लोग भाषा का प्रयोग करते हैं, अतः यह आवश्यक होता है कि यथासाध्य प्रचलित भाषा से तनिक भी न हटें। हटने पर अस्पष्टता आने का भय रहता है। यह भावना सभी भाषाओं के विकास में बाधक सिद्ध होती है।

(४) समाज के हँसने का भय—समाज में भाषा का प्रयोग होता है। यदि लोग अशुद्ध बोलें तो समाज उन पर हँसता है। छोटे बच्चे जब 'रुपया' का 'लुपया' या 'नुपया' या 'घड़ी' को 'घली' कहते हैं, और सुनने वाले हँस देते हैं, तो वे शीघ्राति-शीघ्र 'रुपया' या 'घड़ी' कहने का प्रयास करते हैं और सफल भी हो जाते हैं। इस

---

१. इन उपर्युक्त कारणों में कुछ को साक्षात् (प्रयोग, बल, प्रयत्न-लाघव, अनुकरण की अपूर्णता, सादृश्य आदि) और कुछ को असाक्षात् (शेष) कारण भी कह सकते हैं।

प्रकार समाज के हँसने के भय से भी लोग यथासाध्य भाषा के प्रचलित रूप पर ही चलने का प्रयास करते हैं और इससे भी भाषा का विकास रुकता है।

(५) **व्याकरण**—व्याकरण की शिक्षा भी लोगों को आदर्श-प्रयोग पर चलने को प्रेरित करती है। जिन लोगों को व्याकरण का ज्ञान नहीं रहता, वे अशुद्धियाँ अधिक करते हैं। इसी कारण भाषा में विकास लाने का श्रेय ग्रामीणों और अशिक्षितों को, नागरिकों एवं शिक्षितों की अपेक्षा अधिक है। सत्य तो यह है कि भाषा का मूल विकास उन्हीं लोगों में होता है। इस प्रकार शिक्षा और प्रमुखतः व्याकरण की शिक्षा भी भाषा के विकास में बाधक या व्याघात सिद्ध होती है।

(६) **शिक्षा, समाचारपत्र तथा रेडियो आदि**—आजकल इन सबके कारण भाषा के परिनिष्ठित रूप का प्रचार अधिक है, अतः स्वभावतः लोग उस रूप के प्रभाव से या तो गलतियाँ (जिनसे भाषा का विकास होता है) नहीं करते हैं, या करके भी उन्हें सुधार लेते हैं, और इस प्रकार विकास नहीं हो पाता।

भाषा के विभिन्न रूप

ऊपर भाषा की परिभाषा पर विचार किया जा चुका है। वह सामान्य भाषा थी। इस सामान्य भाषा के अन्तर्गत भाषा के बहुत-से रूप आते हैं। ये रूप प्रमुखतः चार आधारों पर आधारित हैं— **इतिहास, भूगोल, प्रयोग और निर्माता**। इन्हीं आधारों पर भाषा के विभिन्न रूप बनते हैं। भारत में कभी संस्कृत बोली जाती थी, फिर पालि बोली जाने लगी, फिर प्राकृत और फिर अपभ्रंश। भाषा के ये भेद ऐतिहासिक हैं। एक ही भाषा का इतिहास के एक समय में जो रूप था, उसे 'संस्कृत' कहते हैं, और दूसरे समय में जो रूप था, उसे 'पालि' कहते हैं। इसी प्रकार प्राकृत, अपभ्रंश भी। किन्तु एक दूसरे प्रकार के भी रूप हैं, जिन्हें **भौगोलिक रूप** कह सकते हैं। अपभ्रंश के बाद संस्कृत, पालि, प्राकृत की परम्परा में जो रूप (ऐतिहासिक रूप) आया, उसे 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषा' कह सकते हैं, किन्तु इस ऐतिहासिक रूप के आज बहुत भौगोलिक रूप हैं, जैसे पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा बंगाली आदि। भौगोलिक दृष्टि से अधिक व्यापक रूप भाषा है, फिर बोली, फिर स्थानीय बोली। इसका संकीर्णतम रूप है 'व्यक्ति-बोली' या 'एक व्यक्ति की भाषा'।

तीसरा आधार है प्रयोग। प्रयोग (कौन प्रयोग करता है, किस विषय के लिए प्रयोग होता है। प्रयोग साधु है या असाधु, या प्रयोग हो रहा है या समाप्त हो गया है) के आधार पर ही जातीय भाषा, व्यावसायिक भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, साहित्यिक भाषा, गुप्त भाषा, राजनयिक भाषा, परिनिष्ठित भाषा, अपभाषा, टकसाली भाषा, साधु भाषा, असाधु भाषा, शुद्ध भाषा, अशुद्ध भाषा, विकृत भाषा, मृत-भाषा, जीवित भाषा या प्रचलित-भाषा एवं अल्पप्रचलित भाषा जैसे प्रयोग होते हैं। तत्त्वतः प्रयोग के अंतर्गत प्रयोग-क्षेत्र, साधुता और प्रचलन ये तीन उप-आधार हैं। चौथा आधार है निर्माता। यदि किसी भाषा का निर्माता समाज है, वह परम्परागत रूप से

चली आ रही है, तो उसे 'भाषा' कहते हैं और यदि एक-दो व्यक्तियों ने उसका निर्माण किया है तो उसे 'कृत्रिम भाषा' कहते हैं। ये आधार वृक्ष रूप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं—
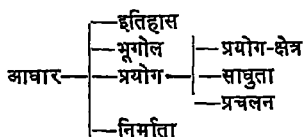
यदि अत्यंत सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन आधारों पर भाषा के सैकड़ों भेद-विभेद हो सकते हैं। यद्यपि प्रयोग में इतने भेद किये नहीं जाते, फिर भी लगभग तीन दर्जन भेद तो काफ़ी प्रचलित हैं। इनमें से कुछ प्रमुख भेदों या रूपों पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

(१) मूल भाषा—भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में उन स्थानों में हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानों में किसी एक स्थान की भाषा, जो आरम्भ में उत्पन्न हुई होगी, तथा आगे चलकर जिससे ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि कारणों से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ आदि बनी होंगी, मूल भाषा कही जायेगी। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार यही मान्यता है। संसार में उतने ही भाषा-परिवार माने जायँगे, जितनी कि मूल भाषाएँ मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए, हम अपने भारोपीय परिवार की भाषाओं को ही लें तो इसकी मूल भाषा भारोपीय[1] (Indo-European) भाषा थी, जिसका प्रादुर्भाव एक साथ रहने वाले कुछ लोगों में हुआ। भौगोलिक परिस्थितियों ने भाषा के विकास एवं शाखाओं में बाँटने का कार्य वहीं से आरम्भ कर दिया था। मूल स्थान पर कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो संभवतः वहीं रह गये और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े। चलने के समय उन भिन्न-भिन्न शाखाओं की भाषा कुछ स्थानीय अन्तरों को छोड़कर प्रायः लगभग एक-सी रही होगी। थोड़ी दूर चलकर उन शाखाओं ने अपने-अपने अड्डे बनाये होंगे। उन नवीन अड्डों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया होगा और तदनुसार उनकी भाषा में भी विकास हुआ होगा। दो-एक सदी या दस-बीस पीढ़ी के उपरान्त अलग-अलग बसने वाली उन शाखाओं की भाषा में आपस में काफ़ी विभिन्नता आ गई होगी। कुछ दिनों के बाद वे नवीन स्थान भी जनसंख्या आदि के बढ़ने से अपर्याप्त सिद्ध हुए होंगे और प्रत्येक शाखा

१. नवीन मतानुसार यह मूल भाषा भारोपीय न होकर भारत-हित्ती (Indo-Hittite) थी जिसकी दो शाखाएँ थीं भारोपीय और हित्ती। (देखिए पारिवारिक वर्गीकरण में 'भारत-हित्ती' परिवार)

में कई प्रशाखाएँ फूटकर इधर-उधर चलकर नवीन स्थानों पर बनी होंगी। फिर वहाँ उनका विकास हुआ होगा और तदनुकूल उनकी भाषाएँ भी अलग रूपों में विकसित या परिवर्तित हुई होंगी।[1] इसे वंश-वृक्ष रूप में यों रखा जा सकता है—
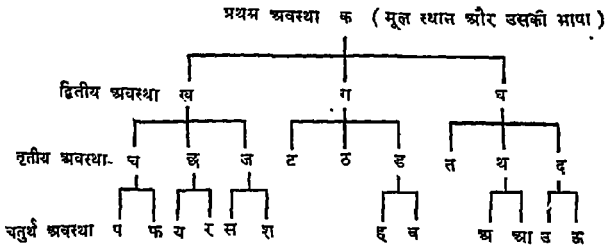
व्यक्ति-बोली (Idiolect)—एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति-बोली कहते हैं। एक दृष्टि से भाषा का यह संकीर्णतम या लघुतम रूप है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से गहराई में जाकर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य हर क्षण बदलता रहता है। 'राम' या 'मोहन' दो बजकर एक मिनट या एक सेकेंड पर वही 'राम' या 'मोहन' नहीं रहते, जो ठीक दो बजे रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी 'व्यक्ति-बोली' भी सर्वदा एक नहीं रहती, अर्थात् दो बजे राम की जो व्यक्ति-बोली होगी, दो बजकर एक या दो मिनट पर उससे भिन्न कोई दूसरी व्यक्ति-बोली होगी, चाहे यह अन्तर कितना ही कम और सूक्ष्म क्यों न हो। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि किसी एक व्यक्ति की किसी एक समय की भाषा ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति-बोली है। किन्तु, साथ ही किसी व्यक्ति की जन्म से मृत्यु तक की बोली को भी 'व्यक्ति-बोली' कहा जा सकता है, और कहा जाता है। पर सच्चे अर्थों में, व्यक्ति-बोली, इस दूसरे अर्थ में पहले अर्थ का पूरा ऐतिहासिक विकास है, क्योंकि जन्म से मृत्यु तक भाषा का एक रूप नहीं हो सकता। आदि से अन्त तक उसमें कुछ न कुछ विकास होता ही रहता है।

(३) उपबोली या स्थानीय बोली (Sub-Dialect or Local Dialect)—भाषा का यह रूप भूगोल पर आधारित है। एक छोटे से क्षेत्र में इसका प्रयोग होता

---

१. भाषा-परिवार

इस भाषा-चित्र में हम देखते हैं 'क' से ही विकसित होकर दूसरी तीसरी और चौथी अवस्था की भाषाएँ और बोलियाँ निकली हैं। ये ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे एक आदमी से दो-तीन पुश्त में बहुत-से आदमी हो जाते हैं। वे सभी आदमी उस आदि पुरुष के, जिस प्रकार परिवार कहे जायेंगे, ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ और बोलियाँ भी, उसी प्रकार उस मूल या आदि भाषा (उपर्युक्त चित्र में 'क') के परिवार की कही जाती हैं। हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, ब्रज, अवधी या मगही आदि इसी अर्थ में भारोपीय या भारत-हित्ती परिवार की कही जाती हैं।

है। यह बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप है। हम कह सकते हैं कि 'किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अन्तर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है।' एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलियाँ होती हैं। किसी बोली के वर्णन में जब हम उसके दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यवर्ती आदि उपरूपों की बात करते हैं तो हमारा आशय उपबोली या स्थानीय बोली से ही होता है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में इस प्रकार की कई उपबोलियाँ हैं।

हिन्दी में कुछ लोगों ने भाषा के इस रूप के लिए 'बोली' नाम का प्रयोग किया है, किन्तु 'बोली' का प्रयोग अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) के लिए प्रायः चल पड़ा है,[1] अतः इसके लिए उसका प्रयोग न करना ही उचित है। भाषा के इस रूप के लिए अंग्रेजी में 'सब-डाइलेक्ट' (sub-dialect) शब्द चलता है, उस आधार पर 'उपबोली' शब्द ठीक है। अंग्रेजी में इसके बहुत निकट के अर्थ में एक फ्रांसीसी शब्द 'पैटवा' (patois) भी चलता है। 'पैटवा'[2] डाइलेक्ट या बोली का एक उपरूप तो है, किन्तु उसकी कुछ और विशेषताएँ भी हैं, और इसी कारण उसे ठीक अर्थों में 'उपबोली' या 'सब-डाइलेक्ट' का समानार्थी नहीं माना जा सकता, जैसा कि डॉ०. श्यामसुन्दर दास आदि हिन्दी के कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने माना है। यूरोप और अमेरिका के भाषा-विज्ञानविदों ने 'पैटवा' का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसमें प्रायः ४ बातें सम्मिलित हैं—(१) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा, स्थानीय रूप है। (२) यह असाहित्यिक होती है। (३) यह असाधु होती है। (४) यह अपेक्षतया निम्न सामाजिक स्तर के अशिक्षितों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। कहना न होगा कि इनमें केवल पहली बात ही उपबोली में होती है। और बातें हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, राजस्थानी के अन्तर्गत ऐसी उपबोलियाँ हैं, जिनमें साहित्यिक रचनाएँ हुई हैं। ऐसी स्थिति में वे उपबोली तो हैं, किन्तु 'पैटवा' नहीं। अतएव 'उपबोली' को 'पैटवा' नहीं कहा जा सकता।

बोली और भाषा—जैसे बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों—जो आपस में प्रायः पर्याप्त साम्य रखती हों—का सामूहित रूप उपबोली है, उसी प्रकार बहुत-सी मिलती-जुलती उपबोलियों का सामूहिक रूप बोली है, और मिलती-जुलती बोलियों का सामूहिक रूप भाषा है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि एक भाषा-क्षेत्र में कई बोलियाँ होती हैं (जैसे हिन्दी क्षेत्र में खड़ीबोली, ब्रज, अवधी आदि बोलियाँ हैं) और एक बोली में कई उपबोलियाँ (जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधान्ती, राठौरी तथा पँवारी आदि उपबोलियाँ)।

---

१. इसी अर्थ में ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि को भाषाविज्ञानविद् तथा सामान्य लोग हिन्दी की बोलियाँ कहते हैं।

२. 'पैटवा' शब्द फ्रांसीसी भाषा से अंग्रेजी में १७वीं सदी पूर्वार्द्ध में आया। इसका मूल अर्थ 'सम्यतापूर्ण ढंग' था। आज भी इसके अर्थ से असम्यता की बू पूर्णतः नहीं जा सकी है।

बोली' शब्द यहाँ अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) का प्रतिशब्द है। कुछ हिन्दी के भाषाविज्ञानविद् बोली के लिए 'विभाषा', 'उपभाषा', या 'प्रान्तीय भाषा' का भी प्रयोग करते हैं।

ऊपर जिन चार—व्यक्ति-बोली, उपबोली, बोली और भाषा—के नाम लिये गये हैं, उनमें भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व केवल अंतिम दो—बोली और भाषा—का है।

एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं, या बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और भाषा का बड़ा। इस रूप में बोली का स्वरूप स्पष्ट है, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से भाषा और बोली में अन्तर[2] करना बड़ा कठिन है, फिर भी काम चलाने के लिए बोली की परिभाषा, बल्कि व्याख्या, (भाषा से अलग) कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से, उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।[3]

एक भाषा के अंतर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें 'बोली' कहते हैं। सामान्यतः कोई 'बोली' तभी तक 'बोली' कही जाती है जब तक उसे (१) साहित्य, धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्त्व न प्राप्त हो, या (२) जब तक पड़ोसी बोलियों से उसे भिन्न करने वाली उसकी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जायँ कि पड़ोसी बोलियों के बोलने वाले उसे समझ न सकें। इन दोनों में किसी एक (या दोनों) की प्राप्ति करते ही बोली 'भाषा' बन जाती है। अंग्रेजी, हिन्दी, रूसी, संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की सभी भाषाएँ अपने आरम्भिक रूप में बोली रही होंगी, और बाद में महत्त्व प्राप्त होने पर या विकास के कारण पूर्णतः भिन्न हो जाने पर वे भाषा बन गईं। इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी तथा मैथिली आदि उपर्युक्त कारणों से भाषाएँ बन सकती हैं।

१. डॉ० श्यामसुन्दर दास ने बोली का प्रयोग सब-डाइलेक्ट और पैटवा के लिए किया है, पर अन्य प्रायः सभी लोगों ने इसे dialect का पर्याय माना है।

२. भाषा और बोली के अंतर के लिए देखिये इस अध्याय का अंतिम भाग।

३. भाषा की तुलना में जैसे यहाँ 'बोली' की परिभाषा दी गई है, उसी प्रकार 'बोली' की तुलना में 'उपबोली' की परिभाषा भी इन्हीं शब्दों में ('बोली' के स्थान पर 'उपबोली' और 'भाषा' के स्थान पर 'बोली' रखकर) की जा सकती है।

बोलियों के बनने का कारण—बोलियों के बनने का कारण प्रमुखतः भौगोलिक है। पृष्ठ ५६ के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी। उससे 'ख', 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूट कर अलग-अलग चली गईं और एक-दूसरे से इतनी दूर जा बसीं कि आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गईं और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गईं। किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से सम्बन्ध-विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का प्रधान कारण है। ऐसा भी होता है कि यदि कोई भाषा बहुत दिन से एक बड़े क्षेत्र में बोली जा रही है और उस क्षेत्र में एक उपक्षेत्र के लोग दूरी के कारण दूसरे उपक्षेत्र के लोगों से नहीं मिल पाते, तो उन दोनों या अधिक उपक्षेत्रों में भी बोलियाँ विकसित हो जाती हैं। हिन्दी में अवधी, बृज आदि इसी प्रकार विकसित हो गई हैं। भूकंप या जल-प्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। एक क्षेत्र के बीच में व्यवधान आ जाता है, अतः लोग मिल नहीं पाते और बोलियाँ विकसित हो जाती हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर की बस्तियाँ भाषा की दृष्टि से कुछ अन्तर रखती हैं। यह भी उसी का द्योतक है।

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और वहाँ भी उनकी नई बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंगलैंड में बस गये और अंग्रेजी उसकी एक अलग बोली बन गई। कभी आसपास की भाषाओं या दूर की भाषाओं के प्रभाव के कारण भी एक भाषा में एक क्षेत्रीय रूप विकसित हो जाता है और वह बोली का रूप धारण कर लेता है।[1]

बोलियों के महत्त्व पाने का कारण—जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ बोलियाँ किसी प्रकार महत्त्व की प्राप्ति कर धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती हैं। बोलियों के महत्त्व पाकर 'भाषा' की संज्ञा पाने के प्रधान कारण निम्नांकित हैं—

(१) कुछ बोलियाँ जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती हैं, या अपनी अन्य बहनों के मर जाने के कारण अकेली बच जाती हैं तो उन्हें महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगता है और वे 'भाषा' की संज्ञा से विभूषित हो जाती हैं। 'ब्राहुई' प्रथम कारण से ही भाषा कहलाती है।

(२) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अतः उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

(३) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्त्व बढ़ा देती है। राम-सम्बन्धी प्रधान तीर्थ अयोध्या है, तथा कृष्ण-सम्बन्धी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनों जगह की

१ 'भाषा-भूगोल' का अध्याय भी देखिये।

बोलियों (अवधी और वृज) को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला और कई सदियों तक वे साहित्य की भाषा बनी रहीं। 'वृज' का तो नाम ही 'व्रजभाषा' हो गया था। इसी प्रकार 'खड़ीबोली' को महत्त्व प्रदान करने में आर्य समाज का भी हाथ रहा है।

(४) बोलने वालों का महत्त्वपूर्ण होना भी बोली को महत्त्वपूर्ण बना देता है। अंग्रेजी जो मूलत: एक बोली है, अंग्रेजों के आधुनिक युग में विश्व भर में अपना व्यापार फैला देने से तथा उनके महत्त्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। चाहे जर्मनी हो चाहे जापान, और चाहे चीन हो या फ्रांस, सभी लोग अपनी बनाई पुस्तकों पर प्राय: अंग्रेजी में ही 'मेड-इन' (made in) आदि लिखते हैं। इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अंग्रेजी जानना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इसका प्रचार प्राय: सर्वत्र है, यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती-ही दीख रही है।

(५) बोली के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण होने का सबसे बड़ा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा, वहाँ की बोली अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हो कर भाषा बन जायेगी। दिल्ली के समीप की खड़ीबोली आज हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है, और उसने मैथिली, अवधी और व्रज जैसी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण बोलियों को भी दबा कर भाषा ही नहीं राज एवं राष्ट्र भाषा के स्थान को अपना लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेजी बोलियाँ, अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई हैं और अपने देश की राष्ट्रभाषा बन बैठी हैं। मराठी की कोंकणी, मारवाड़ी और बरार आदि बोलियाँ, बोलियाँ ही रह गईं; पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दारिन बोली की भी यही दशा है। इस प्रकार के उदाहरण सभी देशों में मिल सकते हैं।

इस प्रसंग में एक बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि यह आवश्यक नहीं है कि महत्त्व प्राप्त करके बोली भाषा बन ही जाय। यह भी होता है कि महत्त्व प्राप्त करके भी बोली, बोली ही रह जाती है, या कभी-कभी थोड़े दिन के लिए महत्व मिलता है और फिर छिन जाता है। 'व्रज', 'अवधी' के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है।

(४) आदर्श या परिनिष्ठित भाषा[1]—सभ्यता के विकसित होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि एक भाषा-क्षेत्र (जिसमें कई बोलियाँ हों) की कोई एक बोली आदर्श मान ली जाय और पूरे क्षेत्र से सम्बन्वित कार्यों के लिए उसका प्रयोग हो। उसे

१. इसे भाषा या टकसाली भाषा भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Standard language या Koine कहते हैं। Koine शब्द यूनानी का है। Koine, यूनानी भाषा के विशेष रूप को कहते थे, जो क्षेत्र विशेष की टकसाली भाषा थी। नये टेस्टामेंट की भाषा यही है।

आदर्श या परिनिष्ठित भाषा कहा जाता है, और वह पूरे क्षेत्र के प्रमुखतः शिक्षित वर्ग के लोगों की शिक्षा, पत्र-व्यवहार या समाचार-पत्रादि की भाषा हो जाती है। साहित्य आदि में भी प्रायः उसी का प्रयोग होता है।

एक बोली जब आदर्श भाषा बनती है और प्रतिनिधि हो जाती है तो आसपास की बोलियों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आज की खड़ीबोली ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि आदर्श भाषा आसपास की बोलियों को बिल्कुल समाप्त कर देती है। रोम की लैटिन जब इटली की आदर्श भाषा बनी तो आसपास की बोलियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गईं। पर ऐसा बहुत ही कम होता है।

आदर्श भाषा के तत्कालीन रूप को लेकर उसका उच्चारण और व्याकरण आदि निश्चित कर दिया जाता है और फल यह होता है कि आदर्श भाषा स्थिर हो जाती है और कुछ दिन में उसका रूप प्राचीन पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की खड़ीबोली का लिखित रूप जीवित बोली से उच्चारण तथा शब्द-समूह आदि सभी दृष्टियों से कम से कम चालीस वर्ष पीछे है।[1] व्याकरण में भी कुछ परिवर्तन आ गया है।

आदर्श भाषा का रूप पूरे क्षेत्र में एक ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव भी उस पर कुछ पड़ता है।[2] यह प्रभाव व्याकरण और शब्द-समूह तथा उच्चारण तीनों में ही देखा गया है। भोजपुरी लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा है' तथा 'हमने काम किया' के स्थान पर 'हम काम किये' का प्रयोग करते हैं। पंजाबी लोगों ने भी आदर्श हिन्दी पर अपनी पॉलिश कर दी है और खड़ीबोली हिन्दी का 'हमको जाना है' वाक्य उनके बीच 'हमने जाना है' हो गया है।

आदर्श भाषा के मौखिक और लिखित रूप—आदर्श भाषा के प्रादेशिक रूपों के अतिरिक्त लिखित और मौखिक भी दो रूप होते हैं। सभी मौखिक भाषाएँ अपने लिखित रूपों से प्रायः भिन्न होती हैं। बोलने में सर्वदा ही वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं पर, लिखित रूप के वाक्य अधिकतर बड़े हो जाते हैं। कादम्बरी के वाक्य कहीं-कहीं पृष्ठ पार कर जाते हैं, पर बोलचाल की संस्कृत कभी भी ऐसी न रही होगी। इस प्रकार मौखिक रूप स्वाभाविक है और लिखित रूप कृत्रिम। ये बातें आदर्श भाषा में भी पायी जाती हैं।

---

१. देखिये २७ अगस्त १९५० के संगम (प्रयोग का एक साप्ताहिक पत्र, जो बंद हो गया) में लेखक का 'क्या हम जो बोलते हैं, वही लिखते भी हैं' शीर्षक लेख।

२. परिशिष्ट में आधार-सिद्धान्त (सब्स्ट्रेटम थ्यूरी) शीर्षक के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में कुछ और भी बातें मिल सकती हैं। आज साहित्यिक और परिनिष्ठित खड़ी बोली का आगरा, पटना, बनारस, लखनऊ और दिल्ली में रूप एक नहीं है। इन पर क्रम से ब्रज, भोजपुरी, अवधी और पंजाबी आदि का प्रभाव है।

आदर्श भाषा के लिखित रूप पर मौखिक रूप की अपेक्षा प्रादेशिकता की छाप कम रहती है, क्योंकि लिखने में लोग हँसी और अशुद्धि आदि के भय से काफी सोच-समझ कर लिखते हैं।

लिखित रूप मौखिक की अपेक्षा अधिक संस्कृत रहता है।[1]

(५) अपभाषा (Slang)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'अपभाषा' भाषा का वह रूप है, जिसे परिनिष्ठित एवं शिष्ट भाषा की तुलना में विकृत या अपभ्रष्ट समझा जाता है। यह विशेष तबके के लोगों में प्रयुक्त होती है। भाषा के आदर्श रूप की तुलना में इसमें अधोलिखित विशेषताएँ मिलती हैं : (क) अपरिनिष्ठित रूपों का प्रयोग, जैसे हिन्दी में करा (किया), मेरे को (मुझे या मुझको), गवा (गया) आदि। (ख) अपरिनिष्ठित वाक्य-रचना, जैसे हिन्दी में 'मैंने जाना है' या 'मुझ पर रुपये नहीं हैं' आदि। (ग) अश्लीलता, जैसे परिनिष्ठित हिन्दी में अश्लील समझे जाने वाले शब्दों का प्रयोग। (घ) परिनिष्ठित भाषा द्वारा अगृहीत मुहावरों आदि का प्रयोग।

(६) राष्ट्रभाषा (National Language)—आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र में रहती है, जिसकी वह एक बोली होती है, जैसे हिन्दी खड़ीबोली राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि की परिनिष्ठित या आदर्श भाषा है। किन्तु जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी उन्नत हो कर और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है तथा पूरे राष्ट्र या देश में अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य भाषा-परिवार-क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है। हिन्दी को धीरे-धीरे भारतवर्ष में लगभग यही स्थान प्राप्त हो रहा है। वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तों (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि) तथा अन्य परिवार के प्रान्तों (मद्रास आदि) में भी धीरे-धीरे व्यवहार में आती जा रही है। पूरे यूरोप में कुछ दिन तक फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। व्यापार आदि के क्षेत्र में अंग्रेजी आज विश्व-भाषा या विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। किसी बोली की चरम सीमा उसका किसी रूप में विश्व-भाषा होना ही है।

(७) विशिष्ट भाषा—व्यवसाय या कार्य आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों

---

१. खड़ीबोली के सम्बन्ध में एक और विशेष बात है। मौखिक भाषा में, उर्दू और हिन्दी में कोई प्रधान अन्तर प्रायः दृष्टिगत नहीं होता, किंतु लिखित भाषा में यदि जान-बूझ कर हिन्दुस्तानी न लिखी जाय तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार आदर्श भाषा में हिन्दी खड़ीबोली के तीन रूप प्रचलित हैं—(१) मौखिक रूप—जो साहित्यिक हिंदी और उर्दू के बीच में है और जिसमें विभिन्न स्थानों पर कुछ प्रादेशिकता की छाप रहती है। (२) लिखित उर्दू रूप—जिसमें व्याकरण खड़ीबोली का मात्र रहता है, किंतु शब्द समूह में अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द पर्याप्त होते हैं। तथा (३) लिखित हिन्दी रूप—जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक रहते हैं।

की अलग-अलग भाषाएँ हो जाती हैं। ये भाषाएँ आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप होती हैं, जो अधिकतर शब्द-समूह, मुहावरे तथा प्रयोग आदि में एक दूसरे से भिन्न होती हैं। कभी-कभी उच्चारण-सम्बन्धी अन्तर भी दिखाई देता है। विद्यार्थियों की भाषा या छात्रावास की भाषा, व्यापारियों की भाषा, सोने-चाँदी के दलालों की भाषा, कहारों की भाषा,[1] धार्मिक संघों की भाषा, राजनयिक भाषा, राजनैतिक संस्थाओं की भाषा तथा साहित्यिक गोष्ठियों की भाषा इसी अर्थ में विशिष्ट हैं। किसी पर अंग्रेजी का प्रभाव अधिक रहता है तो किसी पर संस्कृत का और किसी पर गाँव की बोलियों का तो किसी पर गूढ़ या पारिभाषिक शब्दों का।

(८) कृत्रिम भाषा—भाषा के ऊपर दिए गए रूप स्वाभाविक रूप से विकसित होकर बनते हैं, किन्तु इनके विरुद्ध, कृत्रिम भाषा बनायी जाती है। इसके दो रूप किये जा सकते हैं—(क) गुप्त भाषा और (ख) सामान्य भाषा। यहाँ इन दोनों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा सकता है।

(क) गुप्त भाषा—गुप्त भाषा का प्रयोग प्रायः सेना, गुप्तचर विभाग, चोरों, डाकुओं, क्रांतिकारियों तथा लड़कों आदि में होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य अपनी बात को अनपेक्षित लोगों को न मालूम होने देना है। विनोद में भी इसका प्रयोग करते हैं। एक अंग्रेज ने उत्तर प्रदेश के जरायम पेशावालों की गुप्त भाषा का अध्ययन किया था। ये लोग कुछ शब्दों को तोड़-मरोड़ कर तथा कुछ सामान्य शब्दों को नये अर्थों में प्रयुक्त कर, अपनी गुप्त भाषा इस प्रकार की बनाते हैं, जिनको दूसरे समझ न सकें। इस प्रकार के कुछ उदाहरण बड़े मनोरंजक हैं:

शब्द या प्रयोग	*अर्थ*
दामोदर	उदर या पेट में दाम या धन है
नारायण	नाले में ले चलो या नाले में है
वासदेव	डंडे से मारो बाँस दो
परसाद दो	जहर दो
अमर करो	मार डालो

भारत के आजाद होने के पूर्व यहाँ के आतंकवादियों एवं क्रान्तिकारियों में भी इस प्रकार की कुछ गुप्त भाषाएँ तथा लिपियाँ प्रचलित थीं। इन पंक्तियों के लेखक को भी इस जीवन का कुछ अनुभव है। मुझे याद है कि एक नेता को एक बार बुलाने के लिये उन्हें तार में केवल 'ऐबसेंट' (absent=अनुपस्थित) लिखा गया था, और वे पूर्व निर्णय के अनुसार आ गये थे।

लड़कों में गुप्त भाषा की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मेरी बाल्यावस्था में मेरे ही साथियों में ऐसी तीन-चार गुप्त बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें कम से कम एक तो ऐसी थी कि उसमें दो लड़के एक-एक घंटे तक बात कर सकते थे, और अन्य सुनने वाले उसमें कुछ भी नहीं समझ पाते थे। वह है—

१. दे० 'हिन्दी अनुशीलन' में लेखक का 'कँहारों की शब्दावली' शीर्षक लेख।

राकस्तूरी पंजा बीरे मकस्तूरी मासा = राम

गकस्तूरी पंजा बीरे याकस्तूरी मासा = गया

इनमें इन दोनों स्थानों पर एक-एक अक्षर रखकर, शब्द और वाक्य बनाये जाते थे।

कुछ लोग र् और म् लगाकर बोलते थे, पर यह भाषा सुरक्षित नहीं समझी जाती थी। जैसे—

मरमैं खरमाना खरमा करमर अरमाऊँ गरमा—मैं खाना खाकर जाऊँगा।

सबसे आसान रास्ता 'फुल' लगा कर था।

फुलभो फुलला फुलना फुलथ—भोलानाथ

इलाहाबाद के समीप के कुछ गाँवों में 'अर्फ़' लगाकर गुप्त रूप से बोलने का प्रचार है। जैसे—

'हम जात अही' के लिये—हर्फ़म जर्फ़ात अर्फ़ही

या

'तू आज आया' के लिये 'तुर्फ़ अर्फ़ाज अर्फ़ाया'

शब्दों में अक्षर उलट कर या हर अक्षर के बाद 'स' या अन्य अक्षर रखकर भी गुप्त भाषाओं का निर्माण लोग करते हैं।

कभी-कभी गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी होती है। एक लिपि मेरे देखने में भी आई थी जो बँगला, अँग्रेजी, उर्दू और नागरी के आधार पर थी।

चले आना = চ A J E A ন A

गुप्त भाषा प्रतीकात्मक शब्द, नये शब्द, अंक, शब्दों या रूपों के आरम्भ, मध्य या अंत में ध्वनि-योग तथा विपर्यय आदि की सहायता से प्रायः बनाई जाती है।

(ख) सामान्य भाषा

कृत्रिम भाषा के प्रथम रूप 'गुप्त भाषा' में हमने देखा कि भाषाएँ स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बनाई रहती हैं। 'सामान्य कृत्रिम भाषा' और 'गुप्त कृत्रिम भाषा' में अन्तर यह है कि गुप्त भाषा बातचीत के लिए बनती है, अतः प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है, ताकि कोई समझ न सके; किंतु सामान्य भाषा में यह बात नहीं रहती। वह प्रचलित भाषा से मिलती-जुलती और ऐसी बनाई जाती है कि यथाशीघ्र लोग उसे समझ कर उसका प्रयोग कर सकें।

डॉ० जमेनहाफ़ की बनाई एसपिरेंतो भाषा ऐसी भाषाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह संसार भर के लिए बनाई गई है। इसका बहुत से देशों में प्रचार है और विज्ञापन-सम्बन्धी, तथा कुछ अन्य विषयों की भी, अनेक पत्रिकाएँ इस कृत्रिम भाषा में निकलती हैं। कुछ रेडियो-स्टेशनों से कभी-कभी इस कृत्रिम भाषा में प्रोग्राम भी सुनने में आते हैं। संसार के अनेक शहरों की भाँति दिल्ली में भी इसके पढ़ाने की व्यवस्था है। इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो सारे संसार में इसके पूर्ण प्रचार के लिए प्रयत्न-

शील है।[1] इस प्रकार की एक दर्जन से ऊपर भाषाएँ बनाई जा चुकी हैं, जिनमें 'इडो', 'नोवियल', 'इंटरलिंगुवा', 'ऑक्सिडेंटल' आदि प्रमुख हैं।

ऊपर मूल भाषा, व्यक्ति-बोली, अपभाषा, उपबोली, बोली, भाषा, परिनिष्ठित भाषा, राष्ट्रभाषा, विशिष्ट भाषा तथा कृत्रिम भाषा पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। भाषा के कुछ अन्य (भाषाविज्ञान में अपेक्षाकृत कम प्रचलित) रूप इस प्रकार हैं—

(१) साहित्य-भाषा—जिसका प्रयोग साहित्य में होता है। बोलचाल की भाषा की तुलना में प्रायः यह कुछ कम विकसित, कुछ अलंकृत, कुछ कठिन तथा कुछ परंपरानुगामिनी होती है।

(२) जीवित भाषा—जो आज भी प्रयोग में हो, जैसे 'हिन्दी'।

(३) मृत भाषा —जो आज प्रयोग में नहीं, जैसे 'हिट्टाइट'।

(४) राजभाषा—जिसका प्रयोग राज्य के कामों में होता है। संविधान के अनुसार हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा न होकर राजभाषा (official language) है, और वैधानिक दृष्टि से उसे राज्य-भाषा ही कहना चाहिए, न कि राष्ट्रभाषा।

(५) जाति-भाषा—जिसका प्रयोग केवल जाति-विशेष में होता है। ऊपर विशिष्ट भाषा में कँहारों की भाषा की ओर संकेत किया जा चुका है। भील, मुसहर, वनिया, कायस्थ, ब्राह्मण आदि की बोलियाँ जातिभाषाएँ ही हैं। भाषा या बोली से इन जातीय रूपों में ध्वनि, सुर, शब्द-समूह या मुहावरे सम्बन्धी विशेषताएँ होती हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि एक ही गाँव में ब्राह्मण की बोली कुछ और होती है, कायस्थ की कुछ और, तथा मुसहर आदि तथाकथित छोटी जातियों की कुछ और।

(६) स्त्री-भाषा—जिसका प्रयोग केवल स्त्रियाँ करें। उर्दू की 'रेख़्ती' इसी श्रेणी में आती है। 'करीब' नाम की एक जंगली जाति में इस प्रकार का भेद और भी स्पष्ट है। वहाँ पुरुष 'करीब' बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु स्त्रियाँ 'अरोवक' नाम की बोली का प्रयोग करती हैं, जो उसी का उससे पर्याप्त भिन्न एक रूप है। कैलिफोर्निया के उत्तरी भाग में 'यन' नामक आदिवासियों में भी स्त्री और पुरुष की भाषा में पर्याप्त भेद है।

(७) पुरुष-भाषा—जिसका प्रयोग केवल पुरुष करें। ऊपर स्त्री-भाषा में इसके उदाहरण दिये गए हैं।

ग्राम्य, शिष्ट, अशिष्ट, साधु, असाधु, विकृत आदि भी भाषा के और बहुत से रूप हो सकते हैं।

(८) मिश्रित भाषा (Pidgin)—जिसमें एक से अधिक भाषाओं का मिश्रण हो। बन्दरगाहों आदि पर ऐसी भाषा प्रायः सुनाई पड़ती है। चीन के कुछ नगरों में प्रयुक्त 'पिजिन इंगलिश' इसका अच्छा उदाहरण है। कलकतिया हिन्दी, बंबइया हिन्दी भी एक सीमा तक वही है। लेविदोफ ने अपने हिंदुस्तानी व्याकरण में ऐसी ही कल-

1. विस्तार के लिए देखिए 'कृत्रिम भाषा' शीर्षक परिशिष्ट।

कतिय। भाषा को लिया है। भमध्यसागर के बन्दरगाहों में प्रयुक्त 'सवीर' भाषा (ग्रीक, अरबी, फ्रेंच, स्पैनिश तथा इतालवी आदि के मिश्रण से बनी) भी इसी श्रेणी की है।

'भाषा' के तीन अन्य रूप : वाणी, संभाषा, व्यक्ति-भाषा

ऊपर भाषा के विशिष्ट रूप थे। ससूर ने एक दूसरे स्तर पर भाषा के तीन रूप माने हैं। एक तो भाषा का सामान्य रूप है, जिसे उन्होंने लांगाज (langage) कहा है। इसे हिन्दी में वाणी कह सकते हैं। 'वाणी' मनुष्य की अभिव्यक्ति का सामान्य माध्यम है। सभी भाषाओं को यह नाम अपने में समाहित कर लेता है। उल्लेख है कि अंग्रेजी, चीनी, हिन्दी, तमिल आदि भेद इसमें नहीं आते। "वाणी द्वारा मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है" जैसे वाक्यों में 'वाणी' शब्द इसी अर्थ का द्योतन करता है। यहाँ 'वाणी' से आशय अँग्रेजी, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं से न होकर सामान्य भाषा या अभिव्यक्ति के सामान्य माध्यम से है।

भाषा के दूसरे स्वरूप को ससूर लाँग (langue) कहते हैं। अंग्रेजी शब्द tongue इसके समीप है। हिन्दी में किसी अन्य शब्द के अभाव में इसे 'संभाषा' कह सकते हैं। 'वाणी' सामान्य रूप है और 'संभाषा' विशिष्ट रूप, अर्थात् हिन्दी, अंग्रेजी, चीनी आदि संभाषाएँ हैं। समाज या समुदाय विशेष में 'संभाषा' का प्रयोग होता है। 'वाणी' की तरह यह व्यापक नहीं है। वाणी में संभाषाएँ समाहित हैं। 'वाणी' संभाषाओं का 'ऐब्स्ट्रैक्शन' है।

भाषा का दूसरा रूप 'संभाषा' सामाजिक है; किंतु भाषा का तीसरा रूप वैयक्तिक है। इसे ससूर ने परोल (parole) कहा था, अंग्रेजी में कुछ लोगों ने स्पीच (speech) कहा है, और हम व्यक्ति-भाषा कह सकते हैं। व्यक्ति जो बोलता है, वह वैयक्तिक स्तर पर उसकी अपनी भाषा या व्यक्ति-भाषा है। समाज में उसे सुना-समझा जाता है, और तब वह सामाजिक हो कर 'संभाषा' कहलाती है। इस दृष्टि से भाषा, बोली, उपबोली आदि 'संभाषा' के ही विभिन्न रूप हैं।

भाषा और बोली में अंतर

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भाषा और बोली में शुद्ध भाषावैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है। इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[1] यों सामान्यतः कुछ बातें कही जा सकती हैं : (क) जैसा कि ऊपर कहा

---

१. In the course of the survey, it has sometimes been difficult to decide whether a given form of speech is to be looked upon as an independent language or as a dialect of some other definite form of speech. In practice it has been found that it is sometimes impossible to decide the question in a manner which will gain universal acceptance. The two words 'language' and 'dialect' are in this respect like 'mountain' and 'hill'. One has no hesitation in

गया है, भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा। (ख) एक भाषा की (या के अंतरर्गत) एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत, भाषा बोली के अंतर्गत नहीं आती, अर्थात् किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकतीं। (ग) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाषा बोली में माँ-बेटी का सम्बन्ध है। (घ) बोधगम्यता—बोधगम्यता के आधार पर भी इस संबन्ध में कुछ उपादेय बातें कही जा सकती हैं। यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से एक नहीं है, किन्तु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियाँ किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है। इसके विपरीत विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिल्कुल नहीं (अंग्रेजी-हिन्दी) होती या कम (पंजाबी-हिन्दी) होती है। यों यह बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्त्विक नहीं है। उदाहरण के लिए, हरियानी-भाषी पंजाबी-भाषी को काफी समझ लेता है किन्तु, अवधी-भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियानी एवं अवधी हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं, और पंजाबी एक स्वतंत्र भाषा है। (ङ) भाषा प्रायः साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कामों में भी व्यवहृत होती है, किंतु बोली, लोक-साहित्य और बोलचाल में ही। यद्यपि इसके अपवाद भी कम नहीं मिलते, विशेषतः साहित्य में। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल से पूर्व का हिन्दी का सारा साहित्य व्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है।

———

saying that, say Everest is a mountain and Holborn Hill, a hill, but between these two the dividing line cannot be accurately drawn.—ग्रियर्सन

To the linguist there is no real difference betw ‹‹n and a language... – सपीर

There is no intrinsic difference between language and dialect —पेई।

संसार की भाषाएँ और उनका वर्गीकरण | ३

संसार में अनेकानेक भाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। लोकोक्ति है :

चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।

अर्थात् पानी का स्वाद हर चौथे कोस पर कुछ-न-कुछ बदल जाता है और भाषा आठवें कोस पर कुछ-न-कुछ परिवर्तित हो जाती है। सोचने की बात है कि जब हर आठ कोस पर भाषा में कुछ-न-कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होने लगता है तो इतने लंबे-चौड़े संसार में कितनी अधिक भाषाएँ और बोलियाँ होंगी। गणना करने वालों ने बतलाया है कि इनकी संख्या २७९६ है।

संसार की इन २७९६ भाषाओं और बोलियों में कुछ अत्यन्त प्रधान भाषाओं और बोलियों के विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पहले उनको वर्गीकृत करने की समस्या पर विचार करना है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें प्रधान निम्नांकित हैं—

(१) महाद्वीप के आधार पर—जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ तथा अफ्रीकी भाषाएँ आदि।

(२) देश के आधार पर—जैसे चीनी भाषाएँ तथा भारतीय भाषाएँ आदि।

(३) धर्म के आधार पर—जैसे मुसलमानी भाषाएँ, हिन्दू भाषाएँ तथा ईसाई भाषाएँ आदि।

(४) काल के आधार पर—जैसे प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्य-युगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।

(५) भाषाओं की आकृति के आधार पर—जैसे अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाएँ।

(६) परिवार के आधार पर—जैसे भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ आदि।

(७) प्रभाव के आधार पर—जैसे संस्कृत-प्रभावित भाषाएँ, तथा फारसी-प्रभावित भाषाएँ आदि।

वर्गीकरण[1] के उपर्युक्त सात आधारों में भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व केवल अंतिम तीन आधारों पर किये गये वर्गीकरणों का ही है।

इन वर्गीकरणों में तीसरा अभी तक अपनी शैशवावस्था में है। जर्मन भाषा में इसे sprachbund नाम दिया गया है। इस प्रकार के अध्ययन से भी भाषा-विषयक बहुत सुन्दर निष्कर्ष प्रकाश में लाये जा सकते हैं। दो ऐसी भाषाओं में जो पारिवारिक या आकृतिमूलक दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं हैं, इस दृष्टि से एक दूसरे के समीप आ जाती हैं, और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हिंदी और तमिल में पारिवारिक या आकृतिमूलक दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु संस्कृत के प्रभाव के कारण दोनों में शब्द-समूह तथा ध्वनि आदि की दृष्टि से समानता है। अफ्रीका में भी इस प्रकार के अध्ययन की पर्याप्त गुंजाइश है।

शेष दो वर्गीकरण आकृतिमूलक (आकृति या रचना के आधार पर) और पारिवारिक (परिवार के आधार पर) नाम से अभिहित किये जाते हैं। आगे इन दोनों पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

जैसा कि आगे चलकर हम लोग देखेंगे, किसी वाक्य का अर्थ हम दो चीजों के कारण समझते हैं। एक है 'अर्थ-तत्त्व' और दूसरा 'सम्बन्ध-तत्त्व'। 'राम ने रावण को मारा' इस वाक्य में 'राम', 'रावण' तथा 'मारना' ये तीन अर्थ-तत्त्व हैं और 'ने', 'को' तथा मारा का 'आ' ये तीन 'सम्बन्ध-तत्त्व' या पद-रचना के तत्त्व हैं। अर्थात्, इन्हीं तीनों के कारण उन अर्थ-तत्त्वों' का आपस में सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि राम ने मारा, रावण ने नहीं, और रावण मारा गया, राम नहीं, तथा वर्तमान काल में नहीं मारा गया, बल्कि भूतकाल में। कुछ और उदाहरणों से इन दोनों के भेद और स्पष्ट हो जायेंगे। करना, खोना, रोना, सोना; या उससे, तुमसे, राम से, या आया, गया, खोया, धोया

---

१. इस प्रसंग में 'लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' (linguistic typology भाषायी पकार) का नाम भी लिया जा सकता है। 'लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' का प्रयोग विद्वानों ने एक से अधिक अर्थों में किया है। कुछ लोग इसे 'आकृतिमूलक वर्गीकरण' का पर्याय-सा मानते हैं। इसी अर्थ में लेकर कैरॉल आदि विद्वानों ने इसका नाम लेते हुए भाषा के ३ वर्गों (isolating, agglutinative, inflective) का उल्लेख किया है। बिल्कुल आधुनिक काल में अमेरिका में हॉकेट तथा जासेफ़ आदि कुछ अन्य विद्वानों ने सांख्यिकीय (statistical) दृष्टिकोण से इस पर विचार किया है। अब कुछ लोग इसमें ध्वनियों की तुलना के आधार पर भाषा-वर्गीकरण के पक्ष में हैं। मेरी व्यक्तिगत राय तो यह है कि 'लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' के phonemic, phonetic, syntactic और morphemic आदि उतने ही भेद किए जाने चाहिए, जितने भाषा-विज्ञान के प्रमुख विभाग हैं, और उन सभी के आधार पर भाषा-प्रकार (linguistic type) हो सकते हैं। इनमें आकृति या रूप पर आधारित अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, पर शेष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

आदिमें अर्थ-तत्त्व, अर्थात् अर्थ या भाव तो भिन्न-भिन्न हैं पर प्रथम चार में संबंध-तत्त्व या पद-रचना की समानता है, अर्थात् सभी में 'ना' है। इसी प्रकार दूसरे तीन में भी सब के अन्त में 'से' है तथा तीसरे चार में सब के अन्त में 'या' है, अतएव इन दूसरे 'तीन' तथा तीसरे 'चार' में भी सम्बन्ध-तत्त्व या पद-रचना की समानता है। दूसरी ओर खाकर, खाया, खाता, खा, खायेगा तथा खाय में सम्बन्ध-तत्त्व या पद-रचना की भिन्नता है, पर अर्थ-तत्त्व की समानता है, अर्थात् खाने का भाव सभी में है।

सम्बन्ध-तत्त्व या पद-रचना का सम्बन्ध व्याकरण या भाषा की 'रूप-रचना' से है। इसीलिए संबंध-तत्त्व, पद-रचना या व्याकरणिक समानता पर आधारित वर्गीकरण आकृतिमूलक या रूपात्मक कहलाता है। मूल शब्द से रूप बनाने की प्रक्रिया या पद्धति के आधार पर जो भाषाएँ समानता रखती हैं, इसके अनुसार एक वर्ग में रक्खी जाती हैं। इसे 'व्याकरणिक वर्गीकरण' या 'रचनात्मक वर्गीकरण' भी कहा जा सकता है। वाक्य इन रूपों के ही आधार पर बनते हैं, अतः इस वर्गीकरण का सम्बन्ध 'वाक्य' से भी है, इसीलिए इसे 'वाक्यात्मक' या 'वाक्यमूलक' वर्गीकरण भी कहते हैं।[1] हिन्दी में इसके लिए रूपाश्रित, पदात्मक तथा पदाश्रित आदि कुछ अन्य नामों का भी कभी-कभी प्रयोग होता है।

दूसरे वर्गीकरण—पारिवारिक—में संबंध-तत्त्व की समानता पर भी ध्यान देते हैं, साथ ही भाषा के प्राथमिक शब्द-भण्डार की समानता का भी विचार करते हैं। इन तीनों समानताओं के आधार पर दो या अधिक भाषाओं को एक परिवार की माना जाता है। 'पारिवारिक वर्गीकरण' को 'वंशात्मक', 'वंशानुक्रमिक', 'कुलात्मक' या 'ऐतिहासिक' वर्गीकरण भी कहते हैं।[2]

आकृतिमूलक वर्गीकरण

इस वर्गीकरण का आधार सम्बन्ध-तत्त्व या शैली है। शैली से हमारा तात्पर्य वाक्य और रूप (पद) बनाने की शैली से है। इस प्रकार प्रस्तुत वर्गीकरण में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) प्रथमतः, वाक्य में शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार प्रकट किया गया है? उदाहरण के लिए यदि हम "मैंने भोजन किया" वाक्य लें तो 'मैं', 'भोजन' और 'करना' अर्थ-तत्त्वों का संबंध एक-दूसरे से किस प्रकार प्रकट किया गया है, या वे एक-दूसरे से किस प्रकार बाँधे गये हैं।

(२) दूसरे, 'मैंने', 'भोजन' और 'किया' ये तीनों शब्द किस प्रकार धातु, प्रत्यक्ष या उपसर्ग लगा कर बनाये गये हैं।

---

१. अंग्रेजी में इसे morphological, typical, typological, या syntactical classification आदि कई नामों से पुकारा जाता है, यों सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन सभी में कुछ-न-कुछ अन्तर है।

२. अंग्रेजी में इसे geneological या historical classification कहते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि वाक्यविज्ञान और रूपविज्ञान, या वाक्य-रचना एवं (रूप या) पद-रचना पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।

भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण की परम्परा पुरानी है, किन्तु महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में इस दृष्टि से प्रथम नाम श्लेगल का लिया जा सकता है। उन्होंने भाषाओं को दो वर्गों में रक्खा था। आगे चलकर बॉप ने श्लेगल के मत को काट दिया और तीन वर्ग बनाये। ग्रिम और श्लाइखर भी कुछ दूसरे रूप में तीन वर्गों के ही पक्ष में थे। पॉट ने चार वर्ग बनाये। अधिक प्रचलित मत २, ३, ४ वर्गों के ही रहे हैं, यों कुछ लोगों ने इसे और बढ़ाने का भी प्रयास किया है और सामान्य दृष्टि से इसके एक दर्जन से अधिक वर्ग बनाये जा सकते हैं, किन्तु तत्त्वतः अधिक वैज्ञानिक वर्ग केवल दो ही बनते हैं। शेष सारे वर्ग किसी न किसी रूप में इन्हीं दो के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी
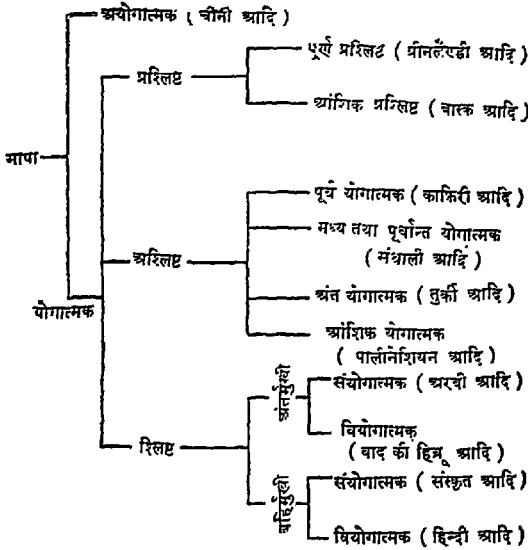
लिए यहाँ दो वर्ग वाले मत को ही पहिले लिया जा रहा है, शेष मतों पर आगे संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

आकृति या रूप की दृष्टि से संसार की भाषाओं को प्रमुखतः दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) अयोगात्मक भाषाएँ[1]

(ख) योगात्मक भाषाएँ[2]

आगे इनके अन्य भी बहुत से वर्ग-उपवर्ग बनाये जा सकते हैं, जिन्हें वृक्ष-रूप में पिछले पृष्ठ पर दिये गये ढंग से दिखाया जा सकता है।

अब इन पर कुछ विस्तार से विचार किया जा सकता है।

(१) अयोगात्मक भाषाएँ—जैसा कि 'अयोग' शब्द से स्पष्ट है, इस वर्ग की भाषाओं में 'योग' नहीं रहता, अर्थात् शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि जोड़कर अन्य शब्द, या वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य रूप नहीं बनाये जाते। उदाहरणार्थ, संस्कृत में 'राम' में इन 'टा' प्रत्यय जोड़कर 'रामेण' बनाया जाता है या हिन्दी में 'मुझे दो' वाक्य में प्रयोग करने के लिए 'मैं' में कुछ जोड़-घटाकर 'मुझे' बनाना पड़ता है, पर अयोगात्मक भाषाओं में इस प्रकार के योग की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनमें किसी भी शब्द में कोई परिवर्तन नहीं होता। वाक्य में स्थान के अनुसार शब्दों का अर्थ लगा लिया जाता है। इसीलिए इन भाषाओं को 'स्थान-प्रधान' भी कहते हैं।

हिन्दी में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें शब्दों में विकार नहीं होता और स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। (यद्यपि ऐसे उदाहरण अपवाद-से हैं।) 'राधा सीता कहती है' तथा 'सीता राधा कहती है' इन दोनों वाक्यों में शब्द बिल्कुल एक हैं। उनमें कोई भी परिवर्तन नहीं है, पर राधा और सीता का स्थान बदल देने से पूर्णतः उलट गया है।

अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। चीनी भाषा में व्याकरण नाम की कोई अलग चीज नहीं होती। वाक्य में एक ही शब्द, स्थान और प्रयोग के अनुसार संज्ञा, विश्लेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण आदि हो सकता है। उसमें शब्दों में किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं—

(१) 'ता लेन' = बड़ा आदमी

'लेन ता' = आदमी बड़ा (है)

(२) 'न्गो त नि' = मैं मारता हूँ तुमको।

'नि त न्गो' = तुम मारते हो मुझको।

---

१. इस वर्ग की भाषाओं के लिए isolating, positional, inorganic, व्यास-प्रधान, निपात-प्रधान, वियोगात्मक, स्थान-प्रधान, अलगन्त, विकीर्ण, एकाक्षर एकाच्, धातु-प्रधान, निरिंद्रिय, निरवयव, निर्योग तथा निर्योगी आदि बहुत-से नामों का अंग्रेजी और हिन्दी की पुस्तकों में प्रयोग मिलता है।

२. इस वर्ग की भाषाओं के लिए agglutinating, organic, agglomerating, abounding in affixes, प्रकृति-प्रत्यय-प्रधान, उपचयात्मक, संचयात्मक, प्रत्यय-प्रधान, संयोगात्मक, संयोगी, संयोग-प्रधान, व्यक्तयोग, उपचयोन्मुख, संचयोन्मुख तथा सावयव आदि का भी प्रयोग मिलता है।

यहाँ तक कि विभिन्न काल की क्रियाओं के रूप बनाने में भी शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ, हिन्दी के 'चलना' का भूतकाल 'चला' बनेगा, जो देखने में 'चलना' से भिन्न है। पर पुरानी चीनी में

'त्सेन (Tsen)=चलना' का भूतकाल बनाने के लिए इसके आगे लिओन (Lion) जिसका अर्थ 'समाप्त' है, रख देंगे।

त्सेन लिओन=चला (शाब्दिक अर्थ 'चलना समाप्त')

कहना न होगा कि दोनों में 'त्सेन' का रूप एक है। आगे दूसरा शब्द मात्र आने से काल-परिवर्तन हो गया। मूल शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न कोई जोड़ना-घटाना ही अपेक्षित हुआ।

इसी प्रकार

त लइ (Ta Lai)=वह आता है।

त लइ लिआव (Ta Lai Liao)=वह आया।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि इन भाषाओं में प्रत्येक शब्द की अलग-अलग सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थ-तत्त्व व्यक्त करने की शक्ति होती है, और वाक्य में स्थान के अनुसार ही उनके ये तत्त्व जाने जाते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि लिओन (Lion) का अर्थ-तत्त्व है 'खत्म करना' या 'समाप्त', किन्तु 'त्सेन लिओन' में वह सम्बन्ध-तत्त्व ही गया है, और भूतकाल का भाव व्यक्त करता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में लिआव (Liao) का अर्थ-तत्त्व है 'पूर्ण' या 'पूर्णता', पर यहाँ वह सम्बन्ध-तत्त्व हो गया है और भूतकाल का भाव व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार वहाँ शब्दों के सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थ-तत्त्व रूप में दो अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, एक शब्द 'य' लें। इसका अर्थ-तत्त्व रूप में अर्थ है 'प्रयोग' पर सम्बन्ध-तत्त्व रूप में 'से'। इसी प्रकार 'त्सि' के अर्थ-तत्त्व का अर्थ है 'स्थान', पर सम्बन्ध-तत्त्व का अर्थ है 'का'।

अन्य प्रकार की भाषाओं की तरह इस वर्ग की भाषाओं में शब्दों के व्याकरणिक रूप स्पष्टतः अलग-अलग नहीं होते। ऊपर के वाक्यों में 'ङो' का अर्थ 'मैं' और 'मुझको' दोनों है, इसी प्रकार 'नि' का अर्थ 'तुम' भी है और 'तुमको' भी। केवल स्थान से ही इस अंतर का पता चल सकता है।

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि अयोगात्मक भाषाओं में संबन्ध-तत्त्व का बोध शब्दों में कुछ जोड़कर (जैसे हिन्दी में 'मैं' से 'मैंने') या कुछ भीतरी विकार या परिवर्तन लाकर (जैसे 'मैं' से 'मुझे') नहीं कराया जाता, अपितु सम्बन्ध-तत्त्वबोधक ('लिओन' या 'लिआव' आदि) शब्दों को जोड़कर या मात्र स्थान-विशेष पर मूल शब्दों को रख कर ही कराते हैं।

अयोगात्मक भाषाओं में 'शब्द-क्रम' का महत्त्व तो है, किन्तु इसके साथ यहाँ तान (tone, सुर, स्वर या लहजा) का भी महत्त्व है। उससे भी सम्बन्ध दिखाये जाते हैं। इसी प्रकार निपात (particle) या सम्बन्धसूचक या अपूर्ण शब्दों का भी आधार लिया जाता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी (स्थान-प्रधान), तथा एशिया की मलय (यह एकाक्षर नहीं है), अनामी (स्वर-प्रधान), बर्मी (निपात-प्रधान), स्यामी तथा तिब्बती (निपात-प्रधान) आदि भाषाएँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं।

(२) योगात्मक भाषाएँ—अयोगात्मक भाषाओं में अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व में योग नहीं होता। या तो सम्बन्ध-तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं होती, केवल स्थान-क्रम से ही सम्बन्ध का पता चल जाता है, या सम्बन्ध-तत्त्व रहता भी है तो वह अर्थ-तत्त्व से मिलता नहीं। इसके विरुद्ध योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व दोनों में योग हो जाता है, अर्थात् मिले-जुले रहते हैं। 'मेरे घर आना' हिन्दी का एक वाक्य लें। इसमें, 'मेरे' में अर्थ-तत्त्व (मैं) तथा सम्बन्ध-तत्त्व (सम्बन्ध-वाचकता प्रकट करने वाला प्रत्यय जिसके कारण 'मेरे' शब्द बना है और जिसके कारण इसका अर्थ 'मैं का' हुआ है) दोनों मिले-जुले हैं। संस्कृत का एक वाक्य 'रामः हस्तेन धनं ददाति' (राम हाथ से धन देता है) लें। इसमें राम (अर्थ-तत्त्व)+अः (सम्बन्ध-तत्त्व), हस्त (अर्थ-तत्त्व)+एन (सम्बन्ध-तत्त्व), धन (अर्थ-तत्त्व)+अम् (सम्बन्ध-तत्त्व) तथा दा (= देना, अर्थ-तत्त्व)+ति (सम्बन्ध-तत्त्व) मिले हैं, या इन अर्थ-तत्त्वों और सम्बन्ध-तत्त्वों में 'योग' है। इस योग के कारण ही ये भाषाएँ योगात्मक कही जाती हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक हैं।

योगात्मक भाषाओं को योग की प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जाता है—

(क्ष) प्रश्लिष्ट-योगात्मक (Incorporating)[1]

(त्र) अश्लिष्ट-योगात्मक (Simple agglutinative)

(ज्ञ) श्लिष्ट-योगात्मक (Inflecting)[2]

स्पष्टता के लिए इन तीनों विभागों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क्ष) प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[3] प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थ-तत्त्व का योग इतना मिला-जुला होता है कि उन्हें अलग-अलग न तो पहचाना जा सकता है और न एक को दूसरे से अलग ही किया जा सकता है, जैसे संस्कृत 'ऋत' से 'आर्तव' या 'शिशु' से 'शैशव'। प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं के भी दो भेद किये गए हैं। एक में योग पूर्ण रहता है और दूसरे में आंशिक या अपूर्ण। ये दोनों भेद इस प्रकार हैं—

(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[4] (Completely Incorporative)—

---

१. बहुसंश्लेषात्मक (polysynthetic), अव्यक्त-योगात्मक (holophrastic) 'समास-प्रधान', 'संघाती' 'संघात-प्रधान' भी इसी के नाम हैं।

२. Inflexional, विभक्ति-प्रधान, संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान भी इसी के नाम हैं।

३. इसे समास-प्रधान या बहुसंहित भी कहा गया है।

४. इन्हें 'पूर्ण समास-प्रधान' भी कहते हैं।

इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। इस प्रकार की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वाक्य में पूरे शब्द नहीं आते, बल्कि उनका कुछ अंश छूट जाता है और इस प्रकार आधे-आधे शब्दों के संयोग से बना हुआ लम्बा-सा शब्द ही वाक्य हो जाता है। ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(१) दक्षिणी अमरीका की चेरोकी भाषा में—

नातेन=लाओ

अमोखोल नाव

निन=हम

इन शब्दों से वाक्य बनाने में शब्द अपना थोड़ा-थोड़ा अंश छोड़ कर इस प्रकार मिलते हैं कि एक बड़ा-सा शब्द बन जाता है—'नाधोलिनिन' (=हमारे पास नाव लाओ)

(२) इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड की भाषा में भी—

अउलिसर=मछली मारना

पेअर्तोर=किसी काम में लगना

पिन्नेसुअर्पोक्=वह शीघ्रता करता है

इन तीनों से मिलकर एकशब्दीय वाक्य बनता है—

'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक्' (=वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है)

(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[1] (Partly Incorporative)—इन भाषाओं में सर्वनाम तथा क्रियाओं का ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि क्रिया अस्तित्वहीन होकर सर्वनाम की पूरक हो जाती है। पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली बास्क भाषा कुछ अंशों में आंशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक है। इसके दो उदाहरण दिये जा रहे हैं—

दकारकिओत=मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

नकारसु=तू मुझे ले जाता है।

हकारत=मैं तुझे ले जाता हूँ।

इन वाक्यों में केवल सर्वनाम और क्रियाएँ है। पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति आंशिक प्रश्लिष्ट में संज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय आदि सभी का योग सम्भव नहीं होता।

भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी इसके कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—गुजराती में—'में कह्युं जे' का 'मकुंजे' (=मैंने वह कहा)। मुल्तानी तथा हरियानी में मखां (मैंने कहा)। मेरठ की बोली में—'उसने कहा' का 'उन्नेका'।

---

१. इसे अंशतः समास-प्रधान भी कहते हैं।

अंग्रेजी, बँगला, फ्रेंच तथा भोजपुरी आदि अन्य बहुत-सी भाषाओं तथा बोलियों के मौखिक रूप में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं, पर ये अपवाद ही हैं। इसका आशय यह नहीं कि ये भाषाएँ आंशिक प्रश्लिष्ट हैं। बांटू भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

इस संदर्भ में यह एक बात स्मरणीय है कि संसार की कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से आंशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक नहीं है।

(त्र) अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएं[1]—अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व (प्रत्यय) अर्थ-तत्त्व से इस प्रकार जुड़ा होता है कि 'तिलतंडुलवत्' दोनों ही स्पष्ट रूप से दीखते हैं। हिन्दी इस प्रकार की भाषा नहीं है, पर उसमें से समझने के लिये कुछ उदाहरण खोजे जा सकते हैं—

सुन्दरता (सुन्दर+ता)
मैंने (मैं+ने)
करेगा (कर्+ए+गा)

इन सभी में दोनों तत्त्व (अर्थ तथा सम्बन्ध) स्पष्ट हैं। इस स्पष्टता के कारण इस प्रकार की भाषाओं की रूप-रचना बहुत ही आसान होती है। भाषा-वैज्ञानिकों की आदर्श और कृत्रिम भाषा 'एसपिरैंतो' का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं को भी कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पूर्व-योगात्मक या पुरःप्रत्यय-प्रधान (Prefix Agglutinative)—इन भाषाओं में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। शब्द वाक्य के अन्तर्गत बिल्कुल अलग-अलग रहते हैं। शब्दों की रूप-रचना में सम्बन्ध-तत्त्व केवल आरम्भ में लगता है, इसी कारण ये 'पूर्व-योगात्मक' कही जाती हैं। अफ्रीका में बांटू भाषाओं में यह विशेषता स्पष्ट रूप से पायी जाती है।

उदाहरण लीजिए—

ज़ुलू भाषा में

उमु=एकवचन का चिह्न
अब=बहुवचन का चिह्न
न्तु=आदमी
ना=से

इनके योग से शब्द बनते हैं—

उमुन्तु =एक आदमी
अबन्तु =कई आदमी
नाउमुन्तु=आदमी से
नाअबन्तु=आदमियों से

---

१. इसे प्रत्यय-प्रधान भी कहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी उदाहरणों में योग ('उमु' या 'अव' आदि सम्बन्ध-तत्त्व) आरम्भ में हैं। इसी प्रकार काफ़िर भाषा में भी—

कु=संप्रदान कारक का चिह्न
ति=हम
नि=उन

इनके योग से

कति=हमको
कनि=उनको

यहाँ ज़ुलू का एक वाक्य भी देखा जा सकता है। ऊपर 'उम', 'अव' तथा 'न्तु' का अर्थ हम दे चुके हैं। इनके अतिरिक्त

तु=हमारा
चिल=सुन्दर
यबोनकल =दिखाई पड़ना

इनके मिलाने से एकवचन में—

उमुन्तु वेतु ओमुच्ले उयबोतकल=हमारा आदमी देखने में सुन्दर है।

इसका बहुवचन आरम्भिक अंश में परिवर्तन करने से हो जाता है—

अबन्तु वेतु अवचल वयनोकल=हमारे आदमी देखने में सुन्दर हैं।

(ख) मध्य-योगात्मक या अंतःप्रत्यय-प्रधान (Infix Agglutinative)—इस के उदाहरण भारत की, तथा हिन्द महासागर के द्वीपों से लेकर अफ्रीका के समीप के मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली भाषाओं में मिलते हैं। इनमें प्रायः शब्द दो अक्षरों के होते हैं और जैसा कि नाम (मध्य-योगात्मक) से स्पष्ट है, सम्बन्ध-तत्त्व दोनों अक्षरों के बीच में रक्खे या जोड़े जाते हैं।

मुंडा कुल की संथाली भाषा में 'मंझि' (= मुखिया) और 'प' (बहुवचन का चिह्न) के योग से—

मपंझि=मुखिया लोग

यहाँ 'प' बीच में जोड़ा गया।

इसी प्रकार दल् (=मारना) से दपल (=परस्पर मारना)

अपवादस्वरूप बंटू भाषा में भी मध्य-योगात्मकता के कुछ उदाहरण मिलते हैं—

सि-तन्दा=हम उसे प्यार करते हैं।
सि-म-तन्दा=हम उसे प्यार करते हैं।
सि-व-तन्दा=हम उन्हें प्यार करते हैं।

इसी प्रकार तुर्की में भी कुछ मध्य योग के उदाहरण हैं—

सेव्मेक् =प्यार करना
सेव्इनमेक्=अपने को प्यार करना
सेव्इलमेक्=प्यार किया जाना

कहना न होगा कि बांटू तथा तुर्की के इन उदाहरणों में शब्द दो अक्षरों से अधिक के हैं, इसीलिये ये मध्य-योगात्मक अश्लिष्ट भाषा के शुद्ध उदाहरण नहीं हैं।

(ग) पूर्वान्त-योगात्मक—इस श्रेणी की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व अर्थ-तत्व के आगे और पीछे या पूर्व और अन्त में लगाया जाता है, इसीलिए इन्हें 'पूर्वान्त-योगात्मक' कहते हैं।

न्यूगिनी की मफोर भाषा में

'म्नफ' =सुनना

ज—म्नफ—उ=मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(यहाँ पूर्व में 'ज' और अन्त में 'उ' जोड़ा गया है)

मध्य-योगात्मकता तथा पूर्वान्त-योगात्मकता के उदाहरण कई भाषाओं में साथ-साथ ही मिलते हैं। पूर्व-योगात्मकता के बारे में भी यह सत्य है।

(घ) अन्त-योगात्मक या पर प्रत्यय प्रधान (Suffix agglutinative)—इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व केवल अन्त में जोड़ा जाता हैं। यूरालअल्टाइक तथा द्राविड़ परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

तुर्की

एव =घर

एवलेर =कई घर

एवलेरइम=मेरे घर

कन्नड़

'सेवक' शब्द का बहुवचन में विभिन्न कारकों में रूप

कर्ता कारक में—सेवक-रु

कर्म " "—सेवक-रन्नु

करण " "—सेवक-रिन्द

संप्रदान " "—सेवक-रिगे आदि

इसी प्रकार हंगरी की भाषा में—

जार =बन्द करना

जारत =बन्द करवाता है।

जारत्गत् =अधिकतर बन्द करवाता है।

(ङ) आंशिक-योगात्मक या ईषत् प्रत्यय-प्रधान (Partially agglutinative)—योगात्मक शाखा के अश्लिष्ट वर्ग की अन्तिम उपशाखा आंशिक-योगात्मक भाषाओं की है। इस वर्ग की भाषाएँ तथार्थतः योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच में पड़ती हैं। इन भाषाओं में योग और अयोग दोनों के ही चिन्ह मिलते हैं। पर ये भाषाएँ योगात्मक भाषाओं और उनमें भी अश्लिष्ट भाषाओं से भी कुछ समानता रखती हैं

अतः इनको आंशिक (अश्लिष्ट) योगात्मक नाम दिया गया है। वास्क, हौसा, जापानी एवं न्यूज़ीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषाएँ आंशिक योगात्मक हैं।

कुछ भाषाएँ सर्व-योगात्मक या सर्वप्रत्यय-प्रधान भी हैं जिनमें आदि, मध्य, अन्त तीनों प्रकार के योग होते हैं। मलायन भाषाएँ इसी वर्ग की हैं।

(ग) श्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[1]—श्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व (प्रत्यय) को जोड़ने के कारण अर्थ-तत्व वाले भाग में भी कुछ विकार पैदा हो जाते हैं परन्तु सम्बन्ध-तत्व की झलक अलग ही मालूम पड़ती है। रूप विकृत हो जाने पर भी सम्बन्ध-तत्व छिपा नहीं रहता। जैसे अरबी में क्-त्-ल् (=मारना) धातु से क़तल (=खून), क़ातिल (मार वाला), क़िल्ल (=शत्रु) तथा यक़तुलु (=वह मारता है) आदि। इसी प्रकार संस्कृत में वेद, नीति, इतिहास तथा भूगोल, से वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि। संस्कृत के उदाहरणों में स्पष्ट है कि अन्त में 'इक' लगा है पर साथ ही आरम्भ के 'वे', 'नी', तथा 'भू' में विकार आ गया है और वे 'वै', 'नै', 'ऐ' तथा 'भौ' हो गये हैं।

इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सब से अधिक उन्नत हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

श्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं के भी दो उपवर्ग किये जाते हैं—(क) अन्तर्मुखी और (ख) बहिर्मुखी। यह विभाजन बहुत समीचीन नहीं है और न पूर्णतया लागू ही होता है, किन्तु आंशिक रूप से इसकी सत्यता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क) अन्तर्मुखी-श्लिष्ट (Internal inflectional)

इस वर्ग की भाषाओं में, जोड़े हुए भाग, मूल (अर्थ-तत्व) के बीच में बिल्कुल घुल-मिल जाते हैं। सेमेटिक और हेमेटिक कुल की भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। अरबी भाषा इसके लिए उदाहरणस्वरूप ली जा सकती है। अरबी में धातु प्रायः तीन व्यंजनों (सुलासी) की होती है। सम्बन्ध-तत्व प्रधानता स्वर होता है, जो व्यंजनों के साथ घुल-मिल जाता है। आशय स्पष्ट करने के लिए हम क्-त्-ब् धातु को लेते हैं, जिसका अर्थ 'लिखना' होता है। इससे निम्न शब्द बने हैं—

कातिब=लिखने वाला।

किताब जो लिखा (या लिखी) गया (या गयी) है।

कुतुब = बहुत-सी किताबें।

यहाँ क्-त्-ब् व्यंजन तीनों में हैं पर बीच-बीच में विभिन्न स्वरों के आने से अर्थ बदलता गया है।

इस अन्तर्मुखी के भी दो भेद हैं।

(१) संयोगात्मक (Synthetic)—अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का पुराना

---

१. इन्हें विकारी या विभक्ति प्रधान भी कहा गया है।

रूप संयोगात्मक था। शब्दों में अलग से सहायक सम्बन्ध-तत्व लगाने की आवश्यकता न थी।

(२) वियोगात्मक (Analytic)—आज इन भाषाओं में शब्द साधारणतया बनते तो उसी प्रकार हैं, पर वाक्य की दृष्टि से वियोगात्मकता आ गई है, क्योंकि सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। परवर्ती हिब्रू भाषा में यह बात विशेष रूप से दिखाई पड़ती है।

(ख) बहिर्मुखी-श्लिष्ट (External inflectional)

इस वर्ग की भाषाओं में जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग (अर्थ-तत्त्व) के बाद आते हैं। जैसे संस्कृत में गम् धातु से गच्छ्+अ+न्ति=गच्छन्ति (=जाते हैं)। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी विभाग में आती हैं।

इसके भी दो भेद किये जा सकते हैं—

(१) संयोगात्मक—भारोपीय परिवार की पुरानी भाषाएँ (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि) संयोगात्मक थीं। इनमें सहायक क्रिया तथा परसर्ग आदि की आवश्यकता न थी। शब्द में ही सम्बन्ध-तत्व लगा रहता था, जैसे संस्कृत में—सः पठति=वह पढ़ता है।

इस परिवार की लिथुआनियन भाषा तो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अधिक परिवर्तित न होने से आज भी संयोगात्मक ही है।

(२) वियोगात्मक—भारोपीय परिवार की अधिक भाषाएँ आधुनिक काल में वियोगात्मक हो गई हैं। बहुत पहले उनकी विभक्तियाँ धीरे-धीरे घिस कर लुप्तप्राय हो गईं, अतः अलग से शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ने लगी और इस आवश्यकता के कारण परसर्ग तथा सहायक क्रिया के रूप में शब्द रखे जाने लगे। ऊपर हम लोग संस्कृत भाषा का 'सः पठति' संयोगात्मक उदाहरण देख चुके हैं। शब्द 'है' वहाँ 'पठति' में ही था, किन्तु अब उसे अलग से ('पढ़ता है') लगाने की आवश्यकता पड़ गई है। परसर्ग या कारक-चिह्नों के विषय में भी यही बात है।

अंग्रेजी, हिन्दी, बँगला आदि वियोगात्मक भाषाएँ हैं। कुछ लोगों का कथन है कि आधुनिक भारोपीय वियोगात्मक भाषाएँ पुनः संयोगावस्था की ओर जा रही हैं और सम्भव है कि अपना वृत्त पूरा कर ये पुनः पूर्ण संयोगात्मक हो जायँ।

ऊपर भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण को वर्गों, उपवर्गों तथा उसके भेदों-उपभेदों के साथ समझाया गया है। स्थान-स्थान पर विभिन्न भाषाओं के उदाहरण भी दिये गए हैं। उदाहरणों का यह आशय नहीं समझना चाहिये कि जिस भाषा से ये लिये गये हैं वह भाषा पूर्णरूपेण उस विशेष वर्ग, उपवर्ग या उसके भेद-विभेद से सम्बद्ध है। कोई भी भाषा पूर्णरूपेण अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट, अयोगात्मक या योगात्मक आदि नहीं कही जा सकती। किसी वर्ग या उपवर्ग के लक्षण किसी भाषा में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में मिलने पर प्रायः वह भाषा उस वर्ग या उपवर्ग आदि की मान ली जाती है। कहीं-कहीं अपवाद-स्वरूप भी किसी वर्ग या उपवर्ग आदि के उदाहरण भाषा में मिल गये हैं, और

उन्हें समझने के लिये दे दिया गया है। ऐसे स्थलों में स्पष्टता के लिए 'अपवाद-स्वरूप' या इसी भाव के अन्य शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है।

कुछ विद्वानों[1] ने आकृति की दृष्टि से भाषाओं को तीन वर्गों में रखा है—(क) योगात्मक, (ख) अयोगात्मक (ग) विभक्तियुक्त। कहना न होगा कि तत्वतः 'विभक्ति-युक्त' वर्ग 'योगात्मक' में ही समाहित हो जाता है। योगात्मक में 'प्रकृति' (अर्थ-तत्व) और 'प्रत्यय' (संबंध-तत्व) का योग होता है और दोनों स्पष्ट रहते हैं। किन्तु 'विभक्ति-प्रधान' में वे इतने मिल जाते हैं कि उन्हें पहचानना असम्भव-सा हो जाता है। इस प्रकार 'योग' दोनों में ही है, एक में 'तिलतंडुल' के समान और दूसरे में 'पानी-दूध' के समान, अतः दोनों योगात्मक हैं। यहाँ यह भी जोड़ देना अन्यथा न होगा कि ऊपर जिस वर्गीकरण को विस्तार से देखा गया है उसमें योगात्मक के तीसरे भेद 'श्लिष्ट' के अन्तर्गत इस 'विभक्तियुत्त' वर्ग को रखा जा सकता है।

कुछ अन्य विद्वान[2] भाषा की आकृति के आधार पर चार वर्ग बनाने के पक्ष में हैं—(१) व्यास-प्रधान, (२) समास-प्रधान, (३) प्रत्यय-प्रधान; (४) विभक्ति प्रधान। इनमें 'व्यास-प्रधान' वर्ग प्रस्तुत पुस्तक में अपनाये गये वर्गीकरण में 'अयोगात्मक' का ही दूसरा नाम है। शेष तीन दूसरे वर्ग 'योगात्मक' में समाहित हो जाते हैं। डॉ० श्याम-सुन्दरदास ने भी इस ओर संकेत-सा किया है, जहाँ वे अपने प्रथम वर्ग को 'निरवयव' तथा शेष तीन को 'सावयव' की संज्ञा देते हैं, या तात्त्विक रूप से भाषा को आकृति की दृष्टि से 'निरवयव' और 'सावयव' इन दो वर्गों में बाँटते हैं। फिर 'सावयव' के 'समास-प्रधान', 'प्रत्यय-प्रधान' और 'विभक्ति-प्रधान' ये तीन भेद करते हैं।

इस प्रकार तात्विक दृष्टि से भाषा के केवल दो ही आकृतिमूलक वर्ग बन सकते हैं। अन्य सारे किसी न किसी रूप में उन्हीं के अन्तर्गत आ जायेंगे। हाँ, व्यावहारिक दृष्टि से एक दर्जन से भी ऊपर भेद किये जा सकते हैं।

आकृति की दृष्टि से हिन्दी

पश्चिमी विचारकों ने आकृति की दृष्टि से 'हिन्दी' पर तो नहीं विचार किया है किन्तु 'अंग्रेजी' पर अवश्य विचार किया है। सौभाग्य से आकृति की दृष्टि से 'हिन्दी' 'अंग्रेजी' से बहुत समानता रखती है। स्वीट अंग्रेजी को आयोगी-श्लिष्ट-योगात्मक (analytic inflectional) कहते हैं। हिन्दी को भी इसी वर्ग में रख सकते हैं। इसका आशय यह है कि हिन्दी में 'अयोग' के भी लक्षण हैं, जैसे स्थान के कारण अर्थ का निर्धारण, या परसर्गों या सहायक क्रिया का अलग रहना, पर साथ ही संस्कृत के बहुत से शब्दों को गृहीत करने या उसी की तरह अपने रूपों (विशेषतः प्रत्यय, उपसर्ग लगाकर शब्द या विभक्ति लगाकर क्रिया) का निर्माण करने के कारण 'योग' के भी लक्षण हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के लक्षणों के मिलने के कारण यह दोनों के बीच में

१ डॉ० मंगलदेव शास्त्री आदि।

२ डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि।

है, यद्यपि 'अयोगात्मकता' की ओर अधिक झुकी है। फिर भी यह उतनी अयोगात्मक नहीं है, जितनी कि चीनी आदि हैं। कुछ लोग संस्कृत, ग्रीक आदि की तुलना में हिन्दी या अंग्रेजी को 'वियोगात्मक' भाषा (analytic language) कहते हैं, क्योंकि इनमें अलग से सहायक क्रिया या कारक-चिह्न आदि रखे जाते हैं, और दूसरी ओर संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि को 'संयोगात्मक' भाषा (synthetic language) कहते हैं। कहना न होगा कि इस प्रसंग में ये दोनों क्रम से 'अयोगात्मक' और 'योगात्मक' के ही नाम हैं।

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है भाषाओं के इतिहास के आधार पर कुछ लोगों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक से श्लिष्ट योगात्मक, श्लिष्ट योगात्मक से अश्लिष्ट योगात्मक और अश्लिष्ट योगात्मक से आयोगात्मक या वियोगात्मक हो जाती हैं। यह स्थिति भी स्थायी नहीं रहती और फिर उलटे इस क्रम में विकास करती हुई भाषाएँ प्रश्लिष्ट हो जाती हैं। विद्वानों के इस विचार से सहमत होना कुछ कठिन ज्ञात होता है। प्रश्लिष्ट योगात्मक से अयोगात्मक की ओर तो सभी भाषाएँ जाती हैं, इसी प्रकार संस्कृत से हिन्दी बनी है, किन्तु इसके विरुद्ध अयोगात्मक से प्रश्लिष्ट योगात्मक की ओर जाने के प्रमाण देखने में नहीं आते। किसी एक-दो भाषा में इस प्रकार के दो-चार रूपों की बात सर्वथा भिन्न है किंतु, मेरे विचार में उनके आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

उपयोगिता—आकृतिमूलक वर्गीकरण की तात्विक या व्यावहारिक कोई भी उपयोगिता नहीं है, इसीलिये भाषा के अध्ययन में अब इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कुछ लोगों का कहना है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण से भाषाओं की आकृति के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है किन्तु यह भी मान्यता प्रायः व्यर्थ-सी है। सूक्ष्मता से देखा जाय तो हर भाषा की आकृति-सम्बन्धी अपनी विशेषताएँ अलग होतीं हैं। दो, तीन या चार वर्गों या दस-बीस उपवर्गों में बाँटने से संसार की भाषाओं की वास्तविक आकृति का पता नहीं लग सकता।

पारिवारिक वर्गीकरण

आधार—ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि आकृतिमूलक या रूपात्मक वर्गीकरण में ध्यान केवल भाषा की आकृति, रचना या रूप पर होता है—हम यह देखते हैं कि पद, शब्द या वाक्य का निर्माण कैसे होता है तथा सम्बन्ध-तत्व किस रूप में आता है—किन्तु पारिवारिक (ऐतिहासिक, उत्पत्तिमूलक या वंशानुक्रमिक) वर्गीकरण में हमारा ध्यान उपर्युक्त प्रकार की रचना के अतिरिक्त अर्थ-तत्व पर भी जाता है। दूसरे शब्दों में एक वंश या परिवार में केवल वे भाषाएँ स्थान पाती हैं, जिनमें आकृति के अतिरिक्त शब्दों में भी अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से साम्य होता है। पिछले अध्याय में भाषा के विविध रूप पर विचार करते समय मूल भाषा और उससे निकली भाषाओं या बोलियों के बारे में कहा जा चुका है। उसे समक्ष रखते हुए यह

कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति से उत्पन्न संतान से जिस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी में अनेक लोग उत्पन्न हो जाते हैं और सभी अन्ततः एक परिवार के कहे जाते हैं, उसी प्रकार एक मूल भाषा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी में अनेक भाषाएँ और बोलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे सब एक परिवार की कही जाती हैं। इस प्रकार की, एक परिवार की भाषाओं और बोलियों में आकृति और शब्द या सम्बन्ध-तत्व और अर्थ-तत्व का साम्य सर्वथा स्वाभाविक है।

यदि गहराई से देखें तो कहा जा सकता है कि एक परिवार की भाषाओं में (१) शब्द-समूह (शब्द और अर्थ), (२) व्याकरण-रचना (संबन्ध-तत्व) और (३) ध्वनि की समानता हो सकती है। इनमें प्रायः सबसे कम महत्वपूर्ण ध्वनि की समानता होती है[1] क्योंकि विकास या प्रभाव के कारण इसमें प्रायः परिवर्तन होता रहता है, फिर भी अन्य समानताओं के मिलने पर ध्वनियों के आधार पर संबंध को और निश्चित किया जा सकता है। व्याकरण और शब्द-समूह में, शब्द-समूह का अपेक्षाकृत कम महत्व है, क्योंकि भाषा में विकास और प्रभाव के कारण शब्द-समूह में भी परिवर्तन आता है, अतः एक परिवार की भाषाएँ भी प्रायः शब्द-समूह में पर्याप्त भिन्नता रखती हैं। (जैसे रूसी और हिन्दी)। दूसरी ओर दो या अधिक परिवार की दो या अधिक निकटस्थ भाषाएँ आपसी आदान-प्रदान के कारण आपस में शब्द-समूह की पर्याप्त समानता रखती हैं (जैसे मराठी और कन्नड़)[2]। व्याकरण की समानता अपेक्षया बहुत अधिक स्थायी है। कितनी ही शीघ्रता से विकास क्यों न हो और किसी समीप या दूर की भाषा का कितना भी प्रभाव क्यों न पड़े; भाषा की रचना या व्याकरणिक आकृति में परिवर्तन (ध्वनि और शब्द-समूह की तुलना में) बहुत धीमा होता है। इसी कारण भाषाओं को

---

१ कुछ विद्वानों ने इन तीनों में ध्वनि को सबसे महत्वपूर्ण माना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रायः जो शब्द गृहीत किये जाते हैं, उनमें नई ध्वनियों के स्थान पर अपनी पुरानी ध्वनियाँ रख ली जाती हैं, किन्तु परिवर्तन भी होता है। हिन्दी में ऑ, क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियाँ ऐसे ही आई हैं। यदि अनुपात निकाला जाय तो सबसे स्थायी तो व्याकरण है। ध्वनि और शब्द में कभी किसी को प्राथमिकता दी जा सकती है, और कभी किसी को।

२ शब्द-समूह की तुलना में प्रमुख गड़बड़ियाँ तीन हैं—

(क) सम्भव है दोनों भाषाओं में दो मिलते-जुलते शब्द किसी तीसरी भाषा से आए हों, जैसे रूसी chai और तुर्की chay। इन दोनों में यह शब्द चीनी से लिया गया है। अतः इसके या ऐसे शब्दों के आधार पर दो भाषाओं को एक परिवार का नहीं माना जा सकता। तुर्की और हिन्दी में अरबी के बहुत से शब्द हैं, किन्तु इस समानता के कारण उन्हें एक परिवार का नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आपस में आदान-प्रदान के कारण भी शब्द-साम्य सम्भव है। अरबी-फारसी, मराठी-कन्नड़ ऐसी ही भाषाएँ हैं, किन्तु उन्हें एक परिवार का नहीं माना जा सकता।

एक परिवार में रखने के लिए उनके व्याकरण का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अनुशीलन बड़ा जरूरी है। ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर उनके बहुत से रूपों के जनक उस आदि रूप का पता लगाया जा सकता है, जो उस मूल या आदि भाषा का होगा, जिससे कि दोनों (या अधिक) भाषाएँ निकली हैं।

शब्द-समूह की समानता का प्रश्न कुछ और विस्तार से विचारणीय है। किसी भी भाषा का शब्द-समूह कई प्रकार का होता है। एक तो आधार या मूल शब्द-भंडार होता है, जिसमें सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द (माता-पिता आदि)[1], सामान्य घर-गृहस्थी में प्रयुक्त शब्द (आग-पानी आदि); अंगों के नाम (हाथ, मुँह, आँख आदि), सर्वनाम (मैं, तुम आदि), संख्यावाचक विशेषण (एक, दो, तीन आदि) तथा दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाएँ (उठना-बैठना, खाना-पीना आदि) आदि आती हैं। शब्द-समूह का यह वर्ग अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है, और इसमें प्रायः परिवर्तन नहीं होता। साथ ही यह शब्द-भंडार अन्य भाषाओं से प्रभावित भी बहुत कम ही होता है। इसीलिए शब्द-भंडार की समानता के आधार पर दो भाषाओं को एक परिवार का मानने में इसी वर्ग पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। इसमें अगर साम्य है, तो भाषाओं के एक परिवार के होने की सम्भावना पर्याप्त होती है। शब्द-समूह का शेष भाग उच्च, उच्चतर, उच्चतम आदि कई अन्य प्रकारों का होता है, किन्तु वह भाषा के आरंभिक रूप से संबंध नहीं रखता। साथ ही उस पर पारिवारिक दृष्टि से असंबद्ध भाषाओं (जैसे हिन्दी में अरबी, तुर्की आदि) के प्रभाव की भी पूरी संभावना रहती है। अतः इस दृष्टि से बिल्कुल भी विश्वासनीय नहीं होता।

व्याकरणिक दृष्टि से समानता रखने वाले सबसे अधिक विश्वसनीय शब्द क्रिया और सर्वनाम हैं, क्योंकि प्रायः एक भाषा से दूसरी में संज्ञा और कभी-कभी विशेषण आदि तो लिए जाते हैं, किन्तु क्रिया और सर्वनाम प्रायः नहीं या कम लिये जाते हैं।

शब्दों का समानता पर विचार करते समय इस बात का भी ध्यान रखना

(ख) सम्भव है दोनों भाषाओं के मिलते-मिलते शब्द किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक सम्बन्ध न रखते हों, और केवल ध्वनि-परिवर्तन होते-होते उनमें आकस्मिक समानता आ गई हो, जैसे अंग्रेजी near; भोजपुरी नियर; संस्कृत निकट; या संस्कृत सूप, अं० soup आदि।

(ग) अनुकरण के आधार पर बने शब्दों में प्रायः समानता होती है, पर वह भी इस दृष्टि से व्यर्थ है जैसे, मिस्री म्याऊँ, हिन्दी म्याऊँ और चीनी म्याऊँ = बिल्ली.

इसका आशय यह भी हुआ कि समानता-निर्धारण में भाषाओं का इतिहास, उनका आपसी सम्बन्ध तथा अन्य भाषाओं से उनका सम्बन्ध भी विचार्य है।

१. संस्कृत पितृ (पिता), ग्रीक pater, लैटिन pater, फ्रेंच pere, स्पेनिश padro, जर्मन Vater, पुरानी अंग्रेजी Faeder, अंग्रेजी father, फारसी पिदर, हिन्दी पिता, तथा पंजाबी पिउ आदि।

आवश्यक है कि वे शब्द यथासाध्य तद्भव हों। तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्द उस रूप में या उस सीमा तक किसी भाषा के अपने नहीं होते, जिस रूप में तद्भव होते हैं। तत्वतः तत्सम को तो विदेशी या विजातीय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

व्याकरण की समानता में प्रमुखतः तीन बातें विचार्य हैं—(१) धातु से शब्द बनाने की समानता, (२) मूल शब्द से पूर्वसर्ग (Prefix) मध्यसर्ग (infix) तथा अंतसर्ग (suffix) आदि जोड़कर अन्य शब्दों के बनाने की समानता, तथा (३) वाक्य-रचना की समानता।

ऊपर की बातों को निष्कर्ष-स्वरूप संक्षेप में कहा जा सकता है कि दो भाषाओं को एक परिवार का सिद्ध करने के लिए निम्नांकित बातें आवश्यक हैं—(१) ध्वनियों की समानता। (२) यदि कुछ ध्वनियाँ भिन्न हैं तो (क) किसी भाषा के प्रभाव या (ख) स्वाभाविक विकास के आधार पर उनके आगमन के कारण की प्राप्ति या उनका इतिहास-दर्शन। (३) शब्दों (प्रमुखतः मौलिक शब्द-भंडार के संज्ञा, क्रिया (धातु), सर्वनाम और संख्यावाचक विशेषण) में ध्वनि और अर्थ की समानता। (४) दोनों भाषाओं के इतिहास द्वारा इस बात का निर्णय कि शब्दों या ध्वनियों की समानता आपसी सम्बन्ध या किसी अन्य भाषा के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण तो नहीं है। (५) धातु या मूल शब्द में कुछ व्याकरणिक तत्व जोड़ (या घटा कर) अन्य शब्दों के बनाने की प्रक्रिया की समानता। (६) वाक्य-रचना की समानता।

वर्गीकरण

१७वीं सदी में जब यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत का पता चला और उन्होंने ग्रीक और लैटिन आदि के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किया, तो इस बात का निश्चय हुआ कि इतनी समानता आकस्मिक नहीं है। निश्चय ही ये सभी भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली हैं। भाषाओं के वैज्ञानिक तथा पारिवारिक वर्गीकरण का आरम्भ यहीं से होता है। इसके पहले प्रायः पुराने धार्मिक लोग संसार की सारी भाषाओं को एक परिवार की मानते थे। किसी के अनुसार आदि और मूल भाषा संस्कृत थी और संसार की सभी भाषाएँ इसी से निकली थीं, तो किसी के अनुसार हिब्रू की यही स्थिति थी और किसी के अनुसार फ्रीजियन या अरबी आदि की।

ऊपर पारिवारिक वर्गीकरण के आधारों पर प्रकाश डाला गया है। उससे स्पष्ट है कि अच्छी तरह तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के उपरान्त ही इस सम्बन्ध में निश्चित निर्णय दिया जा सकता है। इतना गहरा और विस्तृत अध्ययन केवल भारोपीय, सेमिटिक या द्रविड़ आदि कुछ ही परिवारों का हुआ है। ऐसी स्थिति में इन दो-तीन के बारे में तो निश्चय के साथ कहा जा सकता है, किन्तु शेष भाषाओं के परिवार के बारे में कहना कठिन है। १८२२ में जर्मन विद्वान विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ट ने इस बात पर विस्तार से विचार करके संसार में कुल १३ परिवार माने थे। पार्टरिज के अनुसार १० ही परिवार हैं। आधुनिक विद्वान राइस (Reiss) एक परिवार मानने के पक्ष में

हैं। ये २६ मानते हैं। भारतीय विद्वानों ने यह संख्या १० और १८ के बीच में दी है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वानों के अनुसार संसार में इस समय लगभग १०० परिवार हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार केवल अमेरिका में ही १०० परिवार हैं। इस प्रकार एक से कई सौ के बीच विद्वान् घूम रहे हैं, किन्तु सत्य यह है कि अभी तक संसार भर की भाषाओं का ठीक से अध्ययन (तुलनात्मक और ऐतिहासिक) नहीं हुआ है, अतः उपर्युक्त सारे मत प्रायः अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

हाँ मोटे रूप से यह अवश्य कहा जा सकता है कि संसार के प्रमुख भाषा-परिवार ये हैं—

(१) भारोपीय, (२) सैमिटिक, (३) हैमेटिक, (४) यूराल-अल्टाइक, (५) चीनी या एकाक्षरी, (६) द्राविड़, (७) मलय-पालिनीशियन, (८) बांटू, (९) बुशमैन, (१०) सूडानी, (११) आस्ट्रेलियन पापुवन, (१२) रेड-इंडियन, (१३) काकेशी, (१४) जापानी-कोरियाई (कुछ विद्वान् नं० ७, ११ तथा १४ को दो-दो परिवार तथा २, ३ को एक मानते हैं)।

इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण का प्रश्न काफी उलझा हुआ है, और यहाँ सभी परिवारों पर एक ओर से प्रकाश डालना कठिन-सा है। स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से भूगोल के आधार पर संसार की भाषाओं को कुछ खंडों में बाँट कर चलना कदाचित् अधिक सुविधाजनक होगा। इन खंडों में विभिन्न भाषा-परिवार सम्मिलित हैं, पर, एक खंड की भाषाओं ने आपस में एक-दूसरे को काफी प्रभावित किया है, चाहे वे विभिन्न परिवार की ही क्यों न हों, अतः इस दृष्टि से भाषाओं को समझने के लिए भी खंडों में बाँट लेना समीचीन होगा।

भाषा-खंड

विश्व के भाषा-खंडों की संख्या चार है—(१) अफ्रीका-खंड, (२) यूरेशिया-खंड, (३) प्रशांत महासागरीय खंड; और (४) अमरीका-खंड।

इन पर यहाँ अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(१) अफ्रीका-खंड

अफ्रीका-खंड में प्रधानतः पाँच भाषा-परिवार हैं—(क) बुशमैन, (ख) बांटू, (ग) सूडान वर्ग, (घ) हैमिटिक या हामी, और (ङ) सैमिटिक या सामी।

(क) बुशमैन

दक्षिणी अफ्रीका में ऑरेंज नदी से नगामी झील तक बसने वाले मूल निवासी बुशमैन जाति के कहे जाते हैं। इनकी भाषाओं के परिवार को बुशमैन कहते हैं। अलग-अलग वर्गों में रहने के कारण इन लोगों में बहुत-सी भाषाएँ और बोलियाँ विकसित हो गई हैं। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि यह कोई एक परिवार नहीं है अपितु कई परिवारों का वर्ग है। इसीलिए कुछ लोग इसे 'बुशमैन परिवार' न कह कर 'बुशमैन वर्ग' कहते हैं। ये भाषाएँ अश्लिष्ट-अन्त-योगात्मक रही हैं, किन्तु अब धीरे-

धीरे अयोगात्मक हो रही हैं। इन भाषाओं ने आस-पास के बांटू एवं सूडान परिवारों को काफी प्रभावित किया है। जुलू के ध्वनि-समूह पर भी इनका प्रभाव है। नामा, खीरा आदि होटेन्टोट भाषाएँ भी इसी के अन्तर्गत हैं, जिन पर हैमिटिक परिवार का प्रभाव अधिक है, और संभवतः इसी कारण वे अपनी अलग विशेषताएँ भी रखती हैं।

बुशमैन परिवार की प्रधान विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाओं में 'क्लिक' या 'अंतःस्फोटात्मक' ध्वनियाँ मिलती हैं। (२) इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर न आधारित होकर सजीव और निर्जीव पर आधारित है। परिशिष्ट में देखिये 'ध्रुवाभिमुख नियम' (३) बहुवचन बनाने के लिए यहाँ कोई एक दो नियम नहीं है। चालीस-पचास तरीकों का प्रयोग किया जाता है और वे भी बड़े अव्यवस्थित हैं। कभी-कभी जापानी आदि की भाषाओं की भाँति संज्ञा (एकवचन) की पुनरुक्ति करके भी बहुव चन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए यदि घोड़ा का बहुवचन बनाना हुआ तो 'घोड़ा-घोड़ा' कर देते हैं।

(ख) बांटू परिवार

इस परिवार को वांटू संज्ञा इसलिये दी गई है कि इसकी सभी भाषाओं में आदमी के लिये कुछ ध्वनि-परिवर्तनों के साथ 'वांटू' शब्द ही प्रचलित है। यह परिवार मध्य और दक्षिणी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग तथा जंजीबार द्वीप आदि में फैला है। सुनने में ये भाषाएँ बड़ी मधुर हैं। शायद इसका कारण यह है कि इनमें संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम होता है और सभी शब्द स्वरांत होते हैं।

बांटू परिवार की प्रमुख विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट-पूर्व-योगात्मक हैं। शब्द वाक्य में अलग-अलग रहते हैं। पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर होती है। आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम इसका उदाहरण देख चुके हैं। (२) इन भाषाओं में लिंग-विचार प्रायः नहीं के बराबर है। (३) कभी-कभी अर्थ की विभिन्नता स्वरों के ही अन्तर से हो जाती है, जैसे 'होफिनेल्ला' का अर्थ 'बाँधना' है पर 'होफिनोल्ला' का अर्थ बिल्कुल उलटा 'खोलना' हो जाता है। (४) कोमलता और मधुरता इस वर्ग के प्रधान गुण हैं जो कि उधार शब्दों में भी परिवर्तन लाकर स्वानुकूल बना लेते हैं। बेचारे 'क्राइस्ट' वहाँ जाकर 'किरिसित' हो गये हैं। (५) इस परिवार की भाषाओं के साधारण वाक्यों में भी कविता की भाँति ध्वनि-सामंजस्य रहता है। वाक्य के एक शब्द में उपसर्ग लगाकर उसी के वजन पर सभी शब्दों में परिवर्तन कर लिया जाता है। (६) इस परिवार की दक्षिणी-पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ भी मिलती हैं।

विभाजन—बांटू परिवार में लगभग डेढ़ सौ भाषाएँ हैं, जिनमें से प्रधान भाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

वांटू परिवार—
- —पूर्वी वर्ग (काफिर, जुलू, किसुअहिली, किर्कावा इत्यादि)
- —मध्य वर्ग (सेचुना, सेसुतो, सेरोलांग, तेकेज़ा इत्यादि)
- —पश्चिमी वर्ग (हरेरो, वुन्दा, कांगो, इसुवु, दुअल्ला आदि)

(ग) सूडान वर्ग

पहले सूडान एक परिवार समझा जाता था, पर डब्ल्यू० श्मिट ने स्पष्ट रूप से

दिखला दिया है कि यह एक वर्ग है और इसमें सात परिवार हैं। इस वर्ग की भाषाएँ अफ्रीका में भूमध्यरेखा के उत्तर और हैमिटिक परिवार के दक्षिण, पूरब से पश्चिम तक पतले भाग में फैली हैं। इसकी कुछ भाषाएँ लिपिबद्ध भी हैं। कुछ बातों में यह वर्ग बांटू से मिलता-जुलता है।

सूडान वर्ग की भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ (१) चीनी भाषा की भाँति ये अयोगात्मक हैं। विभक्तियाँ बिल्कुल नहीं पाई जातीं। धातुएँ उसी प्रकार एकाक्षर हैं। (२) इनमें बहुवचन बहुत स्पष्ट नहीं है। कभी-कभी अन्य पुरुष (वे लोग, ये लोग) या 'लोग' के समानार्थी शब्दों को जोड़कर संज्ञा को बहुवचन बना लेते हैं। ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके भी कभी-कभी बहुवचन को प्रकट कर लेते हैं, जैसे रॉर=वन और रोर=बहुत से वन। किन्तु यह सब बहुत कम दिया जाता है। (३) लिंग के विषय में भी यही बात है। कुछ खास शब्द लिंग-बोधक होते हैं, जिन्हें जोड़कर शब्दों को लिंग प्रदान किया जाता है। (४) पूर्वसर्ग (preposition) के अभाव के कारण संयुक्त या मिश्रित वाक्यों की रचना यहाँ नहीं हो पाती, अतः उसे तोड़कर लोग साधारण बना लेते हैं, जो छोटा-सा होता है और जिसमें केवल एक क्रिया होती है। उदाहरणार्थ, यदि इन लोगों को 'वह जहाज पर से समुद्र में कूदा' कहना होगा तो इसे ३ वाक्यों में (वह कूदा। जहाज के भीतरी भाग को छोड़ा। समुद्र में गिरा।) कहेंगे। (५) ऊपर हम कह चुके हैं कि इस परिवार की धातुएँ चीनी की भाँति एकाक्षर होती हैं, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से कुछ भिन्न होती हैं। इनमें वर्णनात्मकता होती है। साथ ही ये ध्वन्यात्मक भी होती हैं। यों तो हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में भड़-भड़, तड़-तड़ आदि ध्वन्यात्मक शब्द होते हैं जो ध्वनि को व्यंजित करते हैं, किन्तु इन भाषाओं में धातु या शब्द केवल ध्वनि को ही प्रकट नहीं करते अपितु रूप, गति, अवस्था और यहाँ तक कि रंग का भी चित्र खींच देते हैं। ये अधिकतर क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु कभी-कभी विशेषण रूप में भी। इस वर्ग की भाषाओं में ऐसे शब्द सबसे अधिक हैं। कुछ क्रिया-विशेषणों के उदाहरण लिये जा सकते हैं। ये क्रिया-विशेषण 'जो' (=चलना) धातु की विशेषता प्रकट करते हैं—

कक—सीधा

त्यत्य—जल्दी-जल्दी

सिसि—छोटे-छोटे कदम रखकर, आदि।

हम लोग इनके सुनने के बहुत अभ्यस्त नहीं हैं, फिर भी थोड़ा ध्यान दें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों की ध्वनि अपने अर्थ को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है। (६) चीनी भाषा की ही भाँति यहाँ भी सुर या तान (tone) के परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

विभाजन—सूडान परिवार में सवा चार सौ से अधिक भाषाएँ हैं, जिनमें वोलोफ, इव, फ्यूल, हौसा, मोम तथा नूबी आदि प्रधान हैं। इस परिवार की भाषाएँ मुख्यतः चार वर्गों में रखी जा सकती हैं :—

सूडान परिवार—
- —सेनेगल भाषाएँ (वोलोफ)
- —ईव भाषाएँ (ईव, अशान्ती, यरुबा आदि)
- —मध्यवर्ती भाषाएँ (हौसा, सोंघराई आदि)
- —नीलोत्तरी भाषाएँ (बारी, डंका आदि)

(घ) हैमिटिक परिवार

उत्तरी अफ्रीका के संपूर्ण प्रदेश में यह फैला है। इसके कुछ बोलने वाले मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तक पहुँच गये हैं, अतः उत्तरी अफ्रीका के अतिरिक्त छिट-पुट कुछ अन्य छोटे-छोटे प्रदेशों में भी इस परिवार की भाषाएँ पायी जाती हैं। इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार नोह के दूसरे पुत्र हैम अफ्रीका के कुछ लोगों के आदि पुरुष माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर इस कुल का नाम 'हैमिटिक' पड़ा है। इस परिवार की बहुत-सी भाषाएँ अब नष्ट हो चुकी हैं, और अब उन क्षेत्रों में सेमिटिक परिवार की भाषाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। इस परिवार की अधिकतर वर्तमान बोलियाँ अन्य परिवारों से प्रभावित हैं। हौसा (मध्य अफ्रीका की राष्ट्रभाषा) जिसका नाम हम लोग सूडान परिवार के अन्तर्गत ऊपर ले चुके हैं, कुछ विद्वानों के अनुसार इसी कुल की है, और सूडानी परिवार से अधिक प्रभावित होने के कारण ही सूडानी ज्ञात होती है।

हैमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट-योगात्मक हैं। (२) पद बनाने के लिए इन भाषाओं में प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं, किन्तु ऐसा केवल क्रिया के साथ ही होता है। संज्ञा में प्रत्यय ही लगाये जाते हैं। (३) इन भाषाओं में स्वर-परिवर्तन मात्र से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। जैसे 'गल' का अर्थ होता है 'भीतर जाना' पर 'गेलि' का अर्थ होता है 'भीतर रखना'। (४) जोर देने के लिए इनमें पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'लव' का अर्थ 'मोड़ना' होता है, पर बार-बार मोड़ने के लिए 'लव-लव' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार गोद (काटना) और गोगोद (बार-बार काटना) भी हैं। (५) इन भाषाओं में, क्रिया-रूपों से ठीक-ठीक काल का बोध नहीं होता, बल्कि पूर्णता और अपूर्णता का बोध होता है। समय का ठीक बोध कराने के लिए अन्य सहायक शब्दों की सहायता लेनी पड़ती है। (६) इस परिवार में लिंगभेद 'नर' और 'मादा' पर आधारित नहीं है, और साथ ही वह भारोपीय भाषाओं की भाँति बहुत अव्यवस्थित भी नहीं है। सामान्यतः बड़ी और बली वस्तुएँ पुल्लिंग समझी जाती हैं, और इसके उलटे निर्बल और छोटी स्त्रीलिंग। प्यार करने योग्य तथा कोमल वस्तुएँ भी स्त्रीलिंग मानी जाती हैं। तलवार, कड़ी और मोटी घास, चट्टान तथा हाथी आदि पुल्लिंग हैं, किन्तु चाकू, नरम और पतली घास, पत्थर के टुकड़े तथा छोटे-छोटे जानवर स्त्रीलिंग हैं। (७) बहुवचन बनाने के यहाँ कई तरीके हैं, साथ ही बहुवचन के समूहात्मक और असमूहात्मक आदि कई भेद भी हैं। लिसा (=आँसू, एकवचन), लिस् (=आँसू का असमूहात्मक बहुवचन) और लिस्से (=आँसू का समूहात्मक बहुवचन)। छोटे

पदार्थ या कीड़े आदि बहुवचन समझे जाते हैं। उनको एक वचन में लाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं। ऊपर हम लोग लिस् और लिसा देख चुके हैं। बिल् (पतिंगे) और बिला (पतिंगा) भी उदाहरण-स्वरूप लिए जा सकते हैं। इस परिवार की केवल 'नामा' भाषा में द्विवचन है। (८) यहाँ की सबसे विचित्र और अभूतपूर्व विशेषता यह है कि संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित हुई समझी जाती है, अर्थात् किसी एक वचन पुल्लिग संज्ञा को बहुवचन बनाते हैं तो लिंग विचार से वह स्त्रीलिंग हो जाती है। इस नियम को भाषा-वैज्ञानिकों ने ध्रुवाभिमुख नियम कहा है। इसके अनुसार माता स्त्रीलिंग है पर माताएँ पुल्लिग और इसी प्रकार शेर पुल्लिग है पर कई शेर स्त्रीलिंग हैं। परिशिष्ट भाग में इस पर विस्तार के साथ विचार किया गया है।

विभाजन

हैमिटिक परिवार—
- —मिस्र शाखा (प्राचीन मिस्री तथा काप्टिक आदि)
- —एथिओपिक शाखा (बेदीय, खामीर, सोमाली, गल्ला, साहू बेजा आदि)
- —लिबियिन शाखा (शिल्हा, तामाशेक, नुमिदिअन आदि)
- — मिश्रित (मसाइ, नामा आदि)
- —फुला
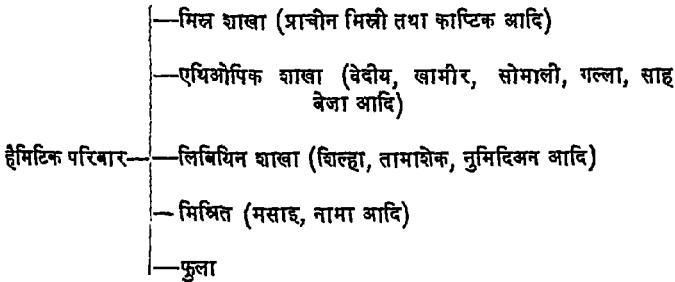
(ङ) सेमिटिक परिवार

अफ्रीका में इस परिवार की शाखा मोरक्को से स्वेज़ नहर तक बोली जाती है। इस परिवार का प्रधान क्षेत्र एशिया है, अतः इस पर यूरेशिया खंड में विचार करना अधिक समीचीन होगा।

(२) यूरेशिया-खंड

इस खंड में प्रधान रूप से सात भाषा-परिवार हैं, पर इनके अतिरिक्त कुछ प्राचीन और नवीन भाषाएँ ऐसी भी हैं, जिनको किसी भी परिवार के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इन अनिश्चित भाषाओं के लिए यदि एक अनिश्चित समुदाय मान लिया जाय तो कुल निम्नांकित आठ शाखाएँ बनती हैं।

(क) सेमिटिक परिवार

ऊपर हैमिटिक पर विचार करते समय हज़रत नोह के छोटे लड़के हैम के नाम से हम लोग परिचित हो चुके हैं। हैम के अग्रज सेम दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के निवासियों के आदि पुरुष कहे जाते हैं। उन्हीं के नाम पर उस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-परिवार का नाम सेमिटिक पड़ा है। इस परिवार की अरबी भाषा ने उत्तरी अफ्रीका पर अपना आधिपत्य जमा लिया है और इस प्रकार यह परिवार अफ्रीका-खंड में भी

आता है। बहुत से विद्वान् हैमिटिक और सेमिटिक को एक ही परिवार मानते हैं। इस एक मानने का आधार दोनों परिवारों के लक्षणों में साम्य का आधिक्य है।

सेमिटिक और हैमिटिक के मिलते-जुलते लक्षण—(१) दोनों ही श्लिष्ट-योगात्मक और अन्तर्मुखी हैं। इनमें पूर्व, मध्य और पर विभक्तियाँ लगती हैं, पर अधिकतर सम्बन्ध-तत्व भीतर होने वाले स्वर-परिवर्तन से ही सूचित हो जाता है। जैसे सेमिटिक की अरबी भाषा में क्-त्-ल्, से क़ितल, क़ित्ल, क़ुतिल, यक़्तुलु, क़ातिल, तथा क़तल आदि अनेक शब्द बनते हैं, जिनमें साधारण स्वर परिवर्तन से ही अर्थ-परिवर्तन हो गया है, (२) दोनों ही परिवारों में अफ्रीका की कुछ भाषाओं की भाँति क्रिया में काल का गौण स्थान है, और पूर्णता और अपूर्णता का प्रमुख, (३) बहुवचन बनाने के लिए दोनों ही कुलों में प्रत्यय लगते हैं, और दोनों के प्रत्ययों का मूल भी लगभग एक ही ज्ञात होता है, (४) 'त' ध्वनि दोनों कुलों में स्त्रीलिंग का चिह्न मानी जाती है। दोनों ही में लिंग-भेद नर-मादा पर अर्थात् प्राकृतिक लिंग पर विशेष न आधारित होकर कुछ अन्य बातों पर आधारित है, (५) दोनों परिवारों के सर्वनामों का मूल भी प्रायः एक ही है।

सेमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ—सेमिटिक और हैमिटिक के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन में इस विषय पर हम कुछ विचार कर चुके हैं, किन्तु दोनों परिवारों की सभी बातें एक-सी नहीं हैं; अतः यहाँ सेमिटिक कुल पर अलग भी विचार कर लेना आवश्यक है : (१) 'माद्दा' (धातु, रूट या अर्थ-तत्त्वबोधक मूल शब्द) प्रायः तीन व्यंजनों[1] का होता है, जैसे क्‌त्‌ब् (लिखना) द्‌ब्‌र् (बोलना) व्‌द्‌ग् (पाना) इत्यादि। हैमिटिक भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती (२) 'माद्दा' के इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद (वाक्य में रखे जाने योग्य शब्द जिनमें अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व दोनों हों) बनते हैं। इस प्रकार भारोपीय परिवार में जो कार्य आंतरिक परिवर्तन तथा प्रत्ययों से लिया जाता है, वह यहाँ स्वरों की सहायता से ही प्रायः हो जाता है, जैसे अरबी में क्‌त्‌ब् 'माद्दा' से कातिब, किताब तथा कुतुब इत्यादि। (३) कभी-कभी इस उपर्युक्त स्वर-परिवर्तन से काम नहीं चलता तो उपसर्ग तथा प्रत्यय की भी आवश्यकता पड़ती है। जैसे प्रेरणार्थक आदि के लिये 'क्‌त्‌ल्' से 'हिक्तिल' 'हि' उपसर्ग जोड़कर बनाना पड़ता है। इसी प्रकार क़्‌त्‌ब् से इस्तक्तब (किसी अन्य से लिखने को कहा) भी बनता है। यहाँ एक बात उल्लेख्य यह है कि भारतीय भाषाओं की भाँति सेमिटिक परिवार की भाषाओं में एक धातु में कई प्रत्यय या उपसर्ग (जैसे अनुकरणात्मकता शब्द में अनु+करण+आत्मक+ता हैं) एक साथ नहीं मिलते। (४) इस परिवार में समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में ही मिलता है और वह भी केवल दो शब्दों का, जैसे, बीर्-शेबा, मलकह-इसरायल आदि। स्थान-क्रम की दृष्टि से भारोपीय समासों से यहाँ की पद्धति

---

१. कुछ माद्दे चार या पाँच व्यंजनों के भी होते हैं। यों कुछ विद्वानों का कहना है कि मूलतः सभी धातुएँ तीन व्यंजनों की थीं।

उलटी है। संस्कृत में 'दधि-सुत' होगा तो यहाँ 'सुत-दधि'। इसी का प्रभाव फ़ारसी और उर्दू पर है और उसमें भी शाहे-फ़ारस (फारस का शाह) जैसे प्रयोग चलते हैं। (५) प्राचीन सेमिटिक भाषाओं में प्रत्यय लगाकर कर्त्ता, कर्म और सम्बन्ध कारक बनते थे, जैसे प्राचीन अरबी में अब्दू, अब्दा। इसी प्रकार बहुवचन और द्विवचन के लिए भी प्रत्यय का प्रयोग होता था, किन्तु अब अलग से शब्द जोड़े जाते हैं, क्योंकि हिन्दी आदि की ही भाँति ये भाषाएँ भी प्रायः वियोगात्मक हो गई हैं। (६) ऊपर हम लोग कह चुके हैं कि हैमिटिक और सेमिटिक दोनों ही में 'त' स्त्रीलिंग का चिह्न है, किन्तु सेमिटिक परिवार में एक बात यह विशेष है कि यह 'त' ध्वनि कुछ भाषाओं में विकसित होकर 'थ' या 'ह' हो गई है। जैसे अरबी में मलक् (राजा) का स्त्रीलिंग मलकह् (रानी) होता है न कि मलकत्। (७) इसी प्रकार कुछ धातुओं में ध्वनि-विकास के ही कारण व्यंजन-लोप हो गया है, जिसके फलस्वरूप वे द्विव्यंजनात्मक हो गई हैं। पर ऐसी द्विव्यंजनात्मक धातुएँ संख्या में अधिक नहीं हैं, अतः इनकी उपस्थिति अपवाद ही समझी जायेगी।

विभाजन
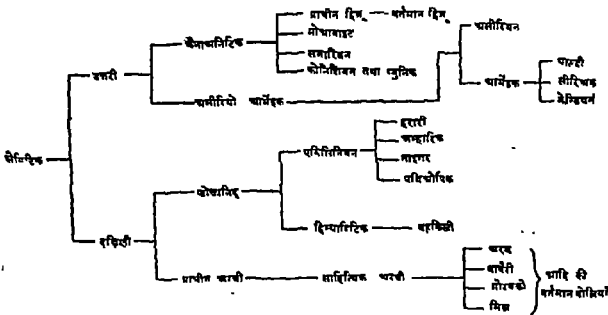
इस परिवार की अरबी भाषा बहुत धनी है। शब्द-समूह के क्षेत्र में अरबी ने फारसी, तुर्की, उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी, फ्रेंच एवं आदि यूरोप की अन्य समुन्नत भाषाओं (अलजब्रा, सिफर, अलकोहल आदि) को प्रभावित किया है।

(ख) काकेशस परिवार

इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र कृष्ण सागर और कैस्पियन सागर के बीच में काकेशस पहाड़ पर पड़ता है। पहाड़ों के बाहुल्य से यहाँ बहुत-सी बोलियाँ विकसित हो गई हैं। ये बोलियाँ एक-दूसरी से इतनी भिन्न हैं कि एक परिवार के अंतर्गत रखने में भी विद्वानों को हिचक मालूम होती है।

प्रधान विशेषताएँ—(१) ऊपर से देखने में ये भाषाएँ श्लिष्ट या विभक्ति-प्रधान ज्ञात होती हैं, किंतु हैं अश्लिष्ट-योगात्मक। इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही

लगाए जाते हैं। (२) इस परिवार की उत्तरी शाखा की भाषाओं में स्वरों की कमी है। (३) पूरे परिवार में कारकों की संख्या काफी बड़ी है। कुछ बोलियों में (अवर आदि) तो तीस-तीस हैं। (४) इसकी कुछ बोलियों (जैसे 'चेचेन') में छः लिंग तक माने जाते हैं। (५) बास्क आदि भाषाओं की भाँति सर्वनाम और क्रिया का भी योग इस परिवार में होता है। जहाँ ऐसा होता है, भाषा आंशिक-प्रश्लिष्ट-योगात्मक हो जाती है।

(६) क्रिया के रूप इस कुल में बहुत जटिल हैं। कभी-कभी तो उन रूपों में मूल धातु का पता पाना भी असंभव-सा हो जाता है। जार्जियन भाषा में 'होना' क्रिया के 'वर्', 'चर्', 'अर्स', 'वर्थ', 'चर्थ', आदि रूपों में 'अर्' धातु का अनुमान किया भी जा सकता है, किंतु खसीकुमुक बोली में 'भार', 'ऊ', 'ऊन्द', 'भान्द' तथा 'अ' आदि रूपों में 'अइ' धातु (=बनाना) का तो कहीं पता ही नहीं चलता।

विभाजन
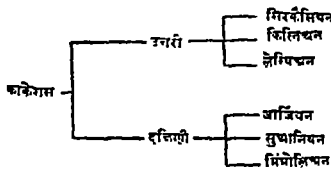
इसकी मुख्य भाषा आर्जियन है।

(ग) यूराल-अल्टाइक परिवार (या समुदाय)

फ़िनो-तातारिक, सीथियन तथा तूरानी आदि भी इसी कुल के नाम हैं, किंतु इनमें कोई भी नाम बहुत उपयुक्त नहीं ज्ञात होता। भौगोलिक दृष्टि से उचित होने के कारण यहाँ यूराल-अल्टाइक नाम स्वीकार किया गया है। इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच में टर्की, हंग्री और फिनलैंड से लेकर पूरब में ओखोत्स्क सागर तक और भूमध्य सागर से लेकर उत्तर में उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र की दृष्टि से भारोपीय परिवार को छोड़ कर संसार का कोई भी परिवार इतना विस्तृत नहीं है। काकेशस परिवार की भाँति इसकी भाषाएँ भी आपस में बहुत अधिक समानता नहीं रखतीं। इसीलिए कुछ लोग यूराल और अल्टाइक दो भाषा-परिवार कहना अधिक उचित समझते हैं। ध्वनि तथा शब्द-समूह की दृष्टि से सचमुच ही ये दोनों भिन्न परिवार प्रतीत होते हैं, किंतु व्याकरण की दृष्टि से इनकी एकता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

यूराल और अल्टाइक के समान लक्षण—(१) इन दोनों (यूराल और अल्टाइक) की भाषाएँ अश्लिष्ट-अंत-योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय जोड़ कर पद बनाए जाते हैं। एक पद बनाने में एक से अधिक प्रत्यय भी जोड़े जा सकते हैं। कुछ भाषाएँ कुछ

दिनों से अश्लिष्ट से श्लिष्ट की ओर आ रही हैं। उदाहरण के लिए, फ़िनिश भाषा को ले सकते हैं। यह तो इतनी आगे बढ़ आई है कि आकृति की दृष्टि से भारोपीय परिवार में रखी जा सकती है। (२) इनकी सभी भाषाओं में धातु अव्यय के समान हैं। उनमें कभी भी विकार नहीं आता और बड़े से बड़े शब्द में भी वह आसानी से पहचानी जा सकती हैं।

(३) इन दोनों में कभी-कभी सम्बन्धवाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में संज्ञाओं के साथ जोड़ दिये जाते हैं।

(४) स्वर-अनुरूपता (vowel harmony) भी दोनों ही में मिलती है। ऐसा होता है कि जब मूल धातु में अनेक प्रत्ययों को जोड़ा जाता है तो उन प्रत्ययों के स्वर धातु के स्वर के 'वजन' पर कर लिए जाते हैं। यहाँ के स्वरों के गुरु स्वर और लघु स्वर दो वर्ग हैं। जब धातु में गुरु स्वर रहता है तो सभी प्रत्ययों के स्वर गुरु कर लिये जाते हैं और नहीं तो लघु। यह संभवतः उच्चारण-सौकर्य के लिए होता है। तुर्की से उदारण ले सकते हैं—

'यज' से 'मक' लगाकर 'यज् मक्' (=लिखना) बनता है।

किंतु 'सेव' से 'मक' लगाकर 'सेवमक' न बन कर सेव्मेक् (=प्यार करना) बनता है। इसी प्रकार 'लर' बहुवचन की विभिक्त है। अत् के साथ मिलकर यह अत्-लर् (=घोड़े) पद बनाती है, किंतु 'एव' के साथ 'एव्लेर' (अनेक घर)।

यह स्वर-अनुरूपता इन भाषाओं में बहुत पुरानी नहीं है। इसका विकास कुछ ही समय से हुआ है। ऊपर दिये गये सभी समान लक्षण व्याकरण के हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि और शब्दों की दृष्टि से इनमें समानता नहीं मिलती। इसीलिए कुछ लोग इसे एक परिवार न कह कर एक समुदाय कहना पसन्द करते हैं।

इसकी मुख्य भाषायें हंग्री की 'मगियार', तुर्की, उजबेक, इस्तोनियन आदि हैं। तुर्की से भारतीय भाषाओं में लगभग सौ शब्द आए हैं। तुर्की की लिपि पहले अरबी थी, अतः वहाँ रोमन स्वीकार कर ली गई है।

विभाजन
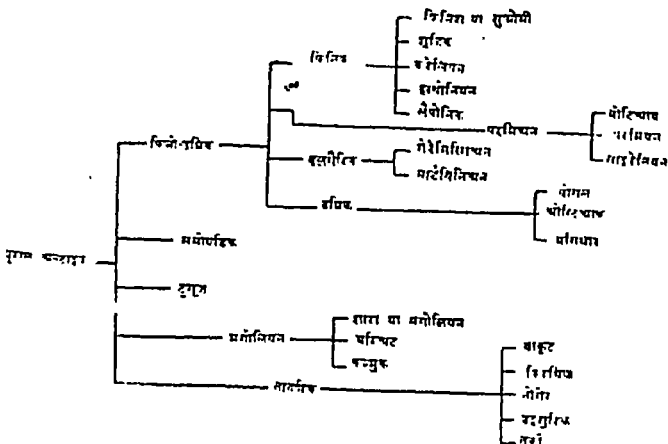
(घ) एकाक्षर परिवार[1]

इसे चीनी परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी है। चीन, स्याम, तिब्बत और ब्रह्मा में यह परिवार फैला है। भारोपीय परिवार के बाद बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से यही परिवार विश्व में सबसे बड़ा है। इस परिवार के प्रमुख लक्षण स्पष्ट रूप से अब केवल चीनी में ही पाये जाते हैं। अन्य भाषायें आर्य तथा अन्य परिवारों से प्रभावित होने के कारण कुछ परिवर्तित हो गई हैं। अतः यहाँ पहले चीनी भाषा को ही लिया जायेगा और इस परिवार की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायेगा।

चीनी भाषा में विश्व का सबसे पुराना साहित्य मिलता है। कुछ को तीन हजार ई० पू० का माना जाता है। चीनी भाषा का जो प्राचीन रूप मिलता है वह आज की चीनी भाषा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसका आशय यह है कि चीनी भाषा बहुत दिनों से प्रायः ज्यों की त्यों पड़ी है, और उसमें कोई भी बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। चीनी लिपि (विस्तार के लिए देखिए लिपि का अध्याय) के संबंध में भी यही बात है। लिपि-विकास की भाव-ध्वनि-मूलक अवस्था (जिसे विकास की तीसरी अवस्था कहा जाता है) को यह अभी तक पार नहीं कर पाई है। इसमें एक शब्द या एक भाव के लिये एक चिह्न होता है, पर अलग-अलग ध्वनि के लिए नहीं। हाँ कुछ थोड़े चिह्न ध्वन्यात्मक अवश्य है 'छिह' (वह) तो चीनी लिपि में लिखा जा सकता है पर 'छि' या 'ह' अलग लिखना चाहें तो सम्भव नहीं है। इतनी कठिनाइयों के रहते हुए भी उसी परिस्थिति में चीनी भाषा इतनी विकसित है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को भी स्पष्टता के साथ अंकित कर सकती है। बौद्ध धर्म-सम्बन्धी बहुत-सा संस्कृत-साहित्य अनूदित होकर इन लोगों के यहाँ रखा हुआ है। इनके अनुवादों में एक विचित्रता यह है कि नामों का भी अनुवाद हो गया है। इसका कारण यह है कि उनकी लिपि ध्वनि को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए 'नरसिंह' नाम ले लें। इसे लिखने के लिए चीनी पंडितों ने 'नर' और 'सिंह' कर लिया, और फिर 'आदमी' और 'शेर' के भाव के शब्द अपनी भाषा से लेकर एक जगह रख दिया, वही नरसिंह या नृसिंह हो गया। भाषा और लिपि की इस विशेषता से लाभ यह हुआ है कि वहाँ का शब्द-समूह प्रायः शुद्ध रूप से उनका अपना है। यदि बाहरी शब्द गया भी है तो अनूदित होकर और चीनी जामा पहन कर।[2]

---

१. चीनी के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं तथा जो उदाहरण आदि दिये गये हैं, प्रायः प्रचीन चीनी से संबद्ध हैं। आधुनिक चीनी बदल गई है।

२. ये बातें प्राचीन चीन के सम्बन्ध में सत्य हैं। अब वहाँ की लिपि में ध्वनि-अंकन की कुछ शक्ति आ गई है और कुछ विदेशी शब्द भी प्रायः मूल रूप में ले लिए गए हैं।

एकाक्षर परिवार की प्रधान विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाएँ स्थान-प्रधान या आयोगात्मक हैं। दो शब्द एक में नहीं मिलते। सम्बन्ध का पता बहुधा शब्द के स्थान से ही चल जाता है। 'हुआ पओ मीन' – राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर यदि इसके उलटा कहना होगा तो वाक्य में और किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करके केवल स्थान-परिवर्तन कर देंगे। 'मीन पओ हुआ'=प्रजा राजा की रक्षा करती है। (२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर (syllable) का होता है। वह एक प्रकार से अव्यय है जो न बढ़ता है और न घटता है और न विकृत ही होता है। वाक्य में चाहे जहाँ भी चाहें उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा। इन एकाक्षर शब्दों की संख्या चीनी भाषा में पाँच सौ और एक हजार के बीच में है। चीन की साहित्यिक और राष्ट्र-भाषा 'मंदारिन' में चार सौ से कुछ ही अधिक शब्द हैं, जो लगभग बयालिस हजार भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं। (३) यहाँ यह समस्या है कि इतने कम शब्द कैसे इतने अधिक अर्थ प्रकट करते हैं। इसके लिए ये लोग सुर या तान (tone) का प्रयोग करते हैं (ध्वनि-प्रकरण में इस पर और सामग्री मिलेगी)। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ देता है। यों तो प्रधान चार ही सुर हैं, पर कुछ उपभाषाओं या बोलियों में इससे कम या अधिक सुर भी अपवाद-स्वरूप मिलते हैं। 'मंदारिन' में पाँच सुर हैं। दूसरी बोली 'फूकिन' में आठ हैं। (४) केवल सुरों से पूरी स्पष्टता नहीं आ पायी, अतः इसके लिए वे लोग एक और युक्ति (द्वित्व) से काम निकालते हैं। इनके यहाँ द्वित्व प्रयोग चलता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। जैसे 'ताओ'=सड़क, झंडा, गल्ला, ढक्कन इत्यादि, या 'लू'=ओस, जवाहर, घुमाव, सड़क इत्यादि। यहाँ हम देखते हैं कि 'ताओ' और 'लू' दोनों के अर्थ सड़क हैं। अब यदि सड़क के लिए दोनों शब्दों (ताओ और लू) का साथ प्रयोग करें तो किसी भी प्रकार की गड़बड़ी का भय नहीं रह जाता। अतः सड़क के लिए 'ताओ लू' शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे प्रयोगों को द्वित्त प्रयोग कहते हैं। चीनी भाषा में इसका बहुत प्रयोग होता है। इसमें सर्वदा पर्याय शब्द ही नहीं रखे जाते। कभी-कभी आवश्यकतानुसार अन्य भी ऐसे (दूसरा अर्थ रखने वाले) शब्द रख दिये जाते हैं, जिनसे अर्थ स्पष्ट हो जाय। जैसे नमक के साथ बारीक या रोड़ा, पानी के साथ गर्म या ठंडा इत्यादि। (५) भारोपीय परिवार की भाँति वहाँ भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। 'त' शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका अर्थ 'बड़ा', 'बड़ाई' तथा 'बड़ा होना' आदि सभी होता है। (६) ऊपर हम इसे स्थान-प्रधान भाषा कह चुके हैं। पर कभी-कभी केवल शब्दों के स्थान से स्पष्ट नहीं हो पाता तो सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। इसे ही कुछ लोगों ने चीनी का 'निपात-प्रधान' होना कहा है। इस दृष्टि से चीनी शब्दों के दो वर्ग होते हैं—पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। पूर्ण शब्द वह है जो कुछ अर्थ-तत्व रखे, पर रिक्त शब्द वह है जो केवल सम्बन्ध प्रकट कर दे। पर इसका आशय यह नहीं कि वहाँ का पूरा शब्द-समूह इन दो भागों में बँटा है। बहुत से पूर्ण शब्द आवश्यकता पड़ने पर रिक्त बना लिए जाते हैं।

इस प्रकार, प्रयोग होने पर ही कहा जा सकता है कि कौन शब्द रिक्त है और कौन पूर्ण। उदाहरण के लिए 'छिह' शब्द को ले सकते हैं। इसका 'जाना', 'वह', 'सम्बंध', 'रखना' आदि अर्थ होता है, पर कभी-कभी यह सम्बन्ध कारक की विभक्ति का काम करता है। जैसे—मु=माता, त्सु=पुत्र, मु छिह त्सु'= माता का पुत्र (७) चीनी भाषा में पूर्ण शब्द भी प्राय: दो प्रकार के माने जाते हैं। एक तो वे हैं जो जीवित हैं और क्रिया जिनका प्रधान गुण है। दूसरे वे हैं जो मृत या जड़ हैं और स्वयं कुछ कर नहीं सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्हीं मृत शब्दों पर करते हैं। यह विभाजन भी बहुत निश्चित नहीं है। (८) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का यहाँ बाहुल्य है। विशेषत: ङ और ञ ध्वनियाँ तो शायद ही विश्व की किसी और भाषा में इतनी प्रयुक्त होती हों।

विभाजन—चीनी मंदारिन, कैंटनी और फुकिनी आदि प्रधान बोलियाँ छः के लगभग हैं। नानकिन और पेकिंग के समीप बोली जानी वाली 'मंदारिन' बोली राज्य एवं साहित्य की भाषा है, जिसमें बयालिस हजार के लगभग शब्द हैं, जो केवल सवा चार सौ शब्दों से ही सुर आदि के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। इस बोली में ग् और ब् ध्वनियाँ नहीं हैं।
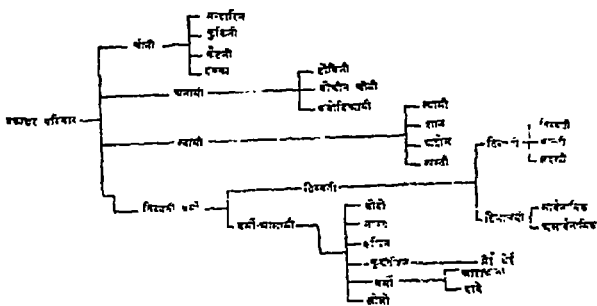
फुकिनी में मंदारिन के विरुद्ध व और ग ध्वनियाँ हैं। कैंटनी में 'त्स' के स्थान पर 'कि' हो गया है।

चीनी में बोलने की भाषा लिखने से भिन्न है। कुछ बोलियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हो गई हैं कि एक का बोलने वाला दूसरी को समझ भी नहीं सकता।

---

१. यह रूप पुराना है। अब इसे 'मूछिन त अड़ दज्' क ते हैं।

अनामी भाषा टौंकिन, कोचिन चीन तथा कम्बोडिया में बोली जाती हैं। इसे कुछ विद्वान् इस परिवार से अलग स्यामी तथा आस्ट्रो-एशियाई कुल के बीच की मानते हैं। किंतु चीन की ही भाँति यह भी एकाक्षर, अयोगात्मक और स्थान-प्रधान है। अर्थ प्रकट करने के लिए यहाँ भी सुरों (लगभग छः) का प्रयोग होता है। इनका शब्द-समूह अवश्य चीनी से भिन्न है, किंतु सम्भवतः उधार रूप में पर्याप्त मात्रा में चीनी शब्द भी मिलते हैं। इसके पुराने ग्रंथ भी चीनी लिपि में ही हैं। इधर कुछ वर्षों से उन लोगों ने रोमन लिपि को अपना लिया है।

स्यामी भाषा का दूसरा नाम 'थाई' या 'तई' है। आसाम के पूर्वी भाग तथा ब्रह्मा के कुछ भागों में इस भाषा का क्षेत्र है। १२वीं सदी के लगभग ये लोग भारत में आकर आसाम में बसे और लगभग आर्य हो गये। आसाम नाम भी संभवतः इन्हीं लोगों के कारण पड़ा। आसाम के पुरोहित अब भी अपनी प्राचीन बोली अहोम बोलते हैं। खम्ती बोली आसाम और ब्रह्मा के संधि-स्थल पर बोली जाती है। स्थायी भाषा में अब कुछ उपसर्ग आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं। यह शायद भारत का प्रभाव है।

तिब्बती या भोट भाषा में एकाक्षरता चीनी की अपेक्षा कम है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में इस पर भारत का प्रभाव सबसे अधिक है। छठी सदी से यहाँ संस्कृत और पाली ग्रन्थों के अनुवाद प्रारम्भ हो गये थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन को यहाँ ऐसे अनेक ग्रंथ मिले हैं, जिनका मूल संस्कृत रूप कहीं भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बती लिपि ब्राम्ही की ही पुत्री है और इसका व्याकरण भी संस्कृत से बहुत प्रभावित है। उसे स्थिर स्वरूप भी किसी भारतीय पंडित ने ही दिया था। तिब्बती के अंतर्गत कुछ ऐसी हिमालय बोलियाँ हैं जो पास की मुंडा बोलियों से बहुत अधिक प्रभावित हैं। इन हिमालयी बोलियों के असार्वनामिक (non pronominalized) और सार्वनामिक (pronominalized) दो वर्ग किये जा सकते हैं। सार्वनामिक वर्ग में कर्त्ता और कर्म यदि सर्वनाम हो तो उन्हें क्रिया में ही प्रत्यय की तरह जोड़ देते हैं—हिप=मारना; तू=उसे, ङ्ग=मैं, हिप्तुङ्ग=मैं उसे मारता हूँ। असार्वनामिक वर्ग में इस प्रकार का नहीं होता। यह वर्ग नेपाल, सिक्किम, भूटान आदि में फैला हुआ है। सर्वनाम-संयोग नेवारी इसी नेपाल की प्रधान बोली वर्ग की है, जिसमें साहित्य भी है। भारतीय संस्कृति तथा मैथिली साहित्य का नेवारी पर काफी प्रभाव पड़ा है। बर्मी-आसामी' वर्ग जैसा कि नाम से स्पष्ट है, बर्मा और आसाम में फैला है। हाँ इसकी एक बोली 'लोलो' अवश्य चीन में पड़ती है। इस पर भी भारतीय संस्कृत तथा साहित्य का प्रभाव कम नहीं है और इसी कारण यह भी शुद्ध एकाक्षरी नहीं रह गई है। मेईथेई भाषा में प्राचीन साहित्य बहुत है। मणीपुर इसका प्रधान क्षेत्र है। इसमें शुद्ध क्रिया का प्रायः अभाव है। लोग क्रियार्थक संज्ञा आदि से काम चलाते हैं।

बर्मी भाषा की बोलियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। बर्मी की लिपि भी तिब्बती की भाँति ही ब्राह्मी की पुत्री है।

'तिब्बती-बर्मी' की भाषाएँ अन्तप्रश्लिष्ट-योगात्मकता की ओर अग्रसर होती जा रही हैं।

(ङ) द्राविड़ परिवार

यह परिवार दक्षिण भारत में नर्मदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका, लक्षद्वीप, बिलोचिस्तान, मध्य भारत तथा बिहार-उड़ीसा के कुछ भागों में भी इस परिवार के बोलने वाले बसते हैं। इस परिवार को 'तामिल परिवार' भी कहते हैं। सत्य तो यह है कि द्रविड़* का ही विकसित रूप तामिल या तमिल है। इस परिवार से भारत के अन्य परिवारों को जोड़ने का बहुत से विद्वानों ने निष्फल प्रयास किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वर-अनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता-जुलता है। इस आधार पर इसे कुछ लोग उससे जोड़ना चाहते थे। ओ० श्रेडर ने इस परिवार को फिनो-उग्रिक वर्ग से मिलती-जुलती दिखाने का यत्न किया था। पी० डब्लू० श्मिट महोदय ने इसका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया की भाषा से जोड़ना चाहा था। उनका यह विचार था कि पहले मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत, छोटे-छोटे द्वीपों के सहारे सम्बन्धित थे। इधर मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद उसकी संस्कृति से इसका सम्बन्ध जोड़ने के सफल प्रयत्न हुए हैं।

द्राविड़ परिवार की प्रधान विशेषताएँ—(१) प्रधानतः इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट-अन्त-योगात्मक (तुर्की आदि की भाँति) हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुटते चले जाते हैं—

तमिल में 'बालन' = बालक

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता कारक	पालन्	पालन-गल्
कर्म कारक	पालन्-एई	पालन्-गल-एई
सम्बन्ध कारक	पालन्-उदीय	पालन्-गल्-उदीय इत्यादि

पर कभी-कभी अपवाद स्वरूप उपसर्ग भी लगता है—

अथु = वह वस्तु
इथु = यह वस्तु
एथु = कौन वस्तु

(२) जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है इस परिवार में संयोग 'तिल-तंडुलवत्', पारदर्शक या स्पष्ट होता है। साथ ही मूल में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। (३) उपर्युक्त संयोग की भाँति ही बड़ा से बड़ा समास भी बड़ी ही सरलता से इस परिवार की भाषाओं में बना लिया जाता है।

---

*कुछ लोगों का ऐसा मत है कि भारत में आने पर आर्यों ने अनार्यों को इसी नाम से पुकारा, और उस प्रदेश को भी यही नाम दिया। बाद में उनकी भाषा भी इसी संज्ञा से आभूषित की गई।

(४) यूराल-अल्टाई परिवार की भाँति ही इस परिवार में भी स्वर-अनुरूपता मिलती है। मूल शब्द के स्वर के वजन पर अधिकतर प्रत्ययों का रूप-संयोग के समय परिवर्तित कर लिया जाता है। (५) शब्दारम्भ में घोष व्यंजन प्रायः नहीं मिलते, पर बीच में आने वाले अनुनासिक व्यंजन या अकेले व्यंजन के पश्चात् घोष व्यंजन अवश्य रहते हैं। तमिल में यह प्रवृत्ति प्रायः अनिवार्यतः मिलती है, किन्तु अन्यों में कम।(६) मूर्द्धन्य ध्वनियों (टवर्ग) का यहाँ प्राधान्य है। कुछ लोगों का विश्वास है कि संस्कृत में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ इसी परिवार के प्रभाव से आईं। मूल भारोपीय भाषा में वे नहीं थीं। (७) लिंग तीन होते हैं। संज्ञा एवं विशेषण को स्त्रीलिंग और पुल्लिग बनाने के लिए अन्य पुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुल्लिग रूप जोड़ दिये जाते हैं। (८) यहाँ की क्रियाएँ कुछ विचित्र होती हैं। पुरुषवाची सर्वनाम उनमें पुरुष का बोध कराने के लिये जोड़ दिये जाते हैं। कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। उसके स्वतन्त्र रूप नहीं होते। कृदंती रूपों का प्रयोग अधिक होता है।
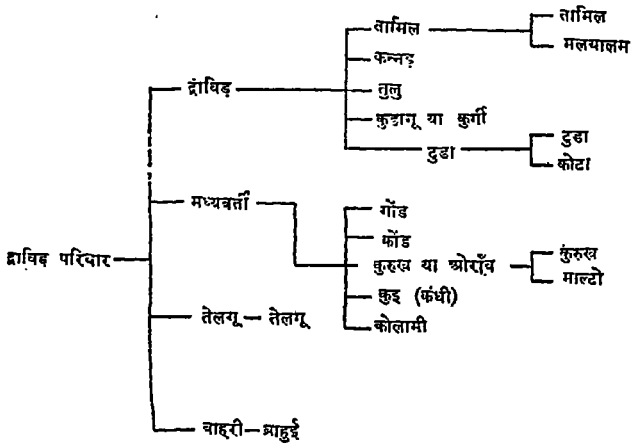
विभाजन

'तामिल' भाषा उत्तरी लंका एवं पूर्वी किनारे पर मद्रास नगर के उत्तर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक बोली जाती है। इस परिवार की यह सबसे प्रमुख भाषा है। इसका वाङ्मय बहुत ही विशाल है, जिसमें सातवीं सदी से आज तक साधना के पुष्प खिलते चले आ रहे हैं। इसमें भाषा के परिनिष्ठित रूप दो हैं। 'शेन

(पूर्ण) संस्कृत शब्दों से युक्त है और अधिक शिष्ट समझी जाती है। कोडुन (=ग्रामीण) बोलचाल की है। इरुल, कोरव, कसुव, कैकाडी तथा बुरगंडी आदि इसकी प्रमुख बोलियाँ हैं। 'मलयालम' तमिल की ही एक शाखा है, जो नवीं सदी के लगभग इससे पृथक् हुई। यह मालाबार तट पर बंगलौर के दक्षिण में एक पतली और छोटी पेटी में फैली हुई है। पास ही पश्चिम ओर बसे लक्षद्वीप में भी यही बोली जाती है। ब्राह्मणों के प्रभाव से यह संस्कृत-बहुल हो गई है, केवल कुछ मुसलमान जिन्हें 'मोपला' कहते हैं, आर्य (हिन्दू) संस्कृति से दूर रहने के कारण इसके मूल रूप का प्रयोग करते हैं, जिसमें आर्य शब्द बहुत कम हैं। त्रावणकोर और कोचीन राज्यों ने इस साहित्य को उन्नत बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इसकी प्रमुख बोली 'येरव' है जो कुर्ग में बोली जाती है। इसकी साहित्यिक शैली 'मणिप्रवाल' में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। 'कन्नड़' का क्षेत्र कुर्ग के पूर्वी भाग, पूर्वी प्रदेश के कुछ अंशों को छोड़ कर पूरे मैसूर, मद्रास प्रान्त के पश्चिमी भाग तथा हैदराबाद और बम्बई के कुछ हिस्सों में पड़ता है। यह भाषा तमिल के, और लिपि तेलगू के समीप है। द्राविड़ भाषाओं में एक मत से यह सबसे प्राचीन मानी जाती है। इसकी प्रमुख बोलियाँ बडगा, गोलरी और कुरुबा हैं। कुछ लोग तुलु, कोडगु, तोड़ा और कोटा को भी इसी की उपभाषाएँ मानते हैं। 'तुलु' भाषा कुर्ग और बम्बई प्रान्त की सीमा पर एक छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। इसकी दो प्रमुख बोलियाँ 'कोरगा' और 'बेलरा' हैं। 'कोडगु' कुर्ग की भाषा है। इसमें कन्नड़ और तुलु दोनों के बीच की भाषा कहा जाता है। इसका क्षेत्र भी दोनों के बीच में पड़ता है। इसे 'कुर्गी' भी कहते हैं। कुछ लोग इसे कन्नड़ की बोली मानते हैं। 'टोडा' और 'कोटा' भाषाएँ नीलगिरि के जंगली लोगों की बोली है। इन लोगों की संख्या दिन पर दिन घटती जा रही है, अतः भाषा और जाति दोनों ही समाप्तोन्मुख हैं। 'गोंड' या 'गोंडी भाषा के बोलने वाले विन्ध्य-प्रदेश में रहते हैं। बुन्देलखंड इनका केन्द्र है। गोंड भाषा तामिल से मिलती-जुलती है। बोलने वाले जंगली हैं। यह मध्य-वर्ती भाग की प्रमुख बोली है, पर न तो इसकी अपनी लिपि है और न इसमें साहित्य ही है। गट्टू, मड़िया, कोया, पार्जी आदि इसकी बोलियाँ हैं। 'कोंड' भाषा से बोलने वाले उड़ीसा की पहाड़ियों पर हैं। इनकी संख्या बहुत कम है। यह भाषा 'गोंड' भाषा से मिलती-जुलती है। इसे कुछ लोग 'कुइ' का एक रूप मानते हैं। बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त के सीमा-प्रदेश पर 'कुरुख' या 'ओरांव' के बोलने वाले रहते हैं। ये लगभग नौ लाख है। यह भाषा तामिल से मिलती-जुलती है। 'मल्हार' और कल्हार इसके कई रूप हैं।

बंगाल और बिहार की मिलन-रेखा पर राजमहल की पहाड़ी पर रहने वाली माल्टी जाति के लोगों की भाषा 'माल्टी' है। यह भाषा 'ओरांव' की एक शाखा-सी है। इसका शब्द-भंडार भारोपीय परिवार से बहुत प्रभावित हैं। उड़ीसा के जंगलों में 'कुई' (कंधी) बोलने वाले जंगली लोग रहते हैं। इस भाषा का सम्बन्ध तेलगू से है। इसके पूर्वी और पश्चिमी दो रूप हैं। बरार के पश्चिमी प्रदेश में 'कोलामी' का क्षेत्र

है। यह भी तेलगू से सम्बन्धित है। मध्य प्रदेश की भीली बोली का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। यह भी मरणोन्मुख है। इसकी बोलियों में 'नैकी' उल्लेख्य है।

दक्षिणी-पूर्वी हैदराबाद तथा आन्ध्र प्रान्त की भाषा 'तेलगू' है। इस भाषा के बोलने वाले इतिहास-प्रसिद्ध तिलंगाने या तिलंगे हैं। अपने परिवार की यह सबसे मधुर भाषा है। शब्द स्वरांत होते हैं। इसी कारण इसे पूर्व की इतालवी भाषा कहा गया है। संस्कृत से यह काफी प्रभावित है। इसकी प्रमुख बोलियाँ कोमटाउ, सालेवारी, गोलरी, बेरडी, वडरी, कामाठी और दासरी हैं। बिलोचिस्तान के एक छोटे भाग में ब्राहुई का क्षेत्र है। इस पर ईरानी, पश्तो, सिंधी और बलूची का प्रभाव पड़ा है। इसके बोलने वाले लगभग सभी मुसलमान हैं, जिनकी संख्या डेढ़ लाख के लगभग है।

द्राविड़ परिवार का भारत की आर्य भाषाओं पर प्रभाव—संस्कृत से इस परिवार की भाषायें बहुत प्रभावित हैं, इन सबकी लिपि ब्राह्मी से निकली है। शब्द-समूह पर भी काफी प्रभाव पड़ा है किन्तु इन्होंने भी आर्य भाषाओं को काफी प्रभावित किया है। कुछ प्रमुख प्रभाव हैं—(१) आर्य परिवार की मूर्द्धन्य ध्वनियों को मूलतः द्राविड़ परिवार के प्रभाव-स्वरूप विकसित माना जाता है, यद्यपि कुछ विद्वान् इस मत के विरोधी भी हैं। (२) ध्वनि-परिवर्तन में र का ल के स्थान पर (गला गर) और 'र' का 'ल' (हरिद्रा=हल्दी) होना भी इस परिवार का प्रभाव कहा जाता है। यों मूल भारोपीय परिवार में भी यह था। (३)मराठी गुजराती में अब तक तीन लिंग का सुरक्षित रहना भी इन्हीं का प्रभाव है, क्योंकि इनमें भी तीन लिंग हैं। (४) आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर-छटाँक, रुपया-आना) माप भी इसी परिवार की देन है। (५) कुछ लोगों के अनुसार 'परसर्गों' तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग इन्हीं का प्रभाव है। (६) भारतीय आर्य भाषाओं में तिङन्त की अपेक्षा कृदंती रूपों का प्रयोग भी इनका प्रभाव कहा जाता है। (७) आदान-प्रदान में अटवी, आलि, नीर, मीन, उलूखल, कठिन तथा कोण आदि कई सौ शब्द भी इस परिवार ने संस्कृत तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं को दिये हैं।

(च) आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार

इस परिवार के दो भाग हैं : पहला भाग आग्नेयद्वीपी हैं जो प्रशान्त सागर के द्वीपों में फैला है, अतः उस चक्र पर विचार करते समय उस पर प्रकाश डालना उचित होगा। दूसरा भाग आग्नेय देशी है, जो यूरेशिया खंड के अन्तर्गत आता है। यहाँ इसी पर विचार किया जायेगा। प्राचीन काल में इन भाषाओं का क्षेत्र पूर्वी भारत और हिंदी चीनी प्रायद्वीप था, किंतु धीरे-धीरे इनका लोप हो गया। श्याम और ब्रह्मा के कुछ जंगलों में, नीकोबार, खासी-जयंती पहाड़ियों पर, बंगाल, बिहार तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में और मद्रास के गंजाम जिले में यह परिवार फैला हुआ है।

प्रमुख विशेषतायें—(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट-योगात्मक हैं, किंतु अब कुछ वियोगात्मकता की ओर बढ़ रही हैं। (२) धातुयें प्रायः दो अक्षरों की होती

हैं। (३) पद बनाने के लिये आदि, मध्य और अन्त तीनों ही स्थानों पर योग होता है।

भाषाओं पर अलग-अलग विचार करते समय अन्य विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया जा सकेगा। मूलतः एक होने पर भी अलग-अलग हो जाने से इस परिवार की भाषाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषतायें विकसित हो गई हैं, जो पूरे परिवार में नहीं पाई जातीं, अतः एक स्थान पर प्रकाश नही डाला जा सकता।
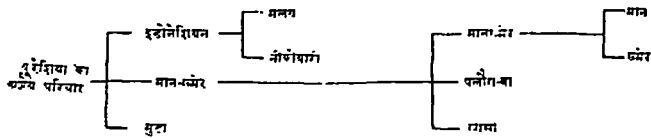
मलय भाषा का क्षेत्र ब्रह्मदेश के दक्षिण मलय प्रायद्वीप में है। नीकोबारी नीकोबार द्वीप की भाषा है। इन दोनों ही भाषाओं की प्रधान विशेषतायें तो ऊपर जैसी ही हैं, किंतु इसके सम्बन्ध में कुछ और बातें इंडोनेशियन पर अलग विचार करते समय हम लोगों के समक्ष आयेंगी। जैसा कि पिछले पृष्ठ के चित्र से स्पष्ट है, मानख्मेर वर्ग में ३ भाषायें प्रधान हैं। 'मान' भाषा वर्मा के किनारे, पीगू, थतौन तथा मर्तबान की खाड़ी के पास बोली जाती है। स्याम के कुछ भागों में भी इसका प्रचार है। मान वर्ग के ही ख्मेर लोग भी हैं। ये कंबुज के प्राचीन निवासी हैं, किंतु अब ब्रह्मदेश और स्याम के सीमा-प्रान्तों पर रहते हैं। इनकी भाषा 'ख्मेर' भी मान की भाँति साहित्यिक है। बरमा के उत्तरी जंगलों में रहने वालों की बोली 'पलौंग' और 'वा' है। 'खासी' भाषा खसिया और जयन्तिया की पहाड़ियों पर बोली जाती है। इसके चारों ओर एकाक्षर परिवार की भाषाओं का समूह है; और इसी कारण अपने मूल वर्ग से यह भाषा बहुत दिनों से अलग हो गई है, जिसके फलस्वरूप इधर इसमें कुछ भिन्नतायें आ गई हैं। 'नीकोबारी' को भी कुछ लोग मानख्मेर में ही मानते हैं, यद्यपि इंडोनेशियन से भी कम साम्य नहीं है।

मुन्डा—

आग्नेय परिवार की मुंडा भाषाओं का प्रधान क्षेत्र भारत है। पश्चिमी बंगाल, बिहार की दक्षिणी पहाड़ियाँ, उड़ीसा के कुछ जंगल, मध्य भारत तथा मध्य प्रदेश के सीमा-प्रान्त, नेपाल के कुछ भाग, संयुक्त प्रान्त के उत्तरी प्रदेश की कुछ तराइयाँ तथा मद्रास का गंजाम जिला आदि मुंडा के प्रमुख प्रदेश हैं। इसे पहले 'कोल' भाषा कहा जाता था, किंतु संस्कृत में 'कोल' शब्द का अर्थ सूअर है, अतः इसका प्रयोग उचित नहीं समझा गया। मैक्समूलर महोदय ने इसे 'मुंडा' नाम दिया। 'मुंडा' शब्द इसी परिवार की एक भाषा मुंडारी का है जिसका अर्थ 'मुखिया' है। कुछ लोग इसे मुंडे, कुछ शबर

या शावर कहना भी ठीक समझते हैं। मुंडा भाषा-भाषी लोग आर्य और द्राविड़ लोगों से पूर्व भारत में आये थे और चारों ओर फैल गए थे। बाद के आने वालों ने इनको मार कर भगा दिया। मुंडा भाषाओं पर यहाँ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि भारत के अन्य तीन परिवारों पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

मुंडा की प्रधान विशेषताएँ—(१) आकृति की दृष्टि से ये भाषायें अश्लिष्ट-योगात्मक हैं। तुर्की की भाँति इनका भी योग सरल और स्पष्ट होता है। (२)इनका ध्वनि-समूह आर्य भाषाओं की भाँति घोष, अघोष, महाप्राण और अल्पप्राण से युक्त हैं किंतु उसमें कुछ विशेषतायें भी हैं: (क) उनकी महाप्राण ध्वनियों में हम लोगों की अपेक्षा महाप्राणत्व की मात्रा अधिक होती है। (ख) हमारे स्वरों, अर्द्ध-स्वरों और व्यंजनों (स्पर्श, ऊष्म, पार्श्विक तथा उत्क्षिप्त आदि) के अतिरिक्त वहाँ एक अन्य प्रकार की ध्वनि पाई जाती है, जिसे अर्द्ध-व्यंजन की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्द्ध-व्यंजनों के उच्चारण में साँस पहले क्लिक ध्वनियों की भाँति अन्दर खींची जाती है, और स्फोट के समय कभी-कभी इनमें अनुनासिकता भी आ जाती है। (३) पद बनाने में प्रत्यय तथा उपसर्ग लगते हैं। कभी-कभी बीच में मध्यसर्ग भी जोड़े जाते हैं। मंझ, मपंझ का उदाहरण हम लोग भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण करते समय ले चुके हैं। (४) मूल शब्द अधिकतर दो अक्षरों के होते हैं; जिनमें यदि अंत्याक्षर दीर्घ और आदि का अक्षर ह्रस्व हो तो स्वराघात अन्तिम पर, और नहीं तो आदि पर होता है। (५) एक ही शब्द चीनी की भाँति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि सभी का यथास्थान काम देता है। (६) प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति इसमें भी तीन वचन होते हैं। इसके लिये पुरुष वाचक (अन्य पुरुष) के रूप जोड़ दिये जाते हैं। जैसे खेरवारी में—हाड़=आदमी, हाड़कीन=दो आदमी, हाड़को=कई आदमी।

उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में दो-दो रूप होते हैं। जैसे 'हम' के लिए 'अले' और 'अबोन' दो[1] शब्द हैं। (७) लिंग दो होते हैं। स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक शब्द जोड़ कर इनका बोध कराया जाता है। जैसे—आड़िया कूल=बाघ, एंगा कूल=बाघिन।

कुछ थोड़े शब्द हिन्दी की भाँति 'ई' और 'आ' से भी बनते हैं—

कूड़ी=लड़की

कोड़=लड़का

इसे आर्य भाषाओं का मुंडा भाषाओं पर प्रभाव माना जाता है। शब्दों का विभाजन सजीव और निर्जीव पर आधारित है, जिनमें निर्जीव पदार्थ एक प्रकार से

---

१ 'अले' में केवल कहने वाले का बहुवचन है किन्तु 'अबोन' में सुनने वाला भी शामिल है। यदि किसी से कहें कि हम (अबोन) चलेंगे तो आशय यह हुआ कि सुनने वाला भी चलेगा।

स्त्रीलिंग समझे जाते हैं। लिंग का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता। (८) इन भाषाओं में दस तक संख्यायें हैं। इनके अतिरिक्त बीस के लिये भी एक नाम है। इन्हीं ग्यारह संख्याओं की सहायता से जोड़कर, घटाकर, या कुछ और तरीकों से सभी संख्यायें प्रकट की जाती हैं। उदाहरणार्थ—

वारेआ = दो, पोनेआ = चार, गेल = दस, इसि = बीस। इसी आधार पर—

गेल खन पोनेआ (१० + ४) = चौदह (१४)

वारेआ कम इसि (२० − २) = अठारह (१८)

पोनेआ इसि (४ × २०) = अस्सी (८०)

(९) क्रिया में 'अ' को जोड़े बिना वह पूर्ण नहीं समझी जाती है। 'दलकेत' का अर्थ 'मारा' है किंतु इसे 'दलकेत' 'अ' कहेंगे। संशयात्मक क्रियाओं में यह 'अ' नहीं जोड़ा जाता। (१०) जोर देने के लिये शब्द को या शब्दांश को दो बार कह देते हैं—दल् = मारना, दल्-दल् = बार-बार मारना, ददल् = खूब मारना। स्वर से आरम्भ होने वाले शब्दों में जोर देने के लिये बीच में क् जोड़ दिया जाता है—अगु = ले जाना, अक्गु—बार-बार ले जाना। (१२) क्रिया-रूपों में प्रत्यय जोड़कर कालों का बोध कराया जाता है। (१३) इन भाषाओं में अव्यय स्वतन्त्र शब्द हैं, तथा अव्ययार्थ के अतिरिक्त भी इनका अर्थ होता है। जैसे—'मैंने-खन' का अर्थ 'लेकिन' है किंतु कभी-कभी 'यदि तुम कहो' भी इसका अर्थ हो जाता है।

विभाजन
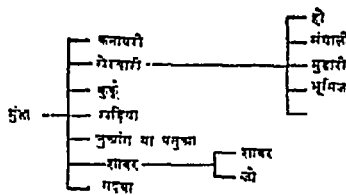
'कनावरी' का क्षेत्र शिमला के आसपास है। ऊपर के चित्र में दिखलाई हुई पाँच बोलियों के वर्ग को 'खेरवारी' कहते हैं। इसका क्षेत्र विन्ध्याचल के पूर्वी भाग में है। 'संथाली' और 'मुंडारी' इसकी प्रधान बोलियाँ हैं। 'मुंडा' शब्द इसी 'मुंडारी' का है। 'संथाली' संथाल लोगों की भाषा है। संथाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी भी शब्द के आरम्भ में संयुक्त व्यंजन नहीं आता। कुर्कू मालवा के आसपास तथा मध्यप्रान्त और मेवाड़ में बोली जाती है। खड़िया (राँची के समीप), जुआंग

(केन्दूभर और ढेंकानाल में), शाबरी और दगबा (आन्ध्र की सीमा पर) ये सभी अब मरणोन्मुख हैं।

मुंडा भाषाओं का प्रभाव—एकाक्षर परिवार पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि उनकी कुछ भारतस्थ भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप उनमें (क) संख्याओं को बीस के आधार पर गिनना, (ख) द्विवचन का प्रयोग, (ग) उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप, और (घ) जीव और निर्जीव शब्दों में भेद, आदि कितनी ही बातें आ गई हैं। द्राविड़ परिवार भी इसके प्रभाव से नहीं बच सका है। उदाहरण के लिए, कुछ संज्ञाओं का क्रिया-रूप में प्रयोग तथा उत्तम पुरुष बहुवचन के दो रूप आदि। मुंडा का आर्य परिवार पर तो और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ कुछ प्रमुख ये हैं—(१) वस्तुओं की कोड़ियों में गिनती। (२) बिहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता। (३) मध्य प्रान्त की मालव आदि कुछ बोलियों में उत्तम पुरुष बहुवचन के 'हम' और 'अपन' तथा गुजराती में 'अमे' और 'आपणे' दो रूपों का मिलना। (घ) भोजपुरी, बँगला आदि की क्रियाओं में लिंगसूचक उपकरणों की कमी। (ङ) 'कोड़ी' तथा 'गोड़' आदि मुंडा भाषा के कुछ शब्द हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में ले लिये गये हैं।

(७) अनिश्चित भाषाएँ

यहाँ उन भाषाओं को थोड़ा-थोड़ा जान लेना है जो अभी तक किसी परिवार में नहीं रखी जा सकीं हैं। इनमें कुछ तो प्राचीन या मृत हैं, और कुछ आज भी वर्तमान हैं।

(क) प्राचीन

(१) एत्रुस्कन —यह भाषा इटली के मध्य और उत्तरी-प्रदेश में उस समय बोली जाती थी जब रोमन-साम्राज्य की स्थापना भी नहीं हुई थी। इसे विद्वान् बहुत दिनों तक भारोपीय परिवार की ही समझते रहे हैं, पर इधर जब से कुछ शिलालेख और एक पुस्तक की प्राप्ति हुई है, यह विचार बदल गया है। भूमध्य सागर के कुछ द्वीपों की मूल भाषाओं से इस भाषा का कुछ सम्बन्ध अवश्य ज्ञात होता है, पर इस सम्बन्ध में आवश्यक खोज यथेष्ट रूप में अभी तक नहीं हुई है, अतः निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इसे काकेशी से सम्बन्धित भी मानते हैं, किन्तु यह मत भी सर्वमान्य नहीं है।

(२) सुमेरियन या सुमेरी—सुमेरियन लोग बेबीलोन के शासक थे। इन लोगों का राज्य कई हजार वर्ष ई० पू० ईरान की खाड़ी तक फैला था। इनकी भाषा सुमेरियन बहुत ही सुसंस्कृत और साहित्य-संपन्न थी। ये लोग सभ्य और ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों की समाप्ति के कारण लगभग ७०० वर्ष ई० पू० इनकी सभ्यता और भाषा दोनों ही समाप्त हो गईं। आज इस भाषा के चार हजार वर्ष ई० पू० तक के लेख, असीरियन लोगों द्वारा अपनी भाषा में किये गये सुमेरी की साहित्यिक पुस्तकों के कुछ अनु-

वाद, कोष और व्याकरण आदि मिलते हैं। कुछ लोगों ने हड़प्पा और मोहन-जोदड़ों की सभ्यता से सुमेरी लोगों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया था, पर वह सफल नहीं हुआ। सुमेरी भाषा को वर्मी, यूराल-अल्ताई, काकेशी, हैमेटिक, मलय-पालिनीशियन आदि से भी जोड़ने के प्रयास किये गये हैं, किन्तु सफलता नहीं मिल सकी है। सुमेरी भाषा अश्लिष्ट-योगात्मक है, पर यूराल-अल्टाइक परिवार से पूरी तरह नहीं मिलती, अतः उस परिवार में नहीं रखी जा सकती।

(३) मितानी—यह भाषा दजला और फरात नदियों के पास बोली जाती है। इसकी सामग्री अधिक नहीं मिल सकी है। केवल एक धर्म-पुस्तक तथा कुछ व्यक्तियों के नाम मिले हैं, अतः इसके संबन्ध में कुछ अधिक कहना सम्भव नहीं है। कुछ लोग इनका सम्बन्ध काकेशी से मानते हैं।

(४) कोसी—इस भाषा में भी केवल कुछ नाम आदि ही मिले हैं, अतः इसके सम्बन्ध में भी विशेष नहीं कहा जा सकता।

(५) वन्नी—इसके भी लगभग आठ-नौ सौ ई० पू० के कुछ (कन्नी लिपि में) शिलालेख मात्र मिले हैं।

(६) एलामाइट—इस भाषा के २६०० ई० पू० तक के लेख मिले हैं। इसे द्राविड़ तथा काकेशी आदि से सम्बद्ध करने के असफल प्रयत्न हुए हैं।

(ख) वर्त्तमान

(१) कोरियाई—कोरियाई जैसा कि नाम से स्पष्ट है वर्तमान कोरिया की भाषा है। अधिक दिनों तक चीनी प्रभाव में रहने के कारण इसमें चीनी शब्दों की अधिकता है। यह कुछ बातों में जापानी से मिलती-जुलती है। इसके आधुनिक लिपि ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री है। आकृति की दृष्टि से यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है, पर यूराल-अल्टाइक परिवार में नहीं रखी जा सकती। इसे भारोपीय परिवार से जोड़ने के असफल प्रयास हुए हैं।

(२) ऐनू—इस भाषा के बोलने वाले जापान से उत्तर कुछ टापुओं में पाये जाते हैं। इसमें दो-तीन बोलियाँ हैं। कोरियाई की ही भाँति यह भी अश्लिष्ट-योगात्मक है।

(३) बास्क—फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बास्क भाषा बोली जाती है। यह चारों ओर से आर्य भाषाओं से घिरी है। पहाड़ी भाग होने से आने-जाने की सुविधा न होने के कारण इसकी सात-आठ बोलियाँ विकसित हो गई हैं। इसे काकेशी, हैमेटिक तथा सेमेटिक आदि परिवारों से जोड़ने के असफल प्रयत्न हुए हैं।

प्रधान विशेषताएँ—(१) यह अश्लिष्ट-अन्तयोगात्मक भाषा है। (२) उपपद (article) परसर्ग की भाँति बाद में लगता है—जाल्दी घोड़ा; जाल्दी अ=वह घोड़ा

(The horse)। (३) सर्वनाम सेमिटिक और हैमिटिक परिवार से मिलते-जुलते हैं। (४) क्रिया के रूप बहुत ही कठिन होते हैं। बिना पूरा अभ्यास के उन पर अधिकार पाना असंभव है। (५) क्रिया और सर्वनाम का इनमें संयोग होता है : दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ। (६) वाक्य की बनावट कठिन होती है। क्रिया अधिकतर हिन्दी की भाँति अन्त में आती है। (७) लिंग-विचार केवल क्रिया में होता है। आश्चर्य यह है कि कहने वाले के अनुसार क्रिया का लिंग परिवर्तित न होकर जिससे बात कही जाये उसके अनुसार परिवर्तित होता है। उदाहरण-स्वरूप—सामान्य वाक्य—एज़ात-कित्=मैं इसे नहीं जानता। जब पुरुष से कहा जाय एजातकिआत्। जब स्त्री से कहा जाय—एज़ातकिनात् (८) क्रिया में आदरसूचक और निरादरसूचक दो रूप होते हैं। (९) धातु शब्दों में इतना छिप जाती है कि पता नहीं चलता। 'एउ' धातु से 'नेबन' (मेरे पास था) शब्द बनता है जिसमें 'एउ' का कोई भी स्वरूप स्पष्ट नहीं है। (१०) शब्द-समूह अधिक नहीं है। सूक्ष्म भावों के लिए शब्दों का बहुत अभाव है।

विभाजन

(४) हाइपर बोरी—इसमें कई बोलियाँ हैं, जो साईबेरिया के उत्तरी-पूर्वी प्रदेश तथा समीप के कुछ द्वीपों में लेना नदी से सखालिन तक बोली जाती हैं।

(५) जापानी—यह जापान की भाषा है। अभिव्यंजना-शक्ति तथा साहित्य दोनों ही दृष्टियों से जापानी संसार की सर्वोच्च भाषाओं में है। अभी हाल तक भाषा-विज्ञान के विद्वान् 'जापानी' को किसी भी भाषा परिवार में नहीं रख पाते रहे हैं। पर, इधर लोग इसे यूराल-अल्टाई परिवार में रखने के पक्ष में हो रहे हैं। प्रमुख रूप से जापानी विद्वान् तो पूर्ण रूप से इस पक्ष में हैं। कुछ लोग इसे कोरियाई के साथ भी रखते हैं। जापानी में लगभग १२०० वर्ष प्राचीन साहित्य मिलता है। सबसे पुरानी पोथी शिंतो धर्म की 'कोसिकी' है। यहाँ की लिपि मूलतः चीनी ही है। उसे जापानी भाषा के अनु-कूल बना लिया गया है। कहा जाता है कि जिस व्यक्ति ने चीनी लिपि को जापानी भाषा के अनुकूल बनाया वह संस्कृत का विद्वान् था। संभवतः इसीलिए जापानी वर्णमाला का नाम 'अइउएओ' है। जापानी भाषा के मौखिक और लिखित रूप में पर्याप्त अन्तर रहा है। लिखने की भाषा को 'बुङो' और बोलने की भाषा को 'कोङो' कहते हैं। १८९० के आस-पास लिखित और मौखिक रूप को एक करने का आन्दोलन चला। यमाद मिमियो तथा हुतावते शिमे इन दो व्यक्तियों ने दोनों रूपों को एक करने का प्रारम्भिक कार्य किया, और 'उकीगुमो' नामक उपन्यास (१८८७ ई०) बोलचाल की भाषा में लिखा। अब बहुत अंशों में दोनों का रूप एक है।

शिष्टता की दृष्टि से जापानी भाषा संसार में सबसे आगे है। प्रयोगों की दृष्टि से बादशाह की भाषा, उच्च लोगों की भाषा, सामान्य लोगों की भाषा तथा स्त्रियों की भाषा में यहाँ कुछ भिन्नता है। अन्य भाषाओं में सभी के पिता के लिए 'पिता' शब्द है, किन्तु जापानी में अपने पिता के लिए 'चिचि' शब्द है तो आपके पिता के लिए 'ओतो-समा'। यह शिष्टता कुछ उसी प्रकार की है जैसे उर्दू में दूसरे का स्थान पूछने के लिए "जनाब का दौलतखाना कहाँ है" कहते हैं और अपने स्थान के लिए "मेरा गरीब खाना ......है" कहते हैं। जापानी भाषा ने चीनी से बहुत से शब्द उधार लिये गये हैं। इस समय टोकियो की बोली परिनिष्ठित जापानी है।

प्रधान विशेषताएँ—(१) भाषा अश्लिष्ट-अन्त योगात्मक है, पर साथ ही कुछ उदाहरण इसके विरुद्ध भी मिलते हैं। (२) संज्ञा-शब्दों का सम्बन्ध परसर्गों से स्पष्ट किया जाता है।

दे=द्वारा। नि=में। नो=का। उए=पर हसामी दे किरु = कैंची से काटना। नेकोनो त्सुमे - बिल्ली का पंजा। (३) बहुवचन बनाने के लिए पुनरुक्ति का प्रचलन है—यामा=पहाड़। यामायामा=कई पहाड़। (४) ध्वनि-समूह बहुत सरल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग नहीं के बराबर है।

(६) अंडमनी—यह अंडमन द्वीप की भाषा है। इसे भी अभी तक किसी परिवार में नहीं रखा जा सका है। यों मानव-शास्त्रवेत्ता यहाँ के लोगों को 'नेग्रिटो' मानते हैं, और इनका मूल स्थान अफ्रीका मानते हैं। ऐसी स्थिति में इस बात की भी संभावना हो सकती है कि किसी अफ्रीकी भाषा-परिवार से इनका सम्बन्ध हो। इस दिशा में शोध अपेक्षित है।

(६) करेनी—इसका क्षेत्र रंगून के पूरब में है। इसके भी परिवार का पता नहीं है।

(८) बुरुशास्की—काश्मीर के उत्तरी-पूर्वी कोने पर इस भाषा का प्रदेश है। इसे 'खजुना' भी कहते हैं। इसे कुछ लोगों ने द्राविड़ से तथा कुछ लोगों ने आस्ट्रिक से सम्बद्ध करने का प्रयास किया था, किन्तु इन सम्बन्धों को मान्यता नहीं मिल सकी।

(९) मानो—इसका क्षेत्र करेनी के पास है। ग्रियर्सन इसको तथा करेनी को अलग-अलग परिवार का मानते हैं।

(ज) भारोपीय परिवार

(पीछे सारिणी में तथा अन्यत्र भी हम लोग 'भारोपीय परिवार' नाम का प्रयोग कर चुके हैं। आगे भी इसका नाम बार-बार एक भाषा-परिवार के रूप में लिया जायगा, किन्तु अब विद्वान् इस बारे में प्रायः सहमत से हो गये हैं कि इस भाषा-परिवार का नाम 'भारत-हित्ती' होना चाहिए। 'भारोपीय' इस भारत-हित्ती परिवार की एक शाखा मात्र है, अतः उसे एक परिवार मानना ठीक नहीं है। यों इस मान्यता के बावजूद बड़े-बड़े विद्वान भी सम्भवतः प्रचलन और अभ्यास के कारण सामान्य प्रयोग में इसे

Indo-Europen या भारोपीय परिवार ही कहते हैं—और कह रहे हैं। इसीलिए इस पुस्तक में भी उसे ही अपनाया गया है। बहुत से स्थलों पर सांकेतिक रूप में इस मान्यता का भी उल्लेख कर दिया गया है।

भारत-हित्ती या भारोपीय परिवार विश्व का सबसे प्रसिद्ध परिवार है। इसका महत्त्व तीन दृष्टियों से अधिक है। एक तो इस परिवार के बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं, दूसरे यह भौगोलिक दृष्टि से बहुत बड़े भू-भाग में फैला हुआ है; और तीसरे सभ्यता, संस्कृति, साहित्य या विकास आदि की दृष्टि से भी यह परिवार औरों से आगे है। आज प्रायः सभी क्षेत्रों में इस परिवार के बोलने वालों का बोल-बाला है।

नाम—इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर ईरान और आर्मेनिया होता हुआ बीच के (यूराल-अल्टाइक तथा बास्क) कुछ भागों को छोड़कर ब्रिटेन और ब्रिटिश द्वीपों के पश्चिमी भाग तक है। इस परिवार का उचित नामकरण आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है और आज भी कोई संतोषजनक नाम नहीं है। भारोपीय परिवार को पहले (१) 'इंडो-जर्मनिक' कहा गया था, क्योंकि इसके पूर्वी छोर पर भारतीय और पश्चिमी छोर पर जर्मनिक भाषाएँ हैं। किन्तु, उनके भी पश्चिम इस परिवार की केल्टिक शाखा है, अतः यह नाम उचित नहीं जान पड़ा और इसी कारण छोड़ भी दिया गया, यद्यपि जर्मनी में अब भी यही नाम (Indo-Germanisch) प्रचलित है। उनका कहना यह है कि यह नाम विद्वानों ने जर्मनी को महत्त्व न देने की दृष्टि से छोड़ दिया, उसके अनुपयुक्त होने के कारण नहीं। भौगोलिक दृष्टि से (२) 'इंडो-केल्टिक' नाम ठीक था और कुछ प्रयोग में भी आया, किन्तु चल नहीं सका, क्योंकि इसमें केवल दोनों छोर ही थे। नाम से परिवार के सम्बन्ध में निश्चित चित्र नहीं खड़ा होता था। इसे (३) 'आर्य-परिवार' भी कुछ लोगों ने कहा, क्योंकि लोगों का अनुमान था कि प्रारम्भ में इसके बोलने वाले आर्य (विशेष नस्ल) थे। बाद में यह धारणा भ्रामक सिद्ध हो गई। साथ ही लोगों का यह कहना ठीक है कि 'आर्य' शब्द का प्रयोग भारत और ईरान (आर्याणाम्, अइराण, ईरान) में ही विशेष प्रचलित रहा है, इसलिए भारोपीय परिवार के लिए नहीं, बल्कि उसकी एक शाखा भारत-ईरानी के लिए इस नाम का प्रयोग अधिक समीचीन है। आज इसीलिये 'आर्य' का प्रयोग अधिकांश विद्वान् भारत-ईरानी के लिए ही करते हैं। यों अपवादस्वरूप मैक्समूलर, येस्पर्सन आदि कुछ विद्वान् इसे पूरे परिवार के लिए पर्याप्त उपयुक्त मानते रहे हैं। इस परिवार में संस्कृत भाषा का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक रहा है। पहले तो लोगों का यह भी विचार था कि संस्कृत ही मूल भाषा थी, और इसी से इस परिवार की सारी भाषाएँ निकलीं। इन्हीं सब कारणों से कुछ लोगों ने इसे (४) 'संस्कृत परिवार' या 'सांस्कृतिक परिवार' कहना उचित समझा था, यद्यपि इसे भी मान्यता नहीं मिली। कुछ लोगों ने इसे (५) 'काकेशियन परिवार' भी कहा था, यद्यपि यह भी नहीं चल सका। कुछ लोग सेमिटिक

और हैमिटिक की वजन पर इसे (६) 'जफेटिक परिवार' कहना चाहते थे। बाइबिल में इन आधारों पर मनुष्य जाति का वर्गीकरण किया गया है। किन्तु, यह वर्गीकरण पूर्णतः अवैज्ञानिक और अमान्य था, अतः नहीं चल सका। इसमें सबसे बड़ी दिक्कत तो यह थी कि कितने ही जफेटिक कहलाने वाले लोग ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जिनका भारोपीय परिवार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अन्तिम नाम जो आजकल भी प्रचलित है (७) **'भारोपीय परिवार'** (भारत-यूरोपीय (Indo-European) है। यह नाम भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। इसका आधार भौगोकि है, क्योंकि इस परिवार की शाखाएँ भारत से लेकर यूरोप तक फैली हैं। पर यदि यही आधार माना जाय तो अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के बहुत से भागों में भी अब इस परिवार की भाषाओं (अंग्रेजी. स्पैनिश, फ्रेंच, डच आदि) का प्रचार है, और इस नाम में ये क्षेत्र सम्मिलित हैं। फिर भी किसी अन्य अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में 'भारोपीय' नाम काम दे सकता है।

ऊपर हमने देखा कि भौगोलिक, जातीय या प्रमुख भाषा आदि कई आधारों पर नामकरण का प्रयास किया गया है; यद्यपि कोई संतोषजनक नहीं है। इस विषय में मेरा एक विनम्र सुझाव है। भाषा-विज्ञानविदों ने तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत वीर, लैटिन *uir*, *vir*, प्राचीन आइरी *Fer*, जर्मनिक *wer* आदि) के आधार पर मूल भारोपीय या भारत-हित्ती भाषा के एक शब्द *wiros का पुनर्निर्माण किया है, और उन मूल लोगों को भी इसी 'विरोस' शब्द से पुकारा है। यदि हम उन मूल लोगों को 'विरोस' कह रहे हैं, तो उसी आधार पर उस मूल भाषा के परिवार के लिए (८) 'विरोस् परिवार' (Wiros family) का प्रयोग कर सकते हैं। सभी दृष्टियों से, यह नाम, औरों की अपेक्षा उपयुक्त है। हाँ, यह बात दूसरी है कि भारोपीय या Indo-European के पूर्णतया प्रचलित हो जाने के बाद अब किसी अच्छे नाम के भी प्रचलन की सम्भावना कम ही है।

ऊपर इस परिवार के नामकरण के सम्बन्ध में सात पुराने और एक अपने नये सुझाव का उल्लेख किया गया है। यथार्थतः प्रथम सात की स्थिति तब की है, जब हित्ती (Hittite) भाषा को इस परिवार की एक शाखा माना जाता है। अब विद्वान् 'हित्ती' को 'भारोपीय' की पुत्री न मानकर बहन मानने लगे हैं, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से ये सारे नाम व्यर्थ-से हैं, और भारत-हित्ती (Indo-Hittite) नाम जो पर्याप्त प्रचलन भी पा चुका है, उपयुक्त है। यों 'विरोस् परिवार' नाम शायद 'भारत-हित्ती' या 'इंडो-हिट्टाइट' से कहीं अच्छा है। यदि मूल दो शाखाओं के आधार पर ही नामकरण करना हो तो 'भारोपीय-एनाटोलियन' का सुझाव मैं देना चाहूँगा। आगे दिये गये वंश-वृक्ष से यह नाम स्पष्ट हो जायगा। किन्तु यह भी निश्चित है कि 'भारत-हित्ती' का प्रचलन हो चुका है, अतः उसे हटाकर किसी नये का अब जम पाना प्रायः असम्भव है।

हित्ती या हिट्टाइट (Hittite)

ह्यूगो विंकलर को एशिया माइनर के 'बोगाजकोई' नामक स्थान की खुदाई में

कुछ कीलाक्षर लेख १८६३ ई० में मिले, जिनसे 'हित्ती' भाषा का पता चला। इसे हिट्टाइट, खत्ती, हिटाइट, कप्पदोसी, हत्ती, कनेसिअन, नेसीय, नेसियन तथा नासिली आदि भी कहते हैं। १६०५ से १६०७ तक यह खुदाई और भी हुई और पर्याप्त सामग्री (कीलाक्षर के अतिरिक्त चित्र लिपि) आदि में भी मिली। यह भाषा २००० ई० पू० की मानी जाती है। इसे कुछ लोगों ने काकेशियन से जोड़ने का प्रयास किया, कुछ लोगों ने लीसियन से, और कुछ लोगों ने लीडियन से। इस भाषा पर समीपवर्ती होने के कारण सामी परिवार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है, इसीलिए सईस तथा कुछ अन्य लोगों ने यह भी विचार प्रकट किया था कि यह सामी परिवार की भाषा है। कुछ विद्वानों का भी कहना था कि इस भाषा में भारोपीय या सामी परिवार के शब्द तो गृहीत (उधार) मात्र हैं यथार्थतः इसका सम्बन्ध किसी भी परिवार से नहीं है। इसीलिए बहुत दिनों तक इसे अनिश्चित परिवार की भाषा भी कहा जाता रहा। १६१७ में जेक विद्वान् बी० ह्राज्नी (Hrozny) ने विस्तृत अध्ययन के बाद अपनी पुस्तक 'Die sprache der Hethiter' में इसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की सिद्ध किया। इसके बाद मेरिगी, स्टुर्टवेण्ट, कून्नर तथा पीडर्सन आदि लगभग एक दर्जन विद्वानों ने इस भाषा के अध्ययन को अपनी पूर्णता पर पहुँचाया है।

अब हित्ती भाषा को निश्चित रूप से भारोपीय से सम्बद्ध और सामी प्रभाव के कारण उससे भी कुछ साम्य रखनेवाली माना जाता है। किन्तु हित्ती के विवाद की समाप्ति केवल इसके परिवार-निर्धारण से ही नहीं हो गई। आरम्भ में लोगों ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन की भाँति इसे भारोपीय परिवार की पुत्री माना और भारोपीय के दो वर्ग केन्तुम् और सतम् में इसे 'केंतुम्' के अन्तर्गत स्थान दिया, किन्तु अब स्टुर्टवेंट की यह मान्यता (इसकी ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय एमिल फॉरर को है) प्रायः सर्वमान्य-सी हो चली है कि 'हित्ती' 'भारोपीय' की पुत्री न होकर उसकी बहन थी।

'हित्ती' के पुत्री माने जाने पर स्थिति—
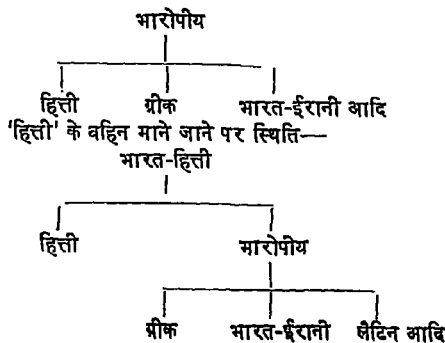
ऐसी स्थिति में, जब तक इसे पुत्री माना जाता था, परिवार का नाम 'भारोपीय परिवार' हो सकता था, किन्तु जब 'हित्ती' भारोपीय की बहन मान ली गई, तो परिवार का नाम स्वभावतः 'हित्ती' को भी प्रत्यक्षतः समाहित करने वाला होना चाहिए। इसीलिए अब यह परिवार भारोपीय के स्थान पर भारत-हित्ती (Indo-Hittite) कहा जाता है।

भारत-हित्ती परिवार

भारत-हित्ती परिवार में यूरोप, अमेरिका, एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की हजारों बोलियाँ और भाषाएँ (जीवित या मृत) सम्मिलित हैं। इस बृहत् परिवार का वंशवृक्ष पूर्णतः सर्वस्वीकृत रूप में अभी तक सामने नहीं आ सका है, यों विस्तार को छोड़ते हुये संक्षेप में उसे इस प्रकार रखा जा सकता है :—
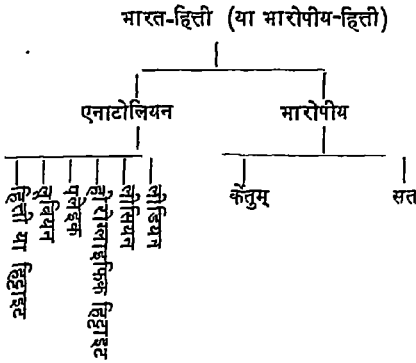
भारत-हित्ती या मूल भारत-हित्ती भाषा का काल मोटे रूप से २४०० ई० पू० के पूर्व माना जाता है। कुछ लोग इसे ५०० वर्षों का मानते हैं और इसका काल २९०० ई० पू० और २४०० ई० पू० के बीच में रखते हैं। २४०० ई० पू० के लगभग इससे दो शाखाएँ विकसित हुईं, एक तो 'एनाटोलियन' और दूसरी 'भारोपीय'। इसके विकसित पाँच सौ० वर्ष बाद २००० ई० पू० के लगभग 'एनाटोलियन' से जो भाषाएँ विकसित हुईं, उनमें छः का नाम प्रमुखतः उल्लेख्य है। इन छहों का स्थान एशिया माइनर है। कुछ लोग प्रायः इन सभी का सम्बन्ध काकेशियन से मानते रहे हैं। विद्वानों ने सिलियन, पिसिडिअन, बिथिअन, आदि लगभग एक दर्जन मृत भाषाओं को इनसे मिलाकर संयुक्त रूप से इन्हें एशियानिक नाम भी दिया है। लीडियन एक मृत भाषा है जो १५०० ई० पू० के पूर्व पश्चिमी एशिया माइनर में बोली जाती थी। इसके केवल ५३ छोटे-मोटे अभिलेख मिले हैं। अधिकतर विद्वान लीडियन का सम्बन्ध किसी भी भाषा से नहीं

मानते थे। कुछ इसे यूट्रस्कन का प्राचीन रूप मानते थे। स्टुर्टवेंट इसे प्रस्तुत परिवार में रखते हैं। एच० पी० मेरिगी ने इस पर विशेष रूप से काम किया है। लीसियन भाषा एशिया माइनर के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में लीडियन के काल के बाद तक बोली जाती थी। सन् ईसवी के पूर्व ही यह मृत हो गई। इसके १५० अभिलेख तथा कुछ सिक्के मिले हैं। इसका सम्बन्ध कई भाषाओं से जोड़ा जाता है। बहुत से लोग इसे अनिश्चित परिवार की भाषा भी मानते रहे हैं। अब प्रायः निश्चित रूप से इसे इस परिवार का माना जाने लगा है। एच० पेडर्सन ने इस पर विशेष रूप से कार्य किया है। हीरोग्लाइफि हिट्टाइट या चित्राक्षर हित्ती का क्षेत्र भी उसी के आसपास है। गेल्ब तथा कुछ अन्य लोगों ने इसका अध्ययन किया है।

'पलेइक' भाषा का क्षेत्र वहीं 'पला' नामक स्थान में है। हित्ती के साथ इसकी भी कुछ सामग्री मिली है। बोसर्ट आदि विद्वानों ने इस पर कार्य किया है। लूवियन (इसे लुइअन भी कहते हैं) का क्षेत्र भी इन्हीं के पास है। इस पर भी बोसर्ट तथा कुछ और लोगों ने कार्य किया है। इन तीनों भाषाओं के सम्बन्ध के विषय में भी मतभेद रहा है, किन्तु अब ये सभी प्रस्तुत परिवार की मानी जाती है। हिट्टाइट की भाँति ही इन सभी भाषाओं पर सामी आदि कई परिवारों का प्रभाव पड़ा है। एनाटोलियन वर्ग में और भी कई अत्यन्त अल्पज्ञात भाषाएँ हैं। इन सभी में सबसे अधिक सामग्री हित्ती की मिली है, इसीलिए उसका अध्ययन सबसे अधिक हुआ है और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हित्ती (पुनः)

ऊपर भारोपीय परिवार के नाम पर विचार करते समय हित्ती पर कुछ प्रकाश डाला गया है। यहाँ थोड़ा और विचार किया जा सकता है।

हित्ती और भारोपीय भाषाओं की एकता—हित्ती शब्द-समूह की दृष्टि से ही सामी से विशेष प्रभावित है, अन्य सभी बातों और बहुत से शब्दों में भी भारोपीय भाषाओं से उससे पर्याप्त साम्य है। (१) बहुत से वैदिक देवताओं के नाम हित्ती में थोड़े परिवर्तन के साथ वर्तमान है। हित्ती शुरियश, संस्कृत सूर्य, हि० मरुत्तश, सं० मरुतः; हि० ईन्दर, सं० इन्द्रः, हि० उरुवन, सं० वरुणः (२) सर्वनामों में भी साम्य है। 'मैं' के लिए हि० उग्स, लैटिन ego, जर्मन ich; 'वह' के लिए हि० तत्; सं० तत्; 'कौन' के लिए हि० कुइस्, लैटिन क्विस, सं० कः; 'क्या' के लिए हि० कुइद्, लैटिन क्विद्, वैदिक कद्; (३) कुछ क्रिया रूप भी समान हैं। हि० एकुजि, लैटिन aqua; हि० इइ-आमि, सं० यामि; हि० इइआसि, सं० यासि, हि० नेयन्त्सि; सं० नयन्ति; (४) संज्ञा शब्दों में भी समानता है। हि० वेदर, अंग्रेजी water, सं० उद; हि० केमन्ज, सं० हेमन्त, ग्रीक cheima; हि० लमन्, सं० नामन्, लैटिन nomen। (५) सुबन्त, तिङन्त की विभक्तियों में भी समानताएँ हैं।

हित्ती भाषा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ—(१) हित्ती, ध्वनि की तथा अन्य बहुत-सी दृष्टियों से लैटिन के समीप है, इसी कारण इसे 'केंतुम' वर्ग की भाषा माना

जाता है। (२) इसके ध्वनि-समूह की सबसे बड़ी विशेषता है एक (कुछ लोगों के अनुसार दो) प्रकार की ह् ध्वनि जो अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं मिलती। म्, न् का वितरण भी इसका अपना है जो अन्य भारोपीय भाषाओं से भिन्न है। (३) इसमें कारक केवल छः हैं, अन्य भाषाओं की तरह सात नहीं। (४) हित्ती में केवल दो लिंग हैं— पुल्लिंग और नपुन्सक लिंग। यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें स्त्रीलिंग नहीं है। (५) वचन तीन थे, किन्तु द्विवचन का प्रयोग कम होता था। सभी शब्दों के स्पष्ट बहुवचन नहीं हैं। (६) काल केवल दो थे—वर्तमान और भूत (preterite) (मूल क्रिया द्वारा)। अन्य सहायक क्रिया द्वारा बनते थे। (७) क्रियार्थ भेद (mood) दो थे— निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। (८) क्रिया और संज्ञा दोनों में द्विरुक्ति (reduplication) का प्रयोग पर्याप्त होता था। ऑक्आकस (मेंढक), काल-काल्टुरे (एक बाजा), काट-काट एनु (नहाना) तथा लाह्-लाह् इनु (लड़ाना) आदि। (९) अन्य ज्ञात प्राचीन भारोपीय भाषाओं की तुलना में यह कुछ दृष्टियों से अधिक विकसित थी, इसी कारण इसमें योगात्मकता के साथ अयोगात्मकता (निपात तथा सहायक क्रिया का प्रयोग) के लक्षण भी मिलते हैं।

प्राप्त हित्ती साहित्य में सबसे प्रमुख एक ग्रन्थ है, जो अश्वविद्या से सम्बद्ध है।

भारत-हित्ती या भारोपीय भाषा के प्रयोक्ता विरोस् का मूलस्थान

'भारत-हित्ती, 'भारत यूरोपीय' या 'विरोस्' के मूल स्थान के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है, और अब भी किसी एक मत के पक्ष में सारे विद्वान नहीं हैं। इस प्रश्न के निर्णय के लिए प्राचीन साहित्य, प्राचीन भूगोल, जलवायु-विज्ञान, ज्योतिष, पुरातत्व, मानव-विज्ञान, भाषाविज्ञान तथा जातीय मानव-विज्ञान आदि अनेक शाखाओं का सहारा लिया गया है। स्थान की दृष्टि से इस विषय के सारे मत ४ भागों में रक्खे जा सकते हैं—(अ) मूल स्थान भारत में था, (आ) मूल स्थान भारत के बाहर एशिया में कहीं था, (इ) मूल स्थान यूरोप में कहीं था, (ई) मूल स्थान एशिया और यूरोप के संधि स्थल पर या उसके आस पास था।

यहाँ, इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना अनावश्यक होगा। केवल कुछ मतों का संक्षेप में उल्लेख करके अपेक्षतया अधिक मान्य मत ही सामने रक्खे जा सकेंगे।

मूल स्थान में भारत में मानने के पक्ष में प्रमुख विद्वान भारतीय ही हैं। यों इन विद्वानों में भी मतैक्य नहीं है।

(१) एल० डी० कल्ला के अनुसार यह स्थान कश्मीर में या हिमालय में था। (२) महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश मानते हैं। (३) डी० एस० त्रिवेदी मुल्तान में देविका नदी के किनारे या उसकी घाटी में मानने के पक्ष में हैं। (४) कुछ लोग मुल्तान को ही 'मूल स्थान' मानते हैं और इसी आधार पर इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। (५) अविनाशचन्द्र दास अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इंडिया' में सरस्वती नदी के किनारे या उसके उद्गम के निकट हिमालय में मूल स्थान मानते हैं।

डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा अन्य भी कई विद्वान् इन्हीं मतों से मिलता-जुलता मत रखते हैं, और भारत के ही किसी भाग को आदि स्थान मानते हैं। इन विद्वानों का प्रमुख आधार वेद और पुराण आदि भारतीय साहित्य है। इनका कहना है कि भारतीय साहित्य में कहीं भी आर्यों के कहीं बाहर से आने का उल्लेख नहीं है। ये लोग भाषा विज्ञान के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष से असहमत हैं।

तत्वतः भारत में आदि-भूमि होने की सम्भावना बिल्कुल नहीं है। इसके लिए मोटे ढंग से चार पाँच बातें कही जा सकती हैं—(क) इस परिवार (भारोपीय) की अधिकांश भाषायें यूरोप और एशिया के संधि स्थल पर या यूरोप में हैं, भारत के आस पास नहीं हैं। ऐसी स्थिति में भारत बाहर जाकर उनके इस रूप में बसने की संभावना कम है। यह संभावना अधिक है कि उधर से एक शाखा आई और उसी के लोग भारत के उत्तरी भाग में बस गये। शेष लोग वहीं आस-पास रह गये। (ख) यदि भारत मूल स्थान रहता तो पूरे भारत में (दक्षिण में भी) यह परिवार मिलता। उत्तर में ब्राहुई तथा दक्षिण में तामिल, तेलुगु आदि का होना इसके विरोध में जाता है। (ग) मोहन जोदड़ो का काल ऋग्वेद पूर्व का है। यदि उसकी भाषा संस्कृत या उससे मिलती-जुलती होती तो भारत में मूल स्थान होने को बल मिलता, किन्तु वहाँ की भाषा प्रायः द्रविड़ परिवार की मानी जाती है, अतः यह सम्भावना है कि यहाँ पहले द्रविड़ ही रहा करते थे और आर्य पश्चिम या पश्चिमोत्तर से यहाँ आये। (घ)इस परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह भी सिद्ध हो चुका है कि मूल भाषा के निकट संस्कृत नहीं, अपितु लिथुआनियन या हित्ती आदि हैं। इसमें भी सम्भावना यही है कि मूल स्थान इन भाषाओं के क्षेत्रों के ही पास कहीं रहा होगा। (ङ) तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, जातीय मानव-शास्त्र, जलवायु-विज्ञान, प्राचीन भूगोल आदि आधारों पर न केवल यूरोपीय अपितु तिलक और सर देसाई जैसे भारतीय विद्वानों ने भी मूल स्थान भारत के बाहर ही माना है।

ऊपर भारत में मूल स्थान मानने वालों के प्रमुख मत संक्षेप में दिये गये हैं। अब भारत के बाहर एशिया, यूरोप या दोनों के संधि-स्थान पर मानने वालों के मत संक्षेप में गिनाये जा रहे हैं।

(१) यों इस प्रश्न पर थोड़े विस्तार से विचार करने का प्रथम प्रयास एडल्फ पिक्टेट ने किया था, किन्तु गहराई और वैज्ञानिकता की दृष्टि से इस प्रसंग में प्रथम नाम प्रायः मैक्समूलर का लिया जाता है। मैक्समूलर के निष्कर्ष के अनुसार मूल स्थान पामीर का प्लेटो तथा उसके पास मध्य एशिया में था। कुछ अन्य विद्वान भी मध्य एशिया के पक्ष में रहे हैं।

(२) स्कैण्डेनेवियन भाषाओं के विद्वान डॉ० लैथम (Latham) ने स्कैण्डेनेवियन भाषाओं को प्रमुख आधार मान कर १८६० के लगभग इस प्रश्न पर विचार किया और मध्य एशिया वाले मत का विरोध करते हुए मूल स्थान को यूरोप में माना। इनके

अनुसार यूरोप में भी मूल स्थान के स्कैण्डेनेविया में होने की सम्भावना अधिक है। पेन्का (Penka) जाति-विज्ञान के आधार पर भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

(३) इटैलियन मानव-शास्त्रवेत्ता सेर्जी (Sergi) ने एशिया माइनर के पठार में मूल स्थान का अनुमान लगाया है। हित्ती भाषा के अभिलेखों से इनके मत की पुष्टि होती है।

(४) लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने प्रमुखतः ज्योतिष तथा भौल के हिम युग सिद्धान्त आदि के आधार पर ऋग्वेद की ऋचाओं के सहारे 'आर्कटिक होम इन द वेदाज़' में उत्तरी-ध्रुव के पास मूल स्थान माना है।

(५) भारतीय विद्वान सरदेसाई रूस में बालकन भील के पास मूल स्थान मानते हैं। उनके अनुसार वहाँ आज भी 'सात नदियों का देश' (सप्त सिन्धु) नामक प्रान्त है।

(६) डॉ० गाइल्ज ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' में इस बात पर विचार किया है और वे हंगरी में कारपेथियन पर्वत के आस-पास मूल स्थान मानते हैं।

(७) हर्ट के अनुसार पोलैंड में विश्चुला नदी के किनारे आदि स्थान था। उसके पश्चिमी तट पर केंतुम् भाषाओं के बोलने वाले रहते थे और पूर्वी तट पर शतम् भाषाओं के बोलने वाले। पूर्वी तुर्किस्तान में 'तोखारी' नामक केंतुम् भाषा के मिलने के कारण अब यह मत प्रायः निराधार हो गया है।

(८) जातीय मानव-विज्ञान के आधार पर यूनानी पौराणिक कथाओं का अध्ययन करके कुछ विद्वानों ने जर्मनी को मूल स्थान माना था। मिट्टी के बर्तनों की डिजाइनों के आधार पर भी कुछ लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

(९) नेहरिंग (Nehring) ने मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों के आधार पर दक्षिणी रूस को मूल स्थान माना है।

(१०) इतिहासपूर्व पुरातत्व के आधार पर मच (Much) तथा कुछ अन्य विद्वानों ने पश्चिमी बाल्टिक किनारे को मूल स्थान माना है।

(११) तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के आधार पर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लिथुआनियन भाषा ही मूल भारोपीय के सबसे निकट है। इस आधार पर कुछ लोग 'लिथुआनिया' को भी मूल स्थान मानने के पक्ष में हैं। किंतु अब इस बात के प्रमाण भी पाये गये हैं कि पहले लिथुआनिया और पूरब में था।

(१२) प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार तिब्बत (त्रिविष्टप) में सृष्टि का आरम्भ हुआ, अतः वहीं आर्यों का मूल स्थान था।

(१३) स्लाव भाषाओं के विद्वान् प्रो० श्रेडर ने प्रमुखतः स्लाव भाषाओं का आधार लेते हुए दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने और कैस्पियन सागर के उत्तरी किनारे के पास के प्रदेश को मूल स्थान माना है। यह मत काफी दिनों तक मान्य रहा है।

इनके अतिरिक्त बाल्टिक सागर के दक्षिणी-पूर्वी तट, मेसोपटामिया या दजला-फरात के किनारे, दक्षिणी-पश्चिमी या उत्तरी रूस, एशिया, डैन्यूब नदी के किनारे तथा रूसी तुर्किस्तान आदि कई अन्य प्रदेशों के मूल स्थान होने के पक्ष में भी मत प्रकट किये गये हैं। उपर्युक्त मतों में गाइल्ज, श्रेडर तथा ब्रान्देन्स्ताइन के मत अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध रहे हैं। आगे प्रथम और अन्तिम पर थोड़ा और विचार किया जायगा।

भाषाश्रयी या भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज के अध्याय में हम देखेंगे कि एक परिवार की भाषाओं के शब्द-भंडारों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल भाषा (जिससे वे सभी भाषायें निकली हैं) के शब्द-भंडार में कौन-कौन से शब्द थे। शब्दों का निर्णय होने पर इस बात का पता चल जायेगा कि वे लोग किन-किन पेड़ों, अन्नों और जानवरों आदि से परिचित थे। फिर पेड़ों, अन्नों और जानवरों आदि के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका स्थान कहाँ था। इसी पद्धति पर उपर्युक्त तीनों विद्वानों ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं।

गाइल्ज (Giles)—भारोपीय परिवार की भाषाओं के शब्द-समूह के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गाइल्ज ने आदि भाषा के शब्द-समूह के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हैं, उससे पता चलता है कि वे लोग बैल, गाय भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सूअर, भेड़िया, भालू, चूहा तथा हिरन से परिचित थे, किन्तु हाथी, गदहा, शेर, चीते तथा ऊँट आदि नहीं जानते थे। पक्षियों में हंस तथा बत्तख से परिचित थे। पेड़ों में विलो (willow) या वेतस, बर्च (birch) या भूर्ज तथा बीच (beech) से परिचित होने की संभावना है। इनका स्थान बड़े जंगलों का नहीं था। ये खानाबदोश नहीं थे और एक जगह रह कर खेती आदि करते थे। गाइल्ज के अनुसार ये सभी बातें उस पुराकाल में हंगरी में कारपेथियन्ज, बलकान्ज, आस्ट्रिया, आल्प्ज् आदि के बीच के समशीतोष्ण क्षेत्र में संभव है, और इसीलिये वही मूल स्थान है।

श्रेडर (Schrader)—श्रेडर लगभग इसी पद्धति से अपने निष्कर्ष पर पहुँचे थे। ब्रान्देन्स्ताइन के मत के बावजूद कुछ लोग अब भी इसे अधिक प्रामाणिक मानते हैं।

ब्रान्देस्ताइन (Brandenstein)—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अन्य भी कई विद्वान् अब ब्रान्देन्स्ताइन के पक्ष में हैं। यों बटकृष्ण घोष तथा नेहरिंग आदि लोग इनकी बहुत-सी बातें नहीं मानते। नेहरिंग ने तो अपनी किसी आगामी पुस्तक में ब्रान्देन्स्ताइन की मान्यताओं का व्यवस्थित रूप से खन्डन करने का वादा भी किया था, यद्यपि अभी तक इस प्रकार की कोई चीज दिखाई नहीं पड़ी। ब्रान्देस्ताइन ने उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान की एक शाखा अर्थविज्ञान की विशेष रूप से सहायता ली है। इनके अनुसार शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऐसा पता चलता है कि पहले ये लोग किसी एक स्थान में अविभक्त रूप से रहते थे। बाद में भारत-ईरानी लोग इनसे निकल कर अलग चले गये और इस प्रकार ये दो भागों में विभक्त हो गये।

इस विभाजन के बाद मूल शाखा (भारत-ईरानियों के अतिरिक्त) भी अपने पुराने स्थान पर न रुककर किसी नये-स्थान पर चली गई। अविभक्त भारोपीय 'पूर्वभारोपीय', और भारत-ईरानियों के जाने के बाद शेष बचे लोग 'परभारोपीय' कहे जा सकते हैं। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार मूल शब्द-समूह की दृष्टि से भारत-ईरानी में अर्थ-विकास का अपेक्षाकृत पुराना स्तर मिलता है और शेष या 'परभारोपीय' में बाद का। इसी आधार पर इन दो वर्गों की कल्पना की गई है। उदाहरणार्थ, पूर्वभारोपीय में पत्थर के लिए *gwer या *gwerau शब्द था। संस्कृत में यही ग्रावन् (सोमरस निचोड़ने का पत्थर) है किन्तु 'परभारोपीय' से निकली भाषाओं में 'चक्की का पत्थर' या 'हाथ चक्की' आदि अर्थों में विकसित मिलता है (प्राचीन अंग्रेजी Cweorn अंग्रेजी queen, डच Kweern तथा डैनिश Kvaern आदि) 'परभारोपीय' के नए स्थान पर जाने का अनुमान इस आधार पर लगाया गया है कि 'पूर्वभारोपीय' की तुलना में शब्द-समूह और उसके अर्थ *में थोड़ी भिन्नता है, जिससे यह पता चलता है कि 'पर' के शब्द-समूह का विकास 'पूर्व'* के स्थान पर न होकर किसी नवीन क्षेत्र में हुआ है। निष्कर्ष यह है कि 'पूर्वभारोपीय' किसी अपेक्षतया सूखे क्षेत्र में पहाड़ की तराई में रहते थे। हरे-भरे जंगलो से दूर थे। वेतस, भूर्ज, वजराँठ तथा कुछ अन्य फलविहीन वृक्षों का उन्हें पता था। गाय, भेड़, बकरी, कुत्ता, भेड़िया, लोमड़ी, सूअर, हिरन, खरगोश, चूहा, ऊदबिलाव आदि से भी वे परिचित थे। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार यह स्थान यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगीज का मैदान था। बाद में भारत-ईरानियों के अलग (पूरब की ओर) चले जाने के बाद शेष लोग (परभारोपीय) पश्चिम की ओर किसी नीचे दलदली क्षेत्र में गये। यहाँ पुल आदि के भाव से इनका परिचय हुआ। कुछ नये पेड़ आदि भी इन्हें मिले। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार यह दूसरा स्थान कार्पेथियन पर्वत-माला के पूरब में था।

इस प्रश्न का बहुत निश्चय के साथ दो-टूक उत्तर देना कठिन है। 'अपने' के प्रति मोह के कारण भी यह समस्या उलझी रही है, और रहेगी। भारतीय विद्वानों ने भारतीय साहित्य को आधार माना और निष्कर्षतः भारत को आदि-स्थान कहा। प्रो० श्रेडर स्लाव भाषाओं के विद्वान् थे, उन्होंने अपने अध्ययन में स्लाव उदाहरणों को प्रधानता दी। अतः वे स्लाव क्षेत्र को ही मूल स्थान सिद्ध कर सके। स्कैंडेनेवियन भाषाओं के विद्वान लैथम ने स्कैंडेनेविया को सिद्ध किया। जब तक इस मोह से ऊपर उठकर सभी विद्वान् निष्पक्ष रूप में कार्य करते हुए एक या लगभग एक मत पर नहीं पहुँचते, तब तक अन्तिम सत्य पर पहुँचना कठिन है। यों तब तक के लिए ब्रान्देन्स्ताइन को स्वीकार किया जा सकता है। यों इसे मान लेने पर परिवार के भारत-हित्ती वाले रूप को स्वीकार करने में संभवतः कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित होगा।

भारत-हित्ती परिवार की भारोपीय शाखा—

भारत-हित्ती परिवार की भारोपीय शाखा लगभग २४०० ई० पूर्व में अलग हो गई। इस शाखा का काल मोटे रूप से २४०० ई० पूर्व से १६०० ई० पूर्व तक है।

भारोपीय परिवार की मुख्य विशेषताएँ—(१) अपने मूल रूप की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक कहा जा सकता है। (२) इसमें योग (प्रत्यय का प्रकृति से या सम्बन्धतत्व का अर्थ-तत्त्व से) प्रायः सेमेटिक या हैमिटिक परिवार-सा अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है। (३) प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतन्त्र अर्थ का पता नहीं है। एक-दो के विषय में (जैसे अंग्रेजी का ly—Manly) विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है पर शेष संदिग्ध हैं। पर अनुमान ऐसा है कि अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति भारोपीय परिवार के प्रत्यय भी कभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था, कालान्तर में धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र में पड़ने से उनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया। (४) इस परिवार की भाषाएँ आरम्भ में योगात्मक थीं, पर धीरे-धीरे दो-एक को छोड़कर सभी वियोगात्मक हो गईं, जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया आदि की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ भाषाएँ स्थान-प्रधान (positional) भी हो गई हैं। जैसे 'राम मोहन कहता है' में 'राम' को 'मोहन' के स्थान पर और 'मोहन' को 'राम' के स्थान पर कर देने से से अर्थ परिवर्तित हो जायेगा पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं थी। (५) धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनते हैं। (६) प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं। जो प्रत्यय धातु में जोड़े जाते हैं उन्हें कृत (primary) कहते हैं और जो कृत लगाने के बाद जोड़े जाते हैं उन्हें तद्धित (secondary)। तद्धित के भी तीन भेद हैं जो क्रम से शब्द, कारक के उपयुक्त पद और कालानुसार क्रिया बनाते हैं। इन्हें क्रम से word-building suffixes, case-indicating suffixes और verbal suffixes कह सकते हैं। (७) इस परिवार में पूर्वसर्ग या पूर्वविभक्तियाँ सम्बन्ध-सूचना देने के लिए या वाक्य बनाने के लिए बान्टू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है, और पर्याप्त मात्रा में होता है पर उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार आदि में 'वि', 'आ', और 'परि' आदि लगाकर किया गया है। (८) समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में है। इसकी रचना के समय विभक्तियों का लोप हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं रहता जो उसके अलग-अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता। उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। जैसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा अर्थात् काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा में समासों से बहुत बड़े-बड़े शब्द बनते हैं। किसी टापू में बसे एक वेल्श ग्राम का नाम, जो समास पर आधारित है, ५८ वर्णों का है। (९) इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्त्व-सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हो गया और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो वे स्वर-परिवर्तन ही सम्बन्ध-परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेजी की कुछ बली क्रियाओं में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है—drink, drank, drunk यहाँ आई (i) का ए (a) औ यू (u) में परिवर्तन हुआ है, और इसी से उसमें काल-सम्बन्धी

परिवर्तन आ गया है। (१०) एक स्थान से चल कर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओं का अलग-अलग बहुत-सी भाषाओं में विकास हुआ और सभी में प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी, अतः यहाँ प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। अन्य किसी भी परिवार में इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं है।

मूल भारोपीय ध्वनियाँ[1]

मूल भारोपीय ध्वनियों के निर्धारण का प्रयास पिछली सदी के दूसरे चरण से ही आरम्भ हो गया था। अब तक इस पर थोड़ा-बहुत काम होता जा रहा है, किन्तु पूर्णतः अन्तिम रूप तक, अभी तक विद्वान् नहीं पहुँच सके हैं। स्वरों का निर्धारण तो कठिन है ही, कई व्यंजनों के बारे में भी विवाद है। भारतीय विद्वानों में किसी ने भी इस समस्या पर अनुसंधान के स्तर पर कार्य नहीं किया हैं, किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० उदय नारायण तिवारी आदि ने अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन आदि की पुस्तकों के आधार पर अपनी पुस्तकों में इन ध्वनियों को संक्षेप में दिया है। विषय की विवादास्पदता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त सभी विद्वानों ने जो सामग्री दी है, वह पूर्णतया एक नहीं है। यहाँ मूल प्रश्न को उठाकर तुलना के आधार पर ध्वनियों का निर्धारण सम्भव नहीं है। संक्षेप में केवल सूची दी जा रही है। यह चयन अपने निर्णय के आधार पर किया गया है, और हिन्दी या अन्य भाषाओं की एक या अधिक पुस्तकों से पाठक इन्हें भिन्न पा सकते हैं।

(१) स्वर

मूल स्वर

(क) अति ह्रस्व अ[2]
(ख) ह्रस्व अ एँ ओँ
(ग) दीर्घ आ ए ओ

संयुक्त स्वर

संयुक्त स्वरों की संख्या लगभग छत्तिस थी, जो उपर्युक्त ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के साथ इ, ऋ, लृ, उ, न्, म्, के मिलने से बनते थे जैसे अइ, अऋ, आलृ तथा ओउ आदि।

---

१. इन्हें ही मूल भारत-हित्ती भाषा की ध्वनि भी माना जा सकता है, क्योंकि इन ध्वनियों के निर्धारण में हित्ती ध्वनियों का भी पूरा विचार किया गया है। किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार भारत-हित्ती ध्वनियां इनसे कुछ भिन्न थीं। ऐसे लोगों के अनुसार एँ, ए, ओँ, ओ, अ ५ स्वर; य, व, र, लृ, न, म ६ अंतस्थ; ग, ख, आदि ४ कंठनालीय ध्वनियां; अघोष और घोष दो 'ह्'; क, त, प, ग, द, ब, घ, ध, भ, नौ स्पर्श और 'स' ऊष्म आदि कुल लगभग २७ ध्वनियां थीं।

२. यह उदासीन स्वर है जो ह्रस्व स्वर का भी आधा (मात्रा की दृष्टि से) होता है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है। इसे ह्रस्वार्द्ध स्वर भी कहते हैं। यूरोपीय भाषाओं में इसे श्वा (schwa) कहते हैं और e को उलट कर (ə) लिखते हैं।

(२) अंतःस्थ[1]

य् (इ), व् (उ), ल् (लृ)
र् (ऋ), ण् (ṇ), म (ṃ)

(३) व्यंजन

(क) स्पर्श (१) कवर्ग[2] (i) क्, ख्, ग्, घ्,
(ii) क़्, ख़्, ग़्, घ़्,
(iii) क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्

(२) तवर्ग[2] त्, थ्, द्, ध्

(३) पवर्ग प्, फ्, ब्, भ्

(ख) ऊष्म[3] स (ज़)

'ह्' ध्वनि के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार यह ध्वनि नहीं थी। कुछ लोगों का हित्ती के आधार पर यह कहना है कि इसका एक रूप था। कुछ

---

१. अन्तःस्थ का यहाँ अर्थ है स्वर और व्यंजन के बीच में। इसीलिए इन्हें अर्द्ध-स्वर, अर्द्धव्यंजन, अन्तःस्थ स्वर, अन्तःस्थ व्यंजन, स्वनंत (sonant), आक्षरिक (syllable) आदि भी कहते हैं। ऐसी ध्वनियाँ कभी तो स्वर-रूप में काम करती हैं, कभी व्यंजन-रूप में। इन ध्वनियों का व्यंजन-रूप कोष्ठक के बाहर दिया गया है और स्वर-रूप भीतर। बहुतों ने इन छः ध्वनियों को अलग-अलग करके १२ दिया है, किन्तु वैसा मानना भ्रामक है। मूलतः ये ध्वनियाँ ६ ही हैं। प्रयोग के आधार पर १२ रूप मात्र हैं जैसे 'ल्' या 'क' में ४-६ रूपों का प्रयोग होता है। कोष्ठक के बाहर के रूप को व्यंजन, अर्द्धव्यंजन या अन्तःस्थ व्यंजन और भीतर के रूप को आक्षरिक, स्वनंत या अर्द्धस्वर आदि कह सकते हैं। स्वर या आक्षरिक रूप में इनके दीर्घ रूपों का भी प्रयोग होता था, अर्थात् ई, ऊ, ॠ, ॡ आदि।

२. कवर्ग ३ प्रकार के थे। (i) को कुछ लोग सामान्य कवर्ग मानते हैं, किन्तु कुछ लोग इमे तालु की गौण सहायता से उच्चरित किया जाने वाला अर्थात् क्य, ख्य, ग्य, घ्य, मानते हैं। डॉ० चटर्जी इन्हें तालव्य न मानकर पुरःकंठ्य (advanced velar) मानते हैं। (ii) को अरबी 'क़' के समान कह सकते हैं। यूरोपीय विद्वान् इन्हें कंठ्य (velar) कहते हैं, किन्तु डॉ० चटर्जी इन्हें पश्चकंठ्य (back velar) या अलिजिह्वीय (uvular) मानते हैं। (iii) के उच्चारण में होठों की भी सहायता ली जाती थी। डॉ० चटर्जी तथा कुछ अन्य विद्वान् इन तीनों प्रकार के कवर्गों के साथ तीन 'ङ' की भी कल्पना करते हैं, किन्तु अन्य लोगों के अनुसार 'न्' ध्वनि ही इनके साथ, इनके अनुरूप रूप धारण कर लेती थी।

२. इसे कुछ लोग दंत्य, कुछ वंतमूलीय तथा कुछ वर्त्स्य मानते हैं।

३. ऊष्म या अनवरुद्ध ध्वनि 'स' ही विशेष स्थान पर सघोषों के साथ या दो स्वरों के बीच में 'ज़' रूप में भी उच्चारित होती थी।

अन्य लोग उसके 'घोष' और 'अघोष' दोनों रूपों की स्थिति मानते हैं। ऊष्म या संघर्षी व्यंजनों में कुछ लोग केवल एक 'स' को मानते हैं, जैसा कि ऊपर दिया गया है, किन्तु कुछ अन्य विद्वान् .ख्, .ग्, .घ्, .त्, .थ्, .द्, .ध्, .फ्, आदि अन्य संघर्षी व्यंजनों का भी अनुमान लगाते हैं।

ध्वनि-सम्बन्धी कुछ अन्य विशेषताएँ—(१) स्वरों के अनुनासिक रूपों (जैसे अँ, इँ) का प्रयोग नहीं होता था। (२) दो या अधिक मूलस्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। (३) संधि के नियम लागू होते थे। (४) दो या अधिक व्यंजन एक साथ आ सकते थे।

भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण—(१) रूप अधिक थे। व्याकरण बड़ा जटिल था। (२) धातु में प्रत्यय जोड़ कर शब्द (पद) बनते थे। (३) आरम्भ में उपसर्गों का बिलकुल प्रचलन न था। (४) मध्य-विन्यस्त प्रत्यय या मध्यसर्ग (infix) का प्रयोग नहीं होता था। (५) संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम आदि संज्ञा के अन्तर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय भी अविकारी न होकर विकारी होते थे। (६) सर्वनाम के रूपों में विविधता थी। पुरुष तीन थे। (७) एक, द्वि और बहु, इन तीनों वचनों का प्रयोग होता था। (८) स्त्रीलिंग, पुंलिंग नपुंसक और लिंग थे। उनका विचार केवल संज्ञा में होता था। पहले प्राकृतिक लिंग थे, किन्तु बाद में प्रत्यय के साथ लिंग के संयोग के कारण व्याकरणिक लिंग की उत्पत्ति प्रारम्भ हो गई थी। (९) क्रिया में उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष के अनुसार भी प्रत्येक के तीन रूप होते थे, अर्थात् तीन पुरुष थे। (१०) क्रिया में उसके किये जाने और फल का विचार प्रधान था और काल का गौण। यों काल चार थे यद्यपि काल-विचार बहुत विकसित नहीं कहा जा सकता। (११) पद दो थे—आत्मनेपद और परस्मैपद। (१२) संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं। (१३) समास का प्रयोग होता था, जिसकी रचना में प्रत्ययों को छोड़ दिया जाता था। (१४) पद-रचना में स्वर-क्रम का महत्त्वपूर्ण हाथ था। ग्रीक आदि में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनमें यदि 'ए' स्वर है तो अर्थ वर्तमानसूचक है पर यदि उसके स्थान पर 'ओ' हो गया तो अर्थ भूतकाल का हो जाता है। (१५) सुर का भी प्रयोग होता था। भाषा संगीतात्मक थी। (१६) सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व दूध और पानी की भाँति इतने मिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना कठिन था। (१७) मूल भाषा अन्तर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक थी। (१८) अपश्रुति (ablaut) प्रणाली थी।

भारोपीय भाषा-भाषी धीरे-धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ, जिससे निकली आज सैकड़ों भाषाएँ और कई हजार बोलियाँ हैं।

'भारोपीय परिवार' का विभाजन—भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर 'संतम्' और 'केंतुम्' दो वर्गों में रक्खा गया है। कुछ लोगों का विचार है कि मूल भारोपीय की आरम्भ में ये दो बोलियाँ या विभाषाएँ थीं। किन्तु यह मान्यता संदिग्ध है। पहले पहल अस्कोली ने १८७० ई० में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा

कि भारोपीय मूल भाषा की कंठस्थानीय ध्वनियाँ (ऊपर दी गई ध्वनियों में प्रथम ताल-व्य कवर्ग) कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गईं, पर कुछ में वे संघर्षी (स, श, ज आदि) या स्पर्श-संघर्षी (च, ज आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडके ने इस परिवार के 'सतम्' और 'केंतुम्' दो वर्ग बनाये। इन दोनों शब्दों का अर्थ १०० है। यह नाम इसलिए रखे गये कि 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों में यह भेद स्पष्ट है। 'सतम्' अवेस्ता का शब्द है और 'केंतुम्' लैटिन का। स्पष्टता के लिए दोनों वर्गों की भाषाओं में 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों को यहाँ देख लेना ठीक होगा—

सतम् वर्ग	केन्तुम् वर्ग
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—केन्तुम
फ़ारसी—सद	ग्रीक—हेक्टोन
संस्कृत—शतम्	इटैलियन—केन्तो
हिन्दी—सौ	फ्रेंच—केन्त
रूसी—स्तो	ब्रीटन—कैन्ट
बल्गेरियन—सुतो	गेलिक—क्युड
लिथुआनियन—स्जिम्तास	तोखारी—कन्ध

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वर्ग (सतम्) में 'स' ध्वनि सर्वत्र है, और दूसरे वर्ग (केन्तुम्) में वह सर्वत्र 'क' ध्वनि हो गई है। केन्तुम् और सतम् में कुछ और भी अन्तर हैं। जैसे मूल भारोपीय का तीसरा क वर्ग (क्व, स्व आदि) केन्तुम् में तो प्रायः सुरक्षित है, किन्तु सतम् में वह लुप्त हो गया।

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को 'केन्तुम्' वर्ग की तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग की कहा जा सकता है; किन्तु बाद में पूरब में हिट्टाइट और तोखरी दो भाषाएँ ऐसी मिलीं, जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अतः पूरब और पश्चिम के आधार पर वर्ग अलग-अलग करना ठीक नहीं है।[1]

आगे दोनों वर्गों (केन्तुम् और शतम्) की भाषाओं पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है :—

(क) केंतुम् वर्ग

इस वर्ग की भाषाएं (या शाखाएँ) ये हैं :—

केन्तुम् ———|—केल्टिक
|—ट्यूटानिक
|—लैटिन
|—हेलेनिक
|—तोखारी

---
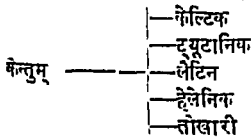
१. हर्ट का विचार था कि विश्चुला नदी के पश्चिम केन्तुम् वर्ग था और पूरब में सतम्।

(१) केल्टिक या केल्टी

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस शाखा के बोलने वाले मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस (उस समय इसका नाम 'गाल' था) के एक बड़े भाग, स्पेन, एशिया माइनर और ग्रेट ब्रिटेन आदि में रहते थे, पर, अब आयरलैंड, वेल्स, स्काटलैंड, मानद्वीप और ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इसका क्षेत्र शेष रह गया है।

लैटिन शाखा से इस शाखा का बहुत साम्य है—(अ) दोनों में ही पुंलिंग और नपुंसक लिंग ओकारान्त संज्ञाओं में सम्बन्ध कारक के के लिए-ई का प्रयोग होता है। (आ) दोनों ही में क्रियार्थक संज्ञा अधिकतर शन (tion) प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है। (इ) कर्मवाच्य की बनावट भी दोनों में लगभग एक-सी है। (ई) दोनों ही में उच्चारण-भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। कुछ भाषाओं में जहाँ 'प' मिलता है वहाँ दूसरी भाषाओं में उसके स्थान पर 'क' मिलता है। जैसे वेल्स में 'पम्प' (= पाँच) का आइरिश में 'कोइक' है। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' वर्ग को गायलिक कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक गालिक वर्ग भी है। इस प्रकार इसके तीन वर्ग हैं।
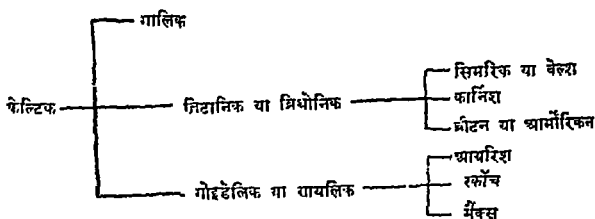
गालिक, रोम के राजा सीजर के समय में बोली जाती थी। २८० ई० पू० में यह एशिया माइनर में पहुँच गई थी। अब इस भाषा का दर्शन कुछ स्थान तथा आदमियों के नामों, पुराने लेखकों द्वारा उद्धृत शब्दों, सिक्कों और लगभग २५ अभिलेखों में ही मिलता है, अतः इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सिमरिक, या वेल्श 'प' वर्ग की एक शाखा है। इसके बोलने वाले आज भी हैं। इसका प्रधान क्षेत्र वेल्श है। कार्निश, कार्नवाल की एक बोली थी। १७७० ई० के लगभग इसकी इतिश्री हो गई। यों इसका प्राचीन साहित्य हमें अवश्य प्राप्त है। ब्रीटन, फ्रांस के ब्रिटनी प्रदेश में बोली जाती है। इसे आर्मेरिकन भी कहते हैं। यथार्थतः यह कार्निश की ही एक शाखा है, जो पाँचवीं सदी के लगभग अलग हुई थी। 'क' वर्ग की प्रधान शाखा आयरिश है। यह केल्टिक शाखा की प्रधान भाषा है। आयर्लैण्ड में जब तक अँग्रेजी राज्य था भारत की ही भाँति अंग्रेजी का बोलबाला था, किन्तु देश के स्वतन्त्र होने के उपरांत आयरिश भाषा को भी उचित स्थान मिला है। स्कॉच, स्काटलैण्ड के

उत्तरी और उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोली थी। अब इसके बोलने वाले अंग्रेजी के प्रभाव से कम हो गये हैं। कुछ स्कूलों में धार्मिक प्रार्थना के लिए इस भाषा का प्रयोग वहाँ अब भी होता है। मैंक्स, इंगलैंड के समीप मानद्वीप की भाषा है। यह समाप्त-प्राय है।

(२) ट्यूटानिक या जर्मनिक

यह शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा की अंग्रेजी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। यह शाखा अपनी ध्वनियों के परिवर्तन (ग्रिम-नियम, वर्नर-नियम, ग्रासमान नियम) के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इन ध्वनि-परिवर्तनों का विस्तृत विवरण आगे 'ध्वनि-नियम' के प्रकरण में मिलेगा। इस वर्ग की भाषाएँ धीरे-धीरे संयोगात्मक से वियोगात्मक होती जा रही हैं। भारोपीय मूल भाषा में संगीतात्मक स्वराघात का प्राधान्य था। इस वर्ग में अब केवल स्वेडिश में ही संगीतात्मक स्वराघात शेष है। शेष सभी भाषाओं में बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया है।

विभाजन
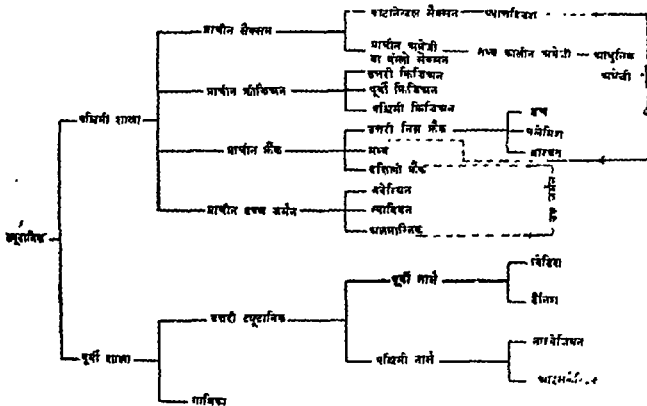
प्राचीन सैक्सन बोलियाँ सैक्सन आंग्ल्स और ज्यूट्स लोगों की थीं। ये लोग वेसेक्स, ससेक्स, एसेक्स, केन्ट, वाइट, पूर्वी ऐंग्लिया, मरकिया तथा दक्षिणी स्काटलैंड के पूर्वार्द्ध में रहते थे। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुईं; जिन्हें उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी कह सकते हैं। आधुनिक अँग्रेजी मूलतः मध्यवर्ती शाखा से विकसित हुई है। स्काटलैंड की बोलियों का जन्म उत्तरी से है। अँग्रेजी का आरम्भ ११०० ई० से माना जाता है। लगभग साढ़े तेरह सौ तक प्राचीन काल और साढ़े चौदह सौ तक मध्यकाल है। इसके बाद अंग्रेजी का आधुनिक काल आरम्भ होता है। अंग्रेजी भाषा

की तीन बोलियाँ हैं, जिनमें स्कॉट के निम्न भाग की नॉर्थम्बरियन प्रधान है। जर्मनी के उत्तरी भाग में प्लात्तदिउश शाखा है, जिसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं। फ्रिजियन का आरम्भ तेरहवीं-चौदहवीं सदी से स्पष्ट मिलता है। इसमें तीन बोलियाँ थीं। पश्चिमी बोली का क्षेत्र हालैंड के उत्तरी भाग में था। पूर्वी फ्रिजियन यम्स और वेजर नदी के मुहानों के बीच में बोली जाती थी, और उत्तरी बोली एव नदी के मुहाने के उत्तर में। अब इसके बोलने वाले केवल जर्मनी और हालैंड के कुछ भागों में हैं। शेष क्षेत्र में डच आदि भाषाओं ने अधिकार जमा लिया है। फ्रैंक भाषा का क्षेत्र राइन से नीदरलैंड तक था। धीरे-धीरे इसकी भी उत्तरी, मध्य और दक्षिणी तीन शाखाएँ हो गईं। दक्षिणी में उच्च जर्मन की प्रकृति है और उत्तरी में निम्न जर्मन की। मध्यवर्ती शाखा दोनों के बीच की है। इसमें दोनों की ही कुछ-कुछ बातें आ गई हैं। उत्तरी शाखा से ही नीदरलैंड की बोलियों का भी विकास हुआ है। फ्लेनिश फ्लेंडर लोगों की बोली है, जो प्रमुखतः उच्चारण में ही डच से भिन्न हैं। 'बारबंत' बोली भी साधारण भिन्नता लिये हुए इसी का एक रूप है। ट्यूटानिक की पश्चिमी शाखा की ऊपर दी गई सभी भाषाएँ तथा बोलियाँ केवल मध्य (जो तटस्थ हैं) तथा दक्षिणी (जो उच्च जर्मन में हैं) को छोड़कर निम्न जर्मन के अन्तर्गत आती हैं।

अब हम उच्च जर्मन को ले सकते हैं। संपूर्ण जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग की यह साहित्यिक भाषा है। इसमें ३ प्रधान शाखाएँ हैं। अलमानिक का क्षेत्र, स्विटजरलैंड का जर्मन भाषा-भाषी प्रदेश, अलसेस तथा बादेन के दक्षिण में है। स्वाबियन पश्चिमी बवेरिया, वुटेमबर्ग आदि में बोली जाती है। बवेरियन बोलने वाले शेष बवेरिया तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग में है। उच्च जर्मन रचनात्मक भाषा (building language) है, जिसमें किसी भी भाषा के किसी भी शब्द का अनुवाद आसानी से किया जा सकता है। पूरे ट्यूटानिक परिवार में उच्च जर्मन अपेक्षाकृत अपने मूल के सबसे अधिक निकट है। इसमें अंग्रेजी, फ्रेंच आदि से कुछ शब्द अवश्य उधार लिये गये हैं, किन्तु उनका भी प्रायः स्वदेशीकरण कर लिया गया है।

ट्युटानिक वर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गॉथिक है। इसके अवशेष एक तिथि-पुस्तक एवं उलफ़िला नामक पादरी द्वारा किये गये बाइबिल के अनुवाद के अंश-रूप में मिलते हैं। इसका क्षेत्र कारपैथियन्स के दक्षिण और दक्षिण-पूरब में था। कुछ प्रचार स्पेन और इटली में भी हुआ पर वहाँ से शीघ्र ही यह समाप्त हो गई। कृष्ण सागर के किनारे यह भाषा नवीं सदी तक रही और कुछ स्थानों पर इसके १६वीं सदी तक रहने का भी संकेत मिलता है। आकृति की दृष्टि से यह अंत तक संयोगात्मक रही है। साथ ही द्विवचन आदि भारोपीय की पुरानी बातें भी इसमें सुरक्षित थीं।

पूर्वी शाखा की दूसरी उपशाखा उत्तरी ट्यूटानिक या प्राचीन नार्स है। दसवीं सदी के लगभग उत्तरी ट्यूटानिक की दो प्रधान शाखाएँ पूर्वी और पश्चिमी हो गईं। पूर्वी नार्स का विकास स्वेडिश और डेनिश के रूप में हुआ तथा पश्चिमी का नार-

वेजियन एवं आइसलैंडिक के रूप में। डेनिश भाषा डेनमार्क के अतिरिक्त उत्तरी श्लेस्विग तथा नार्वे के कुछ सभ्य लोगों में प्रयुक्त होती है। स्वेडिश का प्रधान क्षेत्र स्वेडन तथा फिनलैंड का कुछ भाग है। इस भाषा में अब तक बहुत पुरानी प्रकृति पाई जाती है। भारोपीय परिवार की जीवित भाषाओं में से केवल यही एक ऐसी भाषा है जिसमें संगीतात्मक स्वराघात आज भी स्पष्टतः मिलता है। नार्वे की भाषा नारवेजियन है। सम्पूर्ण आइसलैंड तथा स्कैण्डिनेविया के पश्चिमी भाग में आइसलैंडिक भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अब तक लगभग संयोगात्मक है और दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी इस पर कम ही पड़ा है।

(३) लैटिन

इस शाखा की सबसे पुरानी भाषा लैटिन है, जो आज भी रोमन कैथालिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। आरम्भ में लैटिन शाखा का प्रधान क्षेत्र इटली में था। केल्टिक की भाँति ही इस शाखा के दो वर्ग 'प' और 'क' हैं।

लैटिन	=	ओस्कन
क्वाम	=	पाम
येकुअस	=	येपी

'क' वर्ग को लैटिन वर्ग तथा 'प' को अम्ब्रो-सेमृनिटिक वर्ग कहते हैं। इन दोनों वर्गों के पृथक्-पृथक् विभाजन इस प्रकार हैं—
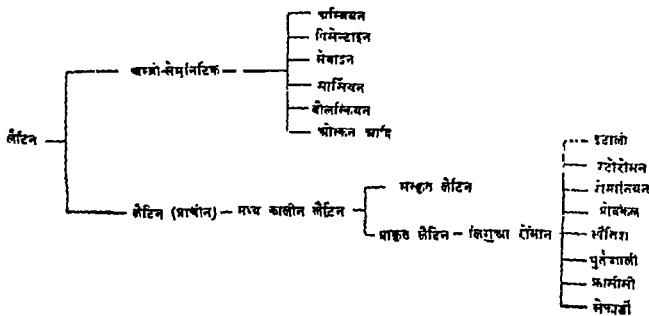
लैटिन भाषी लैटिअम के मैदानों में रहते थे। रोमन राज्य के विकास के साथ इस भाषा का भी विकास हुआ। इसके लेख ५०० ई० पू० तक के मिलते हैं। धीरे-धीरे इस भाषा का प्रसार इतना हुआ था कि आज की रोमान्स भाषाओं के पूरे क्षेत्र में यह बोली जाने लगी थी। धीरे-धीरे यह भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक होती गई। इसके इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। प्राचीन लैटिन का काल ५००

ई० पू० से तीसरी सदी तक है। मध्यकालीन लैटिन के दो रूप हैं। एक तो बहुल संस्कृत थी, जो सभ्य लोगों की एवं साहित्य की भाषा थी। दूसरी भारोपीय आर्य-भाषा के सादृश्य पर प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों की भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से ७वीं तक होता रहा। धीरे-धीरे प्राकृत लैटिन में बहुत विकास हो गया और यही बाद में नियो-लैटिन हुई, जिसका क्षेत्र इटली, सिसिली, स्पेन, गाल और डेसिया में था। यह विजयी लोगों की भाषा थी और हारे हुए लोगों पर लादी गई, अतः परिवर्तन तेजी से होने लगा, जिसके फलस्वरूप यह रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूप में विकसित होने लगी। थोड़े ही दिनों में अलग बोली, फिर अलग भाषाएँ हो गईं। इन्हें अब रोमान्स भाषाएँ इसलिए कहा जाता है कि ये रोम साम्राज्य की भाषाएँ थीं। यहाँ कुछ प्रमुख रोमान्स भाषाओं पर विचार किया जा रहा है।

इटाली या इतावली का क्षेत्र इटली, टिसिनी, सिसिली तथा कार्सिका में है। **रोमानियन** भाषा रूमानिया, ट्रान्सिलवेनिया तथा ग्रीस के कुछ भागों में बोली जाती है। इसके लगभग चालीस प्रतिशत शब्द स्लाविक हैं। प्राकृत लैटिन के स्पेन के पहुँचने के पूर्व वहाँ बास्क और अरबी का राज्य था। इन दोनों (बास्क तथा अरबी) का ही शब्द-समूह तथा ध्वनि के क्षेत्र में स्पैनिश भाषा पर प्रभाव पड़ा। इसी कारण रोमांस भाषाओं में स्पैनिश ही मूल लैटिन से अपेक्षाकृत बहुत दूर हट गई है। फ्रांसीसी का क्षेत्र मूलतः फ्रांस है। यों अमेरिका, अफ्रीका आदि में भी इसके क्षेत्र हैं। परिनिष्ठित फ्रांसीसी पेरिस के आस-पास की बोली है। पुर्तगाल की भाषा पुर्तगाली स्पैनिश से मिलती-जुलती है। इस पर फ्रेंच और मूर लोगों का प्रभाव पड़ा है। भारतीय भाषाओं के शब्द-समूह पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा है।

(४) हेलेनिक या ग्रीक

इस शाखा में कुछ भौगोलिक कारणों से बहुत पहले से अनेक बोलियाँ विकसित हो गईं। इसके प्राचीन उदाहरण महाकवि होमर के इलियड और ओडिसी महाकाव्यों में मिलते हैं। इनका समय एक हजार ई० पू० माना जाता है। ये दोनों महाकाव्य अधिक दिन-तक मौखिक रूप में रहने के कारण अपने मूल रूप में आज नहीं मिलते, फिर भी उनसे ग्रीक के पुराने रूप का कुछ पता चल जाता है। ग्रीक भाषा बहुत-सी बातों में वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। दोनों ही में संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर में दोनों कलात्मकता की ओर आने लगीं। दोनों ही में शब्दों के रूप बहुत अधिक हैं। हाँ, संस्कृत में संज्ञा और सर्वनामों के रूप अधिक हैं तो ग्रीक में अव्यय और क्रिया आदि के। द्विवचन दोनों में था। ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन। ग्रीक ने भारोपीय मूल भाषा के स्वरों को बहुत सुरक्षित रखा है, किंतु व्यंजनों में काफी परिवर्तन हो गया है। ग्रीक भाषा की शाखाओं और उपशाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

विभाजन
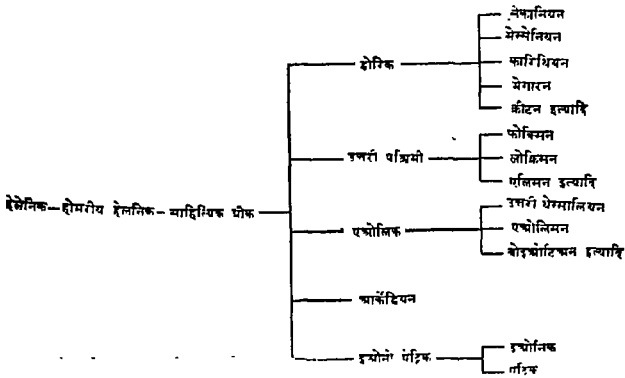
वर्तमान ग्रीक—ग्रीस, ग्रीक, साइप्रस आदि में बोली जाती है।

(५) तोखारी

अंग्रेज, फ्रेंच, रूसी तथा जर्मन विद्वानों ने बीसवीं सदी के आरम्भ में पूर्वीय तुर्किस्तान के तुरफान प्रदेश में कुछ ऐसे ग्रन्थ तथा पत्र प्राप्त किये जो भारतीय लिपि (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी) में थे। प्रो० सीग (Sieg) ने इनका अध्ययन किया, जिसके फल-स्वरूप यह भाषा भारोपीय परिवार की सिद्ध हुई। इसके बोलने वाले 'तोखर' लोग थे; अतः इस परिभाषा को तोखारी कहा गया। समीपता के कारण इस पर यूराल-अल्टाई परिवार का बहुत प्रभाव पड़ा है। ग्रियर्सन के अनुसार महाभारत एवं ग्रीक पुस्तकों में क्रम से 'तुषाराः' तथा तोखाराई जाति का नाम है। सम्भव है यह उन्हीं लोगों की भाषा हो। ये लोग दूसरी सदी ई० पू० में मध्य-एशिया के शासक थे। सातवीं सदी के लगभग यह भाषा लुप्त हो गई। तोखारी भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धि-नियम कुछ संस्कृत जैसे हैं। संख्याओं के नाम एवं सर्वनाम भी भारोपीय परिवार से साम्य रखते हैं। विभक्तियाँ भी उसी रूप में आठ हैं। शब्द-भंडार भी संस्कृत के समीप है।

संस्कृत	तोखारी
पितृ	पाचर्
मातृ	माचर्
वीर	विर्

सौ के लिए तोखारी शब्द 'कन्ध' है, इसी कारण यह केन्तुम् वर्ग की भाषा मानी गई। तोखारी भाषा में जो सामग्री मिली है, उसके अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें दो बोलियों का प्रयोग हुआ है। एक को विद्वानों ने 'अ' तथा दूसरी को 'ब' कहा है। इसमें 'अ' तोखारों की भाषा है और 'ब' कूचा प्रदेश की। ऐसी स्थिति में एक को तो 'तोखारी' और दूसरे को 'कूची' कहा जा सकता है।

(ख) सतम् वर्ग

भारोपीय परिवार की सतम् वर्ग की शाखाओं को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

—इलीरियन

—बाल्टिक

सतम्— —स्लैवोनिक

—आर्मेनियन

—आर्य

(१) इलीरियन

इस शाखा के बोलने वाले एड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियन की खाड़ी से इटली के दक्षिण-पूर्वी भाग तक फैले थे। इसके प्राचीन रूप का कोई भी अवशेष आज प्राप्य नहीं है।

विभाजन
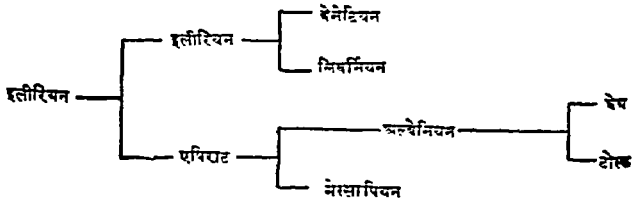
विभाजन में दिखाई हुई भाषाओं में से केवल अल्बेनियन के विषय में ही आज सामग्री प्राप्त है। शेष सभी बहुत पहले समाप्त हो गई थीं। इसी कारण इस शाखा को 'अल्बेनियन' या 'अल्बेनी' भी कहते हैं। अल्बेनियन के बोलनेवाले अल्बेनिया तथा कुछ ग्रीस में हैं। इसके अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ हैं, जिनके घेघ और टस्क दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। घेघ का क्षेत्र उत्तर में और टोस्क का दक्षिण में है। अल्बेनियन ने इधर तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन और ग्रीक आदि भाषाओं से बहुत शब्द लिए हैं।

(२) बाल्टिक

इसे लैट्टिक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ आती हैं। प्रथम प्राचीन प्रशन है, जो सत्रहवीं सदी में ही समाप्त हो गई थी। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विस्तुला और नीमेन नदियों के बीच में अवस्थित प्रशा प्रदेश था। दूसरी भाषा लिथुआनियन है। इसका क्षेत्र प्रशा के उत्तर-पूरब में है। भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि से यह भाषा बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि इसका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है, और इसी कारण आज भी यह मूल भारोपीय भाषा से अपेक्षाकृत निकटतम है। इसमें एस्ति (संस्कृत अस्ति) एवं

जीवाः जैसे रूप अब भी हैं। वैदिक संस्कृति की भाँति संगीतात्मकता और द्विवचन भी इसमें हैं। इसका क्षेत्र अब रूस के अन्तर्गत है। इसकी तीसरी भाषा लेट्टिश है। यह रूस के पश्चिमी भाग में लेटिविया राज्य की माषा है।

```
         |—प्राचीन प्रशन
बाल्टिक—|—लिथुआनियन
         |—लेट्टिश
```

(३) स्लैवोनिक या स्लावी

यह बहुत विस्तृत वर्ग है। इसमें पूर्वी यूरोप का एक काफी बड़ा भाग आ जाता है। दूसरी-तीसरी सदी के लगभग तक इसके बोलने वाले एक सीमित क्षेत्र में थे, किंतु पाँचवीं सदी के बाद से ये लोग इधर-उधर फैलने लगे; और नवीं सदी तक रूस, पोलैंड, गलसिया, आस्ट्रिया का एक बड़ा भाग, बोहेमियाँ, मोराबिया, सर्बिया, बलगेरिया तथा स्लावोनिया आदि इसके कब्जे में आ गए। आज भी यह क्षेत्र इन्हीं का है।
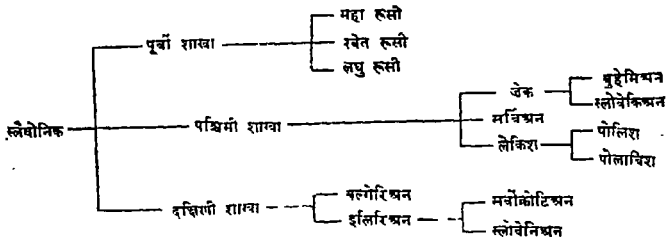
महारूसी ही रूस की प्रधान भाषा है। १८वीं सदी के पूर्व तक यह बहुत अस्त-व्यस्त थी। उसके बाद इसे टकसाली रूप मिला। यह मूलतः मास्को की एक बोली है। श्वेत रूसी रूस के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। लघु रूसी का दूसरा नाम रुथे-नियन भी है। इसके कुछ बोलने वाले आस्ट्रिया के गलीसिया प्रान्त में भी हैं। आधुनिक साहित्य प्रमुखतः महारूसी में ही है। रूसी क्रांति के पश्चात् से इसका भंडार बहुत ही पूर्ण हो गया हैं। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा जेक है। यह प्रधानतः बोहेमिया की भाषा है, अतः इसका नाम बोहेमियन भी है। स्लोवेकियन इसी की एक बोली है, जो उत्तरी हंगरी, तथा प्रेसवर्ग एवं कारपेथियन्स के मध्य में बोली जाती है। जेक की बहिन सर्बियन का नाम 'सारोबियन' एवं 'वेंडिक' भी है। यह धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। प्रशा और सैक्सोनी में ही इसके कुछ बोलने वाले अब शेष हैं। पोलिश भाषा का मूल क्षेत्र अब पोलैंड है। जर्मनी में भी इसका प्रचार कभी था किंतु बाद में यह निकाल दी गई। निम्न एब के पास गुलामों की भाषा पोलाविश पोलिश की ही बहन थी। पोलाविश का लोप बहुत पहले हो गया। अब इसमें साहित्य आदि कुछ भी नहीं मिलता। दक्षिणी शाखा की प्रसिद्ध भाषा बल्गेरियन है। इसके पुराने रूप को प्राचीन बल्गेरियन या चर्च स्लैवोनिक कहा जाता है। वर्तमान बल्गेरियन पूर्णतः वियोगात्मक हो गई है। इसका प्रधान क्षेत्र बल्गेरिया के अतिरिक्त यूरोपीय तुर्की तथा ग्रीस आदि भी है।

(४) आर्मेनियन या आर्मीना

इसे कुछ लोग आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अंतर्गत रखना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इसका शब्द-समूह ईरानी शब्दों से भरा है। किंतु वस्तुतः ये शब्द केवल उधार लिये हुए हैं। इसकी योगात्मक तथा ध्वनि आदि स्पष्टतः ईरानी से भिन्न है, अतः इसे भारोपीय परिवार की एक स्वतंत्र शाखा मानना ही अधिक उपयुक्त है। ५वीं सदी में ईरान के युवराज आर्मेनिया के राजा थे, अतः ईरानी शब्द इस भाषा में अधिक आ गये। तुर्की और अरबी शब्द भी इसमें काफी हैं। इस प्रकार आर्य और आर्येतर दोनों ही प्रभाव इस पर पड़े हैं।

विभाजन
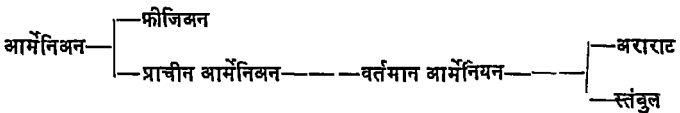
यूरोप और एशिया के सरहद पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फ्रीजियन[1] भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती है। वर्तमान आर्मेनियन के प्रधान दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का यूरोप में। इसका क्षेत्र कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास है। एशिया वाली बोली का नाम अराराट है और यूरोप में बोली जाने-वाली का स्तंबुल। स्तंबुल इसकी प्रधान बोली है।

(५) आर्य

इस शाखा के अन्य नाम 'हिंद-ईरानी' या 'भारत-ईरानी' भी हैं। भारोपीय परिवार की आर्य शाखा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थों में इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य संसार की किसी भी भाषा में कदाचित् नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ दो हजार ई० पू० तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। और १५०० ई० पू० तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकांश लोग मानते हैं। पारसियों का धर्मग्रंथ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग ७वीं सदी ई० पू० का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने सामग्री दी है, और पश्चिम में भाषा-विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारम्भ भी हुआ है, जब से उन लोगों को इस आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस बात को भाषा-विज्ञान के इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से देखा जा सकेगा।

---

१. यह Phrygian है जो हालैंड की जर्मनिक या ट्यूटानिक शाखा की फ्रीजिअन (Frisian) से भिन्न है।

इस शाखा के मूलभाषी अन्यों का साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े, तो कुछ लोग ईरान में रुक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इस शाखा की भारतीय और ईरानी दो प्रमुख भाषाएं हुई। बहुत लोगों ने इन दोनों को भारोपीय की अलग-अलग शाखा माना है, किन्तु ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि ये दोनों बहुत-सी बातों में साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों पहले से ही अलग न होकर एक शाखा के रूप में थीं और बाद में अलग हुईं। बान्देन्स्ताइन की खोजों ने भी यही सिद्ध किया है, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ भारतीय तथा ईरानी दोनों के समान लक्षणों का सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भारत और ईरानी में समानता—(१) भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अ, ए, ओ) तथा तीन दीर्घ मूल स्वर ('आ' 'ए' और 'ओ') के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मूल स्वर 'अ' और एक दीर्घ मूल स्वर 'आ' ये दो ही मिलते हैं।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*नेभास	नभस्	नबह्
*ओस्थ	अस्थि	अस्ति
*याग	यज	यज
*एपो	आपः	अप

(२) दोनों में भारोपीय के अति ह्रस्व या उदासीन स्वर 'ə' के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*पəते	पिता	पिता

(३) दोनों में ही मूल भारोपीय 'र' (ऋ) का 'ल' (लृ) और 'ल' (लृ) का र (ऋ) हुआ है। संभवतः 'र' (ऋ) और 'ल' (लृ) ध्वनि में उस समय विशेष भेद नहीं था। केन्टुम् वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर कुछ उदाहरण यहाँ लिए जा सकते हैं—

लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
लुकरे	लुंचामि	
लुपुस्	वृकः	वह्रको
लिंगो	रेहिम	

(४) इस शाखा में इ, उ, क तथा र के पश्चात् आने वाला 'स' व्यंजन ईरानी 'श' हो गया और बाद में संस्कृत में वह ष हो गया। कुछ उदाहरण हैं—

भारोपीय	अवेस्ता	संस्कृत
*स्थिस्थामि	हिश्तोति	तिष्ठामि
*ओस्थ्वर	अश्तो	ओष्ठ

(५) कुछ भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कंठ्य या पुरःकंठ्य क् (क्य) ग (ग्य)

ग् (ग्य) घ् (घ्य) भारत-ईरानी शाखा में क्रम से श्, श्ह, ज् और ज्ह हो गये। कालान्तर में भारत में ये श् ज् और ह हो गये और ईरान में स, ज् ज्ह। (६) मूल भारतीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क् (क्व) ख् (ख्व) ग् (ग्व) घ् (घ्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख् ग् घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए स्वर थे तो क्रम से च्, छ्, ज्, झ् हो गये। (७) ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरांत संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए षष्ठी में '—नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। (८) दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में '-तु' और '-न्तु प्रत्यय पाये जाते हैं। (९) बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक-से हैं और दोनों में उनका अर्थ भी प्रायः एक ही है—

संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः
अनु	अनु
अन्य	अन्य
विश्व	विस्प
ददामि	ददामि
असुर	अहुर
पुत्र	पुथ्
सप्त	हप्त
वसिष्ठ	वहिश्त
असि	अहि

(१०) वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतनी समीप हैं कि एक भाषा के बहुत से वाक्य केवल साधारण परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाये जा सकते हैं—

संस्कृत अवेस्ता

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः=यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएता मश्यो।

शूरं धामसु शविष्ठम्=सूरं दामोहू शविस्तम्।

सावने आ ऋतौ आ=हावनीम् आ रतुम् आ

भारतीय और ईरानी में अन्तर—ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अन्तर भी हैं। यदि ऐसा न होता तो दोनों अलग-अलग ही क्यों होतीं। यहाँ कुछ प्रमुख अन्तरों की ओर संकेत किया जा सकता है। (१) च वर्ग के केवल दो व्यंजन 'च् और ज् ईरानी में है, जबकि भारतीय में पाँच (च् छ् ज् झ् ञ्) हैं। (२) ईरानी में टवर्ग का एकान्त अभाव है, जब कि भारतीय में यह है। (३) पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ग ईरानी में नहीं है। (४) पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है। इस के स्थान पर 'र' है। जैसे श्रील:—स्रीरो (श्री-संपन्न)। (५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ ८ स्वर ऐसे हैं, जिनके स्थान पर भारतीय में 'अ' या 'आ' का ही प्रयोग होता है। (६) आदि स्वरागम और अपिनिहित भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। भरति=बरइति तथा भवति=बवइति आदि। (७) ईरानी शब्दों के आरम्भ

...भी-कभी अन्यत्र भी, भारतीय शब्दों में पाया जाने वाला 'स', 'ह' है। जैसे सप्त = ...सप्तह=हफ़्ता तथा सिंधु=हिंदु आदि (८) संस्कृत के घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ...में अल्पप्राण ग्, द् ब् रूप में हैं। जैसे भूमि=बूमि, दीर्घम्=दरंगम् तथा भ्राता ...आदि। (९) संस्कृत के अघोष अल्पप्राण क् त् प् ईरानी में संघर्षी ख, थ, फ़ ...जैसे क्रतुः=ख्रतुश्, सत्यः=हइथ्यो तथा स्वप्नः=ख्वफ़्नम् आदि। (१०) संस्कृत ... ईरानी में अर, र, या अ है। जैसे वृक्षम्=वरेशेम्।

ध्वनि-सम्बन्धी इन अन्तरों के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी अन्तर भी बहुत से ...किन्तु उनकी गहराई में उतरना प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है।

...करण

(१) ईरानी

ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले आरम्भ हो गई थी, किन्तु आज उन प्राचीन ...यों का कुछ भी पता नहीं है, अतः वहाँ की भाषा का शृङ्खलाबद्ध इतिहास नहीं जा सकता। इसके पता न चलने का कारण यह है कि सिकन्दर ने ३२३ ई० और अरब के विजेताओं ने ६५१ ई० में ईरानी का पुराना साहित्य बुरी तरह जला ...। अब वहाँ का प्राचीनतम साहित्य पारसी धर्मग्रंथ 'अवेस्ता' ही है, जिसकी भाषा ...से बहुत मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त हख्मानी बादशाहों के छठवीं सदी पू० के कुछ पुराने शिलालेख भी मिले हैं।

(इसकी आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों के विकास का स्पष्ट पता नहीं है, अतः अंश बिन्दु से दिखाया गया है।)

अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा होने के कारण प्राचीन बैक्ट्रियन भी कही जाती ...भूल से इसे 'जिन्द' भी कहते हैं। इसका यह नाम इसकी प्राचीनतम (...वीं सदी ई० पू०) के कारण पड़ा है। अवेस्ता का अर्थ 'शास्त्र' है,

जिसमें 'गाथा' या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति हैं। इसमें यज्न (यज्ञ), विस्पेरद (बलि-सम्बन्धी कर्मकांड) तथा वेन्दिदाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी हैं। कुछ दिन बाद जब अवेस्ता वहाँ की जनभाषा नहीं रह गई, और मध्यकालीन फ़ारसी या पहलवी का प्रचार हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी में की गई। इस टीका को 'ज़न्द' कहते हैं। 'ज़न्द' का अर्थ ही 'टीका' होता है। अब दोनों ('ज़न्द' और 'अवेस्ता') को मिलाकर लोग उस पुस्तक को तथा कभी-कभी भाषा को 'ज़ेन्दावेस्ता' या 'ज़िन्दावेस्ता' कहते हैं।

प्राचीन ईरान के पश्चिमी भाग को 'फ़ारस' कहते थे। वहाँ की भाषा प्राचीन 'फ़ारसी' थी। कुछ लोग इसे 'अवेस्ता' से निकली हुई समझते हैं, किंतु वस्तु-स्थिति यह है कि ईरानी की दो शाखाएँ प्राचीन काल से ही मिलती हैं—(१) प्राचीन फ़ारसी, (२) अवेस्ता। प्राचीनता में प्राचीन फ़ारसी अवेस्ता के यदि बिल्कुल समकालीन नहीं तो कुछ ही बाद की है। डेरियस प्रथम (ई० पू० ५२१-४८५) आदि एकेमेनियन राजाओं के खुदवाये कीलाक्षर अभिलेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। इसका अलग साहित्य नहीं मिलता पर अभिलेखों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्ययन अवश्य हुआ है। यह बहुत-सी बातों में अवेस्ता से मिलती है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्णमाला अवेस्ता की अपेक्षा अधिक सरल है। इस दृष्टि से यह संस्कृत के निकट है—

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
येजी	यदी	यदि

अवेस्ता के ज् के स्थान पर प्राचीन फ़ारसी में द् हो जाता है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत में प्रायः ह मिलता है।

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
अज़ेम	अदम्	अहम्

प्राचीन फारसी का ही विकसित रूप मध्यकालीन 'फ़ारसी' या 'पहलवी' कहलाता है। इसका प्राचीनतम रूप तीसरी सदी ई० पू० के कुछ सिक्कों में मिलता है। प्राचीन फ़ारसी और मध्यकालीन के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। पहलवी का नियमित साहित्य तीसरी सदी से मिलने लगता है। पहलवी के दो रूप थे। एक का नाम हुज्वारेश था, जिसमें सेमिटिक परिवार के शब्दों का आधिक्य है। इसकी लिपि भी सेमिटिक है। सस्सानिद राजवंश (२२६ ई०.से ६५२ ई०) की राजभाषा यही थी। अवेस्ता का कुछ अनुवाद भी इस भाषा में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पारसियों का कुछ और भी धार्मिक साहित्य इसमें है। इसके व्याकरण पर भी सेमिटिक प्रभाव यथेष्ट है। पहलवी का दूसरा रूप पारसी या पाज़ंद है। इस पर सेमिटिक प्रभाव नहीं है। इसका प्रचार पूर्वीय प्रदेशों में था। भारत में बसने वाले पारसियों की भाषा यही है। यही कारण है कि गुजराती को पाजंद ने बहुत प्रभावित किया है।

जिस प्रकार अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी संस्कृत से मिलती-जुलती हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन फ़ारसी प्राकृत अपभ्रंश से।

आधुनिक फ़ारसी हिन्दी की भाँति ही वियोगात्मक हो गई है। इसका आरंभिक ग्रन्थ महाकवि फ़िरदौसी (९४० से १०२०) का 'शाहनामा' नामक राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसकी भाषा में अरबी के शब्द अधिक नहीं हैं, किंतु इसके बाद आधुनिक फ़ारसी अरबी से लदने लगी। यह मध्यकालीन की अपेक्षा अधिक सरल और मधुर है। ध्वनि-परिवर्तन भी इधर विशेष हुआ है। अब कुछ दिनों से राष्ट्रीयता की लहर यहाँ भी चली है, और अरबी शब्दों को तुर्की की भाँति लोग बहिष्कृत कर रहे हैं। उन हटाये गये शब्दों के स्थान पर आर्य परिवार के ईरानी शब्दों का प्रयोग बढ़ा है। इधर फ्रांसीसी शब्द भी इसमें (तेल कंपनियों के कारण) आ गये हैं।

आधुनिक फ़ारसी की बहुत-सी प्रादेशिक बोलियाँ भी हैं। विद्वान् इस सम्बन्ध में बहुत निश्चित नहीं हैं कि कौन बोलियाँ सीधे अवेस्ता से निकली हैं और कौन फ़ारसी से। टकर महोदय तो आधुनिक फ़ारसी और पहलवी के विषय में भी शंका करते हैं। उनका कहना है कि अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी के बाद सभी ईरानी भाषाएँ एवं बोलियाँ उस समय की बोलियों से विकसित हुई हैं। आज उनकी माँ के विषय में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ प्रधान बोलियों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। ये बोलियाँ भारत से लेकर कैस्पियन सागर तक फैली हैं। कुर्दी या कुर्दिश बोली आधुनिक फ़ारसी के समीप है। इसमें एक बड़ी विशेषता यह है कि शब्दों के रूप छोटे हो गये हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक फ़ारसी का 'बिरादर' शब्द इसमें 'बेरा' हो गया है। इसी प्रकार 'सिपेद' (सफ़ेद) का इसमें 'स्पी' रूप मिलता है। बिलोचिस्तान की बिलोची भाषा भी आधुनिक फ़ारसी के निकट है। अभी तक यह भाषा कुछ संयोगात्मक है। साहित्य के नाम पर इसमें कुछ ग्राम-कथाएँ हैं। इसमें संघर्षी वर्ण अधिकतर स्पर्श हो गये हैं। पश्तो का नाम अफ़गानिस्तानी या अफ़गानी भी है। यह अफ़गानिस्तान की भाषा है। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य-रचना, तथा बलाघात आदि का प्रभाव पड़ा है। अब यह भारतीय और ईरानी की एक मध्यवर्ती भाषा-सी हो गई है। कुछ लोग पश्तो को सीधे अवेस्ता की संतान मानते हैं किन्तु यह निश्चित मत नहीं हो सका है। पश्तो के ही एक रूप को पख़्तो कहते हैं, जो पश्चिमोत्तर अफ़गानिस्तान में बोली जाती है। दोनों में उच्चारण-भेद ही प्रधान है।

हिंदूकुश पर्वत पर तथा पामीर की तराई में बहुत-सी ईरानी बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनके समूह को 'पामीरी' कहते हैं। ये बोलियाँ गठन की दृष्टि से कैस्पियन सागर के तट पर प्रचलित ईरानी बोलियों से बहुत-सी बातों में मिलती-जुलती हैं।

(२) दरद

'दरद' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'पर्वत' होता है। संस्कृत साहित्य में काश्मीर के पास के देश के लिए भी 'दरद' का प्रयोग मिलता है। 'दरद' भाषाओं

का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है। कभी इनके बोलने वाले भारत के अन्य भागों में अवश्य थे क्योंकि मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भाषाएँ भी ईरानी और भारतीय के बीच में हैं, किन्तु यदि पश्तो ईरानी की ओर झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। प्राचीन काल में अपने यहाँ दरद भाषाओं को भारतीय परिवार का समझा गया था और उन्हें पैशाची प्राकृत की संज्ञा दी गई थी। दरद वर्ग की खोवार भाषा का क्षेत्र दर्दिस्तान एवं ईरानी के मध्य में है। इसके अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमें चित्राली प्रमुख है। चित्राली के पश्चिम में काफिर वर्ग की बोलियाँ हैं। गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है। यह दरद की प्रतिनिधि भाषा है। इसके अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमें गिलगिटी ही मुख्य है।
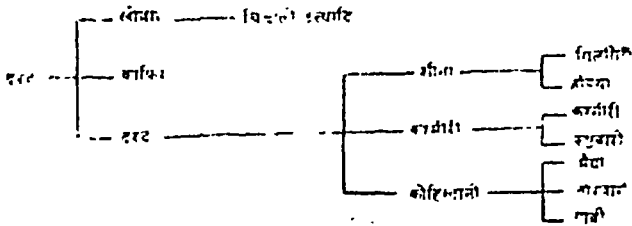
कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। इसे यहाँ 'दरद' के अन्तर्गत रखा गया है। गुणे आदि कुछ प्राचीन विद्वान् इसे भारतीय के अन्तर्गत मानते रहे हैं और पैशाच अप-भ्रंश से इसका विकास मानते रहे हैं। वस्तुतः इस भाषा पर संस्कृत का प्रभाव काफी पड़ा है, इसी कारण इसकी मान्यता रही है। अब ऐसा नहीं मानते। कश्मीरी की कई बोलियाँ हैं। इस शाखा की अन्तिम भाषा कोहिस्तानी है। कोहिस्तानी बोलने वाले बहुत कम हैं। मैया, तोरवारी आदि इसकी प्रधान बोलियाँ हैं।

भारतीय आर्य भाषा[1]

भारत-ईरानी शाखा के ही कुछ आर्य भारत आये और उनके कारण भारत में भारतीय आर्य भाषा में बोली जाने लगी। विद्वानों का विचार है कि ये आर्य भारत में कई दलों में आये। भाषा वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर ग्रियर्सन आदि का कहना है कि कम से कम दो बार तो आर्य अवश्य आये। यों सभी विद्वान् इस बात से सहमत नहीं

---

१. यहाँ भारतीय से आशय भारतीय और पाकिस्तानी दोनों ही से है। भारतीय आर्य भाषा के विस्तृत इतिहास के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'हिन्दी भाषा का प्रवेश'।

हैं। आर्यों के आने के काल के सम्बन्ध में भी विवाद है। अधिकांश लोग यह मानते हैं कि मोटे रूप से यह माना जा सकता है कि १५०० ई० पू० के लगभग आर्य आ चुके थे। इसका आशय यह हुआ कि भारतीय आर्य भाषा का इतिहास १५०० ई० पू० से लेकर २०वीं सदी तक फैला हुआ है। इस साढ़े तीन हज़ार वर्षों के काल को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)

(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल (५०० ई० पू० से १००० ई० तक)

(३) आधुनिक भारतीय आर्य भाषा काल (१००० ई० से २०वीं सदी तक)

इसी आधार पर इन तीनों को प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा० भा० आ०), मध्यकालीन आर्य भाषा (म० भा० आ०) और आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ० भा० आ०) कहते हैं। कुछ विद्वान् इन तीनों के कालों को सौ दो-सौ वर्ष इधर-उधर भी मानते हैं।

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अन्तर्गत भाषा के दो रूप मिलते हैं—'वैदिक संस्कृत' और 'लौकिक संस्कृत'। यों प्रायः दोनों के लिये 'संस्कृत' नाम का प्रयोग होता है। यहाँ दोनों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

वैदिक संस्कृत

इस भाषा के अन्य नाम 'संस्कृत', 'वैदिकी', 'छन्दस्' या 'प्राचीन संस्कृत' आदि भी हैं। वैदिक संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद संहिता में मिलता है। यों चारों वेद, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों की भाषा वैदिक संस्कृत ही है। इन ग्रन्थों में भाषा का एक रूप नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम और दसवें मंडलों को छोड़कर शेष की भाषा पर्याप्त प्राचीन है। यही भाषा अवेस्ता के अधिक निकट है। प्रथम और दसवें की भाषा बाद की है। अन्य संहिताओं (यजुः, साम, अथर्व) ब्राह्मणों और उपनिषदों में कुछ अपवादों को छोड़कर भाषा का क्रम से विकसित होता रूप दृष्टिगत होता है। प्रो० आर्ल्वां मेय्ये तथा कुछ और लोगों का विचार है कि वैदिक संस्कृत का पुराना रूप तब का है जब आर्य पंजाब के आस-पास ही आये थे, बाद की वैदिक रचनाओं की विकसित भाषा तब की है जब वे मध्य देश की ओर आगे बढ़े और सभी दृष्टियों से भारत के अपेक्षाकृत प्राचीन निवासियों का उन पर प्रभाव पड़ चुका था। वैदिक संस्कृत का एक तीसरा रूप भी है, जो कदाचित् उस समय का है, जब आर्य मध्य देश से भी पूरब पहुँच गये। यह काल आठ-नौ सौ ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। वैदिक संस्कृत के जो रूप आज उपलब्ध हैं उन्हें उस काल की बोलचाल का रूप नहीं माना जा सकता। तत्कालीन बोलचाल की भाषा के वे साहित्यिक रूप मात्र हैं।

वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ

मूल भारोपीय ध्वनियों से वैदिक संस्कृत की ध्वनियों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ तक आते-आते ध्वनियों में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था।

व्यंजनों में चवर्ग और टवर्ग दो नये वर्ग आ गये थे। ष, श आदि कुछ फुटकर ध्वनियाँ भी उग आई थीं। दूसरी ओर तीन क वर्गों के स्थान पर केवल एक रह गया था। स्वरों, और स्वनंत या अर्ध-स्वरों में बहुत परिवर्तन हो गया था।

ध्वनियों की पूरी सूची इस प्रकार है—

मूल स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ

संयुक्त स्वर—ए (अइ), ओ (अउ) ऐ (आइ), औ (आउ)

कंठ्य— क, ख, ग, घ, ङ

तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ

मूर्द्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ, ळ्ह, ण

दंत्य—त, थ, द, ध, न

ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म

दंतोष्ठ्य—व

अंतस्थ—य, र, ल, व

शुद्ध अनुनासिक—अनुस्वार (÷)

संघर्षी—श, ष, स, ह. ह, u n (जिह्वामूलीय), u n (उपध्मानीय)

संयुक्त स्वरों के बारे में कुछ विवाद है। कुछ विद्वान् उपर्युक्त चार संयुक्त स्वरों में ए, ओ को मूल स्वर मानते हैं, और संयुक्त स्वर केवल ऐ, औ को स्वीकारते हैं, जिनके उच्चारण क्रम से 'अइ', 'अउ' थे। व्यंजनों में मूर्द्धन्य-ध्वनियों का पाया जाना वैदिक संस्कृत की बहुत बड़ी विशेषता है। इस परिवार की किसी भी अन्य भाषा में यह वर्ग नहीं है। इसके आगमन के विषय में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि द्रविड़ भाषाओं में ये ध्वनियाँ थीं, भारत में आने पर आर्य भाषा पर उन्हीं के प्रभाव के कारण इनका विकास हुआ। सम्भवतः इसीलिए ऋग्वेद के पुराने अंशों में ये ध्वनियाँ कम और केवल कुछ विशेष स्थितियों में ही पाई जाती हैं। पूट (Poot) ओर फ़ॉरतनतुफ़ (Fortunatov) आदि विद्वानों ने ऋ, र, ल आदि के बाद आने वाली दंत्य ध्वनियों के मूर्द्धन्य हो जाने का सिद्धान्त विद्वानों के समक्ष रक्खा था।[1] (विकृत—विकट, संकृत—संकट, कर्त—काट =गहराई, मृद्—मुण्ड आदि)। किन्तु अनेक अपवादों (मृदु, गर्दभ आदि) के मिलने के कारण ब्रुगमान, बार्थोलोम तथा वाकरनागल आदि विद्वानों ने इसे नियम रूप में स्वीकार नहीं किया। यों कुछ अंशों तक यह नियम काम करता है, इसमें संदेह नहीं। वस्तुतः उपर्युक्त दोनों ही बातों को इसका कारण माना जा सकता है। और बाद में तो यों भी दंत्य ध्वनियाँ मूर्द्धन्य होने लगीं (जैसे पतति—पडति, क्वथति—कढइ)। 'ळ्ह' ध्वनि 'ळ्' का महाप्राण है। दंताष्ठ्य 'व' अंग्रेजी के V के समान ध्वनि है। यह 'फ़' का घोष रूप है। माध्यन्दिनी शिक्षा के द्वारा वैदिक संस्कृत में इसके भी होने के प्रमाण मिलते हैं। 'ह्' विसर्ग (:) है जो घोष 'ह्' का अघोष रूप है। जिह्वामूलीय का उच्चारण

१. इसे Fortunatov law कहते हैं।

'ख' जैसा था और उपध्मानीय का 'फ़' जैसा। वस्तुतः अन्तिम चारों संघर्षी ध्वनियाँ एक ही 'ह' के चार ध्वन्यंग (allophone) हैं।

लौकिक संस्कृत

लौकिक संस्कृत के अन्य नाम 'संस्कृत', 'क्लैसिकल संस्कृत' तथा 'देव-भाषा' भी हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक संस्कृत में भाषा के तीन स्तर मिलते हैं—उत्तरी, मध्यदेशीय और पूर्वी। कहना होगा कि इन ऐतिहासिक और भौगोलिक रूपों के समान्तर बोलचाल के भी उत्तरी, मध्यदेशीय, पूर्वी ये तीन रूप रहे होंगे। लौकिक संस्कृत का आधार, इन तीनों में प्रथम अर्थात् 'उत्तरी' रूप (बोलचाल का)ही माना जाता है। यों आगे चलने पर वह अन्य दो से भी प्रभावित हुई होगी। साहित्य में प्रयुक्त भाषा के रूप में इसका आरम्भ ८वीं सदी ई० पू० से होता है। साहित्यिक या क्लैसिकल संस्कृत की आधार-भाषा का बोलचाल में प्रयोग लगभग ५वीं सदी ई० पू० या कुछ क्षेत्रों में उसके बाद तक होता रहा, किन्तु तब तक उत्तरी भारत के आर्य भाषा-भाषियों में कई भौगोलिक बोलियाँ जन्म ले चुकी थीं, जो आगे चलकर विभिन्न प्राकृतों, अपभ्रंशों एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के जन्म का कारण बनीं। पाणिनि (जो स्वयं उत्तरी भाग में तक्षशिला के पास शालातुर नामक स्थान के थे) ने ५वीं सदी ई० पू० के आस-पास ही इस भाषा को व्याकरण-बद्ध किया। संस्कृत नाम कदाचित् उसी काल का है। विकसित होती भाषा पंडितों को बिगड़ती लगी, अतः उसे संस्कृत किया गया। हार्नली, ग्रियर्सन तथा वेबर आदि ने संस्कृत को बोलचाल की भाषा नहीं माना, किन्तु डॉ० भंडारकर तथा गुणे ने इसका खंडन कर यह बहुत पहले दिखला दिया कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी। यह बात दूसरी है कि भाषा का प्रायः साहित्य-प्रयुक्त रूप बोलचाल के रूप से थोड़ा भिन्न होता है। बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा के विरुद्ध परम्परागत कम, और विकासोन्मुख अधिक होती है। संस्कृत के बोलचाल की भाषा के यों तो बहुत से प्रमाण पाणिनि के सूत्रों में ही (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे आदि) हैं। इसके अतिरिक्त विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में रखने के लिए ही कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की थी। यहाँ 'विकसित' का अर्थ ही है कि वह बोलचाल में व्यवहृत होकर आगे बढ़ रही थी।

साहित्य में संस्कृत का प्रयोग महाभारत-रामायण से लेकर शाहजहाँ के काल तक हुआ है और कुछ अंशों में तो अब भी हो रहा है। यूरोप में जो स्थिति लैटिन की रही है, वही स्थिति भारत में संस्कृत की रही है। भारत की सभी भाषाओं ने इससे अगणित शब्द लिये हैं और भारत ही नहीं, अपितु आस-पास की तिब्बती, अफ़गानिस्तानी, चीनी, जापानी, कोरियाई और पूर्वी द्वीपसमूहों की भाषाएँ तथा अरबी आदि ने भी इससे शब्दादि लिए हैं। भारत की भाषाओं के लिए तो अब भी यह कामधेनु है। संस्कृत का साहित्य विश्व के सम्पन्नतम साहित्यों में एक है, और कालिदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में एक हैं।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि संस्कृत उत्तरी भारत में प्रयुक्त बोली पर आधारित थी और इस प्रकार की कम से कम तीन बोलियाँ उस काल में थीं—उत्तरी, मध्यदेशीय और पूर्वी (कुछ लोग एक चौथे रूप 'दक्षिणी' की भी कल्पना करते हैं)। संस्कृत इन तीनों भागों के लोगों में शिष्ट भाषा, साहित्यिक भाषा या राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी।

लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ—ऊपर वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ दी जा चुकी हैं। उनसे लौकिक संस्कृत ध्वनियाँ कुछ ही भिन्न थीं। ऋ, ॠ, और ऌ का स्वर ध्वनियों के रूप में उच्चारण सम्भवतः नहीं होता था। ळ, ळह, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप हो गया था। दंतोष्ठ्य व भी संभवतः नहीं था। वैदिकी में अनुस्वार शुद्ध अनुनासिक ध्वनि थी, जिसे कुछ लोगों ने स्वर तथा कुछ ने व्यंजन माना है। लौकिक संस्कृत में आकर पिछले स्वर से मिलकर उसका उच्चारण अनुनासिक स्वर के समान होने लगा।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की कुछ सामान्य रचनात्मक विशेषताएँ—(१) भाषा श्लिष्ट योगात्मक थी। (२) शब्दों में धातु का अर्थ प्रायः सुरक्षित था। लौकिक संस्कृत तक आते-आते कुछ-कुछ अर्थ-परिवर्तन आरम्भ हो गया था। (३) वैदिकों में रूप-रचना अत्यन्त जटिल थी। रूप बहुत अधिक थे। इनमें अपवादों की संख्या भी पर्याप्त थी। लौकिक संस्कृत में आकर रूप कुछ कम हो गये और अपवाद अपेक्षाकृत बहुत कम हो गये। भाषा अधिक नियमबद्ध हो गई। इस नियमबद्धता में पाणिनि का महत्वपूर्ण हाथ था। (४) वैदिक संस्कृत संगीतात्मक भाषा थी। साथ ही स्वराघात भी था, यद्यपि वह बहुत प्रमुख नहीं था। स्वराघात के कारण अर्थ में परिवर्तन भी हो जाता था। संस्कृत तक आते-आते संगीतात्मकता समाप्त होने लगी, और स्वराघात का और विकास हो गया। (५) ३ लिंग और ३ वचन थे। (६) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित नहीं था। शब्द प्रायः कहीं भी आ सकते थे। वैदिक संस्कृत उपसर्ग भी मूल शब्द से अलग हटाकर रखे जाते थे। (७) वैदिक संस्कृत शब्द-भंडार अधिकांशतः तत्सम शब्दों का था, किन्तु तद्भव शब्द 'प्राकृत' या तत्कालीन लोकभाषा के प्रभाव के कारण थे (जैसे तैत्तिरीय संहिता में 'स्वर्ग' सुवर्ग), विदेशी शब्द काल्डियन आदि के मिलते हैं। द्रविड़ तथा आस्ट्रिक आदि से तो हजारों शब्द लिये गये, जैसे कदली, नाग, तांबूल, कुण्ड, तूल, नीर, दंड, सूर्प आदि।

(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा

पाणिनि ने भाषा का संस्कार करके उसे बाँध दिया और क्लासिकल संस्कृत या लौकिक संस्कृत का एक रूप निश्चित हो गया, किन्तु लोक-भाषा अबाध गति से विकसित होती रही। इस विकास के फलस्वरूप भाषा का जो स्वरूप सामने आया उसे 'प्राकृत' कहते हैं। मोटे रूप से इसका काल ५०० ई० पू० से १००० ई० तक अर्थात् डेढ़ हजार वर्षों का माना जाता है। कुछ लोग इसका आरम्भ ६०० ई० पू० से भी मानते हैं और अन्त ११०० या १२०० ई० में। 'प्राकृत' के हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, तथा

वासुदेव आदि वैयाकरणों ने 'प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' आदि रूप में प्राकृत को संस्कृत से निकली माना है, किन्तु ऐसा असम्भव है।[1] पाणिनि की व्यवस्था में बँधी भाषा में विकास की सम्भावना कहाँ ? मूलतः संस्कृत के काल में जो बोलचाल की भाषा थी, वही विकसित होती रही और उसी का विकसित रूप प्राकृत हुआ। इस प्रकार यदि संस्कृत काल की बोलचाल की लोकभाषा को भी संस्कृत नाम दिया जाय तो प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न माना जा सकता है।

यों तो इस पूरे काल (५०० ई० पू० से १००० ई० तक) की भाषा को प्राकृत कहते हैं, किन्तु इस पूरे काल को प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल और तृतीय प्राकृत काल के रूप में तीन कालों में बाँटा जाता है। उनमें प्रथम काल (आरम्भ से ईसवी सन् के आरम्भ तक) की भाषा पालि और शिलालेखी प्राकृत है, दूसरे काल (ईसवी सन् से लगभग ५०० ई० तक) की भाषा का नाम 'प्राकृत' है, जिसके अन्तर्गत कई प्रकार की प्राकृतें आती हैं। और तीसरे काल (५०० ई० से १००० ई० तक) की भाषा का नाम 'अपभ्रंश' है। यहाँ इन सभी पर क्रम से विचार किया जा रहा है।

पालि

म० आ० भा० के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है। इसे 'देश भाषा' भी कहा गया है। इसका काल कुछ लोग ५वीं या ६ठीं सदी ई० पू० से पहली ईसवी तक और कुछ लोग दूसरी सदी ई० पू० तक मानते हैं।

नाम—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। पालि शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग ४थी सदी में लंका में लिखित ग्रन्थ 'दीपवंस' में हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। तब से काफ़ी बाद तक 'पालि' शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। भाषा के अर्थ में वहाँ मगध भाषा, मागधी, मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है। और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरू में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझ कर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्तियाँ प्रमुखतः दो प्रकार की है। एक तो हैं, जिनमें 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रक्खा गया है, और दूसरी वे हैं, जिनमें अन्य आधार लिये गये हैं : यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है। (१) श्री

---

१. जैसा कि पिशेल ने संकेत किया है, कुछ लोगों ने प्राकृत को प्राक्—कृत (पहले बनी) मानकर, इसे संस्कृत से भी प्राचीन माना है। यों बोलचाल की प्राकृत भाषा का संस्कृत रूप ही 'संस्कृत' है। यदि उस मूल को 'प्राकृत' कहें तो यह ठीक ही है। ग्रियर्सन आदि ने 'प्राइमरी प्राकृत' का प्रयोग कुछ इसी अर्थ में किया था।

विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध संस्कृत 'पंक्ति' (>पन्ति>पत्ति >पठ्ठि>पल्लि>पालि) से है। शुरू में बुद्ध की पंक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ। बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। (२) एक मत के अनुसार वैदिकी और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द 'पल्लि' का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की ऐसी ही भाषा'। (३) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है (भण्डारकर तथा वाकरनागल मानते हैं) इसी लिए शायद इसे 'प्राकृत' नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (>पाकट>पाअड> पाअल>पालि) का ही विकसित रूप है। (४) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पाल्' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रक्खे हैं, इसीलिए यह नाम पड़ा है। (५) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' (णिच्) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। (६) एक मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है। (७) भिक्षु सिद्धार्थ सं० 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध-वचन) इसे (पाठ>पालि>पालि; पालि में संस्कृत 'ठ' का 'ल' हो जाती है) निकला मानते हैं। (८) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति के अर्थ का संस्कृत शब्द मानते हैं। इनके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पंक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिये और फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। (९) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का सम्बन्ध संस्कृत प्रकट (पाअड>पाअल>पालि) से भी जोड़ने के पक्ष में हैं। (१०) डॉ० मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। (११) सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। अधिकांश भारतीय विद्वान् इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाय' (सं० पर्याय) से है। धम्म-परियाय या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास परम्परा परियाय>पलियाय>पालियाय>पालि है।

'पालि' भाषा का आधार—यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः कहाँ की भाषा थी। इस पर सब मिलकर दो दर्जन से ऊपर विद्वानों ने विचार किया है। नीचे कुछ प्रमुख मत अत्यन्त संक्षेप में दिये जा रहे हैं। (१) ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सिंहल या लंका के लोग इसे मागधी कहते हैं। वे इसे मगध की भाषा मानते हैं। ग्रियर्सन, चाइल्डर्स, विंडिश तथा गाइगर भी लगभग इसी मत के हैं। यों विंडिश और गाइगर पालि को उस काल की पूरे देश की अन्तर्प्रान्तीय परिनिष्ठित भाषा मानते हैं और उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य रूपों के मिलने का आधार यही बतलाते हैं। (२) वेस्टरगार्ड, ई० कुहन, फ्रैंक तथा स्टेन कोनो के अनुसार 'पालि' उज्जयिनी विंध्य प्रदेश के आस-पास की बोली पर आधारित थी। (३) ओल्डनबर्ग और ई० मूलर इसे मूलतः कलिंग की भाषा मानते हैं। (४) रीज डेविड पालि को ६वीं-७वीं सदी की कोसल की बोली पर आधारित मानते हैं।

इस प्रश्न पर निर्णय देने के पूर्व इस बात की जानकारी भी आवश्यक है कि

यद्यपि बुद्ध की अपनी भाषा मागधी थी, अतः 'पालि' के लिए उसका आधार अधिक स्वाभाविक है, किन्तु जब हम विभिन्न प्रकार की प्राकृतों के रूपों की पालि के रूपों से तुलना करते हैं तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि : (क) पालि, मागधी या किसी पूर्वी प्रदेश की भाषा या बोली पर प्रमुखतया आधारित नहीं है, (ख) यह बुद्ध के जीवन-काल (छठीं सदी ई० पू०) की भाषा नहीं है, बल्कि काफी बाद की अर्थात् तीसरी सदी ई० पू० के आस-पास की है।

इस प्रसंग में एक बात और भी उल्लेख्य है। बुद्ध भगवान् परम्परावादी न होकर क्रान्तिकारी थे। उन्हें यह बिलकुल पसन्द नहीं था कि सभी लोग उनके उपदेश उन्हीं की भाषा में पढ़े। 'चुल्लवग्ग' की एक कथा से यह स्पष्ट है कि वे चाहते थे, कि लोग अपनी-अपनी भाषा में उनके उपदेशों को पढ़ें।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बुद्ध भगवान ने अपने उपदेश मागधी में भले दिये हों, किन्तु कुछ ही सदियों में उनके अनुवाद उस काल की अन्तर्प्रान्तीय या राष्ट्रीय भाषा में हो गये और आज वही भाषा 'पालि' के रूप में विख्यात है। इसमें थोड़ा बहुत प्रभाव अन्य बोलियों का हो सकता है, किन्तु इसका मूल आधार उस काल की मध्यदेश के आस-पास की बोलचाल की भाषा ही कदाचित् थी। अवधी, ब्रज को सामने रखकर इनके रूपों को देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार इसे क्या अर्द्धमागधी पर आधारित मान सकते हैं ? यों भाषा-विज्ञान की पुर्ननिर्माण-पद्धति के आधार पर तत्कालीन प्राकृतों का स्वरूप स्पष्ट होने पर इस प्रश्न का उत्तर शायद और भी निश्चय के साथ दिया जा सकेगा।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः भगवान् बुद्ध से है। इसमें उन्हीं से संबद्ध काव्य, कथाओं या अन्य साहित्य-विधाओं की रचना प्रमुखतः हुई है। यों कुछ उस विशेष संस्कृति या दर्शन से संवद्ध पुस्तकें भी लिखी गई हैं, इसी प्रकार, छंदशास्त्र या व्याकरण की भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को हिटक और अनुपिटक दो वर्गों में बाँटते हैं, जिनमें जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ-समूह कहना उचित समझा गया है), धम्मपद, मिलिन्दपञ्हो, बुद्धघोष की अट्ठकथा, तथा महावंश आदि प्रमुख हैं। पालि साहित्य का रचना-काल ४८३ ई० पू० से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फैला हुआ है और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः कई दृष्टियों से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त लंका, बरमा और स्याम की भाषाओं पर विशेष तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषा पर कुछ-कुछ पड़ा है।

पालि भाषा की कुछ प्रमुख सामान्य विशेषताएँ—(१) पीछे वैदिक ध्वनियाँ दी जा चुकी हैं। उनमें से अधिकांश ध्वनियों का प्रयोग तो पालि में होता रहा, किन्तु ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ, श्, ष्, विसर्ग या अघोष ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय—इन दस

ध्वनियों का लोप हो गया। साथ ही ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ, दो नयी ध्वनियाँ विकसित हो गईं। शुद्ध अनुनासिक या अनुस्वार वैदिक की भाँति का न होकर संस्कृत का था, जिसका उल्लेख ऊपर संस्कृत के प्रकरण में हो चुका है। संस्कृत और पालि ध्वनियों में सबसे बड़ा अन्तर है कि वैदिक ध्वनियों की ळ और ळ्ह ये दो ध्वनियाँ संस्कृत में नहीं मिलतीं, किन्तु पालि में मिलती हैं। वैदिकी या संस्कृत की तुलना में ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी अनेक प्रवृत्तियाँ इसमें दिखाई पड़ती हैं, जैसे स्वरों के बीच के 'ड', 'ढ' का प्रायः क्रम से 'ळ' और 'ळ्ह' हो जाना; बहुत से अघोष व्यंजनों का सघोष व्यंजन हो जाना (क>ग, च>ज, थ>ध); श, ष का स हो जाना; तथा स्वरभक्ति, समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय आदि। प्राकृतों में संयुक्त व्यंजनों में समीकरण की प्रवृत्ति पालि-काल में ही शुरू हो गई थी। (२) ध्वनि और रूप दोनों ही दृष्टियों से पालि में तत्कालीन कई बोलियों के तत्त्व हैं। (३) ध्वनि और रूप दोनों ही दृष्टियों से पालि वैदिक संस्कृत के निकट है, यहाँ तक कि संस्कृत की अपेक्षा भी वह निकट है यद्यपि इसमें बहुत से विकसित रूपों का भी प्रयोग हुआ है। (४) पालि साहित्य देखने से पता चलता है कि आद्यंत पालि का एक रूप नहीं रहा है। उसके कम से कम चार सीढ़ियों का अनुमान लगता है। भाषा की पहली सीढ़ी त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म) की गाथाओं में मिलती है। यह पालि प्राचीनतम रूप है। इसमें रूपों का बाहुल्य है। यह भाषा वैदिक संस्कृत के बहुत निकट है। भाषा का इससे कुछ विकसित रूप त्रिपिटक के गद्य भाग में मिलती है। यहाँ रूप कम हैं और उनमें अपेक्षाकृत एकरूपता है। इसमें कुछ ऐसे नये रूप भी मिलते हैं, जो प्रथम में नहीं हैं, साथ ही प्रथम के पुराने रूपों को इसमें स्थान नहीं मिला है। पालि के विकास की तीसरी सीढ़ी और बाद के गद्य जैसे 'मिलिन्दपञ्ह' या बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' आदि में मिलती है। चौथी सीढ़ी उत्तरकालीन काव्य ग्रंथों—जैसे दीपवंस, महावंस आदि—की भाषा में मिलती है। इस रूप पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है, साथ ही इस भाषा में जीवन के लक्षण नहीं हैं। एक कृत्रिमता-सी है, जो यह स्पष्ट कर देती है कि पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर इस भाषा का भवन खड़ा है। (५) पालि में तद्भव शब्दों का प्रयोग ही अधिक है। इसके बाद संख्या तत्सम और देशज की है। विदेशी शब्द बहुत कम हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में आस्ट्रिक तथा द्रविड़ से जो शब्द आये थे, प्रायः इसमें भी हैं। (६) संगीतात्मकता तथा स्वराघात के सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ कहना कठिन है। एक मत के अनुसार वैदिक संगीतात्मकता या संगीतात्मक स्वराघात पालि में भी कुछ था। किन्तु टर्नर जैसे कुछ विद्वानों के अनुसार वैदिकी की भाँति बलात्मक और संगीतात्मक दोनों प्रकार के स्वराघात थे। ग्रियर्सन के अनुसार इसमें केवल बलात्मक स्वराघात था। ज़्यूल ब्लाक को पालि में किसी भी बलाघात के होने के बारे में संदेह है। टर्नर का मत अधिक ठीक लगता है। (७) द्विवचन का प्रयोग नाम तथा धातु-रूपों में नहीं था। लिंग तीन थे। (८) समवेत रूप से रूप कम हो गये। (९) व्यंजनांत प्रातिपादिक बहुत कम रह गये थे। (१०) आत्मनेपद कुछ ही रूपों में शेष था।

शिलालेखी प्राकृत

म० भा० आ० के प्रथम युग के अंतर्गत ही शिलालेखी प्राकृत या अशोक के शिलालेखों की प्राकृतें भी आती हैं। इसे कुछ लोग अशोकीय प्राकृत या अशोकन प्राकृत भी कहते हैं। अशोक के अनेक लेख लाटों पर मिलते हैं, इसीलिए कुछ लोगों ने इसे 'लाट प्राकृत' या 'लाट बोली' भी कहा है। पिशेल इसे लेण (सं० लयन=गुफा) बोली या प्राकृत कहना अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि इसमें शिलालेख गुफाओं में भी मिलते हैं। डॉ० गुणे इस नाम को ठीक नहीं मानते। यथार्थतः इसका नाम 'शिलालेखी प्राकृत' बिल्कुल नहीं तो कम से कम अधिक उचित अवश्य है। अशोक ने अपने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में अपने शासन तथा धर्म-सिद्धान्तों आदि के विषय में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में बहुत से अभिलेख खुदवाये थे। ये लेख प्रमुखतः स्तंभों और चट्टानों पर हैं, जिनकी संख्या ३० से ऊपर है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन अभिलेखों का बहुत महत्त्व है। इनसे ईसा पूर्व तीसरी सदी के लगभग मध्य भाग की भाषा के स्वरूप का पता चल जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन सब की भाषा एक न होकर उस-उस क्षेत्र की है, जहाँ-जहाँ के लिये ये खोदे गये थे। इस प्रकार तत्कालीन प्राकृत के विभिन्न रूपों का भी इनसे पता चल जाता है। इस काल के आसपास के अशोक के अतिरिक्त कुछ अन्य राजाओं आदि के भी अभिलेख मिलते हैं, किन्तु उनका महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। अशोक के लेखों का भाषा की दृष्टि से अध्ययन किया जा चुका है, किन्तु परिणाम के सम्बन्ध में फ्रैंक, सेनार्ट तथा गुणे आदि विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार इनसे दो बोलियों का पता चलता है। कुछ के अनुसार तीन का, कुछ के अनुसार चार का और कुछ के अनुसार पाँच का। ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृत काल में ही उत्तरी, मध्य और पूर्वी तीन बोली रूप विकास पर थे। इस समय तक आते-आते मोटे रूप से पाँच रूपों का विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। यों शिलालेखों से उत्तर-पश्चिमी, दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी इन तीनों रूपों का तो स्पष्ट पता चलता है, किन्तु साथ ही मध्यदेशीय और दक्षिणी का अनुमान लगाने का भी आधार मिल जाता है। इन बोलियों में रूप और ध्वनि दोनों के अंतर हैं। ध्वनि-विषयक अंतरों में श्, ष्; र्, ल्; ञ्, ण् के प्रयोग के अंतर प्रमुख हैं।

कुछ प्रमुख विशेषताएँ—(१) ध्वनियाँ प्रायः पालि के समान ही हैं। प्रमुख अंतर ऊष्मों के सम्बन्ध में है। पालि में केवल 'स' का प्रयोग मिलता है, किन्तु शिलालेखी प्राकृतों में इस दृष्टि से ऐक्य नहीं है। शहबाजगढ़ी के अभिलेख में श्, ष्, स् तीनों हैं। इसका आशय यह हुआ कि उत्तरी-पश्चिमी बोली में संभवतः उस काल में ये तीनों ध्वनियाँ प्रयुक्त होती थीं; किन्तु दक्षिणी-पश्चिमी में पालि की तरह केवल 'स' है। इसी प्रकार र्, ल् ञ्, ण के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विभिन्नता है। (२) पालि की तरह ही संस्कृत की तुलना में इसमें भी ध्वनियों में विकास हो गया है, यह विकास आगम, लोप, समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय, तालव्यीकरण, मूर्द्धन्यीकरण, ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण तथा घोषीकरण आदि अनेक दिशाओं में हुआ है। (३) प्रातिपदिक

अधिकांशतः स्वरांत हैं। (४) द्विवचन नहीं है। लिंग तीन हैं। (५) सादृश्य के कारण पालि की तुलना में भी, इसमें रूप कम मिलते हैं। (६) आत्मनेपद समाप्तप्राय है। (७) अन्य अधिकांश बातों में भी यह भाषा पालि के समान है।

प्राकृत

म० भा० आ० का दूसरा युग प्राकृतों का है। इसके अन्य नाम 'देसी' आदि भी मिलते हैं। यों मध्यकालीन आर्य भाषा के सभी रूपों को 'प्राकृत' कहते हैं, ऊपर म०भा० आ० के प्रथम युग के शिलालेखों की भाषा को भी प्राकृत कहा गया है किन्तु यहाँ प्राकृत का अर्थ लगभग पहली सदी से ५०० ई० तक की 'प्राकृत भाषा' है। कुछ लोगों ने इस 'प्राकृत' और म० भा० आ० के प्रथम युग की 'पालि और शिलालेखी प्राकृत' का काल क्रमशः २०० ई० से ६०० ई० तक और ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक मानते हुए दोनों के बीच में २०० ई० पू० से २०० ई० तक का एक संक्रान्ति-काल माना है। इस संक्रान्ति-काल की प्रमुख सामग्री तीन रूपों में है—अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (रचना-काल १०० ई०), धम्मपद की प्राकृत (२०० ई०) और निय प्राकृत (ईसा की तीसरी सदी)। ये तीनों ही, काल की दृष्टि से, प्रस्तुत प्राकृत या म० भा० आ० के दूसरे युग (१ ई० से ५०० ई०) में पड़ते हैं, अतः इन्हें अलग संक्रांति-काल में न रखकर इसी में स्थान दिया जा रहा है।

नाम—'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। जैसा कि पिशेल ने दिया है, कुछ वैयाकरण इसका विश्लेषण 'प्राक्+कृत' अर्थात् पहले बनी हुई करते हैं और इस रूप में इसे संस्कृत से पहले की मानते हैं। हेमचन्द्र 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्' रूप में प्राकृत को संस्कृत से निकली मानते हैं। नमि साधु सामान्य लोगों में व्याकरण के नियमों आदि से रहित सहज वचन-व्यापार को प्राकृत का आधार मानते हैं—'सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित-संस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।' ऐसा अनुमान लगता है कि एक भाषा का संस्कार करके उसके रूप को 'संस्कृत' नाम दिया तो, वह भाषा जो असंस्कृत थी और पंडितों में प्रचलित भाषा के विपरीत जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में सहज रूप में बोली जाती थी; स्वभावतः 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत की उत्पत्ति वेद और संस्कृतकालीन जन-भाषा के विकसित रूप से है। पालि-काल की समाप्ति के बाद लोक-भाषा का यही रूप था। पालि के कई स्थानीय रूपों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्राकृतों का प्राचीनतम रूप शिलालेखी प्राकृतों का है, जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि उसके ४-५ रूपों के होने का अनुमान लगता है। यहाँ पहले प्राकृत के वे तीन रूप लिये जा रहे हैं, जिन्हें कुछ लोग संक्रांति-काल का मानते हैं।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत—अश्वघोष का रचना-काल १०० ई० के आस-पास माना जाता है। इनके दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली हैं, जिन्हें जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादित किया है। इन नाटकों में प्रयुक्त, अशोक के

अभिलेखों की प्राकृतों से बहुत मिलती-जुलती है। भौगोलिक (या बोली की) दृष्टि से इसमें प्राचीन मागधी, प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन अर्द्धमागधी, इन तीनों का प्रयोग हुआ है। साहित्य का अंग होने के कारण ये प्राकृतें संस्कृत से प्रभावित हैं। आगे भी संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मिलता है। इसे उस समय परम्परा का आरम्भ समझना चाहिये।

धम्मपद की प्राकृत—१८९२ में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइल द रॉ को खोतान में खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। ओल्डेन वर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय एवं अन्य भारतीय विद्वानों के प्रयास के बाद इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया 'धम्मपद' निकला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते हैं। इसकी रचना २०० ई० के लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है।

नियं प्राकृत—ऑरेल स्टेन को १९०० के १९१४ के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक प्रदेश में कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। १९३७ में टी० वरो ने इसकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। निय प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। प्राकृत धम्मपद की भांति ही निय प्राकृत का आधार भी भारत के पश्चिमी प्रदेश की प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। यह प्राकृत ईरानी, मंगोलियन और तोखारी से प्रभावित है।

अन्य प्राकृतें—ऊपर जिन तीन प्राकृतों का उल्लेख किया गया है वे भारत के बाहर मिली हैं, यों उनका सम्बन्ध भारत-स्थित प्राकृतों से है और उनके आधार पर यह भी अनुमान लगता है कि उस काल में कम से कम चार प्राकृतें—शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी तथा पश्चिमोत्तरी—थीं। यहाँ पहले प्राकृतों के भेद पर विचार किया जा रहा है।

प्राकृतों के भेद कई दृष्टियों से किये गये हैं। धार्मिक दृष्टि से लोगों ने प्राकृत के पालि (इस पर ऊपर विचार हो चुका है), अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, और जैन शौरसेनी प्रायः ये चार भेद माने हैं। साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची के नाम लिये गये हैं। नाटक की दृष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है, किन्तु ये सभी भेद मूलतः भौगोलिक या व्याकरणिक हैं। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों में वररुचि उल्लेख्य हैं। उन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी इन चारों का उल्लेख किया गया है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये हैं—आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। इनमें 'आर्ष' को ही अन्य लोगों ने 'अर्धमागधी' कहा है। कुछ अन्य व्याकरणों तथा अन्य स्रोतों से कुछ और प्राकृतों के भी नाम मिलते हैं, जैसे बाह्लीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चांडाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गौड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद थे। आभीरिका शौरसेनी का जातीय (आभीरों की) रूप था और अवन्ती या अवंतिका उज्जैन के

पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दंडी ने 'भूत भाषा' कहा है (ग़लती से पैशाची का अर्थ 'पिशाच' या 'भूत' की समझ कर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचंद्र ने 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हेमचंद्र ने ये दोनों नाम अलग-अलग दिये हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौड़ी का अर्थ है 'गौड़' देश का। इसका आशय यह है कि मागधी का ही एक नाम है।

इस प्रसंग में कुछ और नामों पर भी विचार आवश्यक है। प्राकृतों के साथ 'गाथा' का नाम भी लिया जाता है। गाथा को भाषा, संस्कृत का प्राकृतों से प्रभावित रूप है; या इसे संस्कृत-प्राकृत का मिश्रित रूप भी कह सकते हैं। इससे बौद्धों और जैनों ने बहुत-सी रचनाएँ की हैं, जिनमें जातकमाला, ललितविस्तर, अवदान-शतक आदि प्रमुख हैं। मैक्समूलर तथा वेबर इसे संस्कृत और पालि के बीच की भाषा मानते थे। इस भाषा का आगे विकास नहीं हो सका।

कुछ लोग एक पश्चिमी प्राकृत की भी कल्पना करते हैं, जो सिन्ध में बोली जाती रही होगी, तथा जिससे 'व्राचड' अपभ्रंश का विकास हुआ होगा। यह व्राचड वर्तमान सिंधी की जननी है। पंजाबी और लहँदा क्षेत्र में भी उसी काल में कोई प्राकृत रही होगी, जिसे कुछ विद्वानों ने केकय प्राकृत कहा है। टक्क और मद्र या टाक्की या माद्री प्राकृत इसी की शाखाएँ थीं। राजस्थानी और गुजराती, शौरसेनी से प्रभावित तो हैं, किन्तु उनका आधार नागर अपभ्रंश है। वहाँ उस काल में नागर प्राकृत की भी कल्पना कुछ लोगों ने की है। इसी प्रकार पहाड़ी भाषाओं के लिए 'खस' अपभ्रंश की कल्पना की गई है। उसका आधार खस प्राकृत हो सकती है। चंबल और हिमालय के बीच गंगा के किनारे एक 'पांचाली' प्राकृत का भी उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता हैं, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं— (१) शौरसेनी, (२) पैशाची (इसके उत्तरी-दक्षिणी दो रूपान्तर सम्भव हैं), (३) महाराष्ट्री, (४) अर्द्धमागधी, (५) मागधी। आगे इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) शौरसेनी—यह प्राकृत मूलतः मथुरा या सूरसेन के आस-पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालीन स्थानीय बोली से हुआ। मध्य प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं। मध्य देश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। संस्कृत नाटकों की गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कर्पूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। जैनों (दिगंबर संप्रदाय) ने अपने सांप्रदायिक ग्रंथों के लेखन में भी इसका प्रयोग किया है। ऐसे ग्रंथों की भाषा 'जैन शौरसेनी' या 'दिगंबर शौरसेनी' कही गई है। यह मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है।

पिशेल के अनुसार इसका विकास दक्षिण में हुआ। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप अवन्ती, आभीरी आदि हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—(१) दो स्वरों के बीच में आने वाला सं० (=संस्कृत) 'त' इनमें 'द' हो गया है और 'थ' 'ध' (गच्छति—गच्छदि, कथय—कधेहि)। यद्यपि इसके अपवाद भी मिलते हैं। (२) दो स्वरों के बीच की 'द' 'ध' ध्वनियाँ प्रायः सुरक्षित हैं (जलदः—जलदो)। (३) 'क्ष' का विकास 'क्ख' में हुआ है। (इक्षु—इक्खु)। (४) केवल परस्मैपद का प्रयोग मिलता है, आत्मनेपद का नहीं (५) रूपों की दृष्टि से, यह कुछ बातों में संस्कृत की ओर झुकी है, जो मध्य देश में रहने का प्रभाव है, किन्तु साथ ही, महाराष्ट्री से भी इसका काफ़ी साम्य है।

(२) पैशाची—इसके अन्य नाम पैशाचिकी, पैशाचिका, ग्राम्यभाषा, भूतभाषा, भूतवचन, भूतभाषित आदि भी मिलते हैं। अंतिम तीन नाम 'पिशाच' को 'भूत' का पर्याय समझ लेने के आधार पर रक्खे गये हैं। महाभारत में 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। ये उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के पास थे। ग्रियर्सन इसे वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते हैं। हार्नली इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना है। वररुचि इसका आधार संस्कृत मानते हैं। इसमें साहित्य नहीं के बराबर है। हम्मीरमर्दन तथा कुछ अन्य नाटकों में कुछ पात्रों ने इसका प्रयोग किया है। पैशाची के कई भेदों के उल्लेख मिलते हैं। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्यों ने इसका एक रूप 'चूलिका पैशाची' दिया है। मार्कण्डेय आदि ने कैकेय, पांचाल और शौरसेनी तीन भेद दिये हैं। 'प्राकृत सर्वस्व' में देश तथा जाति के आधार पर इसके ग्यारह भेद दिये गये हैं। लेसेन मागध, व्राचड, पैशाचिक तीन भेद मानते हैं। इन बहुत से भेदों के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि पैशाची केवल अपने स्थान पर ही प्रचलित न होकर चारों ओर निम्नस्तर के लोगों में प्रचलित थी।

प्रमुख विशेषताएँ—(१) दो स्वरों के बीच में आने वाले स्पर्श वर्गों के तीसरे और चौथे घोष व्यंजन इसमें पहले और दूसरे अर्थात् अघोष हो गये हैं (गगन—गकन, मेघः—मेखो)। (२) इसके कुछ रूपों में 'ल' के स्थान पर 'र' और कुछ में 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है। दोनों का वैकल्पिक-सा प्रयोग है। (रुद्रं—लुद्दं, कुमार—कुमाल)। (३) 'ष' के स्थान पर कहीं तो 'श' और कहीं 'स' मिलता है। (विषय—विसमो, तिष्ठति—चिश्तदि) (४) अन्य प्राकृतों की तरह स्वरों के बीच में आने वाले स्पर्श इसमें लुप्त नहीं होते।

(३) महाराष्ट्री—इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। जूल ब्लाक ने मराठी का विकास इसीके बोलचाल के रूप से माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मान कर महाराष्ट्र अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानने के पक्ष में हैं। इसी रूप में डॉ० मनमोहन घोष ने इसे शौरसेनी के बाद की माना है। डॉ० सुकुमार सेन का भी लगभग यही मत है। यदि इसे ठीक मानें तो महाराष्ट्री को शौरसेनी प्राकृत और

शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की भाषा मान सकते हैं। कुछ लोग इसे काव्य की कृत्रिम भाषा मानते रहे हैं, किन्तु अब यह मत निर्मूल सिद्ध हो चुका है। महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य की दृष्टि से बहुत धनी है। यह काव्य-भाषा रही है। गाहा सत्तसई (हाल), रावणवहो (प्रवरसेन) तथा वज्जालग्ग (जयवल्लभ) इसकी अमर कृतियाँ हैं। काव्य-भाषा के रूप में इसका प्रचार पूरे उत्तरी भारत में था और इसमें 'गीति', 'खंड' और 'महा' सभी प्रकार के काव्य लिखे गये। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों के गीत की भाषा यही है। कुछ लोग समझते हैं कि महाराष्ट्री में केवल कविता की रचना हुई, गद्य की नहीं। किन्तु यथार्थतः बात यह नहीं है। श्वेतांबर जैनियों ने इसमें कुछ धार्मिक गद्य-ग्रंथ भी लिखे हैं, जिनकी भाषा को याकोबी ने 'जैन महाराष्ट्री' कहा है। इस भाषा पर अर्द्धमागधी का भी प्रभाव पड़ा है। कुछ बौद्ध ग्रंथ भी महाराष्ट्री में मिलते हैं। महाराष्ट्री, प्राकृतों में परिनिष्ठित भाषा मानी गई है। इसीलिए वैयाकरणों ने पहले इसी का सविस्तार वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों के केवल इससे अंतरों का उल्लेख कर दिया है। इसी आधार पर कुछ लोग इसे 'मराठा देश' से सम्बन्ध न मानकर पूरे भारत (महाराष्ट्र) की कहते हैं।

कुछ प्रमुख विशेषताएँ—(१) इसमें दो स्वरों के बीच आने वाले अल्प प्राण स्पर्श (क, त, प, द, ग आदि) प्रायः लुप्त हो गये हैं। (प्राकृत—पाउअ, गच्छति—गच्छइ) (२) उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श (ख, थ, फ, ध, घ) का केवल 'ह' रह गया है। (क्रोधः—कोहो, कथयति—कहेइ) (३) ऊष्म ध्वनियों स, श का प्रायः 'ह' हो गया है। (तस्य—ताह, पाषाण—पाहाण), (४) कर्मवाच्य 'य' (गम्यते) का 'इज्ज' (गमिज्जइ) बनता है। (५) पूर्वकालिक क्रिया बनाने में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है। (सं० पृष्ट्वा—पुच्छिउण)

(४) **अर्द्धमागधी**—अर्द्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है, अर्थात् यह प्राचीन कोशल, तथा आसपास की भाषा है। इसमें मागधी की प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम अर्द्धमागधी है। जैनियों ने इसके लिए 'आर्ष', 'आर्षी' और 'आदि भाषा' का भी प्रयोग किया है। इसका प्रयोग प्रमुखतः जैन-साहित्य में हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गये हैं। यों साहित्यिक नाटकों में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष में मिलता है। साहित्य-दर्पणकार ने इसे चरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा है। मुद्राराक्षस और प्रबोध-चंद्रोदय में भी इसका प्रयोग मिलता है, कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिसको स्थानीय रूपों में रूपांतरित किया गया है। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

प्रमुख विशेषताएँ—(१) ष, श के स्थान पर प्रायः 'स' मिलता है। (श्रावक—सावग), (२) दंत्य ध्वनियाँ मूर्द्धन्य हो गई हैं। (स्थित—ठिय, कृत्वा—कट्टु), (३) चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। (चिकित्सा—तेइच्छा) (४) जहाँ कुछ अन्य प्राकृतों में स्वरों के बीच स्पर्श का लोप मिलता है, वहाँ इसमें 'य' श्रुति मिलती

है। (सागर—सायर, स्थित—ठिय) (५) गद्य और पद्य की भाषा के रूपों में अन्तर है। सं०—अः (प्रथमा एक वचन) के स्थान में प्रायः गद्य में मागधी की तरह—'ए' का प्रयोग हुआ है, और प्रायः पद्य में शौरसेनी के समान—'ओ' का।

मागधी—मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते हैं। लंका में 'पालि' को ही 'मागधी' कहते हैं। मागधी में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष में मिलता है। इसे 'गौड़ी' भी कहते हैं। वाह्लीकी, ढक्की, शावरी तथा चांडाली इसके जातीय रूप थे। शाकारी इसकी उपबोली थी। प्रमुख विशेषताएँ—(१) इसमें स, ष के स्थान पर 'श' मिलता है। (सप्त—शत्त, पुरुष—पुलिश), (२) इसमें 'र' का सर्वत्र 'ल' हो जाता है। (राजा—लाजा) (३) 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' मिलता है। (उपस्थित—उवस्तिद, अर्थवती—अस्तवदी), (४) कहीं-कहीं ज का य हो जाता है। (जानाति—याणादि); (५) ऐसे संयुक्त व्यंजन में जिनमें प्रथम ध्वनि ऊष्म हो, समीकरण आदि परिवर्तन अन्य प्राकृतों की तरह प्रायः नहीं होते। (हस्त—हस्त), (६) प्रथमा एकवचन में संस्कृत के विसर्ग (:) के स्थान पर यहाँ ए मिलता है। (देवः—देवे, सः—शे)

प्राकृत भाषाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ—(१) ध्वनि की दृष्टि से प्राकृत भाषाएँ पालि के पर्याप्त निकट हैं। इनमें भी पालि की तरह ह्रस्व ए और ओ, ळ् ळ्ह का प्रयोग चलता रहा। ऐ, औ, ऋ, ऌ, का प्रयोग नहीं हुआ। ऋ का प्रयोग लिखने में तो हुआ है किन्तु भाषा में यह ध्वनि थी नहीं। वे ध्वनि-विशेषताएँ जो पालि में प्राकृत को अलग करती हैं, इस प्रकार हैं। (क) ऊष्मों में पालि में केवल 'स' का प्रयोग था। प्राकृत में पश्चिमोत्तरी क्षेत्र में श, ष, स तीनों ही कुछ काल तक थे। बाद में 'ष' ध्वनि 'श' में परिवर्तित हो गयी। नीय प्राकृत में भी तीनों ऊष्म मिलते हैं। मागधी में केवल 'श' है। अन्य बहुतों में पालि की तरह प्रायः केवल 'स' (जैसे अर्धमागधी में) मिलता है और कुछ में श, ष दोनों ही (पैशाची)। (ख) य, र, ल के प्रयोग के सम्बन्ध में भी कुछ विशेषताएँ हैं। मागधी में 'र' ध्वनि नहीं है। उसके स्थान पर 'ल' मिलता है। कुछ अन्य में कभी-कभी 'र' के स्थान पर 'ल' और 'ल' के स्थान पर 'र' मिलता है। आद्य 'य' सामान्यतः 'ज' होता देखा जाता है, किन्तु मागधी में 'ज' का 'य' होना भी पाया जाता है। (ग) सबसे विचित्र बात है कि कुछ ऐसे संघर्षी व्यंजनों का प्रयोग जो प्रायः भारतीय भाषाओं में केवल आधुनिक काल में प्रयुक्त माने जाते हैं जैसे 'ज़' 'ग़' आदि। नीय प्राकृत में 'ज़' ध्वनि है। यद्यपि यह बाहरी प्रभावों के कारण है, किन्तु ऐसा मानने के लिये आधार है कि दूसरी-तीसरी सदी के लगभग प्राकृतों में सामान्य-रूप से बहुत से स्पर्शों का स्वरूप कुछ दिन के लिए परिवर्तन के संक्रान्ति-काल में संघर्षी हो गया था, यद्यपि इन संघर्षी ध्वनियों के लिए उस काल में अलग लिपि-चिह्नों का प्रयोग नहीं किया गया। ये स्पर्श घोष थे। (जैसे ग़, घ़, ध़ आदि)

(२) प्राकृतों में 'न' का विकास प्रायः 'ण' रूप में हुआ है। ड़, ढ़, भी थे।

(३) पालि-काल में जिन ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियों (समीकरण, लोप, स्वर-भक्ति आदि) का प्रारम्भ हुआ था, इस काल में वे और सक्रिय हो गईं। ध्वनि-परिवर्तन सबसे अधिक महाराष्ट्री तथा मागधी में हुए।

(४) ध्वनियों के विकास के कुछ विशेष रूप भी इस काल में दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि वे सार्वभौम न होकर प्राय: क्षेत्रीय अधिक हैं—अल्प-प्राण स्पर्शों का स्वर मध्यग होने पर लोप; महाप्राण स्पर्शों का स्वर मध्यग होने पर 'ह' में परिवर्तन; संस्कृत में विसर्ग के स्थान पर प्राय: ए, ओ; 'म' का 'व' रूप में परिवर्तन; तथा घोष स्पर्शों का अघोष और अघोष का घोष में परिवर्तन आदि।

(५) प्राकृतों में व्यंजनांत शब्द प्राय: नहीं हैं।

(६) द्विवचन के रूपों का प्रयोग (संज्ञा, क्रिया आदि में) प्राकृतों में नहीं मिलता। 'नीय' प्राकृत अपवाद है, जिसमें कुछ द्विवचन के रूप हैं।

(७) आत्मनेपद पालि की तरह ही प्राकृतों में भी प्राय: नहीं के बराबर है।

(८) पालि में वैदिकी की भाँति रूप बत थे किन्तु कम हो रहे थे। प्राकृत काल में आते-आते सादृश्य के कारण नाम और धातु दोनों ही रूपों में और भी कमी हुई। इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई।

(९) वैदिकी और संस्कृत, संयोगात्मक भाषाएँ थीं। पालि में भी यह विशेषता सुरक्षित है, किन्तु प्राकृत काल में भाषा संयोगात्मकता या वियोगात्मकता की ओर तेजी से बढ़ने लगी। भाषा में वियोगात्मकता प्रमुखत: दो कारणों से आती है—(१) कारक-चिन्हों या परसर्गों के प्रयोग से, (२) क्रिया में कृदंती रूपों एवं सहायक क्रिया के प्रयोग से। प्राकृतों में कृदंती रूपों का प्रयोग आरम्भ हो गया। कारक-रचना में स्वतंत्र शब्द, जोड़े जाने लगे जो आधुनिक काल में आकर परसर्ग बने (जैसे संस्कृत 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्य केरक घरम्' आदि)।

(१०) संस्कृत की तुलना में शब्दों में अर्थ की दृष्टि से भी परिवर्तन हुए। धातु के अर्थ शब्दों में पूर्णत: सुरक्षित न रह सके।

(११) स्वराघात के सम्बन्ध में वही स्थिति है जो 'पालि' के बारे में कही जा चुकी है।

(१२) प्राकृतों में अधिकांश शब्द तद्भव हैं। इनमें उन शब्दों के भी तद्भव हैं, जो आस्ट्रिक या द्राविड़ आदि से संस्कृत में लिए गए थे। साथ ही इस काल तक आते-आते आर्य भाषा में अनुकरण के आधार पर, या यों भी, बहुत से देशज शब्दों का भी विकास हो गया। हेमचन्द्र के 'देशी नाममाला' तथा धनपाल की 'पाइअलच्छी' में ऐसे शब्द हैं, यद्यपि इनमें बहुत से अन्य प्रकार के शब्दों को भी गलती से देशी मान लिया गया है।

अपभ्रंश

मध्य आर्य भाषा का अन्तिम रूप 'अपभ्रंश' के रूप में दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश का विकास प्राकृतकालीन बोलचाल की भाषा से हुआ है, और इस रूप में उसे

प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। विभिन्न ग्रंथों में 'अपभ्रंश' के अन्य नाम 'ग्रामीण भाषा', 'देसी', 'देश भाषा', 'आभीरोक्ति', 'अपभ्रष्ट', 'अवहंस' (अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप), अवहत्थ, अवहट्ठ[1], अवहठ तथा अवहट्ट (ये चारों 'अपभ्रष्ट' शब्द के विकसित रूप हैं) आदि मिलते हैं। 'अपभ्रंश' का अर्थ है 'बिगड़ा', 'भ्रष्ट' या 'गिरा हुआ'। भाषा का विकास पंडितों को सर्वदा ही ह्रास दिखाई पड़ता है, प्रस्तुत नामकरण के पीछे स्पष्टतः यही प्रवृत्ति है। 'अपभ्रंश' का काल मोटे रूप से ५०० ई० से १००० ई० तक है। कुछ लोगों ने इसे ६०० ई० से ११०० ई० या १२०० ई० तक माना है। यों जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे छठीं सदी से इसमें काव्य-रचना होने लगी थी और छठीं सदी में ही इसके लिये 'अपभ्रंश' नाम का प्रयोग भी होने लगा था। ये दोनों ही बातें भाषा के आरम्भ होते ही प्रायः सम्भव नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में अधिक वैज्ञानिक यही होगा कि छठीं सदी से कुछ पूर्व से अपभ्रंश का आरम्भ माना जाय।

'अपभ्रंश' शब्द के प्राचीनतम प्रयोग व्योडि (पतंजलि से कुछ पूर्व) तथा पतंजलि के महाभाष्य (ई० पू० १५० के लगभग) आदि में मिलते हैं, किन्तु वहाँ इसका अर्थ भाषा विशेष न होकर 'संस्कृत शब्द या तत्सम शब्द का बिगड़ा हुआ रूप' है। भाषा के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग सर्वप्रथम छठीं सदी में मिलते हैं। इस दृष्टि से भामह के काव्यालंकार' और चंड के 'प्राकृत लक्षणम्' के नाम उल्लेख्य हैं।

अपभ्रंश भाषा के प्राचीनतम उदाहरण भारत के नाट्यशास्त्र (३०० ई०) में मिलते हैं। इसका आशय यह है कि उसके बीज इससे भी कुछ पूर्व फूटने लगे थे। आगे चल कर कालिदास के नाटक 'विक्रमोवशी' के चौथे अंक में अपभ्रंश के कुछ छंद मिलते हैं। इन छंदों के सम्बन्ध में थोड़ा विवाद भी है। कुछ इसे बाद का प्रक्षिप्त मानते हैं, और कुछ कालिदास का लिखा। यों कालिदास द्वारा लिखित होने का मत अधिक ठीक लगता है। छठीं सदी तक आते-आते अपभ्रंश में काव्य-रचना होने लगी थी। तब से लेकर १५वीं-१६वीं सदी तक इसमें साहित्य-रचना हुई (यद्यपि बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रचार १००० ई० के आसपास समाप्त हो गया), जिनमें उल्लेख्य ग्रंथ, रइधू का करकंड चरिउ, धर्मसूरि का जंबूस्वामी रासा, पुष्पदंत का आदि-पुराण, सरह का दोहाकोश, रामसिंह का पाहुड दोहा, स्वयंभू का पउम चरिउ तथा धनपाल की 'भविसयत्तकहा' आदि हैं।

अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि अपभ्रंश की प्रारंभिक विशेषताएँ सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर प्रदेश में विकसित हुईं। कीथ आदि कुछ लोगों ने मूलतः अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों तथा गूजरों से माना है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी परिनिष्ठित अपभ्रंश का सम्बन्ध मध्य देश की भाषा से मानते हैं, यद्यपि बाद में वे उस पर अपभ्रंश

---

[1] अवहट्ठ या अवहठ को कुछ लोगों ने अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की कड़ी माना है। मैं इस पक्ष में नहीं हूँ। वस्तुतः अपभ्रंश के लिए जो अनेक शब्द प्रचलित मिले हैं, 'अवहट्ठ' उन्हीं में से एक है।

के अन्य रूपों के प्रभाव का भी संकेत करते हैं। डॉ० सक्सेना भी मध्य देशीय या शौर-सेनी अपभ्रंश को ही उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते हैं।

अपभ्रंश के भेदों को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद है। विष्णु धर्मोत्तर में इसके अनंत भेद कहे गये हैं, जो जितना ही सार्थक और सत्य है, उतना ही निरर्थक और असत्य भी। नमि साधु ने अपभ्रंश के 'उपनागर', 'आभीर' और 'ग्राम्य' नाम के तीन भेद किये हैं। मार्कण्डेय अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में भी तीन भेद देते हैं, यद्यपि नामों में अन्तर है। इसके अनुसार भेद हैं—'नागर', 'उपनागर' और 'व्राचड़'। इन्होंने 'व्राचड़' को सिंध की अपभ्रंश, 'नागर' को गुजरात की अपभ्रंश, और 'उपनागर' को दोनों के बीच की मिश्र अपभ्रंश कहा है। इनका 'नागर' ही नमि साधु का 'उपनागर' है, जो कुछ लोगों के अनुसार उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी। मार्कण्डेय से ही इस बात का भी पता चलता है कि उनके समय में कुछ लोग अपभ्रंश के स्थान और शैली आदि के आधार पर २७ भेद मानते थे। भेद हैं— व्राचड, लाट[1], वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड़, ओढ्र, वैवपश्चात्य, पांड्य, कौंतल कलिंग्य, सैंहल, प्राच्य, कार्णाट, कांच्य, द्राविड़, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय तथा वैताल आदि।

पुरुषोत्तमदेव के 'प्राकृतानुशासन' से भी अपभ्रंश के कुछ रूपों का पता चलता है, जैसे वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौड़ी, व्राचड़ आदि। कहना न होगा कि ये भी उपर्युक्त में आ गये हैं। प्राचीन विचारकों ने इन २७ भेदों का खंडन किया है, और आज भी विद्वान् इनके पक्ष में नहीं हैं।

अपभ्रंश के भेद पर प्रकाश डालने वाले आधुनिक लोगों में इस प्रसंग में सबसे पहले डॉ० याकोवी का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका में इस प्रश्न को लिया है, और क्षेत्र का आधार लेते हुए अपभ्रंश के चार भेद माने हैं—पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी, और उत्तरी। डॉ० तगारे ने 'हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ़ अपभ्रंश' में याकोवी की बातों पर फिर से विचार किया है और 'उत्तरी' को निकाल कर केवल ३ भेद माने हैं : दक्षिणी, पश्चिमी और पूर्वी। डा० नामवर सिंह ने 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक में डॉ० तगारे के मत की परीक्षा की है; और उन्होंने 'दक्षिणी' भेद को व्यर्थ मानकर केवल दो भेद माने हैं—पश्चिमी, पूर्वी।

उपर्युक्त आधुनिक तीनों मतों पर विचार करने पर लगता है कि इन निर्णयों पर पहुँचने में उन बहुत-सी व्यावहारिक बातों की ओर कदाचित् ध्यान नहीं दिया गया है जो अपभ्रंश के पूर्व और बाद के भाषा-इतिहास तथा कुछ अन्य बातों से स्पष्ट

---

१. इस लाट को ही लाटी नाम से कुछ लोगों ने प्राकृत का भी भेद माना है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। प्राकृत के प्रसंग में इनमें से कुछ अन्य नामों का भी प्रयोग हो चुका है।

है। अपभ्रंश-साहित्य की रचना जिस भाषा में हुई है, उसमें भाषा-भेद अधिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वह भाषा प्रायः परिनिष्ठित है। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उस काल में सिंध और बंगाल या पंजाब, महाराष्ट्र की बोलचाल की भाषा एक थी। पर पीछे हम देख चुके हैं कि अन्तिम काल में आर्यभाषा के स्थानीय रूप—विकास या स्थानीय प्रभाव आदि के कारण—विकसित हो रहे थे। ये रूप पालि और अशोक की शिलालेखी प्राकृत में कुछ और स्पष्ट हुए। प्राकृत में इनका स्वरूप और भी स्पष्ट हुआ। अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की कड़ी है, अतएव ऐसा मानना अवैज्ञानिक न होगा कि प्राकृत की ये बोलियाँ (या विभिन्न रूप) अपभ्रंश में और भी स्पष्ट हुए और उसके बाद ये ही विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ बन गए। १४००-१५०० ई० के आसपास उत्तरी भारत में कम से कम पंजाबी, लहँदा, सिंधी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, खड़ीबोली-ब्रज, अवधी-छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी, भोजपुरी-मगही-मैथिली, उड़िया, असमी तथा बंगाली, ये १३ रूप पर्याप्त विकसित हो चुके थे। प्राकृत के ४ रूपों—शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और अर्धमागधी—को विद्वान् मानते ही हैं। तो फिर ५ और १३ के बीच की मिलाने वाली सीढ़ी दो-तीन तो नहीं हो सकती। उसके ५ और १३ के बीच में ही होने की सम्भावना है। यों भी दो-तीन रूपों से चार-पाँच सौ वर्षों में भाषा के १२-१३ रूप सामान्यतः नहीं बन सकते।[1] एक बात और। संस्कृत-काल में ही जब उत्तरी, मध्य और पूर्वी रूप हो गये थे तो आगे एक हजार वर्षों में न तो उनके घटने का कोई कारण है, और न ज्यों-के-त्यों रहने का। अपभ्रंश का साहित्य जिस रूप में उपलब्ध है, उसके सहारे साहित्यिक भाषा के रूपों का निर्धारण तो हो सकता है, किन्तु बोलचाल की भाषा के वर्गीकरण के साथ, मात्र उसके आधार पर, न्याय नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः आज हिन्दी की स्थिति लें। राजस्थान से लेकर मिथिला तक खड़ीबोली में साहित्य लिखा जा रहा है। कल यदि और कुछ उपलब्ध न हो तो केवल इस साहित्य के आधार पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि २०वीं सदी में इस पूरे क्षेत्र में भाषा का प्रायः एक ही रूप था। कहना न होगा कि यह सत्य से कितना दूर है। इन बातों से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के प्राप्त साहित्य में अपभ्रंश के भेदों या रूपों की संख्या चाहे जो हो (२, ३ या ४), आधुनिक भाषाओं और अपभ्रंश के पूर्व की प्राकृतों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश की संख्या इससे अधिक रही होगी। यदि अधिक न होती तो ढाई-तीन सौ वर्षों में १३ भाषा-वर्ग या भाषाएँ उनसे न विकसित होतीं।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर अपभ्रंश के निम्नांकित भेदों का अनुमान लगता है—

---

१. देखिए लेखक का 'अपभ्रंश के भेद' शीर्षक लेख (Speculum No, 1 1960, Delhi)।

अपभ्रंश	उससे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ
१. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (१) (ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से (अ) राजस्थानी (२) (ब) गुजराती (३)
२. पैशाची	(क) लहँदा (४) (ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है) (५)
३. व्राचड़	सिन्धी (६)
४. खस	[1]पहाड़ी (शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके नागर रूप (पुरानी राजस्थानी का प्रभाव है) (७)
५. महाराष्ट्री	मराठी (८)
६. अर्द्धमागधी	[2]पूर्वी हिन्दी (९)
७. मागधी	(क) बिहारी (१०) (ख) बंगाली (११) (ग) उड़िया (१२) (घ) असमिया (१३)

अपभ्रंश के उपर्युक्त सात रूपों से आधुनिक भाषाओं या भाषा-वर्गों के १३ रूपों का विकास हुआ है। आधुनिक भाषाओं से सम्बन्ध दिखला देने के कारण इन सातों अपभ्रंशों के स्थान स्पष्ट हैं। इन सात के अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंशों के नाम का स्पष्टीकरण भी यहाँ किया जा सकता है।

गुजरात में शौरसेनी अपभ्रंश का ही पश्चिमी रूप था, जिससे आधुनिक गुजराती का सम्बन्ध है। इसे कुछ विद्वानों ने सौराष्ट्री या नागर अपभ्रंश कहा है। पालि भाषा अपने किसी रूप में (सम्भवतः वह रूप जो गुजरात के पास बोला जाता था) दूसरी सदी ई० पू० में लंका में गई थी और उसका प्राकृत-काल में 'सिंहली प्राकृत' या 'एलू प्राकृत' (सिंहली के आदि रूप को 'एलू' कहते हैं) रूप रहा होगा। अपभ्रंश-काल

---

१. पहाड़ी भाषाओं की पश्चिमी हिन्दी तथा शौरसेनी अपभ्रंश से समानता देखकर अब लोग इनका सम्बन्ध भी शौरसेनी अपभ्रंश से मानने के पक्ष में होते जा रहे हैं।

२. अवधी को डॉ० सक्सेना पालि के निकट मानते हैं। वस्तुतः यह प्रश्न विवादास्पद है। पुनर्निर्माण के आधार पर ही इसका ठीक और अन्तिम उत्तर दिया जा सकता है।

में उसी आधार पर वहाँ भी अपभ्रंश का एक रूप माना जा सकता है और उसे सिंहली या एलू अपभ्रंश की संज्ञा दी जा सकती है। कुछ लोग पैशाची के स्थान पर केकय का प्रयोग करते हैं। 'खस' को कुछ ने 'दरद' भी कहा है। कुछ लोग पैशाची से ही सिंधी, पंजाबी, लहँदा तीनों को मानते हैं। अपभ्रंश-साहित्य में उसके शौरसेनी रूप का प्रयोग हुआ है। यही उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी।

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ—(१) अपभ्रंश में लगभग वे ही ध्वनियाँ थीं, जिनका प्रयोग प्राकृत में होता था। ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ और ड़, ढ़ थे, यद्यपि लिखने में उनके लिए किसी नये चिह्न का प्रयोग नहीं होता था। कभी ए, ओ और कभी इ, उ का एँ, ओँ के लिए प्रयोग कर दिया जाता था। 'ऋ' का लेखन में प्रयोग तो था, किन्तु स्वर-रूप में ध्वनि नहीं थी। श, ष के स्थान पर केवल 'स' ही प्रचलित था। 'श' ध्वनि केवल मागधी अपभ्रंश में थी। वर्तमान भाषाओं के देखने से यह भी अनुमान लगता है कि विभिन्न अपभ्रंशों में 'अ' का उच्चारण विवृत, अर्द्धविवृत आदि विभिन्न रूपों में होता था। ळ महाराष्ट्री आदि कई में था। (२) स्वरों का अनुनासिक रूप वैदिकी, संस्कृत, पालि, प्राकृत में था। अपभ्रंश में भी वह मिलता है। ऋ को छोड़कर सभी के अनुनासिक रूपों का प्रयोग अपभ्रंश में है। (३) संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात की दृष्टि से अपभ्रंश की वही स्थिति थी, जो पीछे पालि-प्राकृत के लिए कही जा चुकी है, अर्थात् कुछ-कुछ बलात्मक स्वराघात के होने की सम्भावना है। (४) अपभ्रंश एक उकार-बहुला भाषा थी। यों तो 'ललित-विस्तर' तथा 'प्राकृत धम्मपद' आदि गाथा और प्राकृत के ग्रन्थों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु वहाँ यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है, जहाँ से यह ब्रजभाषा या अवधी आदि को मिली है (जैसे एक्कु, कारणु, पियासु, अंगु, मूलु, और जगु आदि)। (५) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियाँ (लोप, आगम, विपर्यय आदि) पालि में शुरू होकर प्राकृत में विकसित हुई थीं, उन्हीं का यहाँ आकर और विकास हो गया। (६) शब्द के अन्तिम स्वर के ह्रस्व होने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी, किन्तु अपभ्रंश में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बढ़ गई। अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषताओं में प्रमुख होने के कारण यह उल्लेख्य है। अन्त का यह ह्रस्वीकरण या कभी-कभी लोप स्वराघात के कारण होता है। जिस अन्तिम स्वर पर स्वराघात होगा, उसका लोप या ह्रस्व रूप नहीं होता; किन्तु जिस पर स्वराघात नहीं होता, उस पर बल कम होता जाता है। इस प्रकार उसका रूप ह्रस्व हो जाता है, या और आगे बढ़कर समाप्त भी हो जाता है (सं० गर्भिणी, प्रा० गब्भिणी, अप० गब्भिणि; सं० कीटक, प्रा० कीडअ, अप० कीड)। इन शब्दों में प्राकृत की तुलना में ह्रस्व या लोप दिखाया गया है। संस्कृत की तुलना में तो यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में और भी मिलती है, जैसे हरीडइ (हरीतकी), संझ (संध्या), वरआत्त (वरयात्रा) आदि। (७) अपभ्रंश में स्वराघात प्रायः आद्यक्षर पर था, इसलिए आद्यक्षर तथा उसका स्वर यहाँ प्राय: सुरक्षित मिलता है, जैसे माणिक्य-माणिक्क; घोटक-घोडअ, या घोड़ा आदि (संस्कृत की तुलना में हैं।) प्राकृत की तुलना में

छाहा (सं० छाया) से छाआ, आमलअ (सं० आमलक) से आवँलअ आदि हैं। (८) म का वँ (प्रा० आमलअ, अप० आवँलअ, कमल—कवँल); व का व (वचन—बअण); ष्ण का न्ह (कृष्ण—कान्ह), क्ष का क्ख या च्छ (पक्षी—पक्खी, पच्छी), स्म का म्ह (अस्मै—अम्ह), य का ज (युगल—जुगल) ड, द, न, र के स्थान पर 'ल' (प्रदीप्त—पलित्त आदि) आदि रूप में ध्वनि-विकास की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। (९) (विशेषतः परवर्ती अपभ्रंश में) समीकरण के कारण उत्पन्न संयुक्तता में एक व्यंजन बच जाता है, और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया है (सं० तस्य, प्रा० तस्स, अप० तासु, कस्य—कासु)। (१०) पालि, प्राकृत में विकास तो हुआ था, किन्तु सब कुछ ले-देकर वे संस्कृत की प्रवृत्ति से अलग नहीं थीं। अपभ्रंश पूर्णतः अलग हो गई और वह प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक झुकी है। (११) भाषा में धातु और नाम दोनों रूप कम हो गये। इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई। (१२) वैदिकी, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत संयोगात्मक भाषाएँ थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता या अयोगात्मकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे, किन्तु अपभ्रंश में आकर ये लक्षण प्रमुख हो गये, इतने प्रमुख कि संयोगात्मक और वियोगात्मक भाषाओं के सन्धि-स्थल पर खड़ी अपभ्रंश भाषा वियोगात्मकता की ओर ही अधिक झुकी है। यह बात आगे की बातों से स्पष्ट हो जायेगी। (१३) संज्ञा-सर्वनाम से कारक के रूप के लिए संयोगात्मक भाषाओं में केवल विभक्तियाँ लगती हैं, जो जुड़ी होती हैं, किन्तु वियोगात्मक भाषाओं में अलग से शब्द लगाने पड़ते हैं, जो अलग रहते हैं। हिन्दी में ने, को, में, से आदि ऐसे ही अलग शब्द हैं। प्राकृत में इस तरह के दो-तीन शब्द मिलते हैं, किन्तु अपभ्रंश में बहुत से कारकों के लिए अलग शब्द मिलते हैं। जैसे करण के लिए सहुँ, तण; संप्रदान के लिए केहि, रेसि; अपादान के लिए थिउ, होन्त; सम्बन्ध के लिए केर, कर, का और अधिकरण के लिए महे, मज्झ आदि। (१४) ऊपर नाम-रूप थे। काल-रूपों के बारे में भी यही स्थिति है। संयोगात्मक भाषाओं में तिङ् प्रत्यय के योग से काल और भाव रचना होती है। वियोगात्मक भाषाओं में सहायक क्रिया के सहारे कृदन्ती रूपों से ये बातें प्रकट की जाती हैं। इस प्रकार की वियोगात्मक प्रवृत्तियाँ प्राकृत में अपनी झलक दिखाने लगी थीं, किन्तु अब ये बातें बहुत स्पष्ट हो गईं। संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप कम रह गये। (१५) नपुंसकलिंग समाप्तप्राय था। (१६) अकारान्त पुंलिंग प्रातिपदिकों की प्रमुखता हो गई। अन्य प्रकार के थोड़े-बहुत प्रातिपदिक थे भी तो उन पर इसी के नियम प्रायः लागू होते थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में एकरूपता आ गई। (१७) कारकों के रूप बहुत कम हो गये। संस्कृत में एक शब्द के लगभग १७ रूप होते थे, प्राकृत में उनकी संख्या लगभग १२ रह गई थी, अपभ्रंश में लगभग ६ रूप रह गये; दो वचनों और ३ कारकों (१. कर्ता, कर्म, सम्बोधन; २. करण, अधिकरण; ३. संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध) के। (१८) स्वार्थिक प्रत्यय—'ड' का प्रयोग अधिक होने लगा। राजस्थानी आदि में यही ड़, ड़ी, ड़िया आदि रूपों में मिलता है। (१९) उपर्युक्त कारणों के परिणामस्वरूप वाक्य में शब्दों के

स्थान निश्चित हो गये। (२०) अपभ्रंश के शब्द-भंडार की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(क) तद्भव शब्दों का अनुपात अपभ्रंश में सर्वाधिक है। (ख) दूसरा नम्बर देशज शब्दों का है। क्रिया शब्दों में भी ये शब्द पर्याप्त हैं। ध्वनि और दृश्य के आधार पर बने नये शब्द भी अपभ्रंश में काफी हैं। (ग) तत्सम शब्द अपभ्रंश के पूर्वार्द्ध काल में तो बहुत ही कम हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध में उनकी संख्या बढ़ गई है। (घ) इस समय तक बाहर से भारत का पर्याप्त संपर्क हो गया था, इसी कारण उत्तरकालीन अपभ्रंश में कुछ विदेशी शब्द भी आ गये हैं, जैसे ठट्ठा (फा०, तख्त), ठक्कुर (तुर्की तेगिन), नीक, तुर्क, तहसील, नौबति, हुद्दादार (फ़ा० ओहदादार) आदि।

अवहट्ट

अपभ्रंश का काल मोटे रूप से १००० या ११०० ई० के लगभग समाप्त होता है और इसके बाद आधुनिक भाषाओं का आरम्भ होता है, किन्तु आरम्भ के लगभग दो-तीन सौ वर्षों की भाषा अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के बीच की है, अर्थात् शुरू में उसमें अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ अधिक हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे कम होती गई हैं और आधुनिक भाषाओं की प्रवृत्तियाँ बढ़ती गई हैं और अन्त में १४वीं सदी के लगभग आधुनिक भाषाओं का निखरा हुआ रूप सामने आ गया है। यह बीच का काल संक्रांति-काल है। 'संनेहयरासक', 'प्राकृत पैंगलम्', 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', 'कीर्तिलता' तथा 'ज्ञानेश्वरी' आदि की भाषा इसी काल की है। इस भाषा के लिए परवर्ती अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, देशी आदि कई नामों का प्रयोग किया गया है, किन्तु कुछ लोगों के अनुसार इसके लिए 'अवहट्ट' नाम अधिक उपयुक्त है। वस्तुतः 'अवहट्ट' शब्द संस्कृत शब्द 'अपभ्रंश' का विकसित, विकृत या अपभ्रष्ट रूप है और विष्णुधर्मोत्तर पुराणकर्त्ता ने जैसे 'अपभ्रंश' के लिए अपभ्रष्ट' का प्रयोग किया है, उसी प्रकार ज्योतिरीश्वर ठाकुर (वर्णरत्नाकर), विद्यापति (कीर्तिलता) तथा वंशीधर (प्राकृत पैंगलम् की टीका) आदि ने अपभ्रंश के लिए ही 'अवहट्ट' या उसके रूपों का प्रयोग किया है। उसके किसी विशेष रूप के लिए इसका प्रयोग कदापि नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों ने माना है। साथ ही हर दो भाषाओं के संधि-स्थल पर, जिनका आपस में माँ-बेटी का सम्बन्ध होता है, संक्रांतिकालीन रूप होते हैं, उसके लिए किसी अलग नाम की आवश्यकता नहीं। सच पूछा जाय तो संक्रांतिकालीन रूप के लिए नया नाम देना भ्रामक होता है। उससे उस भाषा को एक नई भाषा समझे जाने के भ्रम की सम्भावना रहती है, जबकि यथार्थतः वह भाषा कोई नई भाषा न होकर दो के सन्धि का संक्रांतिकालीन रूप मात्र होती है। यों सीमित रूप में यदि इसे प्रसंगतः किसी नाम से पुकारना ही हो तो परवर्ती अपभ्रंश या पुरानी (हिन्दी, गुजराती, बँगला आदि) अधिक ठीक है, क्योंकि इसमें उपर्युक्त भ्रम की गुंजाइश नहीं है।

(३) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ—अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से आधुनिक भारतीय (पाकिस्तानी तथा सिंहली के साथ) आर्यभाषाएँ निकली हैं।

ऊपर अपभ्रंशों के भेदों पर प्रकाश डालते हुए अपभ्रंश के रूपों से आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध दिखाया जा चुका है। यहाँ उनकी प्रमुख विशेषताएँ संक्षेप में दी जा रही हैं।

प्रमुख विशेषताएँ—(१) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रमुखतः वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में थीं। किन्तु विशेषताएँ भी हैं—(क) कई नये स्वर विकसित हो गये हैं, जैसे हिन्दी में ही बोलियों को मिलाकर १७-१८ मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है। पंजाबी आदि में ही उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा है। अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरों का प्रयोग होता है। गुजराती में मर्मर स्वर का विकास हो गया है। कुछ बोलियों में कुछ विद्वानों के अनुसार केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, संयुक्त स्वरों का नहीं। (ख) 'ऋ' का प्रयोग तत्सम शब्दों में लिखने में चल रहा है, किन्तु बोलने में यह स्वर न रहकर 'र' के साथ इ या उ स्वर का योग रह गया है। उत्तरी भारत में इसका उच्चारण 'रि' है, और दक्षिणी भारत में 'रु'। (ग) व्यंजनों में, जहाँ तक ऊष्मों का प्रश्न है, लिखने में तो प्रयोग स, ष, श तीनों का हो रहा है, किन्तु उच्चारण में स, श दो ही हैं। 'ष' भी 'श' रूप में उच्चारित होता है। हिन्दी आदि में 'ड़' 'ढ़', ड, ढ, से अलग लिखे जाने लगे हैं। चवर्ग के उच्चारण में आधुनिक काल में एकरूपता नही है। हिन्दी में ये ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, किन्तु मराठी में इनका एक उच्चारण (च का) त्स, (ज का) द्ज जैसा है। सच पूछा जाय तो मराठी में दो चवर्ग हो गये हैं। संयुक्त व्यंजन 'ज्ञ' के शुद्ध उच्चारण (ज् ञ) का लोप हो चुका है, उसके स्थाव पर ज्यँ, ग्यँ और द्यँ आदि कई उच्चारण चल रहे हैं। (घ) विदेशी भाषाओं के प्रभावस्वरूप, आधुनिक भाषाओं में कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे ‌क़, , ख़, फ़, ऑ आदि। इन ध्वनियों का लोकभाषाओं में तो क, ख, ग, ज, फ, आ के रूप में उच्चारण हो रहा है, किन्तु पढ़े-लिखे लोग इन्हें प्रायः मूल रूप में बोलने का प्रयास करते हैं। (२) जिन शब्दों से उपधा (penultimate) स्वर या अंतिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वाराघात था, (क) उनके अन्तिम दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो गये हैं, तथा (ख) अन्तिम 'अ' स्वर कुछ अपवादों (संयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्रायः लुप्त हो गया है (राम्, अब् आदि) .(३) प्राकृत आदि में जहाँ समीकरण के कारण व्यंजन-द्वित्व (कर्म-कम्म) हो गए थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' में केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घता आ गई (कम्म-काम, अट्ठ-आठ)। पंजाबी-सिन्धी अपवाद हैं, उनमें प्रायः प्राकृत से मिलते-जुलते रूप ही चलते हैं, कम्म, अट्ठ। (४) प्रमुखतः बलात्मक स्वाराघात है, विशेषतः बिहारी, बंगाली आदि में, किन्तु सामान्यतः अन्यों में भी (वाक्य के स्तर पर) संगीतात्मकता भी है। (५) अपभ्रंश के प्रसंग में कहा जा चुका है कि संस्कृत, पालि आदि की तुलना में रूप कम हो गए थे। आधुनिक भाषाओं में अपभ्रंश की तुलना में भी रूप कम हो गए हैं। इस प्रकार भाषा सरल हो गई है। संस्कृत आदि में कारक के तीनों वचनों में लगभग २४ रूप बनते थे। प्राकृत में लगभग १२ हो गए थे, अपभ्रंश में ६ और आधुनिक भाषाओं

में केवल दो—मूल रूप और विकृत रूप। क्रिया के रूपों में भी पर्याप्त कमी हो गई है। भाव या काल आदि तो सभी व्यक्त कर लिए जाते हैं, किन्तु सबके रूप अलग नहीं है। सहायक शब्दों से काम चल जाता है। (६) रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी। अयोगात्मकता अपभ्रंशों से आरम्भ हुई, और अब, आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्णतः अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई हैं। कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो अपवादस्वरूप। नाम-रूपों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है, और धातु रूपों के लिए कृदंत और सहायक क्रिया के आधार पर संयुक्त क्रिया का। (७) संस्कृत में वचन ३ थे। मध्यकालीन आर्यभाषाओं में ही द्विवचन समाप्त हो गया था और आधुनिक काल में भी केवल दो वचन हैं। अब प्रवृत्ति एकवचन की है। लगता है कि आगे चलकर रूप केवल एकवचन के रह जायेंगे और दो, तीन या अधिक का भाव सहायक शब्दों से प्रकट किया जायेगा। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'मैं' के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है। उसके स्थान पर 'हम' चल रहा है, जिसके बहुवचन का कोई अलग रूप नहीं होता, केवल 'लोग' या 'सब' जोड़कर काम चला लेते हैं। (८) संस्कृत में लिंग ३ थे। मध्ययुगीन भाषाओं में भी स्थिति यही थी। आधुनिक भाषाओं में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी तथा हिन्दी में २ लिंग हैं (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग)। सम्भवतः तिब्बती-बर्मी भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली, उड़िया, असमी में लिंग भेद कम-सा है। बिहारी, नेपाली में भी समाप्त होता-सा दिखाई दे रहा है। तीन लिंग केवल गुजराती, मराठी और (कुछ) सिंहली में हैं। (९) आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भंडार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तुर्की, अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि से लगभग ८-१० हजार नये विदेशी शब्द प्रत्येक में लिए गये हैं। इसके पूर्व भाषाओं का प्रमुख शब्द-भंडार तत्सम, तद्भव और देशज का ही था। मध्ययुगीन भाषाओं की तुलना में आज तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो रहा है और तद्भव का अपेक्षाकृत कम। (१०) अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग अपेक्षतया बहुत बढ़ गया है।

नीचे प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) सिन्धी—'सिन्धी' १९४७ से पूर्व भारत के सिंध प्रान्त की भाषा थी। भारत-पाकिस्तान-विभाजन के बाद से इसके बोलने वाले पाकिस्तान के सिंध प्रान्त में तथा भारत के कच्छ, अजमेर, बम्बई तथा दिल्ली आदि में हैं। सिंधी की अपनी लिपि 'लंडा' है, किन्तु अरबी के एक संशोधित रूप तथा गुरुमुखी लिपि का भी प्रयोग होता है। भारत में अब इसके लिए नागरी का भी प्रयोग हो रहा है। इसमें विचोली, सिरैकी, लारी, थलेरी और कच्छी पाँच प्रधान बोलियाँ हैं। इन पाँचों में प्रमुख विचोली है जो आज वहाँ की साहित्यिक भाषा बन गई है। कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है, जिस पर गुजराती का प्रभाव अधिक है।

लहँदी—पैशाची या केकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) तथा पूर्वी पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहँदा का विकास हुआ है। इस पर

दरद शाखा का प्रभाव अधिक पड़ा है। लहँदा, डिलाही, जटकी, हिंदकी या उच्ची भी इसी के नाम हैं। 'लँहदा' का शाब्दिक अर्थ पश्चिम है। इसकी अपनी लिपि लंडा है, किन्तु यह प्रायः फ़ारसी लिपि में भी लिखी जाती है। इसकी ४ बोलियां लहंदा, मुल्तानी, पोठवारी और धन्नी हैं।

पूर्वी पंजाबी—पूर्वी पंजाबी या पंजाबी प्राचीन मध्य पंजाब की भाषा है। पैशाची या केकय से इसकी भी पैदाइश है, किन्तु शौरसेनी का प्रभाव अधिक पड़ा है। कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति 'टक्क' अपभ्रंश से भी मानते हैं। दरद का भी इस पर कुछ प्रभाव है। इसकी भी लिपि लंडा है, किंतु अब इसका सुधरा रूप गुरुमुखी[1] व्यवहार में आता है। इसकी प्रसिद्ध बोली डोग्री है, जो टाकरी लिपि में लिखी जाती है।

पहाड़ी—खश (कुछ नये मतों के अनुसार शौरसेनी) अपभ्रंश से पहाड़ी भाषाएँ निकली हैं। इनकी लिपि नागरी है। इसके अन्तर्गत तीन वर्ग हैं। पूर्वी पहाड़ी की प्रधान बोली नेपाली है। नेपाली को खसकुरा या गुरखाली भी कहते हैं। यह नेपाल की राजभाषा है। मध्य पहाड़ी के गढ़वाली और कुमायूँनी दो रूप हैं। पश्चिमी पहाड़ी में लगभग २० बोलियाँ हैं, जिनमें चंबाली, जौनसारी, सिरमौरी आदि प्रमुख हैं। चंबाली की लिपि शेष से भिन्न है। सभी पहाड़ी बोलियों पर ऐतिहासिक कारणों से राजस्थानी का यथेष्ठ प्रभाव है। ये हिमालय के निचले भाग में बोली जाती हैं।

सिंहली तथा माली—सौराष्ट्री तथा आसपास की भाषा से सिंहली का सम्बन्ध है। वहाँ से यह मालद्वीप में गई है। इसमें महाप्राण का अल्पप्राण हो गया है तथा सभी ऊष्मों के स्थान पर 'स'। सिंहली का प्राचीन रूप 'एलु' है, जिस पर मराठी का प्रभाव पड़ा है।

गुजराती—शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप के पश्चिमी रूप से इसका विकास हुआ है। यह गुजरात, काठियावाड़ कौर कच्छ में बोली जाती है। लगभग ४०० वर्ष पूर्व तक इसका और राजस्थानी का लगभग मिलता-जुलता रूप था। इसकी लिपि पुरानी नागरी से विकसित हुई है।

भीली—राजस्थानी और गुजराती की सीमारेखा के आसपास यह बोली जाती है। भीली का सम्बन्ध राजस्थानी और गुजराती से है।

पश्चिमी हिन्दी—शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। इसमें कन्नौजी, बाँगरू, बुँदेली, खड़ीबोली और ब्रज, ये पाँच बोलियाँ हैं, जिनमें अंतिम दो प्रमुख हैं। खड़ीबोली (जो अपने साहित्यिक रूप में 'हिंदी' नाम से प्रसिद्ध है) ही भारत की राज्य-भाषा है। इसका एक अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त रूप 'उर्दू' है, जो विशेष प्रकार के काव्य की दृष्टि से पर्याप्त धनी है। खड़ीबोली आदि के लिए नागरी लिपि का प्रयोग

---

१. गुरु अंगद देव ने १५५० ई० के लगभग नागरी की सहायता से लंडा को सुधारा और 'गुरुमुखी' नाम रखा।

होता है, और उर्दू के लिए अरबी लिपि के संशोधित रूप का। हिन्दी-उर्दू का
मिला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है।'

पूर्वी हिन्दी—अर्द्धमागधी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। इसमें अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तीन बोलियाँ हैं। तीनों में नागरी लिपि का प्रयोग होता है।

राजस्थानी—शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के पूर्वोत्तर रूप से इसका विकास हुआ है। इसमें मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी आदि कई बोलियाँ हैं। इसका क्षेत्र प्रमुखतः राजस्थान है। लिपि नागरी तथा महाजनी है।

बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी का यह वर्ग मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से उत्पन्न है। बिहारी का क्षेत्र बिहार और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग है। लिपि नागरी, मैथिली तथा महाजनी है।

बंगाली—मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से उत्पन्न है। इसके बोलने वाले भारत के बंगाल प्रदेश तथा पूर्वी पाकिस्तान में हैं।

उड़िया—उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसकी लिपि पुरानी नागरी से निकली है, किन्तु द्रविड़-प्रभाव के कारण बहुत कठिन हो गई है। राजनीतिक कारणों से इसमें तेलगू और मराठी शब्द पर्याप्त मिलते हैं।

असमी—मागधी के पूर्वोत्तरी रूप से विकसित असम प्रान्त की भाषा है। इसकी लिपि बँगला से कुछ ही भिन्न है। १९६१ की गणना के अनुसार बोलने वाले ३८ लाख थे।

मराठी—महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। लिपि नागरी है। कोंकणी मराठी की एक बोली है, जिसे अब लोग अलग भाषा मानने के पक्ष में हैं।

जिप्सी—भारत के कुछ खानाबदोश कंजर आदि दूसरी सदी के लगभग यहाँ से पश्चिम चले गए थे और आज एशिया, यूरोप, अफ्रीका तथा अमेरिका के अनेक भागों आदि में मिलते हैं। इनकी भाषा भारतीय आर्यभाषा है, यद्यपि शब्द-समूह पर बाह्य प्रभाव अधिक है। ये लोग 'हबूड़ी' या 'रोमानी' (हिंदी 'डोम') भी कहलाते हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

उपर्युक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण पर विभिन्न विद्वानों (हार्नले, बेवर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि) द्वारा विभिन्न रूपों में विचार किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख का उल्लेख किया जा रहा है—

(अ) इस प्रसंग में प्रथम नाम हार्नले का लिया जा सकता है। उन्होंने (Comparative Grammar of the Gaudian languages में) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को ४ वर्गों में रक्खा है—

(क) पूर्वी गौडियन—पूर्वी हिन्दी (इसी में बिहारी भी है), बँगला, असमी, उड़िया। (ख) पश्चिमी गौडियन—पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिंधी,

पंजाबी। (ग) उत्तरी गोडियन—गढ़वाली, नेपाली आदि पहाड़ी। (घ) दक्षिणी गौडियन—मराठी।

(आ) हार्नले ने (उपर्युक्त पुस्तक में) भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर पिछली सदी में यह सिद्धांत रक्खा था कि भारत में आर्य कम से कम दो बार आये। पहले आर्य आधुनिक पंजाब में आकर बसे थे। कुछ दिन बाद दूसरे आर्यों का हमला हुआ। जैसे कहीं कील ठोकने पर कील छेद बनाकर बैठ जाती है, और उन बने छेद के स्थान पर जो चीज रहती है, चारों ओर चली जाती है, उसी प्रकार नवागत आर्य उत्तर से आकर प्राचीन आर्यों के स्थान पर जम गये और पूर्वागत पूरब, दक्षिण, और पश्चिम में फैल गये। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत बाहरी। इस भीतरी और बाहरी को ग्रियर्सन ने अंशतः स्वीकार किया और इसी आधार पर (Linguistic Survey of India, भाग १ तथा Bulletin of the School of Oriental Studies, London Vol. I. Pt. III, 1920 में) उन्होंने अपना पहला वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमें ३ वर्ग हैं: (१) बाहरी उपशाखा—(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय (लहँदा, सिंधी), (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठी), (ग) पूर्वी समुदाय (उड़िया, बंगाली, असमी, बिहारी)। (२) मध्यवर्ती उपशाखा—(घ) मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिन्दी)। (३) भीतरी उपशाखा—(ङ) केन्द्रीय समुदाय (पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली[1], खानदेशी[2]), (च) पहाड़ी समुदाय (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी)।

बाद में ग्रियर्सन ने (Indian Antiquary, Supplement of Feb. 1931) एक नया वर्गीकरण सामने रक्खा जो इस प्रकार है: (क) मध्यदेशी—(पश्चिमी हिंदी)। (ख) अन्तर्वर्ती - (I) पश्चिमी हिंदी से विशेष घनिष्ठता वाली (पंजाबी, राजस्थानी गुजराती, पहाड़ी (पूर्वी, पश्चिमी, मध्य), (II) बहिरंग से सम्बद्ध (पूर्वी हिन्दी)। (ग) बहिरंग भाषाएँ—(I) पश्चिमोत्तरी (लहँदा, सिंधी), (II) दक्षिणी (मराठी), (III) पूर्वी (बिहारी, उड़िया, बंगाली, असमी)।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण (१) ध्वनि, (२) व्याकरण या रूप, तथा (३) शब्द समूह इन तीन बातों पर आधारित है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इन तीनों की ही आलोचना की है। उन्हीं के आधार पर ग्रियर्सन के कुछ प्रमुख आधार संक्षिप्त आलोचना के साथ दिये जा रहे हैं—

(१) ध्वनि—ग्रियर्सन के वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक आधार लगभग पंद्रह हैं, जिनमें केवल प्रमुख चार-पाँच लिये जा रहे हैं।

(क) ग्रियर्सन ने अनुसार 'र' का 'ल' या 'ड़' के लिए प्रयोग केवल बाहरी भाषाओं में मिलता है, किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। अवधी, ब्रज, खड़ीबोली आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, जैसे बर (बल), गर (गला), जर (जल), बीरा

---

१. २. ये दोनों राजस्थानी-गुजराती के रूप हैं।

(बीड़ा), किवार (किवाड़), भीर (भीड़) आदि। (ख) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में 'द' का परिवर्तन 'ड' में हो जाता है। वस्तुतः यह बात भीतरी में भी मिलती है। हिन्दी में डीठि (दृष्टि), ड्योढ़ी (देहली), डेढ़ (द्व्यर्द्ध), डाभ (दर्भ), डाढ़ा (दग्ध), डन्डा (दंड), डोली (दोलिका), डोरा (दोरक), डँसना (दंश) आदि देखे जा सकते हैं।

(ग) ग्रियर्सन का कहना है कि 'म्ब' ध्वनि का विकास बाहरी भाषाओं में 'म्' रूप में हुआ है तथा भीतरी में 'ब्' रूप में, किन्तु इसके विरोधी उदाहरण भी मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में 'जम्बुक' का 'जामुन' या 'निम्ब' का 'नीम' मिलता है। दूसरी ओर बँगला में 'निम्बुक' का 'लेबू' या 'नेबू' मिलता है।

(घ) ऊष्म ध्वनियों को लेकर ग्रियर्सन का कहना है कि भीतरी में इनका उच्चारण अधिक दबाकर किया जाता है और वह 'स' रूप में होता है, किन्तु बाहर में यह श, ख या ह् रूप में मिलता है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में निर्बल होकर यह 'श' हो गया है। पूर्वी बंगाल और असम में और भी निर्बल होकर 'ख' हो गया है, और बँगला तथा पश्चिमोत्तर में 'ह्' हो गया है। जहाँ तक स्वरों के बीच में 'स' के 'ह्' हो जाने का सम्बन्ध है, वह बाहरी के साथ भीतरी भाषाओं में भी पाया जाता है। सं० एक-सप्तति, प० हिन्दी एकहत्तर, सं० द्वादश, प० हि० बारह, सं० करिष्यति, प० हि० करिहइ। साथ ही बाहरी में 'स' भी कहीं-कहीं है, जैसे लहँदा करेसी (करेगी)। 'ख' वाला विकास बड़ा सीमित है और पूर्वक्षेत्रीय है। उसके आधार पर धुर पूर्व और पश्चिम की भाषाएँ एक वर्ग में नहीं रखी जा सकतीं। 'श' वाली विशेषता बँगला आदि में मागधी प्राकृत से चली आ रही है और वह प्रायः निर्बन्ध (unconditional) है। मराठी में वह बाद का विकास है और सापेक्ष (conditional) है (इ, ई, ए, य आदि तालव्य ध्वनियों के प्रभाव से)। इस रूप में तो भीतरी की गुजराती में भी यह विकास, है जैसे करशे (करिष्यति)। इस प्रकार यह भी भेदक तत्त्व नहीं है।

(ङ) महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण हो जाना भी ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में है, भीतरी में नहीं। हिन्दी में भगिनी का बहिन, प्राकृत कल्पित रूप इँठा (सं० इष्टक) का ईंट, प्राकृत कल्पित रूप ऊँठ (सं० उष्ट्र) का ऊँट इसके विरोध में जाते हैं।

(२) व्याकरण या रूप—ग्रियर्सन ने इस प्रसंग में पाँच-छः रूप-विषयक आधारों का उल्लेख किया है जिनमें से तीन यहाँ लिये जा रहे हैं। (क) ग्रियर्सन—'ई' स्त्री प्रत्यय के आधार पर बाहरी वर्ग की पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं को एक वर्ग की सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वस्तुतः यह तर्क तब ठीक माना जाता जब भीतरी वर्ग में यह बात न मिलती। हिन्दी में इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया (गाती, दौड़ी), परसर्ग (की), संज्ञा (लड़की, बेटी), विशेषण (बड़ी, छोटी) आदि कई वर्ग के शब्दों में खूब होता है, अतः इसे इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार नहीं मान सकते। (ख) भाषा संयोगात्मक

से वियोगात्मक होती है और कुछ लोगों के अनुसार वियोगात्मक से फिर संयोगात्मक। ग्रियर्सन का कहना है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से चलकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई हैं, किन्तु आधुनिक में भी बाहरी भाषाएँ विकास में एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही हैं। जैसे हिन्दी 'राम की किताब', बंगाली 'रामेर बोई'। ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि भीतरी में यदि कुछ संयोगात्मक रूप मिलते भी हैं तो वे प्राचीन के अवशेष मात्र हैं, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं हैं, अपवाद है। इस प्रकार बाहरी-भीतरी भाषाओं में यह एक काफी बड़ा अन्तर है। किन्तु ग्रियर्सन का यह अन्तर भी सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, जैसा कि डॉ० चटर्जी ने दिखाया है। तुलनात्मक ढंग से जब हम बाहरी और भीतरी के कारक-रूपों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि संयोगात्मक रूपों का प्रयोग भीतरी में बाहरी से कम नहीं है, अतः इस बात को भी भेदक तत्त्व नहीं माना जा सकता। [ब्रज पूतहि (कर्म), मनहि, भौनहि (अधिकरण)]। (ग) ग्रियर्सन विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' को केवल बाहरी भाषाओं की विशेषता मानते हैं, यद्यपि भीतरी में भी यह पर्याप्त है, जैसे रँगीला, हठीला, भड़कीला, कँटीला, गठीला, खर्चीला आदि।

(३) शब्द-समूह—इसके आधार पर भी ग्रियर्सन बाहरी भाषाओं में साम्य मानते हैं, किन्तु विस्तार से देखने पर यह बात भी ठीक नहीं उतरती। मराठी-बंगाली या बंगाली-सिन्धी में बंगाली-हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है।

इस प्रकार ग्रियर्सन जिन बातों के आधार पर बाहरी-भीतरी वर्गीकरण को स्थापित करना चाहते थे, वे बहुत सुपुष्ट नहीं हैं।

(इ) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का वर्गीकरण (O. D. B. L. में) इस प्रकार है: (क) उदीच्य (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी), (ख) प्रतीच्य (गुजराती, राजस्थानी), (ग) मध्यदेशीय (पश्चिमी हिन्दी), (घ) प्राच्य (पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, असमिया, बंगाली), (ङ) दाक्षिणात्य (मराठी)। डॉ०चटर्जी पहाड़ी को राजस्थानी का प्रायः रूपांतर-सा मानते हैं। इसीलिए उसे यहाँ अलग स्थान नहीं दिया है।

(ई) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण दिया है: (क) उदीच्य (सिंधी, लहँदा, पंजाबी), (ख) प्रतीच्य (गुजराती), (ग) मध्यदेशीय (राजस्थानी, प० हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी), (घ) प्राच्य (उड़िया, आसामी, बंगाली), (ङ) दाक्षिणात्य (मराठी)। इस वर्गीकरण में हिन्दी के प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना गया है।

(उ) श्री सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्धसूचक परसर्ग के आधार पर का (हिन्दी, पहाड़ी, जयपुरी, भोजपुरी) दा (पंजाबी, लहँदा), जो (सिन्धी, कच्छी), नो (गुजराती), एर (बंगाली, उड़िया, असमी) वर्ग बनाये हैं। यथार्थतः यह कोई वर्गीकरण नहीं है। ऐसे तो 'ल' या 'स', 'श' ध्वनियों के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं।

चौथा परिवार तिब्बती-चीनी है। इसके बोलने वाले असम, कश्मीर तथा कुछ हिमालय प्रदेश में हैं। इनकी कुछ उल्लेख्य बोलियाँ लुशेइ (असम), मेइथेइ (मनीपुर), गारो (असम में गारो पर्वत), मिश्मी (उत्तरी-पूर्वी असम), अबोर-मिरी (उत्तरी असम) तथा अक (भूटान के पूरब असम में) आदि हैं। असम की इस परिवार की कई बोलयों का सामूहिक नाम 'बोडो' है।

भारत में कुछ अवर्गीकृत भाषाएँ भी हैं, जो उपर्युक्त चारों परिवार में किसी में भी नहीं आती। इस वर्ग में ग्रियर्सन ने लगभग २० भाषाओं या बोलियों का नाम दिया था, किन्तु इनमें लगभग अट्ठारह उपर्युक्त चार परिवारों में दो या अधिक की बोलियों के मिश्रण से बनी हैं। यथार्थता केवल २ ही ऐसी हैं जो उपर्युक्त चार परिवारों के बाहर हैं। इनमें प्रथम है 'बुरुशास्की' (या खजुना)। इसका क्षेत्र कश्मीर के एक छोटे भाग में तथा आसपास है। इसे द्रविड़ या आस्ट्रिक (डॉ० चटर्जी) परिवार से जोड़ने का प्रयास हुआ था, किन्तु व्यर्थ सिद्ध हुआ। दूसरी भाषा 'अंडमानी' है जो अंडमान द्वीप में बोली जाती है। मानवशास्त्र के आधार पर यहाँ वाले 'नेग्रिटो' हैं। इस भाषा का अभी तक विश्व की किसी भाषा से सम्बन्ध-स्थापन नहीं हो सका है।

ग्रियर्सन ने एक छठवाँ वर्ग 'करेन' और 'मन' का माना था। वस्तुतः ये दोनों बर्मा में हैं, अतः अब इन्हें भारतीय मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार भारत में ४ परिवार हैं और दो अनिश्चित परिवार की भाषाएँ हैं। यदि इन्हें अलग-अलग माना जाय, जैसा कि माना जाना चाहिये, तो सब मिलाकर छः परिवारों की भाषाएँ इस देश में मानी जा सकती हैं।

(३) प्रशान्त महासागरीय खंड

हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर आदि में उधर मैडागास्कर से लेकर चिली के पश्चिम में ईस्ट द्वीप तक इस खंड का विस्तार है। इन सब में आपस में पर्याप्त साम्य है। इसके अन्तर्गत बहुत-सी भाषाएँ और अनेक बोलियाँ हैं। इन सबको पाँच परिवारों में बाँटा जा सकता है—

प्रशान्त महासागरीय खंड—
- —इंडोनेशियन या मलायन परिवार
- —मलेनेशियन परिवार
- —पालिनेशियन परिवार
- —पापुआ परिवार
- —आस्ट्रेलियन परिवार

कभी-कभी पाँचों परिवारों को सम्मिलित नाम आस्ट्रोनेशियन परिवार या मलय-पालिनेशियन परिवार भी दे दिया जाता है। कुछ लोगों ने प्रथम तीन परिवारों के लिये भी मलय-पालिनेशियन परिवार का प्रयोग किया है।

पाँचों परिवारों का स्रोत एक है, इस कारण बहुत-सी बातों में इनमें समानता है। केवल 'शब्द-समूह' और 'ध्वनि' में ही प्रधान अन्तर है। प्रमुख समान लक्षण निम्न हैं—

(१) लगभग सभी अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षरों की होती हैं।
(३) स्वराघात बलात्मक है।
(४) आदि या मध्य या अन्त में शब्द जोड़ कर पद बनाये जाते हैं।
(५) सभी धीरे-धीरे वियोगात्मक हो रही हैं।

कुछ विस्तार से देखने के लिए उपर्युक्त पाँचों परिवारों को अलग-अलग लेना ठीक होगा।

(क) इन्डोनेशियन परिवार

इसे मलायन परिवार भी कहते हैं। इसमें आदि, मध्य, अंत तीनों स्थानों में सर्ग (fix) जोड़ कर पद बनाये जाते हैं, किन्तु प्रधानता आदि में जोड़ने की है। यह परिवार अधिक विकसित नहीं है। शब्द और धातुओं में अधिक अन्तर नहीं है। एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि सभी का समय पड़ने पर कार्य करता है। उदाहरणार्थ, मलय भाषा के 'सकित' शब्द का अर्थ बीमार, बीमार होना तथा बीमारी आदि सभी होता है। बहुवचन बनाने के लिए अधिकतर पुनरुक्ति कर दी जाती है। मलायन में रज=राजा, और रजरज—बहुत से राजे। इस परिवार का क्षेत्र पहले भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश-सा था, अतः संस्कृत के शब्द यहाँ काफी मिलते हैं। हाँ, उनमें ध्वनि-परिवर्तन अवश्य बहुत अधिक हो गया है। इसके अतिरिक्त फारसी, अरबी, पुर्तगाली तथा डच शब्द भी हैं। कुछ तो उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें दो भाषाओं के शब्द मिलकर यहाँ एक शब्द हो गये हैं। अरबी और संस्कृत का योग—जवाहर-मनिकम= रत्न। यहाँ के नामों में संस्कृत शब्द अधिक मिलते हैं। आजकल के वहाँ के प्रसिद्ध नेता का नाम सुकार्नो (सुकर्ण) है। ब्रोमो (ब्रह्मा) जोग्यकर्त (अयोध्याकृत) तथा जसविदग्ध (यशोविदग्ध) आदि अन्य उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। दक्षिणी ब्राह्मी, अरबी और रोमन तीनों ही लिपियाँ कुछ परिवर्तित होकर यहाँ काम में आती हैं।

मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा के एक भाग, एवं बोर्नियो के किनारे मलय भाषा बोली जाती है। यहाँ अब रोमन लिपि का प्रयोग होने लगा है। बत्तक वर्ग की तीनों बोलियों का क्षेत्र सुमात्रा है। जावा के आधे से अधिक आदमी जावानीज का प्रयोग करते हैं। इस भाषा का नाम 'कवि' भी है, जिसका अर्थ 'कवि की भाषा' है। 'कवि' साहित्यिक भाषा है। वर्तमान जावानीज के दो रूप हैं। प्रथम क्रोमो है, जिसका प्रयोग राजकीय कार्यों एवं साहित्य में होता है। दूसरी न्गोको है जिसका प्रयोग नीची श्रेणी के लोग करते हैं। जावा में ही सुन्दीअन के भी बोलने वाले कुछ हैं।

विभाजन
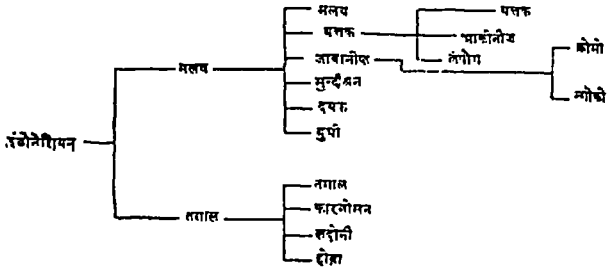
'दयक'-भाषी बोर्नियो के मध्य और उत्तरी भाग में रहते हैं। बुघी और उसी की संगिनी मकासार भाषाएँ सेलेबेस में बोली जाती हैं। तगाल फ़िलिपाइन की भाषा है। फारमोसन भाषा फारमूसा में बोली जाती है। इस पर चीनी का प्रभाव अधिक पड़ा है। लदोर्न द्वीप में लदोर्नी और मैडागास्कर में होवा बोली जाती है। होवा का दूसरा नाम मलगसी भी है।

(ख) मलेनेशियन परिवार

यह परिवार फीजी आदि छोटे-छोटे द्वीपों में फैला है। इसमें वचन के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि एकवचन, द्विवचन, त्रिवचन और बहुवचन पाया जाता है। अलग-अलग द्वीपों में अलग-अलग भाषाएँ हैं। ल्वायल्ती भाषा में मनुष्य और बीस के लिए एक शब्द है। शायद यह इसलिए कि हाथ-पैर मिलाकर मनुष्य के बीस अँगुलियाँ होती हैं। इन भाषाओं में किसी में 'चार' पर गिनती आधारित है, तो किसी में दस पर, और किसी में बीस पर। विकास में यह परिवार इण्डोनेशियन से आगे है। इस परिवार में सम्बन्धवाचक सर्वनाम भी प्रत्यय लगाकर बनता है। यहाँ भी एक ही शब्द आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है (फ़ीजी में 'रेकी' का अर्थ मनोरंजन और मनोरंजन करना दोनों ही होता है)। जोर देने के लिए शब्द दोहरा दिये जाते हैं। (फिजी में ही 'तला'=भेजना, 'तलातला'=बार-बार भेजना या खबर) इसमें प्रधानतः उपसर्ग और प्रत्यय लगते हैं।

विभाजन
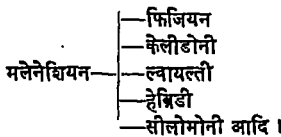
ये सभी भाषाएँ इन्हीं नामों के द्वीपों में बोली जाती हैं। फिजियन के अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो वाक्य-रचना की दृष्टि से इंडोनेशियन परिवार से कुछ मिलती-जुलती हैं।

(ग) पालिनेशियन परिवार

इनका क्षेत्र मलेनेशिया के पूरब-दक्षिण में है। इंडोनेशियन परिवार के शब्द इसमें पाये जाते हैं, किंतु व्यंजनों का लोप हो गया है। वहाँ का 'अकर' (जड़) इसकी मओरी भाषा में 'अक' और हवाई में 'अअ' हो गया है। इस परिवार में संयुक्त स्वर और संयुक्त व्यंजन बिल्कुल नहीं हैं। गिनती दस पर आधारित है। द्विवचन इसमें भी है, पर त्रिवचन नहीं। इसमें कभी-कभी वाक्य में सम्बन्ध दिखाने के लिए स्वतंत्र निपात (particle) का प्रयोग होता है। यह परिवार पूर्णतः वियोगात्मक हो गया है। इसमें भी पुनरुक्ति के सहारे अर्थ की विशेषता प्रकट की जाती है : हैरे = चलाना, और हैरे-हैरे = ऊपर-नीचे चलना। हवाई में हुलि = खोजना, हुलि-हुलि = अच्छी तरह खोजना।

विभाजन

मओरी न्यूजीलैंड में, टोंगी टोंगा में, समोई समोआ में, हवाई हवाई द्वीप में, ताहिती ताहिती में तथा मारक्वीसन मारक्वीसीज़ में बोली जाती है।

(घ) पपुआ परिवार

यह परिवार न्युगिनी के समीप के छोटे-छोटे द्वीपों में फैला है। इसकी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनों ही का प्रयोग होता है। मफ़ोर भाषा में —

म्नफ़ = सुनता
जम्नफ़ = मैं सुनता हूँ।
जम्नफ़उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ।

बहुवचन के लिए '—सी' प्रत्यय लगाया जाता है। मफ़ोर में—

स्नून = आदमी
स्नूनसी = कई आदमी

इस परिवार की मफ़ोर भाषा ही प्रसिद्ध है और उसी का अध्ययन अब तक हो सका है। यह न्यूगिनी की प्रधान भाषा है।

(ङ) आस्ट्रेलियन परिवार

इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र आस्ट्रेलिया और टस्मानिया है। ये अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद अधिकतर प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं। टस्मानिया से इस परिवार की भाषा समाप्त हो गई। आस्ट्रेलिया में भी इसके बोलने वाले दिन पर दिन कम ही होते जा रहे हैं। कुछ लोगों ने इस परिवार को द्रविड़ परिवार से जोड़ने का प्रयास किया था, पर यह मत मान्य नहीं हो सका। इसकी प्रधान भाषा मैंबवारी है जो उसी नाम की झील के पास बोली जाती है। कमिलरोई भाषा का क्षेत्र भी उसके पास ही है। और भी कुछ छोटी-छोटी भाषाएँ हैं, जिनका विशेष महत्त्व नहीं है।

(४) अमेरिका खण्ड

इस में उत्तरी और दक्षिणी दोनों अमेरिका की भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस खंड की भाषाओं एवं भाषा-परिवारों का सम्यक् अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। जो कुछ अध्ययन हुआ है, उसी आधार पर यहाँ हम लोग इस खंड पर विचार करेंगे।

इस खंड में लगभग चार सौ भाषाएँ हैं, जो लगभग ३० वर्गों में रखी जा सकती हैं। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य बनाने के लिए शब्दों की प्रधान ध्वनि या अंश को लेकर मिलाते जाते हैं और वाक्य एक शब्द बन जाता है। चेरोकी का नाधोलिनिन (हमारे पास नाव ले आओ) का उदाहरण ऊपर हम ले चुके हैं। अलग शब्दों का प्रयोग यहाँ नहीं होता। कुछ भाषाओं में तो अलग शब्द जैसे हैं ही नहीं। वाक्य ही यहाँ शब्द हैं। यह असंस्कृत भाषाओं की निशानी है। किन्तु यहाँ की मय आदि कुछ भाषाएँ कुछ अधिक विकसित भी हैं और उनमें साहित्य भी मिलता है। इनके बोलने वालों ने कभी साम्राज्य-स्थापित किया था, किंतु यूरोपीय लोगों ने उसे समाप्त कर दिया। लिपियाँ केवल नहुअत्ल और मय भाषाओं में हैं। कुछ भाषाओं में पत्थर, घोंघों या चमड़े आदि पर बने पुराने चित्र मिलते हैं, पर उनका पढ़ा जाना अब सम्भव नहीं है। यहाँ पहले रज्जु लिपि का भी प्रचार था (दे० लिपि का अध्याय)। आज से ५०० वर्ष पूर्व इन लोगों की संख्या लगभग ४-५ करोड़ थी, पर अब मुश्किल से डेढ़ करोड़ बचे हैं। कुछ ईसाई पादरियों ने इनकी भाषाओं को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था। ऐसी भाषाओं में कुईचुआ तथा गुआर्नी आदि प्रधान हैं। कुछ स्थानों पर ऐसा है कि स्त्रियाँ एक भाषा बोलती हैं और पुरुष दूसरी। इसका ऐतिहासिक कारण है। एक बार ऐसा हुआ था कि 'अवरक' भाषाभाषी लोगों पर 'करीब' भाषाभाषी लोगों की विजय हुई। उन लोगों ने पुरुषों को तो मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिये। फल यह हुआ कि स्त्रियों की पीढ़ी अब तक 'अवरक' भाषा बोलती है और पुरुष 'करीब' भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक-दूसरे को समझ लेते हैं, पर प्रयोग एक का करते हैं। दोनों भाषाओं का एक-दूसरे पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है, जो स्वाभाविक ही है।

विभाजन
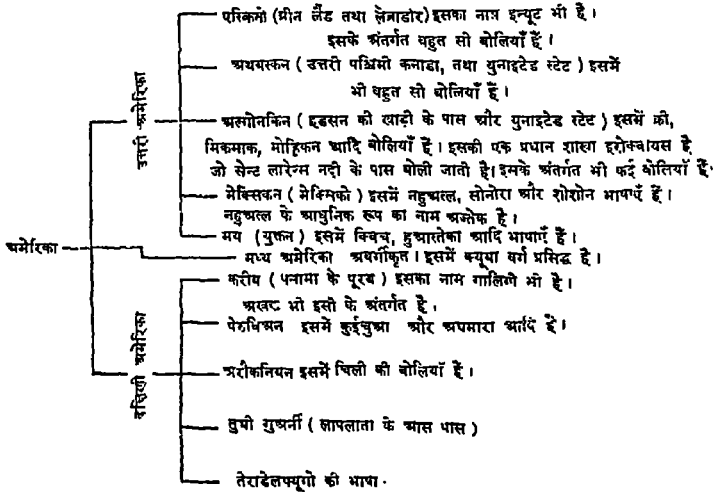
अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण इस खंड की भाषाओं का वैज्ञानिक विभाजन या वर्गीकरण संभव नहीं है। कुछ लोगों ने राजनैतिक और भौगोलिक आधार पर दक्षिणी, उत्तरी और मध्य अमेरिका वर्ग माना है। कुछ अन्य लोगों ने यों ही इन्हें मोटे रूप से ३४ विभागों में बाँट दिया है। यहाँ दोनों के सामंजस्य के आधार पर वर्गीकरण दिया गया है।

चेरोकी भाषा उत्तरी अमेरिका के ही अपलाशन वर्ग में है। इसका क्षेत्र फ्लोरिडा के आसपास है। उत्तरी अमेरिका में डकोटा, पानी, कोलोशे तथा पुब्लो आदि वर्ग भी हैं, किंतु उनका विशेष महत्व नहीं है और उनके बोलने वाले भी बहुत कम रह गये हैं।

४ | वाक्यविज्ञान (SYNTAX)

'वाक्यविज्ञान' में वाक्य-गठन या 'पद' से वाक्य बनाने की प्रक्रिया का वर्णनात्मक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन होता है। वर्णनात्मक वाक्यविज्ञान से किसी भाषा में किसी एक काल में प्रचलित रूप में प्रयुक्त वाक्य-गठन का अध्ययन किया जाता है, तुलनात्मक में इसी प्रकार दो या अधिक भाषाओं का वाक्य-गठन की दृष्टि से किये गये अध्ययन की तुलना करके साम्य और वैषम्य देखा जाता है। ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान में एक भाषा के विभिन्न कालों का अध्ययन कर वाक्य-गठन की दृष्टि से उसका इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

वाक्य को प्रायः लोग सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं, जो भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो। कोशों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। यूरोप में इस दृष्टि से प्रथम प्रयास थ्रैक्स (१ली सदी ई० पूर्व) का है। भारत में पतंजलि[1] (१५० ई० पू० के लगभग) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों ही आचार्य 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य' मानते हैं। यों समझने-समझाने के लिये ये परिभाषाएँ ठीक हैं, किन्तु तत्वतः इन्हें ठीक नहीं कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। वाक्य भाषा की इकाई है। व्याकरणवेत्ताओं ने कृत्रिम रूप से वाक्य को तोड़कर शब्दों को अलग-अलग कर लिया है। हमारा सोचना समझना, बोलना या किसी भाव को हृदयंगम करना सब कुछ 'वाक्य' में ही होता है। ऐसी स्थिति में 'वाक्य शब्दों का समूह है' कहने की अपेक्षा 'शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड हैं' कहना अधिक समीचीन है।

'पद' और 'वाक्य' को लेकर हमारे यहाँ मीमांसकों में विवाद रहा है। अन्विताभिधानवाद सिद्धांत के अनुसार वाक्य की ही सत्ता मूल है, और 'पद' उसके तोड़े गए अंश हैं, किंतु अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सत्ता है, और वाक्य पदों का जोड़ा हुआ रूप है। भर्तृहरि ने भी अपने वाक्यपदीय (ब्रह्मकांड ७३) में वाक्य की सत्ता को ही वास्तविक कहा है। स्पष्ट ही अन्विताभिधानवाद या भर्तृहरि का मत ही

---

१. अन्य भारतीय आचार्यों ने भी वाक्य की परिभाषाएँ दी हैं। विश्वनाथ की प्रसिद्ध परिभाषा है : 'वाक्यं स्यात् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' जैमिनी कहते हैं : 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्।'

आज के भाषा विज्ञान-जगत को मान्य है, और वाक्य ही भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक सहज इकाई है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें मूलतः दो बातें हैं—

१—वाक्य शब्दों का समूह है।

२—वाक्य पूर्ण होता है।

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक दृष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है, और यह कहा जा चुका है कि कि वाक्य का शब्द रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं है। आज भी संसार में ऐसी भाषायें हैं जिनमें वाक्य का शब्द रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य ही वाक्य हैं, शब्द नहीं।

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। 'वाक्य शब्दों का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णतः ठीक नहीं है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्रातः जब माँ से 'बिछकुट' (बिस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य से ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत में भी प्रायः वाक्य एक शब्द के होते हैं। उदाहरण-स्वरूप :

हीरा—तुम घर कब आओगे ?

मोती—कल। और तुम ?

हीरा—परसों।

मोती—और मोहन गया क्या ?

हीरा—हाँ।

'खाओ', 'जाओ', 'लिखिए', 'पढ़िए', तथा 'चलिए', आदि भी एक ही शब्द के वाक्य हैं।

वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नहीं है। उसे पूर्णतः पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्रायः अपने किसी भाव को हम कई वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हैं। यहाँ वह भाव अपने में पूर्ण है और कई वाक्य मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्य पूर्ण (पूरे भाव) के खन्ड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं। यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात (जिसमें बहुत से वाक्य होते हैं) को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक ही अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है और बीच में आने वाले छोटे-मोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहरें मात्र हैं, अतएव वह अविच्छिन्न धारा ही केवल पूर्ण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस अविच्छिन्न धारा की पूर्णता की तुलना में एक भाव या विचार भी बहुत अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या जो पूरे भाव या विचार का एक छोटा खंड मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वाक्य' की प्रचलित परिभाषा बहुत ही अपूर्ण तथा अशुद्ध है।

ऊपर वाक्य के सम्बन्ध में दिये गये विवाद की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि —

वह अर्थवान ध्वनि-समुदाय जो पूरी बात या भाव की तुलना में अपूर्ण होते हुए भी अपने आप में पूर्ण हो तथा जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रिया का भाव हो, वाक्य है।

यदि बहुत संक्षेप में कहना चाहें तो वाक्य को **'लघुतम पूर्ण कथन या भावांश'** भी कह सकते हैं।

स्पष्ट ही ये परिभाषायें भी हर दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक नहीं हैं, किन्तु किसी अन्य अधिक समीचीन परिभाषा के अभाव में काम दे सकती हैं।

लिखित और बोलचाल के वाक्य

बोलचाल के वाक्य अपेक्षाकृत छोटे होते हैं, और प्रायः एक साँस (लगभग ३ सेकंड) में बोले जा सकते हैं, पर इसके विरुद्ध लिखित वाक्य प्रायः बड़े होते हैं और बोलचाल के कई वाक्यों से मिलकर बनते हैं।* उदाहरणार्थ—

(१) एक राजा था। (२) राजा का नाम भीमसेन था। (३) राजा वेनुपुर नाम के शहर में रहता था।

इसका लिखित रूप होगा—

एक राजा था, जिसका नाम भीमसेन था और जो वेनुपुर नामक नगर में रहता था।

बोलचाल के वाक्यों का प्रयोग प्रायः अनपढ़ लोग करते हैं। पढ़े-लिखे लोग लिखित भाषा के प्रभाव तथा मस्तिष्क के संस्कृत हो जाने के कारण अपनी बोलचाल में भी लिखित वाक्यों की भाँति बड़े वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं। ऊपर के दोनों उदाहरणों में पहला उदाहरण अनपढ़ लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। पर, पढ़े-लिखे लोग इसे इस प्रकार न कहकर, प्रायः बोलचाल में भी दूसरे रूप (लिखित वाक्य) में कहते हैं। कहना न होगा कि पहला, वाक्य का स्वाभाविक और प्राचीन रूप है और दूसरा कृत्रिम तथा बाद का।

वाक्य का विभाजन

संसार की सभी भाषाओं के वाक्य एक प्रकार के नहीं होते, इसी कारण कोई ऐसा पूर्ण विभाजन अभी तक भाषावैज्ञानिकों को नहीं मिल सका है, जो सभी भाषाओं पर लागू किया जा सके। फिर भी दो प्रकार के विभाजनों का प्रचलन है, जिन्हें नीचे 'क' और 'ख' के अन्तर्गत दिया जा रहा है। इनमें पहला विभाजन अपेक्षाकृत अधिक भाषाओं पर लागू होता है।

---

*संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ कादम्बरी के लम्बे वाक्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

(क) अग्र और पश्च—वाक्य के अग्र और पश्च ये दो विभाग स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। विशेषत: जब हम धारा-प्रवाह रूप से कुछ कहते हैं तो दोनों रूप अपने द्वारा आप स्पष्ट होते रहते हैं। पर वे विभाग आज के लिखित वाक्य या शिक्षित लोगों द्वारा प्रयुक्त वाक्य में न मिलकर अनपढ़ लोगों के छोटे-छोटे वाक्यों में मिलते हैं।

भोजपुरी का एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ वाक्य के अग्र और पश्च भाग रेखा द्वारा स्पष्ट कर दिये गये हैं —

हमके खाए जाए के रहल। जाए में देरी हो गइल। देरी हो गयला से ओइजां के खयक्वें खतम हो गयल। खयका खतम भइला से हमके अपना अस मुँह लेके रह जाए के परल।

यहाँ एक वाक्य का पश्च अंश सम्बन्ध दिखाने के लिए दूसरे का अग्र हो गया है।

समुन्नत भाषाओं, या सुशिक्षित लोगों की बोलचाल, में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। हमारा मस्तिष्क इतना संस्कृत हो गया है कि इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने की अब आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऊपर के वाक्यों को आज का शिक्षित आदमी कहेगा तो उसके दो रूप होंगे। या तो वह सबको मिलाकर एक वाक्य कर देगा—

मुझे खाने जाना था पर देर हो गई और फल यह हुआ कि खाना खतम हो गया और मुझे अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

या कई वाक्य में कहेगा, किंतु एक वाक्य के पश्च भाग को दूसरे वाक्य में अग्र-रूप में रखने की आवश्यकता न होगी।

मुझे खाने जाना था। देर हो गई। खाना खत्म हो गया और मुझे अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा।

(ख) उद्देश्य और विधेय—वाक्य के दो भाग होते हैं—१. उद्देश्य और २. विधेय। उदाहरणार्थ 'राम जाता है' वाक्य में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। यह विभाजन ठीक है, किन्तु प्रमुखत: केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं पर ही लागू होता है। अन्य परिवारों में यह विभाजन इस रूप में सम्भव नहीं है। हाँ, यदि अग्र तथा पश्च रूपों या दुहराए और नये आये अंशों को ही उद्देश्य-विधेय मान लिया जाय तो बात दूसरी है।

निकटस्थ अवयव (Immediate Constituent)

वाक्य का अध्ययन उसके निकटस्थ अवयवों में बाँटकर भी किया जा सकता है। जब वाक्य में एक से अधिक पद या रूप हों तो ऐसा किया जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त 'पद' या 'रूप' ही उसके 'अंग' या 'अवयव' हैं। कोई रचना जिन दो या कुछ अवयवों से मिलकर बनती है, उनमें प्रत्येक 'निकटस्थ अवयव' कहलाता है। निकटस्थ का आशय स्थान से नहीं है, अपितु अर्थ से है। अंग्रेजी वाक्य 'Is Ram going' में यद्यपि is और going स्थान की दृष्टि से दूर-दूर हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि

से वे निकट हैं । इसमें 'is' और 'going', 'is going' रचना के निकटस्थ अवयव हैं, और फिर ये दोनों मिलकर 'Is Ram going' वाक्य या रचना के निकटस्थ अवयव हैं। दूसरी ओर 'The cows of that milkman are coming में milkman तथा are स्थान की दृष्टि से निकटस्थ हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से निकट नहीं (Milkman are या milkman are coming कोई 'रचना' नहीं है, और ये एक प्रकार से निरर्थक हैं), अतएव उन्हें निकटस्थ अवयव नहीं माना जा सकता। इसमें प्रथम स्तर पर निकटस्थ अवयवों के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं—'The cows', 'that milkman' तथा 'are coming' : दूसरे स्तर पर दो हैं—'The cows of that milkman' तथा 'are coming' । हिन्दी का एक वाक्य है—

'वह सुन्दर कुत्ता जो कल रास्ते में मिला था, आज अपने मालिक के पास भेज दिया गया।' इसमें १७ पद हैं। 'निकटस्थ अवयव' की दृष्टि से इसका विभाजन इस प्रकार होगा —
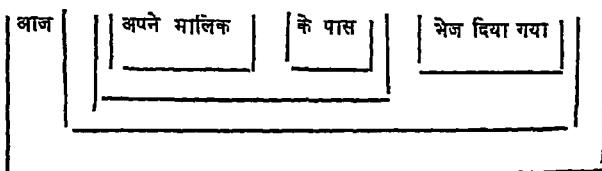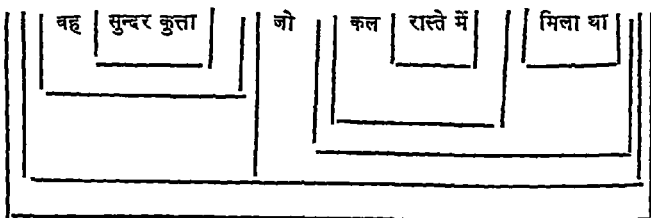
इसका आशय यह है कि कई स्तरों पर निकटस्थ अवयवों को अलग किया जा सकता है। निकटस्थ अवयव पद-क्रम या शब्द-क्रम पर निर्भर करते हैं। ऊपर तो सरलता से उन्हें अलग कर लिया गया है, किन्तु ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, जहाँ वे इस प्रकार अलग-अलग नहीं होते। उनके बीच में अन्य निकटस्थ अवयव या उनके अवयव भी आ जाते हैं। अंग्रेजी के प्रश्नसूचक वाक्यों में, जब क्रिया का सहायक अंश एक ओर तथा मूल अंश दूसरी ओर होता है, तो यही स्थिति होती है। 'Is the black dog coming' में 'is' और 'coming' निकटस्थ अवयव हैं, और उनके बीच में 'the black dog' दूसरा अवयव है।

वाक्य में निकटस्थ अवयवों का महत्त्व बहुत अधिक है। अर्थ की प्रतीति इसी कारण होती है। भाषा का प्रयोक्ता या श्रोता जाने या अनजाने इससे परिचित रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह अर्थ नहीं समझ सकता। एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करने में भी इसका पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अनुवाद में जब हम कहते हैं कि शब्द के लिए शब्द नहीं रखा जाना चाहिए तो वहाँ हमारा आशय इसी से होता है। अनुवाद-कर्त्ता 'निकटतम अवयव' का अनुवाद करके ही सफल हो सकता है, पद-पद का अनुवाद करके नहीं। कुछ उदाहरण लिए जा रहे हैं : He fell in love with her का सीधा अनुवाद होगा—वह गिरा में प्रेम से उसके। लेकिन निकटस्थ अवयव में बाँटे तो 'he' 'fell in love' 'with her' के रूप में लेना पड़ेगा। इसका आशय यह भी है कि निकटस्थ अवयवों में बाँटने के लिये भाषा के प्रयोगों और मुहावरों का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। 'मेरा सर चक्कर खा रहा है' का अनुवाद 'my head is eating circles' नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ 'चक्कर' स्वतन्त्र न होकर 'खा रहा' के साथ मिलकर निकटस्थ अवयव बनता है, या 'चक्कर खा रहा है' निकटस्थ अवयव का अंश है।

भाषा सर्वत्र अपने अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाती। ऐसे स्थलों पर निकटस्थ अवयवों को ठीक-ठीक अलग कर पाना असम्भव हो जाता है। मान लें एक वाक्य है 'सुन्दर पुस्तकें और कापियाँ रक्खी हैं' यहाँ यह कहना कठिन है कि 'सुन्दर' विशेषण केवल है या 'पुस्तकें और कापियाँ' दोनों के लिए। यदि केवल 'पुस्तकें' के लिए है तो 'निकटस्थ अवयव' का विभाजन होगा—
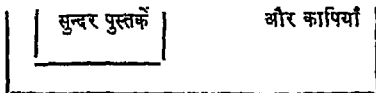
किन्तु यदि दोनों के लिए है, तो होगा—
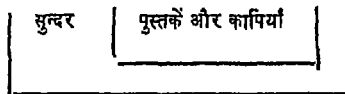
'वाक्य-सुर' भी निकटस्थ अवयव है, क्योंकि इसके बिना कभी-कभी ठीक अर्थ की प्रतीत नहीं होती। 'आप जा रहे हैं' वाक्य को 'वाक्य-सुर' के आधार पर प्रश्न-सूचक, आश्चर्यसूचक या सामान्य, आदि कई रूप दिये जा सकते हैं। यहाँ तीनों में में ही भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्य-सुर वाक्य के निकटस्थ अवयव हैं।

वाक्यों के प्रकार

(अ) पीछे भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके हैं। संसार की सभी भाषाओं पर विचार करने से हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते

हैं। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओं में समय-समय पर ये चारों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं, अर्थात् विकास-चक्र के ये चार विराम मात्र हैं, किंतु अब यह चीज निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई एक भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों में नहीं जा सकती। यहाँ संक्षेप में वाक्य के इन चारों प्रकारों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है—

(१) अयोगात्मक—अयोगात्मक वाक्य में शब्द अलग-अलग रहते हैं और उन का स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ सम्बन्धतत्व दिखाने के लिए शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, अतः सम्बन्ध का प्राकट्य शब्दों के स्थान से ही होता है। यह पद-क्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओं में प्रधान रूप से मिलती है। भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भारोपीय भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक थीं, किन्तु उनसे विकसित अंग्रेजी, हिन्दी आदि आधुनिक भाषायें वियोगात्मक हो गई हैं। पद-क्रम यहाँ भी कुछ-कुछ निश्चित हो गया है :

1. Ram killed Mohan.

2. Mohan killed Ram.

दोनों में शब्द एक ही हैं, किंतु स्थान-परिवर्तन से अर्थ उलटा हो गया है। हिंदी में भी लगभग यही बात है। किन्तु भारोपीय परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी अयोगात्मक नहीं हैं, अतः पद-क्रम उतने निश्चित नहीं हैं। हिन्दी में कर्त्ता पहले और क्रिया बाद में आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में प्रश्नवाचक आदि वाक्यों में यह साधारण नियम टूट जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा अयोगात्मकता की ओर जितनी ही जाती है, उसके वाक्यों में पद-क्रम का महत्त्व उतना ही बढ़ता जाता है। अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(२) प्रश्लिष्ट योगात्मक—प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने में उनका थोड़ा-थोड़ा अंश कट जाता है। मेक्सिकन में—

क = खाना
नकत्ल = मांस
नेवत्ल = मैं

तीनों को मिलाकर

नीनकक = मैं मांस खाता हूँ।

इन वाक्यों का विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता, इसी से इनके शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है, जो इनकी इस (प्रश्लिष्ट योगात्मक) संज्ञा का कारण है।

(३) अश्लिष्ट योगात्मक—इनमें प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। यहाँ शब्द प्रश्लिष्ट की भाँति मिलते नहीं, पर अयोगात्मक की भाँति सम्बन्ध जानने के लिए स्थान का ध्यान भी नहीं रखना पड़ता, अपितु प्रत्ययों से सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। इन वाक्यों में मूल शब्द और सम्बन्ध प्रकट करने के लिए जोड़े गए प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं। इसी कारण इनको पारदर्शक गठन वाले वाक्य कहा जाता है। इनका भी उदाहरण अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(४) श्लिष्ट योगात्मक—इन वाक्यों में विभक्तियों की प्रधानता रहती है। विभक्तियाँ अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों की भाँति प्रत्यय रूप में लगती हैं। पर दोनों में भेद यह है कि अश्लिष्ट में प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं और उनका अस्तित्व खो नहीं जाता, पर दूसरी ओर श्लिष्ट में इनका स्पष्ट पता नहीं चलता।

संस्कृत में प्रथमा एकवचन में 'सु' प्रत्यय जोड़कर पद बनाया जाता है, पर जोड़ने के बाद जो पद बनता है उसमें 'सु' का बिलकुल पता नहीं चलता—

राम+सु = रामः

कहीं-कहीं तो जोड़ने में प्रत्यय पूर्णतया लुप्त हो जाता है।

विद्या+सु=विद्या

इन चारों में कुछ के उपभेद भी होते हैं, जिन पर पीछे विचार किया जा चुका है।

(आ) व्याकरणिक गठन की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—

(१) साधारण वाक्य—जिसमें एक उद्देश्य और एक विधेय हो। जैसे, 'राम जाता है।'

(२) संयुक्त वाक्य—जिस वाक्य में दो या दो से अधिक प्रधान उपवाक्य हों। जैसे,'मैं तुम्हारे घर गया पर तुम वहाँ नहीं थे।'

(३) मिश्रित वाक्य—जिसमें एक प्रधान उपवाक्य तथा अन्य आश्रित उपवाक्य [(क) संज्ञा उपवाक्य, (ख) विशेषण उपवाक्य, तथा (ग) क्रियाविशेषण उपवाक्य] हों। जैसे—

(क) उसने कहा कि मैं जाऊँगा।

(ख) वह लड़का, जिसे मैंने देखा था, मर गया।

(ग) वह फेल हो गया, क्योंकि उसने पढ़ा नहीं था।

(इ) भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, जिनमें प्रधान नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) विधानसूचक—राम जाता है।

(२) निषेधसूचक—राम नहीं जाता।

(३) आज्ञासूचक—यह काम करो।

(४) प्रश्नसूचक—तुम्हारा क्या नाम है?

(५) विस्मयसूचक—अरे यह क्या किया!

(६) संदेहसूचक—वह आया होगा।
(७) इच्छासूचक—ईश्वर तुम्हें दीर्घायु करे।

(ई) भापा में क्रिया का स्थान प्रमुख है। वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वाक्य में अवश्य वर्तमान रहती है। संस्कृत, लैटिन आदि बहुत-सी पुरानी भापाओं में तथा बँगला, रूसी आदि आधुनिक भापाओं में बिना क्रिया के भी वाक्य मिलते हैं, किन्तु सामान्यतः वाक्य क्रियायुक्त होता है। इस प्रकार क्रिया के होने और न होने के आधार पर वाक्य दो प्रकार के हो सकते हैं।

(१) क्रियायुक्त वाक्य—जिसमें क्रिया हो। कहना न होगा कि अधिकांश वाक्य इसी प्रकार के होते हैं।

(२) क्रियाविहीन वाक्य—जिसमें क्रिया न हो। कुछ भापाओं में यह प्रवृत्ति विशेप रूप से मिलती है, यद्यपि कुछ सीमित कालों में। यों समाचारपत्रों के शीर्पकों ('देश की आजादी फिर खटाई में; या 'कुतुबमीनार से कूदकर आत्महत्या' आदि) लोकोक्तियों ('जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ', हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' या 'आँख के अंधे नाम नयनसुख' आदि), विज्ञापनों (सुन्दर और मजबूत गाड़ी केवल......रुपये में आदि) तथा काव्य-भापा में क्रियाविहीन वाक्य प्रायः दिखाई पड़ते हैं।

रचना के प्रकार

(१) पूर्ण वाक्यात्मक, (२) अपूर्ण वाक्यात्मक

रचना (construction) के कई प्रकार होते हैं। जो पूर्ण वाक्य के रूप में हो उसे 'पूर्ण वाक्यात्मक रचना' कह सकते हैं। ऐसी रचना या ऐसे वाक्य में वाक्य के लिए आवश्यक सारे उपकरण होते हैं। दूसरी ओर कुछ रचनाएँ अपूर्ण वाक्यात्मक होती हैं। इनमें एक या अधिक वाक्य-उपकरणों या पदों का लोप रहता है। प्रश्नों के उत्तर में दी गई एक या दो शब्दों की रचनाएँ इसी श्रेणी की होती हैं।

(क) राम—मोहन, क्या तुम आज घर जाओगे।
(ख) मोहन—हाँ। (या हाँ, जाऊँगा)

यहाँ पहली रचना पूर्ण वाक्यात्मक है और दूसरी अपूर्ण वाक्यात्मक है। कहना न होगा कि अपूर्ण वाक्यात्मक रचना का अर्थ समझने के लिए उसे 'पूर्ण वाक्यात्मक' रचना का रूप श्रोता या पाठक, वातावरण और संदर्भ के आधार पर दे लेता है। बिना इसके अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है।

(२) अंतःकेन्द्रित (endocentric) : बहिर्केन्द्रित (exocentric)

अन्तःकेन्द्रिक रचना (coustruction) उसे कहते हैं, जिसका केन्द्र उसी में हो। 'लड़का' और 'अच्छा लड़का' में वाक्य के स्तर पर कोई अन्तर नहीं है। 'लड़का आता है' भी कह सकते हैं और 'अच्छा लड़का आता है' भी। यहाँ प्रमुख शब्द लड़का है। वाक्य के स्तर पर व्याकरणिक रचना की दृष्टि से 'अच्छा लड़का' वही है, जो

'लड़का' है। यहाँ 'अच्छा लड़का' अन्तःकेन्द्रित रचना है। दूसरे शब्दों में यदि रचना (पदों का समूह) गठन की दृष्टि से अपने एक या अधिक पदों के समान है तो उसे अन्तःकेन्द्रित कहेंगे। इसके कई रूप हो सकते हैं। (१) विशेषण+संज्ञा (काला कपड़ा, बदमाश आदमी), (२) क्रियाविशेषण+विशेषण (बहुत तेज, खूब गंदा), (४) क्रिया-विशेषण+क्रिया (तेज दौड़ा, खूब खाया), (४) संज्ञा+विशेषण उपवाक्य (आदमी, जो गया था, फल, जो पकेगा), (५) सर्वनाम+विशेषण उपवाक्य (वह, जो दौड़ रहा था), (६) सर्वनाम+पूर्वसर्गात्मक वाक्यांश (prepositional phrase) (Those on the plane), (७) क्रिया+क्रियाविशेषण उपवाक्य (गया, जहाँ हवाई जहाज गिरा था) तथा (८) संज्ञा+संयोजक+संज्ञा (राम और मोहन) आदि प्रमुख हैं। जो रचना ऐसी नहीं होती उसे वहिष्केन्द्री या बहिष्केन्द्रिक कहते हैं। इसमें अन्तःकेन्द्रिक की भाँति केवल एक या कुछ शब्द पूरी रचना के स्थान पर नहीं आ सकते। 'हाथ से' इसी प्रकार की रचना है। इसमें न तो केवल 'हाथ' 'हाथ से' का कार्य कर सकता है, और न 'से'। दोनों ही आवश्यक हैं। किसी के बिना रचना पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ रचना के दोनों घटकों के काम वाक्य में पूर्णतः दो हैं। इन दोनों घटकों या अवयवों में किसी का भी केन्द्र इस रचना में नहीं है (बहिष्केन्द्री)। 'देश से' 'दिल्ली की ओर' 'घोड़े को', 'पानी में' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

अंतःकेन्द्रिक रचना दो प्रकार की होती है: सवर्गी (coordinative) जैसे 'राम और मोहन' तथा आश्रितवर्गी (subordinative) जैसे 'अच्छा लड़का'। आश्रित-वर्गी में एक या कुछ शब्द मुख्य (head) होते हैं तथा शेष आश्रित। 'अच्छा लड़का' 'बहुत तेज' 'खूब चलता है' में अच्छा, बहुत, खूब आश्रित हैं। 'बहुत तेज लड़का' जैसी रचना में 'लड़का' मुख्य है 'तेज' आश्रित और 'बहुत' 'तेज' का आश्रित।
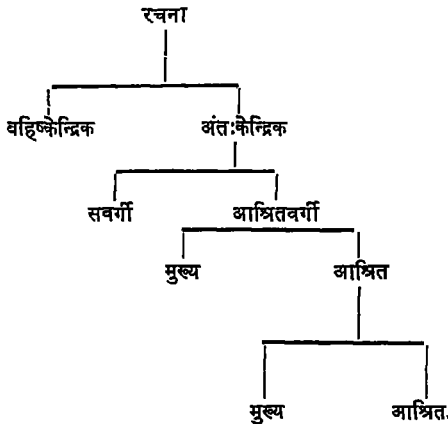
वाक्य-गठन में परिवर्तन

भाषा का वाक्य-गठन समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में वाक्य-रचना के नियम एक थे तो उसी से विकसित हिन्दी में काफी बदल गये हैं। संस्कृत में वाक्य में पदों का स्थान कुछ अपवादों को छोड़ कर बहुत निश्चित नहीं था, किन्तु हिन्दी में वह काफी निश्चित हैं। इसी प्रकार संस्कृत में क्रिया कर्त्ता के लिंग से प्रभावित नहीं होती थी (रामो गच्छति, सीता गच्छति), किन्तु हिन्दी में, वह प्रभावित होती है (राम जाता है, सीता जाती है)।

वाक्य-गठन में परिवर्तन की दिशाएँ—वाक्य गठन में परिवर्तन की मुख्य दिशायें निम्नांकित हैं—(१) पदक्रम में परिवर्तन—पदक्रम में परिवर्तन वाक्य-रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन है। अभी हाल तक हिन्दी में 'पुस्तक मात्र', 'मनुष्य मात्र' जैसे प्रयोग चलते रहे हैं, किन्तु अब 'मात्र पुस्तक', 'मात्र मनुष्य' जैसे प्रयोग होने लगे हैं। इसी प्रकार हिन्दी में विशेषण प्रायः संज्ञा के पहिले आते हैं: अच्छा लड़का, सिल्क की कमीज, एक गरीब की कहानी। अब एक नवीनता के लिए उल्टे प्रयोग भी दिखाई पड़ने लगे हैं 'कमीज सिल्क की,' 'कहानी एक गरीब की', 'दुल्हन एक रात की' (फ़िल्म का नाम)। संस्कृत में क्रियाविशेषण क्रिया के बाद आते थे, हिन्दी में क्रिया के पहिले आते हैं। यह शायद फारसी प्रभाव के कारण हुआ है (देखिये लेखक की पुस्तक, 'हिन्दी भाषा' का 'हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव' शीर्षक अध्याय)। (२) अन्वय में परिवर्तन—यह भी वाक्य-रचना में परिवर्तन की एक प्रमुख दिशा है। संस्कृत में क्रिया कर्त्ता के अनुरूप वचन तथा पुरुष की दृष्टि से होती थी, किंतु हिन्दी में कुछ अपवादों को छोड़ कर लिंग की दृष्टि से भी होती है। 'रामो गच्छति—राम जाता है' उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। (३) पद या प्रत्यय आदि का लोप—कभी-कभी कुछ पद लुप्त हो जाते हैं। इनके पीछे मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्न-लाघव काम करता है। उदाहरण के लिए, 'आँखों से देखी घटना' के स्थान पर 'आँखों देखी घटना', 'कानों से सुनी बात' से 'कानों सुनी बात' 'मैं नहीं जा रहा हूँ' से 'मैं नहीं जा रहा' तथा 'वह पढ़ेगा—लिखेगा नहीं' से 'वह पढ़े-लिखेगा नहीं' आदि। (४) अधिक पदों का प्रयोग—जैसे 'दरअसल' से 'दरअसल में', 'रामेण के स्थान पर राम के द्वारा', 'दर हकीकत' से 'दर हकीकत में' 'गच्छति' के स्थान पर 'चलता है' 'रामाय' के स्थान पर 'राम के लिए', 'मुझको' के स्थान पर 'मेरे को' या 'मुझसे' के स्थान पर 'मेरे से' आदि।

वाक्य गठन में परिवर्तन के कारण—मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) अन्य भाषा का प्रभाव[1]—जब कोई भाषा दूसरी से अत्यधिक प्रभावित होती है तो कभी-कभी उसके वाक्य-गठन में भी प्रभाव के कारण कुछ परिवर्तन आ जाता

---

१. देखिए लेखक की पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में 'हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव' शीर्षक अध्याय।

है। हिन्दी पर फ़ारसी और अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण कई प्रकार के परिवर्तन आ गये हैं। 'कि' लगाकर वाक्य बनाने की परम्परा फ़ारसी की देन है। इस प्रभाव के पूर्व इस प्रकार के वाक्यों के उदाहरण नहीं मिलते। अंग्रेज़ी का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा है। आजकल हिन्दी में कुछ लोग कहते हैं 'राम ने कहा कि मैं जाऊँगा' और कुछ लोग कहते हैं 'राम ने कहा कि वह जायेगा'। कहना न होगा कि इसमें दूसरे प्रकार की रचना अंग्रेजी की देन है। आधुनिककालीन हिन्दी में बहुत बड़े-बड़े वाक्यों की परम्परा भी अंग्रेज़ी के कारण ही आई है। कुछ लोग अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्य लिखते हैं, वह भी अंग्रेज़ी की देन है। कुछ लोगों के वाक्यों में क्रिया के बाद कर्म रखने की प्रवृत्ति मिलती है, जो स्पष्ट ही अंग्रेजी का प्रभाव है। नेहरू जी के वाक्यों में प्रायः ये बातें पर्याप्त मात्रा में मिल सकती हैं। भारतीय लोगों द्वारा बोली गई अंग्रेजी भी इसी प्रकार कभी-कभी भारतीय भाषाओं के वाक्य-नियमों से अनुशासित दिखाई पड़ती है।

(२) ध्वनि-विकास के कारण विभक्तियों का घिस जाना—भाषा के विकास के साथ जब सम्बन्धतत्व को स्पष्ट करने वाली विभक्तियाँ घिस जाती हैं, तो अर्थ की स्पष्टता के लिए सहायक शब्द (क्रिया, परसर्ग आदि) जोड़ने पड़ते हैं। इसके कारण भाषा संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर बढ़ने लगती है और उसकी वाक्य-रचना बहुत बदल जाती है। इसका सबसे अधिक प्रभाव तो शब्दाक्रम पर पड़ता है। संयोगात्मक भाषा में शब्द-क्रम या पद-क्रम बहुत निश्चित नहीं होता। कुछ अपवादों को छोड़कर शब्द वाक्य में कहीं भी रखे जा सकते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध वियोगात्मक भाषा में शब्द-क्रम बहुत अंशों तक निश्चित होता है। भारोपीय परिवार की अधिकांश आधुनिक भाषाओं (हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि) में यही बात हुई है, और वे चीनी आदि की तरह स्थान-प्रधान या पदक्रम-प्रधान हो चली हैं।

(३) स्पष्टता या बल के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग—इसका भी प्रभाव वही होता है जो ऊपर नं० २ में कहा जा चुका है। प्राकृत, अपभ्रंश में इन्हीं दोनों बातों के कारण विभक्तियों के न घिसने पर भी सहायक शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा, जिसका फल यह हुआ कि विभक्तियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो गईं और वे शब्द परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होने लगे।

(४) बोलनेवालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन—इसके परिवर्तन से अभिव्यंजना-शैली तथा अलंकरण-शैली प्रभावित होती है। अतः वाक्य की गठन भी अछूती नहीं रह पाती। जैसे, युद्धकालीन व्याख्यानों में वाक्य घुमे-फिरे न होकर अपेक्षाकृत सीधे होते हैं या, रोकर अपना दुःख सुनाने वाला दुःखी, अलंकृत वाक्य नहीं कहता। ज़ोर देने के लिए उसमें कभी-कभी पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है।

(५) नवीनता—नवीनता के लिए लोग, विशेषतः कलाकार, परिवर्तन कर लेते हैं। आज के हिन्दी-लेखक ऐसे अनेक नये प्रयोगों की ओर झुक रहे हैं।

वाक्य में पद-क्रम

वाक्य में किस प्रकार के पदों का क्या स्थान होता है, इसका भी अध्ययन

वाक्यविज्ञान में करते हैं। पीछे अयोगात्मक वाक्य पर विचार करते समय इस सम्बन्ध में कुछ बातें कही जा चुकी हैं।

वाक्य में पद-क्रम की दृष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जिनमें वाक्य में शब्दों (पदों) का स्थान निश्चित नहीं है। इन भाषाओं में शब्दों में विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द को उठाकर कहीं रख दें, अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। ग्रीक, लैटिन, अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत आदि इसी प्रकार की हैं।[1] इनके एक ही वाक्य को शब्दों के स्थान में परिवर्तन करके कई प्रकार से कहा जा सकता है। कुछ उदाहरण हैं—

अरबी

ज़रब्अ ज़ैदुन अम्रन = ज़ैद ने अमर को मारा।

ज़रब्अ अम्रन ज़ैदुन = अमर को ज़ैद ने मारा।

फ़ारसी

ज़ैद अमररा ज़द = ज़ैद ने अमर को मारा।

अमररा ज़ैद ज़द = अमर को ज़ैद ने मारा।

संस्कृत

जैदः अमरं अहनत् - जैद ने अमर को मारा।

अमरं जैदः अहनत् अमर को जैद ने मारा।

दूसरी प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं, जिनमें वाक्य में शब्द (पद) का क्रम निश्चित रहता है। ऊपर के उदाहरणों में हम देखते हैं कि शब्दों के स्थान-परिवर्तन से अर्थ में कोई फ़र्क नहीं आया, किन्तु निश्चित स्थान या स्थान-प्रधान भाषाओं में वाक्य में शब्द का स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी है। यों हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि आधुनिक भारोपीय भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति कुछ है। अंग्रेज़ी का एक उदाहरण है :—

अंग्रेज़ी

Zaid killed Amar= ज़ैद ने अमर को मारा।

Amar killed Zaid = अमर ने ज़ैद को मारा (यहाँ शब्द के स्थान-परिवर्तन से वाक्य का अर्थ उलट गया)

चीनी में तो यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है—

पा ताङ् शेन = पा शेन को मारता है।

शेन ताङ् पा = शेन पा को मारता है।

---

१. यह बात कुछ सीमाओं के भीतर ही सत्य है। इस प्रकार शब्दों का मनमाने ढंग से जहाँ जी चाहे रक्खा तो जा सकता, किन्तु ऐसा सर्वदा होता नहीं रहा है। इन संयोगात्मक भाषाओं में भी परम्परागत रूप से कुछ क्रम ही विशेष प्रचलित रहे हैं और इसी कारण उन्हीं का प्रयोग अधिक होता रहा है।

अंग्रेज़ी में सामान्यतः कर्त्ता, क्रिया और तब कर्म आता है, पर प्रश्नवाचक वाक्य में क्रिया का कुछ अंश पहले ही आ जाता है। विशेषण संज्ञा के पहले आता है और क्रियाविशेषण क्रिया के बाद में। हिन्दी में कर्त्ता, कर्म और तब क्रिया रखते हैं। सामान्यतः विशेषण संज्ञा के पूर्व तथा क्रियाविशेषण क्रिया के पूर्व रखते हैं। चीनी में अंग्रेज़ी की भाँति कर्त्ता के बाद क्रिया और तब कर्म रखते हैं। यद्यपि इसकी कुछ बोलियों में कर्म पहले भी आ जाता है। विशेषण और क्रियाविशेषण हिन्दी की भाँति प्रायः संज्ञा और क्रिया के पूर्व आते हैं। प्रश्नवाचक शब्द (जैसे क्या) अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में वाक्य के आरम्भ में आते हैं पर चीनी में वाक्य के अन्त में।

फ़ान त्स ल मा ?

खाना खा लिया क्या ?

किसी भी भाषा के शब्दों के स्थान की निश्चितता के ये नियम निरपवाद नहीं होते। यहाँ तक कि इस प्रकार की प्रधान भाषा चीनी में भी नहीं। ऊपर का चीनी वाक्य इस प्रकार भी कहा जा सकता है—

त्स फ़ान ल मा ?

खा खाना लिया क्या ? = खाना खा लिया क्या ?

बल देने के लिए पद-क्रम-प्रधान भाषाओं में भी पद-क्रम में प्रायः परिवर्तन ला देते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी में सामान्यतः कहेंगे 'मैं घर जा रहा हूँ' किन्तु बल देने के लिए 'घर जा रहा हूँ मैं' या 'जा रहा हूँ घर मैं' आदि भी कहते हैं।

वाक्य और स्वराघात

वाक्य से संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात का भी गहरा सम्बन्ध है। अन्य दृष्टियों से शब्द-क्रम आदि के एक रहने पर भी इन दोनों के कारण वाक्य के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। आश्चर्य, शंका, प्रश्न, निराशा आदि का भाव प्रायः संगीतात्मक स्वराघात या वाक्यसुर से व्यक्त किया जाता है। 'आप जा रहे हैं' वाक्य को समसुर में कहें तो यह सामान्य अर्थ का बोधक है, किन्तु विभिन्न रूप में सुर देकर इसे आश्चर्य, शंका, प्रश्न आदि का सूचक बनाया जा सकता है। यही बात बलात्मक स्वराघात के सम्बन्ध में भी है। वाक्य के पद-विशेष पर बल देकर उसका स्थान वाक्य में प्रधान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक वाक्य 'मैं आज उसे लाठी से मारूँगा' लिया जा सकता है। इसके पद-विशेष पर बल देने का एक ढंग तो है, उसे आरम्भ में रख देना, जिसका उल्लेख ऊपर पद-क्रम के सिलसिले में किया जा चुका है। दूसरा ढङ्ग यह भी हो सकता है कि क्रम ज्यों-का-त्यों रहे, केवल बल देकर पद को प्रधान बना दिया जाय। इस प्रकार 'मैं' पर बल देने का अर्थ होगा 'मैं ही मारूँगा' कोई अन्य नहीं; 'आज' पर बल देने का अर्थ होगा कि आज ही मारूँगा, कभी और नहीं, 'उसे' पर बल देने का अर्थ होगा कि उसे ही मारूँगा किसी और को नहीं। इसी प्रकार अन्य पदों पर बल देने पर भी अर्थ में अन्तर आ जायेगा।

वाक्य में पद आदि का लोप

वाक्य में जब आवश्यक सभी पद तथा सहायक शब्द (परसर्ग, संयोजक तथा सहायक क्रिया आदि) हों तो वह पूर्ण व्याकरणिक वाक्य होता है, किन्तु प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि इनमें एक या अधिक की कमी हो जाती है। इस बात का भी अध्ययन वाक्यविज्ञान में किया जाता है कि किस भाषा में किस प्रकार के लोप की प्रवृत्ति अधिक है। ऊपर क्रिया से युक्त या अयुक्त वाक्य का उल्लेख किया जा चुका है। कुछ दिन पूर्व तक हिन्दी में 'मैं आज नहीं जा रहा हूँ' कहते रहे हैं, किन्तु अब 'मैं आज नहीं जा रहा' कहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, यों 'आज नहीं जा रहा' कहकर भी काम चला लेते हैं। सच पूछा जाय तो ऊपर जिन एक शब्द के वाक्यों का उल्लेख किया जा चुका है, वे भी वस्तुतः इसी प्रकार के पदलोपी वाक्य हैं।

राम—क्या तुम जाओगे ?

मोहन—हाँ

यहाँ मोहन का 'हाँ' वाक्य तो है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से वह पदलोपी है। इसका पूरा रूप या भाव है 'हाँ, मैं जाऊँगा।' हिन्दी में विशेष प्रकार के वाक्यों में कर्म के परसर्ग का लोप मिलता है। 'आम (को) देखो' इसी प्रकार का वाक्य है। काव्य-भाषा में पदलोपी वाक्य अनेक प्रकार से मिलते हैं। पदमावत, मानस, बिहारी सतसई तथा आधुनिक कवियों में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। एक बहुप्रचलित गीत की पंक्ति है। 'कोयलिया बोले, अमवा (की) डार पर'। पदलोपी वाक्यों की प्रवृत्ति मूलतः संक्षिप्तता या मुख-सुख के कारण विकसित होती है। भाषा में समस्त पद बनाने की प्रवृत्ति भी लोपीकरण के अन्तर्गत ही आती है। बोलियों में पदलोपी वाक्यों की प्रवृत्ति बहुत अधिक मिलती है। बातचीत में तो प्रायः हर प्रकार के पदों के लोप वाले वाक्य मिल जाते हैं। बचता केवल वह है जिसका प्रश्न से सीधा सम्बन्ध हो और इस प्रकार जो सबसे महत्त्वपूर्ण हो। 'हाँ', 'मोहन', 'घर', 'जाना है', आदि बोलचाल के वाक्य उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

वाक्य की आवश्यकताएँ

पीछे वाक्य की परिभाषा के प्रसंग (आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा) में इसका सूत्रात्मक उल्लेख है। भारतीय दृष्टि से वाक्य के लिए ५ बातें आवश्यक हैं : सार्थकता, योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि और अन्विति। (१) सार्थकता—का आशय यह है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिए। (२) योग्यता—का आशय यह है कि शब्दों की आपस में संगति बैठे। शब्दों में प्रसंगानुकूल भाव का बोध कराने की योग्यता या क्षमता हो। 'वह पेड़ को पत्थर से सींचता है' वाक्य में शब्द तो सार्थक हैं, किन्तु पत्थर से सींचना नहीं होता, इसलिए शब्दों की परस्पर योग्यता की कमी है; अतः यह सामान्य अर्थ में वाक्य नहीं है, उलटबाँसी भले हो। (३) आकांक्षा—का अर्थ है 'इच्छा'। अर्थात् 'जानने की इच्छा', अर्थात् 'अर्थ की अपूर्णता'। वाक्यमें इतनी शक्ति

होनी चाहिए कि वह पूरा अर्थ दे। उससे सुनकर भाव पूरा करने के लिए कुछ जानने की आकांक्षा न रहे। (यह शर्त विवादास्पद है। पीछे वाक्य में अर्थ की पूर्णता पर सविस्तार विचार किया जा चुका है।) (४) सन्निधि या आसत्ति—का अर्थ है समीपता। वाक्य के शब्द समीप होने चाहिए। उपर्युक्त सभी बातों के रहने पर भी, यदि एक शब्द आज कहा जाय, दूसरा कल और तीसरा परसों तो उसे वाक्य नहीं कहा जायेगा। (५) अन्विति—का अर्थ है व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता। अंग्रेजी में इसे Concordance कहते हैं। विभिन्न भाषाओं में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। यह समानरूपता प्रायः वचन, कारक, लिंग और पुरुष आदि की दृष्टि से होती है। हिन्दी में क्रिया प्रायः लिंग, वचन, पुरुष में कर्त्ता के अनुकूल होती है 'सीता गये' न तो ठीक वाक्य है और न 'राम जा रही हैं'; क्योंकि यहाँ न तो 'सीता' और 'गये' में अन्विति है और न 'राम' और 'जा रही हैं' में। अंग्रेजी में क्रिया पुरुष, वचन की दृष्टि से कर्त्ता के अनुसार होती है, किन्तु लिंग की दृष्टि से नहीं। Ram goes. Sita goes. प्राचीन भाषाओं में विशेषण और विशेष्य में भी अन्विति मिलती है। संस्कृत में 'सुन्दरं फलम्' किन्तु 'सुन्दरः बालकः'। लैटिन Puella bona (अच्छी लड़की) किन्तु Filius bonus (अच्छा लड़का)। हिन्दी में आकारांत विशेषणों में ही ऐसा होता है। जैसे अच्छा लड़का, अच्छी लड़की। अन्य में नहीं, जैसे चतुर लड़का, चतुर लड़की। अंग्रेजी में विशेषण-विशेष्य-अन्विति बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार हर भाषा में अन्विति के अपने नियम होते हैं।

मीमांसकों के सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य में आकांक्षा, योग्यता (अन्विति भी इसमें समाहित है) तथा आसत्ति ये तीन अपेक्षित हैं।

रूपांतरण (Transformation)

वाक्य-रचना या वाक्य-विश्लेषण के क्षेत्र में तरह-तरह के प्रयोग होते रहे हैं। इधर चॉम्स्की, हैरिस, वाख आदि ने इसका एक नया रूप सामने रखा है जिसे रूपांतरण करते हैं। रूपांतरण का अर्थ है परिवर्तित करना, अर्थात् किसी भाषा के मूल वाक्य को विभिन्न प्रकार के व्याकरण-सम्मत वाक्यों में बदलना ही मूलतः रूपांतरण है। उदाहरण के लिए, एक अंग्रेजी का वाक्य तथा उसके दो रूपांतरण हैं—

Ram is going. (सामान्य)

Is Ram going ? (प्रश्न)

Ram is not going. (नकारात्मक)

यहाँ हम देखते हैं कि प्रश्न के लिए केवल रूपों के स्थान में परिवर्तन कर दिया गया है तथा नकारात्मक के लिए बीच में नकारात्मक अव्यय जोड़ दिया गया है। किंतु अंग्रेजी के ही दूसरे उदाहरण में

I see. (सामान्य)

Do I see ? (प्रश्न)

I do not see. (नकारात्मक)

बात बिलकुल बदल गई है। यहाँ प्रश्न के लिए क्रम नहीं बदला गया है, बल्कि एक अतिरिक्त शब्द (do) आ गया है तथा नकारात्मक में भी वह अतिरिक्त शब्द है। अर्थात् भाषा में किसी वाक्य को रूपांतरित करने के लिए विभिन्न प्रकार के नियम होते हैं। हिन्दी में ही

मैं जा रहा हूँ। (सामान्य)

क्या मैं जा रहा हूँ ? (प्रश्न)

मैं नहीं जा रहा। (नकारात्मक)

प्रश्न के लिए 'क्या' जोड़ा गया है, और नकारात्मक के लिए 'नहीं' जोड़ा तथा 'हूँ' घटाया गया है।

इस तरह एक मूल वाक्य से कैसे अन्य वाक्य रूपांतरण के आधार पर बनते है, इससे संबद्ध नियमों का निर्धारण ही रूपांतरण का विषय है। इस प्रकार के नियमों से युक्त व्याकरण 'रूपांतरणात्मक (transformational) व्याकरण' या 'उत्पादक (generative) व्याकरण' कहलाते हैं। मशीन-अनुवाद तथा भाषा-शिक्षण में इनसे बहुत सहायता मिल सकती है। इस प्रकार के अध्ययन के तीन चरण होते हैं : (क) भाषा के मूल वाक्यों का विश्लेषण, (ख) रूपांतरण के आधार पर बनाए जाने वाले अन्य वाक्यों में प्रयुक्त पद्धति, (ग) रूपध्वनिग्रामिक (morphophonemic) परिवर्तन। शब्दों के प्रयोग तथा, फ्रेजों, यौगिक शब्दों एवं रूपों आदि का विश्लेषण भी इसके आधार पर किया जा सकता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त टैगमीमिक व्यरण-पद्धति, सिस्टेमिक व्याकरण-पद्धति तथा स्ट्रैटिफिकेशनल व्याकरण-पद्धति आदि अन्य कई दृष्टियों से भी वाक्य का अध्ययन-विश्लेषण किया जा सकता है।

रूपविज्ञान | ५
(Morphology)

पीछे कहा गया है कि वाक्यविज्ञान में वाक्य का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है। उसी प्रकार रूपविज्ञान या पदविज्ञान में 'रूप' या 'पद' का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है। वर्णनात्मक रूपविज्ञान में किसी भाषा या बोली के किसी एक समय के रूप या पद का अध्ययन होता है, ऐतिहासिक में उसके विभिन्न कालों के रूपों का अध्ययन कर उसमें रूप-रचना का इतिहास या विकास प्रस्तुत किया जाता है, और तुलनात्मक रूपविज्ञान में दो या अधिक भाषाओं के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

यहाँ पहला प्रश्न यह उठता है कि 'पद' या 'रूप' क्या है? भाषा की इकाई वाक्य है, अर्थात् भाषा को वाक्यों में तोड़ा जा सकता है। उसी प्रकार वाक्य के खंड शब्द होते हैं और शब्द की ध्वनियाँ। एक ध्वनि या एक से अधिक ध्वनियों से शब्द बनता है, और एक शब्द या एक से अधिक शब्दों से वाक्य बनता है। यहाँ 'शब्द' शब्द का सामान्य या शिथिल प्रयोग है। थोड़ी गहराई में उतरकर देखा जाय तो कोश में दिये गये सामान्य 'शब्द' और वाक्य में प्रयुक्त 'शब्द' एक नहीं हैं। वाक्य में प्रयुक्त शब्द में कुछ ऐसा भी होता है, जिसके आधार पर वह अन्य शब्दों से अपना सम्बन्ध दिखला सके या अपने को बाँध सके। लेकिन 'कोश' में दिये गये 'शब्द' में ऐसा कुछ नहीं होता। यदि वाक्य के शब्द एक दूसरे से अपना सम्बन्ध न दिखला सकें तो वाक्य बन ही नहीं सकता। इसका आशय यह है कि शब्दों के दो रूप हैं। एक तो शुद्ध रूप है या मूल रूप है जो कोश में मिलता है, और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के सम्बन्धतत्त्व से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है। संस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा गया है और सम्बन्ध-स्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्त्व को 'प्रत्यय'। महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं : नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवल प्रत्ययः। अर्थात् वाक्य में न तो केवल 'प्रकृति' का प्रयोग हो सकता है न केवल 'प्रत्यय' का। दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। दोनों के मिलने से जो बनता है वही 'पद' या 'रूप' है। पाणिनी के 'सुप्तिङन्तं पदं' (सुप और तिङ्, जिनके अंत में हो वे पद है) में भी पद की परिभाषा

यही है। यहाँ प्रत्यय या विभक्ति को सुप और तिङ् (सुप तिङौ विभक्ति संज्ञो स्त:) कहा गया है। उदाहरण के लिए, 'पत्र' शब्द को लें। यह एक शब्द मात्र है। संस्कृत के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। वैसा करने के लिए इसमें कोई सम्बन्धसूचक विभक्ति जोड़नी होगी। जैसे 'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द तो 'पत्र' है और वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे 'पत्रं' का रूप धारण करना पड़ा है। अर्थात् 'पत्र' शब्द है और 'पत्रं' पद।

स्थान-प्रधान या अयोगात्मक भाषाओं (जैसे चीनी आदि) में शब्द और पद का यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ शब्दों में सम्बन्ध दिखाने के लिए किसी सम्बन्धतत्त्व (विभक्ति आदि) के जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। शब्द के स्थान से ही शब्द का सम्बन्ध अन्य शब्द से स्पष्ट हो जाता है या दूसरे शब्दों में बिना विभक्ति आदि जोड़े, किसी वाक्य में अपने विशिष्ट स्थान पर रक्खे जाने के कारण ही 'शब्द' पद बन जाता है। हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाएँ भी कुछ अंशों में इस प्रकार की हो गई हैं। उदाहरण के लिए, 'लड्डू' हिन्दी का एक शब्द है। इसे वाक्य में रखना हुआ, तो बिना किसी परिवर्तन के, या विभक्ति आदि लगाकर पद बनाये बिना ही, रख दिया—

'लड्डू गिरता है।'

और 'लड्डू' ने वाक्य में जाते ही अपने स्थान के कारण (यहाँ कर्त्ता का स्थान है) अपने दो पद बना लिया और उसका अन्य शब्दों से सम्बन्ध स्पष्ट हो गया। दूसरी ओर 'राम लड्डू खाता है' में भी वही 'लड्डू' है, लेकिन स्थान विशेष के कारण यहाँ उसके सम्बन्ध और प्रकार के हो गये हैं। वह कर्त्ता न होकर कर्म है। अंग्रेजी से भी इस प्रकार के अगणित उदाहरण लिए जा सकते हैं। जैसे Ram killed Mohan. तथा Mohan killed Ram.

शब्द

'पद' शब्द पर ही आधारित होते हैं, अतः पहले संक्षेप में शब्द-रचना विचारणीय है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही इकाई होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं। कुछ प्रश्लिष्ट योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, जैसे पीछे हम लोग 'नाधोलिनिन' आदि देख चुके हैं।[1] ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्र ही शब्द-सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे भी एक प्रकार से बने-बनाये शब्द हैं, अतः उन पर भी विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। शेष अधिकतर भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर (आरम्भ बीच या

---

१. देखिये पीछे भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण।

अन्त में) प्रत्यय जोड़कर होती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता है। (सेमिटिक परिवार में भी यही बात है।) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उपसर्ग (पूर्वप्रत्यय) और प्रत्यय दोनों ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से मूल के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे विहार, संहार, परिहार आदि में प्रत्यय जोड़कर उसी अर्थ के 'शब्द' या 'पद' बनाए जाते हैं जैसे 'कृ' धातु में तृच् प्रत्यय जोड़ने से कर्तृ शब्द बना। प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं। एक, जो सीधे धातु में जोड़ दिये जाते हैं, उन्हें 'कृत्' कहते हैं। दूसरे को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित को धातु में कृत् प्रत्यय जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

पद

हम ऊपर कह चुके हैं कि 'शब्द' को वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बना लेने पर, उसे 'पद' की संज्ञा दी जाती है। अयोगात्मक भाषाओं में पद नाम की शब्द से कोई अलग वस्तु नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। वहाँ शब्द स्थान के कारण पद बन जाता है। योगात्मक भाषाओं में पद बनाने के लिए शब्द में सम्बन्ध-तत्त्व के जोड़ने की आवश्यकता होती है। शब्द पर हम विचार कर चुके हैं। यहाँ सम्बन्ध-तत्त्व और उसके जोड़ने की विधि पर विचार किया जायेगा।

सम्बन्ध-तत्त्व

वाक्य में दो तत्त्व (सम्बन्ध और अर्थ) होते हैं। दोनों में प्रधान अर्थ-तत्त्व (semantcme) है। दूसरे को सम्बन्ध-तत्त्व कहते हैं। सम्बन्ध-तत्त्व का कार्य है विभिन्न अर्थ-तत्त्वों का आपस में सम्बन्ध दिखलाना। उदाहरणार्थ, एक वाक्य लिया जा सकता है—'राम ने रावण को बाण से मारा'। इस वाक्य में चार अर्थ-तत्त्व हैं—राम, रावण, बाण और मारना। वाक्य बनाने के लिए चारों अर्थ-तत्त्वों में सम्बन्ध-तत्त्व की आवश्यकता पड़ेगी, अतः यहाँ चार सम्बन्ध-तत्त्व भी हैं। 'ने' सम्बन्ध-तत्त्व वाक्य में राम का सम्बन्ध दिखलाता है, और इसी प्रकार 'को' और 'से' क्रम से रावण और बाण का सम्बन्ध बतलाते हैं। 'मारना' से 'मारा' पद बनाने में सम्बन्ध-तत्त्व इसी में मिल गया है।

यहाँ हमें एक ओर ऐसे सम्बन्ध-तत्त्व मिले जो शब्द के साथ ही अलग हैं : (राम ने); और दूसरी ओर एक ऐसा मिला जो शब्द में ऐसा घुलमिल गया है (मारा) कि पता नहीं चलता। इसी प्रकार कुछ और तरह के भी सम्बन्ध-तत्त्व होते हैं। यहाँ सभी प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्वों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है।

सम्बन्ध-तत्त्व के प्रकार

(१) शब्द-स्थान

जैसा कि पीछे कई स्थानों पर कहा जा चुका है शब्दों का स्थान भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व का काम करता है। संस्कृत के समासों में यह बात प्रायः देखी जाती है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं—

राजसदन=राजा का घर
सदनराज=घरों का राजा अर्थात् बहुत अच्छा या बड़ा घर
ग्राममल्ल=गाँव का पहलवान
मल्लग्राम=पहलवानों का ग्राम
धनपति=धन का पति, कुबेर
पतिधन=पति (शौहर) का धन

यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि स्थान-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्त्व में अन्तर आ गया है, और अर्थ बदल गया है। अंग्रेजी में भी 'स्थान' कभी-कभी सम्बन्धी-तत्त्व का काम करता है, जैसे 'गोल्डमेडल'। इसमें यदि दोनों का स्थान उलट दें, तो यह भाव नहीं व्यक्त होगा। 'पावरहाउस' तथा 'लाइटहाउस' आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं। संस्कृत तथा अंग्रेजी के ऊपर के उदाहरणों की भाँति हिन्दी में भी अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रक्खी जाती है। 'राजमहल', 'डाकघर' तथा 'मालबाबू' इसी के उदाहरण हैं। यहाँ भी स्थान विशेष पर होने से ही राज, डाक तथा माल शब्द संज्ञा होते हुए भी विशेषण का काम कर रहे हैं, और इस प्रकार उनके साथ शब्दों से विशिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट है। चीनी में भी इसी प्रकार अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जाती है। वेंग=राजा, तीन=घर। अतः 'वेंग तीन'=राजा का घर। वेल्श में शब्द-स्थान इसके बिल्कुल उलटा है। वहाँ ब्रेनहिन=राजा, और ती=घर। पर यदि 'राजा का घर' कहना होगा तो हिन्दी या चीनी आदि की भाँति 'ब्रेनहिन ती' न कहकर 'ती ब्रेनहिन' कहेंगे।

वाक्यों में भी स्थान से सम्बन्ध-तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह बात चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में विशेष रूप से पाई जाती है। उदाहरणस्वरूप—

न्गो त नि=मैं तुम्हें मारता हूँ।
नि त न्गो=तू मुझे मारता है।
अंग्रेजी तथा हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं—
Mohan killed Ram.
Ram killed Mohan.

कहना न होगा कि पहले वाक्य में मोहन और राम का सम्बन्ध दूसरा है, पर स्थान के परिवर्तन मात्र से ही दूसरे वाक्य में वाक्य पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। हिन्दी में—

चावल जल रहा है।
मैं चावल खाता हूँ।

इन दोनों वाक्यों में बिना किसी विभक्ति के केवल 'चावल' शब्द है, पर स्थान की विशिष्टता के कारण है वह दोनों में दो प्रकार का सम्बन्ध दिखला रहा है। पहले में कर्त्ता है, तो दूसरे में कर्म।

(२) शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना, या शून्य सम्बन्ध-तत्त्व जोड़ना

कभी-कभी कोई भी सम्बन्ध-तत्त्व न लगाकर शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना भी सम्बन्ध-तत्त्व का बोधक होता है। अंग्रेजी में सामान्य वर्तमान में प्रथम पुरुष एकवचन (I go) तथा सभी बहुवचनों (We go, You go, They go) में क्रिया को ज्यों का त्यों छोड़ देते हैं। अंग्रेजी में (Sheep) का बहुवचन शीप ही है। संस्कृत में ऐसी संज्ञाएँ (जैसे वणिक् सुभृत्, मरुत्, विद्युत्, वारि, दधि, विद्या, नदी तथा स्त्री आदि) कम नहीं हैं, जिनका अविकृत रूप ही प्रथमा एकवचन का बोधक है। आधुनिक भाषा-विज्ञानवेत्ताओं ने स्पष्टता के लिए ऐसे रूपों को शून्य सम्बन्ध-तत्त्वयुक्त रूप कहा है। अर्थात् मूल शब्द में शून्य सम्बन्ध-तत्त्व जोड़कर ये बने हैं।

(३) स्वतन्त्र शब्द

संसार की बहुत-सी भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द भी सम्बन्ध-तत्त्व का कार्य करते हैं। हिन्दी के सारे परसर्ग या कारक-चिह्न (ने, को, से, पर, में, का, की, के) इसी वर्ग के हैं, और उनका कार्य दो या अधिक शब्दों का वाक्य या वाक्यांश या शब्द-समूह में सम्बन्ध दिखलाना ही है। अंग्रेजी के टू (To), फ्राम (From), ऑन (on) तथा इन (in) आदि भी इसी श्रेणी के शब्द हैं। संस्कृत के इति, आदि, एवं तथा च आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। चीनी में रिक्त (empty) और पूर्ण (full) दो प्रकार के शब्द होते हैं। रिक्त शब्दों का प्रयोग सम्बन्ध-तत्त्व दिखलाने के लिए ही होता है। चीनी के त्सि (=का), यु (=को), त्सुंग (=से) तथा लि (=पर) रिक्त शब्द हैं, जो ऊपर के हिन्दी तथा अंग्रेजी शब्दों की ही श्रेणी में आते हैं। ग्रीक, लैटिन, फारसी तथा अरबी में भी इस प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्वदर्शी स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्दों का भी प्रयोग सम्बन्ध-तत्त्व के लिए होता है। हिन्दी का एक वाक्य लें—

अगर पिता जी की नौकरी छूट गई तो मुझे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ेगी।

इसमें 'अगर' और 'तो' इसी प्रकार के शब्द हैं। हालांकि......मगर, न...न, ज्यों...त्यों, यदि...तो, तथा यद्यपि......तथापि आदि भी इसी के उदाहरण हैं। अंग्रेजी के इफ़ (if)...देन (then), या नीदर (neither)...नॉर भी इसी श्रेणी के हैं।

(४) ध्वनि-प्रतिस्थापन (Replacing)

इसके अन्तर्गत ३ उपभेद किये जा सकते हैं। स्वर-प्रतिस्थापन, व्यंजन-प्रतिस्थापन, स्वर-व्यंजन-प्रतिस्थापन। (क) केवल स्वरों में परिवर्तन से भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट किया जाता है। कुछ भाषा-विज्ञानवेत्ताओं ने इसी को अपश्रुति (vocalic ablaut) द्वारा सम्बन्ध-तत्व प्रकट होना कहा है। अंग्रेजी में सिंग' (sing) से 'सैंग' (sang) तथा 'संग' (sung) इसी प्रकार बनते हैं। tooth से teeth, find से found में भी स्वर-प्रतिस्थापन हैं। जर्मन में 'विर गेबेन' (wir geben—हम देते हैं) से 'विर गैबन' (wir gaben—हमने दिया) इसी प्रकार बना है। संस्कृत में दशरथ से दाशरथी

तथा पुत्र से पौत्र या हिन्दी में मामा से मामी आदि भी इसी श्रेणी के उदाहरण हैं।
(ख) व्यंजन-प्रतिस्थापन में send से sent या advice से advise देखे जा सकते हैं।
(ग) 'जा' से 'गया'; be से am या is; go से went, संस्कृत में पच् धातु का लुङ् परस्मैपद में अपाक्षी; या अपाक्त; रम् का लुङ् में अरप्साताम् या आशीः में रप्सीष्ट आदि स्वर-व्यंजन-प्रतिस्थापन के उदाहरण हैं।

(५) ध्वनि-द्विरावृत्ति (Reduplicating)

कुछ ध्वनियों की द्विरावृत्ति से भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व का काम लिया जाता है। यह द्विरावृत्ति मूल शब्द के आदि, मध्य और अंत तीनों स्थानों पर पाई जाती है। दक्षिणी मेक्सिको की तोजोलवल भाषा से अंत्य-द्विरावृत्ति मिलती है। संस्कृत, ग्रीक में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। लंका की एक बोली में manao=चाहना और manao nao=(वे) चाहते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका की एक भाषा में irik—चलना और irikrik=वह चलता है।

(६) ध्वनि-वियोजन (Subtracting)

कभी-कभी कुछ ध्वनियों को घटा कर या निकाल कर भी सम्बन्ध-तत्त्व का काम लिया जाता है। उसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। फ्रांसीसी भाषा से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

स्त्रीलिंग		पुंलिंग		
उच्चारित रूप	लिखित रूप	उच्चारित रूप	लिखित रूप	अर्थ
Sul	(soule)	Su	(Soul)	(पीया)
ptit	(petite)	pti	(petit)	(छोटा)

नाइडा ने इन्हें इस रूप में माना है। यों, मैं समझता हूँ कि उलटे रूप में इसे जोड़ने का उदाहरण मानना शायद अधिक ठीक होगा।

(७) आदिसर्ग, पूर्वसर्ग, पूर्वप्रत्यय या परसर्ग (Prefix)

मूल शब्द या प्रकृति के पूर्व कुछ जोड़ कर शब्द तो बहुत-सी भाषाओं में बनते हैं, किन्तु सम्बन्ध-तत्त्व के लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक नहीं मिलता। संस्कृत भूतकाल की क्रियाओं में 'अ' आरम्भ में लगाते हैं, जैसे अगच्छत्, अचोरयत्। अफ्रीका की बंटू कुल की काफिर भाषा में यह प्रवृत्ति विशेष देखी जाती है। उदाहरणार्थ, 'कु' वहाँ सम्प्रदान कारक का चिह्न है। 'ति' = हम, नि = उन। कुति = हमको; कुनि = उनको।

(८) मध्यसर्ग (Infix)

कभी-कभी सम्बन्ध-तत्त्व मूल शब्द के बीच में भी आता है। यह ध्यान देने की बात है कि मूल शब्द और प्रत्यय या उपसर्ग के बीच में यदि सम्बन्ध-तत्त्व आये तो उसे सच्चे अर्थ में मध्यसर्ग नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, संस्कृत में गम्यते में 'य' गम् धातु के बाद आया है, अतः वह प्रत्यय है, मध्यसर्ग नहीं। मुण्डा में इसके उदाहरण

मिलते हैं। उदाहरणार्थ, दल=मारना, दपल =परस्पर मारना। मंझि=मुखिया; मपंझि =मुखिया लोग। संस्कृत में रुधादि गण की धातुओं के रूप में इसके अच्छे उदाहरण हैं, क्योंकि इनमें धातु के बीच में 'न्' जोड़ा जाता है। जैसे रुध् से रुणद्धि (रोकता है), रुन्ध (तुम लोग रोकते हो) या छिद् से छिनत्ति (मैं काटता हूँ) आदि। यों इनमें अधिकांश में मध्यसर्ग के साथ-साथ अंतसर्ग का भी प्रयोग होता है। अरबी में भी इसके उदाहरण पर्याप्त हैं, जैसे कतब से किताब या कुतुब् आदि। त्स्ॅलटल (दक्षिणी मेक्सिको की एक भाषा) में 'ह्' को बीच में जोड़ कर धातु को सकर्मक से अकर्मक बनाया जाता है। Kuch (ले जाना) से Kuhch; या Kep (साफ़ करना) से Kehp आदि।

(९) अंतसर्ग, विभक्ति या प्रत्यय (Suffix)

इसका प्रयोग सबसे अधिक होता है। संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के रूपों के बनाने में प्रायः इसी का प्रयोग होता है। राम+: (सु)=रामः। फलं+ ं (सु)=फलं। हिन्दी में भी इसका प्रयोग खूब होता है। 'हो' धातु से होता, उस से उसने। भोजपुरी में 'दुवार' से 'दुवारे' (सप्तमी)। अंग्रेजी क्रिया में—ed,—ing से बनने वाले रूप भी इसी श्रेणी के हैं।

(१०) ध्वनिगुण (बालघात या सुर)

बालघात तथा सुर भी सम्बन्ध-तत्त्व का काम करते हैं। सुर का उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओं में मिलता है। अफ्रीका की 'फ़ुल' भाषा से एक उदाहरण लिया जा सकता है। उनमें 'मिवरत' यदि एक सुर में कहा जाय तो अर्थ होगा 'मैं मार डालूँगा' पर यदि 'त' का सुर उच्च हो तो अर्थ होगा 'मैं नहीं मारूँगा।' बलाघात तथा स्वराघात का संस्कृत, स्लैवोनिक, लिथुआनिअन तथा ग्रीक में भी काफी महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है। ग्रीक का एक उदाहरण लिया जा सकता है। 'प्रेत्रोक्तोद' में यदि पहले 'ओ' पर स्वराघात होगा तो अर्थ होगा 'पिता द्वारा मारा गया' पर यदि दूसरे 'ओ' पर होगा तो अर्थ होगा 'पिता को मारने वाला।' अंग्रेजी में कनडक्ट (conduct) में यदि 'क' पर बालघात होगा तो यह शब्द संज्ञा होगा, पर यदि 'ड' पर होगा तो क्रिया। इसी प्रकार प्रेजेंट (present) में 'र' पर होने से संज्ञा और जे पर होने से क्रिया।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी सम्बन्ध-तत्त्व मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित उपर्युक्त ही हैं। उपर्युक्त दस में दो या दो से अधिक को एक साथ सम्मिलित कर भी सम्बन्ध-तत्त्व का काम लिया जाता है, जैसे क़तल (मारना) से मक्तूल (जो मारा जाय), तक़ातुल (एक दूसरे को मारना), क़ुत्ताल (क़तल करने वाले), मुक़ा-तला (आपस में लड़ना), मक़तल (क़तल करने की जगह) और तक़लील (बहुत क़तल करना) आदि।

सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व का सम्बन्ध

इन दोनों के सम्बन्ध सभी भाषाओं में एक जैसे नहीं होते। इसका कुछ अनुमान हम लोग ऊपर के विवेचन से भी लगा सकते हैं। यहाँ स्वतन्त्र रूप से सम्बन्ध के प्रकारों पर विचार किया जायगा।

(१) पूर्ण संयोग

कुछ भाषाओं में अर्थतत्व और सम्बन्ध-तत्त्व दोनों एक दूसरे से इतने मिले रहते हैं कि एक ही शब्द एक साथ दोनों तत्त्वों को प्रकट करता है। भारोपीय एवं सैमिटिक दोनों ही परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। ऊपर 'स्वर-परिवर्तन' शीर्षक में ऐसे ही सम्बन्ध-तत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

अरबी में क़्त्ल में केवल स्वर या कुछ व्यंजन जोड़कर कई शब्द ऐसे बनाये जा सकते हैं, जिनमें दोनों तत्त्व एक में मिले हों। जैसे क़ातिल, क़तल, यक्तुलु (वह मारता है) तथा उत्कुल आदि। अंग्रेजी के भी सिंग (sing) से सैंग (sang) आदि शब्द ऐसे ही हैं। शून्य सम्बन्ध-तत्त्व वाले रूप भी इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

(२) अपूर्ण संयोग

कभी-कभी ऐसा होता है कि अर्थ और सम्बन्ध, ये दोनों ही तत्त्व एक में मिले रहते हैं, अतः एक ही शब्द द्वारा दोनों प्रकट होते हैं, किन्तु मिलन अपूर्ण रहता है और इस कारण सम्बन्ध और अर्थ तत्त्व दोनों स्पष्ट देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त पूर्ण संयोग की भाँति इनका प्रयोग नीरक्षीरवत् न होकर तिलतंडुलवत् होता है। अंग्रेजी की निर्बल क्रियाएँ ई डी (ed) लगाकर भूतकाल में परिवर्तित की जाती हैं। उनमें दोनों तत्त्व मिले रहने पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे asked, talked, killed तथा thanked इत्यादि। द्रविड़, तुर्की एवं एस्पेरैंतो आदि भाषाओं में भी दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध लगभग ऐसा ही मिलता है। इनमें प्रधानतः उपसर्ग या प्रत्यय के रूप में सम्बन्ध-तत्त्व रहता है। कभी-कभी मध्य-प्रत्यय का भी प्रयोग करना पड़ता है, पर ये सभी स्पष्टतः अलग रहते हैं, अतः इसे अपूर्ण संयोग कहा गया है। कन्नड़ भाषा में 'सेवक' से 'सेवक-रु' या 'सेवक-रन्नू' आदि तथा तुर्की में सेव (प्यार करना) से 'सेवइस-मेक' 'सेव-दिर-मेक' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(३) दोनों स्वतन्त्र

कुछ भाषाओं में दोनों तत्वों की सत्ता पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। इसके अन्तर्गत भी कई भाग किये जा सकते हैं।

(क) चीनी भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते हैं : पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। भाषाओं के वर्गीकरण में हम लोग उनसे परिचित हो चुके हैं। रिक्त शब्दों का प्रयोग सर्वदा तो नहीं होता, क्योंकि यह स्थान-प्रधान भाषा है, पर कभी-कभी अवश्य होता है।

उदाहरणार्थ

पूर्ण शब्द { वो = मैं या मुझे
उलत्सु = लड़का

रिक्त शब्द 'ती' = अंग्रेजी के एपास्ट्रफ़ी (') आदि की भाँति अधिकारी चिह्न

अतः वो ती उलत्सु = मेरा लड़का।

भारोपीय परिवार के प्राचीन 'इति', 'आउ' आदि तथा नवीन 'ने' 'को', 'से' तथा 'टू' (To) आदि भी एक प्रकार से ऐसे ही रिक्त शब्द हैं।

(ख) 'क' वर्ग में दोनों तत्त्व स्वतन्त्र होते हुए भी साथ-साथ थे। वाक्य में सम्बन्ध-तत्त्व का स्थान अर्थ-तत्त्व के पास ही कहीं था, पर कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिसमें दोनों तत्त्वों का इस प्रकार का साथ नहीं रहता है। वाक्य में पहले सम्बन्ध-तत्त्व, प्रकट करने वाले शब्द आ जाते हैं, और फिर अन्य शब्द। अमेरिका-चक्र की चिनूक भाषा से एक उदाहरण का हिन्दी अनुवाद यहाँ लिया जा सकता है—

वह—उसने—वह—से मारना—आदमी—औरत—लाठी
=उस आदमी ने औरत को लाठी से मारा।

सम्बन्ध-तत्त्व का आधिक्य

कुछ भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्वों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इसका फल यह होता है कि वाक्य में प्रति शब्द के साथ एक सम्बन्ध-तत्त्व रहता है और एक के स्थान पर तीन-तीन, चार-चार सम्बन्ध-तत्त्व प्रयोग में आते हैं।

फुल भाषा का एक उदाहरण—

वी=बहुवचन बताने के लिए सम्बन्ध-तत्त्व
रिवी-वी रैन-ए वी-वी=ये सफेद औरतें।

बंटू परिवार की सोविया भाषा में—

मु=एक व्यक्ति का चिह्न
मु-न्तु मु-लोट=सुन्दर आदमी

हिन्दी आदि में केवल संज्ञा के साथ बहुवचन की विभक्ति लगाने से काम चल जाता है, किंतु इन भाषाओं में संज्ञा के सभी विशेषणों में भी विभक्ति लगानी पड़ती है। संस्कृत आदि पुरानी भाषाओं में यह 'आधिक्य' अधिक है। यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा में केवल एक ही तरह के सम्बन्ध-तत्त्व मिलें और दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध भी एक ही तरह का हो। अधिकतर भाषाओं में कई प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व मिलते हैं।

हिन्दी में सम्बन्ध-तत्त्व

हिन्दी में अनेक प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व हैं। 'का', 'को', 'से', 'में', 'ने' आदि चीनी की भाँति रिक्त शब्द हैं। वाक्य में किसी हद तक कर्त्ता, क्रिया, कर्म का स्थान भी निश्चित-सा है, अतः स्थान द्वारा प्रकट होने वाला सम्बन्ध-तत्त्व भी है। बातचीत करते समय वाक्यों में स्वराघात के कारण भी कभी-कभी परिवर्तन हो जाता है। (काकु वक्रोक्ति) 'मैं जा रहा हूँ' तथा 'मैं जा रहा हूँ' में अन्तर है। इसी प्रकार धातु तथा उसके आज्ञा रूप (जैसे चल-चल। पी-पी। आदि) में भी बलाघात का ही अंतर है। कहीं-कहीं तुर्की आदि की भाँति अपूर्ण संयोग भी मिलता है, जैसे बालकों (बालक+ओं) या चावलों (चावल+ओं) आदि। इसी प्रकार स्वर और व्यंजन के परिवर्तन द्वारा तत्त्वों

का पूर्ण संयोग भी मिलता है, जिनमें दोनों को अलग करना असम्भव है जैसे 'कर' से किया या 'जा' से गया। अपश्रुति के उदाहरण के लिए कुकर्म से कुकर्मी, घोड़ा से घोड़ी या करता से करती आदि कुछ शब्द लिये जा सकते हैं। इस रूप में अनेक प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्वों के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में मिल सकते हैं, पर प्राधान्य केवल एक या दो प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व का ही होता है। हिन्दी में स्वतंत्र शब्द तथा स्थान से प्रकट होने वाले सम्बन्ध-तत्त्वों का प्राधान्य है।

सम्बन्ध-तत्त्व के कार्य

भाषा में सम्बन्ध-तत्त्व द्वारा प्रमुखतः काल, लिंग, पुरुष, वचन तथा कारक आदि की अभिव्यक्ति होती है।

काल

काल के वर्तमान, भूत और भविष्य तीन भेद हैं,और फिर इन कालों की क्रियाओं के पूर्णता-अपूर्णता तथा भाव या अर्थ (mood) आदि के आधार पर सामान्य वर्तमान, अपूर्ण वर्तमान आदि बहुत से उपभेद हैं। क्रिया में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व जोड़-कर ही काल इन भेदों और उपभेदों की सूक्ष्मताओं को प्रकट करते हैं। इसमें अनेक प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्वों से काम लेना पड़ता है। कहीं तो स्वतन्त्र शब्द जोड़कर (I shall go में शैल) काम चलाते हैं तो कहीं इड (ed) जोड़ (He walked) कर भाव व्यक्त करना पड़ता है और कहीं इतना परिवर्तन किया जाता है कि अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का पता ही नहीं चलता जैसे हिन्दी में 'जा' से 'गया' या अंग्रेजी में गो (Go) से वेंट (Went)। कुछ अन्य तरह के सम्बन्ध-तत्त्वों का भी इसके लिए प्रयोग होता है। विद्वानों का विचार है कि कालों का रूप आज के क्रिया के रूपों में जितना दो-टूक स्पष्ट है, उतना कभी नहीं था। इसका यही आशय है कि अब इस दृष्टि से हमारी विचारधारा जितनी विकसित हो गई है, पहले नहीं थी।

लिंग

प्राकृतिक लिंग दो हैं—स्त्रीलिंग और पुंलिंग। बेजान चीजों को नपुंसक की श्रेणी में रख सकते हैं। पर, भाषा में यह स्पष्टता नहीं मिलती। संस्कृत का हीं उदा-हरण लें। वहाँ दारा (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग होते हुए भी पुंलिंग शब्द है और कलत्र (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग का शब्द होते हुए भी नपुंसकलिंग है। हिन्दी में किताब प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग का शब्द होते हुए भी स्त्रीलिंग है और दूसरी ओर ग्रन्थ प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग का शब्द होते हुए पुंलिंग है। मक्खी, चींटी, चिड़िया, लोमड़ी तथा छिपकली आदि हिन्दी में सर्वदा स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनमें प्राकृतिक रूप से पुंलिंग या पुरुष भी होते हैं। इसी प्रकार बिच्छू तथा गोजर जैसे बहुत से सर्वदा पुंलिंग में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाभाविक लिंग से भाषा के लिंग का सम्बन्ध बहुत कम है। भाषा में हमने प्रायः कल्पित लिंग आरोपित कर लिया है।

लिंग का भाव व्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से दो तरीके भाषा में अपनाए जाते हैं—

(१) प्रत्यय जोड़कर—जैसे हिन्दी में बाघ से बाघिन, हिरन से हिरनी या कुत्ता से कुतिया। अंग्रेजी में प्रिंस से प्रिंसेस या लायन से लाइनेस भी इसी प्रकार के उदाहरण है। संस्कृत में सुन्दर से सुन्दरी भी इसी श्रेणी का है।

(२) स्वतन्त्र शब्द साथ में रखकर—जैसे अंग्रेजी में शी-गोट (बकरी)—ही-गोट (बकरा); या मुंडा भाषा में आँडिया-कूल (बाघ) और एंगा-कूल (बाघिन)।

ऐसा भी देखा जाता है कि एक लिंग में तो कोई दूसरा शब्द है और दूसरे में बिल्कुल दूसरा, जिससे पहले शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे स्त्री-पुरुष, ब्वॉय-गर्ल, हॉर्स-मेयर, वर-वधू, माता-पिता, राजा-रानी तथा भाई-बहिन आदि।

लिंग के अनुसार संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम तथा क्रिया के रूप बदलते हैं, पर यह सभी भाषाओं के बारे में सत्य नहीं है। अंग्रेजी के विशेषणों में लिंग के कारण प्रायः परिवर्तन नहीं होता, जैसे फ़ैट गर्ल, फ़ैट ब्वाय। हिन्दी में आकारांत में तो हो जाता है, जैसे मोटा लड़का, मोटी लड़की, पर अन्यत्र परिवर्तन नहीं होता, जैसे चतुर पुरुष, चतुर स्त्री या सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की। सर्वनाम में हिन्दी में तो कोई परिवर्तन नहीं होता पर अंग्रेजी (ही, शी) तथा संस्कृत (सः, तत्, सा) आदि में परिवर्तन हो जाता है। इसके उलटे क्रिया में लिंग के आधार पर हिन्दी में परिवर्तन होता है (लड़का जाता है, लड़की जाती है) पर अंग्रेजी (द गर्ल गोज, द ब्वाय गोज) तथा संस्कृत आदि भाषाओं में नहीं होता।

काकेशस परिवार की चेचेन बोली में छः लिंग हैं।

पुरुष

पुरुष तीन होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा अन्य। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन होता है। पर यह बात संसार की सभी भाषाओं में नहीं पाई जाती। एक ओर संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि में यह है तो दूसरी ओर चीनी आदि में नहीं है। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन करने के लिए कभी तो कुछ स्वरों, व्यंजनों या अक्षरों के बदलने से काम चल जाता है, जैसे हिन्दी में मैं जाऊँगा, तू जायेगा (जावेगा, जाएगा), और कभी-कभी विभक्ति-परिवर्तन करना पड़ता है, जैसे संस्कृत में प्रथम पुरुष भू+ति, मध्यम पुरुष भू+सि, अन्य पुरुष भू+मि। अंग्रेजी में कभी तो एक ही रूप कई में काम देता है (जैसे आइ गो, यू गो, दे गो) और कभी नये शब्द रखकर (ही इज गोइंङ्, यू आर गोइंङ्) तथा कभी प्रत्यय जोड़कर (आइ गो, ही गोज) काम चलाते हैं। अरबी तथा फारसी आदि में भी प्रायः यही तरीके अपनाये जाते हैं।

वचन

वचन प्रमुख रूप से दो—एकवचन और बहुवचन—मिलते हैं। पर संस्कृत

लिथुआनियन आदि कुछ भाषाओं में द्विवचन तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं में त्रिवचन का प्रयोग भी मिलता है। वचन का ध्यान प्रायः संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया में रक्खा जाता है, पर संस्कृत आदि कुछ प्राचीन भाषाओं में तथा हिन्दी आदि में विशेषण में भी इसका ध्यान रक्खा जाता रहा है।

वचन के भावों को व्यक्त करने के लिए प्रायः एकवचन के रूप में प्रत्यय (हिन्दी में ओं या-यों आदि, अंग्रेजी में इ-यस (es) या यस (s) आदि तथा संस्कृत में औ, जस् आदि लगाते हैं। कभी-कभी अपवादस्वरूप समूहवाची स्वतन्त्र (गण तथा लोग आदि) शब्द भी जोड़े जाते हैं। क्रिया में और भी कई प्रकार की पद्धतियों से वचन के भाव व्यक्त किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संज्ञा तथा सर्वनाम के कारण (कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण संबोधन) रूप, क्रिया के विभिन्न वाच्यों (कर्तृ, कर्म, भाव) या अर्थों (या भावों Mood) के रूप, संस्कृत धातुओं के परस्मैपद तथा आत्मनेपद के रूप तथा क्रिया के प्रेरणात्मक (पढ़ना से पढ़वाना) आदि रूपों के लिए भी भाषा में सबन्ध-तत्त्व का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार संज्ञा से क्रिया (हाथ से हथियाना), क्रिया से संज्ञा (मार से मार), संज्ञा से विशेषण (अनुकरण से अनुकरणीय), विशेषण से संज्ञा (सुन्दर से सुन्दरता), संज्ञा या विशेषण से क्रियाविशेषण (तेजी या तेज से 'तेजी से') एवं नकारात्मकता या आधिक्य आदि बोधक रूपों आदि को बनाने के लिए भी सम्बन्ध-तत्त्व की आवश्यकता पड़ती है।

रूप-परिवर्तन (Morphological Change)

शब्दों या पदों के रूप सर्वदा एक-से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन होता रहता है।

रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अन्तर

सामान्य दृष्टि से देखने पर रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अंतर नहीं दिखाई देता, पर यथार्थतः दोनों में अंतर है। यद्यपि कभी-कभी ये दोनों इतने समान या समीप हो जाते हैं कि इनको अलग कर पाना यदि असंभव नहीं तो कष्ट-संभव अवश्य हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध किसी भाषा की विशिष्ट ध्वनि से होता है और उसका परिवर्तन ऐसे सभी शब्दों को प्रायः प्रभावित कर सकता है (और प्रायः करता भी है) जिसमें वह विशिष्ट ध्वनि हो। आगे ध्वनि-नियमों में हम देखेंगे कि ध्वनि-परिवर्तन के नियमों ने कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भाषा में आने वाले विशिष्ट ध्वनि-तत्वों को प्रायः सर्वत्र प्रभावित किया, पर रूप-परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है। वह किसी एक शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे भाषा के पूरे संस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है और रूप-परिवर्तन सीमित तथा संकुचित।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी स्मरणीय है। ध्वनि-परिवर्तन होने पर पुराने अवशेष बहुत कम मिलते हैं, पर रूप-परिवर्तन होने पर बहुत से पुराने रूप भी मिलते हैं और उनका प्रयोग भी होता रहता है। एक पद के कई रूप इसी कारण मिलते हैं।

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

पदों या शब्दों के रूपों का परिवर्तन प्रमुखतः दो दिशाओं में होता है।

(१) अपवाद-स्वरूप प्राप्त रूप मस्तिष्क के लिए बोझ होते हैं, अतएव उनके स्थान पर अनेकरूपता हटाकर एकरूपता लाकर नियमानुसार या एक प्रकार से बने रूपों का प्रयोग हम करने लगते हैं। अंग्रेजी में बली और निर्बल दो प्रकार की क्रियाएँ हैं। बली क्रियाओं का रूप किसी नियमित रूप से नहीं चलता, जैसे गो, वेंट, गान; या पुट, पुट, पुट; या बीट, बेट, बीटेन; या राइट, रोट, रिटेन आदि। इसके विरुद्ध निर्बल क्रियाओं में इड (ed) लगाकर रूप बना लिये जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के इतिहास के आरम्भ में बली क्रियाएँ बहुत अधिक थीं, पर इनको याद रखना एक बोझ था, इसीलिए जन-मस्तिष्क ने धीरे-धीरे निर्बल क्रियाओं के सादृश्य पर बली क्रियाओं के रूपों को भी चलाया और धीरे-धीरे बहुत-सी बली क्रियाएँ निर्बल हो गईं और उनके पुराने अनियमित रूप समाप्त हो गये और उनके स्थान पर नियमित रूप आ गये। इस प्रकार उनके रूप परिवर्तित हो गये। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों की तुलना की जाय तो यह स्पष्टतः दिखाई पड़ता है कि वैदिक संस्कृत में संज्ञा तथा क्रिया के रूपों में अपवाद बहुत अधिक थे, पर लौकिक संस्कृत तक आते-आते अपवाद रूप में प्राप्त रूपों का स्थान नियमित रूपों ने ले लिया। संस्कृत से प्राकृत की तुलना करने पर यह एकरूपता या नियमितता लाने का प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत में अकारान्त संज्ञाओं की संख्या बहुत बड़ी है, अतएव उनके रूपों के नियम अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं। प्राकृत-काल में आते-आते हम देखते हैं कि कुछ अकारान्त से इतर संज्ञा शब्दों के रूप भी अकारान्त की भाँति चलते-मिलते हैं। उदाहरणार्थ, प्रा० पुत्तस्य (सं० पुत्र से पुत्रस्य) और सव्वस्स (सं० सर्व से सर्वस्य) के वजन पर अग्गिस्स (सं० अग्नि, जिसका संस्कृत रूप अग्नेः था तथा वाउस्स (सं० वायु, जिनका संस्कृत रूप वायोः था), यद्यपि ये इकारान्त तथा उकारान्त हैं। इस प्रक्रिया में सादृश्य काम करता है और इसकी शुरुआत लड़कों या अनपढ़ों से होती है। इसके पीछे मानसिक प्रयत्न-लाघव की भावना रहती है। हिन्दी में चला, लिखा, पढ़ा के सादृश्य पर 'करा' का प्रयोग कुछ क्षेत्रों में होता है। छठा के स्थान पर अब छठवाँ या छवों का प्रयोग भी यही है।

(२) अभिव्यंजना की सुविधा या भ्रम दूर करने या नवीनता के लिए भी लोग बिल्कुल नये रूपों का प्रयोग करना पसन्द करते हैं। इसे एकरूपता के स्थान पर अनेकरूपता का प्रयास कह सकते हैं। हिन्दी के परसर्ग इसी कारण प्रयोग में आये। विभक्तियों के घिसने से जब विभिन्न कारकों के रूप एक हो गये तो अर्थ की स्पष्टता के लिए उन्हें अनेक करना आवश्यक प्रतीत हुआ और इसके लिए प्राकृत-अपभ्रंश-काल में अलग

से शब्द जोड़े गये। अवधी बोली में कर्त्ता कारक के एकवचन और बहुवचन के रूप एक हो गये थे। जैसे

वरधा खात अहै (एकवचन)

वरधा खात अहैं (बहुवचन)

पर इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए बाद में बहुवचन में-न जोड़ा जाने लगा और अब कहते हैं—

वरधवन या वरधन खात अहैं।

या घोड़वन दौड़त अहैं।

या बछवन दूध पियत अहैं।

यद्यपि अब भी यह नियम पूर्णतः लागू नहीं होता और 'घोड़ा दउड़त अहैं' 'घर गिरहैं' या 'लरिका जात हैं' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं।

भोजपुरी में भी यह गड़बड़ी है—

एकवचन	बहुवचन
चोर जात ह	चोर जात हउन
घर गिर गयल	घर गिर गइलंऽ

पर कुछ में यहाँ भी न जोड़ने लगे हैं—

वरध मर गयल	वरधन मर गइलंऽ
लइका डूबि जाई	लइकन डूबि जइहें

ध्वनि-परिवर्तन से भी शब्द या पद के रूप में धीरे-धीरे परिवर्तन आ जाता है, जैसे संस्कृत 'वर्तते' से भोजपुरी 'वाटे'। इसे रूप-परिवर्तन न कहकर ध्वनि-परिवर्तन कहना ही अधिक उचित है। यों ध्वनियों के परिवर्तन के कारण इस रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

रूप-परिवर्तन के कारण

ऊपर रूप-परिवर्तन की दिशाओं पर विचार करते समय रूप-परिवर्तन के कारणों की ओर भी संकेत किया गया है। यहाँ उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है।

(१) सरलता—एक नियम के आधार पर चलने वाले रूपों के साथ यदि उसके अपवादों को भी याद रखना पड़े तो मस्तिष्क पर एक व्यर्थ का भार पड़ता है और इसमें स्वभावतः कुछ कठिनाई भी होती है, अतएव सरलता के लिए जन-मस्तिष्क अपवादों को निकालकर उनके स्थान पर नियम के अनुसार चलने वाले रूपों को रखना चाहता है। ऊपर अंग्रेजी की वली-निर्बल क्रियाओं आदि के उदाहरण लिये जा चुके हैं। पुरानी अंग्रेजी की तुलना में आधुनिक अंग्रेजी तथा संस्कृत की तुलना में हिन्दी में क्रिया और कारक के रूपों की एकरूपता इसका अच्छा उदाहरण है। ध्वनि-परिवर्तन में प्रयत्न-लाघव का जो स्थान है, रूप-परिवर्तन में सरलता का वही स्थान है। इस सरलता के

लिए प्राय: किसी अन्य प्रचलित रूप के सादृश्य (anology) पर नया रूप बना लेते हैं। इसके फुटकर उदाहरण भी मिलते हैं। पूर्वीय के लिए अपने यहाँ 'पौरस्त' शब्द था, पर वह पाश्चात्य के वजन पर नहीं था, अतएव लोगों ने उस वजन पर नया शब्द पौर्वात्य बना लिया।

(२) एकरूप की प्रधानता—एकरूप की प्रधानता के कारण भी कभी-कभी रूप-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, सम्बन्ध कारक के रूपों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि बोलचाल में मेरे को, मेरे से, मेरे में, मेरे पर, तेरे को, तेरे से, तेरे पर जैसे रूप मुझे मुझको, मुझसे, मुझ पर आदि के स्थान पर चल पड़े हैं।

(३) अज्ञान—अज्ञान के कारण भी कभी-कभी नये रूप बन जाते हैं और इनमें से कुछ प्रचलित भी हो जाते हैं। मरना से मरा, धरना से धरा और सड़ना से सड़ा की भाँति करना से 'करा' रूप ठीक है, पर किसी ने देना से दिया या लेना से लिया के वजन पर करना से 'किया' रूप चला दिया, जो अशुद्ध होने पर भी चल पड़ा और आज वही परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) रूप है। 'मैंने करा' शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध माना जाता है। अज्ञानवश बने रूपों में आवश्यक नहीं है कि सभी चल ही जायँ। कुछ दिन पूर्व एक जेकोस्लोवाकिया के विद्वान् द्वारा लिखित एक हिन्दी व्याकरण की पुस्तक में मुझे 'मूजियेगा' रूप मिला। स्पष्ट ही होना से 'हूजियेगा' के वजन पर यह बनाया गया है और यह भी स्पष्ट है कि इसके प्रचलित होने की सम्भावना नहीं है। बच्चे प्राय: इस प्रकार के रूप बनाकर प्रयोग करते हैं और बाद में माता-पिता के सुधारने पर ठीक और परिनिष्ठित रूप का प्रयोग करने लगते हैं। कुछ अज्ञानी अपने संस्कृत-ज्ञान का रोब गालिब करने के लिए लावण्यता, सौन्दर्यता या शुद्ध अज्ञानवश दयालुताई, कुटिलताई, गरीबताई, सुघरताई या मित्रताई जैसे रूपों का प्रयोग करते हैं।* इनमें अन्तिम ५ तो लोकभाषाओं में प्रचलित भी हैं। लोकभाषाओं में इस प्रकार के और भी अशुद्ध रूप खोजे जा सकते हैं। अवधी में बूढ़ा के स्थान पर बुढ़ापा (बुढ़ापा मनई) कहते हैं।

(४) नवीनता, स्पष्टता या बल—नवीनता, स्पष्टता या बल के लिए भी नये रूपों का प्रयोग चल पड़ता है। ऊपर स्पष्टता के लिए भोजपुरी तथा अवधी में 'न' जोड़कर रूप बनाने का उल्लेख किया जा चुका है। इधर बोलचाल की हिन्दी में 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग बढ़ रहा है और अस्पष्टता मिटाने के लिए लोग बहुवचन में 'हम' के स्थान पर 'हम लोग' का प्रयोग कर रहे हैं।

बल के लिए भी नये रूप बना लिए जाते हैं। इनमें बहुत से अशुद्ध भी होते हैं। 'अनेक' का अर्थ ही है 'एक नहीं' अर्थात् एक से अधिक और इस प्रकार यह बहु-वचन है, पर इधर अनेक के स्थान पर 'अनेकों' का प्रयोग (अनेकों व्यक्ति) चल पड़ा

---

* धावित के लिए प्रधावित, भावना के लिए प्रभावना, निंदित के लिए विनिंदित आदि।

है। यहाँ 'ओं' बल देने के लिए है। भोजपुरी में फजूल में अब बल देने के लिए 'बेफ-जूल' (बेफजूल बात—अर्थात् ऐसी बात जो बहुत ही फजूल हो) का प्रयोग करते हैं, यद्यपि यह पूर्णतया अशुद्ध है और 'बे' लगा देने से इसका अर्थ उलटा हो जाना चाहिए।

इस प्रकार रूप के क्षेत्र में एकरूपता और अनेकरूपता की दौड़ साथ-साथ चलती है, और उनके बीच में रूप-परिवर्तन पलता रहता है।

रूपग्रामविज्ञान (Morphemics)

रूपग्रामविज्ञान या भाषाओं का रूपग्रामीय अध्ययन रूपविज्ञान का एक प्रमुख अंग है। इसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक है। इसमें किसी भाषा के रूपों (morph) का अध्ययन-विश्लेषण करके उनके अर्थ एवं वितरण आदि के आधार पर रूपग्राम (morpheme) एवं संरूप (allomorph) का निर्धारण किया जाता है, साथ ही दो *या अधिक रूपग्रामों के योग से जब किसी संयुक्त रूपग्राम* (complex morpheme) या मिश्रित रूपग्राम (compound morpheme) का निर्माण होता है तो उसमें यह भी देखा जाता है कि योग के पूर्व की तुलना में उसमें कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन तो नहीं आया और यदि आया है तो उसका आधार क्या है।

रूपग्राम (Morpheme)*

'रूप' के सम्बन्ध में ऊपर विचार किया जा चुका है। रूप या पद वे अवयव या घटक हैं, जिनसे वाक्य बनता है। 'उसके रसोईघर में सफाई होगी' वाक्य में ५ पद या रूप हैं, जिन्हें सामान्य भाषा में शब्द कहते हैं। इन रूपों में सभी एक प्रकार के नहीं हैं। कुछ तो छोटे से छोटे टुकड़े हैं, उन्हें और छोटे खंडों में नहीं विभाजित किया जा सकता, जैसे 'में'। कुछ को छोटे खंडों में बाँटा जा सकता है, जैसे रसोईघर को 'रसोई' और 'घर' में। यदि घर को और छोटे टुकड़ों में बाँटना चाहें तो 'घ' और 'र' कर सकते हैं, यद्यपि इनमें न तो 'घ' का कोई अर्थ है और न 'र' का, इसलिए के दोनों खंड तो हैं, किन्तु सार्थक (विशेषत: इस प्रसंग में) नहीं हैं। 'भाषा या वाक्य की लघुतम सार्थक इकाई को रूपग्राम कहते हैं।' इसका आशय यह है कि उपर्युक्त वाक्य में उस, के, रसोई, घर, में, साफ, ई, हो, ग, ई, ये दस रूपग्राम हैं। रूपग्राम के भेद दो आधारों पर हो सकते हैं। रचना और प्रयोग की दृष्टि से रूपग्राम प्रमुखत: दो प्रकार के होते हैं : (क) मुक्त रूपग्राम (free morpheme) जो अकेले या अलग भी प्रयोग में आ सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य में रसोई, घर, साफ़ इसी प्रकार के हैं। ये अलग, मुक्त या स्वतन्त्र रूप से भी आ सकते हैं (जैसे रसोई बन चुकी है) और अन्य रूपग्रामों के साथ भी आ सकते हैं (जैसे रसोईघर)। (ख) बद्ध रूपग्राम (bound morpheme) जो अलग नहीं आ सकते जैसे, 'ता' (एकता, सुन्दरता) या ई (जैसे घोड़ी, लड़की, खड़ी आदि में)

* इसे रूपतत्त्व, रूपश्रेणी, पदतत्त्व, पदश्रेणी पदिम आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है।

आदि। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी कुछ लोग मानते हैं, जिसे (ग) **अर्द्धबद्ध, अर्द्धमुक्त मुक्तबद्ध या बद्धमुक्त** की संज्ञा दी जा सकती है। इस तीसरे वर्ग में ऐसे रूपग्राम आते हैं जो आधे बद्ध होते हैं और आधे मुक्त या जो एक दृष्टि से मुक्त कहे जा सकते हैं तो दूसरी दृष्टि से बद्ध। अंग्रेजी का from इसी प्रकार का है। यह किसी अन्य रूपग्राम से मिलता नहीं, सर्वदा अलग रहता है, इसलिए मुक्त है, लेकिन साथ ही यह सर्वदा किसी के आश्रित रहता (from him या from shop आदि) है, अकेले किसी भी प्रकार की रचना का निर्माण नहीं कर सकता, अतः बद्ध है। हिन्दी के परसर्ग (ने, को, में, से) जब संज्ञा शब्दों के साथ आते हैं (राम से, मोहन को) तो अलग रहते हैं, यद्यपि सर्वनाम के साथ ये बद्ध रूपग्राम (जैसे उसने, मुझसे, तुमको आदि) हो जाते हैं। मेरे विचार में तात्त्विक दृष्टि से इस तीसरे भेद को अलग नहीं रखा जा सकता, क्योंकि स्थान की दृष्टि से अलग हो कर भी अर्थ की दृष्टि से ये हमेशा बद्ध रहते हैं। बद्ध रूपग्राम के ३ उपभेद करके इन्हें समाहित किया जा सकता है। (अ) **मुक्त**—जो अर्थ की दृष्टि से बद्ध होकर भी स्थान की दृष्टि से सर्वदा मुक्त रहते हैं, जैसे अंग्रेजी के *from, with* आदि। (ब) **बद्ध**—जो स्थान की दृष्टि से भी सर्वदा बद्ध रहते हैं, जैसे अंग्रेजी (*ly, ness, ed*), संस्कृत (अः, अम्,) या हिन्दी (ई, आई) आदि के प्रत्यय। (स) **बद्धमुक्त**—जो कभी तो बद्ध रहते हैं और कभी मुक्त। जैसे हिन्दी परसर्ग, जो संज्ञा के साथ मुक्त रहते हैं (जैसे राम को) और सर्वनाम के साथ बद्ध (जैसे उसको)।

रचना और प्रयोग के आधार पर ही रूपग्राम के दो अन्य भेदों का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। जब दो या अधिक ऐसे रूपग्राम एक में मिलते हैं, जिनमें अर्थ-तत्त्व केवल एक हो (जैसे ऊपर के वाक्य में 'उसके', 'सफ़ाई', 'होगी') तो उस पूरे रूप को *संयुक्त रूपग्राम* कहते हैं। यदि एक से अधिक अर्थ-तत्त्व हों तो *मिश्रित रूपग्राम* कहते हैं। ऊपर के वाक्य में 'रसोईघर' मिश्रित रूपग्राम है।

अर्थ और कार्य के आधार पर रूपग्राम के दो भेद होते हैं: (क) **अर्थदर्शी रूपग्राम**—जिनका स्पष्ट रूप से अर्थ होता है और अर्थ व्यक्त करने के अतिरिक्त जो और कोई कार्य नहीं करते। इन्हीं को अर्थ-तत्त्व भी कहते हैं। प्राचीन व्याकरण में इन्हें ही *stem, root*, धातु, मस्दर या माद्दा कहा गया है। विचारों का सीधा सम्बन्ध इन्हीं से होता है। भाषा के मूल आधार ये ही हैं। व्याकरणिक या प्रायोगिक दृष्टि से ये कई प्रकार के हो सकते हैं: जैसे क्रिया (हो, खा, *go*, भू), संज्ञा (राम, cat, किताब), सर्वनाम (वह, तुम), विशेषण (अच्छा, बड़ा, सुन्दर, good) आदि। हर भाषा में इस वर्ग के रूपग्रामों की संख्या कई हजार होती है। दूसरे प्रकार के रूपग्रामों से बहुत अधिक। (ख) **सम्बन्धदर्शी रूपग्राम या कार्यात्मक रूपग्राम**—इन्हें निरर्थक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इनमें अर्थ का प्राधान्य नहीं होता। इनका प्रमुख कार्य होता है 'सम्बन्ध-दर्शन' या 'व्याकरणिक कार्य,। इसीलिए इन्हें सम्बन्ध-तत्त्व भी कहते हैं। यों इन्हें व्याकरणिक तत्त्व कहना शायद अधिक ठीक होगा। संस्कृत में प्रत्यय, तिङ्, सुप् या हिन्दी में परसर्ग, प्रत्यय आदि यही हैं। इनके बहुत से

भेद होते हैं, जिन पर पीछे विचार किया जा चुका है। इस प्रसंग में 'सम्बन्ध' शब्द काफ़ी व्यापक है। इनमें यह भाव तो है ही कि ये रूपग्राम एक शब्द का सम्बन्ध वाक्य में दूसरे से दिखाते हैं, साथ ही ये लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति या अर्थ (mood) और भाव (बार-बार, आधिक्य) आदि की दृष्टि से अर्थदर्शी रूपग्राम में परिवर्तन भी लाते हैं (जैसे 'लड़क्' अर्थदर्शी रूपग्राम है। इसमें 'ई', 'आ', 'इयाँ', 'इयों', 'ए', 'ओं' आदि सम्बन्धदर्शी रूपग्राम या सम्बन्ध-तत्त्वों को जोड़कर लड़की, लड़का, लड़कियाँ, लड़कियों, लड़के, लड़कों आदि संयुक्त रूपग्राम या रूप या पद बना सकते हैं।) इसीलिए इन्हें कार्यात्मक रूपग्राम (functional morpheme) कहना अधिक उचित है। इस श्रेणी के रूपग्रामों की संख्या हर भाषा में कुल सौ से अधिक नहीं होती, अर्थात् अर्थदर्शी रूपग्रामों से बहुत कम होती है।

कुछ लोग खंडीकरण (segmentation) के आधार पर भी रूपग्राम के दो भेद करते हैं। एक तो (क) खंड रूपग्राम (segmental), जिन्हें तोड़कर अलग किया जा सके। ऊपर के सारे रूपग्राम इसी प्रकार के हैं। दूसरे (ख) अखंड रूपग्राम (suprasegmental) हैं। बलाघात (stress), सुर (tone, pitch) या सुरलहर (intonation) आदि रूप में स्वीकृत रूपग्राम इस श्रेणी के हैं। उन्हें दो-टूक रूप में खंडित नहीं किया जा सकता। ध्वनिग्रामविज्ञान (phonemics) में भी इसीलिए इन्हें अखंड या suprasegmental कहा जाता है।

संरूप (Allomorph)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कई रूपग्रामों का अर्थ एक होता है। यदि अंग्रेजी से उदाहरण लें तो संज्ञा शब्दों का एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'स' (hats, cats, books, tops आदि), 'ज़' (schools, eyes, woods, dogs आदि) 'इज़' (horses, bridges, roses आदि), 'इन' (oxen), 'रिन' (children) तथा शून्य रूपग्राम (या सम्बन्ध-तत्त्व) जैसे बहुवचन (sheep) आदि का प्रयोग होता है। इसका आशय यह है कि स, ज़, इज़, इन, रिन, शून्य रूपग्राम, बहुवचन बनाने वाले रूपग्राम हैं। इनका अर्थ एक है, इसलिए सम्भावना यह हो सकती है कि ये अलग-अलग रूपग्राम न होकर एक ही रूपग्राम के अंग या विभिन्न रूप हों। जिन दो या दो से अधिक समानार्थी रूपों के एक रूपग्राम के अंग होने का संदेह होता है, उन्हें 'संदिग्ध समूह' या 'संदिग्ध युग्म' (suspicious pair) कहते हैं। लेकिन केवल संदिग्ध समूह या संदिग्ध युग्म होने के आधार पर ही उन्हें एक रूपग्राम के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। संदेह मिटाने के लिए यह देखना पड़ता है कि ये रूप परिपूरक वितरण (complementary distribution) में हैं या नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिन ध्वन्यात्मक या रूपात्मक परिस्थितियों में एक रूप का प्रयोग होता है, दूसरों का भी उन्हीं में होता, है या सबका अलग-अलग। यदि सबका एक ही परिस्थितियों में प्रयोग होता है तो इसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध है। एक के स्थान पर दूसरा भी आ जाता है। यदि

ऐसा है तो उन्हें एक रूपग्राम का अंग (जिन्हें संरूप (allomorph) कहते हैं) नहीं माना जा सकता। वे सभी अलग-अलग रूपग्राम हैं। किंतु, यदि परिपूरक वितरण में हैं, अर्थात् वितरण या प्रयोग की दृष्टि से सभी का स्थान अलग-अलग बँटा है, जहाँ एक आता है वहाँ दूसरा नहीं, और जहाँ दूसरा आता है वहाँ तीसरा नहीं, तो इसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध नहीं है और ऐसी स्थिति में वे सभी एक ही रूपग्राम के संरूप (allomorph) हैं। ऊपर के उदाहरण में जब हम स, ज़, इज़, इन, रिन तथा शून्य रूपग्राम के वितरण (distribution) का विश्लेषण करते हैं, तो यह पाते हैं कि 'स' तो ऐसे शब्दों के अन्त में आ रहा है, जिनके अन्त में स, श के अतिरिक्त और कोई अघोष व्यंजन हो; 'ज़' ऐसे शब्दों के अन्त में आता है जिनके अन्त में ज़ को छोड़कर कोई घोष व्यंजन[1] या कोई स्वर हो; 'इज़' ऐसे शब्दों के अंत में आता है जिनके अंत में स, ज, या श ध्वनि हो; 'इन' केवल ऑक्स, ब्रदर आदि कुछ निश्चित शब्दों या रूपग्रामों के अंत में आता है, इसी प्रकार 'रिन' चाइल्ड के साथ और शून्य रूपग्राम भी केवल डीयर, शीप, काड आदि कुछ निश्चित शब्दों के साथ ही आता है। इसका आशय यह है कि ये विरोधी नहीं है और इनका वितरण परिपूरक है। विशिष्ट परिस्थितियों में एक आता है और उसमें दूसरा नहीं आता। अतएव इन्हें एक ही रूपग्राम के संरूप माना जा सकता है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कई रूप (क) समानार्थी हों; (ख) एक प्रकार की रचना में आयें और (ग) परिपूरक वितरण में हों, अर्थात् सबके आने की स्थिति निश्चित रूप से अलग-अलग हो. विरोध न हो या एक ही स्थिति में एक से अधिक न आते हों तो उन सबको एक ही 'रूपग्राम' के 'संरूप माना जाता है। उन्हीं संरूपों में किसी एक को (जो प्रायः अधिक प्रयुक्त हो या जिसे मूल आधार मान कर ध्वन्यात्मक दृष्टि से अन्य को स्पष्ट किया जा सके) रूपग्राम की संज्ञा दे दी जाती है। उपर्युक्त बहुवचन के प्रत्ययों में कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी में संज्ञा शब्दों के बहुवचन बनाने में 'ज़' रूपग्राम का प्रयोग होता है। इस 'ज़' रूपग्राम के संरूप ज़, स, इज़, इन, रिन तथा शून्य हैं। 'ज़' घोष ध्वनियों से अन्त होने वाले शब्दों के साथ आता है। अघोष ध्वनियों से अन्त होने वाले शब्दों में 'ज़' भी अघोष होकर 'स' हो जाता है। स, श, ज़, से अन्त होने वाले शब्दों के अन्त में 'ज़' का उच्चारण ठीक से नहीं (grass, rose) हो सकता है, अतः ऐसी स्थिति में बीच में एक स्वर (इ) आ जाता है और यह 'इज़' हो जाता है, अर्थात् 'ज़' रूपग्राम के ज़, स, इज़ संरूप ध्वन्यात्मक परिस्थितियों के कारण परिपूरक वितरण में हैं, लेकिन शेष तीन रूपात्मक या शाब्दिक परिस्थितियों के कारण। क्योंकि कुछ विशेष शब्दों, रूपों या रूपग्रामों में ही इन, रिन या शून्य रूप का प्रयोग होता है। यहाँ निष्कर्ष यह निकला कि परिपूरक वितरण (complimentary distribution) ध्वन्यात्मक या रूपात्मक या दोनों परिस्थितियों

---

१. 'फ़' से अन्त होने वाले अधिकांश शब्द भी इस वर्ग में आते हैं, क्योंकि उनके बहुवचन रूप में फ़ का व हो जाने से अन्त में घोष व्यंजन ही हो जाता है।

(phonological conditioning, morphological conditioning) पर निर्भर करता है। संक्षेप में—

{–ज़}— →/–ज़/ 'ज़' को छोड़कर अन्य घोष ध्वन्यंत शब्दों के साथ
→/–स/ 'स' 'श' को छोड़कर अन्य अघोष ध्वन्यंत शब्दों के साथ
→/–इज़/ स, श, ज़ अंत्य शब्दों के साथ
→ –इन/ ऑक्स, ब्रदर आदि कुछ सीमित शब्दों के साथ
→/–रिन/ चाइल्ड के साथ
→/–०/ शीप, डीयर, कॉड आदि कुछ सीमित शब्दों के साथ

इसी प्रकार हिन्दी में बहुवचन के लिए—

रूपग्राम	संरूप	परिपूरक वितरण
{–ओं}	१. /–ओं/	— अपरसर्ग रूप के लिए सभी शब्दों में। जैसे घरों, घोड़ों, कवियों, हाथियों, साधुओं, भालुओं, पुस्तकों, लताओं, गुड़ियों, शक्तियों, लड़कियों, वस्तुओं, बहुओं, गौओं आदि। नीचे दिए गए अपवाद शब्द प्राय: अपवाद हैं। यों सादृश्य के कारण कुछ लोग प्रयोग करते हैं, किंतु वे प्रयोग चिंत्य हैं।
	२. /–ओ/	— संबोधन में सभी शब्दों (घोड़ों, कवियों, साधुओं आदि) के साथ। नीचे का अपवाद वर्ग यहाँ भी अपवाद है।
	३. /–ए/	— अपरसर्ग रूप के लिए आकारांत पुं० शब्दों (जैसे घोड़े, लड़के, बेटे) के साथ। नीचे का अपवाद वर्ग यहाँ भी अपवाद है।
	४./एँ–/	— अपरसर्ग रूप के लिए व्यंजनांत (किताबें), आकारांत (माताएँ), उकारांत (वस्तुएँ), ऊकारांत (बहुएँ) स्त्री शब्दों के साथ।
	५./–आँ/	— अपरसर्ग रूप के लिए इकरांत (जातियाँ), ईकारांत (नदियाँ) शब्दों के साथ।
	६./–ँ/	— अपरसर्ग रूप के लिए या अंत्य स्त्री० शब्दों (चिड़ियाँ, गुड़ियाँ) के साथ।
	७./–०/	— अपरसर्ग रूप के लिए व्यंजनांत (घर), इकारांत (कवि), ईकारांत (हाथी), उकारांत (साधु), ऊकारांत (भालू) तथा नीचे के 'अपवाद वर्ग' के साथ। केवल पुं० शब्दों में।

टिप्पणी : (क) अपवाद वर्ग—(i) पिता जैसे तत्सम शब्द; (ii) पुनरावृत्त शब्द, जैसे

चाचा, मामा, दादा, नाना, काका, बाबा, लाला; (iii) मुखिया जैसे कुछ अन्य शब्द ।

(ख) गण, लोग, जन जोड़कर भी बहुवचन बनते हैं । यहाँ इन्हें छोड़ दिया गया है ।

(ग) उपर्युक्त रूपों में 'य' का आगम, दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना तथा लोप मिलेगा । आगे रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन में इन्हें स्पष्ट किया गया है ।

अर्थात् अंग्रेजी में बहुवचन का रूपग्राम '—ज़' है जिसके प्रमुख संरूप छः हैं, तथा हिन्दी में बहुवचन का रूपग्राम '—ओं' जिसके प्रमुख संरूप सात हैं । यह ध्यान देने की बात है कि जितने भी रूपों का प्रयोग होता है, वे सभी 'संरूप' कहलाते हैं । उन्हीं में किसी एक को रूपग्राम माना जा सकता है । यों तो किसी को भी रूपग्राम माना जा सकता है, किंतु प्रायः या तो उसे रूपग्राम मानते हैं, जिसके आधार पर वितरण को स्पष्ट एवं तर्कसम्मत रूप से रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों के साथ समझाया जा सके, या उसे मानते हैं, जिसका प्रयोग अन्यों से ज्यादा होता हो, या फिर उसे मानते हैं, जिसका प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिनिधित्व करने वाला, अधिक प्राचीन या महत्त्वपूर्ण हो । यों मेरे विचार में पहले और दूसरे और उनमें भी पहले को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए ।

निष्कर्षतः यदि एक रूपग्राम के परिपूरक वितरण वाले कई समानार्थी रूप (ध्वन्यात्मक दृष्टि से मिलते-जुलते या न मिलते-जुलते) हों तो उन्हें 'संरूप' की संज्ञा दी जाती है ।

रूपध्वनिग्रामविज्ञान (Morphophonemics)

मार्फ़ोफोनीमिक्स या रूपध्वनिग्रामविज्ञान, रूपविज्ञान की ही शाखा है । इसमें उन ध्वन्यात्मक या ध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है जो दो या अधिक रूपों या रूपग्रामों के मिलने पर दृष्टिगत होते हैं । इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि यह रूपविज्ञान की वह शाखा है, जिससे रूपग्राम के उन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो वाक्य, फ्रेज, रूप या शब्द के स्तर पर दो या अधिक रूपग्रामों के एक साथ आने पर घटित होते हैं । उदाहरणार्थ, ऊपर के उदाहरणों में 'बुक' और 'ज़' अंग्रेजी के दो रूपग्राम हैं । दोनों के मिलने पर सामान्यतः रूप होना चाहिए 'बुक्ज़' लेकिन होता है 'बुक्स' । इसे रूपध्वनिग्रामीय (morphopho emic) परिवर्तन कहेंगे । यह परिवर्तन है 'क' के अघोष होने से 'ज' का अघोष अर्थात् 'स' हो जाना । इस प्रकार के परिवर्तन का अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में होता है । कहना न होगा कि इस रूप में, रूपध्वनिग्रामविज्ञान, प्राचीन भारतीय पारिभाषिक शब्द 'संधि' के निकट है, किन्तु वस्तुतः संधि में प्रायः केवल उन परिवर्तनों को लिया जाता है जो दो मिलने वाले शब्दों या रूपों में एक के अन्त्य या दूसरे के आरम्भ या दोनों में (राम+अवतार=रामावतार; ध्वनि+अंग=ध्वन्यंग; उत्+गम=उद्गम

या तेजः+राशि=तेजोराशि आदि) घटित होते हैं, लेकिन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में इसके साथ अन्य स्थानों पर आने वाले परिवर्तन भी लिए जाते हैं। जैसे घोड़ा+दौड़ =घुड़दौड़; ठाकुर+आई=ठकुराई; बूढ़ा+औती=बुढ़ौती आदि। इन सभी में हम देखते हैं कि हर दो के बीच में तो परिवर्तन हुए ही हैं; लेकिन साथ ही अन्य स्थानों में भी (घो>घु, ठा>ठ, बू>बु) परिवर्तन हो गये हैं। इन सारे परिवर्तनों का अध्ययन रूपध्वनिग्रामविज्ञान में होता है। इस प्रकार यह संधि से अधिक व्यापक है और संधि इसका एक अंग है।

आजकल अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान-क्षेत्र में 'संधि' का प्रयोग रूपध्वनिग्रामविज्ञान के लिए हो रहा है, इसी आधार पर हिन्दी में कुछ लोग इस अर्थ में संधि के प्रयोग के पक्ष में हैं। किंतु मैं उपर्युक्त कारणों से संधि को परम्परागत अर्थ में अर्थात् संधि-स्थल पर परिवर्तन के लिए, तथा रूपध्वनिग्रामविज्ञान को संधिस्थल पर तथा अन्यत्र दोनों के लिए प्रयोग करने के पक्ष में हूँ। वस्तुतः रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन दो प्रकार के माने जा सकते हैं। (१) बाह्य (external)—जहाँ शब्द के आदि या अंत में अर्थात् उसके बाहरी अंग में परिवर्तन हो जैसे राम+अवतार=रामावतार। यहाँ 'राम' के 'म' में परिवर्तन है या ध्वनि+अंग=ध्वन्यंग। यहाँ 'नि' और 'अ' दोनों में परिवर्तन है। (२) आभ्यंतर (internal)—जहाँ संधि-स्थल से अलग शब्द के भीतर परिवर्तन हो। जैसे 'घुड़दौड़' में। इस रूप में 'बाह्य ध्वनिग्रामीय परिवर्तन' ही परम्परा, संधि पर्याय है। स्वतंत्र उच्चारण में या वाक्यांत में रूसी भाषा में शब्दांत का घोष व्यंजन अघोष हो जाता है, इसी प्रकार अंग्रेजी शब्दों का अंत्य शब्दों के स्वतंत्र उच्चारण में वाक्यांत में या व्यंजन के पूर्व उच्चरित नहीं होता। इस प्रकार के लोप या अघोषी-करण के उदाहरण भी रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन हैं, यद्यपि इनमें कम से कम स्वतंत्र या वाक्यांत में प्रयुक्त शब्दों में अंत्य घोष ध्वनि का अघोष हो जाना या 'र' का लोप, संधि में किसी भी प्रकार नहीं आ सकते। निष्कर्षतः संधि और इसे पर्याय न मानकर संधि को रूपध्वनिग्राम-परिवर्तन का एक भेद मानना अधिक समीचीन है, विशेषतः हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में जिनमें परंपरागत रूप से 'संधि' शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

ये बाह्य और अभ्यंतर तो स्थान की दृष्टि से रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन के भेद थे। रूप की दृष्टि से, मोटे रूप से समीकरण (डाक+घर=डाग्घर जिसमें 'ग' के घोषत्व के कारण 'क' भी घोष अर्थात् 'ग' हो गया है; नाग+पुर=नाक्पुर, जिसमें 'प' के अघोषत्व के कारण 'ग' भी अघोष अर्थात् 'क्' हो गया है; मार+डाला =माड्डाला; दूध+दो=दूद्दो) सबसे प्रमुख रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन हैं। यों सूक्ष्मता और विस्तार से यदि देखें तो घोषीकरण(डाग्घर), अघोषीकरण (नाक्पुर), पूर्ण समी-करण (अर्थात् सभी दृष्टियों, जैसे हाथ+से=हास्से), अपूर्ण समीकरण (अघोप+घोष =घोष+घोष, जैसे वागीश; घोष+अघोष=अघोष+घोष जैसे आग+का= आक्का, 'आक्का गोला' आदि), अल्पप्राणीकरण (दूध+दो=दूद्दो), आगम (हाथी+

ओं=हाथियों; कवि+ओं=कवियों), लोप (घोड़ा+दौड़=घुड़+दौड़), ह्रस्वीकरण (भालू+ओं=भालुओं), दीर्घीकरण (राम+अवतार=रामावतार; हरि+इच्छा=हरेच्छा) आदि अनेक रूपों में इस परिवर्तन को पाया जा सकता है। विपर्यय (हिब्रू में (*Hit+Sha- mmeer=hishtammeer*) तथा विषमीकरण (ग्रीक) *Thrikh* (बाल) × os (का) = Trikhos (बालका), दो महाप्राण में एक रह गया) के उदाहरण इक्के-दुक्के मिलते हैं।

ऊपर अंग्रेजी बहुवचन के उदाहरण में 'ज' का अघोष ध्वन्यंत शब्दों में 'स' हो जाना समीकरण (अघोप+घोष= अघोष+अघोप) या पूर्ण समीकरण है। हिन्दी बहुवचन बनाने में निम्नांकित रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन घटित होते हैं।

(क) 'ओं' जोड़ते समय शब्द के अंत में 'आ' अथवा 'याँ' हो तो उसका लोप कर देते हैं (घोड़ा+ओं=घोड़ों; चिड़ियाँ+ओं=चिड़ियों)।

(ख) शब्द के अंत में यदि 'ई' या 'ऊ' हो तो शून्य को छोड़कर कोई भी प्रत्यय जोड़ते समय ह्रस्व 'इ' 'उ' (ह्रस्वीकरण) कर देते हैं (हाथी—हाथियों, बहू—बहुओं, नदी—नदियाँ)।

(ग) शब्द के अंत में इ या ई हो तो शून्य प्रत्यय के अतिरिक्त किसी के भी जुड़ने पर प्रत्यय और मूल शब्द के बीच में 'य' का आगम हो जाता है (हाथी+ओं=हाथियों, नदी+आँ=नदियाँ, कवि+ओं=कवियों, जाति+आँ=जातियाँ)।

आगे ध्वनिविज्ञान अध्याय में ध्वनि-परिवर्तन पर विचार किया गया है। वस्तुतः ध्वनि-परिवर्तन मूलतः दो प्रकार के होते हैं : (१) ऐतिहासिक, (२) रूपध्वनिग्रामीय। ऐतिहासिक तो उसे कहते हैं जो धीरे-धीरे समय बीतने के साथ विकसित हुआ है और रूपध्वनिग्रामीय उसे कहते हैं जो एक से अधिक रूपों के एक साथ आते ही मुख्यतः उच्चारण-सुविधा के कारण तुरत घटित हो जाय। उदाहरण के लिए, 'कर्म' का प्राकृत 'कम्म' हो गया, यह समीकरण ऐतिहासिक ध्वनि-परिवर्तन का उदाहरण है तो मार+डाला का 'माड्डाला' या 'दूध+दो' का 'दूद्दो' रूपध्वनिग्रामीय का। साथ ही रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन रूपग्रामों के मिलने या विशिष्ट स्थान पर आने से संबंध रखता है, जबकि ऐतिहासिक परिवर्तन के लिए ऐसा बंधन नहीं है।

विषय की दृष्टि से रूपध्वनिग्रामविज्ञान ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यों रूपों से सम्बद्ध होने के कारण लोग इसे रूपविज्ञान में भी प्रायः रखते रहे हैं। इधर इसका महत्व इतना बढ़ गया है कि इसे स्वतंत्र स्थान भी दिया जाने लगा है।

६ | अर्थ विज्ञान[1]

अर्थ—किसी भाषिक इकाई (वाक्य, वाक्यांश, रूप, शब्द, ध्वनि, मुहावरा, लोकोक्ति आदि) को किसी भी इन्द्रिय (प्रमुखतः कान, आँख; किंतु अपवादतः नाक, जीभ, त्वचा भी) से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीत होती है, वही अर्थ है। कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भी भाषिक इकाई का अर्थ सबके लिए, सभी परिस्थितियों में एवं सर्वदा एक नहीं होता। इस प्रकार अर्थ का वास्तविक रूप व्यक्ति, स्थान, काल एवं परिस्थिति आदि कई बातों पर निर्भर करता है।

अर्थ की प्रतीति—यह दो आधारों पर होती है: १. आत्म-अनुभव—अर्थात् स्वयं किसी चीज का प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा अनुभव करना; २. पर-अनुभव—अर्थात् दूसरे के अनुभवों को सुन या पढ़ कर किसी वस्तु या विषय को जानना। जो चीजें या विषय हमारी अपनी पहुँच के बाहर होते हैं, उनके लिए हम दूसरों के ज्ञान पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए, चीनी मीठी होती है, आत्म-अनुभव पर आधारित हो सकता

---

१. भाषाविज्ञान की इस शाखा के समय-समय पर अनेक नाम रक्खे जाते रहे हैं। हिन्दी में ही शब्दार्थ-विचार अर्थ-विचार आदि नाम भी इसके रहे हैं। अंग्रेजी में इसके Rhematology, Semasialogy, Rhematics, Sematology, Glossology, Sensifics; Significs, Semiotics तथा Orthology आदि एक दर्जन से अधिक नाम रहे हैं। आजकल Semantics नाम अधिक प्रचलित है। यूरोप में इस पर प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ फ्रांसीसी विद्वान् Michel Breal का Essai de Semantique है। इधर इस विषय पर छोटे-बड़े पचासों ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें Carnap का Introduction to Semantics, Grasserie का Essai d'une semantique integrale, Ogden तथा Richards की Meaning of Meaning; Postget का History of Meaning, Anshen की Language, an Enquiry into its meaning and function, Linsky की Semantics तथा Ullmann की Principles of Semantics प्रमुख हैं। भारत में रविबाबू का 'भाषातत्त्व', डॉ॰ बाबूराम सक्सेना का 'अर्थविज्ञान', हेमन्त कुमार सरकार का 'बौद्धिक नियम तथा बंगाली अर्थविज्ञान' विषयक विस्तृत लेख, डॉ॰ हरदेव बाहरी का Hindi Semantics, विजन विहारी भट्टाचार्य का 'वागर्थ', डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी का 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' तथा डॉ॰ विश्वनाथ का 'अर्थतत्त्व की भूमिका' आदि कार्य उल्लेख्य हैं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की दो पुस्तकों, शब्दों का जीवन' तथा 'शब्दों का अध्ययन' में भी इस दिशा में कुछ सामग्री उपलब्ध है।

है, किंतु सूरज, ईश्वर, आत्मा, विज्ञान आदि अनेक वस्तुओं एवं विषयों के वारे में हम प्रायः दूसरों के अनुभवों या ज्ञान का सहारा लेते हैं। जब भी हम किसी भाषिक इकाई के अर्थ की प्रतीति करते हैं तो उस प्रतीति के पीछे मूलतः ये ही दोनों आधार होते हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अर्थविज्ञान में अर्थ का अध्ययन होता है। यह अध्ययन मुख्यतः ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक होता है किन्तु संरचना के या वर्णनात्मक स्तर पर भी अब अर्थ के अध्ययन की वात की जाने लगी है।

आज अर्थविज्ञान को लेकर विद्वानों में मतभेद है। पुराने तथा कुछ नये विद्वान् इसे भाषाविज्ञान की एक शाखा मानते हैं। बहुत से आधुनिक विद्वान्—विशेषतः अमरीकी तथा उन्हीं की विचारधारा से प्रभावित अन्य—इसे भाषाविज्ञान से अलग मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह दर्शनशास्त्र की एक शाखा है, कुछ अन्य लोगों के अनुसार यह एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्थविज्ञान, दर्शन से बहुत अंशों में सम्बद्ध है, और उसका काफी अंश ऐसा है जो मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र की अपेक्षा रखता है, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अर्थ भाषा की आत्मा है, और भाषाविज्ञान जब 'भाषा' का 'विज्ञान' है, तो विना उसके अध्ययन के उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सच पूछा जाय तो भाषा के अध्ययन के आरंभ काल में ही अर्थ के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया था। प्राचीन भारत में इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ यास्क का 'निरुक्त' है। यास्क के अतिरिक्त, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेदान्त, वैशेषिक, तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में भी आचार्यों ने अर्थ का अनेक दृष्टियों से सुन्दर विवेचन किया है। आधुनिक काल में 'कोशविज्ञान' के प्रसंग में सर्वप्रथम लोगों का ध्यान इधर गया। इस क्षेत्र में प्रथम नाम के० रीजिग का लिया जा सकता है। १८२६-२७ में लैटिन भाषा पर दिये गये अपने व्याख्यानों में उन्होंने अर्थविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर संकेत किया था। वाद में उनके शिष्य ए० बेनरी (१९वीं सदी २रा चरण), तथा जर्मन विद्वान् पाल (१९वीं सदी ३रा चरण), पोस्टगेट (१८७५ से १८८६ तक), ब्रूगमान, वेच्टल, स्वीट आदि ने इसे आगे वढ़ाया। इसका व्यवस्थित स्वरूप सामने लाने का श्रेय फ्रांसीसी विद्वान् ब्रील को है। यूरोप में भी प्लेटो के समय तक शब्द और उसमें निहित अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध पर विचार होने लगा था। किन्तु इतना होने पर भी १९वीं सदी के अंतिम चरण के पूर्व तक इस विषय का वैज्ञानिक अध्ययन प्रायः नहीं के वरावर था। इसी कारण अर्थविज्ञान को अभी अपने शैशवावस्था में कहा जाता है। ध्वनिविज्ञान आदि की भाँति इसका सम्बन्ध भाषा के शरीर या वाह्य से नहीं है। यह अध्ययन अपना संबंध सीधा मनोविज्ञान से रखता है, अतः बहुत ही सूक्ष्म, गम्भीर और अनिश्चित-सा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इसी अस्पष्ट प्रकृति के कारण मनोरंजक और आकर्षक होने पर भी अर्थ-विचार

अपने अध्येताओं को तीव्र गति से बढ़ने नहीं देता। सम्भव है, मनोविज्ञान के अधिक उन्नत हो जाने पर प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में हम अधिक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक अर्थ, भाव या विचार रखता है। वही अर्थ उसका प्राण या सार है और उस शब्द का सारा महत्त्व उस अर्थ पर ही निर्भर है। पारिभाषिक शब्दावली में उस अर्थ को अर्थ-तत्त्व या अर्थग्राम (semanteme) कहते हैं। किसी शब्द का अर्थ सर्वदा एक ही नहीं रहता। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन या विकार होता रहता है। अर्थविज्ञान में इसी अर्थ-परिवर्तन या अर्थ-विकास का अध्ययन होता है और हम विकास या परिवर्तन की दिशा तथा उसके मूल में छिपे कारण को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार अर्थ विज्ञान के अन्तर्गत हम किसी शब्द के अर्थ-तत्त्व में होने वाले परिवर्तन या विकास के कारण तथा उसकी दिशा पर विचार करते हैं। उदाहरण के लिए, हम 'गँवार' शब्द ले सकते हैं। 'गँवार' का शाब्दिक अर्थ है 'गाँव का रहने वाला', पर आजकल उसका प्रचलित अर्थ 'असभ्य' या 'असंस्कृत' है। यहाँ भाषाविज्ञानी के आगे स्वाभाविक रूप से दो प्रश्न उठेंगे : (१) उसमें का अर्थ 'गाँव का रहने वाला', से परिवर्तित होकर या विकसित होकर 'असभ्य' क्यों हो गया है ? (२) यह विकास या परिवर्तन किस दिशा में हुआ है ? या दूसरे शब्दों में अर्थ संकुचित हो गया है या विस्तृत, बुरा हो गया है या अच्छा' या उसमें इतना अधिक परिवर्तन तो नहीं हो गया है कि पुराने अर्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं ?

कुछ लोग अर्थ-विचार के अन्तर्गत एक तीसरा प्रश्न भी उठाना चाहते हैं। उनका कहना है कि 'गँवार' का अर्थ 'गाँव का रहने वाल से विकसित होकर असभ्य क्यों हो गया, और यह परिवर्तन किस दिशा में हुआ ? इन दोनों प्रश्नों के पूर्व ही इस प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक है कि 'गँवार' शब्द का प्रथम अर्थ 'गाँव का रहने वाला' ही कैसे हुआ। इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु ग व्यापार का नामकरण कैसे और किस आधार पर हुआ ? 'ग्राम' को 'ग्राम' ही क्यों कहा गया, उसे 'नगर' क्यों नहीं कहा गया ? यास्क ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कुछ ऐसे प्रश्न उठाए हैं, पर उसका उत्तर उनके पास नहीं है। यथार्थ तो यह है कि वस्तुओं के नामकरण पर आज विचार किया ही नहीं जा सकता। अनुकरणात्मक आदि कुछ थोड़े से शब्दों को छोड़कर इस दिशा में हमें अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वस्तु के नामकरण पर विचार करने के लिए नामकरण का समय, उस समय के लोगों की मानसिक दशा तथा वातावरण आदि का सम्यक् ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है और अब इन बातों का पता पाना असम्भव ही है। फिर भी यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि वह विषय भी अर्थ-विचार के अन्तर्गत ही आना चाहिये।

वस्तुओं के नामकरण का आधार

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं। उन गुणों में से किसी एक के आधार पर

प्राय: उसका नाम रख दिया जाता है, इसी कारण कोई भी नाम उस वस्तुविशेष का पूर्ण परिचय नहीं देता। नामों की सबसे बड़ी कमी यह है कि वे अपूर्ण हैं, और इस प्रकार शुद्ध नहीं हैं। 'सर्प' का 'सर्प' नाम वक्र गति से चलने के कारण रखा गया है। पर और भी कीड़े तो वक्रगति से चलते हैं, तो फिर उन्हें भी सर्प क्यों नहीं कहा जाता ? यास्क कहते हैं कि यदि चुभने के कारण घास को 'तृण' (तृ=चुभना) कहा गया तो सुई और भाले को भी क्यों नहीं कहा गया ? लगभग सभी नामों के विषय में ऐसे ही प्रश्न उठते हैं। पहाड़ को 'पोरोंवाला' होने के कारण 'पर्वत' कहा गया, पर वह केवल पोरोंवाला ही तो नहीं है, वह पत्थर का ढेर भी है; तो फिर उसका कोई ऐसा भी नाम क्यों नहीं रखा गया, जिससे यह भाव भी हो। यहाँ एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल प्रमुख गुण के आधार पर ही नाम नहीं रखा गया है, कुछ नाम ऐसे भी हैं जो अप्रधान गुणों के नाम पर हैं, और यह तो और भी बड़ी अशुद्धि है। 'पर्वत' नाम तो पहाड़ से कहीं अधिक उपयुक्त 'बाँस' और 'ईख' के लिए होता, क्योंकि उनके 'पोर' स्पष्ट हैं। हमारा प्रश्न यहीं नहीं रुकता। यदि गुणों के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ा तो, उन गुणों का नाम किस आधार पर पड़ा। यदि प्रभा (प्रकाश) करने वाला होने के कारण सूर्य का नाम 'प्रभाकर' है, तो 'प्रभा' का नाम 'प्रभा' या चमकने के अर्थ में 'भा' का ही प्रयोग क्यों हुआ ! कुछ शब्दों या धातुओं पर इस दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जा सकता है। जैसे 'पत्ते' के गिरने में 'पत' का शब्द हुआ और इसीलिए 'पत्' धातु का अर्थ गिरना हुआ, या पत्ते को 'पत्र' कहा गया। पर, सभी शब्दों पर इस रूप में विचार सम्भव नहीं। एक और बात भी यहाँ विचारणीय है। हमें यह कभी नहीं समझना चाहिये कि धातुओं के आधार पर वस्तुओं के नाम आरम्भ में रखे गए। सत्य यह है कि नाम पहले रखे गए, और फिर विकास होने पर उनमें धातुओं की खोज हुई। ऊपर जो गुणों के आधार पर नाम रखे जाने की बात हम कर चुके है, वह आरम्भिक काल के लिए सत्य नहीं। इसका इतना ही आशय है कि आज हम गुणों के आधार पर नामकरण करते हैं, और पुराने नामों का अर्थ अपनी खोजी हुई धातुओं के आधार पर करके, नामों की सार्थकता सिद्ध कर लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के विकसित हो जाने पर नामकरण का जहाँ तक प्रश्न है, वह गुणों के आधार पर किया जाता है; पर भाषा के आरम्भ में चीजों या कार्यों के नामकरण का प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के साथ बँधा है, और उसका गणित की भाँति दो-टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश चीजों के नाम यादृच्छिक होते हैं, जिसका उल्लेख पीछे भाषा की परिभाषा के प्रसंग में किया जा चुका है। यादृच्छिक से आशय यह है कि समाज विशेष ने यह मान रखा है कि 'जल' द्रव विशेष के लिए एक सांकेतिक शब्द या संकेत है। ज्+अ+ल्+अ से उस द्रव का कोई सहज सम्बन्ध नहीं है। वस्तु के साथ इस प्रकार ध्वनि के संबंध-स्थापन को अपने प्राचीन साहित्य में संकेतग्रह कहा गया है। जब हम कोई शब्द सुनते या पढ़ते हैं तो संकेतग्रह के आधार पर ही हमारे मस्तिष्क में वस्तुविशेष का

का मूर्त या अमूर्त बिंब बन जाता है और अर्थ की प्रतीति होती है। अभिधा शक्ति का आधार यह संकेतग्रह ही है।

अर्थविज्ञान और व्युत्पत्ति (Etymology)

कुछ लोग व्युत्पत्तिशास्त्र को अर्थविज्ञान का अंग मानते हैं; कुछ ऐसे भी हैं, जो दोनों को एक मानते हैं, तथा कुछ इसे भाषाविज्ञान का स्वतंत्र भाग मानते हैं। पर सत्यतः तीनों ही मत अशुद्ध हैं। व्युत्पत्ति भाषाविज्ञान का कोई अलग विभाग नहीं है और न इसका अर्थविज्ञान आदि की भाँति स्वतन्त्र रूप से अध्ययन हो सकता है। तथ्य तो यह है कि व्युत्पत्ति में, किसी शब्द के आरम्भ तथा धातु आदि पर विचार करते हुए हम ध्वनि और अर्थ इन दोनों दृष्टियों से उसका इतिहास देते हैं। इस प्रकार किसी शब्द की व्युत्पत्ति के अन्तर्गत हमें शब्द का सभी दृष्टियों से जीवन-चरित्र देना होता है। कहा जा सकता है कि व्युत्पत्तिशास्त्र अलग विज्ञान या भाषाविज्ञान का विभाग या अर्थविज्ञान आदि न होकर ध्वनिविज्ञान का सम्मिलित प्रयोग मात्र है। आगे शब्द-विज्ञान के अंतर्गत इस पर विचार किया गया है।

अर्थ-परिवर्तन

ऊपर हम 'गँवार' शब्द को लेकर देख चुके हैं कि उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तन का कारण भी विचारणीय है। अनुमानतः कारण यह ज्ञात होता है कि 'गँवार' का अर्थ पहले 'गाँव का रहने वाला' था। गाँव में अधिकतर लोग असंस्कृत होते ही थे। अतः असंस्कृत होने के कारण सांकेतिक रूप में पहले यह प्रयोग चला होगा और बाद में अपने दूसरे अर्थ में यह शब्द रूढ़ि हो गया होगा। विस्तृत रूप से विकास की दिशा और कारणों पर विचार करने के पूर्व अर्थ-परिवर्तन के कुछ और उदाहरण लेना ठीक होगा।

आज का एक बहुत प्रचलित शब्द 'तेल' है। शब्द पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'तिल' से निकला है और आरम्भ में केवल तिल के रस को 'तैल' कहते रहे होंगे। पर आज तो इसका अर्थ इतना परिवर्तित हो गया है कि केवल सरसों, नारियल और रेंडी के तेल को ही नहीं, अपितु मिट्टी, साँप और मछली के तेल को भी तेल कहते हैं। वैदिक संस्कृत में 'मृग' शब्द पशु मात्र का वाचक है। 'मृगराज' (पशुओं का राजा, सिंह) में अब तक भी यह अर्थ सुरक्षित है, पर आज उसका अर्थ हिरन हो गया है। भोजपुरी का एक शब्द 'माहुर' है, जिसका अर्थ 'विष' है। यह देख कर कम आश्चर्य नहीं होता कि यह संस्कृत के 'मधुर' शब्द का ही परिवर्तित रूप है जिसका अर्थ 'मीठा' होता था। यहाँ अर्थ में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि विश्वास भी नहीं पड़ता। यदि आज किसी को 'साहसी' कहें तो मारे प्रसन्नता के वह फूला न समायेगा, पर उसे क्या पता कि संस्कृत में 'साहस' का प्रयोग हत्या और व्यभिचार आदि बुरे कार्यों के लिए होता था।

इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-परि-

वर्तन या विकास की दशा एक ही नहीं है। कुछ शब्द पहले संकुचित अर्थ रखते थे और विकास के पश्चात् उनके अर्थ का विस्तार हो गया। इसके उलटे कुछ शब्द, और भी संकुचित हो गये। इसी प्रकार कुछ के अर्थ नीचे गिर गये और कुछ के ऊपर उठ गये। यही विकास की विभिन्न दिशाएँ हैं।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशाएँ हैं—

१. अर्थ-विस्तार,
२. अर्थ-संकोच,
३. अर्थादेश।

ऊपर के उदाहरणों में इन तीन के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द लिए गये हैं, जिनमें अर्थ का अपकर्ष और उत्कर्ष हुआ है। यों तो ये दोनों अपकर्ष और उत्कर्ष भी उपर्युक्त तीन दिशाओं में से ही किसी न किसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, किंतु उत्कर्ष और अपकर्ष विषयक स्पष्टता के लिए यहाँ इन पर भी अलग विचार किया जायेगा।

(१) अर्थ-विस्तार (Expansion of Meaning)—शब्दों का अर्थ जब सीमित क्षेत्र से निकल कर विस्तार पा जाता है, तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं। ऊपर 'तेल' शब्द के अर्थ-विस्तार को हम देख चुके हैं। पहले उसका प्रयोग केवल तिल के तेल के लिए होता था, पर अब सभी वस्तुओं के तेल के लिए होता है। भाषा में अर्थ-विस्तार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते, क्योंकि भाषा में ज्यों-ज्यों विकास होता है, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित वस्तुओं और भावनाओं के प्रकटीकरण की शक्ति आती जाती है। इस प्रकार अर्थ-संकोच ही स्वाभाविक है, अतः वही अधिक पाया जाता है। टकर ने तो यहाँ तक कहा है कि यथार्थ रूप में अर्थ-विस्तार होता ही नहीं। जिसे हम अर्थ-विस्तार कहते हैं. वह एक प्रकार का अर्थादेश मात्र है। खैर, यह तो नहीं कहा जा सकता कि अर्थ-विस्तार होता ही नहीं। हाँ, कम अवश्य होता है। पर, जो होता है, वह शुद्ध अर्थ-विस्तार है और उसे हम अर्थादेश नहीं कह सकते, जैसा कि टकर महोदय ने कहा है।

कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। संस्कृत के 'कल्य' शब्द का प्रयोग आने वाले कल के लिए तथा 'परश्वः' का आने वाले परसों के लिए होता था, पर अब हिन्दी में दोनों का अर्थ-विस्तार हो गया है। दोनों ही—कल और परसों—बीते हुए तथा आने वाले, दोनों ही दिनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग पहले केवल बार-बार बाण आदि फेंकने के लिए होता था, पर अब तो बुरे से बुरे कार्यों से लेकर अच्छे-अच्छे कार्यों तक का अभ्यास किया जा सकता है। 'गवेषणा' शब्द प्रारम्भ में केवल गाय को ढूँढ़ने के प्रयोग में आता था, पर आज किसी भी विषय पर गवेषणा-

पूर्ण लेख लिखे जा सकते हैं। 'स्याह्' का अर्थ काला है, और आरम्भ में लोग काले रंग से लिखते थे, इसलिए उसे स्याही कहा गया। पर आज नीली, लाल और हरी आदि सभी रंगों की रोशनाइयाँ 'स्याही' नाम से अभिहित की जाती है। 'पुण्य' करने वाला पहले 'निपुण' था। आज तो श्याम को श्वेत और श्वेत को श्याम सिद्ध करने वाला वकील भी अपने कार्य में निपुण है। इतना ही क्यों? सिद्धहस्त चोर भी निपुण कहा जाता है। इसी प्रकार कभी 'वीणा' बजाने में कुशल व्यक्ति 'प्रवीण' कहा जाता (प्रकृष्टो वीणायाम्) था; पर आज किसी को भी, किसी कार्य में प्रवीण कह सकते हैं, चाहे उसने वीणा का नाम भी न सुना हो। कुश लाने वाला (कुश+ल) या कुश उखाड़ने में चतुर पहले 'कुशल' था, अब किसी भी काम में चतुर 'कुशल' कहलाने का अधिकारी है चाहे उसने 'कुश' का दर्शन भी न किया हो। 'गोहार' पहले गायों के चुराये जाने पर की गई पुकार के लिए प्रयुक्त होता था, पर अब सभी प्रकार की पुकार 'गोहार' है। 'गोहार' से ही 'गोहराना' क्रिया है जो पुकारने के अर्थ में अवधी तथा भोजपुरी में प्रयुक्त होती है। 'अधर' का पहले अर्थ था नीचे का ओष्ठ, अब दोनों ओष्ठों को अधर कहते हैं।

इतना ही नहीं, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी अर्थ-विस्तार हो जाता है। जयचन्द कभी एक व्यक्ति मात्र था, पर इधर २०वीं सदी में भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व तक पुलिस और फौज विभाग के सारे कर्मचारी जयचन्द कहे जाने लगे थे। 'विभीषण' और 'नारद' भी अपने अर्थ को विस्तृत कर चुके हैं, एक घर का भेदिया है, तो दूसरा लड़ाई लगाने वाला। ना० वि० गोडसे भी कभी अपना नाम अर्थ-विस्तार के उदाहरणों में पा सकता है। इसी प्रकार गंगा एक विशिष्ट नदी का नाम है, पर मराठी में यह 'नदी' का पर्याय हो गया है। गुजराती में भी इसका इस विस्तृत अर्थ में प्रयोग मिलता है। 'सब्जी' सब्ज़ (हरा) के आधार पर पहले हरी सब्जियों का पर्याय था, किन्तु अब लाल, पीली, सफेद सभी सब्जियाँ 'सब्जी' हैं।

(२) **अर्थ-संकोच** (Contraction of Meaning)—भाषा के विकास में अर्थ-संकोच का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के आरम्भ-काल में सभी शब्द सामान्य रहे होंगे। सभ्यता के विकास के साथ विशिष्टता की भावना आती गई होगी और शब्दों में अर्थ-संकोच होता गया होगा। इसीलिए ब्रील ने कहा है कि राष्ट्र या जाति जितनी ही अधिक विकसित होगी, उसकी भाषा में अर्थ-संकोच के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। अर्थ-संकोच के कारण किसी शब्द का प्रयोग सामान्य या विस्तृत अर्थ से हटकर विशिष्ट या सीमित अर्थ में होने लगता है। अंग्रेजी के deer तथा संस्कृत के 'मृग' शब्द का प्रयोग पहले 'जानवर' के लिए होता था, पर क्रमशः वर्तमान अंग्रेजी तथा हिन्दी में इनका प्रयोग 'हरिण' के लिए हो रहा है। 'गो' शब्द गम् धातु से संबद्ध कहा जाता है, जिसका अर्थ है 'गमन करने वाला', पर अब उसका प्रयोग केवल गाय के लिए होता है। इसी प्रकार 'भार्या' का मूल अर्थ है जिसका भरण-पोषण किया जाय, पर अब यह केवल पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है, यद्यपि आज की बहुत-सी पत्नियाँ

भरण-पोषण की अपेक्षा बिल्कुल ही नहीं रखतीं। कुछ उदाहरण तो ऐसे भी हैं, जिनमें स्त्रियाँ अपने पतियों का भी भरण-पोषण करती हैं। श्रद्धा से किया जाने वाला प्रत्येक कार्य कभी 'श्राद्ध' कहा जाता था, पर अब केवल मृत्यु के बाद श्राद्ध का प्रयोग होने लगा है। 'खाद्य' से विकसित 'खाद' केवल वनस्पति के खाद्य-पदार्थ अर्थात् उर्वरक के अर्थ में आता है। 'वेदना' शब्द का प्रयोग पहले दुःख-सुख दोनों के लिये होता था। दुःखद वेदना और सुखद वेदना। पर अब यह केवल दुःख के लिए प्रयुक्त होता है। 'घृणा' का पुराना अर्थ दया और घृणा दोनों था, पर अब इसमें केवल एक अर्थ—नफरत—है। गंध का प्रयोग अब भी खड़ीबोली आदि में अच्छी और बुरी और असह्य दुर्गन्ध के लिए करते हैं। 'बास' का संस्कृत में अर्थ गंध है, पर उसी से बनी 'बसायल' क्रिया का अर्थ भोजपुरी में 'बुरी गंध देना है'। अंग्रेजी के 'हाउन्ड' शब्द का पुराना अर्थ कुत्ता था, पर अब वह केवल शिकारी कुत्ते के लिए प्रयोग में आता है। 'घृत' घृ धातु से संबद्ध है, जिसका अर्थ है सींचना। इसीलिये पहले इसका अर्थ पानी भी होता था, पर अब तो यह केवल घी के लिए प्रयुक्त होता है। 'मुर्ग' का फारसी अर्थ 'चिड़िया' है, शाहमुर्ग (=पक्षियों का राजा=शुतुर्मुग), शुतुर्मुर्ग तथा मुर्गाबी (=जल का पक्षी) में अभी वह अर्थ सुरक्षित है)। पर, उर्दू, हिन्दी में एक विशेष पक्षी के लिए मुर्ग, मुर्गी का प्रयोग होता है। वत्स, बाछा, बछेड़ा, पाड़ा, छौना, मेमना, पोआ, पिल्ला[1] आदि सभी शब्दों का अर्थ बच्चा है, पर अब अर्थ-संकुचन हो जाने के कारण क्रमशः ये मनुष्य, गाय, घोड़ा, भैंस, सूअर, भेंड़, साँप और कुत्ते के बच्चे के लिए प्रयोग में आते हैं। 'पंकज', 'जलज', 'अब्ज' मूलतः पंक या पानी में जन्मने वाली सभी चीजों (मछली, कीड़े, घास आदि) के वाचक रहे होंगे, किन्तु अब इनका अर्थ केवल 'कमल' है। इस प्रसंग में यह भी संकेत्य है कि शब्दों का अर्थ धीरे-धीरे समय बीतने के साथ परिवर्तित होते-होते तो संकुचित होता ही है, उपसर्ग (आचार—सदाचार, दुराचार), प्रत्यय (कुटी-कुटीर, देग-देगचा, बाग-बगीचा), विशेषण (अंबर-नीलांबर, पीतांबर' श्वेतांबर; घोड़ा—लाल घोड़ा, काला घोड़ा, छोटा घोड़ा, तेज घोड़ा), समास (अनुज-रामानुज, कृष्णानुज), संदर्भ या प्रसंग (रति और खाने-पीने के प्रसंग में 'रस' राम बहुत तेज लड़का है, चाकू बहुत तेज है, वह तेज दौड़ता है), पारिभाषिकीकरण (भाषाविज्ञान और गणित में 'समीकरण', काव्यशास्त्र एवं वैद्यक में 'रस', भाषाविज्ञान एवं काव्यशास्त्र में 'व्युत्पत्ति', 'ध्वनि', 'गुण' (दर्शन में भी), व्याकरण में ('विराम'),

---

१. बहुत-सी पुस्तकों में ऐसा लिखा मिलता है कि 'पिल्ला' का द्रविड़ भाषाओं में अर्थ है मनुष्य का बच्चा और हिन्दी आदि में अर्थापकर्ष के कारण यह कुत्ते का बच्चा हो गया, किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। द्रविड़ में इसका मूल अर्थ था 'बच्चा' वह चाहे किसी का भी क्यों न हो। आजकल तेलुगु में इसका अर्थ है 'बच्ची'। वह बच्ची किसी की भी हो सकती है मनुष्य, जानवर, पक्षी, कीड़े आदि। प्रयोग के समय इसके साथ उस जानवर या पक्षी का नाम जोड़ देते हैं। जैसे कुक्क पिल्ल =कुत्ते का पिल्ला।

नामकरण ('कृष्ण'—मूल अर्थ 'काला' है, किंतु वासुदेव का नाम पड़ने से अब 'कृष्ण' सभी कालों का बोधक न होकर केवल वासुदेव का है; शत्रुघ्न; क्षिप्रा—तेज बहने वाली; घाघरा—घर्घर करती हुई बहने वाली; केशरी—केशों वाला; घुसपैठिया—मूलतः कोई भी, भारत-पाक-युद्ध के बाद 'भारत में घुमने वाला पाकिस्तानी'; अन्य भाषा से शब्द-ग्रहण ('शब्द' अपनी मूल भाषा के सभी अर्थों में दूसरी भाषा में प्रायः नहीं जाते, कुछ सीमित अर्थों में ही जाते हैं। अंग्रेजी में 'कालर' का प्रयोग मछली का टुकड़ा, आभूषण विशेष आदि कई अर्थों में होता है. किन्तु हिन्दी में वह केवल एक अर्थ (कपड़ों का कालर) में प्रयुक्त होता है। फैशन आदि अन्य भी अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में 'धरा' का अर्थ योनि, गर्भाशय, शिरा, गूदा आदि भी था, किन्तु हिन्दी में केवल 'पृथ्वी' के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है) आदि के कारण तुरत एक क्षण में उसके अर्थ में संकोच आ जाता है।

(३) अर्थादेश (Transference of Meaning)—भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को 'अर्थादेश' कहते हैं। ऊपर हम 'गँवार' शब्द ले चुके हैं। इस सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण 'असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओं में यह देववाची शब्द है, पर बाद में राक्षसवाची हो गया। 'वर' का अर्थ श्रेष्ठ था, पर अब इसका प्रयोग 'दुलहे' के लिए होता है। स्वयं 'दुलहा' शब्द भी इसी प्रकार का है, इसका मूल अर्थ 'जो जल्द न मिले' (=दुर्लभ) था, पर अब यह 'वर' के नवीन अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। ईरानी शब्द 'दिहक़ान' का मूल अर्थ 'देहात का बड़ा तालुकेदार' है, पर उर्दू तथा पारसी-गुजराती में 'देहक़ानी' का अर्थ मूर्ख होता है। अशोक 'देवानां-प्रियः' कहा जाता था, पर बाद में इसका अर्थ 'मूर्ख' हो गया। संस्कृत का 'वाटिक' शब्द बँगला में बाड़ी हो गया है और उसका अर्थ बगीचे से हट कर 'घर' हो गया है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बौद्ध कहलाते हैं, पर 'बुद्धू' (जो उसी का रूपांतर है) का अर्थ मूर्ख होता है। 'मेये' बँगला में पहले 'माँ' के अर्थ में आता था। धीरे-धीरे अर्थादेश होने लगा, और आज रानीगंज के आसपास इसका अर्थ पत्नी हो गया है। भद्र से भद्दा, हरिजन आदि भी इसके अच्छे उदाहरण हैं।

कुछ और उदाहरण भी लिए जा सकते हैं, जिनके कारणों पर भी विचार किया जा सकता है। 'मौन' शब्द मुनि से बना है, और आरम्भ में इसका प्रयोग मुनियों के विशुद्ध आचरण के लिये होता था। मुनि लोग अधिकतर शान्त्यर्थ मौन (चुप) रहते थे, अतः धीरे-धीरे मौन शब्द का प्रयोग उस चुप्पी के लिए होने लगा। आज यह केवल मुनियों की चुप्पी के लिए ही न होकर साधारण चुप्पी के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है, और कभी-कभी स्वीकार का लक्षण भी माना जाता है (मौनं स्वीकृति लक्षणम्)। 'पाषंड' नाम का एक संप्रदाय अशोक के समय में था। बड़ी सराहना के साथ अशोक

ने उसके साधुओं को दान दिया था। बाद में वे साधु या उनके शिष्य भ्रष्टाचारी हो गये, अतः पाषंड में अर्थादेश होने लगा और आज दुष्टता, ढोंग, दिखावट आदि के लिये इसका प्रयोग होता है। 'तारतम्य' शब्द का पहले अर्थ न्यूनाधिक या कम-ज्यादा था। धीरे-धीरे इसका अर्थ 'क्रम' हो गया और आज 'ताँता बँधने' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हो रहा है। बंगला भाषा में गृह से निकले शब्द 'घर' का अर्थ हिन्दी की भाँति घर न होकर 'कमरा' है। यह अर्थादेश तो स्पष्टतः भाव-साहचर्य के कारण हुआ है। इसे अर्थ-संकोच का भी उदाहरण मान सकते हैं, पर अर्थादेश का उदाहरण मानना ही कदाचित् अधिक उचित होगा।

अर्थ के अच्छे और बुरे भाव की दृष्टि से अर्थ-परिवर्तन की दो दिशाएँ होती हैं—

(१) **अर्थापकर्ष**—जैसा कि ऊपर हम कह चुके हैं, यह अर्थ-परिवर्तन की कोई स्वतन्त्र दिशा नहीं है। ऊपर की तीन दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन होने पर भी कभी-कभी अर्थ बुरा हो जाता है, उसी का विवेचन यहाँ किया जायगा। कबीर ने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग 'भक्त' के अर्थ में किया है। इधर उसका अपकर्ष हो गया है और वह 'अछूत' का वाचक हो गया। 'आबदस्त' का पुराना अर्थ नमाज पढ़ने के पहले जल या मिट्टी आदि से मंत्र पढ़कर अपनी शुद्धि करना है, पर अब यह शब्द अवधी 'सौंचने' या भोजपुरी 'पानी छूने' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'जुगुप्सा' शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका पहले छिपाने तथा पालने के अर्थ में प्रयोग होता था। अर्थादेश से इसका अर्थ धीरे-धीरे 'घृणा' हो गया। आज भी इसका प्रयोग यही है। 'पालन' से गिरकर घृणा अर्थ में प्रयुक्त होना 'जुगुप्सा' का अर्थापकर्ष है। आजकल कामशास्त्र, तथा पाखाना-पेशाब-सम्बन्धी अनेक शब्द इतने घृणित समझे जाने लगे हैं कि एकांत में भी उनका उच्चारण नहीं किया जा सकता। उन सभी शब्दों में अर्थापकर्ष हुआ है। 'लिंग' शब्द का पुराना अर्थ 'लक्षण' था, धीरे-धीरे इंद्रिय विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण इसमें अपकर्ष आ रहा है और संभव है कि कुछ दिन में यह सभ्य समाज से निकाल दिया जाय। 'वज्र वटुक' (पक्का ब्रह्मचारी) अब 'बजरबट्टू' (बहुत मूर्ख) हो गया है।

अर्थापकर्ष का भाषा के शब्द-समूह पर कभी-कभी बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन शब्दों में अश्लीलता की दृष्टि से अर्थापकर्षक अधिक हो जाता है, वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण 'शब्द-समूह' से निकाल दिये जाते हैं और उनका स्थान नये शब्दों द्वारा पूरा किया जाता है। इस प्रकार किसी भाषा के शब्द-समूह में परिवर्तन होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि तत्सम शब्द तो अपने ठीक अर्थ में प्रयोग में आता है, पर उससे निकले तद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है और उसका हीन अर्थ में प्रयोग होने लगता है। 'नग्न और 'लुंचित' शब्द पहले जैन साधुओं के लिये आदर के साथ प्रयुक्त होते थे, पर अब उनका तद्भव रूप 'नंगा-लुच्चा' बदमाश के लिए

प्रयोग में आता है। 'गर्भिणी' और 'गाभिन' शब्दों में भी यह बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है। पहले शब्द का स्त्री के लिए प्रयोग होता है, पर दूसरे का केवल पशुओं के लिये। 'प्रणाली' (रास्ता, युक्ति) तथा, पनारी या पनारा (गंदी नाली) भी इसी के उदाहरण हैं। किसी भाषा के शब्दों के अर्थापकर्ष के अध्ययन से उनके बोलने के मनोविज्ञान पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है।

अर्थोत्कर्ष—यह अर्थापकर्ष का विलोम है। कभी-कभी शब्दों के अर्थ परिवर्तित होने पर पहले से अधिक उन्नत हो जाते हैं, इसी को 'अर्थ का उत्कर्ष' कहते हैं। 'साहस' शब्द पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। संस्कृत में इसका प्रयोग बुरे अर्थ (व्यभिचार, हत्या) में होता था, पर अब अधिकतर अच्छे अर्थ में और तारीफ के लिये होता है। संस्कृत के 'कर्पट' (पटच्चरं जीर्णं वस्त्रं समौ लक्तककर्पटौ। अमर०) और पाली के 'कप्पट' का प्रयोग केवल 'फटे वस्त्र' के लिए होता था, पर आजकल अच्छे से अच्छे वस्त्र के लिये 'कपड़े' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'मुग्ध' का प्रयोग संस्कृत में 'मूढ़' के लिए भी होता था, पर आज उसमें मूढ़ता की तनिक भी गंध नहीं है। 'फिरंगी' शब्द पहले केवल पुर्तगाली डाकू के लिये आता था, बाद में इसका हमारे यहाँ अर्थ यूरोपियन हो गया। यद्यपि नवीन अर्थ में भी यह बहुत उच्च नहीं हो सका है; पर पहले अर्थ की अपेक्षा उसमें उत्कर्ष अवश्य हुआ है। १९४७ के पूर्व संसार में 'इंडियन' अर्थ बहुत अच्छा नहीं था, लेकिन अब तो 'इंडियन' होना गौरव की बात है। 'बंदी' शब्द भी पहले बुरे अर्थ में आता था, क्योंकि केवल चोर आदि ही कारागार में जाते थे, पर इधर राष्ट्र के देवताओं ने इसे इतना पवित्र बना दिया कि कम से कम १५ अगस्त सन् ४७ तक बन्दी होना कम गौरव की बात नहीं थी। आज भी वह विशिष्ट योग्यता (special qualification) समझी जाती है। 'अछूत' शब्द भी धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है। इन शब्दों के उत्कर्ष में देश के मनोविज्ञान का कितना सुन्दर प्रतिबिंब है और भाषाविज्ञान के प्रकाश में मानव-समाज के मनोविज्ञान के विकास का सुन्दर इतिहास तैयार किया जाता है।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार

मनुष्य की मनःस्थिति में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक-से नहीं रह पाते। भाषा विचारों की वाहिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार करना आसान नहीं है, क्योंकि वे इतने संयुक्त और गुथे रहते हैं कि उनका निश्चित स्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ता। एक शब्द के अर्थ-परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पड़ता है, तो कभी दूसरा। फिर भी एक बात तो निश्चित-सी है कि भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अर्थ-परिवर्तनों में अधिक कार्य करता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं, पर इनका भी

प्रभाव सीधा न पड़कर उसी रास्ते से पड़ता है। कभी-कभी व्यक्ति या संप्रदाय में विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। नीचे इस सम्बन्ध में कुछ कारणों पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ एक बात ध्यान में रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द में एक ही कारण नहीं काम करता; इसी कारण, एक कारण के उदाहरणों में अन्य कारणों की भी गंध मिल सकती है। कारणों के इस संयुक्त कार्य के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणों में भी यहाँ दिये गये हैं, पर. अपने-अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट दिया गया है। इन कारणों में कई को एक में मिलाकर कुछ कम वर्ग भी बनाये जा सकते हैं, लेकिन स्पष्टता की दृष्टि से यहाँ ऐसा नहीं किया गया है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

(१) बल का अपसरण (Shift of Emphasis)— किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगें, तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड़कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्याय जी परिवर्तित होकर 'ओझा' इसी बल के अपसरण के कारण हुए हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ में भी यह 'बल' कार्य करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर, बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है, और प्रधान अर्थ बिलकुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव-साहचर्य का ही यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमें समीपवर्ती दो भावों में एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं।

'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत-सी गायों का स्वामी।' बहुत-सी गायों का स्वामी 'धनी' होगा, अतः 'माननीय' भी होगा। इसी प्रकार धीरे-धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वहीं एक और भावना कार्य करने लगी। वह भावना यह है कि जो अधिक गाय की सेवा करेगा, वह धर्मपरक भी होगा। इस प्रकार बल के अप-सरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' के अर्थ से चलकर 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ में यह मध्ययुगीन सन्तों के नाम (गोसाइँ तुलसीदास) के साथ प्रयुक्त होता है। यों बाद में 'गोस्वामी' की व्याख्या 'इंद्रियों का स्वामी' के अर्थ में भी की गई, लेकिन वह बाद की व्याख्या मात्र है। मूल अर्थ वह था नहीं। अब तो गोस्वामी या गोसाइँ नाम की एक जाति भी हो गई है।

'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द 'गुप्' धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था गाय का पालन करना। कुछ दिन बाद, बल केवल 'पालने' पर गया और इसमें अर्थ-विस्तार हुआ। इस प्रकार इसका प्रयोग केवल पालने के अर्थ में होने लगा। पालन छिपाकर भी किया जाता है। अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों में यही भाव प्रधान हो गया। पुराने अर्थ

बिल्कुल लुप्त हो गये और इस शब्द का अर्थ फिर आगे बढ़ने लगा। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है, जो घृणित होती है, अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। आश्चर्य यह है कि जुगुप्सा का अर्थ इतनी लम्बी यात्रा करके और इतना नीचे गिरकर भी शान्त नहीं हो सका है, उसमें फिर परिवर्तन हो रहा है और उसका प्रयोग 'घृणा' के साथ-साथ 'निन्दा' के लिए भी होने लगा है।

अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' (knave), ये दोनों भी इसी प्रकार के हैं। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है, पर बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है। लड़के नौकर रक्खे जाते थे। पुराने जमाने में नौकर बिल्कुल बन्दी जैसे रहते थे। अतः उसी पर बल पड़ते-पड़ते अरबी का 'गुलाम' उधर पहुँचा, और नौकर शरारती होते हैं, अतः उस पर बल पड़ते-पड़ते 'नेव' बेचारा वहाँ जा पहुँचा।

'ड्रेस' (dress) का प्राचीन अर्थ है सीधा, straight। फ्रेंच में अब भी यह अर्थ है। अंग्रेजी में to dress timber में यह अर्थ सुरक्षित है। लट्ठे या शहतीर को सीधा करने के लिए काटना-छाँटना पड़ता था, अतः सफाई करना अर्थ हुआ। फोड़े की ड्रेसिंग में वही अर्थ है। चमड़े की सफाई भी की जाती थी, जूता आदि बनाने के लिए; अतः ड्रेस में 'तैयार करने' का अर्थ आया। सलाद को 'ड्रेस' अब भी करते हैं। बाल भी ड्रेस करने लगे, अतः इसमें सजाने का भाव आया और 'ड्रेस' सजाने वाला कपड़ा हो गया। हिन्दी में 'दरेसी' में कटाई-छँटाई का भाव अब भी है।

(२) पीढ़ी-परिवर्तन—मनुष्य अनुकरणप्रिय प्राणी है, पर स्वयं अपूर्ण होने के कारण वह शुद्ध और पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता। यही कारण है कि पीढ़ी-परिवर्तन के समय जब पुरानी पीढ़ी चिता की ओर चल पड़ती है, और नई पीढ़ी मुकुलित होने लगती है तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगते हैं। नई पीढ़ी अनुकरण ठीक न कर सकने के कारण अनजान में भी नये रास्ते पर आ खड़ी होती है। यही परिवर्तन का मूल है। यह परिवर्तन ध्वनि के विषय में तो स्पष्टतः देखा जाता है, पर अर्थ के विषय में इसका घटित होना असम्भव नहीं है। अधिक अस्पष्ट अर्थ रखने वाले शब्दों के विषय में तो यह परिवर्तन और भी स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि आवश्यक नहीं है कि नई पीढ़ी प्रत्येक शब्द को उतनी ही गहराई तक समझे। इसी न समझने में नया अर्थ विकसित हो जाता है। मेरा अपना विचार तो यह है कि वे सभी शब्द जिनमें अर्थ-परिवर्तन हुआ है, प्रस्तुत कारण से कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य हैं, अर्थात् सभी अर्थ-परिवर्तनों के मूल में किसी न किसी अंश में इस कारण ने भी कार्य किया है। हाँ, यह अवश्य है कि यह बात सभी शब्दों में स्पष्ट नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो सभी अर्थ-परिवर्तन इसके उदाहरण हो सकते हैं, पर यहाँ केवल एक स्पष्ट उदाहरण ही दिया जा सकता है।

'पत्र' शब्द का इतिहास इस दृष्टिकोण से बड़ा मनोरंजक है। आरम्भ में लोगों ने पत्र या पत्ते पेर लिखना आरम्भ किया। कुछ समय तक पत्ते पर लिखा जाता रहा। दूसरी पीढ़ी आई और उसने यही सोचा कि जिस पेर लिखा जाता है, उसे पत्र कहते हैं। यह गलती वहाँ और भी स्पष्ट हो जाती है जब इस नई पीढ़ी को भोज वृक्ष की छाल को भी लिखने के काम में आने के कारण 'भोजपत्र' या 'भूर्जपत्र' कहते हम पाते हैं। धीरे-धीरे लिखने के काम में और भी बराबर, चपटी और पेतली चीजें (खाल, पत्थर, काठ इत्यादि) आने लगीं और पत्र का अर्थ आगे आने वाली पीढ़ियों ने इन्हीं गुणों को मान लिया और किसी चीज का बराबर, चपटा और पतला रूप 'पत्र' कहा जाने लगा। आज भी सोने, चाँदी और ताँबे के 'पत्तर' सोनार, तथा लोहे के लोहार बनाते हैं। इतना ही नहीं, 'पत्तर' में पतला होने का प्रधान गुण देखकर किसी पीढ़ी ने तो आलंकारिक प्रयोग में इस संज्ञा को विशेषण बना दिया और यही 'पत्र' या 'पत्तर' भोजपुरी में 'पातर' और खड़ीबोली में 'पतला' भी हो गया। इसमें बल के अपसरण का भी हाथ स्पष्ट है।

(३) **अन्य विभाषा से शब्दों का उधार लेना**—कभी-कभी संसर्ग या आवश्यकता के कारण एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में उधार ले लिया जाता है। ऐसा करने में शब्द का शरीर तो आ जाता है (परिवर्तित होकर कभी-कभी आता है), पर आत्मा ठीक उसी प्रकार नहीं आती। फल यह होता है कि उधार लेकर प्रयोग करने वाले लोग उस शरीर पर पिछली आत्मा से मिलती-जुलती कोई आत्मा डाल कर उसे अपना लेते हैं। इस प्रकार शब्द की आत्मा अर्थात् अर्थ में कुछ परिवर्तन हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ था 'पक्षी'। 'मुर्गाबी' शब्द में अब भी यह अर्थ सुरक्षित है, जिसका अर्थ है 'पानी की चिड़िया'। हिन्दुस्तानी बोलियों या भाषाओं में मुर्ग का अर्थ पक्षी न रहकर 'पक्षी विशेष' हो गया। इस अर्थ-परिवर्तन की दिशा में अर्थ-संकोच है। फारसी का दूसरा शब्द 'दरिया' (नदी) गुजराती में जाकर 'समुद्र' का अर्थ देने लगा है। इसी प्रकार अंग्रेजी का क्लाक (clock) शब्द अंग्रेजी में दीवाल-घड़ी या घड़ी के लिए प्रयुक्त होता है, पर गुजराती में उसका अर्थ 'घंटा' हो गया है। अंग्रेजी का ग्लास शब्द, जिसका अर्थ शीशा है, हिन्दी में गिलास बनकर एक विशिष्ट प्रकार के बर्तन का अर्थ देने लगा है। कुछ शब्द हमारे यहाँ से अरबी भाषा में गये हैं। अधिक तो नहीं, पर कुछ परिवर्तन उनमें भी हुआ है। संस्कृत का भक्त या भत्त (भात, पका चावल) अरबी में 'बहत' हो गया है, जिसका वहाँ अर्थ 'खीर' या 'तस्माई' है। यहाँ का 'विष' शब्द वहाँ 'बेश' हो गया है, जो एक जहरीली जड़ी का नाम है। संस्कृत का 'उच्च' शब्द अरबी में 'ओज' हो गया है, जिसका प्रयोग वहाँ ज्योतिष् के पारिभाषिक शब्द 'ऊर्ध्वबिन्दु' के लिए होता है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि एक भाषा से दूसरी में जब शब्द लिया जाता है तो इसमें प्रायः अर्थ-संकोच हो जाता है, क्योंकि प्रायः वह सीमित अर्थ में ही ग्रहीत होता है। फारसी में 'जिला' का अर्थ हिस्सा आदि भी होता है, किन्तु हिन्दी में आने पर इसके साथ केवल एक अर्थ प्रान्त का भाग

(district) रह गया है। संस्कृत 'धरा' का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। सच तो यह है कि विभाषाओं में जाने पर कम ही शब्द अपने ठीक और पूरे पुराने अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

(४) एक भाषाभाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना—जब एक भाषा बोलने वाले लोगों का समूह कई वर्गों में विकसित होने लगता है और अन्त में अलग-अलग वर्ग बन जाते हैं तो उन विभिन्न वर्गों में एक शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगता है। इसके पीछे उन लोगों का अलग-अलग विकास कार्य करता है। यों ये कारण अकेले कार्य नहीं करते, इनके साथ-साथ अन्य कारण भी काम करते हैं। इसी कारण एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में कभी-कभी एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता दिखाई देता है।

अधिकतर यह अर्थ-परिवर्तन बहुत साधारण होता है, पर कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें यह इतना अधिक हो जाता है कि पहचाना भी नहीं जाता। 'वाटिका' का संस्कृत में अर्थ 'बगीचा' था। भोजपुरी में इसी से विकसित शब्द 'बारी' बगीचा का अर्थ देता है, पर बंगला में यह शब्द 'बाड़ी' हो गया है, जिसका अर्थ घर है। संस्कृत का 'नील' शब्द हिन्दी में नीला है और अपना मूल अर्थ देता है, पर गुजराती में यह 'लीलो' होकर 'हरे' का अर्थ देने लगा है। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही एक ही भारोपीय परिवार की भाषाएँ हैं, पर कितना आश्चर्य है कि इनके फ़ी (fee) और 'पशु' शब्दों में अर्थ में इतना महान् अन्तर हो गया है, यद्यपि ये दोनों मूलतः एक ही शब्द हैं। इसी प्रकार संस्कृत के युग (दो) तथा अंग्रेजी के योक (yoke) एवं संस्कृत का मृग (=जानवर) और फ़ारसी का 'मुर्ग़' (=पक्षी) भी मूलतः एक ही शब्द हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ऐसे शब्दों की ध्वनि में भी प्रायः परिवर्तन हो जाता है।

ऐसे परिवर्तन बहुत अधिक शब्दों में नहीं मिलते।

(५) वातावरण में परिवर्तन—वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। ऊपर हम लोगों ने जिस कारण पर अभी-अभी विचार किया है, उसमें भी यह काम करता है। वातावरण कई प्रकार के हो सकते हैं, अतः सभी को अलग-अलग लेना उचित होगा।

(क) भौगोलिक वातावरण—इसके अन्तर्गत नदी, पर्वत, पेड़ आदि लिए जा सकते हैं। सब जगह एक ही प्रकार के पेड़ नहीं मिलते। थोड़ी देर के लिए मान लें कि हम एक ऐसे स्थान पर रह रहे हैं जहाँ 'क' नाम का पेड़ अधिक है और उससे हमें लाभ है। थोड़े दिन बाद हम किसी कारणवश वहाँ से हटकर कहीं और चले आयें जहाँ वह पेड़ तो नहीं है, पर एक दूसरा पेड़ उसी प्रकार बहुतायत से मिलता है, साथ ही उसी पेड़ की भाँति लाभकर भी है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि हम उसी पुराने नाम से नये पेड़ को भी पुकारने लगें। वह ठीक उसी प्रकार है, जैसे छोटे लड़के यदि कहीं बाहर जाकर कोई नदी देखते हैं तो उसे अपने-अपने गाँव या नगर की ही नदी समझते

हैं, और उसे उसी नाम से पुकारने भी लगते हैं। अंग्रेजी में कार्न (corn) का अर्थ गल्ला है, पर अमेरिका में भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन के कारण इसका प्रयोग मक्का के लिए होता है, जो वहाँ का प्रधान अन्न था और जिसे पहले वहाँ के मूल निवासी खाते थे। जानवरों के विषय में भी यह बात देखी जाती है। वेदों की प्राचीनतम ऋचाओं में 'ऊष्ट्र' का प्रयोग एक प्रकार के जंगली बैल के लिए हुआ है, पर बाद में संभवतः जब आर्य मरुभूमि में आ गए थे, इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा।

(ख) सामाजिक वातावरण—एक ही भाषा में एक ही समय में समाज के वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। अंग्रेजी के मदर (mother) और सिस्टर (sister) शब्दों का अर्थ साधारणतः कुछ और है, गिरजाघरों में कुछ और है तथा अस्पतालों में कुछ और है। इसी प्रकार सभा में व्याख्यान देने वाले 'भाई' और 'बहन' कुछ दूसरे अर्थ रखते हैं, और घर में भाई-बहन का प्रयोग कुछ दूसरा अर्थ रखता है। किसी आफ़िस में काम करने वाले को रविवार के दिन देर तक सोते रहने पर जब उसकी पत्नी 'अरे भाई उठिए' कहकर जगाती है तो उसका आशय उन महाशय से साधारण 'भाई' का सम्बन्ध जोड़ने का कभी नहीं रहता। इस प्रकार वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। नाई का 'खत काटना' और शिशु-कक्षा के लड़के का सरकंडे की कलम में 'खत काटना' भी एक अर्थ नहीं रखते। विद्यार्थी के प्रयोग में आने वाला 'कलम' शब्द तथा माली का 'कलम' शब्द भी एक नहीं है। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

(ग) प्रथा या प्रचलन सम्बन्धी वातावरण—लौकिक प्रथाएँ तथा रस्म-रिवाज भी समय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस वातावरण के परिवर्तन में ऐसा होता है कि पुरानी प्रथाओं के कुछ शब्द तो लुप्त हो जाते हैं, पर कुछ शब्द नये अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। वैदिक शब्द 'यजमान' यज्ञ करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। यज्ञ की प्रथा के लुप्त होने के साथ-साथ उसका वह अर्थ भी समाप्त हो गया। आज किसी ने यदि एक पैसा भी किसी ब्राह्मण को दे दिया तो तुरन्त ब्रह्मण देवता 'जजमान, भगवान तुम्हरा भला करे', कह कर आशीर्वाद देते हैं। इतना ही नहीं, देहातों में नाई लोग आपस में गाँव की हजामत बनाने के लिए क्षेत्र बाँट लेते हैं और अपने हिस्से के गाँव या घरों को अपनी 'जजमानी' कहते हैं। इसी प्रकार स्वयंवर की प्रथा आज नहीं रही, पर 'वर' का प्रयोग 'दुलहे' के लिए चल रहा है। अब 'वर' शब्द से चुने जाने का अर्थ निकल गया है। हिन्दी-क्षेत्र में १००० ई० के आसपास 'गाड़ी' का अर्थ ठीक वही नहीं था जो आज है। ऐसे अर्थ-परिवर्तन देहात में प्रयुक्त होने वाले अनेकानेक शब्दों में मिलते हैं।

(६) नवीन वस्तुओं का निर्माण तथा प्रचलन—जब नवीन वस्तुएँ बनती हैं तो उनके नाम की समस्या हमारे समक्ष आती है। कभी-कभी ऐसा भी किया जाता है कि जिस सामग्री से वह वस्तु बनती है, उसी के नाम का प्रचलन वस्तु के लिए हो जाता है और इस प्रकार उस शब्द में एक नवीन अर्थ प्रवेश कर जाता है। भारतवर्ष में

गिलास पहले शीशे के बने। शीशे को अंग्रेजी में ग्लास (glass) कहते हैं, अतः यहाँ उससे बनी वस्तु को भी ग्लास कहने लगे। अंग्रेजी का (pen) शब्द भी इसका उदाहरण है। पहले कलमें पंख की बनती थीं, अतः पंख (pinna) का ही प्रयोग उसके लिए भी होने लगा। अब लोहे की कलम को भी 'पेन' कहते हैं। यह किसी को भी ध्यान नहीं कि 'पेन' का यथार्थ अर्थ 'पंख' है। 'शीशा' का अर्थ इसी प्रकार 'दर्पण' हो गया है। पहले दर्पण धातु के बनते थे। उन्हें रगड़ कर मुँह देखने योग्य रखा जाता है।

नवीन वस्तुओं के निर्माण में नाम सर्वदा सामग्री पर ही आधारित नहीं होता, कभी-कभी बनाने की क्रिया पर भी उसका नाम रख दिया जाता है और थोड़े दिनों में नाम के आधार को भूल कर उस शब्द का अर्थ ही उस वस्तु को समझ लेते हैं। पुस्तकें ग्रंथन कर या गूँथ कर बनाई जाती थीं, अतः उनका नाम 'ग्रन्थ' पड़ गया। अब हम ग्रंथ का सीधा अर्थ पुस्तक ही समझते हैं। भोजपुरी का 'डाँड़' शब्द भी, जो जुर्माने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी का उदाहरण है। पहले दण्ड या दण्डे से सजा दी जाती थी, पर आज तो रुपये के जुर्माने को भी 'दंड', 'डाँड़' या 'डंड' ही कहते हैं। जिस काम के लिए चीज बने, उसके आधार पर भी कभी-कभी नाम पड़ जाता है और तब उसका भी अर्थ बदल जता है। कापी (नकल) करने के लिए कागज की कॉपी इसी रूप में कॉपी कही जाती है।

(७) नम्रता-प्रदर्शन—नम्रता-प्रदर्शन के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जब उत्तरी भारत का कोई ऐसा आदमी जिसका शीन-क़ाफ़ दुरुस्त है, किसी से पूछता है कि आपका दौलतखाना कहाँ है तो उसका 'दौलतखाने' से आशय 'धन का भंडार' न होकर 'घर' होता है। यहाँ दौलतखाने का अर्थ परिवर्तित होकर घर हो गया है। इसी प्रकार अपने घर को लोग 'गरीबखाना' कहते हैं। हिन्दी में किसी का नाम पूछने के लिए पूछा जाता है 'श्रीमान् किन-किन अक्षरों को सुशोभित करते हैं ?' संस्कृत साहित्य में कहीं-कहीं ऐसा मिलता है कि 'आप कहाँ से आ रहे हैं ?' पूछने के लिए 'आप किस देश या स्थल की श्री को क्षीण करके आ रहे हैं ?' का प्रयोग हुआ है। भारोपीय परिवार की लगभग सभी भाषाओं में नम्रता-प्रदर्शन का विशेष स्थान है। उर्दू राज-दरबारों में विकसित होने के कारण संभवतः इन सब में आगे है। उसमें 'आप' के लिए 'गरीबपरवर', 'जहाँपनाह्' आदि का प्रयोग चलता है। रीवाँ आदि राज्यों में सारी प्रजा तथा राज्य-कर्मचारी राजा से बात करते समय 'अन्न-दाता' आदि कहा करते रहे हैं। उर्दू में यदि स्वयं कुछ कहना हो तो कहा जाता है 'कुछ अरज करना चाहता हूँ।' लेकिन दूसरे से कहने के लिए कहा जाता है 'अब आप कुछ फरमाने की तकलीफ गँवारा करें।' कोई अफसर जब किसी बाबू या क्लर्क को बुलाना चाहता है तो चपरासी से यह न कहकर कि 'अमुक बाबू को बुला लाओ' 'अमुक बाबू को सलाम बोलो' कहता है। हिन्दी के 'मेरे घर जूठन गिराइए', 'मेरी कुटिया को पवित्र कीजिए', 'पत्राशीर्वाद भेजिए' जैसे प्रयोग भी इसी के उदाहरण हैं। भोजपुरी में आदर के लिए 'राउर' शब्द प्रयुक्त होता है जो 'राजकुल्य' का रूपान्तर

है। हिन्दी तथा अंग्रेजी में मध्यम पुरुष का एक वचन (तू—thou) का प्रयोग बहुत कम होता है। उसके स्थान पर आदर के लिए बहुवचन (तुम—you) का प्रयोग ही अधिक चलता है। पर, उस अनादरसूचक तू और thou का प्रयोग ईश्वर तथा अपने घनिष्ठ के लिए बड़े प्यार से किया जाता है। इसी प्रकार भोजपुरी में माता के लिए 'ते' का प्रयोग होता है जो साधारणतः अनादरसूचक समझा जाता है।

नम्रता-प्रदर्शन में भाषा-संसार में जापानी भाषा सबसे आगे है। उसमें साधारण प्रयोग से पूर्णतया पृथक् एक आदरसूचक भाषा का विकास हो गया है। राजघराने के प्रयोग के लिए कुछ वस्तुओं के नाम वहाँ सर्वथा अलग हैं। कुछ दिन पहले तक ऐसा था कि साधारण पुराने विचार के आदमी यदि गलती से उस शब्द का प्रयोग कर देते थे तो हाराकिरी (आत्महत्या) कर लेते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि यह पाप है। इस सम्बन्ध में चेम्बरलेन की 'हैन्डबुक ऑव कोलोकिअल'जापानीज' (Handbook of Colloquial Japanese) पुस्तक पढ़ने योग्य है।

कुछ ऐसे प्रयोग हिन्दी में भी हैं। साधुओं या राजाओं के आने को 'आना' न कहकर 'पधारना' कहते हैं। संतों से 'भोजन कर लीजिये' न कहकर 'भोजन पा लीजिये' कहा जाता है। यदि किसी आदमी से उसके लड़के के लिये पूछा जाय कि यह किसका लड़का है तो वह यह न कह कर कि मेरा लड़का है, 'आप ही का लड़का है' कहेगा। देवताओं के भोजन को 'भोग' और बड़ों के देखने को 'दर्शन' कहते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रयोगों में नम्रता-प्रदर्शन के कारण शब्दों के अर्थों में विशेषता या कुछ परिवर्तन आ गया है।

(८) अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग (Enphemism)—संसार में अशोभन बातें, भावनाएँ, कार्य हैं, पर यथासाध्य मनुष्य का मस्तिष्क उनसे दूर रहना चाहता है। विडंबना यह है कि चाह कर भी दूर नहीं रह पाता, इसलिए उन भावनाओं को शोभन शब्दों से ढँक वह संतोष की साँस लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शोभन शब्द अपने शोभन अर्थों को छोड़कर अशोभन अर्थ ढोने लगते हैं। इसे कई भागों में बाँट कर विचार किया जा सकता है ?

(क) अशुभ या बुरा—अशुभ कार्यों, बातों या घटनाओं को हम घुमा-फिरा कर अच्छा बनाकर कहना पसन्द करते हैं। 'हुजूर की तबीयत खराब है' न कहकर 'हुजूर के दुश्मनों की तबीयत नासाज है' कहने की प्रथा है। किसी के मर जाने पर मरना न कहकर गंगालाभ होना, स्वर्गवासी होना,पंचत्व को प्राप्त होना, असार संसार छोड़ना, मुक्त होना, गोलोक जाना, बैकुंठलाभ करना आदि कहते हैं। किसी के विधवा होने पर चूड़ी फूटना, सोहाग लुटना, सिन्दूर धुलना, माँग सफेद होना इत्यादि कहा जाता है। लाश को मिट्टी या माटी; दुकान बन्द करने को दूकान बढ़ाना तथा चिराग बुझाना को चिराग बढ़ाना कहते हैं। अंग्रेजी में भी मरने को 'टु गिव अप द गोस्ट' (to give up the ghost) कहते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से हमारे मनोविज्ञान पर

प्रर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन अवश्यंभावी बातों से हम इतना अधिक डरते हैं कि सीधे इनका नाम लेना भी पसंद नहीं करते।

(ख) अश्लील—कुछ लोग तो संसार में कुछ भी अश्लील नहीं मानते। उनका कहना है कि जब ईश्वर उन कार्यों या वस्तुओं को पृथ्वी पर लाने में लज्जित नहीं हुआ तो हम उनके उच्चारण या प्रयोग में क्यों लज्जित हों। पर विश्व के सभी लोग इसे नहीं मानते। अधिक लोग ऐसे ही हैं जो बहुत से नामों को तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों या शब्दों को अश्लील मानते हैं, और इसलिए अश्लीलता को छिपाने के लिए घुमा-फिरा कर अच्छे शब्दों द्वारा उन्हें प्रकट करते हैं। पाखाना जाने को 'मैदान जाना', 'पोखरे जाना', 'नदी जाना', 'दिशा जाना, 'टट्टी जाना', 'शौच जाना' तथा 'विलायत जाना' आदि कहा जाता है। सन् १९३० के बाद से भारतीयों को अपनी गुलामी अधिक खलने लगी थी और वे इंगलैंड के प्रति घृणा की भावना रखने लगे थे। इसी कारण कुछ छात्रावासों में पेशाब करने जाने को 'छोटी विलायत जाना' और पाखाना जाने को 'बड़ी विलायत जाना' अभी हाल तक कहा जाता रहा है। इसमें अश्लीलता छिपाने तथा घृणा-प्रदर्शन की भावनाएँ साथ-साथ काम कर रही हैं। गर्भिणी होना न कह कर 'पाँव भारी होना' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'टू बी इन फेमली वे' (to be in family way) कहा जाता है। पाखाना जाने को 'टू अटेन्ड द नेचर्ज काल' (to attend the nature's call) तथा पेशाबघर को 'बाथरूम' कहते हैं। टु ईज (to ease) का प्रयोग भी इसी दिशा में है। कामशास्त्र से सम्बन्धित अवयवों, तथा कार्यों के विषय में भी प्रयोग प्रायः बहुत घुमा-फिरा कर किए जाते हैं।

(ग) कटुता या भयंकरता—अशुभ और अश्लील की भांति कटु और भयंकर भी मनुष्य को अप्रिय हैं। भोजपुरी प्रदेश में साँप को 'कीरा', 'जेवर' या 'रसरी' तथा उसके काटने को 'छूना' या 'सूँघना' कहते हैं। बिच्छू को 'टेढ़की' कहा जाता है। संपूर्ण उत्तरी भारत में चेचक निकलने को 'माता, माई या महरानी ने कृपा की है' कहा जाता है। चेचक की बीमारी कई प्रकार की होती है और प्रत्येक में तरह-तरह के दाने निकलते हैं। जिस चेचक में गर्मी अधिक होती है उसे 'सीतला' तथा जिसमें त्वचा पर कष्ट अधिक होता है उसे 'दुलारी' कहने की प्रथा है। हैजे में कै और दस्त होने को 'मुँह और पेट चलना' कहा जाता है। पुर्तगाली में कैन्सर को 'ओबिचो साल्वो सेजा' (Obicho Selvo Seja=the little beast God forbid) कहते हैं।

(घ) अंधविश्वास—बहुत लोगों में ऐसा अन्धविश्वास है कि पति, स्त्री, गुरु और बड़े लड़के आदि का नाम लेना पाप है। (आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।—मनु) इसका परिणाम यह होता है कि उनका नाम नहीं लिया जाता। पति के विषय में तो यह नियम इतना कड़ा है कि ऐसे अन्य शब्दों का भी उच्चारण नहीं किया जाता, जिनमें पति के नाम का कोई अक्षर आता हो। मेरे गांव में मेरी एक दादी लगती थीं, जिनके पति का नाम 'हनुमान' था। हनुमान तो हनुमान, वे हलवा भी नहीं कहती थीं और उसके लिए 'लपसी' शब्द का

प्रयोग करती थीं। परिणाम यह हुआ है कि आसपास के लड़कों में हलुआ के लिए 'लपसी' शब्द प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार 'पंडितजी', 'ऊ लोग', 'बिटिया के बाबू' 'आदमी' और 'मलिकार' आदि शब्दों का अर्थ पति हो गया है, क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति के लिए इन शब्दों का प्रयोग करती हैं। पति लोग भी 'मालकिन' या अपने लड़के लड़की के नाम के साथ माँ या चाची आदि शब्द लगाकर अपनी स्त्री को बुलाते हैं। कहीं-कहीं इसी कारण 'घर वाली' का अर्थ पत्नी हो गया है। कुछ लोग अपना नाम भी नहीं लेते, अतः अपने नाम वाले साथी को मितान कहकर बुलाते हैं। मितान का अर्थ मित्र था, पर अब 'अपने नाम का आदमी' हो गया है। कुछ बीमारियों को भी अंधविश्वास के कारण लोग देवी मान बैठे हैं। चेचक काली मानी जाती है। कटुता के सम्बन्ध में ऊपर हम लोगों ने विचार करते हुए चेचक को देवी या माता की दया कहे जाने को कटुता छिपाने के लिए कहा गया माना है। इसमें अंधविश्वास की भावना भी कुछ अवश्य है।

(ङ) गंदे या छोटे कार्य—गन्दे कार्य को भी हम अच्छे 'शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। पाखाना साफ़ करने के लिए 'कमाना' शब्द का प्रयोग होता है। भंगी को 'जमादार', 'हलालखोर' या मेहतर (महत्तर) कहा जाता है। पंजाबी में नाई 'राजा' कहा जाता है और नाइन 'रानी'। बुलन्दशहर के कुछ भागों में भंगी के लिए 'राजा' का प्रयोग चलता रहा है। आस्ट्रेलिया में नौकर को 'सरवेंट' न कहकर 'होम-ऐएड' 'होम ऐसोशिस्ट' कहते हैं। चोर को संस्कृत में तस्कर (वह करने वाले) कहते हैं। चोरी बुरा कार्य है, अतः उसका नाम लेना ठीक नहीं। चमार को रयदास कहते हैं। खाना पकाना बुरा या गन्दा कार्य तो नहीं है, पर पकाने वाले को महराज (महाराजा) जैसी बड़ी पदवी दी गई है। बंगला में नौकर या रसोइये को ठाकुर या (मालिक या बड़ा) तथा उत्तरी भारत में अफ़सर लोग साधारण क्लर्कों को बाबू इसी भावना से कहते हैं।

(६) अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग—मनुष्य में आलस्य अधिक है और इसीलिए कम से कम परिश्रम से वह अपना काम निकालना चाहता है। बोलने में भी वह चाहता है कि कम से कम शब्दों में अपने अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। इस प्रयास में अधिक प्रयोग में आए शब्दों में कुछ अंश तथा शब्द-समूह के एक-दो शब्द वह छोड़ देता है। ऐसा करने से शेष अंश ही पूरे का अर्थ देने लगता है और इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। रेल (ट्रेन की पटरी) पर चलने के कारण ट्रेन को रेलगाड़ी कहा गया। अब गाड़ी शब्द हटा दिया गया है, और केवल 'रेल' का अर्थ भी रेलगाड़ी है। पढ़े-लिखों को छोड़कर अब तो कम लोग इसे जानते भी हैं कि 'रेल' पटरी को कहते हैं। इस प्रकार के अर्थ में काफी परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार तार का प्रयोग अब तार द्वारा भेजी गई खबर के लिए भी होने लगा है।

पहले हाथी को 'हस्तिन्मृग' (ऐसा जानवर जिसके हाथ—सूँड़ हो) कहा जाता था, बाद में मृग छोड़ दिया गया और केवल 'हस्तिन्' ही पूरे का अर्थ देने लगा। रेलवे स्टेशन के लिए स्टेशन, मोटरकार के लिए मोटर या कार, जिनरिक्शा के लिए रिक्शा, साइकिल रिक्शा के लिए रिक्शा, प्रिंसपल टीचर के लिए प्रिंसपल, कैपिटल सिटी (capital city) के लिए कैपिटल (capital), नेकटाई (necktie) के लिए टाई तथा पोस्टल स्टैम्प (postal stamp) के लिए स्टैम्प का प्रयोग अब सर्वत्र हो रहा है। टिन धातु से बने पीपे को 'टिन का पीपा' न कह कर 'टिन' या 'पीपा' कहा जाता है। दो पहियों का होने के कारण बाइसिकिल नाम पड़ा। अब केवल साइकिल कहा जा रहा है; जिसका अर्थ पहिया मात्र है। कुछ लोग तो 'बाइक' कहते हैं। मीट (meat) का अर्थ था खाद्य (sweetmeat=मीठा खाद्य या मिठाई)। 'फ्लेश मीट' का प्रयोग किया गया खाने में प्रयुक्त गोश्त के लिए। बाद में फ्लेश हट गया और मीट का ही प्रयोग 'गोश्त' के लिए होने लगा। इस प्रकार के रोज के प्रयोग में आने वाले बहुत से शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ परिवर्तित हो गया है।

(१०) सादृश्य (Analogy)—सादृश्य के कारण भी कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन होता है, पर इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। अंग्रेजी से हिन्दी में जो बहुत से शब्द आए हैं, उनमें 'टिकिट' और 'टैक्स' भी हैं। इनमें 'टिकट' का रूप तो 'टिकिट' मिलता है और उसी के सादृश्य पर 'टैक्स' का रूप टिकस या टिक्कस ('टिक्कस में घर-बार बिकानो–' भारतेंदुकालीन एक पंक्ति) हो गया है। 'टिकट' और 'टिकस' के रूप-साम्य के कारण 'टिकस' के अर्थ में परिवर्तन हो गया है और अब देहात (भोजपुरी प्रदेश) में प्रायः लोग 'टिकट' के स्थान पर उस अर्थ में 'टिकस' (रेल का, डाक का, रसीदी) का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सादृश्य के कारण अर्थ-परिवर्तन अज्ञान का सहारा लेकर घटित होता है, यों भाषा के अधिकांश परिवर्तन अज्ञान के क्रोड़ में पलते हैं। आधुनिक काल में संस्कृत का कम ज्ञान रखने वाले अनेक साहित्यकारों ने बहुत से संस्कृत शब्दों के अर्थ में इस प्रकार परिवर्तन ला दिये हैं और कुछ शब्द तो खूब चल पड़े हैं। 'प्रश्रय' का संस्कृत में अर्थ था विनय, शिष्टता, नम्रता। 'आश्रय' शब्द इससे मिलता-जुलता है, अतः आश्रय या सहारा अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार 'उत्क्रांति' (मूल अर्थ मृत्यु या उछाल) का 'क्रांति' के अर्थ में, या उत्क्रोश (मूल अर्थ एक पक्षी या चिल्लपों) का आक्रोश के अर्थ में प्रयोग भी इसी वर्ग के परिवर्तन से युक्त है। देहात में 'कन्सेशन' के अर्थ में मैंने 'कनेक्शन' का भी प्रयोग सुना है। 'अभिज्ञ' और 'अविज्ञ' में सादृश्य से 'विज्ञ' के अर्थ में कुछ लोग 'भिज्ञ' का तथा 'अविज्ञ' के अर्थ में 'अभिज्ञ' का प्रयोग करते हैं।

(११) अज्ञान — अज्ञानवश गलत अर्थ में प्रयोग करने से भी शब्द का अर्थ बदल जाता है। संस्कृत के अनेक शब्दों का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में इसी कारण बदल गया है। संस्कृत का अच्छा ज्ञान न रखने वाले साहित्यकारों ने इस क्षेत्र में बहुत योग दिया है। संस्कृत का धन्यवाद (प्रशंसा) हिन्दी में शुक्रिया हो गया है। लोक

भाषाओं में ग़लती के कारण अर्थ-परिवर्तन के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जैसे अवधी में 'बूढ़ा' के लिए बुढ़ापा, भोजपुरी में कलंक के लिए अकलंक, फ़ज़ूल के लिए वेफज़ूल, कई बोलियों में 'खालिस' के लिए निखालिस, गुजराती में 'जरूरत' के लिए 'जरूर'। अंग्रेजी में इससे मिलती-जुलती प्रवृत्ति Malapropism है (देखिये परिशिष्ट)। मुहावरे एवं लोकोक्तियों के अर्थों के परिवर्तन में भी अज्ञान या गलती का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१२) जानबूझ कर नये अर्थ का प्रयोग—कलाकार लोग नये शब्द तो गढ़ते ही हैं, शब्दों को नये अर्थ में व्यवहार करना भी पसन्द करते हैं। ऐसा वे लोग इसलिए नहीं करते कि भाव-प्रकाशन में कठिनाई पड़ती है, अपितु केवल अपनी शैली को चटकीली और आकर्षक बनाने के लिए। ऐसे प्रयोग श्री बेचन शर्मा 'उग्र' तथा श्री निराला में यथेष्ठ मात्रा में मिलते हैं। अज्ञेय जी की किसी पुस्तक पर उनका परिचय छपा था। परिचय के अन्त में भावी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा था कि अमुक पुस्तक के निकलने की 'आशंका' है। यहाँ प्रयोग तो 'आशा' का होना चाहिए पर वहाँ आकर्षण के लिए 'आशंका' का आगमन हो गया। इस एक ही प्रयोग से आशंका के अर्थ पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता, पर दो-चार जगह भी ऐसा छपा तो फिर अनुकरण की धारा में सर्वत्र इसका प्रयोग चल पड़ेगा और फिर अवश्य ही अर्थ में परिवर्तन होने लगेगा। शिवदत्त जी ज्ञानी की एक पुस्तक की भूमिका में श्री क० म० मुन्शी ने लिखा है कि यह पुस्तक मेरी 'सूचना' से लिखी गई है। वहाँ सूचना का भी असाधारण प्रयोग है। विद्यापति, कबीर और सूर के पदों में तथा आज के रहस्यवाद, छायावाद और प्रयोगवाद के कवियों में निरंकुश प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं। कभी-कभी कलाकारों के अतिरिक्त अन्य लोग भी आवश्यकतावश ऐसा करते हैं। आजकल हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता है। इसके लिए कुछ पुराने शब्दों को भी लिया जा रहा है। 'आकाशवाणी' का पौराणिक कथाओं में एक अर्थ है, लेकिन अब पं० सुमित्रानन्दन पंत की कृपा से यह 'रेडियो' का समानार्थी हो गया है। शासन-विषयक जितने भी शब्द आजकल लिये गये हैं, उनके अर्थों में इस प्रकार के परिवर्तन आ गये हैं, क्योंकि उनका प्रयोग ठीक आज के अर्थ में पहले नहीं था—जैसे संसद्, सदन आदि।

(१३) पुनरावृत्ति—कभी-कभी शब्दों का दुहरा प्रयोग चल पड़ता है और इसके कारण भी उनके आधे भाग के अर्थ में परिवर्तन हो जाते हैं। अब 'विन्ध्याचल पर्वत' का प्रयोग चल पड़ा है। ऐसे प्रयोग करने वाले 'विन्ध्याचल' का अर्थ 'विंध्य पर्वत' न लेकर उसे पर्वत का नाम मात्र समझते हैं। मलयगिरि के विषय में भी यही बात है। द्रविड़ भाषा में 'मलय' शब्द ही पहाड़ का अर्थ रखता है, पर हम लोगों ने 'मलय' को नाम समझ कर उसके साथ 'गिरि' जोड़ लिया है। कुछ लोग तो मलयागिरि पर्वत भी कहते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग हिमालय पर्वत या 'फूलों का गुलदस्ता' भी कहते हैं।

डबलरोटी को पावरोटी भी कहते हैं। इस दुहरे प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि लोग पाव का अर्थ डबल लगाने लगे हैं, जबकि पाव पुर्तगाली शब्द का अर्थ रोटी

होता है । 'दरअसल में, 'दरहकीकत में, किन्तु फिर भी, पर फिर भी, आदि प्रयोग भी ऐसे ही हैं। यह ठीक उसके उलटा है जिसमें दो शब्दों के लिए एक का प्रयोग (रेल-गाड़ी के लिए रेल) होता है, क्योंकि यहाँ एक शब्द के लिए एक से अधिक का प्रयोग है। 'सज्जन व्यक्ति' का प्रयोग भी इसी श्रेणी का है। अनुवादात्मक युग्म (translation compound) भी इसी प्रकार के होते हैं। 'सौदा-सुलुफ़' में सुलुफ़ का अर्थ लोग अब 'वग़ैरह' जानने लगे हैं यद्यपि, उसका अर्थ है 'सौदा'।

(१४) एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन—जीवित भाषा में एक वस्तु या कार्य के लिए ठीक एक अर्थ रखने वाले दो शब्द नहीं रह सकते। भाषा यह व्यर्थ का बोझ प्रायः स्वीकार नहीं करती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक तत्सम शब्द के साथ-साथ उसके तद्भव या अर्द्धतद्भव शब्द का भी प्रचलन हो जाता है। ऐसी दशा में दो बातों में से कोई एक घटित होती है। या तो दोनों में से कोई एक लुप्त हो जाता है, या फिर किसी एक का अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। यहाँ हमें दूसरी बात पर विचार करना है। हिन्दी में कुछ शब्दों के दो रूप चल रहे हैं और भाषा यह बोझ स्वीकार नहीं कर सकती, अतः दोनों के अर्थ में भेद हो गया है। इस प्रकार दो रूप के प्रचलन में भी अर्थ-परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। इन दो अर्थों में प्रायः देखा जाता है कि तत्सम शब्द तो कुछ प्राचीन या उच्च अर्थ रखते हैं, पर तद्भव शब्द कुछ हीन या नया अर्थ।

स्तन और थन एक ही हैं पर दोनों के अर्थ में अब भेद हैं। एक का प्रयोग स्त्री के लिए होता है तथा दूसरे का पशु के लिए। इसी प्रकार स्थान और थान शब्द हैं। स्थान का प्रयोग देवी-देवताओं के लिए होता है और थान का प्रयोग हाथी या घोड़े के लिए। जैसे—'यह ब्रह्म जी का स्थान है।' या 'हाथी का थान यहाँ है।' इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं—

गर्भिणी (स्त्री), गाभिन (गाय-भैंस); ब्राह्मण (शिक्षित ब्राह्मण), बाम्हन (निरक्षर), साधु, साहू; भोज, भोजन; परीक्षक, पारखी, तिलक, टिकुली (स्त्रियों के ललाट पर लगाने की काँच आदि की बिन्दी); सौभाग्य, सोहाग तथा, वार्ता, बात इत्यादि।

अर्थ-विचार के प्रसिद्ध मनीषी ब्रील ने इसे भेद-भाव का नियम (law of differentiation) कहा है। उनका यही कहना है कि सामान्य जनता का मस्तिष्क एक साथ एक ही अर्थ के दो शब्द नहीं ढो सकता। एक शब्द दो विचारों को व्यक्त करे यह ठीक हो सकता है, पर एक विचार के लिए दो शब्द हों, यह व्यर्थ है। साहित्य में एक वस्तु या विचार के लिए कई शब्द चलते हैं, पर उनका बिल्कुल एक ही अर्थ नहीं होता। उनका प्रयोग अपना अलग-अलग महत्त्व रखता है। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में पवन, प्रभंजन, वायु-श्वसन तथा समीर आदि का अन्तर दिखलाया है। खैर इसमें अन्तर हो या न हो, प्रचलित भाषा में एक शब्द के दो रूपों में तो प्रायः अन्तर हो ही जाता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

(१५) शब्दों का अधिक प्रयोग—अधिक प्रयोग से शब्द घिस जाते हैं और उनसे परिचय इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्रीयुत, श्रीमान् या श्री का प्रयोग आरम्भ में काफ़ी सुन्दर तथा सार्थक लगता था, पर अब वे प्रयोग से इतने घिस गये हैं कि निरर्थक-से जान पड़ते हैं, और उनमें औपचारिकता मात्र रह गई है। पुरानी शक्ति अब उनमें तनिक भी नहीं है। बाबू शब्द भी अब पुराना अर्थ (बड़प्पन और जमींदारी की शान) नहीं देता। आफ़िस के सभी क्लर्क और दूकानों पर जाने वाले सभी ग्राहक आज बाबूजी हो गये हैं। अपने देर करने वाले मित्र से भी मज़ाक में लोग कहते हैं 'बाबू जरा जल्दी करो।' इतना ही नहीं संयुक्त प्रान्त के पूर्वी जिलों में तो इसका अर्थ गुंडा या छैला भी लिया जाने लगा है। साम्यवाद, नेता, क्रांति, संस्कृति, कला आदि भी अब उतनी शक्ति नहीं रखते जितनी पहले रखते थे।

विशेषणों और क्रियाविशेषणों में यह बात और भी अधिक घटित है। 'बहुत' शब्द अब कुछ व्यर्थ हो रहा है। उनके स्थान पर अत्यन्त या अतिशय आदि का प्रयोग अधिक जोरदार ज्ञात होता है। अधिक के शिथिल पड़ने पर अत्यधिक, अत्यन्ताधिक या अधिकाधिक के प्रयोग होने लगे हैं।

(१६) किसी राष्ट्र, जाति, संप्रदाय या वर्ग के प्रति सामान्य मनोभाव—किसी जाति, राष्ट्र या जन-समुदाय के प्रति जब जैसी भावना होती है उसकी छाया उनके शब्द के अर्थों पर भी पड़ती है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि अर्थ पूर्णतः उलटा हो जाता है। 'असुर' का पहले हमारे यहाँ देवता अर्थ था। उस समय तक संभवतः ईरान वालों के प्रति हम लोगों के विचार बुरे नहीं थे पर, ज्यों ही विचार बदले हमने उस शब्द का अर्थ 'राक्षस' इसलिए कर लिया कि यह नाम ईरानियों के प्रधान देवता (अहुरमज्दा) का था। यही बात वहाँ भी हुई। हमारे 'देव' शब्द का अर्थ उन लोगों ने अपने यहाँ अदेव या राक्षस कर लिया।

साम्प्रदायिक दंगों तथा पाकिस्तान के बंटवारे के समय मुसलमान शब्द का अर्थ यहाँ कुछ गिर गया था। 'हिन्दू' शब्द की यही दशा पाकिस्तान में अब भी है। सनातनी हिन्दुओं में 'ईसाई' के अर्थ की भी यही दशा है। फ़ारसी में हिन्दू का अर्थ बहुत पहले से 'ग़ुलाम', 'क़ाफ़िर' और 'नापाक' आदि है।

अनार्यों के कुछ शब्दों का अर्थ भी आर्यों ने घृणा के कारण गिरे अर्थ में अपने यहाँ रखा। आर्येतर परिवार का 'पिल्ला' शब्द मूलतः लड़का या किशोर (किसी भी जीव का) का समानार्थी है, पर आर्यों ने उसे कुत्ते के बच्चों के लिए प्रयोग करना आरम्भ किया। आज भी लगभग सभी भाषाओं में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आर्यसमाजियों का सनातनधर्मियों के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। वे उन्हें धर्म की दुर्दशा करने वाले तथा ढोंगी मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्य-

समाजियों के मस्तिष्क में व्रत, कथा, श्राद्ध, माला, मूर्ति आदि का वह उच्च अर्थ नहीं है जो सनातनधर्मियों में है। कुछ त्यौहारों के विषय में शिया और सुन्नी मुसलमानों में भी यही अन्तर है, जिसके कारण उनसे सम्बन्धित शब्दों के अर्थ पर भी प्रभाव पड़ा है।

जब से श्रेणी-संघर्ष (class struggle) का सिद्धान्त समाज के लिए आवश्यक समझा गया है। फ्रेंच शब्द बुरजुआ; हिन्दी पूँजीवादी, सामंत, राजा, जमींदार, तालुकेदार, इलाकेदार, आदि का अर्थ कितना नीचे गिर गया है?

स्वयं 'कांग्रेस' शब्द में जो उच्चता, पवित्रता, स्वार्थ-त्याग और बलिदान आदि की भावना थी, आज समाजवादियों और कम्यूनिस्टों के प्रभाव एवं कांग्रेसियों के पतन के कारण बिल्कुल नहीं रह गई है। सम्भव है, आगे यह शब्द और भी गिरे।

(१७) एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन—शब्द अधिकतर वर्गों में रहते हैं। यदि वर्ग में किसी एक भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव शेष शब्दों के अर्थ पर भी पड़ता है। वर्ग कई प्रकार के होते हैं। यहाँ कुछ प्रधान वर्गों पर विचार किया जा सकता है।

एक धातु से बनने वाले सारे शब्द व्याकरण की दृष्टि से एक वर्ग के हैं। उनमें एक में परिवर्तन उपस्थित होते ही अन्य पर प्रभाव पड़ जाता है। यदि 'करना' का प्रयोग आज बुरे कार्यों के लिए ही किसी प्रकार सीमित हो जाय तो कराना, करवाना, किया, करवाया, आदि के अर्थ पर भी उसकी छाया अवश्य पड़ेगी। दुर्लभ से दूल्हा शब्द बना और उसका प्रयोग वर के लिए होने लगा। इसका प्रभाव दुर्लभ, दुलही या दुलहिन पर भी पड़ा और अन्तिम दो का प्रयोग वधू के लिए चल पड़ा।

दुहिता का अर्थ 'गाय दुहने वाली' था। बाद में जब इसका अर्थ लड़की हो गया तो इससे बनने वाले दौहित्र, दौहित्री, दौहित्रायण आदि शब्दों का अर्थ भी उसी के अनुसार परिवर्तित हो गया।

कुछ शब्दों के वर्ग, प्रयोग या संदर्भ के साथ के आधार पर भी होते हैं। अहिंसा, सत्य, कांग्रेस, आदि एक वर्ग के शब्द हैं। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, जप-तप, ईश्वर-आत्मा आदि भी एक वर्ग के शब्द हैं। इधर धर्म के प्रति अनास्था के कारण उसकी पवित्रता अधिक लोगों के मस्तिष्क से निकल गई है। इसका प्रभाव पूजा, जप, माला, भजन, तीर्थ, कथा तथा व्रत आदि पर इतना पड़ा है कि ये सभी प्रायः ढोंग समझे जाने लगे हैं।

शब्दों के अर्थ की समीपता के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं। उनमें भी उपर्युक्त बातें पाई जायेंगी।

(१८) अनजाने साहचर्य आदि के कारण नवीन अर्थ का प्रवेश—ऐसी दशा में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी या समुद्र था। आर्यों ने सिन्धु नदी को भारत में आने पर सिंध कहा। कुछ दिन में नदी के आसपास की भूमि

भी सिंधु कही जाने लगी। सिन्धु से सैंधव शब्द बना जिसका अर्थ है, 'सिंधु का' या 'सिंधु देश में होने वाला।' उस समय सिंधु देश की प्रधान वस्तु 'घोड़ा' और 'नमक' होने के कारण, सैंधव का प्रयोग इन दोनों के लिए होने लगा। उधर बाद में सिंधु के निवासियों को भी सिंधु कहा जाने लगा। जिसका फ़ारसी रूप हिन्दु या हिन्दू हो गया। इस प्रकार अनजाने धीरे-धीरे सिन्धु शब्द का अर्थ जड़ से चेतन हो गया।

'पत्र' शब्द का प्रयोग अब पत्र पर लिखे विचारों या शब्दों के लिए भी होने लगा है। 'पत्र में अशुद्धियाँ बहुत हैं' का अर्थ कागज की अशुद्धियाँ न होकर शब्द या वाक्य की अशुद्धियाँ हैं। 'पत्र रुला देने वाला है' में पत्र का अर्थ विचार है। आज ये अर्थ प्रधान तो नहीं हैं, पर विकसित हो गये हैं। संभव है कि आगे प्रधान भी हो जायँ और अर्थ-परिवर्तन और भी स्पष्ट हो जाए।

सुर्ती, चीनी, मिस्री और मोरस के अर्थों में भी इसी प्रकार परिवर्तन हो गया है।

(१६) किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य—एक विशेषता के प्राधान्य के कारण, वही, उस वस्तु या वर्ग आदि का प्रतीक समझी जाने लगती है। इसमें अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच दोनों ही होता है। कम्युनिस्टों की प्रधान निशानी 'लाल झण्डा' है, अतः वे चारों ओर इस नाम से भी प्रसिद्ध हैं। देहात में तो इन्हें जैसे 'लाल झण्डा' की ही संज्ञा दे दी गई है। 'लाल झण्डा की सभा है' का अर्थ है 'कम्युनिस्टों की सभा है।' यहाँ लाल झण्डा के अर्थ का विस्तार हो गया है। वह अब कम्युनिस्टों के पूरे समूह का अर्थ रखता है। इसी प्रकार 'गांधी टोपी' का अर्थ कांग्रेस से लिया जाता रहा है। लाल पगड़ी का प्रयोग पुलिस के लिए बहुत पहले से चल रहा है। 'सफेद पगड़ी' पारसी पुरोहित का प्रतीक है।

इन सब में अर्थ-विस्तार हो गया है, जिसका कारण है किसी एक विशेषता का प्राधान्य।

इसी कारण अर्थ-संकोच के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। गैस को साधारणतः एक प्रकार का हलका ईंधन समझा जाता है, अतः गैस शब्द सर्वसाधारण के लिए केवल उसी का बोध कराता है। पर ऐसी भी गैसें हैं जो जलाने के काम नहीं आतीं। यहाँ गैस की एक विशेषता सर्वविदित होने के कारण उसके विस्तृत अर्थ में संकोच हो गया है।

फूल प्रायः सुन्दर, कोमल और सुगंधित होते हैं। अतः सर्वसाधारण में फूल नाम से इन्हीं तीनों गुणों का भाव जाग्रत होता है। यों संसार में ऐसे फूलों[1] की भी कमी नहीं है, जो बदसूरत और दुर्गन्धपूर्ण होते हैं। पर फूल नाम या शब्द में उनके गुणों या दुर्गुणों को स्थान नहीं है। यहाँ फूल में अर्थ-संकोच है।

---

१. करियारी के फूल की गंध बड़ी बुरी होती है। घृतकुमारी का फूल तो और भी बुरा महँकता है।

(२०) व्यंग्य—व्यंग्य के शब्दों में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है और फिर वे उसी नए अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। हर भाषा में इसके उदाहरण काफी बड़ी संख्या में मिलते हैं। नीचे के उदाहरणों में प्रायः सभी का शाब्दिक अर्थ बुद्धिमान है, पर व्यंग्य के कारण प्रचलन में वे मूर्ख के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'तीन हाथ की बुद्धि वाले', 'अक्ल के खजाना', 'अक्ल की पुड़िया', तथा 'अक्ल की मोटरी' आदि। भोजपुरी में 'अक्किल के समुन्दर' 'बुद्धि का पूर' 'दिमाग का दोहरा' तथा 'ढेर चल्हाँक' आदि भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी 'पूरे पंडित' या 'पूरे देवता' गुजराती 'दोढ़ चतुर' (चतुर का डेढ़ा) आदि अन्य उदाहरण हैं।

इसी प्रकार 'पूरे युधिष्ठिर के अवतार' का अर्थ असत्यवादी, 'भाग्य के सबसे बड़े साथी' का अर्थ अभागा, लक्ष्मी के पति' का अर्थ दीन और 'धर्मावतार' का अर्थ अधर्मी, बुरा आदि लिया जाता है। गंदे आदमी को 'सफाई का अवतार' कहते हैं, और भद्दे आदमी को 'कामदेव का भाई'। बड़ी जल्दी आ गए (देर से), कैसे रास्ता भूल पड़े (आए), बड़े परिश्रमी हो (तनक भी नहीं), आदि भी व्यंग्य के कारण विपरीतार्थी हो जाते हैं।

इस प्रकार अच्छे गुणों के व्यंग्य-प्रयोग द्वारा हम विपरीतार्थ या दुर्गुणों को प्रकट करते हैं और दुर्गुण द्वारा गुण को कभी-कभी अपने साथी को बहुत साफ़ कपड़े पहने देखकर हम कह उठते हैं, "कहो भाई आजकाल धोबी तुम्हें नहीं मिल रहा है क्या ?" भोजपुरी में किसी आदमी को दिन पर दिन अधिक स्वस्थ होते देख हम लोग कह उठते हैं, 'दुनियाँ भर के दुबराई तोहरे इहाँ आइल वा का हो ?'

स्वास्थ्य, भोजन, धन, बुद्धि, सौंदर्य, गुण तथा दशा आदि के विषय में ही ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं।

(२१) भावावेश—भावावेश में बहुत से शब्दों के विषय में हम असावधान हो जाते हैं और बहुधा बढ़ा-चढ़ाकर या विचित्र अर्थ में प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो इसके उदाहरण भी व्यंग्य से मिलते-जुलते और यथार्थतः एक प्रकार के व्यंग्य ही दिखाई पड़ते हैं। जब पिता प्रेम के आवेश में अपने लड़के को 'अरे तू तो बड़ा पाजी है।' कहता है तो पाजी का अर्थ वहाँ बुरा न होकर केवल प्यार होता है। इसी प्रकार लोग प्रेम में शैतान, नालायक, बेहूदा तथा गदहा आदि का प्रयोग करते हैं। आजकल के मित्र लोग प्रेम के आवेश में एक दूसरे को 'साले' ही नहीं, जाने और क्या-क्या भी कह जाते हैं। कभी-कभी तो यह कहना (जैसे कहो बेटा !) इतनी बड़ी गाली होती है कि कहने के पीछे यदि प्यार या समीपता की एक चादर न रहे तो खून की नदी बह जाय !

क्रोध के भावावेश में भी लोग इतने पागल हो उठते हैं कि शब्दों का विचित्र प्रयोग कर देते हैं। उसमें भी अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'अच्छा बच्चू फिर आना तो पता चलेगा' में 'बच्चू' शब्द प्यार में लिपटा हुआ 'बच्चा' शब्द का वाचक

नहीं है। वहाँ बच्चू केवल इतना बतला रहा है कि क्रोध करने वाला क्रोध में अपने विपक्षी को नाचीज समझ रहा है। इसी प्रकार करुणा और घृणा के आवेश में भी शब्दों का अर्थ विचित्र हो जाता है। 'राम-राम' ऐसे पवित्र शब्द का अर्थ घृणा के भावावेश के कारण 'छि:-छि:' हो गया है। दूसरी ओर किसी दु:खी आदमी के मुँह से निकलता 'राम' शब्द जैसे करुणा का प्रतीक और रुला देने वाला है।

कुछ लोग, विशेषत: कलाकार बड़े भावुक होते हैं और किसी चीज का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। इसी से यह होता है कि पढ़नेवाला अतिशयोक्ति को निकाल कर समझता है और इस प्रकार शब्दों के अर्थ धूमिल पड़ जाते हैं।

कुछ जातियाँ अन्यों से अधिक भावप्रवण होती हैं; इस कारण उनके यहाँ के जोरदार शब्दों का अर्थ अन्य शब्दों से कम शक्तिमान् हो जाता है, क्योंकि वे भाव-प्रवणता में सर्वदा उसे इधर-उधर खींचते रहते हैं। फ्रेंच और बँगला में यह बात विशेष पाई जाती है। इस प्रकार भाव-प्रवणता के कारण कुछ भाषाओं के कुछ शब्दों के अर्थ बड़ी शीघ्रता के साथ परिवर्तित होते हैं।

इसके कारण घटित अर्थ-परिवर्तन ऊपर से तो क्षणिक दिखाई पड़ता है, किंतु यथार्थत: इसका प्रभाव स्थायी होता है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों का अर्थ कुछ नरम पड़ जाता है और उसके स्थान पर फिर नये शब्द आते हैं, फिर आगे चलकर उनकी भी यही दशा होती है।

(२२) **व्यक्तिगत योग्यता**—व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दों को एक ही संदर्भ में नहीं समझता। चोर ने 'अच्छा' शब्द चोरी के प्रसंग में यदि सीखा हो तो उसके मस्तिष्क में अच्छा का अर्थ वही नहीं होगा जो एक साधु के मस्तिष्क में। सच तो यह है कि प्रतिदिन के काम में आने वाली स्थूल वस्तुओं के नामों को छोड़कर किसी भी शब्द का अर्थ दो मस्तिष्क में बिल्कुल एक ही नहीं रहता। एक सुयोग्य दार्शनिक के लिए 'ब्रह्म' शब्द कुछ और है, एक साधारण पढ़े-लिखे के लिए और है, और एक देहाती के लिए तो रुष्ट होकर आत्म-हत्या करने वाला ब्राह्मण की समाधि या 'चउर' मात्र ही ब्रह्म है।

टकर ने ठीक ही कहा है कि शब्द तो एक प्रकार का सिक्का है, पर ऐसा सिक्का जिसका मूल्य निश्चित नहीं। बोलने वाला उसे दो रुपये का समझ सकता है और सुनने वाला अपनी योग्यतानुसार उसे तीन या एक रुपये का समझ सकता है। सूक्ष्म विचारों तथा नैतिक भावनाओं के शब्दों के विषय में यह और अधिक सत्य है। धर्म, ईश्वर, पाप, पुण्य, अच्छा-बुरा आदि शब्द उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं। इस प्रकार के शब्दों में अस्थायी रूप से आर्थिक उतार-चढ़ाव व्यक्तिगत स्तर पर आते रहते हैं।

(२३) **शब्दों में अर्थ का अनिश्चय**—ऊपर के कारण से यह मिलता-जुलता कारण है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका निश्चित अर्थ होता ही नहीं। अहिंसा शब्द को हम लें। इसका एक ओर तो केवल यह अर्थ है कि किसी को जान से न मारना

चाहिए, पर दूसरी ओर जीना भी हिंसा है, क्योंकि साँस के द्वारा या पैर से कुचलकर प्रायः हमसे जाने कितने जीव मरते रहते हैं। इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त ऐसी बात कहना भी हिंसा है, जिससे किसी का जी दुखे। और शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो संसार में सबको अच्छी लगे। तो यहाँ सर्वदा मौन रहना भी अहिंसा पर चलने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा शब्द का बहुत निश्चित अर्थ नहीं। सत्य और कर्त्तव्य के अर्थ भी इसी तरह अनिश्चित हैं। टकर साहब की ऊपर कही गई बात यहाँ भी लागू होती है। 'व्यक्तिगत योग्यता' तथा 'शब्द के अर्थ का अनिश्चय' इन दोनों कारणों में यथेष्ठ एकता है। अंतर केवल इतना है कि एक व्यक्ति पर जोर देता है कि उसके मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होगा, पर दूसरा शब्द पर ही जोर देता है। दूसरे के अनुसार एक शब्द का अर्थ जितना ही अधिक अनिश्चित होगा, उसमें अर्थ-परिवर्तन का रूप भी उतना अधिक विचित्र होगा। इतना ही नहीं, अपितु अनिश्चित शब्दों में अर्थ-परिवर्तन होने की संभावना निश्चित शब्दों से अधिक होगी।

आर्य, ब्राह्मण, जेन्टिलमैन (gentleman), सेठ, साहू, पाप तथा पुण्य आदि अनेक शब्द लिये जा सकते हैं।

(२४) एक वस्तु का नाम पूरे वर्ग को देना या सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग—वर्ग की किसी एक वस्तु से अधिक परिचित होने पर उसी नाम से हम पूरे वर्ग को पुकारने लगते हैं। इससे उस शब्द में अर्थ-विस्तार हो जाता है। अब 'स्याही' का अर्थ केवल काली स्याही न रहकर सभी रंग (लाल, हरी, नीली आदि) की स्याही हो गया है, यद्यपि यह शब्द 'स्याह' से बना है जिसका अर्थ काला है। पहले केवल काली स्याही थी, अतः स्याही कहा गया। बाद में और रंग की भी स्याहियों का प्रचलन हुआ, पर अधिक परिचित होने से वही नाम चलता है। हिंदी का 'साग' (शाक) शब्द पहले केवल उन हरे पत्तों के लिए प्रयुक्त था जिनकी तरकारी बनती थी पर अब साग का अर्थ तरकारी हो गया है। 'सब्जी' शब्द सब्ज से बना है, जिसका अर्थ 'हरा' है। इसका भी प्रयोग पहले केवल शाक के लिए होता था, पर अब आलू (भूरा), सीताफल या कोंहड़ा (पीला), प्याज (सफेद या लाल) और टमाटर (लाल) भी सब्जी कहे जाते हैं। 'मुझे कुछ पैसे चाहिए' में 'पैसे' अर्थ पैसा न होकर धन है। कुछ जानवरों या कीड़ों के लिए हम एक ही लिंग का नाम प्रयुक्त करते हैं। घोड़ा-हाथी आदि बड़ों में यह प्रयोग अधिक नहीं चलता, पर छोटे जानवरों में तो प्रायः सभी में चलता है। कुत्ता और कुतिया के लिए कुत्ता, गीदड़ और गीदड़िन के लिए गीदड़, लोमड़ी और लोमड़ा के लिए लोमड़ी, तोता-तोती के लिए तोता, मैना-मैनी के लिए मैना इत्यादि। इस एक लिंग का प्रयोग उभयलिंग के लिए होने के कारण उसका अर्थ भी विस्तार पाकर उभयलिंगी हो गया है। रूसी में घोड़ा के लिए बहुप्रचलित शब्द लोशद् स्त्रीलिंग है। वहाँ सामान्यतः घोड़े को भी इसी शब्द से अभिहित करते हैं।

अन्य कई भाषाओं की तरह हिन्दी में सबसे एक विचित्र समस्या खड़ी हो गई है। कुछ जानवर चाहे नर हों या मादा, भाषा में उनका 'नर-प्रयोग' चल रहा है। जैसे नर चींटा हो या मादा दोनों के लिए 'चींटा' का प्रयोग चलता है और सर्वदा पुल्लिग में। इसी प्रकार तोता, कौआ, बाज, बारहसिंहा, गीदड़, तेंदुवा, चीता तथा वनमानुख आदि में हमारी हिन्दी भाषा के अनुसार जैसे केवल नर ही नर होते हैं। दूसरी ओर चींटी, सिघरी, कोयल, लोमड़ी तथा छिपकली में हिन्दी के अनुसार नर का एकान्त अभाव है। इतना ही नहीं। पुकारने की इन विचित्रता के कारण देहात में कुछ लोगों को तो ऐसा भी विश्वास है कि चींटा और चींटी एक ही जाति हैं। अन्तर केवल यह है कि एक नर है और दूसरा मादा। 'तोता-मैना' के प्रसिद्ध किस्से में तोता-मैना के विषय में भी यही धारणा है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि चींटी एक अलग जीव न समझी जाकर चींटा की स्त्री समझी जाती है और इसी प्रकार मैना तोते की स्त्री मानी जाती है।

(२५) आलंकारिक अथवा लाक्षणिक प्रयोग—बातचीत, या किसी चीज के वर्णन में वक्ता या लेखक का यही प्रयास रहता है कि वह कम से कम शब्दों में अपने को अधिक से अधिक स्पष्ट एवं सुन्दर रूप में कर सके। ऐसा करने के लिए अलंकारों (उपमा, रूपक आदि) या लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में तो ये प्रयोग आलंकारिक या लाक्षणिक रहते हैं, पर कुछ दिनों में अलंकार या लक्षणा का ध्यान किसी को नहीं रहता और उस नवीन अर्थ में शब्द का प्रयोग चल पड़ता है। 'तुम गदहे हो' में गदहे का सीधा अर्थ 'मूर्ख' है। गदहे की तरह मूर्ख नहीं जो प्रारम्भिक प्रयोग में रहा होगा। अलंकार अधिकतर सादृश्य पर आधारित रहता है। परिचित रूपों या वस्तुओं के द्वारा हम अपरिचित के विषय में बतलाना चाहते हैं।

सूक्ष्म वस्तुओं या व्यापारों का साधारण शब्दों में प्रकटीकरण आसान नहीं है। अतः उनके लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप गहरी बात, निर्जीव भाषा, सजीव चित्रण, मधुर संगीत, मीठे बोल, रूखी हँसी, कटु अनुभव, सरस बात, कठिनाई पार करना, दुःख काटना तथा आपत्तियों से घिर जाना आदि को ले सकते हैं। आज बिना ध्यानपूर्वक विचार किये इनके अलंकारों का पता नहीं चलता, जिसका एक मात्र कारण है अर्थ-परिवर्तन।

कभी-कभी स्थूल या प्रत्यक्ष वस्तुओं या उनके अवयवों के चित्र को स्पष्ट करने के लिए हम अपने अवयवों के आधार पर अलंकार बना डालते हैं। सुराही या घड़े की गर्दन, चने की नाक, सुई का मुँह, लोटे का मुँह, आरी के दाँत, नारियल की जटा, ईख की आँख, सितार या सारंगी के कान, छंद के चरण, कुर्सी के पैर, पेड़ का धड़, घड़ी के हाथ, नदी का पेट तथा कागज की पीठ आदि उदाहरण लिए जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ इन नामों का ठीक वही अर्थ नहीं है, जो मनुष्य के साथ होता है।

मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें पशुओं, जातियों तथा बेजान वस्तुओं के सहारे अलंकार बनाना पड़ता है। ये प्रयोग भी इतने प्रचलित हैं कि साधारणतया अलंकार नहीं समझे जाते। अपने आलंकारिक अर्थ में ये प्रतीक रूढ़ हो चुके हैं। उदाहरणस्वरूप पत्थर (कड़े हृदय का), पानी (नरम दिल), बिना पेंदी का लोटा (जिसका कुछ निश्चय न हो), काँटा (क्रूर), गदहा (मूर्ख), उल्लू (मूर्ख या दिन के लिए अन्धा), भैंस (बेवकूफ़), बैल (मूर्ख), गाय (सज्जन और सीधा), शेर (बहादुर), गीदड़ (कायर), सियार (होशियार और छली), कौआ (चालाक), कालानाग (जिसके काटने से लहर तक नहीं आती और मृत्यु हो जाती है, अतः खतरनाक); बनिया (कंजूस) कसाई (क्रूर), चमार (गन्दा), क्रिस्तान (भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान न रखनेवाला) तथा अहिर या जाट (उजड्ड) आदि लिए जा सकते हैं। बोलचाल की भाषा के तो जैसे ये प्राण हैं। आलंकारिक प्रयोग में ये शब्द अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं। ब्रील का कहना है कि अन्य सभी कारणों से शब्दों में अर्थ-परिवर्तन शनैः-शनैः होता है, किन्तु अलंकारों के कारण एक क्षण में (on the spur of the moment) हो जाता है। अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन लगभग सभी दिशाओं में होते हैं। इसके अन्तर्गत काव्यशास्त्र के सभी अलंकार लिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ और उदाहरण देकर विषय को समाप्त किया जा सकता है। काला दिल, अन्धा कुआँ, नदी की गोद, पतंग की पूँछ, मधुर गीत, मधुर गन्ध, ठोस कार्य, खोखला आदमी, टेढ़ी बात, पहाड़ की चोटी, कड़ई बात, आरी के दाँत, बन्दूक का घोड़ा, कलम की जीभ, लकड़ी का हीर कविता की आत्मा, कुर्सी के हाथ, चारपाई के पैर, नदी की शाखा, पहाड़ की जड़ तथा फिटकिरी के फूल आदि।

इन समतामूलक अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ अलंकार है। 'आजकल रोटी (खाना) मिलना आसान नहीं है।' 'प्रसाद को (प्रसाद की कृतियों को) पढ़ रहा हूँ।' तथा 'आप गांधी (गांधी जी जैसे महान्) नहीं हैं।' उदाहरण पर्याप्त होंगे। ऊपर के कुछ अन्य कारण भी अलंकार के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, पर यहां स्पष्टता के विचार से उन्हें अलग रखा गया है।[1]

(२५) दूसरी भाषा का प्रभाव—कभी-कभी दूसरी भाषा के प्रभाव से भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। इस प्रकार का अच्छा उदाहरण इस सदी में लिखे गए संस्कृत के ग्रंथों में मिल जाता है, जिनमें समारोह (संस्कृत अर्थ चढ़ना या किसी बात पर सहमत होना), समाचार (संस्कृत अर्थ ख्याति, बिखरना आदि) अनेक शब्दों का प्रयोग

---

१. इन्हें उपचार (metaphor) भी कहा गया है। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय भाषा के विकास में इसके महत्व का संकेत किया जा चुका है। इसे लक्षणा या लाक्षणिक प्रयोग भी कह सकते है। इसमें समता के आधार पर एक शब्द का दूसरे के लिए प्रयोग (कुर्सी के पैर) तथा लेखक का उसकी सारी कृति के लिए प्रयोग (आजकल पेमचन्द पढ रहा हूँ) आदि हैं।

संस्कृत में प्राप्त अर्थों में न होकर हिन्दी अर्थों में हुआ है। पंजाबी तथा हरियानी प्रभाव से दिल्ली आदि में हिन्दी में भी 'मच्छर लड़ रहे हैं' का अर्थ 'मच्छर काट रहे हैं' होने लगा है। वस्तुतः पंजाबी प्रभाव से हिन्दी 'लड़ना' में 'काटना' का भी भाव आता जारहा है। दिल्ली में हिन्दी के कॉलिज-प्राध्यापकों के मुँह से भी 'मच्छर लड़ना' 'साँप लड़ना' जैसे प्रयोग 'काटना' के अर्थ में सुनाई पड़ते हैं। पंजाबी साहित्यकारों द्वारा लिखित हिन्दी में 'जलना' के अर्थ में 'सड़ना' (रोटी सड़ गई) भी ऐसे ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार कौरवी तथा हरियानी भाषी लोगों की हिन्दी में मौसा-मौसी (भाई का ससुर भी मौसा कहलाता है तथा भाई की सास मौसी)। हरियानी तथा कुछ क्षेत्रों की व्रजभाषा का व्यक्ति शरारत करके भागते हुए लड़के को संबोधित करके कहेगा—'डट जा अभी आता हूँ।' यहाँ स्पष्ट ही हिन्दी 'डटना' के अर्थ में विस्तार हो गया है। हिन्दी में इसका अर्थ 'जमना' है, पर इन क्षेत्रों में 'रुकना', 'ठहरना' भी। भोजपुरी भाषा की हिन्दी में 'मरम्मत' में 'अच्छे' का भाव आ गया है। मैं स्वयं हिन्दी में 'इन कपड़ों को मरम्मत से रख दो' कहता हूँ। यहाँ 'मरम्मत से' का आशय 'अच्छी तरह' या 'संभल कर' है। इस प्रकार हिन्दी की बोलियों एवं पंजाबी के प्रभाव से अनेक हिन्दी शब्दों के अर्थ में विस्तार होता जा रहा है।

इन उपर्युक्त प्रधान कारणों के अतिरिक्त विशेषण का संज्ञारूप में प्रयोग, संज्ञा का क्रियारूप में प्रयोग आदि अर्थ-परिवर्तन के अनेक और भी कारण हो सकते हैं।

अर्थ-परिवर्तन-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ

(क) अनेकार्थका (Polysemia)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द अपने नवीन अर्थ के धारण करने पर भी पुराने अर्थ को नहीं छोड़ता और ऐसी दशा में कभी-कभी तीन-चार अर्थ एक ही समय में चलते रहते हैं। कभी वह सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो कभी विस्तृत में; और कभी स्थूल में तो कभी सूक्ष्म में। ऊपर हाथ, पैर तथा कान आदि के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं।

'जड़' शब्द का 'पेड़ की जड़', 'रोग की जड़', 'झगड़े की जड़' आदि में आज प्रयोग चल रहा है। इसी प्रकार 'मूल' शब्द भाषाविज्ञान, दर्शनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, गणित तथा अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हो रहा है। 'धातु' और 'योग' की भी यही दशा है। अंग्रेजी का शब्द 'की' (key) या हिन्दी का 'कुंजी' असल में यंत्रशास्त्र से संबद्ध है, पर अब किताब की कुंजी, समस्या की कुंजी आदि प्रयोग भी साथ-साथ चल रहे हैं।

संस्कृत में कुछ अनेकार्थी शब्द तो ऐसे हैं कि इस बात का विश्लेषण आज असम्भव-सा है कि उनका इतने अधिक अर्थों में प्रयोग का प्रचलन कैसे हो गया है। उनके अर्थ-परिवर्तन बिल्कुल असाधारण से हैं। उदाहरण के लिए, हम लोग कुछ ले सकते हैं—

सारंग—बाज, कोयल, मोर, पपीहा, चातक, भ्रमर, खंजन, सूर्य, चंद्रमा

कृष्ण, विष्णु, कामदेव, हाथी, घोड़ा, मृग, साँप तथा पृथ्वी आदि ५० से भी अधिक अर्थ हैं।

हरि—विष्णु, इन्द्र, बन्दर, घोड़ा, सिंह, चन्द्रमा, पानी, साँप तथा अग्नि आदि पचीसों अर्थ हैं।

हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ कूट छन्दों में एक ही पंक्ति में ऐसे शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग भाषा में स्वाभाविक विकास के कारण अवश्य नहीं हैं, पर इनके इतने अधिक अर्थों के होने की समस्या अवश्य ही भाषाविज्ञान के अर्थविज्ञान के अन्तर्गत आती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो इन विभिन्न अर्थों का कुछ सम्बन्ध शब्द की धातु से होगा, या फिर बलात् ही इतने अर्थ शब्द पर लाद दिये गये होंगे। अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं; पर उनके एक दूसरे से इतने असंबद्ध अर्थों की संख्या पचास तक नहीं पहुँचती।

स्पष्टता के लिए जीवित भाषा से कुछ अनेकार्थी शब्दों के प्रचलित प्रयोग लिए जा सकते हैं।

पक्ष

१. पक्षी के पक्ष सुन्दर हैं।
२. चुनाव में कांग्रेस पक्ष की हार हुई।
३. कृष्णपक्ष की रात डरावनी होती है।

घर

१. धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।
२. गाँव में सत्तर घर हैं।
३. मकान में पाँच घर हैं।
४. वह बड़े घर का है।
५. अब तो यह बुराई उसमें घर कर गई है।
६. वह तो झूठ का घर है।

रोटी

१. आजकल रोटी का क्या प्रबन्ध है ?
२. बिना नमक की रोटी पर कौन काम करेगा ?
३. गेहूँ की रोटी।
४. धनिक गरीबों के खून की रोटी खाते हैं।

प्रचलित प्रयोगों में अलंकार का हाथ अधिक है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति ही इतने अर्थों को जन्म देती है, और सम्भवतः इसी कारण वे एक ही समय में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी होते रहते हैं।

(ख) एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द (Doublets)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक मूल से निकले या एक ही शब्द की ध्वनि की दृष्टि से दो भिन्न रूपों का अर्थ भिन्न हो जाता है। ऐसे बहुत से उदाहरण ऊपर अर्थ-परिवर्तन के कारणों के विवेचन में आ चुके हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि मूल या शुद्ध शब्द तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है और विकसित या विकृत शब्द कुछ नीचे या बुरे अर्थ में। जैसे स्थान, थान; गर्भिणी, गाभिन; ब्राह्मण, बाम्हन भोग, भोजन; तथा कर्त्तव्य, करतब आदि।

कुछ शब्दों में अर्थ बहुत दूर चला जाता है। पक्षी का अर्थ चिड़िया है, पर उसी से निकले पंखी शब्द का अर्थ 'हवा करने वाला पंखा' है। क्षीर, खीर, कोण, गोनिया, पर्ण, पान, पन्ना तथा पत्र, पत्रा, पतई, पातर आदि भी ऐसे ही एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द हैं।

(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द (Homonym)[1]

कुछ शब्द ध्वनि की दृष्टि से बिल्कुल एक से रहते हैं, पर उनका मूल भिन्न होता है। इसीलिए अर्थ में बहुत अन्तर रहता है। जब तक वाक्यों में ये प्रयुक्त न रहें, इनके अर्थ के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कुछ ऐसे प्रचलित शब्द उदाहरण के लिए लिये जा सकते हैं :

	संस्कृत	अरबी
आम (फल)	आम्र	आम (साधारण)
सहन (बर्दाश्त)	सहन	सहन (आँगन)
कुल (परिवार)	कुल	कुल (समस्त)

अंग्रेजी में भी hare, hair, I, eye, awl, all, आदि शब्द इसी के उदाहरण हैं।

बौद्धिक नियम (Intellectual Laws of Language)[2]

पीछे देखा जा चुका है कि शब्दों के अर्थ का विकास तीन दिशाओं—विस्तार, संकोच, आदेश में होता है और इन विकासों के पीछे कुछ कारण काम करते हैं। इन कारणों में ब्रील आदि के अनुसार कुछ बुद्धिगत कारण भी होते हैं; अर्थात् हम जान-बूझकर कभी-कभी कुछ परिवर्तन कर देते हैं, या कुछ परिवर्तनों में बुद्धि का भी योग

१. अंग्रेजी में इसे Homophone भी कहते हैं।

२. बौद्धिक नियमों का विवेचन सर्वप्रथम ब्रील ने किया। इसी आधार पर भारत में हेमन्त कुमार सरकार ने इस पर विस्तार से प्रकाश डाला। गुणे ने भी इस विषय को संक्षेप में लिखा है। श्यामसुन्दर दास ने सरकार के आधार पर ही इन्हें हिन्दी जनता के समक्ष रखा। इस अंश के लिखने में इन सभी द्वारा प्रस्तुत सामग्री उपयोगी सिद्ध हुई है। दुःख है कि प्रस्तुत लेखक उनके बहुमूल्य निष्कर्षों से प्रायः सहमत नहीं हो सका है।

रहता है। इस प्रकार के परिवर्तनों (बुद्धि-प्रसूत) के कारणों का विचार कर जो नियम निर्धारित किए गये हैं, उन्हें बुद्धि-नियम या 'बौद्धिक नियम' की संज्ञा दी गई है।

ब्रील ने ही सबसे पहले अर्थ के अध्ययन के सिलसिले में बौद्धिक नियमों की बात उठाई। बाद में वुंट, स्पर्बर, ल्यूमन, कैरोनी, स्टर्न, सरकार आदि विद्वानों ने इस प्रकार के नियमों पर विचार किया, लेकिन वीसजर्बर तथा टकर आदि ने इस प्रकार के नियमों का विरोध किया। इस प्रसंग में विचार करते हुए ग्लासगो विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानविद् डॉ० उलमन ने ब्रील के इन नियमों को असंतोषजनक माना।

नीचे इस तथाकथित बौद्धिक नियम के अंतर्गत परम्परागत रूप से लिये जाने वाले नियम आलोचना के साथ संक्षेप में दिये जा रहे हैं।

(१) विशेषीकरण या विशेष भाव का नियम (Law of Specialization)—इसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई है : किसी एक भाव, रूप या सम्बन्ध आदि को व्यक्त करने के लिए कभी अनेक शब्द या प्रत्यय आदि प्रयुक्त होते हों और फिर धीरे-धीरे उनमें केवल एक-दो शेष रह जायँ तो इसे विशेष भाव का नियम कहते हैं, क्योंकि प्रयोक्ता एक या दो को ही उन सारे के स्थान पर विशेष (special) रूप से प्रयुक्त करने लगता है। इस प्रसंग में ब्रील तथा सरकार आदि ने भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं में प्रयुक्त तुलनासूचक (comparative) और सर्वाधिकतासूचक (superlative) प्रत्ययों को लिया है और वे कहते हैं कि आरम्भ में इस काम के लिए कई प्रत्यय प्रयुक्त होते थे, लेकिन बाद में एक ही प्रत्यय विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा। यदि संस्कृत के उदाहरण लेना चाहें तो कह सकते हैं कि पहले तुलनासूचक प्रत्यय तरप् (तर—कुशलतर, लघुतर, महत्तर, घनितर) और ईयसुन् (ईयस्—पटु से पटीयस्, घनिन् से घनीयस्, गुरु से गरीयस् तथा प्रिय से प्रेयस् आदि) दो थे।[1] इसी प्रकार सर्वाधिकता-सूचक प्रत्यय भी तमप् (तम—कुशलतम, लघुतम, महत्तम, घनितम) और इष्ठन् (इष्ठ—पटिष्ठ, घनिष्ठ, गरिष्ठ, प्रेष्ठ) दो थे।[2] बाद में 'तर' और 'तम' का प्रचलन कम हो गया और 'ईयस्' और 'इष्ठ' ही अधिक प्रयुक्त होने लगे। यहाँ दो बातें कही जा सकती हैं—(१) इस प्रकार बहुत के स्थान पर एक या कम का प्रयोग विशेष भाव या विशेषीकरण का नियम तो कहा जा सकता है, किन्तु क्या सचमुच इसका अर्थ से विशेष सम्बन्ध है जैसा कि अनेक विद्वानों के अर्थविज्ञान के अध्याय के सिलसिले में इस पर विचार करने से प्रकट होता है। सच पूछिये तो यदि इस प्रकार के कुछ शब्दों या प्रत्ययों का प्रयोग पूर्णतः बन्द हो जाय तो उसे प्रत्यय या शब्द का लोप कहा जा सकता है, इसी प्रकार यदि प्रयोग कम हो जाय तो अल्प प्रयोग तो कहा जा सकता है, किन्तु यह अर्थ-परिवर्तन किसी भी रूप में नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अर्थ के लिए अनेक के स्थान पर कम या एक शब्द (या प्रत्यय) का

---

१. द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (पाणिनि)

२. अतिशायने तमबिष्ठनौ (पाणिनि)

प्रयोग इसमें होता है और इसका अर्थ से इतना ही सम्बन्ध है, जो निश्चय ही नहीं के बराबर है। (२) दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह बौद्धिक नियम है? सच पूछा जाय तो यह प्रवृत्ति सरलता की दृष्टि से, अनेकरूपता से एकरूपता की ओर जाने की है, और इस प्रकार इसे प्रयत्न-लाघव या याद करने में श्रम-लाघव ही कह सकते हैं। धीरे-धीरे सादृश्य (analogy) के कारण यह होता है। इसके घटने में बुद्धि प्रत्यक्षतः कोई काम नहीं करती। हाँ परोक्षतः अवश्य करती है, लेकिन परोक्षतः तो ध्वनि, रूप, वाक्य आदि अन्य में भी काम करती है, तो क्या सभी के नियम बौद्धिक नियम हैं? शायद नहीं। इस प्रकार, इसके लिए बौद्धिक नियम का नाम जितना सार्थक है, उतना ही निरर्थक भी।

विशेष भाव के नियम के दूसरे प्रकार के उदाहरणों के रूप में पुरानी भाषाओं के रूपों की विभक्तियों के स्थान पर कारक-चिह्नों या परसर्गों का प्रयोग माना जाता हैं। उदाहरणार्थ, 'रामस्य' के स्थान पर राम का' अर्थात् '-स्य' विभक्ति के स्थान पर 'का'। इस प्रसंग में कहा जाता है कि ये शब्द अपना अर्थ छोड़कर केवल एक विशेष व्याकरणिक अर्थ देने लगते हैं। अर्थात्, उनका अलग व्यक्तित्व (अर्थयुक्त) समाप्त हो जाता है। सच पूछा जाय तो अर्थादेश के अन्य उदाहरणों से तात्विक दृष्टि से इस वर्ग के उदाहरणों की स्थिति बहुत भिन्न नहीं है, साथ ही जान-बूझकर या बुद्धि के प्रयत्न से इनका प्रयोग भले हो, अर्थ का यह परिवर्तन (या व्यक्तित्व खोकर functional word बन जाना) बौद्धिक प्रयास से उत्पन्न न होकर बहुत सहज है। ऐसी स्थिति में इसे भी बौद्धिक नियम के अन्तर्गत मानना सार्थक नहीं कहा जा सकता।

बौद्धिक नियम के रूप में तो नहीं, किन्तु यों अर्थविज्ञान और अर्थ-परिवर्तन के अन्तर्गत ऐसे शब्दों का अर्थ-विकास 'विशेष भाव का नियम' माना जा सकता है, जहाँ एक शब्द पहले सामान्य अर्थ रखता था, और बाद में विशेष अर्थ रखने लगा। उदाहरणार्थ, द्रविड़ शब्द 'पिल्ला' का प्राचीन अर्थ था सामान्य रूप से 'बच्चा' या 'शावक', किन्तु हिन्दी आदि में वह अपनी सामान्यता खोकर विशेष अर्थ (कुत्ते का बच्चा) रखने लगा। कहना न होगा कि अर्थ-संकोच के सभी उदाहरण इसी श्रेणी के हैं।

(२) अर्थोद्योतन या उद्योतन का नियम (Law of Irtradiation)—उद्योतन (या irradiation) का अर्थ है 'चमकना'। जब शब्द में एक नया अर्थ चमक जाता तो उसे इस नियम में रखते हैं। इसके अन्तर्गत कई प्रकार की अर्थ-विकास की प्रवृत्तियाँ ली जाती हैं: (१) कभी-कभी देखा जाता है कि कोई प्रत्यय किसी अच्छे अर्थ में सम्बद्ध हो जाता है, (२) और कभी इसके उल्टे किसी बुरे अर्थ से। (३) कभी-कभी अच्छा या बुरा आदि न होकर कोई नया अर्थ ही उससे संबद्ध हो जाता है। (४) कभी-कभी सादृश्य के आधार पर एक शब्द के समानान्तर बहुत से शब्द बन जाते हैं, और फिर उन सबके आधार पर मूल शब्द की प्रकृति का कोई अंश ही प्रत्यय मान लिया जाता

है, और इस प्रकार उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। (५) इसी प्रकार कभी-कभी पूरी प्रकृति प्रत्यय बन जाती है। ये सारे विकास अर्थोद्योतन के हैं।

कुछ प्रत्ययों के उदाहरण लिये जा सकते हैं। जर्मन प्रत्यय—hard का विकसित रूप—ard के रूप में फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी में प्रयुक्त होता है। मूलतः इसका अर्थ खराब नहीं था। अंग्रेजी में भी standard या placard में इसका अर्थ बुरा नहीं है। लेकिन संयोग से इसका प्रयोग बुरे शब्दों के साथ विशेष हुआ, अतः अब यह बुरे अर्थ का ही प्रत्यय माना जाता है, जैसे dullard, coward, sluggard, drunkard या bastard आदि में।—ish की भी यही दशा है। आरम्भ में यह विशेषण बनाने का सामान्य प्रत्यय था, जैसे पुरानी अंग्रेजी में folcish (=popular) या English, Danish, British। बाद में रंगों को हलका रूप देने के लिये इसका प्रयोग होने लगा जैसे reddish, brownish, whitish। अब इसका प्रयोग बुरे अर्थों के प्रत्यय के रूप में अधिक प्रचलित है जैसे hellish, devilish, knavish, fiendish, foolish, thievish, childish, boyish, girlish, foppish तथा swinish आदि। हिन्दी का '-हा' प्रत्यय पहले सामान्य अर्थ देता था, जैसे बड़रहा, मरकहा, या मरखहा, कटहा, स्कुलिहा, पुरविहा, पछवँहा, उतरहा, किन्तु अब इसका प्रयोग घमंड के अर्थ में विशेष हो रहा है। 'रुपयहा' का अर्थ केवल 'रुपये वाला' नहीं है, अपितु है 'जिसे अपने रुपये का घमंड हो'। मोटरहा, सवँगहा, कुर्सिहा, किताबहा भी ऐसे ही हैं। 'देहात' में 'ई' लगा कर 'देहाती' शब्द बना। गलती से किसी ने इसमें 'ई' के स्थान पर 'आती' को प्रत्यय समझ लिया और इसे जोड़कर 'शहर' से 'शहराती' कर डाला। 'शहराती' शब्द कुछ क्षेत्रों में अब भी प्रयोग में हैं। 'पश्चात्' से बने शब्द 'पाश्चात्य' में 'आत्य' प्रत्यय समझा गया और इसी आधार पर लोगों ने दाक्षिणात्य और पौर्वात्य शब्द चला दिये हैं। अंग्रेजी में ग्रीक और लैटिन से आया—ic प्रत्यय है; civic, linguistic आदि में। इस तरह के ऐसे शब्द पर्याप्त हैं जिनके अंत में ic के पूर्व t भी होता है (जैसे rustic, cosmetic, acoustic आदि)। दोनों को मिलाकर लोगों ने 'टिक' प्रत्यय समझ लिया और बलिया में बना डाला 'बलियाटिक'। यह शब्द लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस में अब भी मूर्ख के अर्थ में चलता है।[1] इसी प्रकार Asiatic भी।

सच पूछा जाय तो किसी भी शब्द में नये अर्थ की चमक आ जाना उद्योतन हुआ, इसे केवल प्रत्यय तक सीमित रखना उचित नहीं जान पड़ता, जैसा कि प्रायः भाषाविज्ञान के आचार्यों ने किया है। साथ अन्य नियमों की भाँति इसे भी बौद्धिक नियम कहना बहुत उचित नहीं लगता, क्योंकि यह उद्योतन प्रायः आ जाता है, लाया नहीं जाता।

(३) विभक्तियों के अवशेष का नियम (Law of Survival of Inflections)—संयोगात्मक भाषा में विकास होते-होते ऐसी स्थिति आ जाती है कि ध्वनि-लोप के

१. आगे आने वाले भ्रम के नियम से इस नियम का साम्य है। यहाँ भी नये अर्थ किसी न किसी प्रकार के भ्रम के कारण ही आये हैं।

कारण विभक्तियों का लोप हो जाता है और उस विभक्ति के भाव को व्यक्त करने के लिये अलग से शब्द जोड़े जाने लगते हैं। संस्कृत की कारक-विभक्तियाँ इसी प्रकार समाप्त हो गईं और उनके स्थान पर कारक-चिह्न या परसर्गों का प्रयोग हिन्दी आदि में चलने लगा, लेकिन अब भी कुछ पुराने रूप चल रहे हैं, जैसे कृपया, हठात्, दैवात् आदि। यही विभक्तियों के अवशेष का नियम है। डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि ने अर्थ-विज्ञान के अध्याय में इसे स्थान तो दिया है किंतु यह स्पष्ट नहीं किया है कि अर्थ-विज्ञान से इसका क्या सम्बन्ध है। सामान्यतः यह मात्र रूप-विचार से संबद्ध लगता है, क्योंकि कुछ विशेष स्थितियों में पुराने रूप बच रहे हैं। ऐसी स्थिति में बिना अर्थविज्ञान से इसका सम्बन्ध बतलाये, इसे भाषाविज्ञान की इस शाखा में रखने का कोई अर्थ नहीं है। यों इस तरह के उदाहरणों का सम्बन्ध अर्थ-परिवर्तन से न हो, ऐसी बात नहीं है। समय बीतने के साथ ऐसे शब्द के बारे में लोग यह भूलते जाते हैं कि इसमें कारक विशेष की विभक्ति है और एक अव्यय के रूप में उस पूरे (प्रकृति + विभक्ति) का प्रयोग ही चलने लगता है। आज कृपया को 'कृपा' के करण कारक के रूप में हम नहीं लेते, अपितु 'कृपा करके' के अर्थ में उसे एक शब्द के रूप में लेते हैं। इस प्रकार उसके अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जाता है। अर्थ-परिवर्तन से कुछ संबद्ध होने पर भी पीछे अन्य के बारे में बताये गये कारणों के कारण ही इसे भी 'बौद्धिक नियम' संज्ञा का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

ऊपर हमने जो उदाहरण लिए, उनमें विभक्ति के साथ मूल भी सुरक्षित है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ केवल विभक्ति सुरक्षित है। भोजपुरी रूप 'घरे', 'दुवारे' में सप्तमी –ए स्पष्ट है। किंतु इनका सम्बन्ध अर्थविज्ञान से उस रूप में सम्भवतः नहीं है। इसी प्रसंग में दो-तीन अन्य प्रकार के उदाहरण भी डॉ० दास आदि ने दिए हैं, किंतु वे भी अर्थ के अध्ययन से सुसंबद्ध नहीं माने जा सकते।

(४) भ्रम या मिथ्या प्रतीति का नियम (Law of False Perception)—कभी-कभी किसी शब्द के रूप के कारण हम उसे और का और समझ लेते हैं और फलतः उसके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। यही मिथ्या प्रतीति का नियम है। 'असुर' हमारा पुराना शब्द है। इसका अर्थ था 'देवता' हमारे 'असुरोमेधास्' ही पारसियों के देवता अहुरमज्दा (ahuro mazda) थे। आर्यों और पारसियों के संघर्ष के बाद हमारे यहाँ 'असुर' का अर्थ 'राक्षस' हो गया। 'अ' नकारात्मक उपसर्ग पहले से था। असुर के 'अ' को वही समझा गया, और फल यह हुआ कि 'सुर' का अर्थ देवता मान लिया गया, और 'असुर' का अर्थ 'जो देवता न हो'। इस प्रकार 'असुर' के 'अ' और 'सुर' जो पहले अलग-अलग निरर्थक-से थे, अब सार्थक हो गये। संस्कृत के बहुत से शब्दों में प्रकृति, प्रत्यय का ज्ञान न होने से हमने उन्हें सामान्य समझ लिया, इस प्रकार उनका भी अर्थ बदल गया। 'श्रेष्ठ' का मूल अर्थ है "सबसे अच्छा" यह 'प्रशस्य' में 'इष्ठन्' जोड़ने से बना है। इसमें प्रत्यय-प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट नहीं था, अतः इसे

मूल शब्द समझ लिया गया। अब प्रयोग चलता है, वह सबसे श्रेष्ठ या श्रेष्ठतम या सर्वश्रेष्ठ है। 'ज्येष्ठ' की भी यही स्थिति है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी भाषाओं की बहुत-सी सुप् या तिङ् विभक्तियाँ मूलतः उस अर्थ की नहीं थीं, जिनमें अब प्रयुक्त होती हैं, अपितु कुछ शब्दों के अन्त के एक से ध्वनि-समूह मात्र थीं। भ्रम से उन्हें उस विशेष कार्य की विभक्ति मान लिया गया और प्रयोग चल पड़ा। इस प्रकार उनमें स्वतन्त्र रूप से नये अर्थ आ गए।

भ्रम के कारण कभी-कभी दुहरे प्रयोग भी चल पड़ते हैं। इसके कारण भी अर्थ प्रभावित होता है। परन्तु फिर भी (एक का प्रयोग होना चाहिए), लेकिन फिर भी (एक का प्रयोग), दर असल में (में और दर एक अर्थ रखते हैं), दरहकीकत में, गुलाब जल (जल-आब एक हैं), काबुलीवाला (ई-वाला एक है), गुलरोगन का तेल (रोगन=तेल), गुलमेंहदी का फूल (गुल=फूल), हिमाचल पर्वत (अचल-पर्वत), विन्ध्याचल पर्वत, मलयगिरि पर्वत आदि इसके उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

यह नियम अर्थ से पूर्णतया संबद्ध है, साथ ही किसी सीमा तक इसे बौद्धिक नियम भी कहा जा सकता है, यद्यपि इसका प्रारम्भ बुद्धि-भ्रम से है।

(५)भेद, भेदीकरण या भेदभाव का नियम (Law of Differentiation)—पर्याप्त या समानार्थी शब्द जब अपनी आंतरिक अभेदता अर्थात् एकार्थता छोड़ देते हैं और उनके अर्थों में अंतर या भेद हो जाता है तो इस प्रवृत्ति या प्रक्रिया को भेदीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ, डॉक्टर, हकीम और वैद्य यथार्थतः एक ही अर्थ रखते हैं। अंग्रेजी वाले के लिए सभी चिकित्सक डॉक्टर हैं, अरबी वाले के लिए सभी हकीम हैं और संस्कृत वाले के लिए सभी वैद्य हैं, किन्तु अब हिन्दी में वे तीनों पर्याय शब्द भिन्नार्थी हो गये हैं, अर्थात् इनमें भेदभाव हो गया है और डॉक्टर एलोपैथी या होमियोपैथी का है, हकीम यूनानी का है और वैद्य आयुर्वेद का। इनके इस विकास में भेदीकरण के नियम ने काम किया है। ये तीनों शब्द तीन भाषाओं के थे। एकभाषा के शब्दों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। अंग्रेजी में child, tot, mite, imp, brat, calf, kid, colt, cub, urchin आदि एक दर्जन से ऊपर शब्द हैं; जिनका अर्थ 'बच्चा' है। अब इनका प्रयोग एक अर्थ में नहीं होता। child, tot, mite, imp और brat में उम्र या अच्छाई-बुराई आदि की दृष्टि से अन्तर हो गया है तो child, calf, colt, cub, kid आदि विभिन्न जीवों के बच्चों के नाम हो गए हैं। इस प्रकार इनमें भेदीकरण आ गया है। एक तत्सम शब्द से विकसित तद्भव शब्दों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे सं० वत्स से बच्चा (आदमी), बछेड़ा (घोड़ा) और बाछा (गाय), या सं० पत्र से पत्ता (पेड़ या ताश); पत्तर (धातु); पतरी (जे ही पतरी में खायें, वो ही में छेद करें) या पत्तल (पत्ते का बना)।

सच पूछा जाय तो यह भी अर्थ-संकोच है, जो कभी-कभी अर्थादेश रूप में भी दिखाई देता है। विशेष भाव के प्रसंग में अन्त में दिये गये उदाहरणों में इनमें मात्र

अन्तर है कि उसमें एक शब्द में संकोच देखा गया था, यहाँ समानार्थी कई शब्दों में तुलनात्मक दृष्टि से वह देखा जा रहा है।

इस प्रसंग में यह जोड़ देना आवश्यक है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में पर्यायवाची शब्द प्रायः नहीं होते। व्यर्थ में एक भाव के लिए दो शब्दों का भार भाषा बर्दाश्त नहीं कर सकती। बोलचाल की भाषा तो ऐसा बिल्कुल ही नहीं करती, साहित्यिक भाषा में भी विशुद्ध पर्याय अपवादस्वरूप ही शायद कुछ मिलें तो मिलें। कोशों के अर्थ के आधार पर हम प्रायः जिन शब्दों को पर्याय समझते हैं, वे वस्तुतः पर्याय होते नहीं। यह ध्यातव्य है कि शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द के सारे प्रयोगों के स्थान पर यदि दूसरा कोई पर्यायवाची शब्द रखा जाय और अर्थ या उसकी सूक्ष्म छाया में कोई जरा भी भेद न पड़े तब वे दो शब्द पर्याय कहे जायेंगे। ऐसी स्थिति शायद ही कभी मिले। इसीलिए पर्याय का अर्थ 'बिल्कुल समानार्थी' शब्द नहीं है, अपितु 'मिलते-जुलते अर्थों वाले शब्द' हैं।

'जल' और 'पानी' पर्याय समझे जाते हैं। सामान्य दृष्टि से यह ठीक है, लेकिन सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों हर स्थान पर एक दूसरे की जगह नहीं ले सकते। 'जल पी लो' 'पानी पी लो', में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है, लेकिन 'जलपान कर लो' के स्थान पर 'पानीपान कर लो' कभी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वह 'उपवन-उपवन' या 'बगीचा-बगीचा' हो गया भी नहीं कहा जा सकता, जिसका अर्थ यह हुआ कि 'बाग़' के ये सच्चे पर्याय नहीं हैं। यही बात प्रायः सभी तथाकथित पर्यायों के बारे में सत्य है। डॉक्टर अंग्रेज़ों के लिये, हकीम अरब के लिए, वैद्य संस्कृतज्ञ के लिए निश्चय ही समानार्थी थे, किन्तु ज्योंही ये तीनों हिन्दी में आये, इनके साथ इनकी परम्परागत औषध-पद्धतियाँ भी आईं। इस प्रकार आरम्भ से ही इनमें इस प्रकार का अन्तर था।

सूक्ष्मता से विचार करने पर ऐसा आधार मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में समानार्थी शब्द प्रायः नहीं होते। जो समानार्थी लगते हैं, उनमें भी कुछ न कुछ भेद रहता है और उस भेद के विकास को ही हम भेदीकरण मानते हैं। बुद्धि जान-बूझकर ऐसा कोई भेद शायद नहीं उपस्थित करती। इसीलिए अन्यों की भाँति यह भी बौद्धिक नियम संज्ञा का अधिकारी नहीं है।

(६) सादृश्य का नियम (Law of Analogy)—इस नियम को डॉ० श्यामसुन्दर दास ने 'उपमान का नियम' कहा है। वस्तुतः यह उपमान का नियम न होकर 'सादृश्य' या 'समानता' का नियम है। इसके सम्बन्ध में ब्रील कहते हैं, "मनुष्य स्वभावतः अनुकरणप्रिय प्राणी है। यदि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नया शब्द बनाना होता है, तो वह किसी पहले से वर्तमान शब्द के सादृश्य (analogy) पर नये शब्द का निर्माण कर लेता है।" पुराने शब्दों या रूपों के आधार पर नये शब्दों या रूपों को गढ़ लेना ही सादृश्य का नियम है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में धातु में 'आ'

जोड़कर भूतकालिक कृदन्त बनाते हैं। जैसे 'पढ़्' से 'पढ़ा', 'लिख्' से 'लिखा', 'रुक्' से 'रुका' आदि। इसी आधार पर लोग 'कर' से 'करा' बना लेते हैं, और प्रयोग करते हैं। यों 'कर्' का परम्परागत रूप 'किया' है। इस प्रकार शब्दों के सादृश्य पर दूसरे शब्द बना लेना 'सादृश्य का नियम' है। इस प्रसंग में कई उदाहरण दिये जाते हैं। कुछ यहाँ देखे जा सकते हैं। मूल भारोपीय भाषा में उत्तम पुरुष के लिए वर्तमान-कालिक रूप बनाने में '—* मि तथा—ओ' दो प्रत्ययों का प्रयोग चलता था। प्रथम का प्रयोग अथीमटिक (nonthematic) धातुओं में तथा दूसरे का थीमटिक धातुओं में होता था। संस्कृत में हम देखते हैं कि सर्वत्र—मि का ही प्रयोग है। इसका आशय यह है कि '—मि' अंत वाले रूपों के सादृश्य पर ही संस्कृत के सारे रूप धीरे-धीरे बन गए।—ओ वाले रूप वैदिक 'ब्रवो' आदि कुछ में ही हैं। दूसरी ओर ग्रीक में इसके ठीक उलटा हुआ और कुछ अपवादों को छोड़ कर सभी रूप—ओ अंत वाले रूपों के आधार पर बनने लगे। जैसे सं० 'भरामि' के स्थान पर psero। लैटिन fero भी वही है। इस तरह कुछ रूपों के सादृश्य पर रूप बन जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत में संज्ञा की करण एकवचन विभक्ति मूलतः '-आ' थी। वैदिक संस्कृत में 'यज्ञा' 'महित्वा' आदि उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं। बाद में ये सर्वनामों (जहाँ '—न' मूलतः था, सं० तेन, वैदिक त्येन, प्रा० फारसी त्यना) के सादृश्य पर संज्ञा शब्दों में भी '—न' आ गया। इसी प्रकार मूलतः भारोपीय सम्बन्ध कारक की बहुवचन विभक्ति—आम् थी। उदाहरणार्थ, ग्रीक ippon, लैटिन deum, वैदिक चरताम्, नराम्। 'न्' अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूपों, जैसे 'आत्मनाम्' के सादृश्य पर बाद में बहुतों क अन्त में 'आम्' के स्थान पर 'नाम्' लग गया। इस प्रकार के रूप भारत में आर्यों के आने से पहले ही बनने लगे थे क्योंकि प्राचीन फारसी में भी बग (एक देवता) से 'बगानाम्' रूप मिलता है। अंग्रेज़ी में इसी प्रकार निर्बल क्रिया —ed से बनने वाले रूपों के सादृश्य पर बहुत अधिक क्रियाएँ अपना रूप चलाने लगीं। यदि चासर, शेक्सपीयर तथा आज की अंग्रेजी की तुलना करें तो ऐसी अनेक क्रियाएँ मिलेंगी, जो कभी सबल थीं किन्तु आज निर्बल हो चुकी हैं। ग्रील के अनुसार इस प्रकार के रूप (क) अभिव्यक्ति की कोई कठिनाई दूर करने के लिए, (ख) अभिव्यक्ति में अधिक स्पष्टता लाने के लिए, ग) असमानता (antethesis) या समानता (similarity) पर बल देने लिए, तथा (घ) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम से संगति मिलाने के लिए, इन चारों में किसी एक या अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। प्रथम में वे सारे रूप आते हैं जो अपवादों को छोड़कर सामान्य नियमों या रूपों के सादृश्य पर बनाए जाते हैं जैसे अंग्रेजी में क्रियाओं के —ed वाले रूप। इससे अभिव्यक्ति की कठिनाई दूर होती है। रूप सरलता से बन जाते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि जान-बूझकर ऐसा नहीं करते। अनजान में ऐसे रूप सादृश्य के आधार पर बनते हैं तथा मुँह से निकल आते हैं। ऐसे प्रयोग मूलतः अशिक्षित लोगों से प्रायः आरम्भ होते हैं। असावधानी में बच्चों या भारतीयों आदि अनांग्लभाषियों के मुँह से कभी-कभी Broadcasted या Catched जैसे

रूप सुनाई पड़ जाते हैं। 'ख' में भी वही उदाहरण रक्खे जा सकते हैं, क्योंकि नियमित रूप अधिक शीघ्र तथा स्पष्ट रूप से समझे जा सकते हैं। तीसरे में मराठी का 'दाक्षिणात्य' आदि के सादृश्य पर पाश्चात्य के स्थान पर 'पाश्चिमात्य'; या हिन्दी में 'सुन्दर' के असमान 'बुरा' आदि को छोड़कर 'असुन्दर' का प्रयोग आदि आ सकते हैं। चौथे में—लोगों का सीधे भूगोलिक, इतिहासिक जैसे रूप बना लेना आ सकता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि क्या ये अर्थ-विकास के बौद्धिक नियम के अन्तर्गत आ सकते हैं ? संभवतः नहीं। यह तो भाषा के धीरे-धीरे कठिन से सरल, अनियमित से नियमित बनने या फिर सादृश्य के आधार पर रूप-परिवर्तन या नवरूप-निर्माण की कहानी है।

(७) नवप्राप्ति का नियम (Law of New Acquisition)—इसे 'नये लाभ' आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। ब्रील का कहना है कि जिस प्रकार भाषा में पुराने अर्थ, रूप, शब्द, प्रयोग आदि समाप्त होते रहते हैं, उसी प्रकार नए अर्थ, रूप, शब्द आदि आते या विकसित होते भी रहते हैं। इसके उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कारक—विभक्तियों के घिस जाने पर स्वतंत्र शब्दों का परसर्ग रूप में प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार संयोगात्मक क्रियारूपों (तिङन्त) के घिसने पर सहायक क्रिया तथा कृदन्तों के आधार पर संयुक्त काल बनने लगे हैं। संस्कृत में मूलतः जो उपसर्ग थे। बाद में सम्बन्ध-सूचक अव्यय के रूप में भी प्रयुक्त होने लगे। जैसे तया, सह, अर्थ, विना। इसी प्रकार विश्व-भाषाओं का इतिहास बतलाता है कि कर्मवाच्य का बाद में विकास हुआ। क्रिया-विशेषण भी विशेषण, सर्वनाम या संज्ञा से बाद में बने, पहले नहीं थे।

इनमें कुछ परिवर्तनों के पीछे बुद्धि अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य कार्य कर रही है किन्तु बौद्धिक नियम के अन्तर्गत रखने से अधिक अच्छा कदाचित् यह होगा कि इसे बौद्धिक कारण रूप में अर्थ-विकास के अन्य कारणों के साथ रखा जाय तथा इसके उदाहरणों को यथोचित दिशाओं में स्थान दे दिया जाय।

(८) अनुपयोगी रूपों के विलोप का नियम (Law of Extinction of Useless Forms)—जसे नये रूप आदि भाषा में आते रहते हैं, उसी प्रकार पुराने रूप किसी न किसी कारण से विलुप्त होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत में 'या' और 'गम्', जाना अर्थ में दो धातुएँ थीं। दोनों के रूप अलग-अलग चलते थे। हिन्दी में भी दोनों के रूप हैं; किन्तु 'गम्' के सभी रूप नहीं हैं। 'या' धातु से बनने वाले रूप सभी हैं, किन्तु भूत कृदंत का रूप होते हुए भी सामान्यतः नहीं प्रयुक्त होता। वह 'जाया जाता 'जाया करता' आदि में ही आता है। 'वह जाया' (He went) नहीं होता। दूसरी ओर 'गम्' धातु से बनने वाला कोई भी रूप नहीं है, केवल भूत कृदंत रूप ही रह गया है—'गया'। इस प्रकार 'या' धातु का एक रूप अल्पप्रयुक्त हो गया और दूसरी ओर 'गम्' के एक को छोड़ कर सारे रूप विलुप्त हो गये। ये रूप जान-बूझ कर लुप्त नहीं किए गए, अपितु प्रचलन में कमी-बेशी होते-होते कुछ रह गए, कुछ लुप्त हो गए। यहाँ

तक कि अब 'गम्' और 'या' दोनों के अवशिष्ट रूप हिन्दी में केवल एक ही धातु 'जा' के रूप माने जाते हैं। 'गया' भी 'जा' का ही रूप कहा जाता है, यद्यपि जैसा कि ध्वनि से स्पष्ट है, यह 'गम्' का।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, बंगाली आदि विश्व की किसी भी भाषा को लिया जाय, सभी में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। एक मूल या प्रातिपदिक के रूपों में कुछ रूप तो उसके अपने होते हैं, और कुछ किसी और प्रातिपदिक के होते हैं। इस प्रकार दो या अधिक प्रातिपदिकों के कुछ रूप लुप्त हो जाते हैं और शेष के सारे एक प्रातिपदिक के रूप माने जाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत उत्तम पुरुष अस्मद् के द्वितीया के रूप लें—

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
माम, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः

स्पष्ट ही ये सारे के सारे एक प्रातिपदिक के नहीं हो सकते। इनमें कम से कम चार प्रातिपदिकों—(क) माम, मा, (ख) आवाम्, (ग) नौ, नः, (घ) अस्मान्—के संकेत मिलते हैं। अर्थात् चारों के कभी अलग-अलग रूप रहे होंगे, बाद में सभी के कुछ-कुछ रूप विलुप्त हो गए होंगे, और शेष मिलकर अब एक 'अस्मद्' के रूप माने जाते हैं। अस्मद् के मूलतः केवल वे रूप हैं जिनमें 'अस्म' आता है। इसी प्रकार 'तद्' (वह) का प्रथमा एकवचन रूप 'स' मूलतः तद् का रूप नहीं हो सकता। वैदिक संस्कृत में 'तस्मिन्' के स्थान पर 'सस्मिन्' तथा 'तस्मात्' के स्थान पर 'सस्मात्' देखकर यह अनुमान लगता है कि 'तद्' के साथ-साथ एक प्रातिपदिक 'सद्' भी कभी रहा होगा। धीरे-धीरे उसके सारे रूप विलुप्त हो गए। अब शेष केवल 'सः' ही शेष है।

इस प्रकार के लोप भाषा में होते तो हैं, किन्तु अर्थ से इनका क्या सम्बन्ध? दूसरे क्या ये लोप जान-बूझकर किये जाते हैं? शायद नहीं। इस प्रकार यह भी 'अर्थ-परिवर्तन का बौद्धिक नियम' नहीं कहला सकता।

निष्कर्ष यह निकला कि इन नियमों में—

(क) कइयों का सम्बन्ध तो अर्थ-परिवर्तन से है ही नहीं, अतः अर्थ-परिवर्तन या अर्थविज्ञान के प्रसंग में उनकी चर्चा व्यर्थ है।

(ख) कुछ में अर्थ-परिवर्तन होता है, किन्तु उनके पीछे बौद्धिक कारण नहीं है, अतः उन्हें बौद्धिक नियम नहीं कहा जा सकता।

(ग) कुछ थोड़े ऐसे भी हैं, जिनमें अर्थ-परिवर्तन होता है, तथा जिनके पीछे अप्रत्यक्षतः बौद्धिक कारण भी माने जा सकते हैं, किन्तु उन्हें 'बौद्धिक नियम' शीर्षक से अलग न रखकर अर्थ-परिवर्तन के प्रसंग में, 'बौद्धिक कारण' रूप में कारणों में, तथा इनके उदाहरणों को अर्थादेश आदि अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं में रखना अधिक समीचीन होगा।

अभिधा, लक्षणा, व्यंजना (जिन्हें शब्द-शक्ति कहा जाता है) तथा ध्वनि भी अर्थ

के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। उनका विचार काव्यशास्त्र की पुस्तकों में बहुत विस्तार से मिल जाता है ; इसीलिए यहाँ उन्हें छोड़ दिया गया है।

पर्यायविज्ञान (Synonymics या Synonymology)

'पर्यायविज्ञान' अर्थविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है, यद्यपि इस दिशा में अभी तक बहुत कम काम हुआ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस शाखा में पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन करते हैं। भाषाविज्ञान की अन्य अनेक शाखाओं की भाँति ही पर्याय-विज्ञान भी वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों ही प्रकारों का हो सकता है। वर्णनात्मक में किसी एक काल में किसी भाषा से पर्यायों का अध्ययन करते हैं। पर्याय कोशों का निर्माण तथा पर्यायों में प्रयोग के आधार पर सूक्ष्म अर्थभेद आदि का निर्धारण भी पर्यायविज्ञान के वर्णनात्मक रूप से ही सम्बद्ध हैं। ऐतिहासिक पर्याय-विज्ञान में किसी भाषा में समय-समय पर हुए पर्याय-विषयक विकासों आदि का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन, दो या अधिक भाषाओं का वर्णनात्मक या ऐतिहासिक दोनों ही रूपों में हो सकता है। वस्तुतः इन सभी प्रकारों के अध्ययन अभी प्रायः बहुत कम हुए हैं।

'पर्यायवाची' या 'पर्याय' शब्दों के बारे में प्रायः यह धारणा पाई जाती है कि वे एकार्थी शब्द होते हैं। किन्तु तत्त्वतः यह धारणा भ्रामक है।[1] पर्यायवाची शब्द वस्तुतः प्रायः समानार्थी होते हैं। किसी भी भाषा में सच्चे अर्थों में समानार्थी शब्द प्रायः बहुत ही कम होते हैं।

पर्याय शब्दों के निम्नांकित भेद हो सकते हैं—
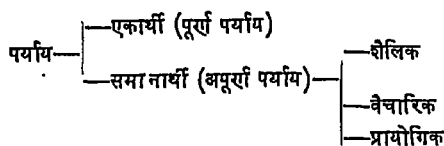
एकार्थी या पूर्ण पर्याय—एकार्थी या पूर्ण पर्याय वे शब्द होते हैं, जो पूर्णतः एक अर्थ रखते हैं, जिनकी 'पर्यायता' पूर्ण होती है। उनमें आपस में कोई भेद नहीं होता। जैसे संतरा-नारंगी, भावमय-भावपूर्ण। सामान्यतः जिन शब्दों को एकार्थी समझा जाता है, उनमें से प्रायः ९९ प्रतिशत एकार्थी नहीं होते। एकार्थी की पहिचान यह है कि किसी भाषा में, सारे सन्दर्भों में, यदि बिना अर्थ-परिवर्तन के एक शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जा सके तो वे दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए, 'मुश्किल' और 'कठिन' दो शब्द हैं। सामान्यतः देखने पर ऐसा लगता है कि दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय हैं, किन्तु यदि दोनों के

---

१. दे० लेखक के 'बृहद् पर्यायवाची कोश' की भूमिका, तथा लेखक की नई पुस्तक 'शब्दों का अध्ययन' के 'अर्थविज्ञान' तथा 'प्रयोगविज्ञान' शीर्षक अध्याय।

विभिन्न प्रयोगों को देखें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी कि दोनों में अन्तर है। उदाहरणार्थ एक वाक्य है—'वह लड़का मुश्किल से पाँच वर्ष का होगा'। किन्तु इस वाक्य को यों नहीं कह सकते कि 'यह लड़का कठिन से पाँच वर्ष का होगा।' इसी प्रकार 'इस काम में कुछ कठिनाई है' को 'इस काम में कुछ मुश्किलाई है' नहीं कह सकते। इस तरह हिन्दी में यह दोनों शब्द समानार्थी हैं, किन्तु एकार्थी नहीं हैं।

समानार्थी या अपूर्ण पर्याय—वे शब्द जिनमें अर्थ एक न होकर मात्र समान होते हैं। पर्याय समझे जाने वाले अधिकांश शब्द इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। जिस भाषा में इस श्रेणी के शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही समृद्ध होगी। समानार्थी शब्दों के अन्तर प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—शैलिक, वैचारिक एवं प्रायोगिक।

समानार्थी शब्दों में शैलिक अन्तर का अर्थ यह है दो या अधिक शब्दों का अर्थ तो प्रायः एक होता है, किन्तु प्रयोग में शैली की दृष्टि से एक रचना या वाक्य में एक ही आ सकता या उपयुक्त लगता है। उदाहरण के लिए, 'सौन्दर्य' और 'खूबसूरती' इन दो शब्दों को लें। इन दोनों के अर्थ में अन्तर नहीं है किन्तु 'कल्पनालोक की वह अभूतपूर्व अप्सरा साकार सौन्दर्य थी' वाक्य में सौन्दर्य के स्थान पर 'खूबसूरती' का प्रयोग अच्छा नहीं लगेगा। इजाजत-आज्ञा, बेहद-असीम, जरूर-अवश्य, खुशी-प्रसन्नता, बेशक-निःसन्देह, कठोर-सख्त, आदि जोड़ों का अन्तर भी प्रायः इसी स्तर का है।

वैचारिक अन्तर का अर्थ है, अर्थ का समीप होना, किन्तु पूर्णतः एक न होना। डॉक्टर-वैद्य-हकीम, केसरिया-पीला-गंधकी, मक्तब-पाठशाला-स्कूल, ठर्रा-ह्स्की-बियर-ब्राण्डी,दूधिया-मेंहदी-मूँगिया, घोड़ा-टट्टू, देखना-अवलोकन करना-घूरना आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

प्रायोगिक अंतर का अर्थ यह है कि शैलिक या वैचारिक अन्तर न होने पर भी परंपरागत प्रयोग के कारण एक के स्थान पर दूसरा नहीं आ सकता। मुहावरों में प्रायः यह देखा जाता है। 'वह पानी-पानी हो गया' को वह 'जल-जल हो गया' नहीं कह सकते। समासों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। उदाहरण के लिए, जल और नीर में प्रायः शैलिक या वैचारिक अन्तर नहीं है, पर 'जलपान कर लीजिए' को 'नीरपान कर लीजिए' नहीं कह सकते। बहुत से शब्दों में शैलिक एवं वैचारिक अंतर के साथ-साथ भी प्रायोगिक अन्तर मिलते हैं। जैसे "उसके मर जाने के कारण राम रुक गया होगा" एवं "उसके मर जाने की वजह (से) राम रुक गया होगा" में समानार्थी होने पर भी 'कारण' बिना 'से' के प्रयुक्त हुआ है, किन्तु 'वजह' बिना से के नहीं आ सका है। इस प्रकार दोनों में प्रायोगिक अन्तर है।

भाषा में पर्यायों के विकास के प्रमुख कारण

(१) अर्थ-परिवर्तन—अर्थ-परिवर्तन के कारण बहुत से शब्द आर्थिक दृष्टि में दूसरे शब्दों के समीप पहुँच जाते हैं, इस प्रकार पर्यायों में वृद्धि हो जाती है। 'राम'

वस्तुतः एक नाम है, किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कारण 'राम-राम' एक ओर तो 'छिः-छिः' का पर्याय हो गया, तो दूसरी ओर 'नमस्ते' का। इसी प्रकार 'रोटी' खाना का, 'लाल झण्डा' कम्यूनिज्म का, तथा 'पैसा' धन का पर्याय बन गया है। सभी भाषाओं में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं।

(२) विकास के साथ नया ज्ञान—इसके कारण ज्ञान की परिधि में वृद्धि से पर्यायों में वृद्धि होती है। पहले केवल 'लाल' शब्द रहा होगा, क्योंकि 'लाल' के विभिन्न शेडों के प्रति हम जागरूक न रहे होंगे। अब लाल-सिंदूरी-इंगुरी-गुलाबी-प्याज़ू-लाखा-तरबूजी-अबीरी-टमाटरी आदि अनेक वैचारिक अन्तरवाले प्रयोग में आने लगे हैं। ठर्रा-बियर-शंपेन-वाइन भी इसी वर्ग के उदाहरण है।

(३) विदेशी संपर्क—इसके कारण भी पर्याय बढ़ते हैं। जैसे सहस्र-हजार, राजा-बादशाह, नारंगी-संतरा, दिया-चिराग, यदि-अगर, अंतिम-आखिरी, अधिकार-क़ाबू, आयु-उम्र, स्त्री-औरत तथा भवन-इमारत-बिल्डिंग आदि। हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि के शब्दों के आने से पर्यायों में बहुत वृद्धि हुई है।

(४) प्रत्यय, उपसर्ग आदि व्याकरणिक साधनों का प्रयोग—इनके कारण भी पर्यायों में वृद्धि होती है। जैसे भावमय-भावपूर्ण, थकान-थकावट, अपढ़-अनपढ़, उत्साह-शून्य-उत्साहहीन, सुन्दरता-सौंदर्य तथा संबंधित-संबद्ध आदि।

(५) अनुवाद—सोशलिज्म-समाजवाद, कम्यूनिजम-साम्यवाद, गवर्नर-राज्यपाल, वाइसचांसलर-उपकुलपति। हिन्दी में इधर प्रायः १५ वर्षों में इस प्रकार के अनेक पर्याय आए हैं।

(६) पुराने शब्दों का लाया जाना—बनारस-वाराणसी, मुंह-मुख, पत्ता-पत्र, पोथी-पुस्तक। हिन्दी में भक्तिकाल एवं छायावादी काल में तथा स्वतंत्रता के बाद अनेकानेक पुराने शब्द लाए गए हैं, और इनके आगमन से पर्याय की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

(७) संक्षेप—ट्यूबरक्लोसिस-टीबी, भारतवर्ष-भारत, हिन्दुस्तानी-हिन्द, पाकिस्तान-पाक। इस प्रकार के पर्याय अधिक नहीं मिलते।

(८) जनभाषा से शब्दों का लिया जाना—आंचलिक कहानियों, उपन्यासों में इस प्रकार के शब्द हिन्दी में इधर बहुत आए हैं। स्थानीय रंगत (local colour) देने के लिए या ग्रामीण पात्र की भाषा स्वाभाविक बनाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, अच्छा-नीक, लड़का-गदेला तथा दीखना-लौकना आदि।

७ | ध्वनिविज्ञान

ध्वनि के अध्ययन से संवद्ध शास्त्र या विज्ञान के लिए अंग्रेजी में आज प्रमुखतः फ़ोनेटिक्स और फ़ोनॉलजि (Phonetics, Phonology) ये दो[1] शब्द चल रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'Phone' से है, जिनका अर्थ 'ध्वनि' है। 'टिक्स' और 'लजि' प्रयोगतः 'विज्ञान' या 'शास्त्र' के समानार्थी हैं। इस प्रकार दोनों ही एक प्रकार से ध्वनि के विज्ञान या शास्त्र हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इन में थोड़ा अंतर है। 'फ़ोनेटिक्स' (या Phonics) ध्वनियों के अध्ययन के शुद्ध सैद्धांतिक पक्ष का विज्ञान है। इस विज्ञान में हम सामान्य रूप से ध्वनि की परिभाषा, भाषा-ध्वनि, ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से चलकर किसी के कान तक जाना[2] तथा सुना जाना, एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं। इस प्रकार 'फ़ोनेटिक्स' का इस रूप में किसी भाषा-विशेष से सम्बन्ध नहीं है। यह ध्वनि के अध्ययन का सामान्य विज्ञान है, जो अपने अध्ययन के लिए सामग्री, संसार की सभी भाषाओं से लेता है, और ऊपर कही गई बातों से संवद्ध सामान्य बातों का विवेचन करता है। 'फ़ोनॉलजि' इसके विरुद्ध भाषा-विशेष से संवद्ध है। इसमें हम किसी एक भाषा (या बोली) की ध्वनियों का विचार करते हैं, और पहले तो 'फ़ोनेटिक्स' द्वारा निरूपित सिद्धांतों के आधार पर उस भाषा की ध्वनियों के स्वरूप, वर्गीकरण आदि पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हैं; फिर एक-एक ध्वनि को लेकर उसके इतिहास और विकास आदि को देखते हैं, तथा तद्विषयक नियमों का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार 'फ़ोनेटिक्स' मात्र सैद्धान्तिक और सार्वभाषिक है, किन्तु 'फ़ोनॉलजि' उसका व्यावहारिक रूप है, किसी एक भाषा से संवद्ध है, साथ ही ध्वनियों के विकास पर विचार करने के कारण मात्र वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक न होकर ऐतिहासिक भी है। इससे यह स्पष्ट है कि ध्वनि के अध्ययन के ये दो दृष्टिकोण या दो प्रमुख विभाग हैं, किन्तु इनके लिए क्रमशः 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलजि' इन दो पारिभाषिक नामों का जो प्रयोग किया गया है, वह सार्वभौम नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो

---

१. इन प्रमुख दो के अतिरिक्त Phonemics तथा Tonetics आदि अन्य भेद भी हैं, जिन पर आगे यथास्थान विचार किया गया है।

२. वस्तुतः यह भौतिक शास्त्र का विषय है, किन्तु अब लोग भाषाशास्त्र में भी इसके अध्ययन को समेट लेने के पक्ष में हैं।

उन्हें इस रूप में माना है, किन्तु अन्यों का प्रयोग इससे भिन्न भी है। कुछ लोग दोनों अर्थों में 'फ़ोनेटिक्स' का ही प्रयोग करते हैं, तो कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के वर्णनात्मक रूप (भाषा सामान्य का या एक भाषा का) को एककालिक 'फ़ोनेटिक्स' (Synchronic Phonetics) कहते हैं और ऐतिहासिक रूप का 'हिस्टॉरिकल फ़ोनेटिक्स' या Diachronic Phonetics। कुछ अन्य लोग 'फ़ोनॉलजि' के अंतर्गत ही सभी को स्थान देते हैं। कुछ लोग 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलजि' को पर्याय के रूप में भी प्रयोग करते हैं। कुछ अन्य लोग भाषा (सामान्य) की ध्वनियों का अध्ययन एवं सिद्धान्त-निर्धारण तथा भाषा-विशेष की ध्वनियों का वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन 'फ़ोनेटिक्स' में मानते हैं तथा भाषा-विशेष की ध्वनियों पर ऐतिहासिक विचार—उनका विकास, उनमें परिवर्तन आदि—फ़ोनॉलजि में। कुछ आधुनिक भाषाविद् फ़ोनीमिक्स के लिए भी 'फ़ोनॉलजि' का, तथा कुछ फ़ोनेटिक्स, फोनिमिक्स दोनों के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग 'फोनेटिक्स' का भी फोनिमिक्स के लिए प्रयोग करते हैं।

निष्कर्षतः यद्यपि अधिकांश विद्वान् इन दोनों में कुछ भेद रखते हैं, किन्तु सर्वत्र वह भेद एक-सा नहीं है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से आज इन दोनों नामों की अलग सत्ता बहुत अर्थ नहीं रखती। यों इसमें संदेह नहीं कि अधिक विद्वान् इन दोनों का अंतर प्रायः वही मानते हैं, जिसे ऊपर सबसे पहले कुछ विस्तार से समझाया गया है।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' था। हिन्दी में इस प्रसंग में 'फ़ोनेटिक्स' के लिए ध्वनि-तत्त्व, ध्वनि-शिक्षा, ध्वनि-विचार, ध्वनिविज्ञान, ध्वनि-शास्त्र, वर्ण-विज्ञान आदि तथा 'फोनॉलजि' के लिए ध्वनि-विकार, वर्ण-विचार, ध्वनि-विचार, ध्वन्यालोचन, ध्वनिविज्ञान, ध्वनि-जात, ध्वनि-प्रक्रिया, ध्वनि-प्रक्रिया-विज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। एकरूपता की दृष्टि से फ़ोनेटिक्स के लिए ध्वनिविज्ञान, या ध्वनिशास्त्र और 'फ़ोनॉलजि' के लिए 'ध्वनि-प्रक्रिया' या 'ध्वनि-प्रक्रिया-विज्ञान' का प्रयाग किया जा सकता है, किन्तु यों जब दोनों में सर्वसम्मत भेद नहीं है तो दोनों ही के लिए (साथ ही ध्वनि-विषयक अन्य अध्ययनों के लिए भी एक Covering नाम के रूप में) 'ध्वनिविज्ञान' नाम भी अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। आगे इसी एक नाम का सामान्य रूप से प्रयोग किया जायगा।

भाषाविज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति ध्वनिविज्ञान भी वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों प्रकारों का हो सकता है। दूसरे शब्दों में भाषा-ध्वनि का सर्वाङ्गीण अध्ययन ही ध्वनिविज्ञान है। ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान एवं ध्वनिग्रामविज्ञान आदि अलग निकाल कर ध्वनिविज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी जाती हैं: (१) औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान (Articulatory phonetics)—जिसमें उच्चारण और उससे संबद्ध बातों का अध्ययन होता है; (२) तरंगीय या भौतिक ध्वनिविज्ञान (Acoustic phonetics)—जिसमें उच्चारण के फलस्वरूप बननेवाली ध्वनि-लहरों का अध्ययन होता है। इस अध्ययन में प्रायः काइमोग्राफ, स्पेक्टोग्राफ़, ऑसिलोग्राफ़ आदि

यंत्रों से सहायता ली जाती है; (३) श्रौतिक ध्वनि-विज्ञान (Auditory Phonetics)—इसमें ध्वनियों के सुने जाने का अध्ययन होता है। स्पष्ट ही पहली शाखा का संबंध बोलनेवाले से, तीसरी का सुननेवाले से, और दूसरी का ध्वनियों की तरंगों, उनके स्वरूप तथा गति आदि से अर्थात् दोनों शाखाओं की बीच की स्थिति से है। किंतु यदि भाषा-ध्वनि का समग्र अध्ययन ध्वनि-विज्ञान के अंतर्गत रखें तो मोटे रूप से ध्वनिविज्ञान के अंतर्गत प्रमुख विवेच्य विषय निम्नांकित हैं—

(क) शारीरिक ध्वनिविज्ञान (Physiological phonetics)
(ख) ध्वनि और भाषा-ध्वनि (Sound and speech sound)
(ग) ध्वनियों का वर्गीकरण (Classification of sounds)
(घ) ध्वनि-गुण (Sound guality)
(ङ) संगम (Juncture)
(च) अक्षर (Syllable)
(छ) तरंगीय ध्वनिविज्ञान (Acoustics या acoustic phonetics)
(ज) प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान (Experimental phonetics)
(झ) ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान (Diachronic phonetics)
(ञ) ध्वनिग्रामविज्ञान (Phonemics)
(ट) ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic transcription)

(क) शारीरिक ध्वनिविज्ञान (Physiological phonetics)[1]

ध्वनिविज्ञान के इस विभाग में उच्चारण में सहायक अवयवों एवं उनके कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही ध्वनि एवं सुनने में सहायक अंगों पर भी इसमें प्रकाश डाला जा सकता है।

ध्वनि-यंत्र

जिन अंगों या अवयवों से भाषा-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें ध्वनि-यंत्र, उच्चारण-अवयव या वाग्यंत्र कहते हैं।

१. उपालिजिह्व (Pharynx गलबिल, कंठ, कंठमार्ग)
२. भोजन-नलिका (Gullet)
३. स्वर-यंत्र (कंठ-पिटक, ध्वनि-यंत्र, Larynx)
४. स्वरयंत्र-मुख (काकल, Glottis)
५. स्वर-तंत्री (ध्वनि-तंत्री Vocal Chord)
६. स्वरयंत्र-मुख-आवरण (अभिकाकल, स्वरयंत्रावरण, Epiglottis)

---

१. इसे motor phonetics, genetic phonetics, articulatory phonetics (आंगिक या आवयविक ध्वनिविज्ञान) तथा उच्चारणात्मक ध्वनि-विज्ञान आदि भी कहा गया है।

ध्वनि-यंत्र का चित्र
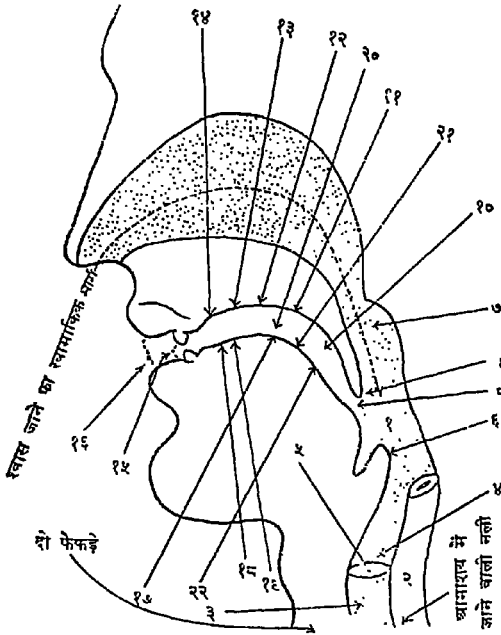
७. नासिका-विवर (Nazal Cavity)

८. मुख-विवर (Mouth Cavity)

९. अलिजिह्व (कौवा, घंटी, शुंडिका, Uvula)

१०. कंठ (Guttur)

११. कोमल तालु (Soft Palate)

१२. मूर्द्धा (Cerebrum)

१३. कठोर तालु (Hard Palate)

१४. वर्त्स[1] (Alveola)

१५. दाँत (Teeth)

१६. ओष्ठ (Lip)

१७. जिह्वामध्य (Midde of the tongue)

१८. जिह्वानोक (जिह्वानीक (Tip of the tongue)

१९. जिह्वाग्र (जिह्वा-फलक Front of the tongue)

२०. जिह्वा (Tongue)

---

१. वैदिक साहित्य में शुद्ध शब्द 'वर्स्व' है, जिससे 'वर्स्व्य' विशेषण बनता है। अब अशुद्ध शब्द 'वर्त्स' तथा उसका विशेषण 'वर्त्स्य' ही प्रचलित हो गये हैं।

२१. जिह्वा-पश्च (जिह्वापृष्ठ, पश्च-जिह्वा, Back of the tongue)

२२. जिह्वामूल (Root of the tongue)

चित्र में जहां नं० ३ के तीर की नोक है, वह श्वास-नलिका (wind pipe) है।

श्वास-नासिका, भोजन-नलिका और अभिकाकल

हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखलाया गया है। साँस श्वासनलिका में होती हुई फेफड़ों में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वासनलिका, के पीछे भोजन-नलिका है, जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों (श्वास तथा भोजन) नलिकाओं के बीच में दोनों को पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नालिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है, जिसे अभिकाकल[1] या स्वर-यंत्रमुख-आवरण (epiglottis) कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नलिका के मुख के पास आता है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वास-नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नलिका में चला जाता है। यदि श्वास-नलिका बंद न हो तो, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नलिका में चले जायँ और मनुष्य की तुरन्त ही मृत्यु हो जाय। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण जब अन्न के एक-आध टुकड़े श्वास-नलिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी 'सरक' जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नलिका को खुला रखना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुंह से होते भोजन-नलिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर में होते हुए श्वास-नलिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्क-प्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधु लोग ठोस भोजन तो नहीं पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाक से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका

---

१. इस अंग का यों तो बोलने से बहुत सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कुछ ध्वनिविदों के अनुसार मौखिक संगीत में, यह कुछ काम करता है। साथ ही आ, ऑ के उच्चारण में यह पीछे खिंच कर स्वर-यंत्रमुख के पास चला जाता है और ई, ए के उच्चारण में यह बहुत आगे खिंच जाता है।

के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं, जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता (spontaneous nasalization) आ जाती है, (सर्प से सांप या वक्र से बांका) जो शायद इसी बात को प्रदर्शित करता है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी अधिक प्रकृत या स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्रमुख और स्वर-तंत्री

श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है, जिसे ध्वनि-यंत्र या स्वर-यंत्र कहते हैं। बाहर गले में (दुबले पुरुषों में) जो उभरी घांटी (टेंटुआ या Adam's Apple) दिखाई पड़ती है, वह यही है। यहाँ श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। 'स्वर-यंत्र' में पतली झिल्ली के बने दो लचीले परदे या कपाट होते हैं, जिन्हें स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। वस्तुतः इनका यह नाम (vocal chord) उचित नहीं है। ये ओष्ठ जैसे होते हैं, अतः इन्हें 'स्वर-ओष्ठ' कहना अधिक सही है। इन परदों, स्वर-तंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच के खुले भाग को स्वर-यंत्रमुख या काकल (glottis) कहते हैं। सांस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मुख से होकर बाहर-भीतर जाती है। इन स्वर-तंत्रियों का मूल या प्राकृतिक काम है बोझ उठते समय या उसी प्रकार के अन्य कामों के समय हवा को रोक कर हमारी शक्ति और हिम्मत को अपेक्षाकृत बढ़ा देना। किन्तु अब बोलने में—जो निश्चय ही कृत्रिम या बाद में विकसित है—हम इन स्वर-तंत्रियों के सहारे कई प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न करते हैं। ऐसा करने के लिए स्वर-तंत्रियों को कभी तो एक दूसरे के समीप लाना पड़ता है और कभी दूर रखना पड़ता है। जो लोग रुक-रुक कर बोलते या हकलाते हैं, वे किसी शारीरिक या मानसिक कमी के कारण इन स्वर-तंत्रियों को आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में खोल या बन्द करने में असमर्थ होते हैं।

स्वर-तन्त्रियों[1] के इस प्रकार समीप आने या दूर हटने से (साथ ही तनने आदि से) कई प्रकार की स्थितियां उत्पन्न होती हैं। बहुत सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन स्थितियों[2] की संख्या लगभग एक दर्जन है, जिनमें अधिक महत्वपूर्ण निम्नांकित हैं :

(१) स्वर-तन्त्रियां एक दूसरी से सबसे अधिक दूर 'श्वास लेने' (inhalation) की स्थिति में होती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वरयंत्रमुख एक पंचभुज की स्थिति में

---

१. स्वरतंत्रियां जब ढीली रहती हैं तो सामान्यतः पुरुषों में उनकी लम्बाई ३/४" और स्त्रियों में १/२" होती है। तनकर कड़ा होने पर ये क्रमशः १" और ३/४" की हो जाती हैं।

२. मोटे ढंग से इनकी केवल चार स्थितियां मानी जाती हैं, जिन्हें बिना विस्तार में जाये इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

और बहुत अधिक चौड़ा होता है (आगे चित्र नं० १)। (२) दूसरी स्थिति है प्रश्वास (exhalation) की। साँस निकालते समय स्वरतंत्रियाँ श्वास लेते समय की तुलना में एक दूसरे के निकट होती हैं और इस प्रकार स्वरयंत्रमुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। इस स्थिति में स्वरयंत्रमुख लगभग त्रिभुजाकार होता है। (आगे चित्र नं० २) ऐसी स्थिति में जो प्रश्वास निकलता है, स्वरतंत्रियों से घर्षण नहीं करता। 'अघोष'[1] ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। (३) तीसरी स्थिति में स्वरतंत्रियाँ एक दूसरी के और भी निकट आ जाती हैं। अब ये इतनी निकट होती हैं कि उनके बीच से जाने वाली हवा को रगड़ खाकर निकलना पड़ता है। रगड़ के कारण ही स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। घोष[2] ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है (चित्र नं० ३)। इस स्थिति में स्वरयंत्रमुख बहुत संकीर्ण हो जाता है और नीचे ऊपर के किनारों के बन्द होने के कारण लम्बाई में भी वह छोटा हो जाता है। इस स्थिति में भी कभी तो स्वरतन्त्रियाँ कम कड़ी रक्खी जाती हैं और कभी अधिक। इस प्रकार कभी उनके
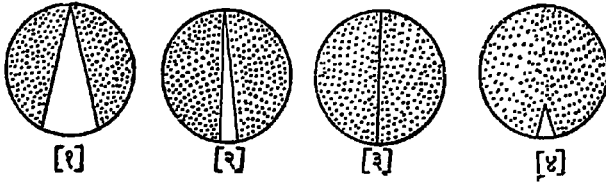
नं० १. में दोनों स्वरतन्त्रियाँ अलग-अलग हैं। यह साँस लेने की तथा अघोष ध्वनियों की स्थिति है। नं २ में दोनों समीप हैं। यह घोष ध्वनियों की स्थिति है। नं० ३ में दोनों एक दूसरी से सटी हैं। यह बन्द हो जाने की स्थिति है। नं० ४ में दोनों $\frac{3}{4}$ भाग में सटी हैं, और नीचे केवल $\frac{1}{4}$ खुला है। यह जपित या फुसफुसाहट की ध्वनियों की स्थिति है।

१. 'अघोष' उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में (उनके एक दूसरे से दूर रहने के कारण) प्रश्वास का घर्षण नहीं होता और इसलिए उनमें कम्पन नहीं होता। सांस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने के कारण ही इस प्रकार की ध्वनियों को संस्कृत में 'श्वास' भी कहा गया है। अंग्रेजी में इन ध्वनियों को voiceless या breathed कहते हैं।

२. 'घोष' या 'नाद' (voiced या voice) उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में, उनके एक दूसरे से निकट होने के कारण, उनके बीच से आती हवा के घर्षण से, कम्पन होता है। कानों को दोनों हाथों से बन्द करके या गले पर (स्वरयंत्र पर) हाथ रखकर, या सिर से ऊपर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव क्रम से अघोष-घोष (क, ग) और घोष-अघोष (ग, क) ध्वनियों का बार-बार उच्चारण करके किया जा सकता है।

बीच से हवा कम तेज निकलती है और कभी अधिक। इन दोनों बातों पर तन्त्रियों का कम्पन निर्भर करता है और इस कम्पन के स्वरूप और तेजी पर ध्वनि का आयतन (volume), उनकी तीव्रता (intensity) तथा सुर (pitch) आदि निर्भर करते हैं।

सामान्य बोलचाल में पुरुषों में स्वरतन्त्रियों के कम्पन की गति १०६ से १६३ चक्र (cycle) प्रति सेकेंड तथा स्त्रियों में २१८ से ३२६ चक्र प्रति सेकेन्ड होती है। यों यह कम-से कम ४२ चक्र प्रति सेकेंड तथा अधिक से अधिक २०४८ चक्र प्रति सेकेंड हो सकता है। संगीतज्ञ, अभिनेता और अच्छे वक्ता में भावावेश आदि के अनुसार यह कम्पन सामान्य से बहुत अधिक देखा जाता है। १६ मई १६४३ को चर्चिल का वाशिंगटन में भाषण हुआ था। उनके रेकर्ड का विश्लेषण करने पर पता चला कि भाषण के अधिकांश अंशों में उनकी तन्त्रियों की गति ११५ से २३० के बीच में थी। (४) चौथी स्थिति में स्वरतन्त्रियाँ अपने लगभग तीन-चौथाई भाग में तो एक-दूसरी से मिलकर हवा का मार्ग पूर्णतः बन्द कर देती हैं। कोने का केवल एक चौथाई भाग ही स्वरयंत्र-मुख के रूप में खुला रहता है। (चित्र नं० ४)। इसी स्थिति में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण होता है। इस ध्वनि को 'जपित', 'जाप', 'फुसफुस' या 'उपांशु (whispered) भी कहते हैं। जब दो मित्र आपस में धीरे-धीरे बात करते हैं, तो इसी प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। स्वरयन्त्र मुख के बहुत छोटा हो जाने के कारण ध्वनि धीमी हो जाती है। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। इनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। वस्तुतः जपित ध्वनि के उत्पन्न होने की यह एक स्थिति है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अन्य स्थितियाँ भी होती हैं : (क) कभी-कभी इनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ ठीक उसी स्थिति में होती हैं, जिस स्थिति में वे घोष ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं। पर साथ ही गले की मांसपेशियों को बहुत कड़ा रखकर स्वरतन्त्रियों में इतना तनाव ला दिया जाता है कि हवा के घर्षण से वे कम्पित नहीं होतीं और इस प्रकार उनसे जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जपित होती हैं। (ख) स्वरतंत्रियों के उपर, उन्हीं जैसी दूसरी स्वरतंत्रियाँ भी होती हैं, जिन्हें मिथ्या या कृत्रिम स्वरतंत्रियाँ (false vocal chords) कहते हैं। ये असली स्वरतंत्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि असली स्वरतंत्रियाँ तो दूर-दूर रहती हैं, किन्तु ऊपर की तंत्रियाँ निकट आकर हवा के रास्ते को बहुत छोटा कर देती हैं और इस स्थिति में भी 'जपित' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। (ग) कभी-कभी स्वरतंत्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, लेकिन उनके बीच से आने वाली हवा बहुत थोड़ी और बहुत धीमी (बीमारी के कारण या सप्रयास) हो, तब भी फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। (घ) एक चौथी स्थिति वह भी मानी जाती है, जब स्वरतंत्रियाँ न तो अघोष की स्थिति में बहुत खुली होती हैं, और न घोष की स्थिति में काकल को इतना संकरा बना देती हैं कि हवा रगड़ से निकले। यह स्थिति घोष-अघोष

के बीच की है तथा असामान्य है। (ङ) विथेल आदि कुछ ध्वनिशास्त्रियों ने एक ऐसी स्थिति भी मानी है जब दोनों ही स्वरतंत्रियाँ (मिथ्या और यथार्थ) अधिकांशतः बन्द होकर हवा को रोकती हैं और केवल दोनों का एक-एक अंश ही खुला रहता है। जब बहुत फटी-फटी आवाज सुनाई पड़ती है, तब भी यही स्थिति रहती है। ध्वनि-विदों के अनुसार यह स्थिति देर तक नहीं रक्खी जा सकती। (५) एक अन्य स्थिति में स्वरतंत्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्णतः सटी रहती हैं और हवा का रास्ता पूर्णतः बन्द हो जाता है (आगे चित्र नं० ५)। इसी स्थिति में रहकर झटके के साथ स्वरतंत्रियाँ अलग हो जाती हैं तो काकल्य स्पर्श (glottal stop, glottal catch, अलिफ, हम्ज़ा) नाम की ध्वनि उच्चरित होती है, जिसके लिए P चिह्न का प्रयोग किया जाता है। भारतीय भाषाओं में यह मुंडारी में मिलती है। कुछ अफ्रीकी, हिब्रू,
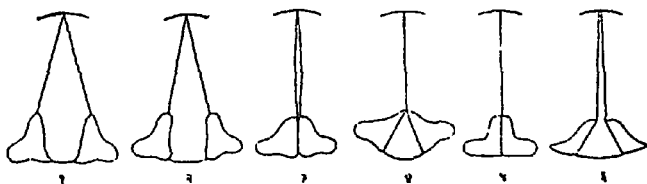
स्वरतंत्रियों की कुछ प्रमुख स्थितियाँ

डच, जर्मन में यह ध्वनि सामान्य है। यह हल्की खाँसी से मिलती-जुलती ध्वनि है। अंग्रेजी में कभी-कभी जोर देकर बोलने में is के उच्चारण में 'इ' के पहले यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। The key is not in the door वाक्य में 'इज़' की 'इ' के पूर्व key के प्रभाव के कारण यह ध्वनि उच्चरित होती है।

(६) छठे प्रकार की स्थिति में स्वरतंत्रियों का लगभग तीन-चौथाई भाग तो लगभग घोष की स्थिति में होता है और शेष एक-चौथाई काफी खुला (ऊपर चित्र नं० ६)। घोष (जिसमें घोषत्व के साथ महाप्राणता भी होती है) ध्वनि इस स्थिति में उच्चरित होती है।

(७) सातवें प्रकार की स्थिति घोष वाली स्थिति ही है, किन्तु यह अलग इस-लिए है कि स्वरतंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें तनी होती हैं, जिसके कारण कंपन अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होतीं। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कंपन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़ जैसी एक आवाज भी होती है।

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वरतंत्रियों और मिथ्या स्वरतंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है जहाँ

प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है, जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वरयंत्र, स्वरतंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ अर्थात् पूरा स्वरयंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ्रीका की कई भाषाओं में पाई जाने वली अंतर्मुखी या अंत:स्फोट (implosive) ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। इनके उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा

स्वरयंत्र के ऊपर उसका ढक्कनं (अभिकाकल) होता है, जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है, जिसे हम चौराहा (crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है जहाँ से चार मार्ग (१. श्वास-नलिका, २. भोजन-नलिका, ३. मुख-विवर, और ४. नासिका-विवर) चारों ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा-सा भाग उस स्थान पर होता है जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को 'कौवा' या 'अलिजिह्व' कहते हैं। इसका भी कार्य कोमल तालु के साथ अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा को कोमल तालू के साथ हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है, जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है, मुँह बंद रहता है और श्वास अबाध गति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए 'हुँ' या 'हूँ' ध्वनि कहते हैं तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है।

[१]

दूसरी अवस्था में कौवा तनकर नाक के रास्ते को बंद कर देता है और श्वास-नलिका से आई हवा को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुख-विवर से आती-जाती है। मौखिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

तीसरी और अंतिम अवस्था उस समय की है, जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुख-विवर को। वह मध्य में रहता है, अतः श्वास, नासिका और मुख दोनों से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में दूसरी और तीसरी में कौवा भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में बहुत सहायक होता है, क्योंकि अधिकांश ध्वनियाँ इन्हीं दो प्रकारों की होती हैं। किन्तु यह तो कौवे का सामान्य कार्य है, जिसकी आवश्यकता अधिकांश भाषाओं में होती है। कुछ भाषाओं में यह विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में प्रत्यक्षतः भी सहायक होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ अलिजिह्वीय (uvular) कहलाती हैं। इनके उच्चारण में कौवा या तो जिह्वापश्च (या जिह्वामूल) से स्पर्श करके (हिन्दी-उर्दू 'क़', या उसी का घोष रूप जो फ़ारसी में है) स्पर्श-ध्वनि उत्पन्न करता है, या एस्किमो भाषा का अनुनासिक स्पर्श (ङ्) उत्पन्न करता है, या उसके समीप होकर संघर्षी ध्वनि (हिन्दी, अरबी ख़, ग़) उत्पन्न करता है, या फिर उत्क्षेप या लुंठन करके फ्रांसीसी 'र' ध्वनि (जो 'ग़' जैसी सुनाई पड़ती है) उत्पन्न करता है।

तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ

कौवे के एक ओर नासिका-विवर है और दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है, जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से ४ भाग हो सकते हैं: १. कोमल तालु, २. मूर्द्धा, ३. कठोर तालु, तथा ४.
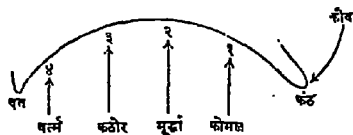
वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों को इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।

मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। जिह्वा उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसके पर्याय 'वाणी', 'ज़बान' (अरबी) या Lingua (लैटिन) आदि भाषा के पर्याय बन गये हैं। प्रायः सभी भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ जीभ की सहायता से ही बोली जाती हैं। साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने में वायु-अवरोध या विशेष आकृति का गूँज-विवर (resonance chamber) बनाने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाटा जा सकता है—
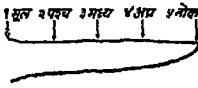
कभी-कभी इनके 'जिह्वोपाग्र' (जिह्वामध्य से कुछ आगे) आदि अन्य अवांतर भेद भी किये जाते हैं। ध्वनि-उच्चारण में इन सभी भागों का अलग-अलग महत्त्व है। साथी ही अभिकाकल कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सब का सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के प्रसंग में मिलेगा। जीभ दाँत तथा तालु के विभिन्न भागों को छूकर या उनके समीप आकर या उत्क्षेप-लोड़न आदि करके ध्वनियों का निर्माण करती है।

मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं, जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी (१)मूल और (२) अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।
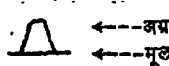
कभी-कभी दोनों के बीच में एक मध्य भाग भी मानने की आवश्यकता पड़ती है। ध्वनि-निर्माण में ऊपर के दाँतों का ही अधिक महत्त्व है। ये नीचे के ओष्ठ या जीभ से मिलकर या उसके समीप होकर ध्वनि-निर्माण करते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम अंग ओष्ठ हैं। ये आपस में मिल या पास आ कर या दाँत की सहायता से ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं।

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं ?

हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु दो प्रकार की है। एक तो वह है जो नाक या मुँह के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ हवा होती है। इस शुद्ध हवा से, दुःख है कि, हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित नहीं कर पाते। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि

की ध्वनियाँ तथा अफ्रीका, अमरीका आदि की कुछ क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा काम दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेफड़े की गन्दगी साफ करके बाहर निकलती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा (जो पहली का गंदा रूप मात्र है) ही संसार की प्रायः सभी भाषाओं के बोलने में हमारी सहायता करती है। पहली हवा 'श्वास' है, दूसरी 'प्रश्वास'।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास-रूप में श्वास-नलिका के पथ से बाहर चलती है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वरतंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चलकर आवश्यकतानुसार नासिका-विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा को हम आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु, दाँत और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं, जो बाहर आकर ध्वनि की संज्ञा पाती है। साथ ही आवश्यक होने पर इसके एक अंश को नासिका-विवर(अनुनासिक ध्वनियों को उच्चरित करने में) से निकालते हैं।

मुख से निकल कर ध्वनि किसी के कान तक कैसे जाती है?

फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों के आन्दोलन के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहरें पैदा कर देती है। ये लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं, और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा कर देती हैं। सामान्यतः इन ध्वनि-लहरों की चाल ११००-१२०० फ़ीट प्रति सेकेंड होती है। ज्यों-ज्यों ये लहरें आगे बढ़ती जाती हैं, इनकी तीव्रता घटती जाती है। इसी कारण दूर के व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है। अनेक यंत्रों के सहारे भौतिकशास्त्र में इन लहरों का बहुत गम्भीर अध्ययन किया गया है, किन्तु भाषाविज्ञान में उसकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं है।

हम कैसे सुनते हैं?

ऊपर हमने अभी देखा कि ध्वनि-लहरें कान में पहुँचती हैं, पर 'इन लहरों के कम्पन को हम कैसे सुन लेते हैं' इस बात को स्पष्ट करने के लिये संक्षेप में कान की बनावट को देख लेना होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा है, जिसको क्रम से 'बाह्य कर्ण', 'मध्यवर्ती कर्ण' और 'आभ्यंतर कर्ण' कह सकते हैं।

बाह्य कर्ण के भी दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से आरम्भ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नलिका की लम्बाई लगभग एक इंच होती है। नलिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती है।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी-सी कोठरी है, जिसमें तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है, और दूसरी ओर इसका सम्बन्ध आभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है।

इसके पीछे आभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि-समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं, जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं।

ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली (या कान का पर्दा) पर कम्पन उत्पन्न करती हैं। इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है, और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि, हवा तथा अन्य संवद्ध अणुओं में कम्पन-रूप में होती है। यह कम्पन प्रति सेकेण्ड 'फ्रीक्वेन्सी' या 'आवृत्ति' कहलाता है। यह आवृत्ति कम या अधिक हो सकती है। सामान्यतः आदमी का कान कुछ से लेकर २०,००० आवृत्ति तक की ध्वनि सुन सकता है, किन्तु साफ और समझने लायक वह केवल ६० से १०,००० तक ही सुन सकता है। सुनने की दृष्टि से काफी साफ़ आवाज केवल २०० से २००० के बीच में मानी गई है, और बहुत ही साफ १००० से २००० के बीच।

(च) ध्वनि, भाषा-ध्वनि, ध्वनिग्राम और संध्वनि

किसी भी वस्तु से किसी भी तरह का कुछ ऐसा हो जो सुना जा सके, उसे सामान्यतया 'ध्वनि' कहते हैं। पानी में मछली के कूदने से या किसी के सिर पर डंडा मारने से जो भी आवाज होगी, उसे ध्वनि कहेंगे। इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि वायुमंडलीय दबाव (atmospheric pressure) में परिवर्तन या उतार-चढ़ाव (variation) का नाम है। यह परिवर्तन वायु-कणों (air-particles) के दबाव (compression) तथा विरलन (rarefaction) के कारण होता है। भाषा के प्रसंग में या भाषाविज्ञान में जिस ध्वनि का विचार किया जाता है, वह इतनी व्यापक नहीं है। सामान्य ध्वनि से अलग करने के लिए उसे 'भाषा-ध्वनि (speech-sound या phone) या 'भाषण-ध्वनि' संज्ञा से अभिहित किया गया है। यों 'भाषा-ध्वनि' की पूर्ण परिभाषा देना प्रायः असंभव-सा है, किन्तु काम चलाने के लिए इसे कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। 'भाषा-ध्वनि' भाषा में प्रयुक्त ध्वनि की वह लघुतम इकाई है, जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तित्व हो। यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'भाषा-ध्वनि' का प्रयोग प्रायः दो रूपों में मिलता है। डॉ० डैनियल जोन्स तथा डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी आदि ने इसे

संध्वनि (आगे स्पष्ट किया जायेगा) के अर्थ में प्रयुक्त किया है, अर्थात् उनके अनुसार इसका निश्चित और अपरिवर्तनीय व्यक्तित्व होता है। दूसरी ओर, केनियन आदि कुछ अन्य विद्वान् इसे ध्वनिग्राम (आगे स्पष्ट किया जायेगा) का समानार्थी मानते हैं। ब्लूमफील्ड ने इसे एक स्थान पर प्रथम अर्थ में प्रयुक्त किया है, दूसरे स्थान पर दूसरे अर्थ में। वस्तुतः इन दो अर्थों में जब हमारे पास प्रायः सर्वस्वीकृत दो पारिभाषिक शब्द ध्वनिग्राम[1] (phoneme) और संध्वनि[2] (allophone) हैं, उन्हीं में से किसी एक अर्थ में इस तीसरे शब्द को बिना किसी आवश्यकता के प्रयुक्त करना वैज्ञानिक नहीं है, इससे अव्यवस्था ही बढ़ेगी। यहाँ 'भाषा-ध्वनि' का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया जा रहा है। 'ध्वनि' का अर्थ, जैसा कि कहा जा चुका है, बहुत व्यापक है, अतः 'भाषा-ध्वनि' वह सीमित ध्वनि है, जिसका प्रयोग मात्र भाषा में होता है। 'भाषा-ध्वनि' नाम से भी 'भाषा की ध्वनि' का ही अर्थ ध्वनित होता है। इसका आशय यह हुआ कि अन्य सामान्य ध्वनियों से भाषा की ध्वनि को अलग करने के लिए उसे 'भाषा-ध्वनि' कहा जा रहा है। साथ ही, इसका आशय यह भी हुआ कि भाषा में प्रयुक्त ध्वनि के जितने भी भेद-विभेद-प्रभेद होंगे, वे भाषा-ध्वनि के अंतर्गत ही आयेंगे। भाषा में प्रयुक्त हर प्रकार की ध्वनियों को समाहित कर लेने वाला यह एक नाम है। आगे प्रायः सर्वत्र संक्षेप और प्रचलन की दृष्टि से 'भाषा-ध्वनि' के स्थान पर केवल 'ध्वनि' शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा।

शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी व्यक्ति कभी भी एक ध्वनि को दो या अधिक बार ठीक एक ढंग से नहीं कहता। यदि अभी हमने 'राम्' कहा और दो मिनट बाद फिर 'राम्' कहें तो विज्ञान कहेगा कि ये दोनों 'राम्' ध्वन्यात्मक दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं हैं। इस बात के सत्य होते हुए भी भाषा में इस अन्तर का हम विचार नहीं करते। किन्तु इसी प्रकार का एक दूसरा अंतर भी है, जिसका विचार भाषा में किया जाता है। एक वाक्य है—'नागपुर में आग लगी और एक गुड़िया जल गई।' इसमें पाँच 'ग' हैं। लिखने वाला इन्हें इसी ढंग से लिखेगा और सामान्य दृष्टि से इन्हें एक 'ग' ध्वनि माना जायगा, किन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ये पाँचों 'ग' एक ध्वनि न होकर पाँच अलग-अलग ध्वनियाँ हैं। इनमें आपस में अंतर है। पहला 'ग' स्फोटहीन है और साथ ही आगे आने वाले 'प' के प्रभाव के कारण अघोष-सा होकर 'क' ध्वनि के समान है (नाक्पुर)। 'दूसरा 'ग' स्फोटहीन है। तीसरा 'ग' साथ की 'ई' ध्वनि के प्रभाव के कारण कुछ थोड़ा आगे को हट गया है। चौथा 'ग' 'उ' के प्रभाव के कारण थोड़ा पीछे बढ़ गया है। अंतिम 'ग' स्वतंत्र रूप में उच्चरित

---

१. हिन्दी में इसके लिए स्वरग्राम, ध्वनि-श्रेणी, ध्वनि-तत्व या वर्ण आदि का भी प्रयोग किया गया है।

२. इसके लिए अंग्रेजी में divergents, sub-phonemic variants या subsidiary members का प्रयोग भी किया गया है, यद्यपि अब ये पूर्णतया अप्रचलित हैं। हिन्दी में इन्हें 'ध्वन्यंग' या 'संस्वन' आदि भी कहा गया है।

'ग' से थोड़ा आगे है। यह 'ई' का प्रभाव है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से पाँचों 'ग' पाँच ध्वनियाँ हैं। किसी भाषा में किसी भी ध्वनि को लें, अपनी विशिष्ट स्थिति या आस-पास की ध्वनियों के प्रभाव के कारण उसके स्थान तथा कभी-कभी प्रयत्न की भी दृष्टि से विभिन्न रूप मिलेंगे। कुछ और उदाहरण लिये जा सकते हैं। 'ल' ध्वनि से युक्त 'हल्दी', 'लू', 'बाल्टी' इन तीन शब्दों को देखें। इनमें किसी में भी 'ल' का वह प्रकृत रूप नहीं है, जो अलग केवल 'ल' का उच्चारण करने पर मिलता है। पहला 'ल' द के प्रभाव के कारण दंत्य हो गया है, दूसरा प्रकृत 'ल' से ऊ के प्रभाव के कारण थोड़ा पीछे है और तीसरा 'ट' के प्रभाव के कारण थोड़ा पीछे ही नहीं हटा है, अपितु मूर्द्धन्य-सा हो गया है। यही नहीं, इस स्थिति में उच्चारण-स्थान के साथ ल के प्रयत्न में भी अंतर पड़ जाता है और जीभ की नोक उलट कर उसका उच्चारण किया जाता है। सभी भाषाओं में प्रायः सभी ध्वनियों के इसी प्रकार के विभिन्न रूप मिलते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में इन ध्वनियों को 'ग' या 'ल' कहना एक सामूहिक नाम देने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'ग' ध्वनि के ग-१, ग-२, ग-३, ग-४, ग-५, ये पाँच रूप प्रयुक्त हुए हैं और इसी प्रकार 'ल' ध्वनि के ल-१, ल-२, ल-३, ये तीन रूप। किसी भाषा में किसी भी ध्वनि के ये विभिन्न रूप ही संध्वनि (allophone) कहलाते हैं, और उनका सामूहिक रूप से सबको ढक लेने वाला एक नाम ध्वनिग्राम (phoneme) कहलाता है। यहाँ 'ग' और 'ल' दो 'ध्वनिग्राम' हैं और दोनों की क्रम से पाँच और तीन 'संध्वनियाँ' हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि 'ग' एक परिवार है, जिसमें पाँच सदस्य हैं। इसी प्रकार 'ल' परिवार के तीन सदस्य हैं। बहुत-सी संध्वनियों को अपने अन्तर्गत समाहित करने के कारण ही इसे 'ध्वनिग्राम' या 'ध्वनि-श्रेणी' कहते हैं।[1] सर्वदा तो नहीं, किन्तु प्रायः ध्वनिग्राम के लिए ही एक लिपिचिह्न मान लेते हैं और उसके अन्तर्गत आने वाली सारी संध्वनियों के लिए लिखने में उसी का प्रयोग होता है।[2] उदाहरणार्थ,

---

१. ब्लॉक और ट्रैगर लिखते हैं—A Phoneme is a class of phonetically similar sounds...The individual sounds which compose a phoneme are its allphones, डैनियल जोन्स लिखते हैं—A phoneme is a family of sounds in a given language, which are related in character and are used in such a way that no one member ever occurs in a word in the same phonetic context as any other member. ग्लीसन लिखते हैं—A phoneme is a class of sound which are phonetically similar and show certain characteristic patterns of distribution in the language.

२. विगफील्ड ध्वनिग्राम को 'A group of speech sounds nearly enough alike to be treated as a unit for alphabetic purposes.' रूप में परिभाषित करते हैं।

हिन्दी में लिखने में 'ग' का प्रयोग उसके अंतर्गत आने वाली सभी संध्वनियों (उपर्युक्त उदाहरण में ग-१, ग-२, ग-३, ग-४, ग-५) के लिए होता है, इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी।

यहाँ ध्वनिग्राम और संध्वनि सम्बन्ध में तीन अन्य बातें भी उल्लेख्य हैं: (१) ध्वनिग्राम और संध्वनि किसी भाषा विशेष के होते हैं, सर्वसामान्य नहीं। अर्थात् यह तो कहा जा सकता है कि अमुक भाषा में इतने ध्वनिग्राम और इतनी संध्वनियाँ हैं, किन्तु बिना भाषा-विशेष के संदर्भ के उनका अस्तित्व नहीं। (२) भाषा में प्रयोग संध्वनि का होता है। अतः यथार्थ सत्ता उसी की है। ध्वनिग्राम तो मिलती-जुलती संध्वनियों के परिवार या समूह का सामूहिक नाम मात्र है, अर्थात् काल्पनिक है; भाषा में उसका प्रयोग नहीं होता। (३) किसी भाषा में एक ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ आपस में 'परिपूरक वितरण' में होती हैं, अर्थात् एक संध्वनि जिस विशेष परिस्थिति में आती हैं, उसमें दूसरी कोई संध्वनि नहीं आती। दूसरी तथा तीसरी बात पर आगे 'ध्वनिग्रामविज्ञान' पर स्वतंत्र रूप से विचार करते समय, कुछ विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

(उ) ध्वनियों का वर्गीकरण

भाषा की स्वाभाविक इकाई वाक्य और उसकी कृत्रिम लघुतम इकाई 'भाषा-ध्वनि' या 'ध्वनि' है। भाषा का अध्ययन भी कृत्रिम है, अतः उसे अपने लिये कृत्रिम लघुतम इकाई ध्वनि की सहायता लेनी पड़ती है। ध्वनि के बारे में पीछे थोड़ा-बहुत कहा जा चुका है। यहाँ उसके वर्गीकरण और नामकरण की समस्या पर विचार करना है।

पीछे हम देख चुके हैं कि ध्वनियों को मुँह से उच्चरित करते हैं, उनकी तरंगें चल कर दूसरे के कान तक पहुँचती हैं और दूसरा व्यक्ति उन्हें सुन लेता है। इस प्रकार इसके तीन रूप हैं, या अथ से इति तक इसकी तीन स्थितियाँ हैं: उत्पत्ति, गमन, श्रवण। वस्तुतः ध्वनियों का वर्गीकरण और नामकरण इन तीनों ही आधारों पर किया जा सकता है। (क) उत्पत्ति में करण (articulator) की सहायता से विशेष स्थान से विशेष प्रत्यत्न द्वारा हम उच्चारण करते हैं, अतः इनके आधार पर भी ध्वनियाँ वर्गीकृत की जा सकती हैं। (ख) उत्पन्न होते ही ध्वनियों की लहरें बनती हैं और वे लहरें स्वरूप, तीव्रता, गति आदि की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की होती हैं, जैसा कि तरह-तरह के यंत्रों से उनके बारे में पता चलता है। इन लहरों के आधार पर भी ध्वनियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। (ग) सुननेवाले पर ध्वनियों का प्रभाव पड़ता है, अतः श्रवण-प्रतिक्रिया या श्रवण-प्रभाव के आधार पर भी ध्वनियों को वर्गीकृत किया जा सकता है।

इन तीनों वर्गीकरणों में जहाँ तक तीसरे का सम्बंध है, एक तो वह वस्तुगत

(objective) न होकर आत्मगत (subjective) है, अर्थात् उसका प्रभाव सुनने वाले पर भी निर्भर करता है। सुननेवाला जिसे मीठी आवाज समझता है, उसे दूसरा कुछ और समझ सकता है। अतः उसके आधार पर दिया गया नाम, या किया गया वर्गीकरण वस्तुतः उसके लिये तो सुबोध होगा, किंतु दूसरे के लिये नहीं होगा। साथ ही ध्वनि-श्रवण के प्रभाव को व्यक्त करने के लिये अभी तक संसार की किसी भी भाषा में स्पष्ट और पर्याप्त शब्दावली का अभाव है। केवल मधुर, कर्कश, भारी, पतली, मोटी, भर्राई, उखड़ी, टूटी आदि कुछ ही शब्दों के द्वारा स्पष्ट रूप से सभी भाषा-ध्वनियों का ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार श्रवण के आधार पर हमारा काम नहीं चल सकता, यद्यपि चल पाता तो बहुत ही अच्छा होता है।

दूसरा आधार लहरों का है। इन ध्वनि-लहरों को हम आँख से नहीं देख सकते और न तो बहुत कीमती और जटिल यंत्रों की सहायता के बिना उनके बारे में कुछ जान ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में इस आधार पर ध्वनियों का अध्ययन-विश्लेषण-वर्गीकरण-नामकरण बहुत व्यय साध्य तो है ही, साथ ही यह भौतिकशास्त्रज्ञ के ही वश का है, भाषाविज्ञानज्ञ के वश का नहीं। विश्व के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानज्ञों में ऐसे लोग बहुत ही कम हैं, जो इन यन्त्रों का पूरा उपयोग कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह आधार भी हमारे बहुत काम का नहीं है। यों इन यंत्रों के पूर्ण विकास और बहुत से लोगों के भौतिकशास्त्री 'भाषाविज्ञानज्ञ' होने पर लहरों की सहायता से भाषा के बारे में बहुत कुछ बहुत सही और निश्चित रूप में जाना जा सकता है। अतः इसे भविष्य का विषय मानकर, फ़िलहाल हमें अपना ध्यान इस पर से भी हटाना होगा।

शेष रहता है पहला आधार। वस्तुतः यह आधार बहुत अच्छा नहीं है। ध्वनि पैदा करने वाले अवयवों के आधार पर ध्वनि का नामकरण तो वैसा ही है, जैसे कोई मेज पर हाथ से मारे तो निकलने वाली आवाज को हम 'हाथ-मेज आवाज' नाम दें। यह नाम कितना हास्यास्पद है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'थप्पड़-मुँह-ध्वनि', 'डंडा-पीठ-ध्वनि' या 'सिर-दीवाल-ध्वनि' भी नाम रखे जा सकते हैं, पर ये सभी वस्तुतः नाम नहीं हैं, अपितु नाम की बिडंवना है। कहना न होगा कि मुँह से निकलने वाली ध्वनियों को भी 'दंतोष्ठ्य' या 'द्वयोष्ठ्य' आदि कहना उसी रूप में और उतना ही हास्यास्पद है, किन्तु अन्य दोनों आधारों के अव्यावहारिक होने पर हार कर भाषाविज्ञानविदों को इसी का सहारा लेना पड़ा है। यों यह प्रसन्नता का विषय है कि हास्यास्पद होते हुए भी यह आधार बिल्कुल ही अव्यय-साध्य, वस्तुगत एवं सरल है, और इसके आधार पर बिना किसी विशेष परेशानी के ध्वनियों का नामकरण, वर्गीकरण आदि किया जा सकता है। यों इसमें कुछ थोड़ी सहायता अन्य दो (तथा अगले नं० ४) से भी ली जा सकती है। उपर्युक्त तीन आधारों के आधार थे, (१) ध्वनि की उत्पत्ति, (२) उसका गमन, और (३) श्रवण। भाषा में ध्वनि का प्रयोग होता है, अतः (४) प्रयोग के आधार पर भी ध्वनियों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

स्वर और व्यंजन

ध्वनियों का सबसे अधिक प्रचलित और प्राचीन वर्गीकरण 'स्वर' और 'व्यंजन' के रूप में मिलता है। यूरोप में इस प्रसंग में प्रथम नाम, प्रसिद्ध और एक प्रकार से सच्चे अर्थों में प्रथम यूनानी वैयाकरण डायोनिशस थ्रैक्स का लिया जाता है। उन्होंने 'व्यंजन'[1] उन ध्वनियों को कहा जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता, और 'स्वर' उन ध्वनियों को कहा जिनका उच्चारण बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के किया जा सकता है। थ्रैक्स का समय ईसा पूर्व दूसरी सदी है। संस्कृत में 'स्वर' शब्द का प्रथम प्रयोग यों तो ऋग्वेद में मिलता है। वहाँ इसका अर्थ 'ध्वनि' है (यह शब्द 'स्वृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'ध्वनि करना' है) और आगे चलकर इसका अर्थ 'बलाघात' या 'सुर' हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण में इस अर्थ में इसका प्रयोग है; और आगे चलकर यह आज के प्रचलित अर्थ (vowel या ध्वनि का एक भेद) में प्रयुक्त होने लगा। इस अर्थ में प्रथम प्रयोग संभवतः ऐतरेय आरण्यक में मिलता है। ऐतरेय आरण्यक के उसी प्रसंग से यह भी पता चलता है कि इस अर्थ में पहले 'घोष' शब्द का प्रयोग होता था (तस्य यानि व्यंजनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा)। 'व्यंजन' का सम्बन्ध 'अंज्' (=प्रकट करना) धातु से है और इसका अर्थ है 'जो प्रकट हो।' ध्वनि के विशेष रूप (consonant) के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भी ऐतरेय आरण्यक से पहले शायद कहीं नहीं मिलता। ऊपर ऐतरेय आरण्यक से जो उदाहरण दिया गया है, उससे यह भी स्पष्ट है कि उस काल तक भाषा में स्वर के महत्त्व को पहचाना जा चुका था। आगे चलकर इसी बात को दूसरे शब्दों में पंतजलि ने कहा। पतंजलि महाभाष्य में लिखते हैं—'स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यंजनमिति।' 'व्यंजनानि पुनर्नट भार्यावद् भवन्ति। तद् यथा नटानां स्त्रियोरंगं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयम्, इति तं तं तवेत्याहु एवं व्यंजनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।' इसी बात को अन्यत्र भी कहा गया है—'यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतंजलिः। उपरिस्थायिना तेन व्ययं व्यंजनमुच्यते।' याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी कहा गया है—'दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः। दुर्बलं व्यंजनंतद्वद्धते बलवान् स्वरः।' 'वृत्तित्रय वार्त्तिक' आदि अन्य कई प्राचीन ग्रंथों में भी इसी प्रकार की बातें व्यक्त की गई हैं।

ऊपर के सारे उद्धरणों में स्वर की प्रधानता तथा व्यंजन की अप्रधानता की बात तो है, किन्तु 'स्वर के स्वयं उच्चरित होने' तथा 'व्यंजन के स्वर की सहायता से उच्चरित होने' की बात स्पष्ट नहीं है। पतंजलि ने अन्यत्र—न पुनरन्तरेणाच व्यंजनस्योच्चारणमपि भवति—इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है। पतंजलि और प्रसिद्ध ग्रीक वैयाकरण थ्रैक्स एक ही सदी में हुए थे। यह अजीब बात है कि स्वर-व्यंजन के

---

१. consonant शब्द का सम्बन्ध लैटिन consonantem शब्द से है, जिसका अर्थ है 'दूसरे के साथ ध्वनित या उच्चरित होने वाला'।

बारे में आज से २१-२२ सौ वर्ष पूर्व थ्रैक्स जो बात यूनान में कह रहे थे, वही बात भारत में पतंजलि कह रहे थे। यों भारत के लिए यह श्रेय की बात है कि उस समय से भी ७-८ सौ वर्ष पहले अस्पष्ट रूप में ही सही, इस धारणा के बीज पड़ चुके थे, जिसके संकेत ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में मिलते हैं।

कहना न होगा कि भारत और यूरोप द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा कि व्यंजन वे हैं जिनका उच्चारण स्वर की सहायता के बिना नहीं हो सकता और स्वर वे हैं जिनका हो सकता है, पूर्णतः गलत है। हिन्दी के तथाकथित अकारान्त शब्द यथार्थतः व्यंजनांत हैं, अर्थात् उनके अंत में व्यंजन अकेले बिना स्वर की सहायता के उच्चरित होता है, जैसे राम्, राख्, आप् आदि। इसके अतिरिक्त कई भाषाओं में ऐसे पूरे-के-पूरे शब्द हैं, जिनमें एक भी स्वर नहीं है। अतः व्यंजन के स्वर की सहायता के बिना न उच्चरित होने की तो बात ही क्या, पूरे शब्द स्वर की सहायता के बिना उच्चरित हो सकते हैं। रूमानिया तथा अफ्रीका की भाषाओं में ऐसे शब्द हैं। उदाहरणार्थ, अफीका की इबो भाषा में ङ्ग्ङ्ग्ङ् (पार्सल)। चैक भाषा का तो एक पूरा वाक्य ऐसा है, जिनमें एक भी स्वर नहीं हैं—Strc prst skrz krk [गले (अपने) में उँगली दबाओ]। इस प्रकार स्वर-व्यंजन की यह परिभाषा भ्रामक है। दोनों का ही उच्चारण किया जा सकता है (मनोरमाकार ने एक स्थान पर संकेत किया है कि उच्चारण सभी ध्वनियों का हो सकता है, किन्तु मात्र व्यंजन का उच्चारण सरल नहीं है, यह बात अस्वीकार्य नहीं कही जा सकती)। स्, ज्, आदि के उच्चारण में यह बहुत स्पष्ट है। इस बात का अनुभव पिछली सदी में ही किया गया और हवा के प्रवाह की अनवरतता के आधार पर इन दोनों (स्वर, व्यंजन) में भेद किया गया। प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों में में स्वीट, पाल पासी, डैनियल जोन्स, आदि बहुतों ने इसे स्वीकार किया है। इन लोगों के अनुसार :

'स्वर वह घोष (कभी-कभी अघोष भी) ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुख-विवर से निकल जाती है।'

'व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से नहीं निकलने पाती। या तो इसे पूर्ण अवरुद्ध होकर फिर आगे बढ़ना पड़ता है, या संकीर्ण मार्ग से घर्षण खाते हुए निकलना पड़ता है, या मध्य रेखा से हटकर एक या दोनों पार्श्वों से निकलना पड़ता है, या किसी भाग को कंपित करते हुए निकलना पड़ता है। इस प्रकार वायु-मार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है।

लगभग यही परिभाषा आर्मफ़ील्ड, वेस्टरमैन, वार्ड, ग्रे, ब्लाक और ट्रेगर आदि ने भी मानी है, किन्तु साथ ही इन लोगों ने यह भी प्रायः स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है कि यह परिभाषा पूर्णतः ठीक नहीं है, और इस रूप में स्वर और व्यंजन में स्पष्ट रूप से कोई सीमारेखा खींचना असम्भव है। बात ठीक भी है। ईख, ऊब, में ई, ऊ में हवा बिना अवरोध निकल जाती हो, ऐसी बात नहीं है। इनकी तुलना में तो 'ह'

के उच्चारण में अवरोध प्रायः नहीं-सा है। केनियन तो 'ल' की तुलना में 'ई' में अधिक अवरोध मानते हैं। यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि यहाँ जिस अवरोध की कमी-वेशी की बात की जा रही है, वह मुँह का है, स्वर-यंत्र का नहीं; क्योंकि स्वर-यन्त्र में तो सभी घोष व्यंजनों की भाँति स्वरों में भी अवरोध के कारण घर्षण होता है।

इस प्रकार उस प्राचीन परिभाषा की भाँति ही यह नवीन परिभाषा भी ठीक नहीं है। इसी कारण कुछ नवीन ध्वनिशास्त्रियों ने 'स्वर' और 'व्यंजन' के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए नये नामों का व्यवहार किया है। पाइक ने उच्चारण और श्रवण-प्रभाव के आधार पर ध्वनियों के vocoid और contoid दो भेद किये हैं। उनका 'वक्वॉइड' स्वर (vowel) के बहुत समीप होते हुए भी उससे अभिन्न नहीं है। यही बात 'कान्ट्वॉइड' और व्यंजन (consonant) के भी बारे में है। हॉकिट आदि कुछ अन्य विद्वान् भी इसके पक्ष में हैं। हेफ्नर ने दूसरे ही शब्दों का प्रयोग किया है। वे ध्वनियों को syllabic (आक्षरिक) और nonsyllabic (अनाक्षरिक) दो वर्गों में रखते हैं। कहना न होगा कि भारत में भी कुछ लोगों का मत लगभग इसी प्रकार का था, जिसका उल्लेख हो चुका है। 'सिलबिक' स्वर का समानार्थी न होता हुआ भी उसके निकट है, और 'नानसिलबिक' व्यंजन का पर्यायवाची न होता हुआ भी उससे बहुत दूर नहीं है।

पूरी समस्या पर विचार करने पर ऐसा कहना पड़ता है कि नये नामों में समस्या का हल नहीं दीखता। नये नाम लेकर इन विद्वानों ने जो परिभाषाएँ दी हैं वे *ही स्वर और व्यंजन को भी दी जा सकती हैं। आवश्यकता नये नामों की न होकर* स्वर और व्यंजन की नई परिभाषा की है, उनके बीच यदि अन्तर है तो उसे स्पष्ट करने की है, और यदि नहीं है तो उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करने की है। साथ ही दोनों में बहुत दो-टूक अन्तर न होने पर भी यदि उनकी प्रायोगिक सार्थकता है, तो बिना किसी झिझक के एक ओर अन्तर की अस्पष्टता को स्वीकार करने की है, और दूसरी ओर उन्हें भाषा के अध्ययन में अपनाने और उनके महत्त्व को उचित रूप में पहचानने की है।

इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि प्राचीन काल से अब तक स्वर-व्यंजन के भेद के बारे में विश्व में कहीं भी जो बातें कही गई हैं, वे पूर्णतः सत्य तो नहीं हैं, किन्तु अंशतः सत्य अवश्य हैं, अतः उनमें किसी को भी बिल्कुल व्यर्थ मान बैठना बहुत ठीक नहीं है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है—

(१) स्वरों का उच्चारण अकेले भी सरलता से किया जा सकता है, किन्तु व्यंजनों का अकेले उच्चारण करने में स्, ज्, श् आदि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः *विशेष सावधानी अपेक्षित है। अस्फोटित स्पर्श भाषा में या तो शब्दांत (आप्) में* आते हैं या अन्य स्थानों पर किसी व्यंजन के पूर्व संयुक्त रूप में (प्लेग)। ऐसी स्थितियों में इनका स्वरविहीन उच्चारण होता है, किन्तु स्वतन्त्र उच्चारण में या स्फोटित स्पर्श

के उच्चारण में, चाहे जतनी भी सावधानी वरती जाय, थोड़ी-सी स्वर-ध्वनि सुनाई पड़ ही जाती है (क्, प्) ।

(२) प्रायः सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है । व्यंजनों में केवल संघर्षी ही ऐसे हैं, शेप का उच्चारण देर तक नहीं हो सकता।

(३) एक-दो (ई, ऊ) अपवादों को छोड़कर अधिकांश स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में हवा गूँजती हुई बिना विशेष अवरोध के निकल जाती है । अधिकांश व्यंजन इसके विरोधी हैं, और उनमें पूर्ण या अपूर्ण अवरोध हवा के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करता है ।

(४) सभी स्वर आक्षरिक (syllabic) हैं । संध्यक्षरों (diphthong) में अवश्य कुछ स्वरों का अनाक्षरिक स्वरूप दिखाई पड़ता है, किन्तु वह अपवाद-जैसा है । दूसरी ओर प्राय: सभी व्यंजन सामान्यत: अनाक्षरिक (non-syllabic) हैं । अपवादस्वरूप न्, र्, ल् आदि चार-पाँच व्यंजन ही, कभी-कभी कुछ भाषाओं में आक्षरिक रूप में दृष्टिगत होते हैं। यह आधार प्रायोगिक है ।

(५) मुखरता (sonority) की दृष्टि से भी स्वर-व्यंजन में भेद है । स्वर अपेक्षाकृत अधिक मुखर होते हैं और व्यंजय कम मुखर । कुछ अपवाद भी हैं, किन्तु वे अपवाद ही हैं । यों जैसा कि इसी अध्याय में अन्यत्र दिखाया जायेगा, इस दृष्टि से स्वरों और व्यंजनों के अलग-अलग स्तर बनाये जा सकते हैं । यह आधार श्रवणीयता का है ।

(६) ऑसिलोग्राफ़ आदि यंत्रों में स्वर और प्रमुख व्यंजनों की लहरों में भी अन्तर मिलता है । हाँ, यह अवश्य है कि र्, म्, आदि कुछ व्यंजनों की लहरें प्रकृति की दृष्टि से स्वर और व्यंजन के बीच में आती हैं ।

इस प्रकार सभी स्वरों और व्यंजनों में (क) स्पष्ट, दो-टूक भेद नहीं है; (ख) कुछ धुँधला-सा भेद अवश्य है, जिसका आधार श्रवणीयता, प्रायोगिकता और उच्चारण आदि है; (ग) यदि इन दृष्टियों से स्पष्ट भेद वाले कुछ स्वरों को एक वर्ग में रखकर उन्हें 'स्वर'; स्पष्ट भेद वाले कुछ व्यंजनों को एक वर्ग में रखकर उन्हें 'व्यंजन'; और स्पष्ट भेद न रखने वाले स्वरों और व्यंजनों को 'मिश्र' या 'अन्तस्थ' शीर्षक के अन्तर्गत तीन वर्गों में रख दिया जाय तो विशेष कठिनाई न होगी । यों स्पष्ट भेद न रहने पर भी शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से परम्परागत रूप में कुछ ध्वनियों को स्वर और कुछ को व्यंजन कहना और उसी रूप में उन पर विचार करना कई दृष्टियों से बहुत उपयोगी है, इसीलिए सभी ध्वनिशास्त्रियों को किसी न किसी रूप या नाम से इन्हें स्वीकार करना ही पड़ा है ।

स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नांकित हैं—

(१) जीभ का कौन-सा भाग करण[१] (articulator) का कार्य करता है ?

---

१. उच्चारण करने में प्रमुख सहायक अङ्ग ।

स्वरों के उच्चारण में भीतर से आती हवा के रास्ते में कोई खास रुकावट प्रायः नहीं होती। जो ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसका वह स्वरूप प्रमुखतः निर्भर करता है, मुँह में हवा के गूँजने पर। विभिन्न स्वरों के गूँजने के लिए मुख-विवर विभिन्न रूप धारण करता है। इस काम में जीभ का अग्र, मध्य या पश्च भाग ऊपर उठकर मुँह की सहायता करता है। इस प्रकार स्वर के उच्चारण में जीभ का जो भाग (अग्र, पश्च, मध्य) व्यवहृत होता है, उसके आधार पर उसे अग्रस्वर, पश्चस्वर या मध्यस्वर नाम देते हैं। आशय यह कि इस आधार पर स्वरों के प्रमुखतः अग्र, पश्च, मध्य ये तीन वर्ग बनते हैं। यों और सूक्ष्मता से विचार करके और भी वर्ग बनाये जा सकते हैं। हिन्दी स्वरों में इ, ई, ए अग्र हैं, उ, ऊ, ओ, आ पश्च हैं और अ मध्य।

(२) जीभ का व्यवहृत भाग कितना उठता है ?

पीछे कहा जा चुका है कि स्वर का स्वरूप मुख-विवर के उस स्वरूप पर निर्भर करता है, जिसमें हवा बाहर निकलते समय गूँजती है। यह स्वरूप जीभ के अग्र, पश्च या मध्य भाग के उठने पर निर्भर करता है। अर्थात्, यदि जीभ का विशिष्ट भाग बहुत उठा हो तो मुख-विवर अत्यन्त सँकरा अर्थात् 'संवृत' होगा और यदि वह नहीं के बराबर उठा तो मुख-विवर बहुत खुला या 'विवृत' होगा। इन दोनों के बीच में यों तो अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं, किन्तु प्रमुख रूप से 'अर्द्ध-विवृत' और 'अर्द्ध-संवृत' दो मानी जाती हैं, अर्थात् इस आधार पर स्वर के चार वर्ग बने। हिन्दी में आ विवृत, ऑ अर्द्ध-विवृत, ए, ओ अर्द्ध-संवृत और ई, ऊ संवृत हैं।

(३) ओष्ठों की स्थिति।

स्वरों का स्वरूप ओठों की स्थिति पर भी निर्भर करता है। यों तो ओठों की स्थितियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, किन्तु प्रमुख दो हैं : वृत्तमुखी या वृत्ताकार, जैसे ऊ, उ आदि में। और अवृत्तमुखी या अवृत्ताकार जैसे आ, ए आदि में। कुछ स्वरों में ओष्ठ विस्तृत (ई), पूर्ण विस्तृत (ए), उदासीन (अ), स्वल्प वृत्ताकार (ऑ), एवं पूर्ण वृत्ताकार (ऊ) आदि भी होते हैं।

(४) मात्रा—

स्वरों का स्वरूप मात्रा पर निर्भर करता है। इस आधार पर यों तो सूक्ष्म दृष्टि से स्वरों के अनेक भेद या वर्ग हो सकते हैं, किन्तु प्रमुख ह्रस्वार्द्ध (उदासीन स्वर (अँ), ह्रस्व (अ), दीर्घ (आ) और प्लुत (ओ३म्) ये चार हैं।

(५) कोमल तालु और कौवे (अलिजिह्व) की स्थिति।

पीछे शारीरिक ध्वनिविज्ञान में देखा जा चुका है कि ये दोनों कभी तो नासिका मार्ग को रोककर हवा को केवल मुँह से निकलने को बाध्य करते हैं और कभी बीच में रहते हैं, अर्थात् हवा का कुछ अंश मुँह से निकलता है और कुछ नाक से। पहली स्थिति में मौखिक स्वर (अ, आ, ए आदि) उच्चरित होते हैं, और दूसरी स्थिति में नासिक्य या अनुनासिक स्वर (अँ, आँ, ईं)।

सभी स्वरों के ये दोनों रूप सम्भव हैं। अनुनासिक स्वरों के दो भेद होते हैं ; (१) पूर्ण अनुनासिक—जैसे हाँ का आँ। (२) अपूर्ण अनुनासिक—जैसे राम् का 'आ।

(६) स्वरतंत्रियों की स्थिति

पीछे कहा जा चुका है कि स्वरतंत्रियों की स्थिति विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में एक-सी नहीं रहती। 'घोष' उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण के लिए स्वरतन्त्रियों के बीच से आती हुवा, उनके एक दूसरे के समीप आ जाने के कारण, घर्षण करती हुई निकलती है, जिससे स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। प्रायः स्वर घोष होते हैं अर्थात् उनका उच्चारण स्वरतन्त्रियों की उपर्युक्त स्थिति में होता है। 'अघोष' उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण के समय, स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरी से इतनी दूर रहती हैं कि उनके बीच आने वाली हवा सरलता से, बिना घर्षण किये निकल आती है, *अर्थात् स्वरतन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। केवल कुछ ही भाषाओं में* कुछ स्वर अघोष होते हैं। हिन्दी की बोलियों में उ, इ, ए के अघोष रूप मिलते हैं। स्वरों के नीचे एक छोटा वृत्त रख कर उसका अघोष रूप व्यक्त करते हैं जैसे इ, उ, आदि। अघोष स्वरों को ही जपित या फुसफुसाहट वाले स्वर भी कहते हैं। इसी प्रसंग में मर्मर स्वर (murmur vowel) का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसे अधिकांश विद्वानों ने घोष और जपित के बीच की स्थिति माना है, इसीलिए इसे अर्द्धघोष (halfvoiced) कहते हैं। इसके साथ एक रगड़ जैसी आवाज सुनाई पड़ती है। इसमें हवा का दबाव घोष और जपित दोनों प्रकार के स्वरों से कुछ कम होता है। बलाघातहीन अक्षर के स्वर कभी-कभी ऐसे होते हैं। potato के प्रथम O का स्वरूप कुछ लोगों के अनुसार ऐसा ही है।

बीमार या कमजोर आदमी द्वारा बोले गये अधिकांश स्वर इसी प्रकार के हो जाते हैं। हिन्दी में 'यह', 'वह' आदि शब्दों में जब 'ह' प्रायः अनुच्चरित-सा होता है, पूर्ववर्ती 'अ' मर्मर स्वर हो जाता है। भाषा के विकास में 'मर्मर-स्वर' धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। मर्मरता की कमी-बेशी के आधार पर कई प्रकार के मर्मर स्वर हो सकते हैं।

(७) मुँह की मांसपेशियाँ तथा अंग आदि कभी-कभी तो कड़े होते हैं, और कभी शिथिल। इस आधार पर भी स्वरों के दो भेद हो सकते हैं : शिथिल (lax) और दृढ़ (tense)। इ, उ, अ आदि शिथिल हैं और ई, ऊ दृढ़। 'ए' आदि कुछ ध्वनियाँ दोनों के मध्य में मानी जा सकती हैं।

(८) कुछ स्वर मूल (monophthong) होते हैं, अर्थात् उनके उच्चारण में जीभ एक स्थान पर रहती है, जैसे अ, ई; और कुछ संयुक्त स्वर (diphthong) होते हैं, अर्थात् उनके उच्चारण में जीभ एक स्वर के उच्चारण से दूसरे स्वर के उच्चारण की ओर चलती है। इन्हें श्रुति (glide) कहा जा सकता है। अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र

में ऐ (अए) औ (अओ) का उच्चारण ऐसा ही होता है। मूल और संयुक्त का वर्गीकरण स्वर की प्रकृति पर आधारित है: आगे संयुक्त स्वर पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है।

इस प्रकार स्वरों का वर्गीकरण प्रमुखतः आठ आधारों पर किया जा सकता है। इनमें प्रथम तीन आधार अधिक महत्वपूर्ण हैं।

मान स्वर*

मान स्वर किसी विशेष भाषा के नहीं होते, अपितु विवृतता-संवृतता तथा अग्रता-पश्चता-मध्यता आदि की दृष्टि से किसी भी भाषा के स्वरों का स्थान निर्धारित करने के लिए काम में आने वाले मानक या मानदंड मात्र हैं।

जैसा कि आगे चित्रों से स्पष्ट हो जायगा, मान स्वर चतुर्भुज रूप में दिखाये जाते हैं, यद्यपि परम्परावश इन्हें स्वर-त्रिभुज (Vowel triangle) कहते हैं। आधुनिक काल में स्वरों के स्थान का ठीक-ठीक अध्ययन करने का प्रयास सर्वप्रथम जान-वलिस ने १६५३ ई० के आसपास किया। १७८० के आसपास एक स्वाबियन विद्वान् हेलवैग ने उच्चारण-स्थान के आधार पर स्वरों का एक त्रिभुज बनाया :
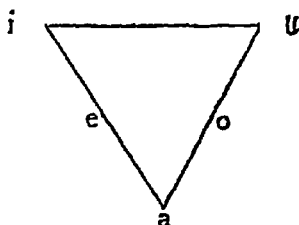
स्वर-त्रिभुज की परम्परा का आरम्भ यहीं से होता है, और इसी त्रिभुज की परम्परा में आने से आज का स्वर-चतुर्भुज भी स्वर-त्रिभुज कहलाता है। आज का प्रचलित स्वर-चतुर्भुज डैनियल जोन्स की देन है।

इस का आधार मूलतः जीभ का स्थान है, किन्तु ओष्ठ तथा स्वरों की श्रवणीयता भी इसमें समाहित है।

स्वरों में उच्चारण में प्रायः जीभ तालु के निकट एक खास ऊँचाई तक ही उठती है। यदि जीभ उसके ऊपर उठे तो हवा को श्रवणीय घर्षण के साथ निकलना पड़ता है, अर्थात् तब स्वरों का उच्चारण नहीं हो सकता। उस खास ऊँचाई से होकर

*अंग्रेजी में इसे Cardinal Vowel तथा हिन्दी में आदर्श स्वर, प्रधान स्वर, आधार स्वर, मूल स्वर, मानक स्वर, प्रधान अक्षर, मानाक्षर, प्रमाणाक्षर आदि कहा गया है।

गुजरने वाली कल्पित रेखा स्वर रेखा (दि० अगला दूसरा चित्र) कहलाती है। इसी रेखा पर आगे की ओर एक विन्दु माना जा सकता है, जहाँ तक जीभ का अग्रभाग अधिक-से-अधिक जा सकता है। इसी बिन्दू पर मान स्वर 'ई' की स्थिति मानी जाती है। इसी प्रकार पीछे जीभ का पश्च भाग अधिक से अधिक एक खास विन्दु तक उठ सकता है। मान स्वर 'ऊ' इसी पर माना जाता है। अग्र भाग और पश्च भाग ऐसे ही नीचे एक खास विन्दु तक जा सकते हैं, जिन पर क्रम से मान स्वर अऽ और आ माने जाते हैं। इस प्रकार ये चारों विन्दु स्वर-उच्चारण में जीभ की चार सीमाओं को प्रकट करते हैं, अर्थात् जीभ को इनसे वाहर ले जाकर स्वर का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इनका स्वाभाविक स्थान कुछ इस प्रकार है :
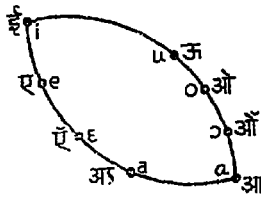
यहाँ उपर्युक्त चार विन्दुओं के अतिरिक्त, दो आगे और दो पीछे, अर्थात् ४ और
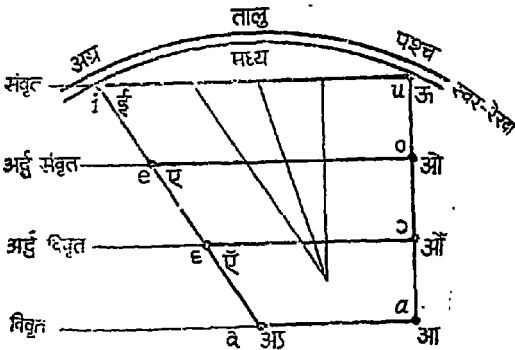
भी हैं। चारों के वीच में अन्य स्थानों पर आने वाले स्वरों का स्थान-निर्धारण करने के लिए इन्हें मान लिया गया है। इस चित्र को अधिक प्रचलित रूप में यों (पृ० ३३३ का दूसरा चित्र) बनाया जाता है। 'संवृत' का अर्थ है अधिक से अधिक 'सँकरा' अर्थात्

जीभ तालु के नजदीक जाकर मुख-विवर को संकरा कर देती है। 'अर्द्धसंवृत' उससे कुछ अधिक खुला है अर्थात् जीभ नीचे की ओर कुछ और सरक जाती है। 'अर्द्धविवृत' में जीभ और नीचे चली जाती है, और 'विवृत' में बिल्कुल नीचे जाकर वह मुँह को अधिक से अधिक खुला बना देती है। इसे यों भी समझा जा सकता है :
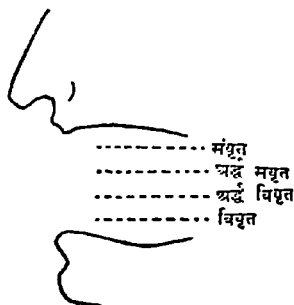
अग्र, मध्य, पश्च से जीभ या मुंह के अग्र, मध्य, पश्च भाग दिखाये गये हैं। इनके आधार पर स्वर को अग्र, पश्च या मध्य स्वर, या विवृत, सम्वृत स्वर आदि कहते हैं। चतुर्भुज के मध्य या केन्द्र के आसपास के स्वर केन्द्रीय स्वर कहलाते हैं। वस्तुतः इन चार बिन्दुओं के बीच अनेक स्वर हो सकते हैं, जिनमें अनेक भाषाओं के स्वर-स्थान के निर्धारण की दृष्टि से ये ८ ही प्रमुख हैं, अतः केवल ८ दिखाये गये हैं। इनके स्थान-निर्धारण में एक्सरे-फोटोग्राफ़ी से सहायता ली गई है।

इन आठों में ओष्ठों की आठ स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। 'ई' में वे बिल्कुल फैले होते हैं, ए, एँ, अऽ में क्रम से उनका फैलाव कम होता जाता है और आ ऑ होते ओ ऊ में पूर्णतः गोलाकार हो जाते हैं। इस प्रकार अग्र मान स्वर अवृत्तमुखी हैं तथा पश्च प्रायः वृत्तमुखी। इनमें भी पश्च अर्द्धविवृत्त ईषद्वृत्तमुखी और शेष दो—संवृत्त, अर्द्धसंवृत्त—पूर्णवृत्तमुखी। ये आठ मान स्वर, प्रधान मान स्वर भी कहे जाते हैं। इन का विवरण संक्षेप में इस प्रकार है :

ई—अवृत्तमुखी, दृढ़, अग्र, संवृत। ए—अवृत्तमुखी, दृढ़, अग्र, अर्द्धसंवृत। एँ—अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, अर्द्धविवृत्त। अऽ—अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, विवृत। आ—स्वल्पवृत्तमुखी, शिथिल, पश्च, विवृत। ऑ—स्वल्पवृत्तमुखी (आ से कुछ अधिक), शिथिल, पश्च, अर्द्धविवृत्त। ओ—वृत्तमुखी, दृढ़, पश्च, अर्द्धसंवृत। ऊ—पूर्णवृत्तमुखी दृढ़ (ओ से अधिक), पश्च, संवृत।

अग्र और पश्च के बीच में कुछ मध्य या केन्द्रीय स्वर होते हैं। ऐसी ध्वनियाँ अनेक भाषाओं में मिलती हैं। हिन्दी का 'अ' मध्य स्वर ही है। बहुत-सी भाषाओं में प्रयुक्त उदासीन स्वर (neutral vowel) भी इसी प्रकार का है।

अप्रधान या गौण मान स्वर (Secondary Cardinal Vowel)

जितने प्रधान मान स्वर थे, उतने ही अप्रधान या गौण मान स्वर भी हो सकते हैं, किन्तु उनमें केवल सात ही ऐसे हैं, जिनसे मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग संसार की भाषाओं में होता है, अतः गौण मान स्वर सात ही माने गये हैं। जो स्वर 'ई' के स्थान पर है, उसमें अन्य सारी बातें 'ई' जैसी होती है, केवल ओष्ठ 'ऊ' की तरह वृत्त-मुखी होते हैं। इसी प्रकार 'ए' के स्थान वाले स्वर में ओष्ठ 'ओ' की तरह वृत्तमुखी होते हैं और एँ के स्थान वाले में ऑ की तरह। इसी प्रकार पश्च गौण मानस्वरों में भी केवल ओष्ठ का अन्तर होता है। इनमें ओष्ठ क्रम से अग्र की भाँति होते हैं। गौण मानस्वरों से मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग फ्रांसीसी, जर्मन, मराठी तथा अंग्रेजी के कुछ क्षेत्रीय रूपों आदि में होता है।
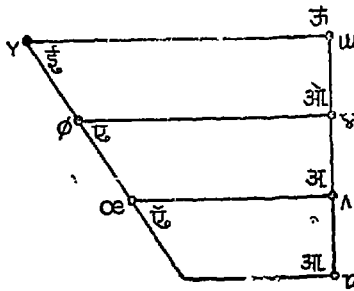
केन्द्रीय स्वरों के भी गौण मानस्वर रूप हो सकते हैं। जिस किसी भाषा के स्वरों का वर्णन करना होता है, उपर्युक्त (प्रधान या अप्रधान मानस्वर) में जिस स्वर के समीप जो स्वर होता है, उसे वही नाम दे देते हैं।

स्वर-वर्गीकरण की अमरीकी पद्धति

उपर्युक्त रूप में आठ प्रधान और सात अप्रधान स्वर थे। यह पद्धति यूरोप में प्रचलित रही है। अमेरिका में जीभ की ऊँचाई-नीचाई या उसके अग्र, पश्च, मध्य आदि भाग—अर्थात् उन्हीं आधारों पर जिनका उपयोग उपर्युक्त मानस्वरों में हुआ है—के आधार पर और अधिक भेद किए गए हैं। ब्लाक और ट्रेगर ने स्वर का वर्गीकरण

इस प्रकार किया है। उन्होंने ऊँचाई के आधार के नामों को ऊपर से नीचे high, lower, high, higher, mid, mean, mid, lower, mid, higher low तथा low कहा है।

	अग्र		मध्य		पश्च	
	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी
उच्च	i	ü=y	ɨ	u̇	ï=ɯ	u
निम्नतर उच्च	I	Ü	ɪ̇	U̇	Ï	U
उच्चतर मध्य	e	ö=ø	ė	ȯ	ë=ɤ	o
मध्य	E	Ω̈	Ė=ə	Ω̇	Ë	Ω
निम्नतर मध्य	ɛ	ɔ̈=œ	ɛ̇	ɔ̇	ɛ̈=ʌ	ɔ
उच्चतर निम्न	æ	ω̈	æ̇	ω̇	æ̈	ω
निम्न	a	ɒ̈	ȧ	ɒ̇	ä=ɑ	ɒ

कहना न होगा कि इसमें उपर्युक्त प्रधान और अप्रधान दोनों मिला दिये हैं, साथ ही ऊँचाई में चार के स्थान पर अधिक भेद किये गये हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, आवश्यकतानुसार ऐसे अनेक भेद किये जा सकते हैं। सिद्धान्ततः दोनों पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं है। यों स्वरों के स्थान-निर्धारण की दृष्टि से प्रधान स्वरों वाली पद्धति की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

श्रुति (glide)

लिखने में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जल्दी में दो शब्दों या दो वर्णों के बीच एक की समाप्ति के बाद और दूसरे के आरम्भ के पूर्व झटके से एक निरर्थक लाइन खिंच जाती है। उसी प्रकार बोलने में, उच्चारण-अवयव जब एक ध्वनि के उच्चारण के बाद दूसरे का उच्चारण करने के लिये नई स्थिति में जाने लगते हैं तो

कभी-कभी हवा के निकलते रहने के कारण बीच में ही एक ऐसी ध्वनि उच्चरित हो जाती है जो वस्तुतः उस शब्द में नहीं होती। ऐसी अकस्मात् आ जाने वाली ध्वनि 'श्रुति' कहलाती है। ऐसी ध्वनियाँ सर्वदा दो ध्वनियों के बीच में ही न आकर कभी-कभी किसी ध्वनि के पूर्व भी आ जाती हैं। पूर्व में आने वाली श्रुति 'पूर्व श्रुति' (on glide) या 'अग्रश्रुति' कहलाती है। इस्टेशन, इस्कूल, अस्नान आदि में आरम्भ के स्वर पूर्व श्रुति ही हैं। असावधान, आलस्यपूर्ण या ढीले उच्चारण में यह अधिक स्पष्ट होती है। यह श्रुति भी अन्यों की भाँति अनायास है, यद्यपि इसके कारण आदि स्वर आने से व्यंजन-गुच्छ टूट जाता है और एक अक्षर की वृद्धि हो जाती है। जैसे स्टेशन =२ अक्षर। इस्टेशन=३ अक्षर, इस्+टे×शन। अस्थि से हड्डी, उल्लास से हुलास उधर से वुधर आदि पूर्व श्रुति ही हैं, जिसे आगम (स्वर या व्यंजन) भी कहा जाता है। इसके मूल में भी ढीलापन या आलस्य आदि है। इस प्रकार की श्रुति, शब्द के आरम्भिक मौन तथा प्रथम ध्वनि के बीच उच्चरित हो जाती है। विद्वानों ने श्रुति का दूसरा भेद बाद की श्रुति, 'पश्चश्रुति', 'परश्रुति' या पश्चात् श्रुति' (off-glide) को माना है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका नाम 'मध्यश्रुति' होना चाहिये। अग्र-स्वर के साथ 'य' तथा पश्च स्वर के साथ 'व' प्रायः इस प्रकार सुने जाते हैं। जैसे इ—आ (किया), इ—ओ (जियो) के बीच य, तथा उ—आ (हुवा) के बीच व। जेल से जेहल में ह भी इसी प्रकार है। वस्तुतः यह परश्रुति नहीं है, क्योंकि अन्त में यदि उपर्युक्त स्वर न हो तो श्रुति का आगम नहीं होगा, जैसे. इ—ए (लिए) या उ—ई (हुई)। इस प्रकार दोनों ओर की ध्वनियों का इस श्रुति में हाथ है, अतः इसे 'मध्यश्रुति' ही कहना चाहिये।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परश्रुति होती ही नहीं। यह होती है, किन्तु प्रायः अत्यन्त क्षीण होती है। आलस्यपूर्ण या ढीले उच्चारण में आज संयुक्त व्यंजनांत हिन्दी शब्दों के अन्त में सुना जाने वाला, अ (स्वास्थ्य, ब्रह्म) यही है। इस प्रकार श्रुति के दो भेद नहीं माने जाने चाहिये जैसा कि विद्वानों ने माना है, अपितु तीन माने जाने चाहिये : (१) पूर्वश्रुति, (२) मध्यश्रुति, (३) परश्रुति। संयुक्त स्वर मध्य-श्रुति है, क्योंकि दो स्वरों के उच्चारण के बीच में आता है। यहाँ एक और बात भी ध्यान देने की है। श्रुति की जो प्रायः परिभाषा दी जाती है वह वस्तुतः 'मध्यश्रुति' की है। यों तीनों श्रुतियों का मूल कारण मुख-सुख है। आलस्य, असावधानी या निष्क्रियता वस्तुतः इसी के रूप हैं, किन्तु मध्यश्रुति में इन सबसे अधिक हाथ सहजता का है। इसी कारण 'र', 'द' आदि के मध्यागम (दजन—दर्जन, तनूर—तन्दूर) श्रुति नहीं कहे जा सकते।

संयुक्त स्वर (diphthong)

'मूल स्वर' या 'समानाक्षर' में एक स्वर होता है। यह एक प्रकार से अचल ध्वनि है, किन्तु इसके विरुद्ध 'मिश्र स्वर', 'संयुक्त स्वर' 'या संध्यक्षर' दो स्वरों का

योग है, अतः श्रुति या 'चल ध्वनि' है। इसके उच्चारण में वक्ता एक स्वर का उच्चारण करता हुआ दूसरे स्वर के उच्चारण की ओर चलता है, और इस प्रकार दोनों स्वरों के संयुक्त रूप का उच्चारण हो जाता है। दोनों ही स्वरों का पूर्ण रूप नहीं आ पाता। जिससे आरम्भ होता है वह शीघ्रता के कारण अत्यन्त संक्षिप्त हो जाता है और जीभ को जिस दूसरी स्थिति में पहुँचना होता है उस दिशा में चलकर भी वहाँ पहुँचने के पूर्व ही प्रायः वह उस दूसरे स्वर का संक्षिप्त उच्चारण कर लेती है। इस प्रकार संयुक्त स्वर का उच्चारण इस एक स्वर से दूसरे की ओर जाने की स्थिति में होता है, इसीलिये इसे 'श्रुति' कहते हैं। मूल स्वर इसके विरुद्ध 'अचल स्वर' है। उसके उच्चारण में इस प्रकार की 'चलता' नहीं मिलती।

संयुक्त स्वर दो स्वरों का ऐसा मिश्र रूप है जिसमें दोनों अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खोकर एकाकार हो जाते हैं, और सांस के एक झटके में उच्चरित होते हैं। दोनों मिलकर एक स्वर-जैसे हो जाते हैं। दोनों के योग से एक अक्षर बनता है।

संयुक्त स्वर में स्वरों को जीभ की ऊँचाई या उसके स्थान की दृष्टि से सवर्ण न होकर असवर्ण होना चाहिये। कभी-कभी दो से अधिक स्वरों के भी संयुक्त स्वर बनते हैं, यद्यपि ऐसा कम होता है।

संयुक्त स्वरों के कई आधारों पर कई भेद होते हैं।

(क) संयुक्त स्वर का निर्माण करने वाले दो स्वरों में यदि पहला अधिक मुखर है, बलाघातयुक्त है, और इस प्रकार उसका व्यक्तित्व दूसरे की अपेक्षा बलशाली या प्रमुख है तो ऐसे संयुक्त स्वर अवरोही, क्षयमाण, अवनायक या ह्रासोन्मुख (falling) कहलाते हैं, क्योंकि दूसरा या आगे आने वाला स्वर कम मुखर, अबलाघातयुक्त तथा गौण होता है। अंग्रेजी के अधिकांश संयुक्त स्वर [ei (play, make), ou (so, post), ai (night, child) आदि] इसी वर्ग के हैं। इस वर्ग के गौण स्वर पर V चिह्न लगाते हैं। इसके उल्टे यदि प्रथम स्वर गौण और दूसरा प्रमुख हो तो संयुक्त स्वर आरोही, उन्नायक या उन्नतोन्मुख (rising) कहलाता है। हिन्दी के ऐ, औ इसी श्रेणी के हैं।

संयुक्त स्वर का जो स्वर गौण होता है उसे व्यंजनात्मक स्वर (consonental vowel) कहते हैं।

(ख) संयुक्त स्वर के उच्चारण में जीभ को एक स्वर-स्थान से दूसरे की ओर जाना पड़ता है। यदि यह दूरी लम्बी हुई तो संयुक्त स्वर 'प्रशस्त' (wide) कहलाता है, और यदि थोड़ी हुई तो 'अप्रशस्त' या 'संकीर्ण' (narrow) हिन्दी में ऐ, औ प्रायः बराबर हैं। अंग्रेजी में ei, ou आदि अप्रशस्त हैं, तो au प्रशस्त।

(ग) संयुक्त स्वर यदि बाहर से केन्द्र की ओर अभिमुख हो अर्थात् दूसरा स्वर मध्य या केन्द्रीय स्वर हो तो संयुक्त स्वर 'केन्द्राभिमुखी' (centring) कहलायेगा, किन्तु इसके उल्टे हो तो 'बाह्याभिमुखी' कहलायेगा। अंग्रेजी ie, ue ou आदि प्रथम प्रकार के हैं।

(घ) संयुक्त स्वर के दो भेद—अपूर्ण और पूर्ण—भी होते हैं। यदि अवरोही संयुक्त स्वर में पहला स्वर अपेक्षाकृत अधिक लम्बा हो जाय या अवरोही-आरोही किसी
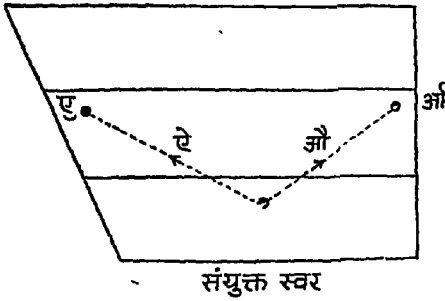
संयुक्त स्वर

भी प्रकार के संयुक्त स्वर में दूसरा स्वर अपेक्षाकृत अधिक लम्बा हो जाय तो संयुक्त स्वर 'अपूर्ण' कहलाता है, अन्य स्थितियों के 'पूर्ण' कहे जाते हैं।

संयुक्त स्वरों की संख्या भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न होती है। बंगला में एक ओर इनकी संख्या २५ है, हिन्दी की बहुत-सी बोलियों में दो है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी भाषाओं में संयुक्त हों ही। परिनिष्ठित हिन्दी में आज प्रायः एक भी संयुक्त स्वर नहीं है, विशेषतः उसके दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में।

प्रयत्न

ध्वनियों के उच्चारण के लिये हवा को रोककर या अन्य कई प्रकारों से विकृत करना पड़ता है। इसी क्रिया को 'प्रयत्न' कहते हैं। हर ध्वनि के लिये कोई न कोई प्रयत्न करना पड़ता है। 'प्रयत्न' का हमारे यहाँ प्राचीन संस्कृत साहित्य (आरण्यक, प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि) में बड़े विस्तार में विचार किया गया है। प्रयत्न, के दो भेद मिलते हैं 'आभ्यन्तर' और 'बाह्य'। 'आभ्यन्तर' प्रयत्न को 'आस्य प्रयत्न' 'करण'[1] या 'प्रदान' भी कहा गया है। 'आस्य' का अर्थ 'मुंह' है। मुंह के भीतर प्रयत्न होने के कारण ही इसे 'आभ्यंतर प्रयत्न' कहते हैं। मुंह के बाहर जो प्रयत्न होता है उसे 'बाह्य प्रयत्न', 'प्रकृति' या 'अनुप्रदान' कहा गया है।

'आभ्यंतर प्रयत्न' का क्षेत्र निश्चित नहीं है। पतंजलि महाभाष्य में ओष्ठ से काकलक (ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकलकात्) तक मानते हैं। 'काकलक' को कैयट ने

१. आजकल 'करण' का प्रयोग उच्चारण के सक्रिय अंग (articulator) जैसे जीभ आदि के लिये किया जा रहा है। यों चंद्रगोमिन के 'वर्णसूत्र' आदि में भी इसका इस अर्थ में प्रयोग मिलता है।

(काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नत प्रदेशः) घंटी हा है। यदि सचमुच ओष्ठ से घंटी के बीच का प्रयत्न 'आभ्यंतर' में आता है तो 'अनुनासिकता' और 'निरनुनासिकता' के लिये किये गये प्रयत्न को इसी के अंतर्गत मानना चाहिए, किन्तु इसे बहुत-से लोगों ने तो किसी भी प्रयत्न में नहीं रखा है, और जिन्होंने रखा भी है 'वाह्य' में रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस श्रेणी के विद्वानों के अनुसार कोमल तालु से ओठ के बीच के किये गये प्रयत्न ही आभ्यंतर के अंतर्गत हैं। इस प्रकार की अनेकरूपता के कारण यह कहना बिल्कुल ही कठिन है कि प्राचीन भारत का सर्वसम्मत मत अमुक था। यों इस स्खलन के बावजूद अधिकांश ग्रंथों में 'आभ्यंतर प्रयत्न' के अंतर्गत स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत, इन चार को रक्खा गया है। इनमें स्पृष्ट तो स्पर्शों के लिये है, ईषत्स्पृष्ट अंतःस्थों के लिये, संवृत अ (पाणिनि के काल में) के लिये, और विवृत ऊष्मों और स्वरों के लिये। पाणिनीय शिक्षा में स्पृष्ट, नेमस्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट और अस्पृष्ट का प्रयोग मिलता है, किन्तु इनका अर्थ थोड़ा भिन्न है। वहाँ प्रथम में स्पर्श तथा ह, दूसरे में ऊष्म, तीसरे में अंतस्थ और अंतिम में स्वर हैं। कुछ ने इसके पाँच भेद—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट (अंतःस्थ), ईषद्विवृत (ऊष्म), विवृत (स्वर), संवृत (अ)—किये हैं।

'वाह्य प्रयत्न' का सम्बन्ध अधिकांश लोगों के अनुसार स्वरतंत्रियों से है। प्राचीन ग्रंथों में इसके विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त अनुदात्त, स्वरित, ये ग्यारह भेद मिलते हैं। इनमें अंतिम तीन का सम्बंध सुर से है, और अल्पप्राण, महाप्राण का हवा की कमी-बेशी से। शेष छः का सम्बंध स्वरतंत्रियों से है। विवार उनका एक-दूसरे से दूर रहना है और संवार निकट रहना। दूर रहने पर जो उनके बीच हवा आती है श्वास है, और उससे उत्पन्न ध्वनि अघोष है। दूसरी ओर संवार स्थिति में 'नाद' वायु से उत्पन्न ध्वनि घोष है। मनमोहन घोष आदि कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें श्वास और अघोष तथा नाद और घोष एक ही हैं। व्यर्थ में नौ को ग्यारह कह दिया गया है।

आधुनिक विद्वानों में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि कुछ लोग 'वाह्य प्रयत्न' में केवल घोष-अघोष के लिये किये गये प्रयत्न को स्थान देते हैं, अर्थात् उनके अनुसार वाह्य प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों के केवल अघोष-घोष दो भेद होते हैं। दूसरी ओर एलेन आदि कुछ लोग इसके अंतर्गत घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक-निरनुनासिक, इन तीनों के लिये किये गये प्रयत्न को स्थान देते हैं। यदि इसे मानें तो 'वाह्य प्रयत्न' का सम्बंध मात्र स्वरतंत्रियों से नहीं रह जाता है। वस्तुतः प्राचीन ग्रंथों में उपर्युक्त तीनों मत तो हैं ही, इनके अतिरिक्त कुछ और भी मत हैं। ऐसी स्थिति में प्रयत्न के भेद के सम्बंध में प्राचीन भारत के किसी एक मत को मान्यता देना सम्भवतः बहुत ठीक नहीं है। यों इन पंक्तियों के लेखक का मत यह है कि गम्भीरता से विचार करने पर ऐसे तथ्य सामने आते हैं कि वाह्य और आभ्यंतर नाम से दो प्रयत्न करके फिर उनके भीतर अन्य प्रयत्नों को स्थान देने से अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक यह होगा कि सीधे मात्र 'प्रयत्न' के अंतर्गत ही उन सारे प्रयत्नों को रखें, जिनका प्रयोग ओठ से लेकर स्वर-

तंत्रियों तक या उनके भी पूर्व होता है। पश्चिम में आधुनिक ध्वनिशास्त्र में ऐसा ही किया भी जा रहा है। बाह्य-आभ्यंतर का पचड़ा बेकार-सा है।

इस प्रकार आभ्यंतर-बाह्य की बात छोड़कर, प्रयत्न (manner of articulation) के भेद किये जा सकते हैं। अधिकांश पुस्तकों में स्पर्श, नासिक्य, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त, संघर्षी तथा अर्द्धस्वर के उच्चारण के लिये किये गये प्रयत्नों की गणना इसके अंतर्गत की गई है, किन्तु मेरा मत यह है कि स्वर और व्यंजन के उच्चारण में इससे कहीं अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। प्रमुख रूप से प्रयत्न निम्नांकित के लिये किये जाते हैं: (१) घोष, (२) अघोष, (३) जपित (इसके कई उपभेद किये जा सकते हैं), (४) अल्पप्राण, (५) महाप्राण, (६) मौखिक ध्वनि, (७) नासिक्य ध्वनि, (८) मौखिक नासिक्य ध्वनि, (९) स्पर्श, (१०) संघर्षी, (११) पार्श्विक, (१२) लुंठित, (१३) उत्क्षिप्त, (१४) अर्द्धस्वर। यदि स्वर को भी रखें तो उपर्युक्त भेदों में कुछ तो आयेंगे ही, उनके अतिरिक्त (१५) मर्मर, (१६) संवृत, (१७) अर्द्ध संवृत, (१८) अर्द्धविवृत, (१९) विवृत आदि के लिये किये प्रयत्न भी जोड़ने पड़ेंगे। ये तो थीं सामान्य ध्वनियाँ, यदि इनके साथ अंतर्मुखी (imposive), क्लिक (click) और उद्गार (ejective) ध्वनियों को भी जोड़ दिया जाय तो प्रयत्नों की संख्या और अधिक बढ़ जायेंगी। ऐसा अनुमान करना अन्यथा न होगा कि सविस्तार देखने पर प्रयत्नों की संख्या ५० से कम न होगी। यह भी स्मरणीय है कि किसी भी ध्वनि के लिये प्राय: विभिन्न स्थानों पर एक से अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, 'ख्' के लिये स्पर्शीय, अघोषीय, महाप्रणीय तथा निरनुनासिकीय, ये चार प्रयत्न अपेक्षित हैं। यही बात अधिकांश ध्वनियों के लिये सत्य है।

स्थान

ध्वनियों का उच्चारण विशेष प्रयत्न से किया जाता है, किन्तु साथ ही यह प्रयत्न स्थान विशेष या अंग विशेष से किया जाता है। 'स्थान' वह है जहाँ भीतर से आती हुई हवा को रोक कर या किसी अन्य प्रकार से उसमें विकार लाकर ध्वनि उत्पन्न की जाती है। स्थान (place of articulation) भी उच्चारण में प्रयत्न जितने ही महत्वपूर्ण हैं और उनके आधार पर भी, ध्वनियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। स्वर के अग्र, मध्य, पश्च भेद स्थान पर ही आधारित हैं। किंतु स्वरों में इन तीनों स्थानों से तो संवृत-विवृत आदि का प्रयत्न होता है, शेष—अनुनासिक-मौखिक, वृत्तमुखी-अवृत्तमुखी, घोष-अघोष आदि—प्रयत्न अन्य स्थानों पर होते हैं। व्यंजनों में भी ओठ से लेकर स्वरयंत्र तक इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्रयत्न होता है। प्रमुख स्थान ओष्ठ, दाँत, वर्त्स, कठोर तालु, मूर्द्धा, कोमल तालु, अलिजिह्व, उपालिजिह्व तथा स्वरयंत्र हैं।

जिस प्रकार एक ध्वनि के लिए कई प्रयत्न अपेक्षित हैं, उसी प्रकार बहुत से प्रयत्न के लिये बहुत से स्थान भी अपेक्षित हैं। उपर्युक्त उदाहरण के 'ख्' के लिए ही

स्वरयंत्र (अघोष), अलिजिह्व (निरनुनासिक), कोमल तालु आदि स्थानों की आवश्यकता पड़ती है। केवल एक स्थान और एक प्रयत्न का विचार ही पर्याप्त नहीं है, जैसा कि प्रायः सभी ध्वनिशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। किंतु संक्षिप्तता और व्यावहारिकता की दृष्टि से प्रायः किसी भी ध्वनि के प्रमुख प्रयत्न और उस प्रमुख प्रयत्न के स्थान का ही विचार किया जाता है। इसी कारण उपर्युक्त उदाहरण के 'ख्' के प्रयत्न और स्थान के बारे में उतने विस्तार में न जाकर संक्षेप में उसे स्थान की दृष्टि से 'कोमल तालव्य' और प्रयत्न की दृष्टि से 'स्पर्श' कहा जाता है। यही बात सभी व्यंजनों और स्वरों के बारे में की जाती है, यद्यपि किसी भी ध्वनि को पूर्णतः समझने के लिए उसके सभी स्थानों या अंगों और उनके द्वारा सम्पन्न प्रयत्नों का विचार किया जाना चाहिए।

व्यंजनों का वर्गीकरण

ऊपर प्रयत्न और स्थान पर विचार किया जा चुका है। वस्तुतः न केवल व्यंजन अपितु स्वरों के वर्गीकरण के भी तात्विक आधार ये ही दो हैं, किंतु स्पष्टता की दृष्टि से प्रयत्न में केवल मुख्य को लेते हैं और शेष को अलग-अलग उनके परिणाम (नासिक्यता, महाप्राणता, घोषत्व आदि) के आधार पर लेते हैं, जैसा कि आगे किया जायेगा। यों तात्विक दृष्टि से वे भी प्रयत्न के अंतर्गत ही आते हैं। जहाँ तक स्थान का प्रश्न है, केवल मुख्य प्रयत्न के स्थान का ही विचार किया जाता है, शेष को प्रायः छोड़ दिया जाता है। यहाँ इसी व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

(क) प्रयत्न के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के प्रमुखतः निम्नांकित भेद हो सकते हैं : (१) स्पर्श[1]—इसे 'स्फोट' या 'स्फोटक' भी कहते हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें दो अंग (जैसे दोनों ओष्ठ, नीचे का ओठ और ऊपर के दाँत, जीभ की नोक और दाँत, या जीभ का पश्च भाग और कोमल तालु आदि) एक दूसरे का स्पर्श करके हवा को रोकते हैं और फिर एक दूसरे से हटकर हवा को जाने देते हैं। इस प्रकार इसकी तीन स्थितियाँ या सीढ़ियाँ हैं : हवा का आगमन, अवरोध, और उन्मोचन या स्फोट। स्पर्शों का उच्चारण कभी तो पूर्ण होता है, कभी अपूर्ण। पूर्ण उच्चारण में तीनों स्थितियाँ मिलती हैं, और ध्वनि-मोचन या स्फोट में सुनाई पड़ती हैं, उसके पूर्व नहीं जैसे क, काल। ऐसी स्थितियाँ तो तब होती हैं जब स्पर्श अकेले हों (क् प्) या किसी स्वर के पूर्व हों (काल, कटार)। अपूर्ण स्पर्शों में केवल प्रथम और दूसरी स्थितियाँ ही होती हैं, अंतिम नहीं। इसमें ध्वनि दोनों स्थितियों के सन्धि-विन्दु पर सुनाई पड़ती है। यह अपूर्ण उच्चारण दो स्थितियों में मिलता है। एक तो ऐसी स्थिति में जब उन्मोचन या स्फोट के पूर्व उच्चारणावयवों को किसी अन्य ध्वनि के उच्चारण के लिए तैयार होना पड़ता है। ऐसा संयुक्त व्यंजनों में होता है, जब प्रथम व्यंजन स्पर्श या संघर्षी हो। जैसे वक्त का 'क्' सप्त का प् या इकट्ठा का 'ट्'।

---

१. अंग्रेजी में इसे stop, mute, explosive, plosive, occlusive आदि कहते हैं।

शब्द के अन्त में आने वाले स्पर्श (केवल अल्पप्राण, महाप्राण नहीं) भी इसी प्रकार अपूर्ण होते हैं, जैसे आप, ताक्, पट् आदि। भारतीय वैयाकरणों ने अपूर्ण उच्चारण को 'अभिनिधान' कहा है। इसी आधार पर स्पर्श के अपूर्ण या अस्फोटित Incompete या unexploded) और पूर्ण या स्फोटित (complete या exploded) दो भेद होते हैं। हिन्दी के क़, क, ख, ग, घ, त, थ, द, ध, ट, ठ, ड, ढ, प, फ, ब, भ स्पर्श है। संस्कृत व्याकरणों में क से म तक २५ ध्वनियों (कादयो मावसानाः स्पर्शाः) को स्पर्श कहा गया है। अब चवर्ग तथा ङ, ञ्, ण्, न्, म् स्पर्श नहीं माने जाते। (२) संघर्षी—संघर्षी ध्वनि में हवा का न तो स्पर्श की तरह पूर्ण अवरोध होता है और न अधिकांश स्वरों की भाँति वह अबाध रूप से मुंह से निकल जाती है। इसमें स्थिति स्वरों और स्पर्श के बीच की है, अर्थात् दो अंग एक दूसरे के इतने समीप आ जाते हैं कि हवा को दोनों के बीच से घर्षण करके निकलना पड़ता है। इसीलिए इसे संघर्षी[1] कहा जाता है। दोनों ओठ, ऊपर के दाँत और नीचे के ओठ, जीभ और दाँत, जीभ और वर्त्स आदि की सहायता से इस प्रकार की ध्वनियाँ पैदा की जा सकती हैं। फ, व, ज, स, श, ख, ग़, ह आदि इसी वर्ग की ध्वनियाँ हैं। स्, श्, ष्, में एक प्रकार की सीत्कार (hissing) ध्वनि सुनाई पड़ती है। संघर्षियों में 'स' को उत्थितपार्श्व या नदसंघर्षी (grooved या रिल fricative) कहते हैं, क्योंकि इसके उच्चारण में जीभ के आगे के दोनों किनारे उठे रहते हैं। इसके विरुद्ध श समपार्श्व संघर्षी (slit fricative) है। (३) स्पर्श-संघर्षी (affricate)—ऐसी ध्वनियाँ जिनका आरम्भ स्पर्श से हो किंतु उन्मोचन या स्फोट झटके के साथ या एक-ब-एक न होकर, धीरे-धीरे होता है, जिसका फल यह होता है कुछ देर तक हवा को घर्षण करके निकलना पड़ता है। इसे 'स्पर्श घर्ष' भी कहते हैं। हिंदी में च, छ, ज, झ स्पर्श संघर्षी हैं। इनके भी 'स्पर्श' की तरह पूर्ण-अपूर्ण दो भेद हो सकते हैं, और वे ठीक स्पर्श की स्थितियों में ही घटित भी होते हैं। (४) नासिक्य (nasal)—उन व्यंजनों को कहते हैं, जिनमें दोनों ओठ, जीभ-दाँत, जीभ-मूर्द्धा या जीभ-पश्च और कोमल तालु आदि का स्पर्श होता है (उसी प्रकार जैसे स्पर्श व्यंजनों में) और हवा मुँह में गूँजती नाक के रास्ते निकलती है। संस्कृत व्याकरण में नासिक्यों की गणना स्पर्शों में हुई है, किंतु वस्तुतः इनमें हवा का निकलना अवरुद्ध नहीं होता, अतः इन्हें स्पर्श मानना उचित नहीं है। हाँ हवा रुकने के कारण इन्हें अनवरुद्ध, सप्रवाह या अव्याहत (continuant या durative) अवश्य कहा जा सकता है। इन्हें 'अनुनासिक' भी कहते हैं। (५) पार्श्विक (lateral)—इसे पार्श्व व्यंजन

१. इसे fricative, continuant, durative, spirant, घर्षक, घर्ष, सप्रवाह, अनवरुद्ध, अव्याहत, विवृत भी कहा गया है। 'ऊष्म' या 'ऊष्मा' (sibilant) भी इसी के अन्तर्गत हैं, जिसमें श स ष तथा कुछ मतों से ह भी आते हैं। सप्रवाह, अनवरुद्ध और अव्याहत का प्रयोग संघर्षी के अतिरिक्त पार्श्विक, अनुनासिक या अर्द्ध-स्वर के लिए भी होता है।

(lateral consonant) या विभक्त व्यंजन (divided consonant) भी कहते हैं। इस वर्ग की ध्वनियों को तथा कुछ अन्य को पहले द्रव या तरल ध्वनि (liquid sound) भी कहा जाता था। इसमें मुँह की मध्य रेखा पर कहीं भी दो अंगों के सहारे वायुमार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं, फलतः हवा एक या दोनों पार्श्वों से निकलती है। यह भी सप्रवाह व्यंजन है और संघर्षी या नासिक्य आदि की भाँति इसका भी उच्चारण देर तक सम्भव है। यह जानने के लिए कि हवा एक ओर से निकल रही है या दोनों ओर से, जीभ को इस वर्ग के व्यंजन की स्थिति में रखकर हवा को भीतर खींचना चाहिए। यदि दोनों ओर शीतलता का अनुभव हो तो ध्वनि 'द्विपार्श्विक' है और नहीं तो 'एकपार्श्विक'। हिंदी 'ल' इसी वर्ग का है। अंग्रेजी ल के स्पष्ट (clear) और अस्पष्ट (dark) दो भेद होते हैं। (६) लुंठित (rolled)—जीभ की नोक को वेलन की तरह कुछ लपेट कर या लुंठन करके तालु का स्पर्श कराकर यह ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इसे 'लोड़ित' भी कहते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना हिंदी 'र' को इसी वर्ग का मानते हैं। डॉ० कादिरी और डॉ० चटर्जी 'र' को 'उत्क्षिप्त' (आगे देखिए) मानते हैं। मुझे लगता है कि आधुनिक हिंदी का 'र्' (७) प्रायः कम्पनयुक्त (कम्पनजात, जिह्वोत्कंपी) या प्रकंपित (trilled) है और कभी-कभी ही उत्क्षिप्त। कम्पनयुक्त में जीभ की नोक तालु के अत्यंत निकट जाती है, और हवा के प्रवाह से इसमें स्पष्ट कम्पन होता है। यों विभिन्न भाषाओं, 'र' लुंठित, उत्क्षिप्त, संघर्षी, कम्पनयुक्त आदि कई प्रकार का पाया जाता है। लुंठित या कम्पनयुक्त व्यंजन जीभ की नोक के अतिरिक्त अलिजिह्व से भी उच्चरित होते हैं। कम्पनयुक्त तो ओठ से भी उच्चरित हो सकता है।[1] (८) उत्क्षिप्त (flapped)—जीभ की नोक को उलटकर तालु को झटके से मार उसे फिर सीधा कर लेने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे उत्क्षिप्त कहते हैं। हिंदी ड़, ढ़ उत्क्षिप्त हैं। इन्हें 'ताड़नजात' भी कहते हैं। (९) अर्द्धस्वर (semi-vowel)—ये श्रुति ध्वनियाँ हैं, जो एक प्रकार से स्वर और व्यंजन के बीच में हैं। यों इनका झुकाव व्यंजन की ओर अधिक है, क्योंकि ये व्यंजन की भाँति ही स्वरों की तुलना में कम मुखर हैं, कम मात्रा की हैं, और साथ ही बलाघात भी प्रायः इन पर नहीं पड़ता, फ़िर भी इनको 'अर्द्धस्वर' कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इनके उच्चारण का आरम्भ स्वर-स्थिति से होता है। अर्द्धस्वर दो हैं य, व। इन दोनों के उच्चारण में क्रम से उच्चारण अवयव पहले इ या उ की स्थिति में आते हैं और वहाँ बहुत थोड़ी देर रुकने के बाद आगामी स्वर या व्यंजन की स्थिति में चले आते हैं। इस प्रकार ये ध्वनियाँ श्रुति हैं। शब्द के आरम्भ में या किसी व्यंजन के पूर्व आने पर इनका रूप श्रुति होता हुआ भी, व्यंजन का होता है (याद, गव्य) किंतु दो स्वरों के बीच ये शुद्ध स्वर-श्रुति (किया, जुवा) रूप होते हैं। इनके उच्चारण में हवा का प्रवाह बहुत धीमा होता है।

---

१. लुंठित या कम्पनजात में हवा घर्षण खाकर निकलती है, अतः इन्हें ,लुंठित संघर्षी या 'कम्पन-जात संघर्षी' भी कहा जा सकता है।

कभी-कभी व्यंजनों के प्रयत्न के आधार पर मोटे रूप से दो भेद किए जाते हैं : (अ) अवरोधी (noncontiuant)—जिसमें हवा रुक जाय। स्पर्श तथा स्पर्श-संघर्षी ध्वनियाँ अवरोधी हैं, क्योंकि उनके उच्चारण में हवा रुक जाती है। (आ) अनवरोधी (continuant)—जिनके उच्चारण में हवा रुके नहीं। अनुनासिक, उत्क्षिप्त, लुंठित, पार्श्विक, संघर्षी, अर्धस्वर ध्वनियाँ अनवरोधी हैं। उनके उच्चारण में हवा का प्रवाह रुकता नहीं।

(ख) स्थान के आधार पर—इस आधार पर व्यंजन के प्रमुखतः निम्नांकित भेदो हृ सकते हैं : (१) स्वरयंत्रमुखी (laryngeal या glottal)[1]—उन ध्वनियों को कहते हैं जो स्वर यंत्रमुख से उच्चरित की जाती है। इन्हें स्वर-यंत्र-स्थानीय, काकल्य या उरस्य भी कहते हैं। 'ह' (हिन्दी आदि का) स्वरयंत्रमुखी संघर्षी है। '?' स्वरयंत्रमुखी स्पर्श (glottal stop) है।[2] अरबी का हमजा यह दूसरी प्रकार की ही ध्वनि है। उत्तरी जर्मन तथा कुछ अन्य भाषाओं में भी यह स्पर्श मिलता है। (२) उपलालिजिह्वीय (pharyngeal)—उन ध्वनियों को कहते हैं, जो स्वर-यन्त्र और अलिजिह्व के बीच में उपालिजिह्व या गलबिल में पैदा होती हैं। इसके लिए जिह्वामूल को पीछे हटाकर गलबिल को संकीर्ण कर लिया जाता है। अरबी की 'बड़ी हे' और 'ऐन' इसी स्थान से उच्चरित होती है। उपालिजिह्वीय ध्वनियाँ प्रायः अफ्रीका में या उसके आसपास ही मिलती हैं, (३) अलिजिह्वीय (uvular)—कौवे या अलिजिह्व से इन ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है। इसके लिए जिह्वामूल या जिह्वापश्च को या तो निकट ले जाकर वायु-मार्ग संकरा करते हैं, और संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती हैं, या स्पर्श करा कर स्पर्श ध्वनि। इन ध्वनियों को जिह्वामूलीय या जिह्वापश्चीय भी कहा जाता है। क़, ख़, ग़, ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। अरबी तथा एस्किमो आदि भाषाओं में ये ध्वनियाँ हैं। फ़ारसी के प्रभाव से ये भारत में भी हैं। (४) कोमल तालव्य (soft palatal)—इसे कंठ्य (guttural या Velar) भी कहते रहे हैं। जीभ के पिछले भाग के सहारे इन ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं। क, ख, ग, घ, ङ यही हैं। कुछ (विशेप प्रकार के ख, ग़, आदि) संघर्षी ध्वनियाँ भी यहाँ से उच्चरित होती हैं। (५) मूर्द्धन्य (cerebral)— उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में मूर्द्धा से सहायता ली जाती है। संस्कृत में टवर्ग, ऋ, ष आदि मूर्द्धन्य थे—ऋटुरषाणां मूर्द्धा। हिन्दी में टवर्ग यद्यपि पुराने नए सभी लेखकों द्वारा मूर्द्धन्य कहा गया है, किंतु वस्तुतः उसका मूर्द्धन्य उच्चारण कम ही होता है। वह काफ़ी आगे खिसक आया है और प्रायः कठोर तालव्य या तालव्य हो गया है। 'टूटा' जैसे शब्दों में तो वह प्रायः

---

१. कुछ लोग glottal और laryngeal में अन्तर मानते हैं।

२. या glottal Catch

वर्त्स्य है। द्रविड़ तथा चीनी में कुछ ध्वनियाँ मूर्द्धन्य हैं।[1] मूर्द्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में जीभ की नोक को उलटकर मूर्द्धा से उसका स्पर्श कराते हैं इसीलिए इसे प्रतिवेष्ठित कहते हैं। (६) तालव्य या कठोर तालव्य (palatal)—इनका उच्चारण कठोर तालु से होता है। जीभ के अगले भाग या नोक से इसमें सहायता ली जाती है। हिंदी चवर्ग का उच्चारण यहीं से होता रहा है। संस्कृत में इ, चवर्ग, य, श का उच्चारण यहीं से होता था—इचुयशानां तालु। अब हिन्दी के श तथा चवर्ग आगे बढ़ रहे हैं और प्रायः वर्त्स्य के समीप आ गये हैं।[2] (७) वर्त्स्य (alveolar)—मसूड़े या वर्त्स (और जिह्वाग्र) की सहायता से उत्पन्न ध्वनियाँ वर्त्स्य कहलाती हैं। न, ल, र, स, ज़, इसी वर्ग के हैं। अंग्रेजी के ट, ड भी वर्त्स्य हैं। (८) दंत्य (dental)—दाँत की सहायता से उच्चरित ध्वनियाँ दंत हैं। इसमें जिह्वाग्र या जीभ की नोक की सहायता ली जाती है। हिन्दी के त, थ, द, ध, दंत्य हैं। संस्कृत के लृ, तवर्ग, ल, स दंत्य थे। सूक्ष्मता से विचार करने पर दंत्य के अग्र, मध्य, मूल ये तीन भेद किये जा सकते हैं। (९) दंतोष्ठ्य (labio-dental)—ऐसी ध्वनियाँ जिनका उच्चारण ऊपर के दाँत और नीचे के ओठ की सहायता से होता है। व, फ़, दंतोष्ठ्य हैं। (१०) ओष्ठ्य (bilabial)—जिनका उच्चारण दोनों ओठों से हो। प, फ, ब, भ, म ऐसे ही हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कुछ ध्वनियों के दो या अधिक प्रयत्न अपेक्षित होते हैं, इसी प्रकार कुछ ध्वनियों के लिए एक से अधिक स्थान आवश्यक होते हैं।

(ग) स्वरतन्त्रियों के आधार पर—इस आधार पर व्यंजन के प्रमुखतः दो भेद हो सकते हैं: घोष, अघोष। जैसा कि कहा जा चुका है, घोष वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों के निकट आ जाने से उसके बीच निकलती हवा से उनमें कंपन होता है। हिन्दी में कवर्ग, चवर्ग आदि पाँचों वर्गों की अन्तिम तीन (अर्थात् ग, घ, ङ, ज, झ, ञ आदि) ध्वनियाँ, तथा य, र, ल, व, ज़, ग़, ह, ड़, ढ़ आदि घोष हैं। दूसरी ओर जिनके उच्चारण में कम्पन (स्वरतन्त्रियों में) नहीं होता, उन्हें अघोष कहते हैं। हिन्दी में पाँचों वर्गों की प्रथम दो ध्वनियाँ, क़, ख़, फ़ स, श आदि अघोष हैं। अघोष को 'श्वास' या 'कठोर' (hard, surd); और घोष को 'नाद', 'कोमल' (soft) या 'स्वनंत' (sonant) भी कहते हैं,। सूक्ष्मता से विचार करने पर घोष ध्वनियों के भी पूर्ण घोष और अपूर्ण घोष दो भेद हो सकते हैं। 'हिन्दी' 'ब' पूर्ण घोष है, किंतु अंग्रेजी B अपूर्ण।

---

१. मूर्द्धन्य को अंग्रेजी में cacuminal भी कहा गया है। अब इसे retroflex कहा जाता है, जिसके लिए हिन्दी पर्याय प्रतिवेष्ठित, पश्चोन्मुख या पश्चाद्वर्ती हो सकते हैं। डा० डैनियल जोन्स आदि प्रायः सभी विद्वान् इसे retroflex कहते हैं, किन्तु तत्वतः यह नाम स्थान पर आधारित न होकर प्रयत्न पर आधारित है, अतः इसका प्रयोग इस प्रसंग में बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। इसे lingual भी कहते हैं।

२. श कभी-कभी ताल और वर्त्स के संधिस्थल पर भी उच्चरित होता है।

(घ) प्राणत्व के आधार पर—प्राण का अर्थ है 'हवा' या 'हवा की शक्ति'। इस आधार पर कुछ व्यंजन 'अल्पप्राण' कहे जाते हैं और कुछ 'महाप्राण'। जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा का आधिक्य हो या श्वास-बल अधिक हो, उन्हें 'सप्राण' या 'महाप्राण' (aspirated) कहते हैं और दूसरी ओर जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा का आधिक्य न हो या श्वास-बल कम हो, उन्हें 'अप्राण' या 'अल्पप्राण' (unaspirated) कहते हैं।

'ह्' ध्वनि शुद्ध 'प्राण' से बहुत मिलती-जुलती है, इसी कारण महाप्राण ध्वनियों को ह्-युक्त, तथा अल्पप्राण ध्वनियों को ह्-रहित कहा तथा लिखा जाता है। अर्थात् ख्=क्+ह (kh) या क=ख—ह। कुछ लोगों ने ऐसा माना तो है, किन्तु वस्तुतः जहाँ तक मैं समझता हूँ ऐसी मान्यता बड़ी भ्रामक है। हम जानते हैं कि 'ह्' ध्वनि संघर्षी है, चाहे उसका संघर्ष थोड़ा ही क्यों न हो। ऐसी स्थिति में ख् को यदि 'क्+ह' माना जाय तो 'क' स्पर्श है और 'ह्' संघर्षी। इस प्रकार 'ख' ध्वनि स्पर्श-संघर्षी या स्पर्श और संघर्षी का योग हो जायेगी, किन्तु हम जानते हैं कि 'ख्' शुद्ध स्पर्श है। इसका आशय यह हुआ कि 'ख' को 'क्' का महाप्राण वाला रूप मानना तो ठीक है, किन्तु उसे 'क्', 'ह्' का योग मानना भ्रामक है।

यह भी कहा गया है कि प्राणत्व का विचार मात्र स्पर्शों में होता है, ऐसा मानना भी उचित नहीं। संघर्षी ध्वनियों के अतिरिक्त सभी प्रकार की ध्वनियों के अल्प-प्राण और महाप्राण वाले रूप हो सकते हैं, जैसे न्ह, र्ह, ल्ह, ढ़, छ आदि। संघर्षी ध्वनियों में यह भेद न मिलने का कारण यह है कि उनमें हवा के शक्तिशाली प्रवाह की आवश्यकता पड़ती है, अतः प्रायः सभी महाप्राण होते हैं। प्राणत्व के आधार पर हिन्दी व्यंजनों को इस प्रकार रक्खा जा सकता है।

अल्पप्राण—क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, व, ल, र, ड़।

महाप्राण—ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, न्ह, फ, भ, म्ह, ल्ह, र्ह, ढ़।

इस प्रकार मोटे रूप में जिन ध्वनियों के लिए रोमन लिपि में H (th, kh आदि) या उर्दू लिपि में 'हे' जोड़ना पड़ता है वे महाप्राण हैं, शेष अल्पप्राण।

(१) उच्चारण-शक्ति के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के सशक्त (fortis) और अशक्त (lenis) तथा मध्यम ये तीन भेद किये जा सकते हैं। 'सशक्त' जिसमें मुँह की मांसपेशियाँ दृढ़ हों, जैसे स्, ट्। अशक्त में मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं, जैसे र्, ल्। च्, श् आदि कुछ ध्वनियाँ दोनों के मध्य में आती हैं।

(च) अनुनासिकता के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के तीन भेद हो सकते हैं: (१) मौखिक—जैसे क्, ट्। (२) मौखिक-नासिक्य या अनुनासिक, जैसे कँ्, टँ्। अनुनासिक में उच्चारण के समय हवा मुँह के साथ नाक से भी निकलती है। (३) नासिक्य—जिसमें हवा केवल, नाक से निकले जैसे म्, न्, ण्, ञ्, ङ्।

(छ) संयुक्तता-असंयुक्तता के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के (१) असंयुक्त—जैसे क्, ट्; (२) संयुक्त—जैसे क्ट, प्व, ल्य; (३) द्वित्व—जैसे क्क,प्प, त्त, ये तीन भेद हैं। द्वित्व किसी एक ही व्यंजन का द्वित्व रूप होता है और संयुक्त में दो भिन्न व्यंजनों का योग होता है। इस सम्बन्ध में आगे कुछ विस्तार से विचार किया गया है। उपयुक्त में प्रथम चार आधारों पर किये गये वर्गीकरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें भी स्थान-प्रयत्न वाले और भी महत्त्वपूर्ण हैं। ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के प्रसंग में दिये गये व्यंजन-चार्ट से इनका सम्मिलित रूप स्पष्ट हो जायगा।

कुछ असामान्य व्यंजन और उनके भेद

ऊपर जिन व्यंजनों और उनके भेदों का उल्लेख किया गया है, वे सामान्य और बहुप्रचलित हैं। इसके विरुद्ध कुछ व्यंजन असामान्य और अल्पप्रचलित हैं। ऊपर के व्यंजन वहिःस्फोटात्मक थे, अर्थात् उनमें हवा फेफड़े से बाहर की ओर आती थी। आगे जिन प्रथम और तृतीय का वर्णन किया जायेगा, वे अन्तःस्फोटात्मक अर्थात् उसके ठीक उल्टे हैं। इनके उच्चारण में हवा बाहर से भीतर जाती है। दूसरा इस दृष्टि से भिन्न है।

(१) अन्तःस्फोटात्मक व्यंजन (Implosive)—इन्हें अन्तर्मुखी या अन्तः-स्फोट भी कहते हैं। ये स्पर्श व्यंजन हैं। इनसे ऐसा होता है कि सामान्य स्पर्शों की भाँति मुँह के किसी भाग में स्पर्श या अवरोध होता है और साथ ही स्वर-यन्त्र काफ़ी नीचे कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि स्पर्श-स्थान और स्वर-यन्त्र के बीच के स्थान के विस्तृत हो जाने के कारण हवा फैलकर हलकी हो जाती है और ज्योंही अव-रोध का उन्मोचन होता है, भीतर हलकी हवा होने के कारण बाहर से हवा बड़ी तेजी से प्रवेश करती है और यह ध्वनि उच्चरित होती है। वेस्टरमैन के अनुसार, इसके तुरंत बाद एक सामान्य स्वर सुनाई पड़ता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य, दंत्य, तालव्य और कोमलतालव्य होती हैं। ऐसी ध्वनियों के पूर्व प्रायः ऊपर एक उलटा 'काँमा' रखकर उन्हें अन्य ध्वनियों से अलग करते हैं; जैसे प '(Pʻ) आदि। यों कुछ अन्य पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं। अफ्रीका की एफिक, इवो, हौसा, जुलू, आदि, भारत की सिंधी (ज, ब आदि) तथा कुछ राजस्थानी बोलियाँ एवं कुछ मूल अमरीकी भाषाओं में इस प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं। अतः स्फोटात्मक ध्वनियाँ कभी-कभी बहुत हलकी होती हैं।

(२) उद्गार व्यंजन (Gjective या Glotalized Stop)—यह भी विशेप प्रकार की स्पर्श-ध्वनि ही है। इसमें मुँह में स्पर्श के अवरोध के साथ-साथ स्वरयंत्रमुख भी स्वरतंत्रियों के समीप आने से बन्द हो जाता है। पहले मुँह में स्फोट होता है और फिर स्वर-यंत्र में लगभग आधा सेकन्ड बाद। स्वरयंत्र इस समय कुछ ऊपर उठ आता है। दोहरे अवरोध और दोहरे उन्मोचन के कारण, यह ध्वनि एक विशेप प्रकार की कुछ तेज-सी, बोतल के कार्क खुलने जैसी, सुनाई पड़ती है। इसके उच्चारण में मुँह की

मांसपेशियों में संकोचन से हवा संकुचित रहती है और उन्मोचन होते ही जोर से बाहर निकलती है। यह स्पर्श, द्वयोष्ठ्य, तालव्य, कोमल तालव्य आदि कई प्रकार का हो सकता है। इसे लिखने के लिपि-चिह्न के आगे ऊपर कॉमा लगाते हैं, जैसे क' (k'), प' आदि। ये ध्वनियाँ प्रमुखतः अफ्रीकी भाषाओं में मिलती हैं, किंतु अपवादस्वरूप फ्रांसीसी आदि कुछ अन्य भाषाओं में भी हैं।

स्पर्श के अतिरिक्त संघर्षी, पार्श्विक तथा अर्द्धस्वर आदि का भी उच्चारण इस प्रकार स्वर-यंत्र बन्द करके हो सकता है। ये ध्वनियाँ भी अफ्रीकी भाषाओं में हैं।

(३) क्लिक (Click)—इसे अन्तर्मुखी द्विस्पर्श या अन्तःस्फोट द्विपर्श भी कहा गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ दो हैं : (क) मुँह में दो स्थानों पर स्पर्श या अवरोध, (ख) हवा का बाहर से भीतर जाना। दो अवरोधों या स्पर्शों में एक तो कोमल तालव्य (अर्थात् 'क्' के समान) होता है, और दूसरा स्पर्श. उसके इधर कहीं भी। इसके उच्चारण में जीभ तथा मांसपेशियाँ कुछ कड़ी रहती हैं। पहले बाहर के स्पर्श का उन्मोचन होता है। भीतर की मांसपेशियों के कड़ापन एवं खिचाव से भीतर की हवा संकुचित-सी रहती है, उन्मोचन होते ही बाहर से हवा घुसती है, और तुरंत ही क-स्थानीय स्पर्श भी उन्मोचित होता है। यह परवर्ती उन्मोचन अत्ययन्त धीमा होने से सुनाई नहीं पड़ता। ध्वनि के बाद तुरन्त किसी सामान्य स्वर का उच्चारण होता है। क्लिक ध्वनियाँ कई प्रकार की होती हैं। इनका यह अंतर क-स्थानीय स्पर्श के कारण नहीं होता, क्योंकि यह स्पर्श तो सभी में एक-सा होता है। अंतर होता है उस दूसरे स्पर्श के कारण जो क-स्थान के इधर घटित होता है। इन पूर्ववर्ती स्पर्शों के आधार पर ही क्लिक के प्रमुखतः ६ भेद किये गये हैं : द्वयोष्ठ्य, दंत्य, वर्त्स-तालव्य, वर्त्स्य, प्रतिवेष्ठित कठोर तालव्य, वर्त्स्य-पार्श्विक। इनमें अन्तिम उन्मोचन ल की तरह केवल एक पार्श्व में होता है। क्लिक ध्वनियों का प्रयोग अधिकांशतः दक्षिणी अमेरिका की भाषाओं में होता है, किंतु उनसे मिलती-जुलती ध्वनि अन्य भी बहुत-सी भाषाओं में पाई जाती हैं। कुछ लोगों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में भारोपीय परिवार में भी क्लिक ध्वनियाँ थीं, धीरे-धीरे उनका लोप हो गया। ब्रिटेन में 'हम प्यार करते हैं' के अर्थ में karom का प्रयोग होता रहा है, जो इधर karomp हो गया है। वेन्द्रिये के अनुसार 'प' का यह विकास 'क्लिक' के कारण है। फ्रांसीसी भाषा में संदेह और आश्चर्य प्रकट करने के लिए 'त' का क्लिक रूप प्रयोग होता है। हिन्दी का 'च्-च्' या 'टिक्टिक्' भी कुछ इसी प्रकार का है।

क्लिक ध्वनियों के अघोष-घोष, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक-निरनुनासिक आदि दोनों रूप हो सकते हैं। लिखने में इनके लिए कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। होटेंटोट की एक बोली 'नामा' के लिए। (दंत्य); ‡ (वर्त्स्य), ! (प्रतिवेष्ठित)," (पार्श्विक) चिह्नों का प्रयोग किया गया है। जैसे, ! ami= ढीला करना। ओष्ठ्य के लिए ⊙ का भी प्रयोग किया गया है। किंतु अब लिपि-चिह्नों को उलटी कर या उन जैसे नये चिह्नों

का ही प्रायः प्रयोग करते हैं, जैसे ɿ (उलटी टी) आदि। क्लिक ध्वनियों को प्रयुक्त करने वाली प्रमुख भाषाएँ बुशमैन, जुलू, बांटू, होटेंटोट तथा अमरीका की आदि भाषाएँ हैं। वर्त्स्यतालव्य प्रयोग केवल सुतो (अफ्रीकी) में होता है।

संयुक्त व्यंजन

संयुक्त व्यंजन दो या अधिक व्यंजनों के मिलने से बनते हैं। मिलने वाले यदि दोनों व्यंजन एक हैं (जैसे क्+क्, पक्का) तो उस युक्त व्यंजन को दीर्घ या द्वित्व-व्यंजन (long या double consonant) कहते हैं, किंतु यदि दोनों दो हैं (जैसे र्+म्, गर्मी) तो संयुक्त व्यंजन (compound consonant) कहते हैं। एक दृष्टि व्यंजन के दो भेद किये जा सकते हैं: स्पर्श और स्पर्श-संघर्षी या पूर्ण बाधा वाले तथा अन्य। स्पर्श और स्पर्श संघर्षी के द्वित्व में ऐसा होता है कि उसमें स्पर्श के प्रथम (हवा के आने और स्पर्श होने) और अन्तिम या तृतीय (उन्मोचन या स्फोट) स्थिति में तो कोई अन्तर नहीं आता, केवल दूसरी या अवरोध की स्थिति बड़ी हो जाती है। 'पक्का' में वस्तुतः दो क् नहीं उच्चरित होते, अपितु 'क्' के मध्य की स्थिति अपेक्षाकृत बड़ी हो जाती है। इसीलिए वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के द्वित्वों को 'दो क्' आदि न कह कर 'क' का दीर्घ रूप या 'दीर्घ व्यंजन क' या दीर्घ या प्रलम्बित 'क' कहना अधिक समीचीन है, क्योंकि दो 'क' तब कहलाते, जब दोनों की तीन-तीन स्थितियाँ घटित होतीं। स्पर्श-संघर्षी च आदि व्यंजनों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। इस प्रकार बग्गी, बच्चा, लज्जा, भट्टी, अड्डा, पत्ती, गद्दी, थप्पड़, अब्बा आदि सभी के द्वित्व ऐसे ही हैं। महाप्राणों का इस रूप में द्वित्व नहीं होता। वस्तुतः (अन्य दृष्टियों में से एक) अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियों का अन्तर स्फोट के वायु-प्रवाह की कमी-वेशी के कारण होता है। अतः जब दो मिलेंगे तो पहले का स्फोट होगा नहीं, इस प्रकार वह अल्पप्राण हो जायगा। आशय यह है कि ख्ख, घ्घ, छ्छ, झ्झ, ठ्ठ, भ्भ आदि का उच्चारण हो ही नहीं सकता। उच्चारण में ये क्ख, ग्घ, ज्झ, ट्ठ, ब्भ हो जायेंगे, जैसे घग्घर, मच्छर, झज्झर, भब्भड़ आदि। अन्य प्रायः सभी व्यंजनों के द्वित्व में इस प्रकार की कोई बात नहीं होती, केवल उनकी दीर्घता बढ़ जाती है, जैसे पन्ना, अम्मा, रस्सा, बर्रे, पिल्ला आदि।

संयुक्त व्यंजनों में यदि पहला स्पर्श या स्पर्श-संघर्षी है तो वह अस्फोटित होता हैं, अर्थात् उसका स्फोट या उन्मोचन नहीं होता, जैसे ऐक्ट, अक्ल, बद्ली, अच्छी आदि। अन्य प्रायः कोई भी व्यंजन आये तो उसमें प्रकृति दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। हाँ दीर्घता या मात्रा की कुछ कमी-वेशी अवश्य मिलती है। संयुक्त व्यंजनों में एक का घोषत्व-अघोषत्व दूसरे के स्वरूप को प्रभावित करता है। 'नागपुर' का उच्चारण 'नाक्पुर', 'प' के 'ग' पर पड़े प्रभाव के कारण है। संस्कृत की संधियों में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

(व्यंजनों के वर्गीकरण की तालिका ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के प्रसंग में देखिये)

(घ) ध्वनि-गुण (Sound Quality)[1]

भाषा का आधार 'ध्वनि' है और 'ध्वनि' से आशय प्रायः स्वर और व्यंजन का लिया जाता है, किन्तु भाषा केवल स्वर और व्यंजन का ही योग नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त मात्रा और सुर-बालघात आदि भी उनके साथ काम करते हैं। इन तीनों का अलग अस्तित्व नहीं है। ये स्वर-व्यंजन पर ही आधारित हैं, यद्यपि इनके कारण उनकी प्रकृति या गुण में अन्तर आता रहता है। सुर-बालघात दोनों को एक नाम 'आघात' (accent) से भी अभिहित कर सकते हैं। ध्वनि-गुण के अन्तर्गत प्रमुखतः ये ही दो—मात्रा और आघात—आते हैं।

(अ) मात्रा[2]

किसी भी ध्वनि के उच्चारण में, या उच्चारण छोड़कर मौन रहने में, समय की जो मात्रा लगती है। उसे भाषा के अध्ययन में 'मात्रा-काल' कहते हैं। किसी ध्वनि के उच्चारण में समय कम लगता है किसी में ज्यादा, किसी में बहुत कम और किसी में बहुत ज्यादा। कम समय वाली मात्रा ह्रस्व, अधिक समय वाली दीर्घ और उससे भी अधिक समय वाली प्लुत कहलाती है। इसी आधार पर मात्रा के मोटे रूप से पांच भेद—ह्रस्वार्द्ध (half short), ह्रस्व (short), ईषत्-दीर्घ (half long), दीर्घ (long) प्लुत (overlong) किये जा सकते हैं। यों सूक्ष्मता से विचार करने पर ये भेद और अधिक हो सकते हैं। मशीनों के आधार पर तो पचासों भेद किये जा सकते हैं।

---

१. इसे ध्वनि-लक्षण (sound attributes) भी कहा गया है। आंग्ल ध्वनि-शास्त्रियों ने इसके लिये संध्यात्मक, रागात्मक या रागीय तत्त्व (prosodic feature) तथा अमरीकनों ने अखंड या खंडेतर ध्वनियाँ (supra-segmental sounds) भी प्रयुक्त किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने इन्हें secondary phoneme या proso-deme कहा है।

'प्रोसोदिया' शब्द का प्रयोग यूनानी आचार्य हेरोदिएनुसने 'बालघात' के लिए किया था। उसी आधार पर प्रो० फ़र्थ (१६४८ के Philogical Society के कार्य-विवरण में Sounds and Prosodies शीर्षक लेख) आदि ने इसे भाषाविज्ञान में प्रयुक्त किया है। ये तत्त्व अक्षर में होने पर 'अक्षरगत', पद में होने पर 'पदगत' और वाक्य में होने पर 'वाक्यगत' कहे जा सकते हैं।

२. हिन्दी में इसे मात्रा-काल, परिमाण तथा अंग्रेजी में duration, length, quantity, mora या chrone भी कहते हैं। कुछ लोग mora या chrone आदि को दूसरे अर्थों में भी प्रयुक्त करते हैं। मात्रा की एक इकाई भी mora या chrone है। ध्वनिग्राम (phoneme) की तरह किसी भाषा में प्रयुक्त अर्थभेदक मात्रा की एक इकाई मात्राग्राम (chroneme) कहलाती है।

प्राचीन भारत में मात्रा का अध्ययन अच्छी तरह किया गया था। भारतीय भाषाशास्त्री इसके महत्त्व से पूर्ण परिचित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सिर्फ इसी विषय को लेकर लिखा गया 'काल-निर्णय-शिक्षा' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलता है।

भारतीय प्रातिशाख्य, शिक्षा या व्याकरण-ग्रंथों में मात्रा के भेद के रूप में केवल तीन—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—का ही प्रायः उल्लेख मिलता है। परम्परागत रूप में ह्रस्व एकमात्रिक; दीर्घ द्विमात्रिक तथा प्लुत त्रिमात्रिक है, या कुछ लोगों के अनुसार एक बार चिटकी बजाने में जितना समय लगता है, उतना समय ह्रस्व का है, और उससे दूना तथा तीन गुना क्रम से दीर्घ तथा प्लुत का।[1] वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। ह्रस्व से दीर्घ में अधिक समय तो लगता है, किन्तु दूना नहीं। अंग्रेजी ह्रस्व स्वर में '२२८ सेकेंड तथा दीर्घ में '३१८ सेकेंड लगता है। संस्कृत में सामान्यतः प्रथम दो—ह्रस्व, दीर्घ—का ही प्रयोग मिलता है। प्लुत का प्रयोग बहुत कम मिलता है। पूरे ऋग्वेद में इसका प्रयोग दो-तीन बार से अधिक नहीं है। ओ३म्' में 'ओ' प्लुत है। इसीलिये ओ के बाद ३ लिखते हैं जो (ह्रस्व के तीन गुने) प्लुत का द्योतक है। किसी को बुलाने में इसका प्रायः प्रयोग होता है 'ओरऽऽऽम'। यहाँ 'रा' का 'आ' प्लुत है। कभी-कभी तो इतना खींचकर बुलाते है कि प्लुत से भी बड़ी मात्रा सुनाई पड़ती है, जिसके लिए ४ या ५ लिख सकते हैं। भोजपुरी में 'रमवाँ हउवे रे' में रे का ए १० मात्रा से कम का नहीं होता।

मात्रा स्वर, अर्द्धस्वर और व्यंजन सभी की होती है। कुछ लोगों का विचार है कि भारत में व्यंजन की मात्रा नहीं मानी जाती थी, किंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य आदि कई ग्रंथों में व्यंजन की मात्रा का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य व्यंजन की मात्रा आधी (व्यंजनमर्द्ध मात्रा) मानता है। व्यंजन की मात्रा के आधार पर कई वर्ग बनाये जा सकते हैं। स, श, ष आदि ऐसे व्यंजन *जिनका उच्चारण देर तक किया जा सकता है*, अपेक्षाकृत देर तक बोले जा सकते हैं। इनकी मात्रा घट-बढ़ सकती है, किन्तु स्पर्श आदि में सामान्यतया ऐसा होना सम्भव नहीं होता। किंतु इसका आशय यह नहीं कि उनकी मात्रा कभी दीर्घ हो ही नहीं सकती। व्यंजन का द्वित्व वस्तुतः दो व्यंजन न होकर व्यंजन का, मात्रा की दृष्टि से दीर्घ रूप ही है। 'गुड्डी', 'बग्गी', 'सच्चा', 'धक्का' जैसे शब्दों में यदि ध्यान दिया जाय तो 'ड' 'ग' 'च' 'क' दो नहीं हैं, अपितु एक ध्वनि के ही ये

---

१. नारद शिक्षा, ऋक्प्रातिशाख्य तथा अन्य ग्रंथों में इन मात्राओं को और ढंग से भी नापा गया है। जैसे ह्रस्व बराबर है आँख की झपक या नीलकंठ की एक बोली या बिजली की एक चमक के। दीर्घ बराबर है कौवे की एक बोली के, और प्लुत बराबर है मोर की एक बोली के। आधी मात्रा या ह्रस्वार्द्ध को न्यौले की एक बोली के बराबर कहा गया है।

दीर्घ रूप हैं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि स्पर्श व्यंजनों में मात्रा की दीर्घता के कारण बीच की स्थिति ही लम्बी हो जाती है। वायु के आने और स्फोट या निकलने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कहना न होगा कि इस बात को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार की ध्वनि को दो चिह्नों के योग से लिखना भ्रामक है। वस्तुतः स्वर और व्यंजन दोनों के लिए मात्रा की दीर्घता को व्यक्त करने के लिए एक चिह्न का प्रयोग अधिक वैज्ञानिक है।

किसी व्यंजन के उच्चारण में कितना समय लगता है, इसका भी अध्ययन किया गया है। अंग्रेजी की अघोष स्पर्श ध्वनियों में .१२ सेकेंड, घोष स्पर्श में .०८८, नासिक्य में .१४६, पार्श्विक और लुंठित में ·१२२, तथा संघर्षी में ·११२। यों सामान्यतया स्वरों के उच्चारण में सबसे अधिक समय लगता है, अर्द्धस्वरों में उनसे कम और व्यंजनों में अर्द्धस्वरों से भी कम। व्यंजनों में सबसे अधिक समय अनुनासिक व्यंजनों में लगता है, उनसे कम लुंठित और पार्श्विक व्यंजनों में, उवसे कम ऊष्मों में, उनसे कम अन्य संघर्षियों में और सबसे कम स्पर्शों में। अन्य स्पर्शों में भी दंत्य में सबसे कम, व्यताल में उससे अधिक और ओष्ठ्य में सबसे अधिक समय लगता है। सभी प्रकार की नियों मेंध्व अघोष में समय ज्यादा लगता है और घोष में कम। मोटे रूप से सभी व्यंजनों की मात्रा ह्रस्वार्द्ध मानी जा सकती है।

स्वरों में ह्रस्व स्वरों की मात्रा ह्रस्व तथा दीर्घ की दीर्घ होती है। संयुक्त स्वरों के उच्चारण में दीर्घ से अधिक समय लगता है। इस प्रकार उन्हें 'प्लुत' या अतिरिक्त दीर्घ कहा जा सकता है। प्रायः सभी भाषाओं में ह्रस्व और दीर्घ स्वर पाये जाते हैं। किंतु ऐसी भाषाएँ बहुत अधिक नहीं हैं, जिनमें सच्चे अर्थों में एक ही स्वर के ह्रस और दीर्घ दोनों रूप हों। अफ्रीका की ईव आदि भाषाओं में सच्चे अर्थों में ह्रस्व के दीर्घ स्वर हैं, जैसे ba (कीचड़), baa (खुला) आदि) जिनमें ह्रस्व स्वरों के ही दीर्घ रूप वर्तमान हैं। हिन्दी आदि में अ आ, इ ई, उ ऊ में प्रथम के दूसरे, मात्र दीर्घ रूप नहीं हैं, जैसा कि प्रायः माना जाता है। कहना न होगा कि इनमें मात्रा के अतिरिक्त स्थान का भेद है। यों स्थान के आधार पर ह्रस्व के ह्रस्वार्द्ध या दीर्घ के ह्रस्व रूप अवश्य उपलब्ध हैं। कमल में 'क' और 'म' के 'अ' बराबर नहीं हैं, और न 'ओर' और 'ओखली' के 'ओ' या 'एक' और 'एक्का' के 'ए'। दीदी की दोनों 'ई' 'दादा' के दोनों 'आ' और 'तूतू' के दोनों ऊ भी मात्रा की दृष्टि से समान नहीं हैं। उच्चारण-सौकर्य के लिये 'स्' व्यंजन के पूर्व आने वाली संक्षिप्त इ (स्कूल, स्काउट, स्टेशन), 'गोल्डस्मिथ' के उच्चारण में 'ड' के साथ की संक्षिप्त 'इ', या किसी भी ह्रस्व स्वर की विशेष संदर्भ के कारण सामान्य से कम मात्रा ह्रस्वार्द्ध या लघु ह्रस्व मात्रा है। उदासीन स्वर अ (अवधी रामक, पंजाबी वचारा) भी ह्रस्वार्द्ध हैं।

वस्तुतः, ऊपर जो ध्वनियों के अलग-अलग काल पर विचार किया गया है, वह भाषा के अध्ययन की दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि भाषा में कोई ध्वनि अलग नहीं आती। जंजीर की तरह एक ध्वनि दूसरी से लगी रहती है और इस

'लगने' के कारण एक ध्वनि दूसरे को प्रभावित करती है। इसीलिये मात्रा के अध्ययन में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि किन संदर्भों में मात्रा का क्या रूप हो जाता है। इस सम्बन्ध में यों तो गहराई से विचार किया जाय तो प्रत्येक भाषा के किसी सीमा तक अपने अलग नियम होंगे, फिर भी सामान्य नियम दिये जा सकते हैं, जो काफी भाषाओं पर लागू हो सकते हैं। स्वर के सम्बन्ध में प्रमुख बातें ये हैं—(१) बलाघातयुक्त स्वर चाहे वे दीर्घ हों या ह्रस्व, अबलाघात युक्त से अधिक मात्रा वाले या दीर्घ होते हैं। उदाहरणतः 'लचक्' में 'ल' का 'अ' 'च' के 'अ' से बड़ा है। (२) दीर्घ स्वर के बाद यदि अघोष व्यंजन हो तो वह स्वर, मात्रा में, कुछ छोटा, और उसके बाद यदि घोष व्यंजन हो तो बड़ा होगा। जैसे 'आप' का 'आ' 'आज' या 'आग' के आ से छोटा है। ईख-ईद में भी यही बात दिखाई पड़ती है। (३) ह्रस्व स्वरपर यह नियम लागू होता है, यद्यपि वहाँ दोनों में अन्तर बहुत नगण्य होता है। उदाहरणार्थ पत्त-पेद, जप-जग। (४) शब्दांत का स्वर उसी शब्द के अन्यस्थानीय समान स्वर की तुलना में कम मात्रा का होता है। 'दादा' में पहला 'अ' दूसरे से बड़ा है। इसी प्रकार दीदी, तूतू-मैंमैं तथा लोलो-कोको में भी। (५) एक ही स्वर यदि दो शब्दों के आरम्भ में या आरम्भिक अक्षर में आये तो प्रायः लम्बे शब्द में उसकी मात्रा छोटी होती है, और छोटे शब्द में बड़ी। जैसे ओर—ओखली, ऐन-ऐनक, नागर-नागरिकता। (६) संयुक्त या द्वित्व व्यंजन के पूर्व का स्वर असंयुक्त या अद्वित्व के पूर्व के स्वर से छोटा होगा, जैसे वहाँ-वक्त पका-पक्का। व्यंजन के सम्बन्ध में भी दो-एक बातें कही जा सकती हैं—(१) अक्षरांत के व्यंजन के पूर्व यदि ह्रस्व स्वर हो तो वह व्यंजन कुछ बड़ी मात्रा का होगा, किन्तु यदि दीर्घ स्वर हो तो कुछ छोटी मात्रा का, जैसे दिन-दीन, लद-लीद आदि। (२) अनुनासिक, पार्श्विक और लुंठित ध्वनियाँ घोष व्यंजन के पूर्व बड़ी और अघोष के पूर्व कुछ छोटी होती हैं। उदाहरणतः बाल्टी-रोल्डगोल्ड, पंखा-गंगा, कुर्क-कुर्ग।

आदमी सर्वदा एक गति से नहीं बोलता, वह कभी तीव्र गति से बोलता है, कभी धीमी गति से और कभी मध्यम गति से। इसके अनुसार भी ध्वनियों की मात्रा घटती-बढ़ती है।

ध्वनियों की तरह मौन या विराम या दो शब्दों के बीच के मौन की भी मात्रा होती है। पूर्णविराम, अर्द्धविराम और अल्पविराम में मात्रा का अन्तर स्पष्ट ही है।

मात्रा के अंकन के लिये कई पद्धतियों का प्रयोग होता है। अंतर्राष्ट्रीय लिपि-चिह्न में दीर्घ के लिये दो बिन्दु (a:) उससे कुछ ह्रस्व के लिये एक बिन्दु (a.) और ह्रस्व को बिना किसी चिह्न के (a) लिखते हैं। कुछ लोग ऊपर छोटी लकीर के द्वारा दीर्घता व्यक्त (ā) करते हैं। नागरी लिपि में अ आ, इ ई, उ ऊ में कई प्रकार के चिह्नों का दीर्घता के लिये प्रयोग होता है। व्यंजनों के साथ भी ह्रस्व-दीर्घ के चिह्न अलग-अलग (क, का, गि गी) हैं। हमारे यहाँ छन्दशास्त्र में ह्रस्व के लिये '।' और दीर्घ के लिये 'ऽ' का प्रयोग होता है। प्लुत के लिये नागरी लिपि में ३ का प्रयोग (ओ३म्) करते हैं।

(अ) आघात (accent)

यहाँ 'आघात' शब्द अंग्रेजी शब्द 'ऐक्सेंट' (accent) के प्रतिशब्द के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। यों हिन्दी पुस्तकों में 'ऐक्सेंट' के लिए 'बल', 'स्वर', 'स्वराघात' आदि का भी प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी 'ऐक्सेंट' शब्द का प्रयोग भाषाविज्ञान में प्रमुखतः ३ अर्थों में मिलता है : (क) पामर आदि कुछ भाषाविज्ञानवेत्ता इसे बहुत विस्तृत अर्थ में लेते हैं, और उनके अनुसार मात्रा (mora), सुरलहर (intonation), बलाघात (stress), ध्वनि-प्रक्रिया (आगम, लोप, समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय आदि) तथा ध्वनि-प्रकृति (स्थान, प्रयत्न या संवृतता-विवृतता आदि) आदि अनेक चीजें इसके अन्तर्गत आती हैं। (ख) दूसरे अर्थ में 'ऐक्सेंट' बहुत सीमित है और उसे मात्र बलाघात (stress) का समानार्थी मानते हैं। प्रेटर, पेइ, गैनर आदि भाषाविज्ञानविदों ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। (ग) तीसरे अर्थ में 'ऐक्सेंट' इन दोनों अर्थों के बीच में है, और उसमें बलाघात (stress) और सुर या सुराघात (pitch) केवल ये दो चीजें आती हैं। यही अर्थ अधिक प्रचलित एवं मान्य है। यहाँ इसी अर्थ में 'आघात' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

इस प्रकार आघात (accent) के दो भेद हुए : (क) बलाघात[1] (stress accent), और (ख) सुर[2] (pitch accent)।

(क) बलाघात

बोलने में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के सभी अंशों पर बराबर बल या जोर नहीं दिया जाता। कभी वाक्य के एक शब्द पर बल अधिक होता है तो कभी दूसरे पर। इसी प्रकार एक शब्द की भी सभी ध्वनियों पर बराबर बल या आघात नहीं पड़ता। शब्द जब एक से अधिक अक्षरों (syllables) का होता है, तो इन अक्षरों पर भी बल बराबर नहीं पड़ता, एक पर अधिक होता है तो दूसरे या दूसरों पर कम। इसी बल, जोर या आघात को 'बलाघात' कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भाषा की कोई भी ध्वनि पूर्णतः बलाघातशून्य नहीं होती।[3] जिन ध्वनियों, अक्षरों या शब्दों को हम बलाघातशून्य समझते हैं, उन पर केवल अपेक्षाकृत कम बलाघात होता है। कुछ लोग बलाघात को केवल 'अक्षर' पर मानते हैं, किन्तु ऐसी मान्यता के लिए

---

१. 'बलाघात के लिए अन्य अंग्रेजी-हिन्दी समानार्थी stress, expiratory stress बलात्मक स्वराघात, तथा बल आदि भी हैं।

२. सुर के लिए, इसी प्रकार pitch, tone tonic, accent, chromatic accent, musical accent, संगीतात्मक स्वराघात, गीतात्मक स्वराघात, स्वर, तान आदि का भी प्रयोग हुआ है।

३. अस्फोट स्पर्श (unexploded stop) जैसे 'आप्' की प् जैसी ध्वनियाँ अपवाद हैं।

संपुष्ट आधार का अभाव है। व्यावहारिक रूप से अक्षर-बलाघात का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है, इसलिए केवल मोटे रूप से तो ऐसा माना जा सकता है, किन्तु तत्त्वतः जब सभी भाषा-ध्वनियाँ किसी न किसी अंश में बलाघात से युक्त होती हैं तो फिर 'बलाघात' को मात्र अक्षर तक कदापि सीमित नहीं माना जा सकता। मूलतः बलाघात का कुछ आधिक्य एक ध्वनि पर दिखाई पड़ता है, जब हम उसकी तुलना आसपास की कम बलाघातयुक्त ध्वनियों से करते हैं; दूसरे स्तर पर बलाघाताधिक्य अक्षर पर दिखाई पड़ता है, जब हम एक अक्षर की तुलना आसपास के अक्षर से करते हैं, तीसरे स्तर पर यह शब्द पर दिखाई पड़ता है, जब हम एक शब्द की तुलना आसपास के शब्दों से करते हैं और चौथे स्तर पर यह वाक्य पर दिखाई पड़ता है, जब हम एक वाक्य की तुलना आसपास के वाक्यों से करते हैं।

भाषा के विभिन्न स्तरों पर बलाघात के भेद

सभी भाषाविज्ञानविदों ने बलाघात के दो भेद माने हैं: शब्द-बलाघात और वाक्य-बलाघात। इस परम्परागत भेद से थोड़ा हटते हुए, इन पंक्तियों का लेखक उपर्युक्त कारणों से ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश और वाक्य के स्तर पर बलाघात के निम्नांकित चार-पाँच भेदों का विनम्र सुझाव देना चाहता है—

(१) ध्वनि-बलाघात—वह बलाघात जो किसी एक ध्वनि (स्वर या व्यंजन) पर हो। यदि किसी अक्षर (syllable) में एक से अधिक ध्वनियाँ हों तो हम देखते हैं कि उनमें एक ध्वनि उस अक्षर का 'शिखर' होती है और शेष 'गह्वर'। कहना न होगा कि अपेक्षाकृत अधिक बलाघात उस शिखर पर ही होगा। उदाहरणार्थ 'जप्' एक अक्षर है। इस अक्षर का शिखर बीच का अ (ज्+अ+प्) है। इस 'अ' में मुखरता आदि अन्य गुणों के साथ बलाघाताधिक्य भी है, इसीलिये यह 'शिखर' है, अन्य ध्वनियाँ इसी कमी के कारण 'गह्वर' हैं।

(२) अक्षर-बलाघात—वह बलाघात जो अक्षर पर हो। यदि किसी शब्द में एक से अधिक अक्षर हैं, तो उनमें यह प्रायः देखा जाता है कि एक अक्षर पर बलाघात सबसे अधिक होता है, दूसरे पर कम और तीसरे पर और कम या इसी प्रकार। अंग्रेजी आदि बलाघात-प्रधान भाषाओं में यह बात पर्याप्त स्पष्ट है। उनमें एक से अधिक अक्षर वाले सभी शब्दों में एक अक्षर बलाघातयुक्त (stressed) कहलाता है, और शेष में कुछ बलाघातहीन (unstressed) तथा कुछ अल्पबलाघातयुक्त (weak stress वाले)। यहाँ 'बलाघातहीन' का अर्थ यह नहीं है कि वे अक्षर बिना बलाघात के होते हैं। इसका मात्र यह अर्थ है कि उनका 'बलाघात' अन्यों की तुलना में 'नहीं के बराबर' होता है। इसीलिए बलाघातहीन (या अंग्रेजी का 'अनस्ट्रेस्ड') शब्द भ्रामक है, और इसके स्थान पर 'अत्यल्प बलाघातयुक्त' का प्रयोग होना चाहिए।

यों तो वाक्य के एक से अधिक शब्दों के अक्षरों के बलाघात को भी तुलनात्मक रूप में देखा जा सकता है, किन्तु इस प्रकार का तुलनात्मक मूल्यांकन प्रायः केवल एक

शब्दों के अक्षरों का ही किया जाता है। उनके बलाघातों को क्रम से प्रथम बलाघात (सबसे प्रबल), द्वितीय बलाघात (उससे निर्बल), तृतीय बलाघात (उससे भी निर्बल), चतुर्थ बलाघात (तीसरे से निर्बल) आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है। अंग्रेजी शब्द 'ऑपर्ट्यूनिटि' (opportunity) में ५ अक्षर हैं। तुलनात्मक दृष्टि से प्रथम बला-घात तीसरे अक्षर पर, द्वितीय पहले पर, तृतीय पाँचवें पर चतुर्थ दूसरे पर और पंचम चौथे पर है। इसी रूप में बलाघात के सापेक्ष बल को लेकर विद्वानों ने इसके उच्च (loud), उच्चार्द्ध (holflaud), सामान्य, सशक्त या प्रबल (story), अशक्त या निर्बल (weak); तथा मुख्य (primary), गौण (secondary), गौणातिगौण या या तृतीयक (tertiary) आदि भेद किये हैं। कहना न होगा कि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके, आवश्यकतानुसार इस प्रकार के अनेक भेद किये जा सकते हैं। यों मुख्य भेद दो ही होते हैं, जिनके लिए उपर्युक्त में किसी युग्म, या त्रिक में प्रथम दो का प्रयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी शब्द फ़ादर (father) में प्रथम अक्षर मुख्य बलाघातयुक्त है, और दूसरा गौण।

भाषाविज्ञान के विद्वानों ने इस 'अक्षर-बलाघात' को ही शब्द-बलाघात (word-stress) कहा है, जिसका आशय है शब्द के अवयवों, अर्थात् अक्षरों पर बलाघात होना। बलाघात-प्रधान भाषाओं में शब्द के अक्षरों पर का बलाघात निश्चित होता है, जिसे निश्चित बलाघात (fixed stress) कहते हैं। भाषा को स्वाभाविक रूप में बोलने के लिए इनका ज्ञान और प्रयोग आवश्यक है। अंग्रेजी इसी प्रकार की भाषा है। भार-तीय जब अंग्रेजी बोलते हैं तो उसे प्रायः बलाघातशून्य रूप में बोलते हैं, इसीलिए अंग्रेजों के लिए वह अस्वाभाविक लगती है, और कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। यों तथाकथित बलाघातहीन भाषाओं में भी शब्द के अक्षरों पर बालाघात निश्चित होता है। जैसे हिन्दी में कुछ विशेष प्रकार के शब्दों में प्रायः अक्षर के उपांत पर बलाघात होता है, इसी कारण अन्तिम 'अ' का लोप हो गया है, जैसे कमल्, राम्, दाल् आप्, आदि।

(३) शब्द-बलाघात—एक सामान्य वाक्य में सभी शब्दों पर लगभग बराबर बलाघात रहता है। 'राम ने मोहन को डंडे से मारा' एक इसी प्रकार का सामान्य वाक्य है। किंतु आवश्यकतानुसार इसके किसी शब्द पर अपेक्षाकृत अधिक बलाघात डाला जा सकता है, और तब इस वाक्य के अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जायगा। वाक्य गठन में जैसे कभी-कभी वाक्य के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द को नियमतः ठीक न होते हुए भी पहले रख देते हैं ('मोहन को तुमने मारा' या 'डंडे से तुमने मारा।' इन दोनों में बल देने के लिये 'मोहन' और 'डंडे' को अनियमित होते हुए भी पहले रख दिया गया है), उसी प्रकार बल देने के लिये शब्द विशेष पर 'बलाघात' भी डाल दिया जाता है। ऊपर के वाक्यों में प्रमुख अर्थबोधक शब्द राम, मोहन, डंडे, मारा, ये चार हैं। इन चारों में किसी पर भी बलाघात डाल कर अर्थ की विशेषता प्रकट की जा सकती है। 'राम' पर बल देने का अर्थ होगा कि 'राम ने मारा अन्य किसी ने नहीं', इसी प्रकार

'डंडे' पर बल देने का अर्थ होता कि 'डंडे' से मारा किसी और चीज से नहीं' इसी प्रकार औरों पर भी बल देने से अर्थ बदल जायगा।

यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं : (क) इस रूप में बलाघात निश्चित (fixed) न होकर मुक्त या अनिश्चित (free) है, और अपनी आवश्यकतानुसार वक्ता किसी भी शब्द पर उसे डाल सकता है।

(ख) इस बलाघात का सीधा संबंध अर्थ से है। थोड़ा भी हेर-फेर करने से अर्थ बदल जायगा।

शब्द-बलाघात संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, प्रधान क्रिया और क्रियाविशेषण पर हो सकता है।

जिसे यहाँ 'शब्द-बलाघात' कहा गया है, उसे भाषाविज्ञान के विद्वानों ने 'वाक्य-बलाघात' (sentence stress) कहा है। यह इसलिये कि वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही इस प्रकार के बलाघात का प्रयोग होता है, किंतु वस्तुतः इसे शब्द-बलाघात कहना ही अधिक उचित है, वाक्य-बलाघात नहीं। वाक्य-बलाघात कुछ और है, जिसे आगे दिया जा रहा है।

(४) वाक्य-बलाघात—यों तो सामान्य बातचीत में प्रायः सभी वाक्य बलाघात की दृष्टि से लगभग बराबर होते हैं, किंतु कभी-कभी आश्चर्य, भावावेश, आज्ञा या प्रश्न आदि से सम्बद्ध होने पर कुछ वाक्य अपने आसपास के वाक्यों से अधिक जोर देकर बोले जाते हैं। ऐसे वाक्यों में कभी-कभी तो बल कुछ ही शब्दों पर होता है, किंतु कभी-कभी पूरे वाक्य पर भी होता है। आसपास के अन्य वाक्यों की तुलना में अधिक बलाघातयुक्त वाक्य के प्रयोग के कारण इस स्तर के बलाघात को 'वाक्य-बलाघात' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

'राम—तुम जो भी कहो, मैं नहीं जा सकता।

श्याम—वाह ! यह तो अच्छी रही ! जिस पतरी में खाओ, उसी में छेद करो, और उस पर कहो कि नहीं जा सकता; जाओगे कैसे नहीं ? (हाथ उठाकर भगाने की दिशा में फेंकते हुए) भाग जाओ नालायक कहीं के।'

यहाँ, कहना न होगा कि श्याम द्वारा कहे गए वाक्यों में 'भाग जाओ' पर बलाघात अन्यों की तुलना में बहुत अधिक होगा। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार का 'बलाघातयुक्त वाक्य' छोटा होगा। यदि उसमें शब्द अधिक होंगे तो फिर सशक्त बलाघात केवल कुछ प्रमुख शब्दों तक ही सीमित रह जायगा। उस प्रकार के बलाघात को यदि अलग नाम देना चाहें तो (५)वाक्यांश-बलाघात कह सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य के 'भाग जाओ' के स्थान पर यदि 'भाग जाओ यहाँ से' कर दें तो सामान्यतः सशक्त बलाघात पूरे पर न पड़कर केवल प्रथम दो शब्दों तक ही सीमित रहेगा।

बल या आघात के आधार पर बलाघात के भेद

यह हम देख चुके हैं कि किसी न किसी अंश में बलाघात प्राय: सभी ध्वनियों पर होता है। इसकी तीव्रता या इसका भौतिक स्वरूप, इसी कारण निरपेक्ष रूप से वर्गीकरण या भेदीकरण के योग्य नहीं है। यदि बहुत गहराई से देखना हो तो भाषा, व्यक्ति, संदर्भ आदि के प्रसंग में इसके उच्च, उच्चार्द्ध, निम्न, निम्नार्द्ध, सामान्य आदि भेद किये जा सकते हैं। यों जैसा कि ऊपर अक्षर-बलाघात के प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है, आवश्यकतानुसार इसके और भी अधिक भेद तीव्रता के तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर किए जा सकते हैं, किंतु अधिक प्रचलित भेद 'सशक्त' और 'अशक्त' दो ही हैं। भाषा-अध्ययन की सामान्य शब्दावली में जहाँ बलाघात सशक्त और श्रोतव्य होता है, केवल उसी को बलाघातयुक्त कहते हैं, और जहाँ हल्का या बहुत अशक्त होता है, उसे प्राय: बलाघात नहीं मानते।

अर्थ के आधार पर बलाघात के भेद

अर्थ के स्तर पर बलाघात दो प्रकार का होता है: सार्थक बलाघात और निरर्थक बलाघात। सार्थक बलाघात उसे कहते हैं जिसका अर्थ से सम्बन्ध होता है। ऊपर शब्द-बलाघात इसी प्रकार का है। वाक्य में जिस शब्द पर बलाघात होता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, और उसके महत्त्व के आधार पर वाक्य के अर्थ में विशेषता आ जाती है। ऊपर 'राम ने मोहन को डंडे से मारा' वाक्य उदाहरणस्वरूप लिया जा चुका है और इस बात का संकेत किया जा चुका है कि शब्द-बलाघात से वाक्य के अर्थ में किस प्रकार विशेषता आ जाती है। सार्थक बलाघात का दूसरा रूप बलाघात-प्रधान भाषाओं में अक्षर-बलाघात में दिखाई पड़ता है। इन भाषाओं में शब्दों के अक्षरों पर बलाघात में परिवर्तन से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में ऐसे बहुत से शब्द हैं (जैसे import, conduct, present, insult, increase आदि) जो संज्ञा और क्रिया दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इनकी वर्तनी में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, लेकिन बलाघात में पड़ जाता है। जब बलाघात प्रथम अक्षर पर होता है तो शब्द 'संज्ञा' होते हैं, किन्तु जब दूसरे पर होता है तो 'क्रिया' हो जाते हैं। इस प्रकार इन शब्दों में संज्ञा और क्रिया का भेद किसी अन्य बात पर निर्भर न होकर मात्र बलाघात पर निर्भर है। इसीलिये यहाँ बलाघात सार्थक है। इसे 'सोद्देश्य बलाघात' भी कह सकते हैं। ग्रीक भाषा में सार्थक बलाघात एक और ढंग का मिलता है। वहाँ तो बलाघात के कारण अर्थ बिल्कुल बदल जाता है। उदाहरणार्थ, 'पोली' शब्द में यदि बलाघात प्रथम अक्षर पर होगा तो इसका अर्थ 'नगर' होगा, किंतु दूसरे पर होगा तो यह संज्ञा से विशेषण हो जायेगा और इसका अर्थ हो जायेगा 'बहुत'।

निरर्थक बलाघात उसे कहते हैं, जिसके परिवर्तन से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ हिन्दी, में 'कमल्' में म के 'अ' पर बलाघात है, किंतु बोलनेवाला उसके स्थान पर क के 'अ' पर यदि बलाघात पर दे तो सुनने वाले को थोड़ा अस्वाभाविक तो लगेगा, किंतु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

निश्चय-अनिश्चय के आधार पर बलाघात के भेद

इस स्तर पर बलाघात 'निश्चित' और 'अनिश्चित' दो प्रकार का हो सकता है। अक्षर के शिखर पर या शब्दों के अक्षर विशेष पर बलाघात निश्चित होता है। लगभग सभी भाषाओं में किसी न किसी अंश में यह सत्य है, किंतु बलाघात-प्रधान भाषाओं में यह बात और भी सत्य है, इसी कारण उनके कोशों में इन निश्चित बलाघातों का स्पष्ट उल्लेख होता है। दूसरी ओर वाक्य के शब्दों पर बलाघात अनिश्चित है। अपनी आवश्यकतानुसार वक्ता बल देने के लिये किसी भी अर्थ से विशिष्टतः सम्बद्ध शब्द को बलाघातयुक्त कर सकता है।

बलाघात के कुछ अन्य भेद

येस्पर्सन तथा कुछ अन्य लोगों ने बलाघात के परम्परागत (traditional)-मनोवैज्ञानिक (psychological) और शारीरिक-मनोवैज्ञानिक (physiological-psychological) भेद *भी माने हैं, किन्तु ये सामान्य न होकर अपवाद-से हैं।* भावावेश आदि के कारण नई जगह बलाघात का आ जाना या पुराने स्थान पर अधिक या कम हो जाना भाषा में प्रकृत नहीं है।

जोन्स तथा कुछ अन्य लोगों ने बलाघात के स्पष्ट (objective stress) तथा अस्पष्ट (subjective stress) दो भेद माने हैं। स्पष्ट बलाघात तो सुनने वाले को सुनाई पड़ता है। अधिकांश भाषाओं में यही होता है, किंतु अस्पष्ट बलाघात सुनाई नहीं पड़ता। यह वक्ता की एक मानसिक क्रिया मात्र है, प्रत्यक्ष उच्चारण से इसका सम्बन्ध नहीं है। स्पष्ट बलाघात की तरह इसे सभी लोग नहीं पहचान सकते। इसे केवल वे जान सकते हैं जो भाषा की प्रकृति से पूर्ण अवगत हैं और यह जानते हैं कि किस ध्वनि पर यह पड़ेगा। दक्षिणी अफ्रीका की त्स्वाना (T'swana) भाषा की एक प्रमुख विशेषता इस प्रकार का बलाघात है। जोन्स के अनुसार अंग्रेजी में thank you के एक विशेष उच्चारण क्क्यु (Kkju) में भी इस प्रकार का अस्पष्ट बलाघात है।

ऊपर के वर्णन और विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि बलाघात मूलतः शक्ति की वह मात्रा है जिससे ध्वनि, अक्षर, शब्द या वाक्य का उच्चारण किया जाता है, और शक्ति-आधिक्य के कारण ही अपेक्षतया अधिक बलाघातयुक्त ध्वनि, अक्षर या शब्द आदि आसपास की अन्य ध्वनियों आदि से अधिक मुखर एवं शक्तिशाली होते हैं।

बलाघात भाषा के अन्य उपादानों की तरह ही मूलतः एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है, किंतु इसके प्रकटीकरण के लिये शारीरिक प्रयत्नों का सहारा लेना पड़ता है, जो निम्नांकित हैं।—

(क) बलाघात की मात्रा या तीव्रता के अनुपात में, फेफड़े से अपेक्षाकृत अधिक हवा, ध्वनि उत्पन्न करने के लिए, बाहर फेंकी जाती है। साथ ही वह अधिक तीव्रता से बाहर आती है, अर्थात् इसमें प्राण-शक्ति अधिक होती है।

(ख) उच्चारण अधिक शक्ति से किया जाता है।

(ग) उच्चारण-अवयवों से सम्बद्ध मांसपेशियों को अधिक दृढ़ता या तनाव के साथ परिचालित किया जाता है, उनमें सामान्य शैथिल्य नहीं रहता।

(घ) कभी-कभी बलाघात के साथ-साथ मात्रा को बढ़ाने एवं स्वरतंत्रियों के कंपन को तीव्र और अधिक करने आदि के लिये भी प्रयत्न करने पड़ते हैं।

शारीरिक प्रतिक्रिया

मूलतः मानसिक और उपर्युक्त शारीरिक प्रयत्नों के कारण बलाघातयुक्त ध्वनि के उच्चारण के साथ प्रायः कुछ बाहरी अंग-परिचालन भी होता है। आँख, पलक, भौं, सिर, हाथ, उँगली, कंधा या पैर आदि में एक या अधिक उच्चारण की तीव्रता को चढ़कर, तनकर, झटक कर, नाचकर या फेंके जाकर प्रकट करते हैं। यह प्रवृत्ति भावुक लोगों में अधिक होती है। यों कुछ न कुछ तो प्रायः सभी में होती है। यूरोप में इटली के लोग तथा भारत में बंगाली लोग इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

बलाघात का ध्वनियों पर प्रभाव

(१) बलाघातयुक्त ध्वनि आसपास की ध्वनियों से शक्तिशाली होने के कारण अधिक अपरिवर्तनशील होती है। आसपास की ध्वनियाँ कमजोर होकर धीरे-धीरे बहुत परिवर्तित, दीर्घ से ह्रस्व या लुप्त हो जाती हैं, किन्तु वह ध्वनि प्रायः ज्यों की त्यों या कुछ परिवर्तित रूप में बनी रहती है। 'अध्यापक' में 'ध्या' पर बलाघात विशेष था, अतः 'ध्या' 'झा' के रूप में सुरक्षित है, किंतु अन्य सारी ध्वनियाँ समाप्त हो गईं। ध्वनि-लोप में बलाघात कितना काम करता है, इस पर ध्वनि-परिवर्तन के सिलसिले में कुछ विस्तार से विचार किया जायेगा। 'बाज़ार' में 'ज़ा' के 'आ' के बलाघात ने ही 'बा' को पंजाबी में 'ब' कर दिया है और वह 'बज़ार' हो गया है। इसी प्रकार नराज़, तरीफ़ बरीक आदि में भी। बलाघातहीन स्वर प्रायः दीर्घ से ह्रस्व और ह्रस्व से उदासीन या शून्य हो जाते हैं।

(२) ध्वनियों के, मांसपेशियों एवं करण की दृढ़ता-शिथिलता के आधार पर दृढ़ (fortis) और शिथिल (lenis) दो भेद होते हैं। बलाघातयुक्त होने पर शिथिल ध्वनि कुछ दृढ़ और दृढ़ ध्वनि दृढ़तर हो जाती है।

(३) मात्रा की दृष्टि से ध्वनि (स्वर-व्यंजन दोनों) बलाघातयुक्त होने पर कुछ बड़ी ('ह्रस्व' कुछ 'दीर्घ' और 'दीर्घ' ध्वनि 'दीर्घतर') हो जाती है।

(४) यदि सुर है तो वह भी प्रायः (यद्यपि सर्वदा नहीं) ऊँचा हो जाता है।

(५) बलाघात में हवा अधिक रहती है, इसी कारण बलाघातयुक्त अल्पप्राण स्पर्श कभी-कभी महाप्राण स्पर्श के रूप में सुनाई पड़ते हैं। कोई डाँटकर पूछे कि 'क्यों आये ?' तो लगेगा कि वह 'ख्यों' कह रहा है। इसके विरुद्ध यदि बलाघात बहुत कम हो तो महाप्राण ध्वनि भी अल्पप्राण सुनाई देगी, क्योंकि अल्पप्राण-महाप्राण, प्राण (वायु) का ही तो खेल है। कम बलाघात में हवा की कमी स्वभावतः 'महा' को 'अल्प'

कर देगी। बीमारी में अत्यन्त कमजोर बाप लड़के से इसीलिए 'खाना' न माँगकर 'काना' माँगता है। इसी प्रकार स्वराघातहीन बहुत से शब्दों में 'ह' लुप्त होकर पूर्ववर्ती स्वर को मर्मर बना देता है, जैसे यह्-वह् आदि में।

(६) व्यंजन कभी-कभी बलाघात के आधिक्य के कारण द्वित्व या दीर्घ रूप में भी सुनाई पड़ते हैं। 'उसने एक ऐसा गाना गाया' में 'गाना' का 'ग' बलाघात के कारण 'ग्गा' रूप में सुनाई पड़ता है। स्पर्श की तीन स्थितियों में यहाँ मध्यवर्ती या अवरोध की स्थिति प्रलंबित हो जाती है। पीछे पाँचवें में महाप्राण होने की बात कही गई है। बलाघात, प्राणशक्ति और उच्चारणावयव की दृढ़ता प्रमुखतः इन दोनों पर निर्भर करती है। यदि दृढ़ता अपेक्षाकृत अधिक रही तो व्यंजन द्वित्व होंगे, प्राणशक्ति अधिक रही तो अल्पप्राण महाप्राण हो जायगा। महाप्राण और संघर्षी व्यंजन प्रायः द्वित्व हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों में आदि या मध्य में होने के कारण भी कुछ अन्तर पड़ता है।

(७) सब कुछ मिलाकर उक्त ध्वनि या ध्वनि-समूह अधिक मुखर, श्रवणीय और शक्तिशाली हो जाता है।

बलाघात-परिवर्तन

जिन शब्दों में बलाघात निश्चित होते हैं, उनके भी विशिष्ट संदर्भ में आने पर बलाघात में कभी-कभी स्थान-परिवर्तन (shift) हो जाता है। ऐसा प्रायः तीन स्थितियों में होता है—

(क) शब्द के किसी अन्य एक, या अधिक शब्दों से मिलाकर नया समस्त शब्द बनने पर—ऐसी स्थिति में मूल शब्दों के बलाघात में कभी-कभी स्थान-परिवर्तन या अन्य प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। जैसे—

'waste + paper + 'basket = waste'paper ˌbasket

यहाँ समस्त शब्द में सशक्त बलाघात तीन के स्थान पर केवल एक पर रह गया है। 'वेस्ट' का बलाघात शून्य-सा हो गया है और 'बैस्' का गौण या अप्रमुख।

(ख) उपसर्ग या प्रत्यय के जुड़ने पर भी कभी-कभी परिवर्तन देखे जाते हैं—

in + 'ordinate = i' nordinate

यहाँ o से शुरू होने वाले अक्षर का बालघात n से शुरु होने वाले अक्षर के साथ आ गया।

'regiment + al = ˌregi 'mental

यहाँ 'अल' जुड़ने से बलाघात ने अपना स्थान बदल दिया। अंग्रेजी tion तथा alty आदि जुड़ने से भी इस प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं।

(ग) वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी कभी शब्दों का बलाघात बदल जाता है। आर्मफ़ील्ड के अनुसार

He is' very 'well—to—'do

He is' quite well—to—'do

इन दोनों वाक्यों में well to do पर एक-सा बलाघात नहीं है। पहले में वेल पर भी है, किन्तु दूसरे में उस पर नहीं है, केवल 'डू' पर है। यह लय (rhythm) के कारण है। इसी प्रकार competent तथा incompetent में यों सशक्त बलाघात 'कम' पर हैं, किन्तु यदि एक वाक्य में विरोध दिखाने के लिए competent and incompetent कहें तो 'क' पर जोर देने के लिए दूसरे का सशक्त बलाघात 'कम' से हटकर 'इन' पर आ जायेगा। और भी बहुत से विरोधी शब्दों में यही बात मिलेगी। हिन्दी में समर्थ-असमर्थ और सुन्दर-असुन्दर जैसे शब्दों में भी कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

वाक्यों में प्रयुक्त होने पर एक प्रकार का और परिवर्तन भी होता है, जो अधिक सामान्य है। यों हर शब्द के किसी अंश पर सशक्त बलाघात होता है, किंतु वाक्य में केवल कुछ ही पर रह पाता है, अतः शेष शब्दों के अंश से वह समाप्त हो जाता है।

बलाघात का अंकन

किसी भी चीज का अंकन यादृच्छिक है। यों बलाघात के लिए अधिक प्रचलन निम्नांकित का रहा है—

(क) सशक्त अथवा प्रमुख बलाघात वाले शब्द या अक्षर के आरम्भ में ऊपर एक खड़ी (या तिरछी) लकीर खींच देते हैं, जैसे ˈलायक, ˈकाबिल, ˈलगाना, फ़िसड्ˈडी ˈregister, regisˈtrar आदि।

(ख) यदि दो ही बलाघात हों तो अशक्त या द्वितीय को बिना किसी निशान के छोड़ देते हैं, किन्तु यदि तीन या अधिक हों और दूसरे को दिखाना जरूरी हो तो उसके पूर्व नीचे एक छोटी लकीर खीच देते हैं, जैसे ˌartiˈficial disaˈppearance।

यदि तीन से अधिक बलाघात दिखाने हों तो कोई और चिह्न माना जा सकता है, यों प्रयोग में प्रायः दो तक का ही निर्देश किया जाता है।

बलाघात और घोष-अघोष ध्वनियाँ

मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि बलाघात की कमी और बेशी उपर्युक्त संदर्भों में भी भाषा, संदर्भ और व्यक्ति पर निर्भर करती है। कुछ भाषाओं में यह अन्यों से अधिक होता है, इसी प्रकार कुछ संदर्भों या व्यक्तियों में भी इसकी कमी-बेशी देखी जाती है। किन्तु इसके बावजूद तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह देखा गया है कि घोष व्यंजनों पर अघोष की तुलना में बलाघात कुछ कम होता है। यह शायद इसलिए कि अघोष में हवा अधिक शक्ति से मुँह में आती है।

बलाघात का प्रत्यक्षीकरण

काइमोग्राफ़ मशीन पर यदि किसी ध्वनि या ध्वनि-समूह को कम और अधिक बलाघात के साथ अलग बोला जाय, तो यह देखने में आयेगा कि अधिक बलाघात से

उच्चरित ध्वनि के लिए बनी लहरें कम की तुलना में अधिक ऊँची होंगी। लहरों की यह ऊँचाई हवा के अधिक एवं उच्चारण के शक्तिशाली होने आदि के कारण है। इन दोनों में जितना आधिक्य होगा, लहरें उतनी ही ऊँची होंगी और विरोधी स्थिति में नीची।
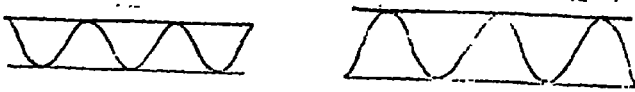
(ख) सुर

सुर का स्वरूप और उसमें उतार-चढ़ाव का कारण—बलाघात में हम देख चुके हैं कि सभी ध्वनियाँ बराबर बल से नहीं बोली जातीं। उसी प्रकार वाक्य की सभी ध्वनियाँ सर्वदा एक सुर में नहीं बोली जातीं। संगीत के सरगम की तरह उनमें सुर ऊँचा-नीचा होता रहता है। 'आप जा रहे हैं' वाक्य की सभी ध्वनियों को एक सुर में बोलने से इसका सामान्य अर्थ होगा, जिसका उद्देश्य होगा मात्र-सूचना देना। किन्तु यदि 'आप' के बाद की ध्वनियों का सुर बढ़ाते जायँ और अंत में 'हैं' को बहुत ऊँचे सुर पर बोलें तो इस वाक्य में एक संगीत-सा आरोह या चढ़ाव सुनाई देगा और वाक्य सामान्य से बदल कर प्रश्नसूचक हो जायगा, जिसका अर्थ होगा, 'क्या आप जा रहे हैं?' इस वाक्य को आश्चर्यसूचक बनाने के लिए इसी प्रकार एक विशेष प्रकार के 'सुर' की जरूरत होगी।

'बलाघात' की तरह ही 'सुर' भी मूलतः एक मनोवैज्ञानिक चीज है, जो स्वर-तंत्रियों के कंपन द्वारा प्रकट किया जाता है। स्वरतन्त्र पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि घोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कंपन होता है। यही कंपन जब अधिक तेजी से होता है तो ध्वनि ऊँचे सुर में होती है और जब धीमी गति से होता है तो नीचे सुर में होती है।[1] सुर, स्वरतंत्रियों की प्रति सेकेंड कंपनावृत्ति (frequency of vibration) पर निर्भर करता है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बलाघात की तरह सुर घोष-अघोष दोनों प्रकार की ध्वनियों में संभव नहीं। अघोष ध्वनि की तो यही विशेषता है कि उसके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कंपन होता ही नहीं, अर्थात् 'सुर' केवल घोष या सघोष ध्वनियों की चीज है। अघोष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह बात बिल्कुल तार वाले बाजों की तरह है। यदि सितार, वीणा या इसी प्रकार के किसी अन्य बाजे में तार ढीला होगा तो उससे जो ध्वनि निकलेगी, उसका सुर नीचा होगा, किन्तु यदि कसा होगा तो सुर ऊँचा होगा। इसका कारण यह है कि ढीले

---

१. इसमें यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सुर से स्वरयंत्र को छोड़कर और किसी भी उच्चारण-अवयव का सम्बन्ध नहीं है।

तार पर आघात करने पर कंपन धीमी गति से होगा। किन्तु वह कसा होगा तो कंपन अधिक तेजी से होगा। इनको बजाने वाले, बजाने के पूर्व इसी दृष्टि से विभिन्न तारों को कसते या ढीला करते हैं। वाद्य संगीत की भाँति ही मौखिक संगीत का अभ्यासी आरम्भ में घंटों 'आ-आ' करके अपनी स्वरतंत्रियों को कड़ा-नरम और समीप-दूर करके उनमें विभिन्न सुरों (या सरगम के आरोहों-अवरोहों) की आवाज निकालने, अर्थात् विभिन्न गतियों से कंपित करने का अभ्यास करता है। अभ्यस्त हो जाने पर भी स्वर-तंत्रियों पर अपना इस दृष्टि से पूरा नियंत्रण रखने के लिए उसे अभ्यास को जारी रखना पड़ता है। इस प्रकार संगीत के लिए 'सुर' का बहुत महत्व है, किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, भाषा के लिए भी वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि सभी भाषाओं में उसका महत्त्व समान नहीं है।

सुर के आरोह-अवरोह या उतार-चढ़ाव में स्वरतंत्रियों की समीपता और उनके कड़ापन के अतिरिक्त फेफड़े से आनेवाली हवा का महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि स्वर-तंत्रियों का धीमी या तेज गति से कंपन हवा की शक्ति पर भी एक सीमा तक निर्भर करता है। इन बातों के अतिरिक्त 'सुर' स्वरतंत्रियों की लंबाई और स्वरयंत्र (larynx) के विस्तार (size) पर भी निर्भर करता है। बच्चों की आवाज ऊँचे सुर की होती है, क्योंकि उनमें लंबाई और विस्तार दोनों ही कम होता है। पुरुष की तुलना में स्त्रियों में भी यही बात मिलती है।

सुर के भेद : आरोहण-अवरोहण के आधार पर— हर व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक एक सुर पर नहीं बोलता। भाषा की स्वाभाविक गति में प्रयुक्त सुर-उच्चता या सुर-निम्नता, तथा भावात्मक स्थिति के कारण, सुर का आरोह-अवरोह एक व्यक्ति की भाषा में भी अपना अलग मिलता है। इस आरोह-अवरोह का अनुपात एक भाषाभाषी लोगों में प्रायः समान होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की सुर की दृष्टि से अपनी निम्नतम और उच्चतम सीमा होती है। उसके सुर का उतार-चढ़ाव उसी के बीच होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टि से इसके अनेक भेद किए जा सकते हैं। यों इसके उच्च (high), मध्य, मिश्र या सम (mid या level) तथा निम्न (low), ये तीन भेद अधिक प्रचलित रहे हैं। वैदिक संस्कृत में लग-भग ये ही तीन उदात्त, स्वरित एवं अनुदात्त हैं। ग्रीक में ऐक्यूट (acute accent), ग्रेव (grave accent) तथा सरकम्फ्लेक्स (circumflex accent) ये तीन सुर थे। ऐक्यूट, भारतीय उदात्त की भाँति ही उच्च था, इसे यों (a') अंकित करते थे। ग्रेव (जिसे वे a' अंकित करते थे) निम्न था, किन्तु कदाचित् बहुत निम्न नहीं। यद्यपि बहुत से विद्वानों ने माना है, किन्तु मेरे विचार में यह भारतीय अनुदात्त का समानार्थी नहीं है। यह कदाचित् सामान्य सुर और उच्च या ऐक्यूट के बीच का रहा होगा। सरकम्फ्लेक्स (जिसे वे a) या â या ă रूप में अंकित करते थे) वह सुर था जो पहले उठता था और फिर गिरता था। इस रूप में इसे आरोही-अवरोही सुर कह सकते हैं। वैदिक स्वरित को अनेक लोगों ने इसका समानार्थी माना है, किंतु वस्तुतः ये दोनों भिन्न हैं।

स्वरित—इसका शाब्दिक अर्थ है 'उच्चरित' या 'ध्वनित'। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा अष्टाध्यायी आदि में आता है—'समाहारः स्वरितः'। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में आता है—'उभयवान् स्वरितः'। आपिशलि शिक्षा में आता है—'उदात्तानुदात्तस्वर सन्निपातात् स्वरितः', अर्थात् स्वरित, उदात्त और अनुदात्त का मेल या समाहार है। इस मेल का अर्थ संधि है या समन्वय, यह प्रश्न महाभाष्यकार ने उठाया है। कहना न होगा कि यह संधि ही है जिसे नीर-क्षीर की तरह न मानकर काष्ठ-जंतु के समान माना गया है। पाणिनी ने कहा है—'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१.२.३२), अर्थात् स्वरित के आदि की ह्रस्वार्द्ध मात्रा उदात्त होती है और शेष 'अनुदात्त'। मैकडॉनेल ने स्वरित को उदात्त से गिरता हुआ या अधोगामी सुर (falling accent) माना है। उनके अनुसार यह उदात्त और सुरशून्यता (tonelessness) के बीच का है। स्वरों के भेद और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किए गए हैं। भेद—कुछ लोगों ने पाणिनि के आधार पर इसके स्वतंत्र और परावलंबी दो भेद माने हैं। परावलंबी स्वरित ग्रीक के सरकम्फ्लेक्स-सा कहा गया है, जिसमें स्वरित का आद्यांश उदात्त से भी कुछ ऊँचा होता है। उसके बाद यह अनुदात्त होता है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी यह बात कही गयी है। स्वतंत्र रूप में यह महत्त्व की दृष्टि से उदात्त के समकक्ष माना गया है। कुछ लोगों ने मात्रा के आधार पर स्वरित के ह्रस्व स्वरित, दीर्घ स्वरित और लुप्त स्वरित तीन भेद माने हैं। ह्रस्व स्वरित का पूर्वार्द्ध उदात्त और उत्तरार्ध अनुदात्त होता है; दीर्घ की प्रारम्भ की $\frac{१}{४}$ मात्रा उदात्त तथा शेष $\frac{३}{४}$ अनुदात्त, तथा प्लुत की प्रारम्भ की $\frac{१}{२}$ मात्रा उदात्त तथा शेष $\frac{५}{२}$ अनुदात्त होती है। इस प्रकार के मत उव्वट तथा अनंत भट्ट आदि द्वारा व्यक्त किये गये हैं। प्रातिशाख्यों में स्वरित के कई भेदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख जात्य स्वरित या नित्य स्वरित, अभिनिहित स्वरित, क्षैप्र स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित, तैरोव्यंजन स्वरित तथा पादवृत्त स्वरित या वैवृत्त स्वरित आदि हैं।

उदात्त—उदात्त का शाब्दिक अर्थ है 'उठा हुआ।' जो सुर उठा हुआ या ऊँचा हो, उसे उदात्त कहते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा अष्टाध्यायी आदि में इसे स्पष्ट किया गया है 'उच्चैरुदात्तः' अर्थात् उदात्त उच्च होता है। इसमें 'उच्च' का अर्थ क्या है, इसे पतंजलि ने स्पष्ट किया है—'आयामोदारुण्यं अणुता खस्य इति उच्चैः कराणि शब्दस्य।' इस आधार पर उदात्त में आयाम या अंग-संकोच, दारुण्य अर्थात् रूखापन, तथा अणुता अर्थात् कंठ या स्वरयंत्र की संवृतता, ये तीन बातें मानी जा सकती हैं। आपिशलि शिक्षा में भी ये ही बातें कही गई हैं।

अनुदात्त—ऐसा स्वर जो 'उदात्त न हो।' अनुदात्त को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी आदि में 'नीचैरनुदात्तः' रूप में स्पष्ट किया गया है, अर्थात् यह 'निम्न सुर' या 'नीचा सुर' था। अनुदात्त का प्रयोग कदाचित् एक से अधिक अर्थों में हुआ है। कभी तो इसका अर्थ 'उदात्त नहीं' अर्थात् 'उदात्त से थोड़ा निम्न' ज्ञात होता है। इस रूप में यह ग्रीक ग्रेव का समानार्थी है और

कभी सुरविहीन (accentless) का समानार्थी है। आपिशलि शिक्षा में आता है—'यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदागात्रस्य निग्रहः, कंठबिलस्य चाणुत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाक्षते।' अर्थात् जब शरीर के सर्वाङ्गों का प्रयत्न तीव्र हो, अंग शिथिल न हों, कंठ संकुचित हो तथा ध्वनि-उत्पादक वायु तीव्र हो तो जो रूक्ष ध्वनि निकलती है, उसकी रूक्षता उदात्त है। इसके विरुद्ध 'यदातु मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रस्य स्रंसनं कंठबिलस्य महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तं प्रचक्षते।' अर्थात् जब प्रयत्न मंद हो तो जो स्निग्ध ध्वनि निकलती है, उसकी स्निग्धता अनुदात्त है। कोशिका वृत्तिकार का 'यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्ववसर्गोनाम् शिथिलीभवनं भवति, स्वरस्य मृदुता, कंठविवरस्य उरुता च सः अनुदात्तः' भी प्रायः यही है। अनुदात्ततर—अनुदात्त से भी नीचा सुर। इसे कुछ लोगों ने पूर्णतः निम्न सुर माना है। महाभाष्यकार पंतजलि आदि ने सुर के जो उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितस्थोदात्त, तथा एकश्रुति सात भेद माने हैं, इनमें अनुदात्ततर निम्नतम कहा गया है। उदात्त या स्वरित सुर के पूर्व का अनुदात्त सुर बहुत निम्न होता है। कुछ लोगों के अनुसार उसी को अनुदात्ततर कहा गया है। इस अर्थ में पाणिनि ने इसे सन्नतर (उदात्त स्वरित परस्य सन्नतरः १. २. ४०) की संज्ञा से अभिहित किया है।

इस प्रकार के प्रमुख तीन भेद मानने पर भी भारतीय मनीषी इस बात से पूर्णतः परिचित थे कि सुर के और भी भेद हो सकते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय प्राति-शाख्य की वैदिकाभरण व्याख्या में चार (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय) सुरों के संकेत मिलते हैं। नारद शिक्षा में एक और 'निघात' बढ़ाकर भेदों की संख्या पाँच कर दी गई है। महाभाष्यकार पतंजलि ने उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में वर्तमान उदात्त और एकश्रुति, ये सात भेद माने हैं। इतना ही नहीं ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्लयजुः प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य में यह भी पता चलता है कि इन भेदों में 'स्वरित' के अलग से संहितज, जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यंजन, वैवृत्त, तैरोविराम तथा प्रातिहित ये ९ उपभेद भी प्राचीन काल में माने जाते थे।

चीनी भाषा में अनेक सुर आज भी हैं, यद्यपि वे उपर्युक्त भेदों से कुछ भिन्न हैं। उसमें चार प्रमुख सुर सम (even), आरोही (rising), अवरोही (sinking या falling) और प्रवेशमुखी (entering) हैं। कुछ लोगों ने कुछ ऊँचा, साधारण प्रश्नात्मक, तेज, प्रश्नात्मक तथा उत्तरात्मक कहा है। चीनी की कुछ बोलियों में इन सबके उच्च और निम्न इस प्रकार ८ भेद किये गये हैं। चीनी की कैंटनी बोली में ९ सुर हैं।

प्रमुख रूप से उच्च, मध्य, निम्न, आरोही तथा अवरोही ये पाँच भेद होते हैं।

सुर के भेद : प्रयोग के आधार पर

सुर (pitch) जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, स्वरतंत्रियों के कंपन के कारण उत्पन्न एक ध्वनि-गुण है। बोलने में हर ध्वनि (घोष ध्वनि) पर इसका रूप प्राय: एक-सा नहीं रहता, इसीलिए इसमें उतार-चढ़ाव होता रहता है। इसका आशय यह हुआ कि कई ध्वनियों से बने अक्षर या शब्द में प्राय: कई प्रकार के सुर मिलेंगे और आगे बढ़कर यदि 'वाक्य' को लें तो और भी अधिक सुर मिलेंगे। यह दो या अधिक सुरों का उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोह सुर-लहर (intonation) कहलाता है। अर्थात् भाषा या सम्बद्ध भाषण (connected speech) में इसका प्रयोग होता है, और इस सुरलहर का निर्माण दो या अधिक सुरों से होता है। ऐसा एक अक्षर में भी सम्भव है, एक शब्द में भी और एक वाक्य में भी। ये 'सुर' के दो मुख्य रूप हैं। 'एक ध्वनि' में यह 'सुर' है और सम्बद्ध ध्वनियों में एक से अधिक होने पर 'सुर-लहर'। 'सुर' (pitch) का एक और समानार्थी है 'तान' (tone)। यों इन दोनों का पर्याय के रूप में भी प्रयोग होता है, किन्तु कभी-कभी वैज्ञानिक स्पष्टता के लिए दोनों में भेद भी कर लिया जाता है। 'सुर' शुद्ध वैज्ञानिक नाम है। हर घोष ध्वनि में यह है, या रहता है, चाहे इसका भाषा पर कोई विशेष प्रभाव पड़े या नहीं। उदाहरणार्थ, हिन्दी का एक शब्द लें 'गमला' इसमें सभी ध्वनियाँ घोष हैं, अत: अथ से इति तक विभिन्न स्तर पर इसमें सुर होगा। हिन्दी में इस सुर-लहर का एक स्वाभाविक रूप है। उसी अनुपात से यदि वक्ता बोलेगा तो इस शब्द में स्वाभाविकता रहेगी, किन्तु यदि कोई गलत सुर-लहर का प्रयोग इसके उच्चारण में कर दे तो वह स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी, और हिन्दीभाषी यह स्पष्टत: समझ जायेगा कि वक्ता की 'सुर-लहर' अशुद्ध है। किन्तु इस अशुद्धि से 'गमला' शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होगा। दूसरी ओर एक चीनी शब्द 'मा' लें। इसमें भी दोनों ध्वनियाँ घोष हैं, अत: इसके उच्चारण में 'सुर-लहर' होगी। लेकिन वक्ता यदि इसका उच्चारण एक सुर-लहर में करेगा तो शब्द का अर्थ 'माता' होगा और दूसरी में करेगा तो 'घोड़ा' होगा। इसका आशय यह हुआ कि हिन्दी में उपर्युक्त रूप में 'सुर-लहर' सार्थक नहीं है, किन्तु चीनी में वह सार्थक है। उससे शब्द का अर्थ बदल जाता है। शब्द का अर्थ बदलने वाला सुर 'तान' (tone) कहा जाता है। इसी आधार पर उन भाषाओं को 'तान भाषा' या 'तान-प्रधान भाषा' (tone language) कहते हैं, जिनमें तान के कारण अर्थ बदल जाता है। इस प्रकार 'सुर' एक व्यापक शब्द है और सभी घोष ध्वनियों में उसे मानते हैं। किन्तु यदि वह सार्थक है तो उसे 'तान' कहते हैं। सुर-लहर 'तान' या 'सुर' की लहर है, अर्थात् दो या अधिक ध्वनियों में यह मिलती है। वाक्य-स्तर पर सुर को 'वाक्य-सुर' कहते हैं।

सुर के भेद : अर्थ के आधार पर

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए सुर के 'निरर्थक' और 'सार्थक' नाम से दो भेद किये जा सकते हैं। जहाँ सुर अर्थभेदक हो उसे 'सार्थक सुर' या 'तान' कह सकते हैं, और जहाँ भेदक न हो उसे 'निरर्थक सुर' या केवल 'सुर' कह सकते हैं।

सुर के भेद : चल-अचल स्थिति के आधार पर

सुर के कुछ रूप तो चल होते हैं, अर्थात् उनमें श्रुति ध्वनियों की तरह एक स्थिति से दूसरी में जाने की प्रवृत्ति होती हैं। संगीत में 'आऽऽऽ' करता हुआ जब कोई 'सरगम' का अभ्यास करता है तो यह उतार-चढ़ाव स्पष्ट सुनाई पड़ता है। आरोही-अवरोही ऐसे ही हैं। इसके विरुद्ध कुछ अचल होते हैं। इनमें एक ध्वनि एक ही स्थिर 'सुर' पर होती है, गिरती-उठती नहीं। उच्च-निम्न ऐसे ही हैं। प्रथम संयुक्त स्वर के समान है, तो दूसरा मूल स्वर के समान। सुर या तान के इन दोनों भेदों को क्रमशः चल सुर, चल तान या कंटूर तान (contour tone) और अचल सुर, अचल तान या रजिस्टर तान (register tone) कहते हैं। इसी आधार पर 'कंटूर तान भाषाएँ' और 'रजिस्टर तान भाषाएँ' नाम से तान भाषाओं के दो वर्ग भी माने जाते हैं।

अंकन

सुर या तान के अंकन के लिए अनेक पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। वैदिक साहित्य में ही इसके लगभग एक दर्जन रूप मिलते हैं। कभी १, २, ३ आदि अंकों से इनका अंकन किया गया है, तो कभी विभिन्न प्रकार की टेढ़ी-सीधी रेखाओं या विन्दुओं आदि से। सबसे अधिक प्रचलित रूप ऋग्वेद का है, जिसमें अनुदात्त के नीचे वेड़ी लकीर (—), स्वरित के ऊपर खड़ी लकीर (।) तथा उदात्त को अनंकित छोड़ देते थे।

आजकल भी इनके लिए ७-८ पद्धतियाँ प्रचलित हैं। कुछ लोग उच्च के लिए /, निम्न के लिए ।, तथा सम के लिए—चिह्न लगाते हैं, कुछ अन्य लोग १, २, ३ आदि अंकों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार छोटे-बड़े विन्दुओं या डैश और विन्दु द्वारा भी इसे प्रकट किया जाता है। सबसे प्रचलित और स्पष्ट पद्धति ऊँचे-नीचे विन्दुओं तथा उठती-गिरती रेखाओं द्वारा प्रकट करने की है। अर्थात् उच्च (˙), निम्न (.) मध्य (·), आरोही (ɹ), सम (—), अवरोही (L)। यहाँ स्पष्ट ही विन्दु अचल या रजिस्टर के लिये है और रेखा चल या कंटूर के लिए। प्रायः जितने सुरों का अंकन करना होता है, उनसे एक कम चिह्न लेते हैं, क्योंकि कोई एक सुर बिना अंकन के छोड़ दिया जाता है।

तान (Tone) तथा तान भाषाएँ (Tone Languages)

हम देख चुके हैं कि 'तान' उस सुर को कहते हैं, जिसके कारण शब्द का अर्थ बदल जाता है। दूसरे शब्दों में यहाँ सुर अन्य ध्वनियों की भाँति ही भाषा की एक महत्त्वपूर्ण इकाई बन जाता है। यह विशेष प्रकार का सुर संसार की कुछ ही भाषाओं में मिलता है, जिन्हें इसी आधार पर 'तान भाषाएँ' कहते हैं।

अफ्रीका की एफ़िक़, इवो, क्पेले, चुआना, याउन्डे, सुडानिक, बांटू, दिनका, बुशमैन, दुआला, ज़ुलू, योरुबा; तिब्बती-चीनी परिवार की चीन, बर्मा, इंडोचीन तथा स्याम में प्रयुक्त भाषाएँ तथा उत्तरी अमेरिका की नवाहो, अपाचे, मिक्स्टेको तथा ओटोमी आदि संसार की प्रमुख तान भाषाएँ हैं।

सुर-लहर (Intonation)

शब्द या वाक्य में सुरों के आरोह-अवरोह का क्रम ही सुर-लहर है। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने की है। प्रायः यह समझा जाता है कि जब हम बोलते हैं तो अर्थ से इति तक सुर-लहर रहती है। इसी धारणा के आधार पर भाषाविज्ञान के विद्वान् भी रेखाओं आदि के द्वारा पूरे शब्द या वाक्य के सुर-लहर का निर्देश करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ठीक होने पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक नहीं है। पीछे कहा जा चुका है कि 'सुर' केवल घोष ध्वनियों से संभव है, किन्तु बोलने में हम अघोष ध्वनियों का भी प्रयोग करते हैं। इसका आशय यह है कि शब्द-या वाक्य में जहाँ-जहाँ अघोष ध्वनि होगी वहाँ-वहाँ 'सुर-लहर' न होगी। किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं होते। औसतन भाषा में अघोष ध्वनियाँ लगभग २१% तथा घोष ध्वनियाँ लगभग ७९% होती है।[1] यों वक्ता के मस्तिष्क में आन्तरिक 'सुर-लहर' उन स्थलों पर भी होती है, जहाँ-जहाँ ध्वन्यात्मक या बाह्य दृष्टि से नहीं होती।

सुर-लहर के भेद

इसके मोटे रूप से दो भेद किये जा सकते हैं, शब्द-सुरलहर, वाक्य-सुरलहर। तान भाषाओं में 'शब्द-सुरलहर' और 'वाक्य-सुरलहर' दोनों ही सार्थक होती हैं, किंतु अतान या अन्य भाषाओं में केवल वाक्य-सुरलहर। यह दो भेद इसी दृष्टि से महत्त्व रखते हैं। यों भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रकार के भेद किये नहीं हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कभी-कभी हिन्दी आदि अतान भाषाओं में भी एक शब्द विशिष्ट सुरलहरों में अलग-अलग अर्थ देता है। उदाहरणार्थ 'राम' को यदि विभिन्न सुरलहरों में कहें तो (१) सामान्य, (२) राम, यहाँ आओ, (३) क्या राम? (४) अरे राम! आदि अर्थ होंगे। वस्तुतः ये भिन्न कोशार्थ नहीं हैं, अपितु कोशार्थ के ऊपर से लादे हुए अर्थ हैं। इस रूप में इन्हें एक शब्द के 'वाक्य' मानना पड़ेगा, शब्द नहीं। साथ ही सभी संज्ञा-शब्दों को इस प्रकार की सुरलहरों में बाँधने से यही अर्थ निकलेगा। तान भाषाओं में शब्द-सुरलहर सर्वथा भिन्न हैं। वहाँ हर शब्द की, विशेष अर्थ के लिए निश्चित सुरलहर है, और इस प्रकार वह कोशार्थ है तथा उसका अर्थ, बल, आश्चर्य, या प्रश्न आदि की दृष्टि से भिन्न न होकर प्रकृत्या सर्वथा भिन्न है। जैसे चीनी में 'मा' शब्द का एक सुरलहर में अर्थ 'घोड़ा', दूसरी में 'माता', तीसरी में 'एक कपड़ा' और चौथी में 'गाली देना।'

---

१. इन पंक्तियों का लेखक पं० नेहरू तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के भाषणों एवं कुछ उपन्यासों, नाटकों से कुछ अंशों के विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि हिन्दी में प्रायः २१ और २२ प्रतिशत के बीच में अघोष ध्वनियों का प्रयोग करते और शेष ७८-७९ प्रतिशत घोष ध्वनियों का।

सुर-लहर के कार्य

सुरलहर प्रमुख रूप से भाषा में निम्नांकित कार्य करती है--

(१) विशिष्ट मानसिक अवस्था का द्योतन

तान और अतान दोनों ही वर्गों की भाषाएं सुरलहर का भावुकता, दुःख, विवशता, क्रोध, सहानुभूति, घृणा आदि मान सिक अवस्था की सूचना देने के लिये प्रयोग करती हैं। कई भाषाविज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि सुरलहर का यह कार्य भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, अतः भाषाविज्ञान में विचार्य नहीं है। किंतु वस्तुतः ऐसा मानने के लिए विद्वानों के पास कोई संपुष्ट आधार नहीं है। चूंकि इस रूप में भी स्वरलहरें अर्थबोधक हैं, अतः ये अन्तर पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। केवल सुरलहर के आधार पर ही अर्थ की विशेषता आ गई है, चाहे वह कोशार्थी न होकर मनोभावार्थी ही क्यों न हो ? इस कार्य की दृष्टि से संसार की अधिकांश भाषाओं में काफी सीमा तक समानता मिलती है।

(२) भिन्नार्थ-द्योतन

सुरलहर के आधार पर आने वाली भिन्नार्थ-द्योतनता तान और अतान भाषाओं में किंचित् भिन्न होती है, इसीलिये दोनों को अलग-अलग पाया जा सकता हैं।

(क) अतान भाषाओं में

इनमें सामान्य सूचना, स्वीकृति, आश्चर्य, संभावना, प्रश्न, आज्ञा, अन्तर, सम्बोधन, बल, मिलन-वियोग आदि अर्थों की विशेषता आ सकती है। यों अन्य शब्दों के सहारे भी इन्हें प्रकट किया जा सकता है, किंतु सुरलहर के आधार पर प्रकट करना प्रयत्नलाघव की दृष्टि से ठीक और मनोवैज्ञानिक है। हिंदी में 'अच्छा' का प्रयोग विभिन्न सुरलहरों में स्वीकृति, आश्चर्य, सम्भावना, प्रश्न, आज्ञा के लिए हो सकता है। 'राम और मोहन' का विशिष्ट सुरलहर में उच्चारण का अर्थ होगा—'कहाँ राम और कहाँ मोहन, बहुत अन्तर है।' 'राम जा रहा है' और 'राम यहाँ आओ' में 'राम' की सुरलहरें भिन्न होंगी। एक सामान्य है, दूसरा सम्बोधन। यों तो इनमें बहुतों में सुर के साथ बलाघात भी काम करता है, किंतु 'बल' का भाव प्रकट करने में सुर और बल को हम बहुत स्पष्ट रूप में कभी-कभी मिला हुआ पाते हैं। यह बात भोजपुरी या बंगला में जो सुरलहर-प्रधान है, खड़ीबोली आदि से अधिक मिलती है। मिलने और विदा के 'नमस्ते' में भी सुर-लहर का अन्तर होता है।

इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि उपर्युक्त रूप में अतान भाषाओं में सुरलहर का प्रयोग शब्द या वाक्य के कोशार्थ को परिवर्तित नहीं करता, बल्कि उसके ऊपर एक और भाव या अर्थ लाद देता है।

(ख) तान भाषाओं में

तान भाषाओं में उपर्युक्त रूप में सुरलहर का प्रयोग ऊपर से लादे गये भाव या अर्थ के लिये तो होता ही है, किंतु इसके साथ ही कोशार्थ, यथार्थ अर्थ या भीतरी

अर्थ के परिवर्तन के लिए भी होता है, जैसा कि आगे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

इस अर्थ के भी दो भेद हो सकते हैं: (१) यथार्थ या कोशार्थ तथा (२) व्याकरणार्थ। यथार्थ या कोशार्थ का परिवर्तन तो वहाँ माना जायगा, जहाँ शब्द का अर्थ पूर्णतः एक से दूसरा हो जाय। दोनों में कोई भी सम्बन्ध न हो। जैसे पीछे उद्धृत चीनी शब्द 'मा' जिसका एक सुरलहर में अर्थ 'माता' है तो दूसरी में 'घोड़ा'। व्याकरणार्थ में परिवर्तन वहाँ माना जायगा, जहाँ मूल अर्थ न बदले, अपितु शब्द व्याकरण की दृष्टि से बदल जाय। जैसे एकवचन से बहुवचन, वर्तमान से भूत या भविष्य, सामान्य से प्रेरणार्थक, अकर्मक से सकर्मक, उत्तम पुरुष से मध्यम पुरुष तथा पुंल्लिग से स्त्रीलिंग आदि। इस प्रकार ये परिवर्तन काल, लिंग, वचन आदि व्याकरणिक दृष्टि से होते हैं। नीचे दोनों प्रकार के कुछ उदाहरण संक्षेप में दिये जा रहे हैं—

(क) शब्द-सुरलहर

I कोशार्थ

उत्तरी अमेरिका की 'मिक्स्टेको' भाषा में

जुक्रू (१) अंत में नीची तान = पर्वत
(२) " " ऊँची " = बैल का जुआँ, जुवाठ

अफ्रीका की 'एफ़िक' भाषा में

आक्पा = (१) आदि-अंत दोनों ऊँची = नदी
(२) पहली तान निम्न और दूसरी मध्य = पहला
(३) " " उच्च " " " = वह मरता है।

चीनी की एक बोली में

येन = (१) कुछ ऊँची तान = धूम्र
(२) साधारण प्रश्नात्मक = नमक
(३) तेज प्रश्नात्मक = आँख
(४) उत्तरात्मक = हंस।

वॉडमर के अनुसार चीनी में एक शब्द ऐसा भी है जिसमें तानों के हेर-फेर से ६८ अर्थ निकलते हैं।

II व्याकरणार्थ

अमेरिका की मैक्जाटेको भाषा में 'साइटे' का एक प्रकार की सुरलहर में अर्थ है 'मैं बुनता हूँ' दूसरी में अर्थ है 'मैं बुनूँगा।'

अफ्रीका की याउन्डे भाषा में

मंगायेन् = (१) निम्न उच्च और अवरोही तान में = मैंने देखा
(२) निम्न अवरोही और उच्च में = मैं देखूँगा

अफ्रीका की ही पिन्का भाषा में

पान्य=(१) उच्च में=एक दीवार
(२) निम्न में=दीवारें

(ख) वाक्य-सुरलहर

I कोशार्थ

अफ्रीका की 'एफ़िक' भाषा में

ckere didie = (. ˙ ˙. .) तुम क्या सोचते हो ?
(. . ˙ . .) तुम्हारा क्या नाम है ?

II व्याकरणार्थ

अफ्रीका की 'दुआला' भाषा में

a mabola (.....)=वह देता है
(.˙. .)=उसने दिया है।

ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष अर्थ में किसी शब्द की 'सुरलहर' अलग रहने पर कुछ और होती है और वाक्य में प्रयुक्त होने पर कुछ और हो जाती है।

अमेरिका की 'मिक्स्टेको' भाषा में

kee=दोनों पर सम=खरगोश

iso=पहले पर सम दूसरे पर निम्न=जाना

kee iso=kee पर पहले पर उच्च, दूसरे पर सम=खरगोश जाने वाला है।

उपर्युक्त दो—मनोभाव-द्योतन और भिन्नार्थ-द्योतन—के अतिरिक्त, हर भाषा की अपनी विशिष्ट सुरलहर होती है, जिसके आधार पर भाषा के स्वाभाविक और अस्वाभाविक रूप में बोले जाने का पता चलता है।

सुरलहर का अंकन सुर-अङ्कन के अधार पर ही होगा। विभिन्न सुरों को एक साथ रखने से सुरलहर हो जायेगी जैसे (˩ ˙ ˙ ˹)

तानग्राम (Toneme) तथा तानग्रामविज्ञान (Tonetics)

रूपग्राम (morpheme) तथा रूपग्रामविज्ञान (morphemics), ध्वनिग्राम (phoneme) तथा ध्वनिग्रामविज्ञान (phonemics) या लिपिग्राम (grapheme) और लिपिग्रामविज्ञान (graphemics) की तरह ही 'तानग्राम' तथा 'तानग्रामविज्ञान भी हैं। तानग्रामविज्ञान में भाषाओं के 'सुर' विशेषतः अर्थभेदक तान या सुरलहर का विवरण आदि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है और मोटे रूप से ये बातें देखी जाती हैं—

(क) अर्थभेदक स्तर पर (या अन्य भी) कितने प्रकार के सुर या सुरलहर हैं ?

(ख) उनमें किन-किन का विरोध है और कौन-कौन परिपूरक वितरण (complementary distribution) में हैं ?

(ग) उनमें कौन-कौन-से तानग्राम (toneme) हैं, तथा कौन-कौन उनके अंतर्गत संतान (allotone) हैं ?

(घ) इन तानग्राम और संतानों का रूपतानग्रामीय (morphotonemic) विश्लेषण कैसे किया जा सकता है ?

पुस्तक में अन्यत्र रूपग्रामविज्ञान एवं ध्वनिग्रामविज्ञान पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उन्हें पढ़ लेने पर उपर्युक्त चारों बातें स्पष्ट हो जायेंगी।

सुर का प्रत्यक्षीकरण

कायमोग्राफ पर यदि विभिन्न सुरों में ध्वनियों को उच्चरित किया जाय तो दिखाई पड़ेगा कि बलाघात की तरह लहरें ऊँची-नीची न होकर उतने ही स्थान में कम-ज्यादा होंगी। सुर के उच्च होने पर लहरें अधिक होंगी और निम्न होने पर कम। इस रूप में इन लहरों को स्वरतंत्रियों की कंपन-लहरों के अनुरूप माना जा सकता है।[1]

(ङ) संगम (Juncture)[2]

बोलने में एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि आती रहती है। वक्ता एक ध्वनि समाप्त करके दूसरी का उच्चारण करता है। यह एक ध्वनि से दूसरी पर जाना दो प्रकार का होता है। कभी तो हम सीधे चले जाते हैं और दोनों ध्वनियों के बीच में कुछ

---

१. ऊपर बलाघात तथा सुर का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में रूपात्मक स्वराघात का भी उल्लेख किया जा सकता है। दो व्यक्ति किसी ध्वनि का उच्चारण एक ही सुर और समान बलाघात से करें, फिर भी ध्वनि एक-सी नहीं सुनाई पड़ेगी। श्रोता समझ जायेगा कि राम बोल रहा है या मोहन। यह स्वरतंत्रियों की बनावट तथा मुँह की बनावट एवं आकार आदि भेद के कारण है।

ऊपर बलाघात में हम लोगों ने देखा कि कायमोग्राफ पर लहरें ऊँची होंगी और सुर में देखा गया कि उतनी ही दूरी में उनकी संख्या अधिक होगी। इस रूपात्मक स्वराघात में न तो लहरें ऊँची होंगी, न संख्या में अधिक होंगी, अपितु उनके स्वरूप में भिन्नता आ जायेगी—
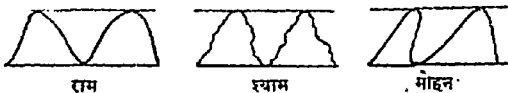
जुड़वाँ लड़कों के अंग प्रायः समान होते हैं, इसीलिए उनकी आवाज़ में यह अंतर नहीं या कम मिलता है।

२. अंग्रेजी शब्द Juncture के लिये हिन्दी में 'संधि' का भी प्रयोग कुछ लोगों ने किया है, किन्तु सन्धि एक विशेष अर्थ में पहले से प्रचलित है, अतः एक नये अर्थ

नहीं आता । उदाहरणार्थ, 'तुम्हारे' में 'म्' के वाद 'ह्' सीधे आ जाता है । किन्तु कभी एक ध्वनि से दूसरी पर जाना ऐसा नहीं होता । उदाहरणार्थ 'तुम् हारे' में ध्वनियाँ वही हैं किन्तु 'म्' के वाद जाना 'तुम्हारे' जैसा नहीं है । यहाँ 'म्' और 'ह्' के बीच में थोड़ा अवकाश, विराम या मौन है । इसी विराम या मौन को 'संगम', 'मौन' या 'योजक मौन' कहते हैं । यह ध्यातव्य है कि यह संगम सार्थक है । यदि न हो तो 'तुम हारे' का अर्थ 'तुम्हारे' हो जायगा । संगम को भाषाविज्ञान में धन (+, जैसे तुम+हारे द्वारा व्यक्त करते हैं, इसीलिये इसे 'धन-संगम')—plus juncture) भी कहते हैं । संगम सर्वदा शब्दों के बीच में आता है, अर्थात् वाक्यांश की सीमाओं के भीतर ही आता है, इसलिये इसे कुछ लोग 'आंतरिक संगम' (internal juncture) कहते हैं । दूसरे शब्दों में संगम कभी वाक्य या वाक्यांश के अन्त के 'विराम' (‡‡) को भी संगम कहा है, किन्तु उसे संगम न कह कर 'सीमांतिक विराम' (terminal contour) कहना कुछ लोग अधिक ठीक मानते हैं ।

संगम का एक भेद 'रूपग्रामिक संगम' (morphemic juncture) भी है । जब दो रूपग्रामों (morphemes) के बीच संगम हो तो उसे यह नाम देते हैं । 'तुम्+हारे' में यही है । व्याकरणिक शब्दों के बीच में आने से इसे 'व्याकरणिक संगम' भी कहते हैं । संगम का एक भेद 'आक्षरिक संगम' (syllabic juncture) भी है । जब संगम, दो अक्षरों के बीच में आये तो उसे यह नाम देते हैं । दो समध्वनीय भिन्नार्थी उच्चारणों को लें ।

नल्की	नल् की
(१)	(२)

उपर्युक्त दोनों में दो अक्षर हैं—'नल्' और 'की' । इन दो अक्षरों के बीच संगम नहीं है, किन्तु दूसरे में इन्हीं दोनों अक्षरों के बीच संगम है । अक्षर-सीमा पर स्थित होने के कारण यह संगम 'आक्षरिक संगम' है ।[1]

में उसे प्रयुक्त करना ठीक नहीं । Juncture को अंग्रेजी में border-point (सीमा-विन्दु) भी कहा गया है । हिन्दी में इसे 'योजक' या 'मौन योजक' तथा 'विवृत्ति' भी कहा जाता है ।

१. इस प्रसंग में 'आन्तरिक मुक्त संगम' (internal open juncture) और वाह्य मुक्त संगम (external open juncture) के भी नाम लिये जाते हैं । दूसरा वहाँ होता है, जहाँ संगम ध्वनिग्राम की प्रकृति में निहित हो, जैसे हिन्दी आदि में अन्त के स्पर्श या स्पर्श संघर्षी अस्फोटित होते हैं, या अंग्रेजी में आरम्भ में आने वाले क्, प्, ट् महाप्राण हो जाते हैं । इस प्रकार यह आदि या अन्त में मिलता है, अर्थात् शब्द से बाहर है । इसे हॉकिट ने 'सीमांतक' (terminal) कहा है । पहले को 'शब्द-संगम' या 'वाक्य-संगम' भी कहते हैं । यहाँ संगम न वाहर होता है न ध्वनिग्राम की प्रकृति में निहित होता है । वह शब्द के भीतर होता है । अंग्रेजी का एक उदाहरण

संगम बहुत-सी भाषाओं में किसी न किसी रूप में सार्थक होता है। कुछ उदाहरण हैं०—

नदी—न दी। नफ़ीस—न फ़ीस। नरम—न रम। सोना—सो ना। वह घोड़ागाड़ी खींचता है—वह घोड़ा गाड़ी खींचता है। इसी आधार पर संगम को ध्वनिग्राम माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य या वाक्यांश के अन्त में आने वाले विराम को संगम न कहकर सीमांतिक विराम कहना अधिक उचित समझा जाता है, किन्तु यह बात सर्वसम्मत नहीं है। कुछ लोग भाषा के बीच किसी भी प्रकार के मौन या टूट (break) को संगम मानते हैं।

इस रूप में सीमांतिक विराम को संगम मानकर उसके दो भेद किये जा सकते हैं: (१) 'पूर्णविराम' या 'सीमांतिक' संगम (terminal juncture)—यह पूर्णविराम है जिसके (i) सामान्य भाव, (ii) प्रश्न, (iii) आश्चर्य, ये तीन उपभेद किये जा सकते हैं। (२) 'अल्पविराम संगम' या 'कॉमा संगम' (coma juncture)—यह अल्पविराम है। रोको मत, जाने दो; रोको, मत जाने दो। He will act, roughly in the same manner; He will act roughly, in the same manner; old man, and woman; old man and woman; दिया, तले रख दो, दिया तले रख दो। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ये अल्पविराम संगम सार्थक हैं, और इसके रहने या न रहने से अर्थ में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

(च) अक्षर

'अक्षर' शब्द का संस्कृत तथा हिन्दी आदि में कई अर्थों में प्रयोग मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति भी कई प्रकार से की गई है। महाभाष्य में पतंजलि ने ही इसकी तीन-चार व्युत्पत्तियों के संकेत दिये हैं। यों अधिक मान्य व्युत्पत्ति 'क्षर्' (न क्षरतीति) धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ 'नष्ट होना', 'क्षीण होना', 'चल होना' आदि है। इस रूप में 'अक्षर' शब्द 'अनश्वर' या 'अटल' आदि का समानार्थी है। इसी आधार पर 'प्रणव', 'ब्रह्म' या उसके विविध रूपों के लिए संस्कृत साहित्य में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। आगे चलकर 'अक्षर' का यही मूल अर्थ कुछ विकसित हो गया और इसका अर्थ हो गया 'जो तोड़ा या खण्डित न किया जा सके' या 'जिसका और आगे विश्लेषण

लें slyness। इसमें बीच में sly+ness संगम है। कभी-कभी 'बद्ध संगम' (close juncture) का भी प्रयोग होता है। जहाँ सरलता से, बिना अवकाश के एक ध्वनि से दूसरी पर आया जाय (जैसे तुम्हारे, नल्की), वहाँ यह होता है। इसे 'ध्वन्यात्मक संगम' भी कहते हैं। वस्तुतः इसे संगम नहीं कहना चाहिए।

कुछ लोग आन्तरिक और बाह्य मुक्त संगम नाम का प्रयोग बिल्कुल ही भिन्न अर्थों में करते हैं।

कुछ अमरीकी विद्वान् 'जंक्चर' में और भी बहुत-सी बातों को समेट लेते हैं।

न किया जा सके ।' पहले 'भाषा' या 'वाक्' को अखण्ड्य या असमाप्य समझते थे, अतः भाषा या 'वाक्' के लिए ही अक्षर का प्रयोग होता था । निघंटु से इस बात का पता चलता है । भाषा के अध्ययन के सिलसिले में जब वाक्य के टुकड़े किये गये और शब्द का पता चला तो लोगों ने ख्याल किया कि शब्द को और अधिक छोटे टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता, इसीलिए उस समय 'अक्षर' का प्रयोग 'शब्द' के लिए किया गया। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्) 'अक्षर' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है । आगे जब शब्द के भी टुकड़े किये गये और सिलब्ल (syllable) का पता चला तो, लोगों ने शब्द को तो 'खण्ड्य' और 'सिलब्ल को 'अक्षर' या 'अखण्ड्य' माना और इसीलिए 'अक्षर' शब्द का 'सिलब्ल' के लिए प्रयोग होने लगा। ऋग्वेद, ऐतरेय, आरण्यक, ऋक्, वाजसनेयी तथा अथर्व आदि कई प्रातिशाख्यों, बहुत-से शिक्षा-ग्रन्थों, मनुस्मृति तथा गीता आदि में 'अक्षर' का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। और आगे जब 'सिलब्ल' के भी टुकड़े किये गये तो व्यंजन और स्वर के मिले रूप (जैसे क, ख, ब, प आदि) के लिए अक्षर का प्रयोग होने लगा । आज भी इस अर्थ में 'अक्षर' का प्रयोग कुछ लोग करते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वनि-परिवर्तन के भेदों (जैसे स्वर-लोप, व्यंजन-लोप, अक्षर-लोप) में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है ; और आगे जब इनका भी विश्लेषण किया गया तो वर्णों (जैसे क् आदि) का पता चला और तब वर्ण को 'अखण्ड्य' मानकर 'अक्षर' का प्रयोग उनके लिए किया गया । ऐतरेय, आरण्यक, महाभाष्य, ऋक्तंत्र, गीता (अक्षराणाम् कारोस्मि), आदि में इस अर्थ में 'अक्षर' का प्रयोग हुआ है । सामान्य लोगों में आज भी अक्षर का यही अर्थ है । कभी-कभी इसी आधार पर इन वर्णों के माने हुए प्रतीक 'लिपिचिह्नों' के लिए भी अक्षर का प्रयोग होता है । कुछ लोगों ने वर्णों को भी विश्लेषित किया और देखा कि व्यंजनों से भी अधिक 'अखण्ड्य' स्वर हैं (क्योंकि नासिक्य या स्पर्श आदि कुछ में तीन स्थितियाँ होती हैं और प्रयोग में कभी-कभी दो स्थिति के भी स्पर्श मिल जाते हैं, जैसे नाम्, आप् आदि) । इसीलिए स्वर के समानार्थी रूप में भी 'अक्षर' का प्रयोग किया गया। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा चतुरध्यायिका आदि में अक्षर का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसी प्रयोग के आधार पर 'अक्षर' के दो भेद किये गये : (क) समानाक्षर (मूल स्वर या सामान्य स्वर), (ख) संध्यक्षर (संयुक्त स्वर) । कात्यायन के वार्तिक तथा कई प्रातिशाख्यों में ये भेद दिये गये हैं ।

भाषा के प्रसंग में संस्कृत में अक्षर का प्रयोग उपर्युक्त कई अर्थों में हुआ तो है, किन्तु अधिक प्रचलित प्रयोग 'सिलब्ल' के अर्थ में ही है । कुछ लोग (syllable) के अर्थ में 'अक्षर' शब्द की व्युत्पत्ति 'अक्ष' (शीर्ष) + 'र' अर्थात् 'अक्षवाला' या शीर्षवाला मानते हैं । पंडितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' में तथा कुछ अन्य पुराने ग्रंथों में 'सिलब्ल' के लिए 'वर्ण' का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु अब 'वर्ण' ध्वनि की लघुतम इकाई का ही पर्याय मात्र रह गया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में अक्षर का प्रयोग syllable के अर्थ में ही किया जा रहा है। अंग्रेजी शब्द syllable मूलतः ग्रीक शब्द syllabe है, जिसका अर्थ है 'जो एक में बंधा (syn = साथ; lambanein = रखना, लेना) या रखा हो।'

परिभाषा

एक या अधिक ध्वनियों (या वर्णों) की उच्चारण की दृष्टि से ऐसी अव्यवहित इकाई, जिसका उच्चारण एक झटके में किया जा सके, अक्षर है। जैसे आ (एक ध्वनि), जा (दो ध्वनियाँ), या काम् (तीन ध्वनियाँ) आदि। इन ध्वनि-इकाइयों का उच्चारण एक झटके से होता है।

एक शब्द में एक अक्षर भी हो सकता है, जैसे[1]—

आ (१), गा (२), बैठ् (३), युद्ध् (४), शस्त्र् (५), स्वास्थ्य् (६)
और एक से अधिक अक्षर भी हो सकते हैं, जैसे—

२ अक्षर—आया (३), गया (४), गवित (५), भारतीय् (६), प्राकृत् (७), संस्कृत (८)

३ अक्षर—आइए (३), जाइए (४), ध्वनि (५), अमानात् (६), अत्यचार् (७), पुरस्कार् (८), प्राध्यापक् (६), संगमरमर् (१०)

४ अक्षर—कठिनाई (७), अनुमानित् (८), पहिचानना (६), स्वाभविक्ता (१०), काव्यात्मक्ता (११)

५ अक्षर—कठिनाइयां (६), अमानुपिक्ता (१०), अव्यावहारिक्ता (१२)

कोष्ठक के भीतर लिखी ध्वनि-संख्याओं से यह स्पष्ट है कि किसी शब्द में अक्षरों की संख्या इस बात पर बिल्कुल निर्भर नहीं करती कि उसमें कितनी ध्वनियां हैं, अपितु इस बात पर करती है कि उच्चारण कितने झटकों में होता है, या उस शब्द में ध्वनियों या ध्वनि-समूहों की कितनी अव्यहित इकाइयाँ हैं। 'स्वास्थ्य्' में ६ ध्वनियाँ हैं, किन्तु सबका उच्चारण एक झटके में होता है, इसीलिए इस शब्द में एक अक्षर है, किन्तु दूसरी ओर 'आया' में ३ ही ध्वनियां हैं, किन्तु इसका उच्चारण दो झटकों (आ, या) में होता है, इसीलिए इसमें दो अक्षर हैं। इसी प्रकार 'आइए' में यद्यपि ३ ही ध्वनियां हैं, किन्तु तीन झटके से उच्चारण होने से तीन अक्षर (आ, इ, ए) हैं।

ऊपर अक्षर की एक कामचलाऊ परिभाषा दी गई है। यों अक्षर को पूर्णतः दो-टूक परिभाषा में बांधना, ताकि वह विश्व की सभी भाषाओं पर लागू हो सके, बहुत कठिन है। अब तक ऐसी कोई भी परिभाषा नहीं दी गई जो सभी विद्वानों को पूर्णतः मान्य हो। पी० पासी, नोएल आर्मफील्ड, येस्पर्सन, ग्रैफ़, ग्रे, हेफ़नर, विलगेन-हेवेन, वेस्टरमैन और वार्ड आदि अनेक विद्वानों ने इस कठिनाई का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। फिर भी समय-समय पर इसकी परिभाषाएँ दी जाती रही हैं। किसी

---

१. उदाहरणों के आगे कोष्ठकों में शब्दों के वर्णों या ध्वनियों की संख्या दी गई है।

ने इसे 'एक श्वास-वर्ग' या 'श्वास के एक आघात में उच्चरित ध्वनि-इकाई' कहा है, तो किसी ने 'एक श्वास-स्पंदन से उच्चरित ध्वनि या ध्वनि-समूह।' नोएल आर्मफील्ड आदि बहुतों ने परिभाषा न देकर केवल उदाहरणों द्वारा समझा दिया है। पाइक के अनुसार अक्षर फेफड़े के एक स्पंद से उच्चरित ध्वनि-इकाई है। अन्यत्र वे इसे एक ऐसी ध्वनि-इकाई (एक या अनेक ध्वनियों की) कहते हैं, जिसके उच्चारण में एक हृत्स्पंद (chest pulse) हो तथा जिसमें केवल एक शीर्ष (peak) ध्वनि हो। कैन्टनर और वेस्ट के अनुसार अक्षर भाषा की एक ऐसी इकाई है, जिसमें मुखरता (sonority) का एक शीर्ष हो और जो उस शब्द या वाक्यांश के अन्य शीर्षों से अमुखरता द्वारा अलग हो। कुछ लोगों के अनुसार अक्षर 'स्वाभाविक लघुतम ध्वनि-इकाई' या 'गह्वर (valley) से युक्त या रहित मुखर (sonorous) शीर्ष' है। डॉ० सक्सेना 'संयुक्त ध्वनियों के छोटे से छोटे समूह को अक्षर' कहते हैं और उसको 'ध्वनियों का एक साथ (अति सन्निकटता) में उच्चारण' मानते हैं। अक्षर को 'एक या अधिक ध्वनियों की उच्चारण की दृष्टि से पूर्ण छोटी इकाई' या 'एक हृत्स्पंद में उच्चरित ध्वनि-इकाई' भी कह सकते हैं।

स्वरूप

ऊपर की परिभाषाओं को ठीक से हृदयंगम करने के लिए अक्षर का स्वरूप विचारणीय है। जब हम कोई शब्द, वाक्यांश या वाक्य बोलते हैं तो उसमें कुछ ध्वनियाँ औरों से प्रमुख होती हैं। उदाहरणार्थ, 'व्यायाम्','जग्दीश्' और 'अंध्कार्' का उच्चारण करें तो देखेंगे कि पहले में यद्यपि छः ध्वनियां हैं, किन्तु दोनों 'आ' और ध्वनियों से प्रमुख और मुखर हैं। इसी प्रकार दूसरे में 'अ' और 'ई' तथा तीसरे में 'अ' और 'आ' प्रमुख और मुखर हैं। किसी शब्द में इस प्रकार की जितनी ध्वनियाँ प्रमुख या मुखर होती हैं, उसमें उतने ही अक्षर होते हैं। अक्षर बनाने वाली ये प्रमुख या मुखर ध्वनियाँ आक्षरिक (syllabic) कहलाती हैं। आक्षरिक ध्वनि ही अक्षर का आधार है। बिना इसके अक्षर का निर्माण नहीं हो सकता। इसीलिए आसपास की अन्य ध्वनियों से यह महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। 'नाम' (न्+आ+म्) के उच्चारण में भी यही बात है। बीच का 'आ' प्रमुख या आक्षरिक है और अगल-बगल के न्-म् अप्रमुख या अनाक्षरिक (non-syllabic)। इसे लहर-रूप में यों दिखाया जा सकता है :

'आ' प्रमुख या अधिक मुखर होने के कारण ऊंचा है। इसे शीर्ष, चोटी, केन्द्र या शिखर (functional centre, nucleus, crest, peak) कहते हैं। न्,म् अप्रमुख

या अपेक्षया अमुखर हैं, अतः नीचे हैं। उपर्युक्त आकार पर्वत जैसा है जिसमें 'आ' चोटी है, इसी आधार पर दोनों ओर के उतार या ढाल को 'गह्वर' या 'घाटी' (valley या slope) कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'नाम्' शब्द में 'आ' शीर्ष ध्वनि है तथा 'न्' और 'म्' गह्वर ध्वनियाँ। प्रायः शीर्ष ध्वनि स्वर होती है और गह्वर ध्वनियाँ 'व्यंजन', क्योंकि स्वर में मुखर तथा प्रमुख होने की अपेक्षाकृत अधिक शक्ति होती है, यद्यपि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, ऐसा सर्वदा नहीं होता। हर भाषा में अक्षर के विभिन्न स्वरूप, आदर्श या नमूने पाये जाते हैं। यदि 'स्वर' के लिए 'स' और 'व्यंजन' के लिए 'व' को प्रतीक-लिपि-चिह्न मानें[1] तो 'नाम्' के आक्षरिक स्वरूप को व स व (न् = व्यंजन; आ स्वर, म् = व्यंजन) रूप में प्रकट किया जा सकता है।

अधिकांश भाषाओं में अक्षर के प्रमुखतः निम्नांकित स्वरूप पाये जाते हैं। यहाँ उदाहरण हिन्दी से लिये जा रहे हैं—

स्वरूप	उदाहरण
स	आ
व स	जा, खा, गा, रो, जी
स व	आज्, ईख्, अब्
स व व	अन्त्, अस्त्
व व स	क्या
स व व व	अस्त्र्, इन्द्र्
व व व स	स्त्री
व स व	नाम्, हम्, कुल्
व स व व	कन्त्, पस्त् वक्त्
व स व व व	शस्त्र्, वस्त्र्
व व स व	द्वेष्, द्वीप्
व व स व व	क्षिप्र्, व्यस्त्
व व स व व व	कृच्छ्र्, स्वास्थ्य्

कभी-कभी कुछ भाषाओं में स्वरूप के विवेचन में यह भी देखना अपेक्षित होता है कि स्वर ह्रस्व है या दीर्घ और अनुनासिक है या निरनुनासिक। ऐसी स्थिति में ह्रस्व और निरनुनासिक के लिए तो किसी चिह्न का प्रयोग नहीं करते, किन्तु शेष दो के लिए चिह्नों का प्रयोग होता है। दीर्घत्व के लिए एक विन्दु (स.), दो विन्दु (स:) या + (स+) का प्रयोग, और अनुनासिकता के लिए ऊपर या आगे ‿ (स, स‿) या – (स –) का प्रयोग किया जा सकता है। दीर्घता और अनुनासिकता दोनों को साथ दिखाना हो तो ± या इसी प्रकार किन्हीं दो को साथ रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ,

१. अंग्रेजी में इन्हें V (Vowel) और C (Consonant) कहते हैं।

साँस्	व स ± व
सीख्	व स + व
फँस्	व स — व
रस्	व स व

पीछे 'नाम्' के चित्र में 'गह्वर + शीर्ष + गह्वर' का स्वरूप देख चुके हैं। ऊपर के उदाहरणों के देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि हर अक्षर में यह आवश्यक नहीं है कि एक ध्वनि गह्वर रूप में शीर्ष के पूर्व और एक बाद में आये। केवल शीर्ष से भी अक्षर बन सकता है, जैसे 'आ'। इसी प्रकार केवल पूर्वगह्वर और शीर्ष (जा, पा, गा) या शीर्ष और परगह्वर (आज्, आग्, ईट्) से भी अक्षर का निर्माण हो सकता है। साथ ही पूर्वगह्वर (क्या, श्री) या पश्चगह्वर (अस्त्र, अस्त) में एक से अधिक ध्वनियाँ भी हो सकती हैं। जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, अक्षर में आक्षरिक या *शीर्ष ध्वनि के अतिरिक्त अन्य जो ध्वनियाँ* रहती हैं, उन्हें अक्षरांग या गह्वर ध्वनि कहते हैं। जैसे नाम् में न्, म्। शीर्ष के पूर्व आनेवाली ध्वनि या ध्वनियाँ 'पूर्वगह्वर', 'पूर्व अक्षरांग' या 'पूर्वाङ्ग' कहलाती हैं, जैसे 'न्', और बाद की 'परगह्वर', 'पर-अक्षरांग' या 'परांग', जैसे म्।

भाषाविज्ञान के विद्वान् सबसे छोटा अक्षर (जैसा कि ऊपर देख चुके हैं) एक स्वर को (जैसे आ) मानते हैं। किन्तु प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का विचार है कि भाषा-विज्ञान में विद्वानों का ऐसा मत बेचारे व्यंजन के प्रति अन्याय है। यह बात सही है कि भाषा में प्रायः अकेला व्यंजन 'अक्षर' का निर्माण नहीं कर पाता, किन्तु यह बात भी उतनी ही सही है कि कभी-कभी एक अकेला व्यंजन भी विशेष स्थिति में शब्द का रूप ले लेता है। 'राम को एक ही दिन में 'ण' कहना आ गया'; 'लाख कोशिश करने पर भी मुझे 'ळ्' कहना नहीं आया'; सिन्धी लोग हिन्दी शब्दों के 'ड़्' को 'र्' कहते हैं; तथा 'श्' मागधी की विशेषता है' आदि में ण्, ळ्, ड़्, र्, श् निरर्थक नहीं हैं, उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द ही कहा जायगा, जैसे कि 'आ' एक शब्द था; और हर शब्द में कम से एक एक अक्षर तो होता ही है। निष्कर्षतः यह मानना अन्यथा न होगा कि उपर्युक्त स्थितियों में, ळ्, ङ् आदि अक्षर हैं और इस आधार पर अक्षर का स्वरूप 'व' (*अर्थात्* केवल व्यंजन) भी माना जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में मात्र एक व्यंजन का भी अक्षर माना जा सकता है। इस प्रसंग में इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि उपर्युक्त स्थिति भाषा की प्रकृति या सामान्य स्थिति न मानी जाकर असामान्य स्थिति मानी जानी चाहिए।

ऊपर अक्षर में 'गह्वर' और 'शीर्ष' का उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि एक स्वर या व्यंजन का भी अक्षर हो सकता है। स्पष्ट ही इस प्रकार की स्थिति में केवल एक ध्वनि होने से, गह्वर का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। ऐसी ध्वनि शीर्ष है।

अक्षर का स्वरूप हर भाषा में एक नहीं होता। ऊपर हिन्दी के उदाहरण दिए जा चुके हैं। स्लाव भाषाओं में अक्षर अधिकांशतः स्वरांत होते हैं। जर्मनिक भाषाओं में स, सव, वस, वमव, स्वरूप वाले अक्षर अपेक्षया अधिक प्रयुक्त होते हैं।

अक्षर-विषयक विभिन्न सिद्धान्त

१६वीं सदी के आरम्भ से ही अक्षर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सिद्धांत विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। यहां उनमें कुछ प्रमुख लिए जा रहे हैं—

(क) सबसे सरल और स्पष्ट सिद्धांत यह रहा है कि किसी शब्द में जितने स्वर होंगे, उतने ही अक्षर भी होंगे। हिन्दी आदि बहुत-सी भाषाओं में सामान्य दृष्टि से यह ठीक है, किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह खरा नहीं उतरता। स्वर सर्वदा शीर्ष ही न होकर कभी-कभी गह्वर भी होते हैं। अंग्रेजी संयुक्त स्वर ai और au में प्रस्तुत सिद्धांत के अनुसार दो अक्षर होंगे, क्योंकि दो स्वर हैं, किन्तु वस्तुतः इन दोनों में केवल प्रथम a आक्षरिक है तथा i और u अनाक्षरिक (nonsyllabic) या व्यंजनात्मक (consonental) हैं। इस प्रकार दोनों में एक-एक अक्षर हैं। संसार की कुछ भाषाओं में तो कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनमें एक भी स्वर नहीं हैं। प्रस्तुत सिद्धान्त को मान लेने पर ऐसे शब्द अक्षर-शून्य होंगे, किन्तु ऐसा होना असम्भ है। अफ्रीका की इवो भाषा का ङ्‌गङ्‌गङ्‌ (=पार्सल) शब्द स्वर-शून्य है, किन्तु उसे प्रस्तुत सिद्धान्त को मानकर अक्षर-शून्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बिना अक्षर के शब्द नहीं होते। चैक भाषा में तो ऐसा (स्वर-शून्य) एक पूरा वाक्य है। रूमानियन में भी दो-एक शब्द इस प्रकार के हैं। इस तरह अक्षर के सम्बन्ध में यह सिद्धांत सामान्यतः व्यावहारिक होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता।

(ख) अक्षर के संदर्भ में स्टेट्सन और उनके हड्गिन्श आदि सहयोगियों का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। स्टेट्सन ने अनेक यन्त्रों के द्वारा इस समस्या का बड़ी गहराई से अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि (motor phonetics १६५१) अक्षर एक गत्यात्मक इकाई (motor unit) है। इसका आशय यह है कि मूलतः अक्षर एक गति है जो फेफड़ों से निकलने वाली वायु से सम्बद्ध है। फेफड़े के पास की मांसपेशियों के संकोचन से उत्पन्न छोटे-छोटे वायु-प्रवाह या श्वास-स्पंद ही इस गति के आधार हैं। इस प्रकार अक्षर हवा के उस एक झटके या झोंके से उत्पन्न ध्वनि-इकाई या ध्वनि-समूह है जो वक्ष की मांसपेशियों के संकोचन से फेफड़े से बाहर निकलती है। इसी कारण इसे एक श्वास-स्पंद से उद्भूत कहा जाता है। इस रूप में अक्षर-निर्माण की तीन सीढ़ियाँ हैं: प्रारम्भ, ऊर्ध्वता, अंत। पूर्व-गह्वर, शीर्ष और पर-गह्वर भी यही है। रोमन याकबसन, हेफ़नर तथा हैले आदि अनेक आधुनिक विद्वान् स्टेट्सन के मत से सहमत हैं। इसका अर्थ यह भी है कि अक्षर का कोई पूर्ण या शुद्ध ध्वन्यात्मक रूप सर्वमान्य नहीं हो सकता। तत्त्वतः बोलने वाले के उच्चारण पर ही यह निर्भर करता है।

(ग) पी० मैन्ज़रेथ नामक एक जर्मन विद्वान् ने फेफड़े से निकलने वाली हवा के

झोंके के साथ स्वरतंत्रियों का अध्ययन एक्सरे-फोटोग्राफी के सहारे करना चाहा, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अपनी खोजों के परिणामस्वरूप उसने स्टेट्सन के उपर्युक्त मत को अमान्य ठहराया और अक्षर के सम्बन्ध में एक नया मत सामने रखा। उसका कहना था कि नीचे का जबड़ा हर अक्षर में एक बार हिलता है, अर्थात् निचले जबड़े के हिलने पर अक्षर आधारित है। १८३६ ई० में एक अधिवेशन में उसने इस सम्बन्ध में अपना लेख पढ़ा। लेख की समाप्ति पर एक भाषाशास्त्री मुँह में पाइप दबाये उठा और उसी तरह पाइप दबाये कुछ देर तक बोलता रहा। अन्त में उसने कहा कि पाइप दबाये रहने के कारण मेरा निचला जबड़ा हिला नहीं है, जिसका मैन्ज़रेथ साहब के अनुसार आशय यह है कि मैंने एक भी अक्षर अर्थात् एक भी शब्द नहीं कहा है। इस प्रकार यह सिद्धांत भी मान्य नहीं हो सका।

(घ) जैसा कि आगे हम देखेंगे दो अक्षरों को सर्वदा स्पष्टतः अलग कर पाना बहुत कठिन है। अंग्रेजी शब्द कमिङ (coming) में दो अक्षर हैं, किन्तु पहले की कहाँ समाप्ति होती है और दूसरा कहाँ प्रारम्भ होता है, यह बतलाना कठिन है। 'म' ध्वनि पहले का पर-गह्वर है और दूसरे का पूर्व-गह्वर, हिन्दी 'पथिक्, (सामान्य उच्चारण में) भी यही समस्या है। पहला 'पथ्, है तो दूसरा 'थिक्'। 'थ्' दोनों में है। बेल की प्रयोगशाला में तथा अन्यत्र भी यंत्र के आधार पर अध्ययन करने वाले ध्वनिशास्त्रियों ने इस समस्या पर विचार और कार्य किया, किन्तु किसी भी प्रकार वे ऐसी स्थितियों में अक्षरों को बिल्कुल अलग न कर सके, और इसी कारण उन्होंने मान लिया कि अक्षर वास्तविकता नहीं है। वह भाषाविज्ञानविदों की कल्पना-मात्र है। येस्पर्सन ने इसके उत्तर में बहुत सुन्दर कहा था कि यह तो वैसे ही है, जैसे कोईव्यक्ति दो सटी हुई पहाड़ियों का अस्तित्व केवल इस आधार पर अस्वीकार दे कि दोनों के बीच की घाटी ऐसी है कि यह बतलाना असम्भव-सा है कि उस घाटी का कितना भाग पहली पहाड़ी का है और कितना दूसरी का। सचमुच ही अलगाने की कठिनाई के कारण अक्षर का अस्तित्व ही अस्वीकार कर देन बड़ा विचित्र है।

(ङ) ग्रैमण्ट और फूशे आदि का मत है कि अक्षर का रूप शुद्ध शारीरिक है और उसका सम्बन्ध ध्वनि-यंत्र (larynx) की मांसपेशियों से है। उनकी दृढ़ता की कमी और वेशी पर हर अक्षर का उतार-चढ़ाव निर्भर करता है।

(च) फ्रेंच विद्वान् सास्यूर ने अक्षर का सम्बन्ध मुँह के खुलने और बन्द होने से माना है। इसके लिए उन्होंने ध्वनियों के अधिक या कम खुलने के अधार पर छः वर्ग भी बनाये हैं। कहना न होगा कि इस मत का भी अब मात्र ऐतिहासिक महत्व है, और यह किसी को मान्य नहीं है।

(छ) श्रोता की दृष्टि से यह मान्यता अधिक मान्य है कि किसी शब्द में जितनी ध्वनियाँ अधिक मुखर (sonorous) या प्रमुख होती हैं, 'उतने ही' अक्षर होते हैं। इन्हीं मुखर ध्वनियों को शीर्ष या शिखर कहते हैं और श्रोतागण अनुसार

ध्वनियों को गह्वर या घाटी। मुख्य ध्वनि की यह मुखरता कई बातों पर निर्भर करती है।

उपर्युक्त सारे सिद्धांत में श्रवणीयता की दृष्टि से अन्तिम, और शारीरिक दृष्टि से स्टेट्सन के सिद्धांत मान्य कहे जा सकते हैं।

अक्षर-विभाजन

इस बात को प्रायः विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि मुखरता आदि के आधार पर यह बतला देना कि अमुक शब्द में इतने अक्षर हैं, अपेक्षाकृत बहुत सरल, किन्तु दूसरी ओर शब्द का अलग-अलग अक्षरों के रूप में विभाजन करना कभी-कभी असंभव-सा है। यंत्रों की सहायता से भी इसमें सफलता नहीं मिली है। पीछे कहा जा चुका है कि इसी कठिनाई के कारण यंत्र-शास्त्रियों ने अक्षर की सत्ता पर न केवल प्रश्नवाचक चिह्न लगाया, अपितु उसे मात्र कल्पना भी कह डाला।

इस संभाव्यता और असंभाव्यता के आधार पर सामग्री दो प्रकार की हो सकती है: (क) जिसे सरलता से स्पष्ट रूप में अक्षरों में विभाजित किया जा सके। (ख) जिसे विभाजित करना सम्भव न हो।

अधिकांश सामग्री का अक्षर-विभाजन सरलता से हो सकता है। रानी, भालू, आधा, जैसे उदाहरणों में 'आ' के बाद विभाजन होगा जो उच्चारण से स्पष्ट है। यदि एक अक्षर का शीर्ष दूसरे के निकटस्थ हो तो इसी प्रकार सरलता से विभाजन हो जाता है। दो शब्द मिले हों तो भी सरलता से विभाजन सम्भव है, जैसे सीतापति (प के पूर्व), रामराज्य (रा के पूर्व)। दो अक्षरों के बीच में यदि संयुक्त व्यंजन या द्वित्त व्यंजन हो तब भी प्रायः विभाजन में कठिनाई नहीं होती। संयुक्त या द्वित्त-व्यंजन के बीच से विभाजन कर देते हैं। जैसे पक्का, कच्चा, उल्लू (द्वित्त), भक्ति, तिन्का, अंकुर, अंबर (संयुक्त; इनमें संयुक्त एकवर्गीय भी हैं, जैसे अंकुर, अम्बर और भिन्नवर्गीय भी जैसे तिन्का) आदि में। यहाँ उदाहरण हिन्दी से लिये गये हैं। हर भाषा के अध्ययन के आधार पर इसी प्रकार उसके नियम निर्धारित किये जा सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हर भाषा के अक्षर-विभाजन के नियम एक से हों।

दूसरी ओर भाषा में कुछ सामग्री ऐसी भी मिलती है, जहाँ अक्षर-विभाजन असंभव हो जाता है। प्रायः ऐसी स्थिति दो रूपों में आती है। कभी तो जब एक अक्षर का पर-गह्वर (coda) दूसरे का पूर्व-गह्वर (onset) बन जाता है। अंग्रेजी का 'कमिङ' (coming) ऐसा ही शब्द है। पहला अक्षर 'कम्' है और दूसरा 'मिङ'। इस प्रकार 'म्' दोनों में है। इस प्रकार की ध्वनियाँ जो दो अक्षरों में आयें, अक्षर-मध्यग ध्वनि (interlude) कही जाती है। कुछ लोग इस शब्द का उच्चारण 'क-मिङ्' या 'कम्-इङ्' रूप में करके अक्षर का स्पष्ट विभाजन कर सकते हैं, किन्तु ऐसा उच्चारण अंग्रेजी का स्वाभाविक उच्चारण नहीं है। हिन्दी 'पथिक' शब्द भी इसी प्रकार का है। इसका प्रकृत उच्चारण न तो 'प—थिक्' है और न 'पथ्-इक', अपितु ऐसा है जिसमें 'थ्'

पहले अक्षर का पर-गह्वर और दूसरे का पूर्व-गह्वर है। इस प्रकार की दूसरी स्थिति तब आती है जब दो अक्षरों के बीच ऐसा संयुक्त व्यंजन आ जाता है, जिसके बीच से विभाजन करने से अर्थ बदल जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में नाइट-रेट (night rate) और नाइट्रेट (nitrate) दो शब्द हैं। पहले में विभाजन ट-र के बीच में सम्भव है, किन्तु दूसरे में यदि इस प्रकार विभाजन किया गया तो इसका अर्थ दूसरा न रह कर पहला हो जायगा। ऐसी स्थिति में 'ट-र' उच्चारण न करके 'ट्र' उच्चारण किया जायगा। कहना होगा कि अक्षर-मध्यग ध्वनि प्रथम अक्षर के लिए पर-गह्वर और दूसरे के लिए पूर्व-गह्वर होती है। रचना की दृष्टि से ऐसी ध्वनि या ऐसा ध्वनि-समूह दोनों अक्षरों का अंग है।

भारत के प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने भी अक्षर-विभाजन पर विचार किया है और संस्कृत के शब्दों पर विचार करते हुए इनके लिए स्पष्ट नियमों का निर्धारण किया है। ऋक् प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रतिशाख्य, अथर्व प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयी प्रतिशाख्य इस दृष्टि से विशेष रूप से दर्शनीय हैं। यों यह स्पष्ट है कि आज की भाँति ही उस काल में भी इस सम्बन्ध में विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नहीं था। उदाहरणार्थ, स्वर-मध्यग व्यंजन-गुच्छ को ऋक् प्रातिशाक्य के अनुसार या तो बीच से विभाजित किया जा सकता है या पूरा का पूरा परवर्ती स्वर के साथ रखा जा सकता है, किन्तु तैत्तिरीय कुछ ऐसी ही स्थिति में गुच्छ को केवल परवर्ती स्वर के साथ रखने के पक्ष में हैं।

शीर्ष

अक्षर-रचना में शीर्ष या शिखर (चोटी, peak, crest या nucleus) का बड़ा महत्त्व है। यही अक्षर का मेरुदण्ड या मूल आधार है। श्रवणीयता की दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है, शीर्ष ध्वनि आसपास की गह्वर ध्वनियों से अधिक स्पष्ट तथा प्रमुख होती है। 'राम्' का आ, 'कील्' की 'ई' तथा 'छोर' का 'ओ' स्पष्ट ही शीर्ष हैं और आसपास की गह्वर ध्वनियों से प्रमुख, स्पष्ट या मुखर हैं। किसी ध्वनि की मुखरता दो बातों पर आधारित होती है—

(क) ध्वनि की अपनी आंतरिक मुखरता—हर ध्वनि की अपनी आंतरिक मुखरता होती है। प्रकृतितः ध्वनियाँ कम या अधिक मुखर होती हैं। इस आधार पर ध्वनियों के प्रमुखतः ८ वर्ग बनाये जा सकते हैं—

(१) प् त् ट् क् आदि अघोष स्पर्श तथा फ़् स् ह् आदि अघोष संघर्षी।
(२) व, द, ड, ग, ब, ज, ह आदि (प्रथम के घोष रूप)।
(३) म् न् ङ् ण् आदि नासिक्य व्यंजन यथा पार्श्विक 'ल्' एवं 'श'।
(४) लुंठित 'र्'।
(५) उ, इ।

(६) ओ, ए।

(७) ऑ ऍ।

(८) आ।

इनमें प्रथम वर्ग सबसे कम मुखर है और बाद के वर्ग क्रम से अधिक मुखर हैं। अंतिम 'आ' मुखरतम है। (इनमें 'श्' आदि कुछ ध्वनियों की मुखरता के विषय में मत-विभिन्नता भी है)।

(ख) ध्वनियों को मुखर बनाने वाले अन्य बाह्य तत्व—जैसे बलाघात (श्वास-बल तथा उच्चारण-दृढ़ता), सुर या मात्रा आदि। इनमें किसी एक या एक से अधिक के योग से ध्वनि अपेक्षाकृत अधिक मुखर हो जाती है।

ब्लूमफ़ील्ड, ग्रैफ़, ह्रॉकेट, हेफ़नर आदि प्रायः सभी भाषा विज्ञानविदों ने शीर्ष के लिए मुखरता को आधार माना है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा केवल मुखरता को आधार मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे प्रमुखता (prominence) को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार प्रमुखता में मुखरता, श्वास-बल और मात्रा, ये तीन बातें है। कहना न होगा कि यहाँ अन्तर केवल नाम का है। वर्मा जी का 'मुखरता' से आशय केवल ध्वनि की आन्तरिक मुखरता है, जबकि ऊपर की मुखरता के दो रूप करके मात्रा और श्वास-बल को दूसरे में समाहित कर लिया गया है। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य कारणों से उत्पन्न मुखरता ही शीर्ष ध्वनि को शीर्ष ध्वनि बनाती है और वह अक्षर का आधार बन जाती है।

शीर्ष और स्वर-व्यंजन

स्वर ध्वनियाँ अपेक्षाकृत अधिक मुखर होती हैं, साथ ही उनका उच्चारण भी देर तक और सरलता से हो सकता है, इसी कारण वे व्यंजन की तुलना में अक्षर का आधार या शीर्ष ध्वनि बनने के अधिक उपयुक्त हैं, और इसी कारण संसार की अधि-कांश भाषाओं के अधिकांश अक्षर स्वर पर ही आधारित होते हैं। हिन्दी आदि भारत की प्रायः सभी आधुनिक आर्यभाषाओं में अक्षर की शीर्ष ध्वनि स्वर ही है। अपनी इसी विशेषता के कारण भाषा में स्वर का अधिक महत्त्व रहा है और उसे स्वतंत्र या राजा आदि कहा गया है और दूसरी ओर व्यंजन को परतंत्र या स्वर पर आधारित कहा गया है (स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग भवति व्यंजनम्)।

इस प्रकार अक्षर का शीर्ष या आधार संसार की सभी भाषाओं में प्रमुखतः स्वर ही होता है, किंतु कुछ भाषाओं में कुछ व्यंजन भी अक्षराधिकार या शीर्ष-रूप में मिलते हैं। तत्त्वतः ऐसे व्यंजनों को स्वरवत् व्यंजन कहना चाहिए, क्योंकि वे व्यंजन का कार्य छोड़ स्वर का कार्य करने लगते हैं। ऐसे व्यंजनों को आक्षरिक व्यंजन (syllabic consonant) भी कहते हैं। सेनादी, वेल्ला कूला, जापानी, रूमानियन, चेक, जर्मन, अंग्रेजी तथा बहुत-सी अफ्रीकी भाषाओं में इस प्रकार के आक्षरिक व्यंजन या अक्षराधार शीर्ष व्यंजन मिलते हैं।

मूल भारोपीय भाषा में र, ल, म, न आदि की लगभग ऐसी ही स्थिति थी। वैदिकी तथा पूर्ववैदिकी में ऋ, लृ भी कुछ इसी रूप में स्वर माने जाते हैं। अंग्रेजी में भी न तथा ल व्यंजन कभी-कभी आक्षरिक (syllabic) या स्वरवत् प्रयुक्त होते हैं (जैसे mutton, button, little में)। चैक भाषा में र ध्वनि आक्षरिक है। एक वाक्य है—

strc-ptst skrz krk (=गले में उँगली दबाओ)।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस पूरे वाक्य में एक भी स्वर नहीं है और केवल र् ही स्वर का काम कर रहा है। जर्मन भाषा में ङ, म्, और ल् व्यंजन आक्षरिक हैं। अफ्रीका की बहुत-सी भाषाओं में र्, म्, न्, ङ् आक्षरिक हैं।

जापानी में स्, श्, म् तथा चीनी में ज़ आक्षरिक हैं।

इस प्रकार र्, ल्, स्, श्, न्, म्, ङ् आदि अपेक्षाकृत अधिक मुखर व्यंजन भी अक्षर में कभी-कभी शीर्ष का काम करते हैं। आक्षरिक व्यंजन के नीचे उसकी आक्षरिकता दिखाने के लिये एक छोटी खड़ी रेखा खींच देते हैं, जैसे म्।

गह्वर और स्वर-व्यंजन

जिस प्रकार स्वर प्रायः अक्षर में शीर्ष होते हैं, उसी प्रकार व्यंजन प्रायः अक्षर में गह्वर होते हैं, किन्तु जिस प्रकार कभी-कभी कुछ व्यंजन भी स्वरवत् बन शीर्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी कुछ स्वर भी व्यंजनवत् बनकर गह्वर बन जाते हैं। संयुक्त स्वर में दोनों स्वर प्रमुखता या मुखरता की दृष्टि से बराबर नहीं होते। ऐसी स्थिति में कम मुखर या अप्रमुख स्वर व्यंजनवत् स्वर माना जाता है। बहुत ठीक या वैज्ञानिक न होने पर भी सरलता के लिए ऐसी स्थिति में पूरे को अक्षर, प्रमुख स्वर को शीर्ष और अप्रमुख स्वर को गह्वर कहते हैं। ai का i, au का u इसी प्रकार गह्वर हैं।

अक्षर के भेद

अक्षर दो प्रकार के होते हैं—बद्धाक्षर (close, check या closed syllable) और मुक्ताक्षर (free या open syllable)। जब अक्षर की अंतिम ध्वनि व्यंजन हो, उसे बद्धाक्षर कहते हैं, जैसे आप्, एक्, सीख्। इसके विरुद्ध जब अक्षर की अंतिम ध्वनि स्वर हो तो उसे मुक्ताक्षर कहते हैं, जैसे जो, या, कि, खा, ले।

'अक्षर' की स्वाभाविकता और प्राचीनता

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, 'अक्षर' वर्ण या ध्वनिग्राम से पहले ज्ञात हुआ और इस प्रकार अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार यह वर्ण की तुलना में अधिक स्वाभाविक भी है। ग्रैफ और ग्रे आदि अनेक विद्वानों का कहना है कि वाग्रोध (aphasia) रोग के ऐसे बहुत से मरीज देखे गए हैं, जिन्हें वर्णों का बिल्कुल ज्ञान न होने पर भी अक्षर का स्पष्ट ज्ञान रहा है। उनकी हरकतों से ऐसा निष्कर्ष निकला है। कविता में 'अक्षर' का अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयोग भी उसकी प्राचीनता का प्रमाण है। 'ऋग्वेद', अवेस्ता तथा प्राचीन यूनानी काव्यों का मापन-आधार अक्षर ही है। हमारे

छन्दशास्त्र के गण (यमाताराजभानुसलगा) मूलतः अक्षर ही हैं। आक्षरिक लिपि[1] का अपेक्षाकृत प्राचीन होना भी अक्षर की प्राचीनता का ही सबूत देता है। इस प्रकार अक्षर का ज्ञान पर्याप्त प्राचीन है।

अक्षर की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है, वाक्य के स्वाभाविक खंड न तो शब्द है, न वर्ण, अपितु अक्षर हैं, क्योंकि ये उच्चारण की दृष्टि से एक इकाई या एक श्वास-वर्ग (breath group) हैं।

(छ) तरंगीय ध्वनिविज्ञान (Acoustic Phonetics)[2]

'तरंगीय ध्वनिविज्ञान' भौतिकी की एक शाखा है कि इसका सम्बन्ध मूलतः ध्वनि की तरंगों से है। गौणतः इसमें भौतिक ध्वनिविज्ञान भी आ जाता है। भाषा का ग्रहण ध्वनियों को सुनकर किया जाता है, इसीलिये इसका संबंध भाषाविज्ञान से भी है। ध्वनि का विशिष्ट प्रकार का होना, उसके सुर या तारत्व (pitch), आयतन (volume), गूँज या अनुनाद, भीतर से आने वाली हवा की शक्ति, उच्चारण-अवयवों की बनावट तथा उनके द्वारा विशिष्ट शक्ति से ध्वनन आदि कई बातों पर निर्भर करता है। इन्हीं में विभिन्नता के कारण ध्वनि मीठी-सुरीली, कर्कश-कर्णकटु, भारी-हलकी, मोटी-पतली, भरी, भर्राई, टूटी, कृत्रिम आदि होती है। इतना ही नहीं भाषा-ध्वनि के रूप में एक ध्वनि का दूसरे से अंतर भी इन्हीं बातों पर निर्भर करता है। स्वर, अर्द्धस्वर तथा व्यंजन आदि रूपों में ध्वनियों का वर्गीकरण अन्य बातों के अतिरिक्त ध्वनियों के श्रौतगुण पर भी आधारित है। आगे स्वर और व्यंजन भी कुछ अंशों तक इस पर आधारित है। डॉ० जोन्स ने मान स्वरों का वर्गीकरण मूलतः श्रावणिक आधार पर किया था। यह बात दूसरी है कि उच्चारण-अवयवों की विभिन्न स्थितियों से भी उनका संबंध है। वस्तुतः अवयवों की क्रिया कारण है और उत्पन्न ध्वनियों का श्रौतगुण उनका परिणाम या कार्य। व्यंजनों के वर्गीकरण (घोष, अघोष, अल्पप्राण, स्पर्श, संघर्षी, लुंठित, पार्श्विक, नासिक्य आदि) का भी इससे संबंध है। वस्तुतः ध्वनियों के श्रौतगुण के कारण ही श्रोता विभिन्न ध्वनियों को पहचान कर भाषा को समझता है, या सुर, बलाघात, या व्यक्ति विशेष का निर्णय करता है।

श्रोता के कान तक इन ध्वनियों की लहरें आती हैं और उन्हीं को पकड़ कर श्रोता ध्वनियों को विभिन्न दृष्टियों से समझता है। इस प्रकार ये लहरें बहुत महत्त्वपूर्ण

---

१. देखिये लिपि-विषयक अध्याय। आक्षरिक लिपि उसे कहते हैं, जिसमें लिपि-चिह्न में स्वर-व्यंजन दोनों मिले रहते हैं। जैसे क (क्+अ)। वर्णात्मक लिपि लिपि-चिह्न केवल एक वर्ण का प्रतीक होता है, जैसे अंग्रेजी k (क्)। इस प्रकार रोमन लिपि वर्णात्मक है और नागरी अक्षरात्मक या आक्षरिक।

२. इसे acoustics (श्रुतिशास्त्र, physical phonetics (भौतिक ध्वनि-विज्ञान) तथा genemmic phonetics) भी कहते हैं। शिक्षा-मंत्रालय ने इसके लिए शब्द बनाया है।

हैं। आज इसीलिए ध्वनिविज्ञान में विभिन्न यंत्रों से इन लहरों का अध्ययन किया जाता है। पहले यंत्र इन लहरों का चित्र ले लेते हैं, फिर उन चित्रों के विश्लेषण द्वारा ध्वनि की आवृत्ति (frequency), उसका मात्रा-काल (duration), आयाम (amplitude), तथा उसकी तीव्रता (intensity) का पता चलाते हैं। तरंगीय ध्वनिविज्ञान में प्रमुखतः दो यंत्रों से आजकल बहुत सहायता ली जा रही है। एक तो है ऑसिलोग्राफ जो पुराना आविष्कार है, और दूसरा है स्पेक्टोग्राफ़ जिसे पिछले महायुद्ध में बनाया गया था।[1]

(ज) प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान (Exberimental Phonetics)[2]

जैसा कि येस्पर्सन ने कहा था, ध्वनिविज्ञान की इस शाखा को 'यांत्रिक' न कहकर 'प्रायोगिक' कहना अधिक उचित है, क्योंकि प्रयोग तो बिना मशीन के भी हो सकता है। यों इस शाखा में किसी न किसी प्रकार के यंत्र या उपकरण की सहायता अवश्य ली जाती है। ध्वनियों के अध्ययन में, जब यों देखने-सुनने से काम न चला तो ध्वनिशास्त्रियों ने अध्ययन और विश्लेषण के लिए तरह-तरह के उपकरणों का प्रयोग प्रारम्भ किया। इन उपकरणों में एक ओर तो कुछ बड़े सामान हैं, जैसे दर्पण आदि और दूसरी ओर मशीनें हैं, जिनके संचालन के लिए यंत्रज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। आज तो इस क्षेत्र में इतनी जटिल मशीनों का प्रयोग हो रहा है कि यह क्षेत्र मात्र भाषाशास्त्रियों के वश का नहीं है, जब तक कि वे गणित, भौतिकशास्त्र तथा इंजीनियरिंग से भी परिचित न हों। यहाँ इस क्षेत्र में काम आने वाले कुछ उपकरणों का संक्षिप्त एवं सामान्य परिचय दिया जा रहा है—

(१) मुखमापक (Mouth Measurer)

इसे ऐटकिन्सन ने बनाया था, उसी आधार पर इसको प्रायः ऐटकिन्सन का 'मुखमापक' कहा जाता है। इसकी सहायता से किसी ध्वनि के उच्चारण के समय जीभ की ऊँचाई, नीचाई, उसका आगे या पीछे हटना आदि ठीक-ठीक नापा जा सकता है। १–२ धातु की पतली नली है, जो ऊपर की ओर झुकी है। इसके भीतर एक पतला तार है जो २ के बाहर दिखाई पड़ रहा है। नीचे यह दस्ते से जुड़ा है। इस दस्ते की सहायता से इस तार को ऊपर-नीचे किया जा सकता है। तार की लम्बाई ऐसी होती है कि जब उसका निचला सिरा १ के पास होता है, ऊपरी सिरा २ के पास होता है। ५ एक 'दांत-रोक' (teeth stop) है जिसमें बाहर की ओर दो निकले भाग हैं। ये जब ऊपर की
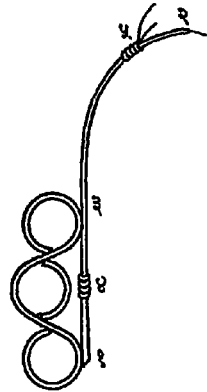
१. देखिये इस पुस्तक का प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान सेसम्बद्ध अंश।

२. इसे Instrumental phonetics (यांत्रिक ध्वनिविज्ञान) या Laboratory phonetics (प्रयोगशाला-ध्वनिविज्ञान) भी कहते हैं।

ओर रहते हैं तो दांत रोक-नली से चिपका रहता है, जब नीचे कर दिये जाते हैं तो इसे खिसकाया जा सकता है। इसका ऊपरी भाग मुँह में इतना डालते हैं कि दांत-रोक दांतों तक आ जाय. फिर दस्ते को ऊपर करके तार को जीभ तक ले जाते हैं; और उसी स्थिति में इसे निकाल कर पहले से बने नक्शों में बिन्दु लगा देते हैं। इसी प्रकार 'दांत-रोक' खिसका-खिसका कर जीभ की स्थिति के ६–७ विंदुओं का पता लगा कर जीभ की पूरी स्थिति का ठीक नक्शा खींच लेते हैं।

(२) कृत्रिम तालु (False या Artificial Palat)
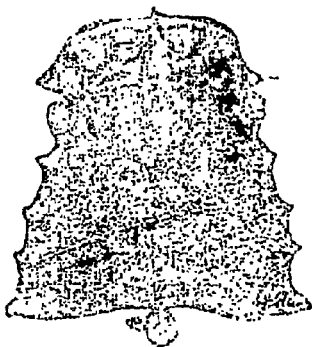
कृत्रिम तालु धातु या वल्कनाइट का बना होता है। यह प्रयोक्ता के मुँह की ठीक नाप का ऊपर के तालु के लिए होता है। किसी ध्वनि का उच्चारण करने के पूर्व इसमें भीतरी ओर कोई रंग या खड़िया लगा लेते हैं और फिर ऊपर के तालु पर इसे बैठा देते हैं। इसके बाद जिस ध्वनि की परीक्षा करनी होती है, उसका उच्चारण करते हैं। उच्चारण में जीभ तालु पर लगे कृत्रिम तालु का स्पर्श करती है और जहाँ स्पर्श होता है, वहाँ का रंग (या चॉक) जीभ पर लग जाता है, इस प्रकार कृत्रिम तालु का स्पर्श-स्थान स्पष्ट हो जाता है। तालु को सावधानी से बाहर निकाल कर उस स्पर्श-स्थान का अध्ययन करते हैं। मुँह से निकालने के बाद ही इसकी फोटो ले लेना अधिक अच्छा होता है, क्योंकि रङ्ग (या चॉक) के झड़ या छूट जाने पर वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता।

आजकल इसका ठीक स्वरूप जानने के लिए 'पैलेटोग्राम प्रोजेक्टर' नाम की एक मशीन प्रयोग में आने लगी है। इसमें बोलने के बाद कृत्रिम

तालु को नीचे लगा देते हैं। भीतर बिजली के प्रकाश तथा शीशे की ऐसी व्यवस्था रहती है कि स्विच दबाते ही उनसे ऊपर के शीशे (चित्र में चौकोर काला) पर कृत्रिम तालु की छाया पड़ने लगती है और किसी पतले कागज़ को उस पर रख कर अक्स कर लेते हैं। इस प्रकार सरलता से चित्र उतर जाता है। इस पर जल्दी-जल्दी थोड़े ही समय में काफ़ी ध्वनियों का चित्र अक्स किया जा सकता है।

मूलतः कृत्रिम तालु दन्त-चिकित्सा में प्रयुक्त होता था। १८१७ में कीट्स ने इसका प्रयोग ध्वनियों के लिए किया, और तब से इस क्षेत्र में यह बहुत कारगर सिद्ध हुआ है।

(३) कायमोग्राफ़ (Kymograph)

'कायमोग्राफ़' एक यंत्र है, जिसका उपयोग ध्वनियों के अध्ययन के लिए किया जाता है। यह चौकोर बाक्स की तरह एक मशीन होती है, जिसके ऊपर सिगरेट के गोल डिब्बे की तरह एक बड़ी ढोल लगी होती है। ढोल के ऊपर चारों ओर धुएँ से काला किया हुआ एक चिकना कागज लपेट देते हैं। पास ही एक खड़े डंडे में छोटी-सी मशीन और उसी से सम्बद्ध एक रबड़ की नली रहती है। रबड़ की नली के एक ओर एक चौड़ी-सी चीज़ लगी रहती है, ताकि मुँह में ठीक से लगाया जा सके। दूसरी ओर एक पतली-सी सुई रहती है। जैसा चित्र से स्पष्ट है, सुई ढोल पर लिपटे कागज़ पर लगी रहती है। मुंह में लगाये जाने वाले छोर को मुँह में लगा कर प्रयोगकर्त्ता बोलता है। इससे दूसरे छोर पर लगी सुई में कम्पन होता है। उधर ढोल विद्युत् की सहायता से घूमने लगती है और सुई काले कागज़ पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर बनाने लगती है। अनुनासिकता आदि देखने के लिए एक नली नाक से भी सम्बद्ध कर लेते हैं, जो एक अलग निशान बनाती चलती है। कुछ ध्वनियाँ घोष और कुछ अघोष होती हैं। इसका निश्चय
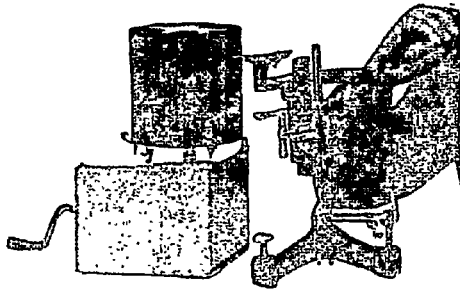
कायमोग्राफ़ की सहायता से सफलतापूर्वक हो सकता है। अघोष ध्वनियों का उच्चारण करने पर ढोल वाले कागज़ पर बनी लकीर सीधी होती है उसमें लहरें नहीं रहती हैं, पर घोष ध्वनियों की लकीर लहरदार होती है। इसका कारण यह है कि घोष ध्वनियों में सुई नीचे-ऊपर काँपती रहती है, पर अघोष में नहीं। अल्पप्राण और महाप्राण की

लाइनों की लहरों में भी कायमोग्राफ़ में स्पष्ट भेद रहता है। एक कुछ अधिक सीधी और दूसरी कम सीधी होती है। स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, पार्श्विक आदि की लहरों में भी सूक्ष्म अन्तर रहता है, जिसे लाइनों का अध्ययन करने वाला पहचान सकता है। अनुनासिकता जानने के लिए एक अन्य नली नाक में लगा लेते हैं। उसका भी दूसरा सिरा प्रथम की भाँति सुईयुक्त होता है और ढोल पर लगा रहता है। अनुनासिक ध्वनि मे नासिका से भी कुछ वायु निकलती है, अतः नासिका-नली की सुई अनुनासिक ध्वनि के समय लहरदार लकीर बनाती है, पर अनुनासिक ध्वनि में उसकी लकीर साधारण रहती है। लकीर या मात्रा जानने के लिए एक घड़ी से सम्बद्ध करके एक तीसरी रबड़ की नली इसके लिए लगा देते हैं। यह तीसरी लकीर समय प्रदर्शित करती चलती है। इसकी सुई एक सेकेण्ड में सौ निशान बनाती है, जिसके देखने से पता चल जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में कितना समय लगा, तथा वह दीर्घ है या लघु। इससे सुर का भी पता चल जाता है। इसका प्रयोग पहले डाक्टर लोग करते थे, किन्तु १८७६ में रोज़पेल्ली ने ध्वनि-अध्ययन में इसका प्रयोग किया और तब से इससे ध्वनिविज्ञान में बहुत सहायता मिलती आ रही है।

कायमोग्राफ़ के नये रूप

ऊपर जिस कायमोग्राफ़ का वर्णन किया गया है, उसका प्रयोग तो चल ही रहा है, किन्तु अब (१) 'एलेक्ट्रो-कायमोग्राफ़' रूप में इसका एक नया रूप भी प्रयुक्त हो रहा है, जिसमें माइक लगा होता है। इसमें अधिक स्वाभाविकता संभव है, किन्तु यह पुराने जितना उपयोगी नहीं है। इसमें अधिक घोष-अघोष तथा सुर, केवल इन दो को ही जाना जा सकता है। (२) इंक-राइटर भी एक प्रकार का कायमोग्राफ़ कहा जा सकता है। इसमें कायमोग्राफ़ की तरह धुएँ का काला कागज न लपेट कर सफेद कागज लपेटते हैं और उस पर सुई स्याही से निशान बनाती है। प्रयोक्ताओं का कहना है कि इसके चिह्न अधिक सही होते हैं. साथ ही प्रयोग में यह सस्ता भी है, यद्यपि खरीदने में महँगा है। (३) क्रोमोग्राफ़ (Chromograph)—१९३२ के लगभग स्पेन के Laierda नामक भाषातत्त्वविद् ने इसे बनाया। यह यन्त्र भी अच्छा है, किन्तु इसका प्रचार नहीं हो सका। (४) मिंगोग्राफ़ (Mingograph)—यह यंत्र घोषत्व-अघोषत्व तथा सुर को नापने के लिए बहुत अच्छा है। इस पर भी माइक पर बोला जाता है। इसे स्वेडेन में बनाया गया है। (५) इङ्गलैंड में एक अन्य प्रकार के कायमोग्राफ़ का प्रयोग होता है जिसमें फोटो के कैमरे का प्रयोग किया जाता है।

(४) एक्सरे (X-Ray)

विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में जीभ तथा जबड़े की स्थिति का ठीक ज्ञान एक्सरे से भी किया जाता है। मानस्वरों के एक्सरे-चित्र ध्वनिविज्ञान की कई पुस्तकों में दिये गये हैं। जोन्ज़, स्टीफ़ेन, जॉर्ज आदि ने इस क्षेत्र में पर्याप्त काम किया है।

(५) लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope)

इसमें एक पतली छड़ पर १२०° के कोण पर एक छोटा-सा गोल दर्पण लगा होता है। इसके द्वारा स्वरयंत्र और उसके कार्य को देखा जा सकता है। किसी व्यक्ति को सूर्य की ओर या लैंप की ओर मुँह करके बैठा देना पड़ता है, फिर नीचे जैसे चित्र है, उसी स्थिति में उसके मुँह में से इतना डालते हैं कि दर्पण कौवे के पास चला जाय। वहाँ पहुँचने पर इस दर्पण में स्वरयंत्र प्रतिबिंबित होने लगता है और देखा जा सकता है। उस स्थिति में जिन ध्वनियों का उच्चारण संभव है। उनके उच्चारण में स्वरयंत्र और स्वरतंत्रियों की स्थिति भी इससे देखी जा सकती है। यदि अपना स्वरयंत्र स्वयं देखना हो तो एक और दर्पण अपने सामने रखकर लैरिंगोस्कोप के दर्पण की छाया में उसे देखा जा सकता है।
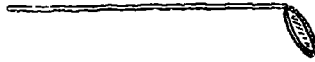
सर्वप्रथम सन् १८०७ ई० में बोज़िनी (Bozzini) ने यह दिखाया कि मुँह के भीतर के बहुत से यंत्रों को शीशे के द्वारा बाहर दिखलाया जा सकता है। बाईस वर्ष बाद सन् १८२९ में बोबिंगटन ने सर्वप्रथम इस प्रकार स्वरयंत्र-मुख को देखने का प्रयास किया। १८५४ में प्रसिद्ध संगीतशास्त्रज्ञ गर्शिया ने इसी से अपने और कई अन्य संगीतज्ञों के स्वरयंत्र को देखा। इसके अधिक प्रचार का श्रेय उसी को है। इस पद्धति को कुछ और विकसित करके टर्क और ज़रमक आदि विद्वानों ने १८५७ में लैमिंगोस्कोप बनाया और १८८३ में सर्वप्रथम एल० ब्राउने तथा ई० बेहके ने इसके सहारे जीवित मनुष्य के स्वरयंत्र की फ़ोटो ली। लैरिंगोस्कोप से स्वरयंत्र, स्वरयंत्र-मुख तथा स्वरतंत्री को बोलते समय देख कर ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु इसमें सबसे बड़ी अड़चन यह है कि इसे मुँह में डालने पर ही यह सम्भव है, और ऐसा करने पर स्वाभाविक रूप से बोलना असम्भव हो जाता है। गले तक किसी यंत्र को मुँह से डालने पर हम असाधारण परिस्थिति में आ जाते हैं, अतः इस यंत्र का प्रयोग अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ।

(६) एंडोस्कोप (Endoscope)

यों तो हिगनर, पैंकोनसेलो आदि कई विद्वानों ने लैरिंगोस्कोप को सुधारने का कार्य किया, पर फ्लेटाउ का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इसे सुधार कर एंडोस्कोप बनाया, जिसके सहारे मुँह बन्द रहने पर भी स्वरयंत्र का अध्ययन हो सकता है। इस प्रकार ध्वनियों के मूल स्थान के अध्ययन में इस नवीन यंत्र एंडोस्कोप से अब पर्याप्त सहायता मिल रही है।

(७) ऑसिलोग्राफ़ (Oscillograph)

यह भाषा के अध्ययन में प्रवृत्त यंत्रों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण यंत्र है।

इसमें बोलने पर ध्वनि की लहरें बनती हैं, जो बीच के शीशे (स्क्रीन) पर दिखाई पड़ती हैं, और उसका फ़ोटो लिया जाता है। यह मशीन बिजली से चलती है।
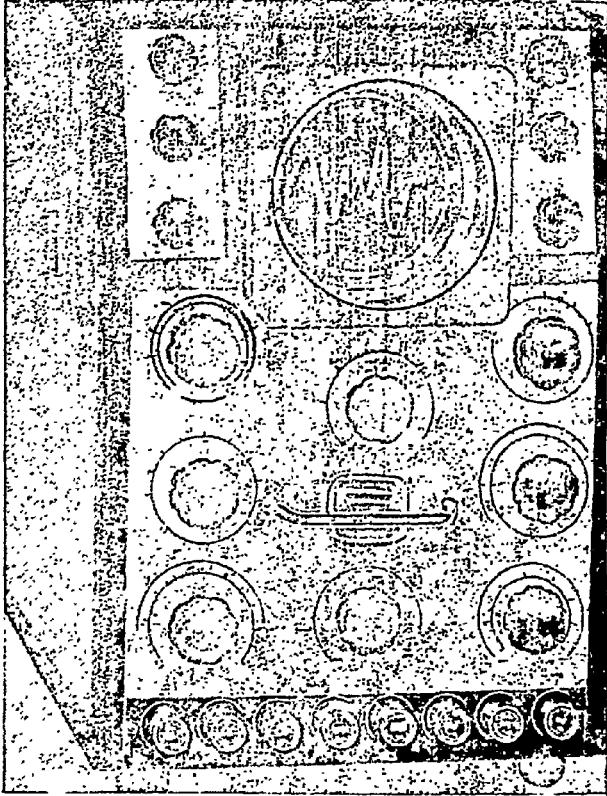
(१) इससे ध्वनियों के उच्चारण में प्रयुक्त समय का बहुत ठीक पता चल जाता है। समय-रेखा के लहरों की संख्या एक हजार प्रति सेकंड होती है। (२) सुर का अध्ययन भी इसके आधार पर किया जा सकता है। (३) लहरों के स्वरूप के आधार पर घोषत्व-अघोषत्व का भी इससे बहुत अच्छी तरह पता चल जाता है। इस दृष्टि से

यह यंत्र सर्वोत्तम माना जाता है। (४) मोटे ढंग से ध्वनि की गम्भीरता (intensity) जानने के लिए भी यह काफ़ी अच्छा यंत्र है, यद्यपि गम्भीरता-मापक (intensity-meter) जैसा आदर्श नहीं। (५) ध्वनियों के तरंगीय स्वरूप का भी इससे पता चल जाता है। स्वर की लहरें नियमित (regular तथा repetitive) होती हैं। स्पर्शों की लहरों में नियमितता बिल्कुल नहीं होती। उनका स्वरूप बड़ा जटिल होता है। अंतस्थ (नासिक्य, पार्श्विक, लुंठित, संघर्षी आदि) एक प्रकार से दोनों के बीच में पड़ते हैं। नासिक्य की कुछ नियमित तथा स, ज़ आदि की अव्याहृत और सम होती हैं।
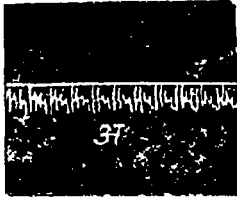
'अ' का ऑसिलोग्राम

(८) पैटर्न प्ले बैक (Pattern Play Back)

फ्रैंकलिन तथा वोर्स्ट ने इसी दशक में इसका आविष्कार किया। इससे स्पेक्टोग्राफ़ के चित्र को बजाया जा सकता है, अर्थात् चित्र के आधार पर उन्हीं ध्वनियों को सुना जा सकता है, जो उसमें चित्रित हैं। इस मशीन से स्पेक्टोग्राफ के ध्वनि-चित्रों के आधार पर बनाये गये कृत्रिम चित्र भी बजाये या सुनाये जा सकते हैं। ध्वनि की विभिन्न विशेषताओं के अध्ययन में यह बहुत सहायक हो रहा है।

(९) पिचमीटर (Pitchmeter)

यह सुर नापने के लिए प्रयुक्त हो रहा है। बहुत महँगा होने के कारण इसका प्रचार अभी तक अधिक नहीं हो सका है।

(१०) इन्टेंसिटीमीटर (Intensitymeter)

इससे ध्वनि की गम्भीरता या तीव्रता नापी जाती है।

(११) स्पीचस्ट्रेचर (Speechstretcher)

इससे किसी भी रिकार्ड की हुई सामग्री को काफ़ी धीरे-धीरे बिना विशेष अस्वाभाविकता के सुना जा सकता है। किसी सूचक (informant) से सुनकर रिकार्ड की हुई सामग्री को विश्लेषण के लिए बहुत धीरे-धीरे सुनना अधिक अच्छा होता है। इसी दृष्टि से इस यंत्र को बनाया गया है। नयी भाषा को रिकार्ड से सुनकर सीखने वाले के लिए भी यह पर्याप्त उपयोगी है। इस यंत्र का एक रूप 'सोना स्ट्रेचर' है।

(१२) स्पेक्टोग्राफ़ (Spectograph)

दूसरे महायुद्ध में यह यंत्र सामरिक प्रयोग के लिए बनाया गया था। अब भाषा के अध्ययन में सहायक यंत्रों में यह सबसे अधिक उपयोगी माना जाता है। इससे प्रमुखतः उच्चारण-समय तथा आवृत्ति (frequency) का पता चलता है। अभी तक स्वर का ही विशेष रूप से अध्ययन इसके द्वारा सम्भव हो सका है। व्यंजन के फार्मेन्ट इस पर
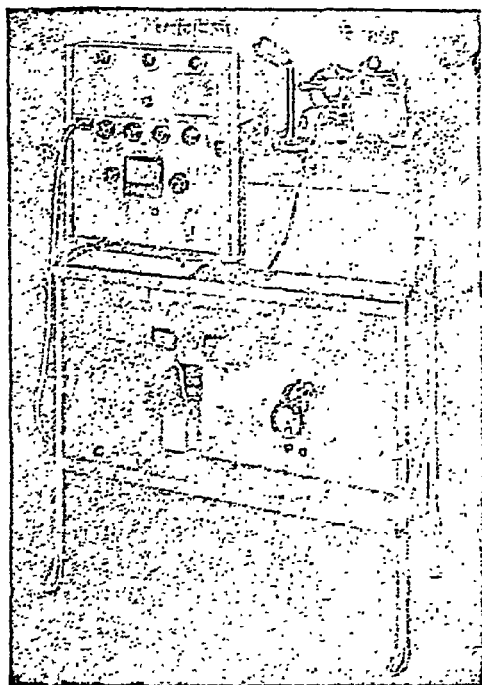
पर्याप्त स्पष्ट नहीं आते, यद्यपि इस दिशा में प्रयास जारी है। यह यंत्र सोनोग्राफ (Sonograph), वाइब्रलाइज़र (Vibralyzer) तथा कार्डिअलाइज़र (Cardialyzer) आदि कई रूपों में चल रहा है। सोनोग्राफ़ समय-मापन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। इस मशीन से ध्वनि का जो चित्र (स्पेक्टोग्राम) बनता है, ऊँचाई में आवृत्ति तथा लम्बाई में समय दिखलाता है। इससे ध्वनि के भौतिक स्वरूप की सारी विशेष-

ताओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें माइक पर बोलते हैं और ध्वनि-चित्र मशीन में ही बनता है।

(१३) ऑटोफ़ोनोस्कोप (Autophonoscope)

पैंकोनसेली ने इसे स्वर-यंत्र के अध्ययन के लिए बनाया है।

(१४) ब्रीदिंग फ्लास्क (Breathing Flask)

इसे गट्ज़मैन ने श्वास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए बनाया है।

(१५) स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप (Strobolaryngoscope)

स्वरतंत्रियों की गतिविधि का अध्ययन करने के लिये यह बनाया गया है।

'एलेक्ट्रिकल वोकल ट्रैक', 'फार्मेन्ट ग्राफिङ्ग मशीन', 'ओवे' तथा 'कैस्केड मॉडुलेशन ऑसिलेटर' आदि कुछ अन्य मशीनें भी बनाई जा रही हैं, जिनसे भविष्य में ध्वनियों का अध्ययन बड़ी सूक्ष्मता से किया जा सकता है।

(ख) ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान (Diachronic Phonetics)[1]

ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान में किसी भाषा की विभिन्न ध्वनियों के विकास का विभिन्न कालों में अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी 'क' के सम्बन्ध में देखेंगे कि वह हिंदी में किन-किन स्रोतों (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि) से आया है, साथ ही यह भी देखेंगे कि हिन्दी में विभिन्न कालों में इसका विकास किन-किन रूपों में हुआ है। अक्षर, सुर, बलाघात आदि का भी इतिहास इसी प्रकार देखा जाता है। यहाँ हमें भाषाविशेष की ध्वनियों का इतिहास नहीं देखना है। यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान ध्वनियों के विकास का अध्ययन है, अतः हम लोग ध्वनियों के विकास के कारण तथा विकास के स्वरूप या दिशाओं पर विचार करेंगे। साथ ही उन प्रमुख ध्वनि-नियमों को भी देखेंगे जिनका निर्धारण विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों के अध्ययन के सिलसिले में हुआ है।

ध्वनि-परिवर्तन और उसके कारण

ध्वनि-परिवर्तन

किसी भी जीवित सत्ता को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रतिपल उसमें परिवर्तन होता रहता है। कहा जा सकता है कि परिवर्तन ही जीवन है। जीवित भाषा के लिए भी यह बात पूर्णतः सत्य है। भाषा के जीवन की निशानी, इस 'परिवर्तन' को कुछ लोग 'विकार' और कुछ लोग 'विकास' कहते हैं। कुछ भी हो, इस झगड़े में न पड़कर इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि परिवर्तन होता है। परसों के 'कृष्ण' कल 'क्रिश्न' हो गये थे, और आज 'किशुन' या 'किसुन' हो गये हैं। बेचारे 'गोपेन्द्र' तो कभी 'गोविन्द' हो गये और अब 'गोविन' ही रह गये हैं। इसी प्रकार भाषा की लगभग

---

१. इसे Phonology (ध्वनि-प्रक्रिया-विज्ञान, या ध्वनि-प्रक्रिया) या Historical Phonetics भी कहते हैं।

सभी ध्वनियों के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। ध्वनि-परिवर्तन धीरे-धीरे होता है और वह अपने पूरे क्षेत्र में बहुत व्यापक होता है। यों उसका आरम्भ एक बिन्दु (व्यक्ति) से होता है, और लहर की तरह चारों ओर फैल जाता है। इसकी तीव्रता सबसे अधिक पीढ़ी-परिवर्तन के समय दिखलाई पड़ती है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न हमारे सामने आ जाता है कि इस परिवर्तन के कारण क्या हैं? कारण की खोज में जब हम किसी शब्द की छानबीन करते हैं, तो दो प्रकार के कारण दिखाई पड़ते हैं। पहले कारण तो वे हैं, जो शब्द के बाहर वातावरण में हैं, और धीरे-धीरे ध्वनि पर प्रभाव डालते हैं। इनको बाह्य कारण कहा जा सकता है। समाज की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अवस्थाएँ तथा भौगोलिक वातावरण इसी के अन्तर्गत आते हैं। दूसरा कारण आन्तरिक है। यह प्रयोगाधिक्य, घिसने या स्वराघात आदि से सम्बन्ध रखता है। इसमें भीतर से ही परिवर्तन का कारण उपस्थित होता है।

पर इसका यह आशय नहीं है कि ध्वनियों को लेकर हम बाँट सकते हैं कि अमुक ध्वनि केवल आंतरिक या केवल बाह्य कारण से ही परिवर्तित हुई है। तथ्य यह है कि एक ध्वनि के परिवर्तन में अधिकतर एक से अधिक कारण कार्य करते हैं, और इसीलिए स्पष्ट रूप से कारणों की ओर सर्वत्र संकेत करना सम्भव नहीं होता। इस प्रसंग में एक और बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। इन कारणों के आधार पर भविष्य के विषय में निश्चितता के साथ हम कुछ नहीं कह सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ध्वनि कल अमुक रूप धारण करेगी, या अमुक ध्वनि में परिवर्तित हो जायेगी। यह तो अतीत की सामग्री के अध्ययन के आधार पर अतीत का विश्लेषण-मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि आने वाले परिवर्तन भी इसी पथ पर चलें। साथ ही भूत के सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ अमुक कारण उपस्थित होगा, वहाँ-वहाँ अमुक परिवर्तन अवश्य होगा। इसका कारण यह है कि ध्वनियों के पथ में अनेक व्याघात आते रहते हैं, और उन सभी का ध्वनि के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिए हम देखते हैं कि एक ओर तो संस्कृत 'कर्म' से प्राकृत 'कम्म' और हिन्दी 'काम' हो गया, पर दूसरी ओर 'मर्म' से 'मम्म' होकर 'माम' न हो सका और परवर्ती तद्भव रूप में बेचारे को 'मरम' हो जाना पड़ता है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण यहाँ कुछ विस्तार से दिये जा रहे हैं—

(१) वाक्-यन्त्र की विभिन्नता—रूपात्मक स्वराघात पर विचार करते समय ऊपर हम कह चुके हैं कि किसी भी दो व्यक्ति का वाक्-यन्त्र ठीक-ठीक एक ही प्रकार का नहीं होता, इसी कारण किसी भी एक ध्वनि का उच्चारण दो व्यक्ति ठीक एक तरह से नहीं कर सकते। एक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ेगा। ये ही छोटे-छोटे अन्तर कुछ दिन में जब बड़े हो जाते हैं, तो स्पष्ट हो

जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे कोई बच्चा कल से आज कितना बड़ा हो गया या बढ़ गया इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते, पर एक-दो वर्ष बाद उस थोड़े-थोड़े बढ़ने का अनुभव हम कर लेते हैं और आँख से उसकी ३६० या ७२० दिन की निश्चित बढ़ाई भी देख लेते हैं। अब भाषाशास्त्री प्रायः इस कारण को ठीक नहीं मानते।

(२) श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता—भाषा, कोई गर्भ से सीख कर नहीं आता। यहाँ आने के पश्चात् कुछ चेतना होने पर कान से सुनकर हम धीरे-धीरे इसे सीखना आरम्भ करते हैं। वाक्-यन्त्र की भाँति श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता भी धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन में सहायक होती है। यह कारण भी पहले की ही भाँति इतना सूक्ष्म है कि ऊपर से देखने से हास्यास्पद ज्ञात होता है, पर है कदाचित् सत्य। हाँ, यह अवश्य है कि अकेले यह कार्य नहीं करता और न पहला कारण ही अकेले कार्य करता है। दोनों साथ-साथ चलते हैं, क्योंकि हम सुनकर ही सीखते और कहते हैं और फिर हमारा कहना सुनकर ही दूसरा सीखता है। इस प्रकार थोड़ा कहने में अन्तर और थोड़ा सुनने में अन्तर है। ये अन्तर आपस में मिलते और बढ़ते जाते हैं। अन्त में एक या दो या और भी अधिक सदियों में ध्वनि में घटित परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। अब इस कारण से भी लोग प्रायः सहमत नहीं हैं।

(३) अनुकरण की अपूर्णता—उपर्युक्त दोनों कारणों के बीच की कड़ी अनु-करण है। किसी का बोलना सुनकर हम अनुकरण करके बोलना सीखते हैं। पर यह अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता। या तो हम कुछ आगे बढ़ जाते हैं, या कुछ पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम ठीक उसी प्रकार नहीं बोलते हैं, जैसे कि दूसरा बोलता है, जिसका कि हम अनुकरण करते हैं। बच्चों में यह अपूर्णता स्पष्ट रहती है, जब वे रोटी को लोटी या रुपया को नुपया कहते हैं। बड़े होने पर यह अन्तर ठीक हो जाता है। बड़े लोगों में इसी प्रकार की सूक्ष्म गड़बड़ी होती है। कभी-कभी तो यह एक ध्वनि को धीरे-धीरे स्थानान्तरित करती है और कभी-कभी विदेशी शब्दों में ध्वनि को आगे-पीछे कर देती है। दूसरे प्रकार के परिवर्तनों में अज्ञान भी कार्य करता है, पर अनुकरण की अपूर्णता का भी हाथ कम नहीं रहता। भोजपुरी प्रदेश के मुकदमेबाज लोगों में वकीलों के अनुकरण से 'कनेक्शन' शब्द प्रचलित हो गया है, पर उसका रूप बदलकर 'कनस्कन' हो गया है। इसमें अज्ञान के साथ अनुकरण की अपू-र्णता भी एक कारण है। कुछ देशी शब्दों का भी अनुकरण उच्चारण कठिन होने के कारण ठीक नहीं हो पाता। 'ब्राह्मण' का 'ब्राह्मन' हो जाना इसका सुन्दर उदाहरण है। 'ॐ नमः सिद्धम्' का लोकभाषाओं में 'ओनामासीधम' हो जाना भी अनुकरण की अपूर्णता के कारण ही हुआ है। अनुकरण की अपूर्णता प्रायः अज्ञान पर आधारित रहती है, अर्थात् जिन्हें शब्दों का ठीक ज्ञान नहीं रहता, वे ही पूर्ण या ठीक अनुकरण नहीं कर पाते। नीचे 'अज्ञान' शीर्षक में इसके कुछ और उदाहरण दिये गये हैं।

(४) अज्ञान—अज्ञान के कारण भी कभी-कभी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णता के साथ इसका योग हम ऊपर देख चुके हैं। देशी या विदेशी

किसी भी प्रकार के शब्द, जिनके विषय में हमें निश्चित ज्ञान नहीं है, अधिकतर अशुद्ध उच्चरित होने लगते हैं और ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अज्ञान के कारण लोग शब्दों का ठीक रूप समझ नहीं पाते और फल यह होता है कि उच्चारण का ठीक अनु-करण नहीं हो पाता और इस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित या विदेशी शब्दों में प्रायः इसी कारण ध्वनियों में परिवर्तन विशेष दिखाई पड़ता है। लोकभाषाओं में इसी से इंजीनियर का इंजियर, एक्सप्रेस का इस्प्रेस, ओवरसियर का ओसियर या ओंसियर, कम्पाउन्डर का कम्पोडर या कम्पोटर तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड का डिस्टींबोट हो गया है। इन परिवर्तनों में अज्ञान तथा अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त मुखसुख या इस प्रकार के अन्य कारणों का भी कुछ प्रभाव हो सकता है। अज्ञान के कारण ही लोग बहुत से विदेशी शब्दों में क़ को क, ज़ को ज, ख़ को ख आदि कर देते हैं।

(५) भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)—भ्रामक व्यु-त्पत्ति का सम्बन्ध भी अज्ञान या अशिक्षा से है। पर, साथ ही इसमें दो मिलते-जुलते शब्दों का होना भी आवश्यक है। भ्रामक व्युत्पत्ति में होता यह है कि लोग किसी अपरि-चित शब्द के संसर्ग में जब आते हैं और यदि उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उनकी भाषा में पहले से रहता है, तो उस अपरिचित शब्द के स्थान पर उस परिचित शब्द का ही उच्चारण करने लगते हैं और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अरबी का 'इंतिकाल' शब्द इसी कारण हिन्दी में 'अंतकाल' हो गया है। लोगों ने अंत (=आखिरी)—काल (=समय) समझ लिया और अर्थ में साम्य था ही, अतः 'अंतकाल' कहने लगे। इसी प्रकार लोकभाषाओं में 'लाइब्रेरी' (=पुस्तकालय) का 'रायबरेली', 'एडवांस' का 'अठवांस' (आठवां अंश), 'हू कम्स देयर' का 'हुकुम सदर', तथा पाउरोटी का पावरोटी (वह रोटी जो पाव भर की या बड़ी हो), 'आर्ट कॉलिज' का 'आठ कालिज', 'गार्डेन' का गर्दनिया (गर्दनिया बाग़=पटने में), 'मार्केट' का मर्कट (मर्कट बाज़ार=कटक में), 'हीराकुद' का हीराकुण्ड, 'क्रिसमस डे' का 'किसमिस डे' हो गया है। मेकेन्जी का 'मक्खनजी', बनर्जी का 'वानरजी', 'क्वा-र्टर गार्ड' का, 'कोतल गारद', तथा 'चार्ज शीट' का 'चार सीट' भी भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण ही बने हैं। माउंट आबू में एक स्थान का नाम अंग्रेजों ने sun-set point रखा था, अब उसे लोग 'सँसठ पँसठ' कहते हैं। जब हम लोग मिडिल में पढ़ रहे थे तो चेम्सफोर्ड को चिलमफोड़ कहा करते थे। हम लोगों ने सुन रखा था कि उसे धुएँ का शौक नहीं था। एक बार एक देहाती ने मुझसे पूछा था, 'क्यों बाबू मद्रास में कोई 'आन्हर' (आंध्र) देश है, क्या वहाँ के लोग अधिकतर 'आन्हर' (अन्धे) हैं जो उसका यह नाम है ?' आनरेरी मैजिस्ट्रेट के लिए देहात में 'अन्हेरी क साहब' और 'ऑनरेरी कोर्ट' के लिए 'अन्हेरी' प्रचलित है। उन लोगों का विश्वास है कि यहाँ पूरी 'अंधेर' (अन्हेर) होती है या अँधेरा (अन्हार) रहता है। बात कुछ है भी वैसी ही। ये लोग तनख्वाह तो लेते नहीं, अतः घूस आवश्यक हो जाता है और जहाँ घूस महाराज की सवारी

आई, अंधेरा (अन्हेरा) का आना आवश्यक ही है। भ्रामक व्युत्पत्ति में ध्वनि-साम्य के साथ यदि कुछ अर्थ-साम्य हो तो इसके घटित होने की सम्भावना और भी अधिक रहती है।

(६) बोलने में शीघ्रता—बोलने में शीघ्रता के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में लिखा तो जाता है 'पंडित जी', पर इसका शीघ्रता के कारण सर्वत्र ही और विशेषत: प्राइमरी या संस्कृत स्कूलों में उच्चारण 'पंडी जी' होता है। देहाती पत्रों में तो यह लिखा भी जाने लगा है। इसी प्रकार 'उन्होंने' का 'उन्ने' हो गया है। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में ऐसे शब्दों को स्थान दिया है। किन्ने, जिन्ने आदि भी प्रचलित हैं। जब ही, कब ही, अब ही तथा तब ही के जभी, कभी अभी और तभी भी इसी के उदाहरण हैं। 'इस ही' आदि का इसी, उसी, जिसी; या द्विवेदी का दुवेदी; 'दूध-दो' का 'दुद्दो', 'मास्टर साहब' का 'मास्साब' और 'मार डाला' का 'माड्डाला' हो गया है। इंगलैण्ड में 'थैंक्यू' (आपको धन्यवाद है) बेचारा व्यस्त जीवन की शीघ्रता में घिस-घिस कर केवल 'क्यू' रह गया है। अंग्रेजी के ओंट, डोंट, शांट तथा संस्कृत के स्वर या व्यंजन की विसर्ग-संधियों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन भी इसी के उदाहरण हैं।

(७) मुखसुख, उच्चारण-सुविधा या प्रयत्न-लाघव (Economy of Effort)—ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रधान कारण यही है। भाषा साध्य न होकर विचारों को व्यक्त करने का साधन मात्र है। अत: यह स्वाभाविक है कि हम कम से कम प्रयास से अपने भाव व्यक्त करने की चेष्टा करें। मुख को सुख देने के प्रयास में कभी-कभी हम किसी ध्वनि का कठिन होने के कारण शब्द विशेष में उच्चारण करना ही छोड़ देते हैं। अंग्रेजी में talk, walk, know, knife, night, psychology आदि में कुछ ध्वनियों का उच्चारण इसीलिए नहीं किया जाता; वहाँ उनके उच्चारण में जीभ को अविड़ प्राणायाम करना पड़ता है। कभी-कभी नयी ध्वनि भी उच्चारण-सुविधा के लिए जोड़ लेते हैं। इसीलिए स्कूल तथा स्टेशन को कुछ लोग तो इस्कूल तथा इस्टेशन और कुछ लोग सकूल तथा सटेशन कहते हैं। कभी-कभी ध्वनियों का स्थान भी परिवर्तित कर देते हैं, जैसे चिह्न से चिन्ह, ब्राह्मण का ब्राम्हण आदि। कभी-कभी प्रयत्न-लाघव के प्रयास में शब्दों को काट-छाँट कर इतना छोटा बना लिया जाता है कि पहचानना भी कठिन हो जाता है। गोपेन्द्र से गोविन, सपत्नी से सौत तथा अध्यापक से झा इसके अच्छे उदाहरण हैं। बोलने की इस सुविधा के विषय में कुछ निश्चय नहीं है। कहीं तो किसी एक ध्वनि को हटाने से सुविधा होती है, कहीं उसी को जोड़ना सुविधाजनक हो जाता है। कहीं संयुक्त ध्वनि में दो भिन्न ध्वनि को अनुरूप करना (धर्म=धम्म) पड़ता है और कहीं अनुरूप ध्वनि को भिन्न बना देना पड़ता (काक=काग, मुकुट=मउर) है। इसी को कुछ लोगों ने आलस्य नाम से भी पुकारा है। आलस्य नाम उचित नहीं जान पड़ता। शक्ति की मितव्ययिता को आलस्य नहीं कहा जा सकता और न धन की मित-

व्ययिता को कंजूसी। इस सम्बन्ध में यह संकेत्य है कि प्रयत्न-लाघव का अर्थ प्रयत्न की तेजी न होकर सरलता है।

(८) भावुकता—भावुकता के कारण भी शब्दों में पर्याप्त ध्वनि-परिवर्तन देखा गया है। विशेषतः लोक-प्रचलित व्यक्तिवाचक नाम तो अधिकांशतः इसी ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम हैं। दुलारी का दुल्लो, दुलिया, या दुल्ली, मुखराम का मुक्खू, बच्चा का बचाऊ, मुन्ना का मुन्नू तथा कुमारी का कुम्मो आदि इसी के उदाहरण हैं। सम्बन्ध-सूचक संज्ञाएँ अम्मा, चाची, बेटी प्यारपूर्ण भावुकता में ही अम्मी, चच्ची या चचिया तथा बिट्टो या बिट्टी आदि हो गई हैं। इसके कारण भाषा पर स्थायी प्रभाव पड़ता तो अवश्य है किन्तु अधिक नहीं।

(९) बनकर बोलना—बनकर बोलने का ध्वनि पर अस्थायी प्रभाव ही अधिक पड़ता है। बहुत से लोग कहना का 'केना', बैठो का 'बेटो', बहनों का 'बेनों', बहुत का 'बोत', आज का 'आज़', खाना का 'ख़ाना', शुभेच्छु का 'शुभेक्षु', छात्र का 'क्षात्र' तथा सुमिरना का 'शुमिरना' आदि बोलते हैं, पर इसका भाषा की ध्वनि पर स्थायी प्रभाव प्रायः संदिग्ध-सा है। यों ऐसा अनुमान लगता है कि हिन्दी का अखरोट और मखतूल जैसे शब्दों का अख़रोट और मख़तूल हो जाना, सम्भव है इसी से हुआ हो। इन दोनों ही शब्दों को 'ख़' ध्वनि के कारण ही प्रायः अरबी या फ़ारसी का समझते हैं*, पर यथार्थतः ये दोनों ही हिन्दी शब्द हैं और इनमें 'ख' ध्वनि परिवर्तित होकर 'ख़' हो गई है। इसके पीछे 'अज्ञान' एवं फ़ारसी प्रभाव का भी हाथ हो सकता है।

(१०) विभाषा का प्रभाव—एक राष्ट्र, जाति या संघ, दूसरे के सम्पर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी होता है। एक दूसरे की विशेष ध्वनियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। अफ्रीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं की क्लिक ध्वनियाँ समीप के अन्य भाषा-वर्गों को प्रभावित कर रही हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भारोपीय भाषा में टवर्ग नहीं था। द्रविड़ों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि-समूह में उसका प्रवेश हो गया। इसी कारण आरम्भिक वैदिक मंत्रों में इसका प्रयोग बहुत कम है, किन्तु बाद में इसका प्रयोग बहुत अधिक हो गया है (त आदि के स्थान पर ट आदि)।

(११) भौगोलिक प्रभाव—ध्वनियों पर भौगोलिक प्रभाव के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार यदि कोई जाति किसी स्थान से हटकर अधिक ठंडे स्थान पर बस जाती है, तो उसमें विवृत ध्वनियों का विकास नहीं होता और जो विवृत रहती हैं, उनका भी संवृत की ओर झुकाव होने लगता है। गर्म देश में जाने पर ठीक इसके उलटा ध्वनि-परिवर्तन होता है। जो लोग कहीं ऐसी जगह जाकर बस जाते हैं, जहाँ चारों ओर पहाड़ हों तो बहुधा अन्य लोगों से उनका सम्पर्क नहीं

---

*हिन्दी के एक प्रथम श्रेणी के विद्वान् के प्रथम श्रेणी के प्रबन्ध (थीसिस) में इन दोनों को इसी भ्रम से विदेशी शब्द कहा गया है।

होता और स्वतन्त्र रूप से वातावरण के अनुकूल, विना बाहरी व्याघात के उनकी ध्वनियों का धीरे-धीरे विकास होता है। इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना या उदाहरण देना तो सम्भव नहीं है, पर जव मानसिक विकास, शारीरिक विकास, धर्म तथा संस्कृति आदि सभी पर भौगोलिक प्रभाव पड़ता है, तो असम्भव नहीं है कि भाषा तथा भाषा-ध्वनि के विकास पर भी इसका प्रभाव पड़ता हो।

(१२) सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव—समाज की अवस्था के अनुसार भी ध्वनियों में परिवर्तन होता रहता है। यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दु:खपूर्ण वातावरण हो तो सामान्यत: लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है और अनेक प्रकार की असावधानियाँ होती हैं। इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर, शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है जिससे कुछ ध्वनियों का लोप सम्भव होता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है। इसके विरुद्ध यदि समाज में सुख-शान्ति रही तो विद्या का प्रचार रहेगा और इसके कारण लोग अधिक शुद्ध बोलने का प्रयास करेंगे, नवीन ध्वनियाँ जो अशुद्ध समझी जाती हैं, विकसित न हो सकेंगी। साथ ही जो थोड़ी विकसित हैं, उनका लोप भी सम्भव है। इसी स्थिति में सांस्कृतिक पुनरुत्थान भी होते हैं और इनका भी अपवाद-स्वरूप कभी-कभी ध्वनि पर प्रभाव पड़ता है। 'वाराणसी' वेचारा सदियों की यात्रा करके 'बनारस' बना था, पर सांस्कृतिक जागरूकता के प्रवाह में उसे फिर पीछे लौट कर २५ मई, १९५६ को 'वाराणसी' हो जाना पड़ा। अंग्रेजों ने कलिकाता को कलकत्ता और मुंबई को बम्बई कर दिया था, अब वे फिर अपना पूर्व रूप प्राप्त कर रहे हैं (कुछ सरकारी नक्शों में)।

(१३) लिखने के कारण—अंग्रेजी में गुप्त, मित्र, आदि लिखने में अन्त में (a) लिखने का प्रभाव यह पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मित्रा, मिश्रा आदि कहने लगे हैं, अपितु हिन्दी में भी यही लिखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बातचीत में 'बुद्ध' और 'अशोक' के स्थान पर 'बुद्धा' और 'अशोका' का भी प्रयोग करते सुने जाते हैं। 'सहस्र' में त्र का भ्रम होने से लोग 'सहस्त्र' और 'सहस्तर' कहने लगे हैं। देहरादून में 'सहस्रधारा' को लोग 'सहस्तर धारा' कहते हैं। कदाचित् उर्दू लिपि के कारण पंजावियों तथा मुसलमानों में राजेन्दर, इन्दरजीत जैसे उच्चारण चल पड़े हैं।

(१४) शब्दों की असाधारण लम्बाई—यह कारण अकेले कार्य न करके स्वराघात, शीघ्रता तथा उच्चारण-सुविधा आदि के साथ कार्य करता है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि लम्बे शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन अधिक होते हैं। असाधारण लम्बाई को सँभाल न सकने से लोग उसे छोटा कर देते हैं। 'अध्यापक' महाराज 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण भी बाध्य हुए हैं। 'जयरामजी की' का 'जैरम' हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं।

इसी कारण संक्षिप्त रूप भी चल पड़ते हैं। पाकिस्तान का 'पाक', युनाइटेट स्टेट आव अमेरिका का 'यू० एस० ए०' या इन्टा, इप्टा, यूनेस्को आदि उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं। 'पटियाला ईस्ट पंजाव स्टेट्स यूनियन' को 'पेप्सू' कहते थे। भारत-यूरोपीय का 'भारोपीय' तो अपना ही उदाहरण है। शुक्ल दिवस के लिए 'सुदि' या 'सुदी' (उजेला पक्ष) तथा बहुल कृष्ण दिवस के लिए 'वदी' के प्रयोग भी ऐसे ही हैं।

(१५) बलहीन व्यंजन का आधिक्य—बल के विचार से व्यंजनों के दो वर्ग[1] बनाये जा सकते हैं : (१) बली, (२) बलहीन। जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक होते हैं, उनमें ध्वनि-परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है। फ्रांसीसी विद्वान् वेन्द्रिये के अनुसार तो शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण भी कुछ ध्वनियाँ बलहीन हो जाती हैं, और बली व्यंजनों से उनका युद्ध आरम्भ हो जाता है और अन्त में बली ध्वनि परास्त करके उस बलहीन ध्वनि को निकाल बाहर करती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।

(१६) स्वाभाविक विकास या परिवर्तन—कुछ शब्दों की ध्वनियों में घिस कर स्वाभाविक विकास हो जाता है। प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है, उसी प्रकार शब्द भी। ध्वनियों के इस विकास को स्वयंभू (unconditional) विकास कहा जाता है। 'मया' से 'मैं' या 'वर्त्तते' से 'वा' या 'वाटे' का विकास ऐसा ही है। अकारण अनुनासिकता (सर्प से साँप या कूप से कुआँ) भी प्रायः स्वयंभू विकास है।

(१७) कविता में मात्रा, तुक या कोमलता के लिए परिवर्तन—मात्रा या तुक के लिए जानबूझ कर कवि लोग शब्दों में मनमाना ध्वनि-परिवर्तन ला देते हैं। रीति-काल (हिन्दी साहित्य) के कवियों में यह बात अधिक पाई जाती है। संत-साहित्य में भी इसकी कमी नहीं है। मात्रा ठीक करने के लिए किममति (कीमत), छेक उकुति (छेकोक्ति), हथ्यार (हथियार) तथा सत्थ (साथ) आदि का प्रयोग मिलता है। तुक के लिए धंका (धक्का), चंका (चक्का), नांदिया (नदी) तथा विकरार (विकराल) आदि जैसे प्रयोग भी प्रचलित रहे हैं। कुछ कवियों ने शब्दों को कोमल बनाने के लिए अप-भ्रंश वाली पद्धति का अनुसरण किया है और अन्तिम अकार को उकार में परिवर्तित कर दिया है। जैसे कमलु (कमल), डरियतु (डरयत) और बहुतु (बहुत) आदि। तुलसी में 'राय' का 'राया' तथा 'राई' आदि भी तुक के लिए ही किया गया है। कहना न होगा कि इसका भी प्रभाव भाषा पर प्रायः स्थायी नहीं माना जा सकता।

(१८) सादृश्य (Analogy)—कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। पैंतिस के सादृश्य पर सैंतिस में अनुनासिकता आ गई है। संस्कृत में द्वादश के सादृश पर एकादश भी एकदश हो गया। मुझ

१. बली=पंचवर्गों के प्रथम चार व्यंजन।
बलहीन=अनुनासिक, अन्तस्थ और ऊष्म।

(=मह्यं) का उकार तुभ्र (=तुभ्यं) के सादृश्य से है। 'देहात' से 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहरी' से 'शहराती' हो गया है। 'स्वर्ग' के सादृश्य पर 'नरक' 'नर्क' हो गया है।

सच पूछा जाय तो सादृश्य स्वयं कारण न होकर कार्य है। इसका भी प्रधान कारण सुगमता ही है, पर यहाँ पर सुगमता की प्राप्ति किसी विशेष शब्द के आधार पर होती है, अतः इसे अलग रख दिया गया है। इसी प्रकार सुक्ख का 'क्' दुक्ख (दुःख) के सादृश्य के कारण आ गया है। 'पिंगला' के सादृश्य पर 'इड़ा' का 'इंगला' या निर्गुण के कारण 'सगुण' का 'सर्गुण' मिलता है।

(१६) बलाघात—बलाघात के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। किसी ध्वनि पर बल देने में श्वास का अधिक भाग उसी के उच्चारण में व्यय करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि आसपास की ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं और धीरे-धीरे उनका लोप हो जाता है। 'अभ्यंतर' के बीच में बल है, अतः आरम्भ का 'अ' समाप्त हो गया और 'भीतर' बन गया। 'उपाध्याय' से 'ओझा' में भी यही बात है। पंजाबी लोगों के मुँह से इसी कारण बरीक (बारीक), बजार (बाजार), सहित्य (साहित्य), अलोचना (आलोचना) सुनाई पड़ता है। डाइरेक्टर और फाइनेन्स का उच्चारण बल के कारण ही डिरेक्टर और फिनेन्स हो गया है। अलावु का लाऊ और लौ (की) है। 'अस्ति' से 'है', 'तत्स्थाने' से 'तहाँ' आदि भी इसके उदाहरण हैं।

(२०) किसी विदेशी ध्वनि का अपनी भाषा में अभाव—जब कोई भाषा-भाषी किसी दूसरी भाषा के संपर्क में आता है और उस विदेशी भाषा में यदि कुछ ऐसी ध्वनियाँ रहती हैं जो उसकी अपनी भाषा में नहीं रहतीं तो प्रायः वह उधार लिये गये शब्दों में उन ध्वनियों के स्थान पर अपनी भाषा की उनसे मिलती-जुलती या निकटतम ध्वनियों का प्रयोग करता है और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। भारतीय भाषाओं में समय-समय पर यूनानी, ईरानी, जापानी, चीनी, तुर्की, अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा पुर्तगाली आदि भाषाओं के बहुत से शब्द लिये गये हैं और इन सभी में ऐसा हुआ है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। अंग्रेजी में ट तथा ड ध्वनि हिन्दी के ट, ड के समान न तो मूर्द्धन्य या तालव्य है और न त, द के समान दंत्य। ये वर्त्स्य हैं। अतः स्वभावतः उन अँग्रेजी शब्दों में जो हिन्दी में आये हैं, ये ध्वनियाँ या तो मूर्द्धन्य या तालव्य में परिवर्तित हो गई हैं, जैसे—

'रिपोर्ट' से 'रपट', 'डेस्क' से 'डिकस' या 'डेक्स'

या दंत्य में जैसे—

'ऑगस्ट' से 'अगस्त'; 'डेसंबर' से 'दिसम्बर'

इसी प्रकार अंग्रेजी के दंत्य-संघर्षी 'थ' तथा 'द' हिन्दी-उर्दू में दंत्य स्पर्श 'थ', 'द' तथा लोकभाषाओं में अरबी और अंग्रेजी आदि के क़ क, ख़ ख, ग़ ग, तथा ज़ ज हो गये हैं।

(२१) अंधविश्वास—अंधविश्वास के कारण भी कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। इसके उदाहरण अपवादस्वरूप ही कुछ मिलते हैं। हिन्दी का एक उदा-

हरण यहाँ दिया जा रहा है। 'गोभी' एक प्रसिद्ध तरकारी है। इसके आरम्भ में गो (=गाय) की ध्वनि है, अतएव पूर्वी जिलों में बहुत से धार्मिक लोग खाने वाली चीज़ होने के कारण इसे गोभी न कहकर कोभी या कभी-कभी 'कोवी' कहते रहे हैं, यद्यपि अब यह उच्चारण नहीं सुनाई पड़ता।[1]

परिवर्तन के स्वरूप या उनकी दिशाएँ

कारणों पर विचार करने के बाद उनके कार्य पर विचार करना होगा। कार्य से यहाँ आशय ध्वनि-परिवर्तन से है। ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं। प्रथम को स्वयंभू (unconditional, spontaneous या incontact) कहते हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अधिकतर ये भाषा के प्रवाह में हो जाते हैं और कहीं भी घटित हो सकते हैं। इनके लिए किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति (condition) की आवश्यकता नहीं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनि-परिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि अकारण संसार में कोई कार्य नहीं होता, पर अज्ञात कारण होने से इसे अकारण कहा जाता है। दूसरे प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन परोद्भूत (conditional या contact) कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले ध्वनि-परिवर्तन ऊपर दिये गये कारणों से प्रभावित होकर घटित होते हैं। यद्यपि भविष्य के लिए इनके विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु पहले वर्ग की अपेक्षा इनका अधिक विश्लेषण संभव हो सकता है। यहाँ प्रमुख रूप से इन्हीं पर विचार किया जायगा। प्रथम वर्ग के केवल दो-एक ही उदाहरण आनुषंगिक रूप से लिए जा सकेंगे।

(१) लोप (Elision)

कभी-कभी बोलने में मुखसुख, शीघ्रता या स्वराघात आदि के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप तीन प्रकार का सम्भव है: १. स्वर-लोप, २. व्यंजन-लोप, तथा ३. अक्षर-लोप।[2] आगे इनके और भी भेद-विभेद होते हैं। यहाँ इन सब पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

अ. स्वर लोप

आदि स्वर-लोप (Aphesis)—अनाज=नाज, उपायन=वायन, अगर=गर; अहाता=हाता, अमीर=मीर, अभ्यंतर=भीतर, एकादश=ग्यारह, अरघट्ट=रहँट, अतिसी=तीसी, esquire=squire, amuck=muck, असवार=सवार, अफ़साना=फ़साना, अपूप=पूप, पूवा।

(ख) मध्य स्वर-लोप (Syncope)—शाबास=सादस, do not=don't; storey-story।

---

१. कुछ लोग 'संधि' को भी ध्वनि-परिवर्तन का कारण मानते हैं। वस्तुतः यह कारण न होकर तेज बोलने, या उसी की परम्परा के कारण हुआ कार्य है।

२. अक्षर का अर्थ यहाँ syllable या लिपिचिह्न न होकर 'स्वर-व्यंजन का योग' है।

उच्चारण में हिन्दी में बहुत से शब्दों में मध्य स्वर का लोप हो गया है, पर अभी लिखा नहीं जाता। उदाहरणार्थ कुछ लिये जा सकते हैं—बलदेव=बल्देव, तरबूज=तर्बूज, लगभग=लग्भग, कृपया=कृप्या, कपड़ा=कप्ड़ा, हरदम=हर्दम।

इन लुप्त हो जाने वाले स्वरों को 'मध्यलोपी स्वर' (syncopic vowel) कहते हैं।

(ग) अन्त्य स्वर-लोप—मध्य की ही भाँति बोलने में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्दों का 'अ' स्वर भी लुप्त हो गया है, पर लिखने में अभी नहीं आता। इसके कारण धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द व्यंजनांत होते जा रहे हैं। कुछ उदाहरण—आम=आम्, तिल=तिल्, राम=राम्, परीक्षा=परख्, दिल=दिल्, मार=मार्, दाम=दाम्, शिला=सिल्, हम=हम्, चल=चल्, कमल=कमल्।

अंग्रेजी से इसके और स्पष्ट उदाहरण लिये जा सकते हैं। लैटिन और फ्रेंच के बहुत से शब्दों में अंग्रेजी में आने पर अन्त्य स्वर का लोप हो गया है। जैसे फ्रेंच affaire=अंग्रेजी affair, फ्रें० bombe=अं० bomb; लैटिन differo=अं० differ; लै० assisto=अं० assist.

आ. व्यंजन-लोप

(क) आदि व्यंजन-लोप—अंग्रेजी में उच्चारण की कठिनाई के कारण अनेक आदि व्यंजनों का बोलने में लोप हो चुका है, पर लिखाई में अभी वे चल रहे हैं। अमेरिका वालों ने तो कुछ ऐसी अनुच्चरित ध्वनियों को लिखना भी छोड़ दिया है—knife=nife, know=now, write=rite, gnaw=naw; knight=night, हिन्दी में भी अनेक संस्कृत शब्द अपने आदि व्यंजन खोकर आये हैं—स्थाली=थाली, स्थान=थान, स्थापना=थापना, श्मशान=मशान, स्कंध=कंधा।

(ख) मध्य व्यंजन-लोप—सूची=सूई, घरद्वार=घरबार, कपित्थ=कैथ, उत्तान=उतान, कोकिल=कोइल, कुलत्थ=कुलथी। प्राकृतों की तो यह एक विशेषता थी, अतः उनमें अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। वचन=वअण, सागर=साअरो, नगर=णअर, प्रिय=पिअ। हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में भी पर्याप्त संख्या में इसके उदाहरण मिलते हैं। वुद्ध=वुध, भूमिहार=भुँइहार, ज्वर=जर, डाकिन=डाइन, कायस्थ=कायथ, उपवास=उपास, ब्राह्मण=बाम्हण, गर्भिणी=गाभिन, कार्तिक=कातिक, सन्देश=सनेस। अंग्रेजी में उच्चारण में कुछ व्यंजनों का लोप हो गया है, यद्यपि वर्तनी(spelling)में अभी वे लिखे जाते हैं—walk, वाक, talk, टाक, right राइट, night, नाइट, daughter, डाटर।

(ग) अन्त्य व्यंजन-लोप—इसके उदाहरण बहुत कम भाषाओं में मिलते हैं। अं० water, father, bomb के उच्चारण वाटअ, फादअ और बॉम् हैं। अं० के big, do, den क्रमशः bigg, don, denn से निकले हैं। सं० पश्चात्, यावत् सम्यक् प्राकृत में क्रम से पच्छा, जाव और सम्मं हो गये हैं। अं० Command—हि० कमान् (कांग्रेस हाई कमान); bomb—बम (उच्चारण)।

ई. अक्षर-लोप

(क) आदि अक्षर-लोप (Apheresis)—इसके उच्चारण भी अधिक नहीं मिलते। necktie से tie, university से varsity, अध्यापक से झा, defence से fence, आदित्यवार—इत्तवार, इतवार।

(ख) मध्य अक्षर-लोप—गेहूँ-जव = गोजई, नीलमणि = नीलम, शादबाश = शाबाश, भाण्डागार = भंडार, पर्यंकग्रंथि = पलथी, गोहूँचना = गोचना, वरुजीवी = वरई, राजकुल्य = राउर, फलाहारी = फलारी, दस्तखत से दस्खत।

(ग) अंत्य अक्षर-लोप (Apocope)—माता = माँ, विज्ञप्तिका = विनती, भ्रातृजाया = भावज, मौक्तिक = मोती, कर्तरिका = कटारी, निम्बुक = नीबू, जीव = जी, दीपवर्तिका = दीवट, कुंचिका = कुंजी, सपादिक = सवा, यज्ञोपवीत = जनेऊ, व्यंग्य = व्यंग।

(घ) समध्वनि या समाक्षर-लोप (Haplology)—लोप के अन्तर्गत उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त एक और लोप आता है, जिसे अंग्रेजी में Haplology कहते हैं। यह नाम अमेरिकन भाषाविज्ञानी ब्लूमफील्ड का दिया हुआ है। Haplology में दो शब्द हैं: (१) ग्रीक शब्द haploos जिसका अर्थ single या 'एक' है। (२) शब्द logose जिसका अर्थ है 'जानना'। इस प्रकार इसका अर्थ है 'एक को जानना'। इसमें होता यह है कि किसी शब्द में यदि एक ही ध्वनि, अक्षर या अक्षर-समूह दो बार आयें तो एक का लोप हो जाता है। मानव-मस्तिष्क सम्भवतः एक ही अक्षर या अक्षर-समूह का एक साथ दो बार उच्चारण नहीं करना चाहता, अतः एक को छोड़ देता है। इस छोड़ने को ही समाक्षर-लोप या समध्वनि-लोप कहते हैं। सभी भाषाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ—स्वर्ग + गंगा = स्वर्गंगा, नाककटा = नकटा, खरीददार = खरीदार, नाटककार = नाटकार, संवाददाता = संवादाता, शेववृधः = शेवृध, camelleopard = cameleopard, parttime = partime, तुवीरववान् = तुवीरवान्, शष्पपिंजर = शष्पिंजर, जहीहि = जहि, cinemamatinee = cinematinee.

कभी-कभी ध्वनि या अक्षर पूर्णतः एक ही न होकर उच्चारण में मिलते-जुलते हों, तब भी एक का लोप हो जाता है। कृष्णनगर = कृष्नगर, मधुदुध = मदुध, आदत्त = अत्त। इसके 'समव्यंजन-लोप', 'समस्वर-लोप' और 'समाक्षर-लोप' तीन उपभेद भी किये जा सकते हैं।

(२) आगम

लोप का उलटा आगम है। इसमें कोई नई ध्वनि आ जाती है। उच्चारण-सुविधा ही इसका भी प्रधान कारण है। लोप की भाँति ही इसके भी कई भेद होते हैं—

(क) आदि-स्वरागम (Prothesis)—इसमें शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। बहुधा यह स्वर ह्रस्व होता है। फ़ारसी और फ्रेंच के लगभग सभी ऐसे

शब्दों में आदि स्वरागम हो जाता है, जिनके आरम्भ में ऊष्म (स, श, ष आदि) ध्वनियाँ होती हैं। हिंदी और अंग्रेजी में भी यह प्रकृति कुछ दिखाई पड़ती है। जैसे स्कूल=इस्कूल, लैटिन schola, फ्रेंच escole (स्कूल), स्पोर्ट=इस्पोर्ट, स्काट=इस्काट, स्टेशन=इस्टेशन, सं० स्त्री=प्राकृत इत्थी। स्नान=अस्नान, स्तुति=अस्तुति, स्तबल=अस्तबल। कोई आवश्यक नहीं है कि सर्वदा ऊष्म के पूर्व ही स्वर आयें। अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। लोप=अलोप, प्लेटो=अफ़लातून, बिरथा=अँबिरथा, कलंक=अकलंक, प्रबल=अपरबल, न्हाना=अन्हाना, सवारी=असवारी। आदि स्वरागम को कुछ लोग 'प्रागुपजन', या 'पुरोहिति'* भी कहते हैं।

(ख) मध्य-स्वरागम (Anaptyxis)—अज्ञान, आलस्य, या बोलने के सुभीते के लिए कभी-कभी बीच में भी स्वर आ जाते हैं। ऐसे शब्द जिन्हें उत्तर प्रदेश के लोग आदि स्वरागम द्वारा बोलने के लिये आसान बनाते हैं, पंजाबी लोग प्रायः उन्हें मध्य-स्वरागम द्वारा आसान बनाते हैं। जिन लोगों ने पंजाबियों को बोलते सुना है, वे सकूल सटूडेंट, सनान, सप्रिंग आदि मध्य-स्वरागम वाले शब्दों से अपरिचित नहीं हैं।

संस्कृत में भी पृथ्वी=पृथिवी तथा इंद्र=इंदर जैसे कुछ उदाहरण मिलते हैं। आज की ग्रामीण बोलियों में र् के साथ मध्य-स्वरागम खूब मिलता है। मर्म=मरम, अर्थ=अरथ, शर्म=सरम, पूर्व=पूरब, धर्म=धरम, कर्म=करम, पर्व=परब, गर्म=गरम, प्रजा=परजा।

अन्य प्रकार के उदाहरण हैं—स्वर्ण=सुवर्ण, जन्म=जनम, स्वाद=सवाद, मंडी=मंडई, दूज=दुइज, बैल=बेइल, भक्त=भगत, युक्ति=जुगुति, हुक्म=हुकुम, रक्त=रकत।

इसे स्वर-भक्ति भी कहते हैं। यों तो संस्कृत में स्वर-भक्ति का अन्य अर्थों में भी प्रयोग मिलता है, किन्तु सामान्यतः संयुक्त व्यंजनों के बीच उच्चारण की असुविधा दूर करने के लिये किसी स्वर के आगम को स्वर-भक्ति कहते हैं। इसे विप्रकर्ष (diaeresis) या युक्तविकर्ष भी कहा गया है। 'अपनिहिति' भी एक प्रकार का स्वरागम ही है, जिस पर आगे 'विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन' शीर्षक के अंतर्गत विचार किया गया है।

(ग) अन्त-स्वरागम—यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। जर्मन agon से अंग्रेजी agony, marl से marle, दवा से दवाई तथा पत्र से पतई आदि कुछ उदाहरण हैं।

(घ) समस्वरागम (epenthesis) पर आगे 'विशेष परिवर्तन' में विचार किया गया है।

---

*इस सम्बन्ध में विस्तार से आगे 'विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन' शीर्षक के अन्तर्गत देखिये।

आ. व्यंजनागम

(क) आदि-व्यंजनागम—इस आगम के उदाहरण कम मिलते हैं। इसकी कमी का स्पष्ट कारण यह है कि नये व्यंजनों को आदि में लाने से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की दृष्टि से कोई सुविधा नहीं होती। कुछ उदाहरण अवश्य हैं—ओष्ठ=होंठ, अस्थि=हड्डी, उल्लास=हुलास, औरंगाबाद=नौरंगाबाद, सं० अंसली=हंसली।

(ख) मध्य-व्यंजनागम—इनके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं—जेल=जेह्ल; हमेशा=हरमेसा; वानर=वन्दर; सयन सम्मन; पण=प्रण; टाल-टूल=टालमटोल; लाश=लहाश; डेढ़ा=डेवढ़ा; panel= pannel; मुनरी=मुन्दरी; समुद्र=समुन्दर; शाप=श्राप; सुनर=सुन्दर; सुख=सुवख; वियोग=विरोग; पसन्द=परसन्द।

(ग) अंत-व्यंजनागम—चील=चील्ह (भोजपुरी); कल=कल्ह; भौं=भौंह, उमरा=उमराव्; (फ्रेंच) cautio=(अंग्रेजी) caution; (अरबी) तिलस्म=(अंग्रेजी) talisman; (फारसी) देह=(हिन्दी) देहात्; रंग=रंगत्; (अरबी) करिया (गाँव)=करियात् (भोजपुरी); तारा=(कश्मीरी) तरुख्; परवा=परवाह्।

इ. अक्षरागम

(क) आदि-अक्षरागम—गुंजा=घुंघुची (भोजपुरी)।

(ख) मध्य-अक्षरागम—खल=खरल; आलस=आलकस, आलसी=आलकसी।

(ग) अन्त्य-अक्षरागम—आँख=आँखड़ी; (अरबी) फ़ना=(कश्मीरी) फ़नायि; वधू=वधूटी; जीभ=जीभड़ी; आँक=आँकड़ा; (अरबी) वला=(भोजपुरी) बलायि; मुख=मुखड़ा।

(३) विपर्यय (Metathesis)

इसे 'परस्पर-विनिमय', 'वर्ण-व्यत्यय' आदि अन्य नाम भी दिये गये हैं। इसमें किसी शब्द के स्वर, व्यंजन या अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और दूसरे स्थान के पहले स्थान पर आ जाते हैं; 'जैसे अमरूद' से 'अरमूद'। यहाँ 'म्' और 'र्' व्यंजनों ने एक दूसरे का स्थान ले लिया है। यदि पास-पास की ध्वनियाँ एक दूसरे का स्थान लेती हैं तो 'पार्श्वर्ती विपर्यय' होता है, अन्यथा 'दूरवर्ती विपर्यय'। स्वर, व्यंजन अक्षर के आधार पर इसके कई भेद हो सकते हैं। कुछ उदाहरण हैं: भोजपुरी में चहुँपना, डेवस; पंजाबी में चीकड़ (कीचड़), काचू, मतवल; मैथिली में कहचरी (कंचहरी) आदि।

अ. स्वर-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय—इंडो (अफ्रीकी भाषा) में lic=lci (=बनाना)

(ख) दूरवर्ती स्वर-विपर्यय—कछु=कुछ; अम्लिका=इमली; पागल=पगला; अनुमान=उनमान।

आ. व्यंजन-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती व्यंजन-विपर्यय—चिह्न=चिन्ह; ब्राह्मण= बाम्हन; सिग्नल =सिगल; ब्रह्म=ब्रम्ह, लेक्चर=लेचकर; डेस्क=डेक्स।

(ख) दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय—अमरूद=अरमूद; तमगा= तगमा; महाराष्ट्र =मरहठा; मुकलचा=मुचलका; वाराणसी बनारस; खुरदा=खुदरा।

इ. अक्षर-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय—वफ़र (अवेस्ता)=(फ़ारसी) बरफ़; अज्रक (अरबी)=(उर्दू) अरज़क (नीला); मतलब= मतबल।

(ख) दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय—लखनऊ=नखलऊ ; पहुँचना=चहुँपना (भोजपुरी)।

ई. एकांगी विपर्यय

वेन्द्रिये ने ऐसे परिवर्तनों को भी विपर्यय माना है, जिनमें कोई एक स्वर, व्यंजन या अक्षर अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह पर चला जाता है, पर उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। इसके भी स्वर, व्यंजन और अक्षर के आधार पर तीन भेद हो सकते हैं। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं; पुर्तगाली भाषा में Festra का Fresta (खिड़की), ब्रिटन की बोली में Debri (खाना) का Drebi; उल्का=लूका; बिन्दु=बूँद।

उ. आद्य शब्दांश-विपर्यय (Spoonerism)

कभी-कभी साथ के दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है, जैसे घोड़ा-गाड़ी का गोड़ा-घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत-सी पड़ जाती है। आक्सफोर्ड के डॉ० डब्ल्यू० ए० स्पूनर (१८४४-१९०३) से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज्म कहते हैं। स्पूनर साहब के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। Loving Shepherd के स्थान पर Shoving Leopard, Two bags and a rug के स्थान पर Two rags and a bug. एक बार स्पूनर साहब ने बिगड़ कर एक विद्यार्थी से कहा—You have tasted a whole worm (wasted a whole term)। हिन्दी उदाहरण के लिए 'कड़ी बिताब' (बड़ी किताब), 'चाल दावल' (दाल चावल) आदि लिये जा सकते हैं। किसी ने पूछा—आपकी घड़ी में क्या बजा है? उत्तर था—चौबजकर नालिस मिनट। इसे ध्वनि-सम्मिश्रण (phonetic contamination) भी कहा जाता है। इसमें कभी-कभी तो केवल स्वर-विपर्यय ही होता है, जैसे चूल्हा-चौका से चौल्हा-चूका या नून-तेल का नेन-तूल आदि। यह केवल बोलने में हो जाता है। भाषा पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। (हिन्दी के सारे उदाहरण समझाने के लिए कृत्रिम रूप से बना लिए गए हैं)

(४) समीकरण* (Assimilation)

इसमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है, जैसे संस्कृत

*सावर्ण्य, सारूप्य तथा अनुरूपता भी इसके नाम हैं।

'चक्र' से प्राकृत 'चक्क' हो गया है। यहाँ क् ने र् को प्रभावित करके क् बना लिया। समीकरण मुख्यतः बोलने की सुविधा की दृष्टि से होता है। समीकरण दो प्रकार का होता है—१. व्यंजन का, और २. स्वर का। आगे इन दोनों के ही दो-दो भेद होते हैं—(क) पुरोगामी, (ख) पश्चगामी। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती विभेद भी हो सकते हैं।

अ. व्यंजन

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण (Incontact Progressive Assimilation)—इसमें दो ध्वनियां पास-पास न रहकर दूर-दूर रहती हैं, और पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। 'कचवच' या 'कचपच' से 'कचकच' या 'खटपट' से 'खटखट' समझने के लिए माना जा सकता है। 'विलपैना' का आजकल का उच्चारण 'बिलबना' की ओर जा रहा है। संस्कृत का शब्द 'भ्रष्ट' कुछ ग्रामीण बोलियों में 'भरभट' हो गया है।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण (Contact Progressive Assimilation)—इसमें ध्वनियाँ पास-पास होती हैं। इसके उदाहरण प्राकृत में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं : चक्र=चक्क; पद्म=पद्द; व्याघ्र=वग्घ; मुक्त=मुक्क; लग्न=लग्ग; यस्य=जस्य; तक्र=तक्क; वक्र=वक्क, हिन्दी में 'चक्र' से चक्का तथा 'पत्र' से 'पत्ता' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण (Incontact Regressive Assimilation)—इसमें दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते। लैटिन Pequo=Quequo; Pipue=Quique, सरकट=करकट; नील=लील; लकड़बग्घा=बगड़बग्गा।

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण (Contact Regressive Assimilation)—इसके उदाहरण प्राकृत में बहुत अधिक मिलते हैं। कर्म=कम्म; धर्म=धम्म; सर्प=सप्प; दुग्ध=दुघ्घ (दुद्ध); भक्त=भत्त; श्रेष्ठ=सेठ्ठ; दुर्गा=दुग्गा।

हिन्दी में भी शर्करा=सक्कर या कलक्टर=कलट्टर जैसे कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।

आ. स्वर

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण—ऊपर के व्यंजन-नियम की भाँति इसमें भी प्रथम स्वर दूसरे को प्रभावित करता है।

जुल्म=जुलुम; सूरज=सुरुज; खुरपी=खुरुपी; पिपीलिका=पिपिलिका

इस (is)=इज़ (iz), इसमें 'इ' घोष थी, उसने अघोष व्यंजन (स) को प्रभावित करके घोष (ज़) बना लिया। यहाँ स्वर ने व्यंजन को प्रभावित किया है।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण—साधारणतया शब्द में स्वर पास-पास नहीं रहते। अधिकतर दो स्वरों के बीच में एक व्यंजन पाया जाता है। प्राकृत की

अंतिम अवस्था में अधिकतर शब्दों में स्वर-प्राधान्य था। यदि खोज हो तो इसके उदाहरण उस काल के साहित्य में मिल सकते हैं। समझने के लिए कल्पित उदाहरण लिये जा सकते हैं। अउर=अअर, आइए=आइइ।

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण—अँगुलि=उँगली; इक्षु—उक्खु; असूया=उसूया; आदमी=अदमी; अदिमी=इदिमी।

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण—पुरोगामी की ही भाँति इसके उदाहरण भी नहीं मिलते। भोजपुरी में शीघ्रता से बोलने में 'कब अइल ह' का 'कइ इइल ह' हो जाता है। इसे हम उदाहरण मान सकते हैं।

इ० अपूर्ण समीकरण

ऊपर के उदाहरण पूर्ण समीकरण के थे। कभी-कभी अपूर्ण समीकरण भी होता है: नागपुर=नाक्पुर, bags=bagz, डाकघर= डाग्घर।

ई० पारस्परिक व्यंजन-समीकरण (Mutual Assimilation)

उपर्युक्त आठ प्रकार के समीकरणों के अतिरिक्त एक और प्रकार का भी समीकरण होता है। इसे हम अधिकतर व्यंजनों में पाते हैं। दो पार्श्ववर्ती व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा व्यंजन वहाँ आ जाता है। जैसे विद्युत्=बिजली; सत्य=सच, साच; कर्तरिका=कटारी; बुद्धि=बूझ; सार्द्ध=साढ़े; अनाद्य=अनाज; युद्ध=जूझना; वाद्य=बाजा।

(५) विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण का उलटा है। इसमें दो एक-सी ध्वनियों में, एक ध्वनि किसी समान ध्वनि के प्रभाव से अपना स्वरूप छोड़ कर दूसरी बन जाती है। इसका प्रमुख कारण सुनने वाले की ध्वनि पहिचानने की सुविधा है। इसके भी व्यंजन तथा स्वर दो भेद तथा कई विभेद हो सकते हैं। भाषाओं में विषमीकरण की प्रवृत्ति मैं नहीं मानता और उसके सारे उदाहरण सरलता से घोषीकरण आदि में रखे जा सकते हैं।

अ. व्यंजन

इसके दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) पुरोगामी विषमीकरण—जब प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी कहते हैं। लांगूली=लंगूर; काक=काग; कंकण=कंगन; लैटिन turtur=अंग्रेजी turtle; लैटिन marmor=marble.

(ख) पश्चगामी विषमीकरण—इसमें प्रथम व्यंजन में विकार होता है। नवनीत=लयनू; पुर्तगाली lelloo=नीलाम; दरिद्र=दलिद्दर; सावस (शावाश)=चावस।

आ. स्वर

व्यंजन की भाँति स्वरों में भी विषमीकरण देखा जाता है—

(क) पुरोगामी विषमीकरण—तिलक=टिकली; पुरुष=पुरिस।

(ख) पश्चगामी विषमीकरण—मुकुट=मउर, नूपुर=नेउर; Kaleb (कुत्ता)=Keleb; मुकुल=बउर ।

(६) संधि

इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ नियमों का विवेचन किया गया है। ये नियम स्वर-व्यंजन दोनों ही के सम्बन्ध से बने हैं। हिंदी में भी कुछ सन्धियों की प्रवृत्ति बोलने में दिखाई पड़ रही है। 'दूध दो' को 'दुद्दो' कहा जाता है, किन्तु इसे समीकरण कहना अधिक समीचीन होगा। इन सबके अतिरिक्त भी भाषा के स्वाभाविक विकास में एक प्रकार की सन्धियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ व्यंजन (प, व, म, य आदि) उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले के व्यंजन में मिल जाते हैं। कभी-कभी इससे ध्वनियों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि साधारणतया समझ में नहीं आता। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

सपत्नी=सवत=सउत=सौत
शत=सत=सव=सउ=सौ
नयन=नइन=नैन
चामर=चँवर चँउर=चौंर
समर्पयति=समप्पेइ=सवँप्पेइ=सौंपे

(७) ऊष्मीकरण (Assimilation)

कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती हैं। केन्तुम वर्ग की भाषाओं की 'क' ध्वनि सतम् वर्ग में ऊष्मीकृत है। इसी आधार पर भारोपीय भाषाओं के केन्तुम् और सतम् दो वर्ग बनाये गये हैं।

(८) स्वतः अनुनासिकता (Nazalization)

शब्दों के विकास में अनुनासिकता दो प्रकार की आ सकती है: (क) सकारण—कंपन-काँपना, चन्द्र-चाँद; (ख) अकारण—भ्रू-भौं। इस दूसरे प्रकार में हम पाते हैं कि बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अनुनासिकता आ जाती है। उदाहरणार्थ, 'सर्प' से 'साँप'। यहाँ मूल शब्द में अनुनासिकता नहीं थी, किंतु 'साँप' में है। इसी को स्वतः या अकारण कहते हैं। अकारण नाम होते हुए भी यह सोचना अन्यथा न होगा कि दुनियाँ में अकारण शायद कुछ नहीं होता। इसी लिए इनके कारण की चर्चा की गई है और उस के संबन्ध में विवाद है: (क) कुछ लोगों के अनुसार यह द्रविड़ प्रभाव है। (ख) कुछ लोग इसे अकारण या स्वयंभू मानते हैं। (ग) ब्लाक और टर्नर के अनुसार स्वर की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप ऐसा हुआ है। ये लोग मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल से ही इस प्रकार की अनुनासिकता मानते हैं। (घ) ग्रियर्सन इसे आधुनिक काल की प्रवृत्ति मानते हैं, किंतु इनके द्वारा दिया गया कारण ब्लाक और टर्नर से बहुत भिन्न नहीं है। इनके अनुसार प्राकृत-काल के बाद आधुनिक काल में जब स्वर

दीर्घ होने लगे (सर्प-सप्प-साँप) तो यह प्रवृत्ति चली। (ङ) चटर्जी म० भ० आ० काल में इसे कुछ क्षेत्रों की विशेषता मानते हैं। उनके अनुसार इसीलिए कुछ शब्द में दोनों रूप (पक्खी, पङ् खी, सं० पक्षी) मध्य काल में मिलते हैं। (च) मैं उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं हूँ और मेरे विचार में ऐसा मुखसुख के कारण हुआ है। हवा का सहज मार्ग नाक है, अतः अनुनासिक ध्वनि का उच्चारण अधिक सहज एवं सरल है। साँप-साप, आप-आँप का उच्चारण करके अनुनासिक स्वर वाले शब्द में उच्चारण के कम प्रयास का अनुमान लगाया जा सकता है। अनुनासिक ध्वनि ही हमारे लिए स्वाभाविक तथा आसान है, और इसीलिए कहीं-कहीं उसका अनजाने विकास हो जाता है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। सर्प=साँप; उष्ट्र=ऊँट; सत्य=साँच; यूक=जूँ; कूप=कुआँ; अश्रु=आँसू; श्वास=साँस; भ्रू=भौं;—बाँका, बेंत, काँपी, काँख, ऊँचा, ईंट, आँख भी।

आज भी कुछ शब्दों में अनुनासिकता आ रही है, यद्यपि लिखने में अभी हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया है। आम=आँम; राम=राँम; हनुमान—हँनुँमाँन; काम=काँम। कहना न होगा कि इन शब्दों में यह अकारण नहीं है, अपितु पास की नासिक्य ध्वनि के प्रभावस्वरूप है।

(९) मात्रा-भेद

इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। इन्हें स्वयंभू नहीं कहा जा सकता। स्वराघात का इन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके भी कई भेद हो सकते हैं।

(क) दीर्घ से ह्रस्व—नारंगी=नवरंगी, नरंगी; आलाप=अलाप; शून्य=सुन्न; आषाढ़=असाढ़; आभीर=अहिर; पाताल=पताल; आवाँ=अवाँ; वानर=बन्दर; ऑगस्ट (August)=अगस्त; आफ़िसर=अप्सर; आराम=अराम; आकाश=अकास; आश्चर्य=अचरज; बादाम=बदाम।

(ख) ह्रस्व से दीर्घ—प्रिय=पीव; अक्षत=आखत; चिह्न=चीन्हा; अंकुश=आँकुस; कल=काल्ह; कंटक=काँटा; लज्जा=लाज; स्कंध=कंधा; पुत्र=पूत; अद्य=आज; जिह्वा=जीभ; भक्त=भात; काक=कागा; हरिण=हिरना; गुरु=गुरू। इनमें अधिकांश की दीर्घता क्षतिपूरक है।

(१०) घोषीकरण (Vocalization)

कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं। ऐसा करने में प्रायः उच्चारण-सुविधा होती है। सकल=सगल, सगरो; प्रकट=परगट; मकर=मगर; शाक=साग; एकादश=एगारह; विपत्ति=बिपति; प्रकाश=परगास; थूक=घुग्घू; कंकण=कंगन; काक=काग, कागा; शती=सदी।

(११) अघोषीकरण (Devocalization)

इसमें घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं। साधारणतः इसके उदाहरण अधिक

नहीं मिलते। अदद—अदत; मदद—मदत, खर्ज—खर्च। पैशाची प्राकृत की यह प्रधान विशेषता थी। उसमें इसके उदाहरण मिलते हैं। नगर—नकर; गगन—गकन; वारिद—वारित, मेघ—मेख।

भोजपुरी में डंडा और खूबसूरत के स्थान कहीं-कहीं 'डंटा' और 'खपसूरत' कहते हैं। ये भी अघोषीकरण के सुन्दर उदाहरण हैं।

(१२) महाप्राणीकरण (Aspiration)

कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं। वाष्प—वाफ, पृष्ठ—पीठ; वृश्चिक—बिच्छू; किश्मिश—मराठी खिसमिस; गृह—घर; ग्रहण—घिरना; धृष्ट—ढीठ; शुष्क—सूखा; हस्त—हाथ; वेप—भेप।

कश्मीरी भाषा में अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत 'क', 'त', 'द', 'प' प्रायः 'ख'; 'थ', 'ध', 'फ' हो गये हैं, जैसे तख्त का तख्थ। इसको भी पूर्णतः स्वयंभू नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अधिकतर ऐसा परिवर्तन उन्हीं शब्दों में होता है जिनमें 'ह' या ऊष्म आदि ध्वनियाँ हो। यों इसके अपवाद भी मिलते हैं; कल्य—काल्ह; परशु—नेपाली फर्सा; तप—कश्मीरी तफ; ताक—ताखा; तंत्र—कश्मीरी तंथ; तुजुक—कश्मीरी तुजुख।

(१३) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)

कुछ शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण भी हो जाता है। ग्रेसमैन नियम, जिसका आगे ध्वनि-नियम शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन है, में भी ये ही बातें पाई जाती हैं। भोधामि—बोधामि; सिन्धु—हिन्दु; व्याधि—कश्मीरी वोद; धधामि—दधामि; विधि—कश्मीरी व्यद; युद्ध—कश्मीरी य्वद्; स्वादिष्ठ—स्वादिष्ट; श्रेष्ठ—श्रेष्ट; वसिष्ठ—वसिष्ट; बलिष्ठ—बलिष्ठ; भूख—भूक; हाथ—हात।

विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन

कुछ विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन भी भाषाओं में मिलते हैं। इनके बारे में सभी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यहाँ इनका सामान्य और संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इन परिवर्तनों का अब मात्र ऐतिहासिक महत्व है। पीछे व्यवस्थित रूप में दिये गये परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अभिश्रुति (Umlaut या Vowel Mutation)

अपश्रुति, अपिनिहिति और पुरोहिति की भाँति ही 'अभिश्रुति' नाम के प्रयोग के बारे में भी भाषाविज्ञानवेत्ताओं में मतैक्य नहीं है। यों Umlaut नाम ग्रिम का दिया हुआ है। इसका सामान्य अर्थ है—शब्द के किसी आंतरिक स्वर में बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर (अन्य गुण वाला, मात्रा वाला नहीं) के कारण परिवर्तन। पेई आदि कुछ विद्वानों के अनुसार कोई अन्य स्वर, अर्द्धस्वर या व्यंजन के कारण भी कभी-कभी यह परिवर्तन हो जाता है। ब्लूमफील्ड और ग्रे इसे स्वर का पश्चगामी समीकरण मानते हैं।

अभिश्रुति जर्मन की एक प्रमुख विशेषता है। इसमें कभी तो एक स्वर दूसरे के पूर्णतः अनुरूप हो जाता है, कभी पूर्णतः अनुरूप न होकर भी प्रकृति के समीप पहुँच जाता है। प्राचीन जर्मन +harja, मध्यकालीन जर्मन haria, पुरानी अँग्रेजी here (सेना)। यहाँ j के कारण a बदलते-बदलते e हो गया। +gudini, पुरानी अँग्रेजी gyden (देवी)। यहाँ i ने u को प्रभावित करके y कर दिया। जर्मन-अँग्रेजी में अगले अक्षर के 'i' स्वर के कारण a, u, ea क्रम से e, y, ie में परिवर्तित हो गये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार बँगला में भी यह प्रवृत्ति है। मध्य बंगाली हारिया, आधु० बंगाली हेरे (खोकर)। अभिश्रुति में यह भी द्रष्टव्य है कि प्रभावित करने वाला स्वर भी समाप्त हो जाता है। पश्चगामी समीकरण और इसमें यही थोड़ा अन्तर है। यों शुद्ध पश्चगामी समीकरण को भी ग्रे आदि इसके अन्तर्गत रखते हैं। अपिनिहिति के साथ भी कभी अभिश्रुति देखी जाती है। परिवर्तन होने के पहले अपिनिहित स्वर आ जाता है।

Mani, maini, men.

बँगला Karia, Kairia, K're, Kore (करके)

इस प्रकार की अपिनिहिति-अभिश्रुति प्राकृतों में भी मिलती है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बँगला तथा सिंहली में ही अभिश्रुति विशेष रूप से मिलती है।

अपिनिहिति (Epenthesis या Paraptyxis)

भाषाविज्ञान की पुस्तकों में 'अपिनिहिति' का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया गया है। ग्रे तथा पेई आदि कुछ विद्वान् इसे मात्र 'आगम' के अर्थ में (भी) प्रयुक्त करते हैं। ग्रे इसके व्यंजनीय अपनिहिति (consonantal epenthesis) और स्वरीय अपनिहिति (vocal epenthesis) दो भेद करते हैं, और फिर इसके विभिन्न भेदों पर विचार करते हैं। कहना न होगा कि यह अपिनिहिति का व्यापकतम रूप है और इसमें सभी प्रकार के आगम समाहित हो जाते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इससे मिलते-जुलते अर्थ में 'अक्षरापिनिहिति' का प्रयोग किया है। गुणे ने भी इसे प्रायः इसी अर्थ में लिया है और इसे 'अक्षर' (syllable) या वर्ण का किसी शब्द में या उसके आरम्भ में 'आगम' कहा है। किन्तु इसके (कुछ अपवादों को छोड़कर) जो उदाहरण अधिकांश पुस्तकों में दिये गये हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रयोग आगम (insertion) जैसे विस्तृत अर्थ में करना अपेक्षित नहीं है। जैसा कि डॉ० चटर्जी तथा तारापोरवाला आदि ने माना है, यह एक प्रकार का स्वरागम है। उच्चारण-सुविधा के लिए इसमें कोई स्वर आ जाता है। यह पूर्वश्रुति के रूप में होता है। किन्तु साथ ही अपिनिहिति के लिए यह भी आवश्यक है कि शब्द में आने वाले स्वर की प्रकृति का कोई स्वर या अर्द्धस्वर पहले से वर्तमान हो। संस्कृत से अवेस्ता की तुलना करने पर पता चलता है कि अपिनिहिति अवेस्ता की एक प्रमुख विशेषता थी। उदाहरणार्थ, bhavati (भवति)—bavaiti, arusah (अरुषः)—auruso, taruna (तरुण)—tauruna, aryah (आर्यः)—airyo, sarvam (सर्वम्)—

haurvam। इन उदाहरणों में आरम्भ में संस्कृत के शब्द हैं और बाद में अवेस्ता के। यहाँ हम देखते हैं कि i और u का आगम हुआ है, किन्तु यह तभी हुआ है जब शब्द में पहले से उससे मिलती-जुलती ध्वनि है। अवेस्ता में केवल इ, उ इन दो का ही अपिनिहिति स्वर के रूप में आगम हुआ। 'इ' ऐसे शब्दों में आया है जहाँ पहले से इ, ई, ए या य थे, और 'उ' ऐसे में आया है जहाँ पहले से 'उ' या 'व' था।

इस बात को सामान्यीकृत करते हुए यह कहते हैं कि किसी शब्द में यदि कोई ऐसा स्वर आ जाय, जिसकी प्रकृति का स्वर या अर्द्धस्वर पहले से वर्तमान हो तो उस स्वरागम को 'अपिनिहिति' कहेंगे। इस प्रकार का स्वर प्रायः आदि या मध्य में उच्चारण-सुविधा के लिए आता है। इस आधार पर इसके आदि अपिनिहित और मध्य अपिनिहिति, दो भेद किये जा सकते हैं। नीचे अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि से कुछ और उदारहण दिये जा रहे हैं।

अंग्रेजी—Goldsmith = Goldismith (उच्चारण में)
मध्ययुगीन बंगाली—Karia = Kairia (करके)
Sathua = Sauthua (साथी)
भोजपुरी— स्त्री = इस्त्री
स्नान = अस्नान
स्टेशन = इस्टेशन
स्प्रिंग = इस्प्रिंग
वेल = वेइल
वेला = वेइला, वेइल
हिन्दी— स्थिति = इस्थिति (उच्चारण में)

उसी प्रकृति के स्वर के आने के कारण इसे 'समस्वरागम' भी कहा जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि इसके सभी उदाहरण 'आदि स्वरागम' या 'मध्य स्वरागम' के उदाहरण कहे जा सकते हैं; किन्तु 'आदि स्वरागम' और 'मध्य स्वरागम' के सभी उदाहरण इसके उदाहरण नहीं कहला सकते, क्योंकि इसके लिए नवागत स्वर की प्रकृति की ध्वनि का पहले से रहना आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि इस रूप में स्वर-भक्ति या स्वरागम का यह पर्याय नहीं है, अपितु उसका एक भेद-मात्र है। साथ ही 'स्वर-भक्ति' अपने प्राचीन अर्थ में दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में आकर दोनों को अलग कर देती है (जैसे धर्म से धरम; राजेन्द्र से राजेन्दर), किन्तु अपिनिहिति में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

ऊपर अपिनिहिति के आदि और मध्य दो भेद किये गये हैं। कुछ लोग (डॉ० तारापोरवाला आदि) केवल मध्य[1] को ही अपिनिहिति मानते हैं, और आदि के लिए

१. डॉ० श्यामसुन्दर दास अपिनिहिति को केवल 'मध्य में इ उ का आगम' मानते हैं।

पुरोहिति या पूर्वहिति (prothesis)[1] का प्रयोग करते हैं, किंतु साथ ही पुरोहिति में समस्वरागम को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार कोई भी स्वर जो शब्द के आदि में आ जाय, पुरोहिति का उदाहरण है। इस रूप में यह आदि स्वरागम[2] का समानार्थी है। किंतु अवेस्ता भाषा के विवेचन के सिलसिले में 'पुरोहिति' का प्रयोग केवल उस आदि स्वरागम के लिये किया गया है जिसकी प्रकृति का एक स्वर पहले से उस शब्द में विद्यमान हो। जैसे

सं० रिणक्ति (rinakti)— अवेस्ता irinahti

सं० रिष्यन्ति (risyanti)— ,, irisyeiti

सं० रोपयन्ति (ropayanti)— ,, urupayeinti

अवेस्ता में 'र' से आरम्भ होने वाले शब्दों में पुरोहिति सर्वत्र मिलती है। एक उदाहरण 'थ' के पूर्व भी मिलता है।

इसका आशय यह हुआ कि यदि अपिनिहिति को केवल 'मध्य अपिनिहिति' ही माना जाय तो 'आदि अपिनिहिति' को 'पुरोहिति' माना जा सकता है और तब पुरोहिति की परिभाषा होगी, 'किसी शब्द के आरम्भ में किसी ऐसे स्वर का आना जिसकी प्रकृति का दूसरा स्वर शब्द में पहले से वर्तमान हो, पुरोहिति कहलाता है।' किन्तु जैसा कि संकेत किया जा चुका है, सामान्यतः इसे लोगों ने आदि स्वरागम के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया है, और इस रूप में इसकी वही परिभाषा होगी जो 'आदि स्वरागम' की।

अपश्रुति[3]

ध्वनि की इस प्रवृत्ति का पता सबसे पहले १८७१ ई० में लगा। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि शब्द के व्यंजन तो प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं, किन्तु स्वरों [विशेषतः आन्तरिक (internal vowel) स्वर)] में परिवर्तन के कारण अर्थ बदल

---

१. अंग्रेजी में मूल शब्द prothesis न होकर prosthesis है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'आदि-आगम' (स्वर, व्यंजन या अक्षर) तथा तात्पर्य मात्र 'आगम' होता है।

२. ग्रे भी इसका इसी रूप में, बल्कि विशेषतः स् से आरम्भ होने वाले शब्द के आरम्भ में उच्चारण-सुविधा के लिए आये स्वर [जैसे लैटिन scribere – स्पैनिश escribir (लिखना)] के लिए प्रयोग करते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी इसे इस रूप में लिया है।

३. इसके लिये जर्मन शब्द Ablaut है, जिसका शाब्दिक अर्थ है स्वर-ध्वनि का परिवर्तन। अंग्रेजी में इसे metaphony, apophony या vowel gradation या vocalic ablaut भी कहा जाता है। हिन्दी में 'अपश्रुति' के अतिरिक्त 'अक्षर-श्रेणीकरण', 'स्वरक्रम' या 'अक्षरावस्थान' का भी प्रयोग हुआ है। मराठी में इसके लिए केवल 'संप्रसारण' का भी प्रयोग होता रहा है।

जाता है, जैसे चलन, चलान। यों कभी-कभी इनमें कुछ और अंश भी (पहले या बाद में) जुड़ जाता है, जैसे अंग्रेजी में choose, chose, chosen। यह प्रवृत्ति प्रमुखतः भारोपीय, हैमेटिक तथा सेमिटिक परिवार की भाषाओं में मिलती है और भाषाविज्ञान में 'अपश्रुति' नाम से अभिहित की गई है। स्वरों का यह परिवर्तन दो प्रकार का हो सकता है—(क) मात्रिक (quantitative), और (ख) गुणीय या गौण (qualitative)।

मात्रिक अपश्रुति[1]

'मात्रा' का अर्थ है ह्रस्व-दीर्घ आदि। जब स्वर (प्रकृतितः) वही रहे, केवल उसकी मात्रा परिवर्तित हो जाय तो 'मात्रिक अपश्रुति' होती है, जैसे संस्कृत में भरद्वाज और भारद्वाज या वसुदेव और वासुदेव। संस्कृत व्याकरणों में इसी को गुणवृद्धि कहा गया है। यहाँ आधारशून्य श्रेणी (zero grade) को माना गया, लेकिन उसका कोई नाम नहीं दिया गया। उससे ऊपर या आगे गुण और फिर वृद्धि। संस्कृत, ग्रीक आदि में इसके स्वरूप का अध्ययन करके भाषाविज्ञानवेत्ता अब दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वे मूल आधार श्रेणी, शून्य को नहीं मानते, अपितु 'गुण' को मानते हैं और फिर 'गुण' के प्रवर्द्धित (prolonged) रूप को वृद्धि तथा प्रह्रासित (reduced) या निर्बलीभूत (weak) रूप को शून्य मानते हैं। अ, ए, ओ के निर्बल रूप को शून्य; अ, ए, ओ को गुण; और आ, ऐ, औ को वृद्धि कहा गया है।

और सूक्ष्मता से विचार करके कुछ भाषाविज्ञानविदों ने मात्रिक अपश्रुति में सामान्य (normal), प्रवर्द्धित या दीर्घीभूत (lengthened या prolonged), प्रह्रासित, ह्रस्वीभूत, या निर्बलीभूत (reduced या weak) और शून्य (zero) ये चार श्रेणियाँ स्थापित की हैं। यों अधिक प्रचलित उपर्युक्त तीन ही हैं। हाँ, कुछ लोगों ने बलाघातयुक्त या बलाघातहीन या विभिन्न स्वरों के संपर्क में आने के कारण इन तीन के छः उपभेद भी किये हैं।

गुणीय अपश्रुति[2]

गुणीय अपश्रुति में स्वर, मात्र गुण की दृष्टि से परिवर्तित हो जाता है, जैसे पश्च के स्थान पर अग्र या इसी प्रकार अन्य।[3] उदाहरणार्थ लैटिन tego (=मैं ढँकता या ओढ़ाता या पहनाता हूँ) और toga (=ढक्कन, लबादा या चोगा); या रूसी vezu

---

१. इसे अंग्रेजी में quantitative alteration, qualitative gradation या केवल apophony भी कहा गया है। डॉ० चटर्जी इसे 'ह्रस्वतादीर्घतात्मक अपश्रुति' कहते हैं।

२. इसे qualitative alteration, qualitative gradation या metaphony भी कहते हैं।

३. इसी कारण डॉ० चटर्जी इसे 'उच्चारण-स्थान परिवर्तनात्मक अपश्रुति' कहते हैं।

(मैं ले जाता हूँ) और voz (गाड़ी या बोझा); या अंग्रेजी sing (गाना) और sang (गाया), man-men, foot-feet, goose-geese या अरबी किताब (पुस्तक), कुतुब (पुस्तकें) और कातिब (लिखने वाला) आदि ।

अपश्रुति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण

अपश्रुति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं । एक का विवेचन ऊपर किया गया है, जिसमें प्राय: केवल स्वर में गुणीय या मात्रिक परिवर्तन से ही शब्द का अर्थ बदल जाता है । इस दृष्टि से गुणीय अपश्रुति के काफी उदाहरण ऊपर दिये गये हैं । हिन्दी मेल, मिली, मिले या करना, करनी, कराना भी इसी के उदाहरण हैं । किन्तु मात्रिक अपश्रुति के इस दृष्टिकोण के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे । वस्तुत: यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो शुद्ध मात्रिक अपश्रुति केवल वहाँ होगी जहाँ स्वर का उच्चारण-स्थान तो बिलकुल वही रहे, केवल मात्रा के ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि से अर्थ बदले । यह बात कम मिलेगी । संस्कृत में यदि 'अ' और 'आ' का उच्चारण-स्थान एक मानें और उनमें केवल मात्राभेद मानें तो 'भरद्वाज' से 'भारद्वाज' या इस प्रकार के अन्य उदाहरण इसके माने जा सकते हैं । कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रसंग में हिन्दी 'करना' से 'कराना' या इसी प्रकार के उदाहरण मात्रिक में रक्खे हैं । कहना न होगा कि ये ग़लत हैं, क्योंकि हिन्दी में 'अ' और 'आ' में मात्र मात्राभेद न होकर स्थान का भी पर्याप्त भेद है । यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस रूप में या इस दृष्टिकोण से अपश्रुति से प्रभावित शब्द तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(१) मात्रिक भेद वाले—भरद्वाज—भारद्वाज ।

(२) गुण-मात्रिक भेद वाले—दशरथ—दाशरथि—(इसमें 'द' से 'दा' में मात्रिक भेद है और 'थ' से 'थि' में गुणीय) आदि ।

(३) गुणीय भेद वाले—किताब से कुतुब ।

अपश्रुति के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण ही मूर्द्धन्य भाषाविज्ञानविदों को अधिक मान्य है । इस मत के अनुसार बल इस बात पर नहीं है कि मूल शब्द या धातु के केवल स्वरों में परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो, अपितु इस बात पर है कि एक शब्द से बनने वाले भिन्नार्थी दूसरे शब्द में मूल शब्द के किसी एक स्वर या स्वरों के स्थान पर कुछ परिवर्तित स्वर आ जाये या आ जायें, चाहे (क) अन्य स्वर और व्यंजन पहले वाले ही रहें, (ख) या उनमें कुछ हट गये हों, या (ग) कुछ नये आ गये हों, (४) या कुछ गये या परिवर्तित हुए हों और कुछ आये हों । इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है । प्राय: धातु से बनने वाले क्रियारूपों (तिङन्त) या अन्य शब्दों (सुबन्त) में ही इस प्रक्रिया का विशेष उल्लेख किया जाता है । साथ ही यह भी माना जाता है कि उपसर्ग या प्रत्यय में भी यदि स्वर परिवर्तित हो जायें तो अपश्रुति मानी जायेगी, अर्थात् मूल शब्द में ही उसका होना आवश्यक नहीं है ।

कुछ उदाहरण हैं :

मात्रीय अपश्रुति

संस्कृत

सामान्य श्रेणी	दीर्घीभूत	शून्य श्रेणी
सदस् (सीट)	सादयति (बैठाता है)	सेदुः (वे बैठे)
सचते (सम्बद्ध करता है)	रातिषाचः (वदान्यता से सम्बद्ध करने वाले)	सश्चति (वे बैठे)
दम्नोति (घायल करता है)	अदाभ्य (जो घायल न हो सके)	अद्भुत (जो घायल नहीं किये जा सकते = विचित्र)

ग्रीक

poda पैर को	*pōs* (पैर)

लैटिन

pedem (पैर को)	pēs (पैर)

गुणीय अपश्रुति

ग्रीक—lego (मैं कहता हूँ), logos (शब्द)।

लिथुवानियन—vezu (मैं जाता हूँ), vazis (एक प्रकार की गाड़ी)।

अंग्रेजी—choose, chose, chosen, mouse, mice; brother, brethren.

हिन्दी—मिल्, मेल, मिला, मिले।

अरबी—किताब, मकतूल, मकतुब, कतबत।

अपश्रुति के कारण—अपश्रुति के कारण के रूप में संगीतात्मक स्वराघात तथा बलात्मक स्वराघात का उल्लेख किया जाता है। प्रमुखतः इस दृष्टि से भारोपीय परिवार की भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन हुआ है, और निष्कर्ष यह निकला है कि इस परिवार में अत्यन्त प्राचीन काल में जो मात्रिक परिवर्तन हुए, उनका कारण तो बलात्मक स्वराघात था और जो गुणीय परिवर्तन हुए उनका कारण संगीतात्मक स्वराघात था। अंग्रेजी, रूसी, हिन्दी, आदि आधुनिक भाषाओं में प्रायः केवल गुणीय अपश्रुति है, और उसका कारण आधुनिक न होकर प्रायः पुरानी परम्परा का विकास मात्र है। यों हिन्दी आदि में संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात के कारण स्वरों की दीर्घता-ह्रस्वता तो कभी-कभी दिखाई पड़ती है, किन्तु प्रायः अर्थ बदलने से उसका सम्बन्ध नहीं है, और जहाँ है, वहाँ किसी न किसी रूप में गुणीय परिवर्तन भी हो गया है।

ग्रीक, संस्कृत, लैटिन आदि में गुणीय और मात्रिक दोनों अपश्रुतियों की कई श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं। संस्कृत में तो गुण, वृद्धि, संप्रसारण से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है, किन्तु यहाँ भाषा-विशेष को लेकर गहराई में उतरना अपेक्षित नहीं है।

ध्वनि-नियम (Phonetic Law)

पीछे हम लोग ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन पर विचार कर चुके हैं। उनमें से बहुत से परिवर्तन तो किसी विशेष नियमानुसार नहीं चलते, पर अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो अंशतः या पूर्णतः नियमों पर आधारित होते हैं। यहाँ नियमों का आशय यह है कि उनके घटित होने की परिस्थितियों में बहुधा एकरूपता रहती है। उस एकरूपता को ही एक नियम कहा जाने लगा है।

नियम की परिभाषा—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'नियम' कहते किसे हैं। नियम का अधिकतर प्रयोग प्राकृतिक नियम के लिए होता है, जो किसी विशेष वस्तु आदि के सम्बन्ध में लागू होते हैं। यदि विशेप परिस्थितियों में पड़कर कोई क्रिया समय और स्थान की सीमा तोड़ कर सर्वदा घटित हुआ करती है, तो उसे प्रायः नियम की संज्ञा देते हैं। जैसे कोई संख्या एक से कम की संख्या से गुणा करने पर घटती और अधिक से गुणा करने पर बढ़ती है।

प्राकृतिक नियम और भाषा-संबन्धी नियम में अन्तर—(१) प्राकृतिक नियम किसी काल विशेष की अपेक्षा नहीं रखते। चार और चार जोड़ने से सर्वदा आठ होता है, होता था, और आगे भी होगा, पर भाषा के ध्वनि-नियम में यह बात नहीं है। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में प्राचीन काल से मध्य में आने में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, मध्य से आधुनिक काल में आने में नहीं हुए हैं। भविष्य के लिए भी हम निश्चित नहीं हैं कि वे परिवर्तन घटित होंगे या नहीं। (२) प्राकृतिक नियम काल की भाँति ही दशा या स्थान की भी अपेक्षा नहीं रखते। न्यूटन का नियम प्रायः सर्वत्र लागू होता है, पर ध्वनि-नियम की इस सम्बन्ध में भी सीमाएँ हैं, जिनको वह लाँघ नहीं सकता। (३) प्राकृतिक नियम अन्धे की भाँति काम करते हैं और कोई अपवाद नहीं छोड़ते, पर इसके विरुद्ध ध्वनि-नियम अपवाद छोड़ते चलते हैं। संस्कृत 'नृत्य' का 'नाच' हो गया, किन्तु भृत्य का विकास 'भाच' नहीं हुआ।

ध्वनि-नियम नाम की अशुद्धि—उपर प्राकृतिक नियम और ध्वनि-नियम के अन्तर पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि नियम की स्थिरता ध्वनि-नियमों में नहीं पाई जाती। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि 'ध्वनि-नियम' नाम ही भ्रामक और अशुद्ध है। वे इसे 'ध्वनि-प्रवृत्ति' (phonetic tendency) या ध्वनि-फारमूला कहना उचित समझते हैं।

ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति—दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वान् ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार जो ध्वनि-विकार या ध्वनि-परिवर्तन आरम्भ होता है, पर थोड़ी दूर चलने के बाद मर जाता है और सफल नहीं हो पाता, ध्वनि-प्रवृत्ति है, किन्तु ऐसे ध्वनि-परिवर्तन जो धीरे-धीरे पूरी सफलता प्राप्त कर लेते हैं, अपने घटित होते रहने के काल में (अर्थात् पूर्ण हो जाने के पूर्व) 'ध्वनि-प्रवृत्ति' कहे जाते हैं, पर पूर्ण हो जाने पर उन्हें 'ध्वनि-नियम' कहेंगे। इसी कारण यह भी कहा गया

है कि ध्वनि-नियम वर्तमान या भविष्य के सम्बन्ध में न होकर केवल भूत के सम्बन्ध में होते हैं।

ध्वनि-नियम में अपवाद और उनके कारण—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनि-नियमों के अपवाद भी मिलते हैं। इन अपवादों के चार कारण हो सकते हैं: (१) सबसे बड़ा कारण तो सादृश्य है। सादृश्य के कारण नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाला शब्द कुछ और हो जाता है। (२) दूसरा कारण अन्य भाषा से शब्दों का उधार आना। बहुधा हाल के आये विदेशी शब्दों में ध्वनि-नियम लागू नहीं होते। (३) अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह है कि कभी-कभी हम अपनी भी भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं, जब वह नियम विशेष लागू नहीं हुआ रहता। (४) चौथा कारण यह भी हो सकता है कि कभी-कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और पुराने शब्द का ही रूप ज्ञात होता है तो उसे भी अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ, ध्वनि-नियम के अनुसार 'कोटपाल' को 'कोट्-पाल' और फिर 'कोटाल' होना चाहिए, जैसा कि बँगला में प्रचलित भी है, पर बीच में फ़ारसी शब्द 'कोतवाल' मूलतः भारतीय मुसलमानों के साथ आ गया और उसने हिन्दी में आधिपत्य जमा लिया। अब आज साधारण दृष्टि से देखने पर कोटपाल का विकार कोट्टपाल = कोट्टाल = कोतवाल लगता है, पर ऐसे उदाहरण बहुत नहीं मिलते, अत इसे अपवाद कहा जाता है। इसी प्रकार कितने ही अन्य मानसिक कारण भी सम्भव हैं।

ध्वनि-नियम की वैज्ञानिक परिभाषा—किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में, किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में, हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं। इस परिभाषा के चार अंग हैं: (१) ध्वनि-नियम किसी भाषा विशेष का होता है। एक भाषा के ध्वनि-नियम को दूसरी पर नहीं लागू कर सकते। अंग्रेजी के अधिकतर शब्दों के अन्तिम आर (R) का उच्चारण नहीं किया जाता। अर्थात् फ़ादर (father) का उच्चारण 'फ़ादअ' होता है, पर हिन्दी में इसे लागू करके हम अम्बर को अम्बअ नहीं कह सकते। (२) एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर यह नियम न लागू होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों या ध्वनि-वर्ग पर लागू होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में (R) को अनुच्चरित होते देख हम अन्तिम (N) को भी अनुच्चरित करके मैन (Man) को मैअ नहीं कह सकते और न गन (gun) को गअ ही कह सकते हैं। (३) ध्वनि-परिवर्तन का भी एक विशिष्ट काल होता है। इस अन्तिम आर (R) के अनुच्चरित होने का नियम प्रायः नवीन है। इसे अंग्रेजी के अत्यधिक प्राचीन काल पर लागू नहीं किया जा सकता। (४) किसी विशिष्ट भाषा के किसी विशिष्ट काल में कोई विशिष्ट ध्वनि भी यों ही परिवर्तित नहीं हो सकती। उनके लिए विशिष्ट दशा या परिस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रायः ऐसा नियम है कि वाक्य में किसी शब्द के अन्त में आर (R) हो और उसके पश्चात् आने वाला शब्द किसी व्यञ्जन से आरम्भ

होता हो, तब तो यह अनुच्चरित होने का नियम लागू होगा, और यदि वह शब्द स्वर से आरम्भ होता हो तो न होगा। इस प्रकार ध्वनि-नियम परिस्थितियों से प्रायः बँधा रहता है।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियम

(क) ग्रिम-नियम

इस नियम की ओर संकेत करने वाले दो व्यक्ति, इह्रे और डैनिश विद्वान् रैस्क हैं, पर इन लोगों ने संकेत मात्र किया था। इसकी पूरी विवेचना और छानबीन करने वाले अध्येता, जर्मन भाषा के महान् पंडित याकोब ग्रिम हैं। आपने १८१९ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया। सन् १८२२ में उसके दूसरे संस्करण में इस नियम का विवेचन किया। इनके ही नाम पर इस नियम का नाम 'ग्रिम नियम' है। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये थे। इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन कहते हैं, जिसके लिए जर्मन शब्द 'Lautverschiebung' है। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा से कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण-परिवर्तन उत्तरी जर्मन लोगों से ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के पृथक् होने के बाद लगभग ७वीं सदी में हुआ। दोनों ही का कारण जातीय मिश्रण कहा जाता है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श परिवर्तित हो गये थे जिन्हें तालिका-रूप में यों दिया जा सकता है—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्	जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् हो गये।
(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्	जर्मनिक में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो गये।
(ग) भारोपीय मूल भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	जर्मनिक में संघर्षी अघोष महाप्राण ख़् (ह्), थ्, फ़् (घ), (ध्), (भ्) हो गये।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यञ्जन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अतः उदाहरण के लिए मूल के स्थान पर संस्कृत[1] या ग्रीक शब्द लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार परिवर्तित स्पर्शों को दिखलाने के लिए जर्मनिक वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्द लिए जा सकते हैं—

---

१. हम लोग संस्कृत और अंग्रेजी से ही विशेष परिचित हैं, अतः मूल के स्थान पर संस्कृत और जर्मनिक के लिए अंग्रेजी शब्द उदाहरण में लिये गये हैं।

	संस्कृत	अंग्रेज़ी
(क)	घ् (ह्) से ग् = हंस, दुहिता	...गूज (goose), डॉ (ग) टर (daughter)
	ध् से द् (ड) विधवा, धूम	...विडो (widow), डस्ट (dust)
	भ से व् = भू, भ्रातृ	...बी (Be), ब्रदर (brother)
(ख)	ग् से क् = गो, योग	...काउ (cow), योक (yoke)
	द् से त् (ट) = द्वौ, दशन्	...टू (Tow), टेन (Ten)
	ब् से प् = (इसका संस्कृत में उदाहरण नहीं मिलता)	आदि भाषा में * स्लेउब् का अंग्रेजी में Slip
(ग)	क् से ख् (ह्) = कद्, कः	...ह्वाट (what), हू (who)
	त् से थ् = दंत, तनु, त्रि	...टूथ (tooth), थिन (thin), थ्री (Three)
	प् से फ् = पिता, पशु, पाद	...फ़ादर (Father), फी (Fee), फुट (Foot)

(उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं-कहीं एक ही शब्द दो भाषाओं में दो अर्थ रखता दिखाई पड़ रहा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अर्थ-परिवर्तन के प्रकरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार शब्दों का अर्थ कभी-कभी बहुत दूर चला जाता है ।)

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी, पर इस द्वितीय में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में यह अन्तर पड़ा। बात यह हुई कि निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गये, अतः उनमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ा। पर, उच्च जर्मन वाले जो वहीं थे, द्वितीय परिवर्तन के शिकार हुए और फल यह हुआ कि उच्च और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं।

निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेजी को मान हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं—

	निम्न जर्मन (अंग्रेज़ी)	उच्च जर्मन
प् का फ़्	= डीप (deep), शीप (sheep)	टीफ़ (tief), शाफ़ (Schaf)
ट् का ट्स् या स्स्	= फूट (foot), लेट (let),	फ़ूस्स (fuss), लासेन (lassen)
क् का ख् (ह्)	= योक (yoke)	याख (Joch)
व का ब्	= डोव्ह (dove)	टाउबे (taube)
ड् का ट्	= डीड (deed)	टाट (tat)
थ् का ड् (द्)	= थ्री (three)	ड्राय (Drei)

आलोचना

प्रथम और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में ग्रिम ने जो तालिका दी थी, वह कुछ इस प्रकार है।

मूल भाषा		आदि जर्मनिक		उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	=	ग् द् ब्	=	क् त् प
ग् द् ब्	=	क् त् प्	=	ख् (ह्) थ् फ
क् त् प्	=	ख् (ह) थ् फ्	=	ग् द् ब्

प्रथम वर्ण-परिवर्तन — द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

हम देखते हैं कि इस प्रकार नियम बहुत सुलझा हुआ दिखाई पड़ता है। हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के बहुत से विद्वानों ने इसे इसी रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। दोनों परिवर्तनों में इस प्रकार की समानता नहीं है, जैसी ग्रिम ने दिखलाने की कोशिश की थी। यहाँ तालिका में दिया गया प्रथम वर्ण-परिवर्तन अपवादों के रहते हुए भी ठीक है, पर द्वितीय के उदाहरण ठीक इस रूप में नहीं मिलते, साथ ही इसके अपवाद भी बहुत हैं। ग्रिम, ने द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण इसी रूप में इकट्ठा करने का प्रयास किया, पर उसे अपेक्षित सफलता न मिली। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के साथ द्वितीय परिवर्तन का शुद्ध रूप, जो वस्तुतः मिलता है, कुछ इस प्रकार हो सकता है—

मूल भाषा*	निम्न जर्मन या आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
gh, dh, bh	g, d, b	×, t, ×
g, d, b	k, t, p	×; z, ss, sz, f
k, t, p	kh (h), th, f	×; d, st, ×

(ख) ग्रेसमैन नियम

ग्रिम को स्वयं अपने नियम के पर्याप्त अपवाद मिले थे। उनके साधारण नियमानुसार क्रमशः क्, त्, प् का ख् (ह्), थ् फ् होना चाहिये। पर कुछ शब्दों में क् त् प् का ग् द् ब् मिलता है; उदाहरणार्थ ग्रीक किग्खो से हो (ho), तुम्लोस से थम (thump) और पिथास से फाडी (fody) बनना चाहिए, पर बनता है गो (go), डम (dump), बाडी (body)।

ग्रेसमैन ने यह खोज निकाला कि भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण हों तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।

*स्पष्टता के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया गया है। यह टकर की पुस्तक से लिया गया है।

संस्कृत की √हु (=हवन करना) का रूप बनना चाहिए)

हुहोति, हुहुतः, हुह्वति

पर रूप है—जुहोति, जुहुतः, जुह्वति

इसी प्रकार √भृ (=डरना) से भिभर्ति आदि न होकर बिभर्ति आदि रूप बनते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथमावस्था में दो महाप्राण रहे होंगे और दूसरी अवस्था में नहीं, अतः अपवादस्वरूप क् त् प् आदि के स्थान पर जहाँ ग् द् ब् मिलते हैं; प्राचीन काल में क् त् प् का (पुराना रूप ख् ह), फ् अर्थात् भारोपीय में घ् ध् भ् रहा होगा और घ् ध् भ् से ग् द् ब् बना होगा जो पूर्णतः नियमानुकूल है।

इस प्रकार ग्रिम नियम में जितने अपवाद इस तरह के थे, जिनमें ग्रिम नियम से एक पग आगे परिवर्तन हो जाता था, ग्रेसमैन नियम से समाधानित हो गये। पीछे ध्वनि-परिवर्तन के प्रकरण में अल्पप्राणीकरण पर विचार करते समय इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

(ग) वर्नर नियम

उपर्युक्त दोनों नियमों के बाद भी कुछ अपवाद रहे गये थे। वर्नर ने यह पता लगाया कि ग्रिम नियम बलाघात (accent) पर आधारित था। मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि बलाघात हो तो ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु यदि स्वराघात क् त् प् के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रेसमैन की भाँति ग् द् ब् हो जाता है।

संस्कृत	गोथिक
सप्त	सिबुन
शतम	हुन्द

ग्रिम ने यह भी कहा था कि स् के लिए स् ही मिलता है, पर कुछ उदाहरणों में स् के स्थान पर र् मिला। इसके लिए भी वर्नर ने स्वराघात का ही कारण बतलाया। स् के पूर्व स्वराघात हो तो स् रहेगा, पर यदि बाद में हो तो र् हो जायेगा।

एक और तीसरी बात वर्नर ने बतलायी कि यदि मूल भारोपीय क् त् प् आदि के पूर्व स् मिला हो (अर्थात् स्क, स्प) तो जर्मनिक में आने पर शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता।

लैटिन	अंग्रेजी	गोथिक
piskis	—	fiski
aiter	star	

इसी प्रकार त् यदि क् या प् के साथ हो तो भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

इतने पर भी ग्रिम नियम के अपवाद हैं, जिनके लिए सादृश्य ही मूल कारण माना जाता है।

(घ) तालव्य-नियम (Palatal Law)

बहुत निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम इसकी खोज किसने की। सत्य यह है कि कई विद्वान् लगभग एक ही समय इस तक पहुँचने में सफल हुए। इसी कारण किसी एक व्यक्ति को इसका श्रेय देना लोग ठीक नहीं समझते। १८७५ में विल्हेम थाम्सन ने अपने व्याख्यान में इसकी ओर संकेत किया था, पर इस सम्बन्ध में उनका विस्तृत लेख प्रकाश में आ भी नहीं पाया था कि जोहन्स श्मिट ने अपना लेख तैयार कर लिया। यह लेख इनकी एक पुस्तक मे १९२० में प्रकाशित हुआ। इन दोनों के अतिरिक्त एसाय तेंगर की भी एक छोटी-सी पुस्तिका इस विषय पर निकली। पर उस पुस्तक में एसाय तेंगर ने दिया है कि उनके पूर्व भी कालित्ज तथा सास्यूर ने कुछ ऐसे विचार प्रकट किये थे। उपर्युक्त पाँचों विद्वानों के अतिरिक्त वर्नर भी कुछ इस परिणाम तक पहुँच चुके थे। इस प्रकार तालव्य-नियम के साथ छः विद्वानों के नाम सम्बद्ध हैं, यद्यपि कुछ लोग इसे 'कालित्ज का तालव्य नियम' भी कहते हैं।

इस नियम के ज्ञात होने के पूर्व तक विद्वानों का विश्वास था कि कुछ शब्दों में संस्कृत अधिक बातों में अन्य सगोत्रीय भाषाओं की अपेक्षा मूल भारोपीय भाषा के निकट है। कुछ शब्दों में संस्कृत के च् और ज् के स्थान पर अन्य भाषाओं में क् और ग् मिलते थे। इससे लोगों ने यह अनुमान किया था कि वहाँ पर मूलतः च् और ज् ही थे और ध्वनि-परिवर्तन से अन्य भाषाओं में क् और ग् हो गये। इस परिवर्तन का कारण अब तक विद्वानों की समझ में न आ सका था।

तालव्य-नियम की खोज के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि जिन संस्कृत शब्दों में 'अ' स्वर ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक या लैटिन ओ (o) का स्थानापन्न है, उसके पूर्व क् या ग् ही व्यंजन पाया जाता है, पर यदि 'अ' स्वर लैटिन या ग्रीक ई (e) का स्थानापन्न है, तो कंठ्य क् या ग् न होकर तालव्य च् और ज् मिलता है। उदाहरणार्थ, च (च्+अ में अ ग्रीक ई (e) का स्थानापन्न है) और क (क+अ में अ ग्रीक ओ (o) का स्थानापन्न है) लिए जा सकते हैं। एक ही धातु √पच् से बने रूप 'पचति' और 'पकस' में भी यह बात देखी जा सकती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय संस्कृत में अ के स्थान पर ई (e) और ओ (o) स्वर थे। अग्रस्वर 'इ' के पूर्व का कंठ्य व्यंजन[1] तालव्य में बदल गया जिसके फलस्वरूप क् और च् और ग् का ज् हो गया। कंठ्य व्यंजन के तालव्य हो जाने से इसे तालव्य-नियम कहा जाता है। इस खोज से संस्कृत के मूल से समीप होने की धारणा बदल गई और अब संस्कृत की अपेक्षा ग्रीक-लैटिन आदि मूल भारोपीय भाषा के अधिक समीप समझी जाने लगी हैं।

---

१. मूल भारोपीय भाषा की ध्वनि पर हम पारिवारिक वर्गीकरण करते समय विचार कर चुके हैं। उसमें जैसा कि हमने देखा ३ श्रेणी के कवर्ग या कंठ्य व्यंजन थे। तालव्य-नियम के अनुसार जो क् ग् तालव्य में परिवर्तित हो गये, तृतीय श्रेणी के अर्थात् क्व तथा ग्व् थे।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि तालव्य-नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा का तृतीय श्रेणी का कवर्ग (देखिये भारोपीय ध्वनियाँ) संस्कृत में कहीं तो कवर्ग ही रहा, पर पहले आने वाले स्वर के कारण कहीं-कहीं चवर्ग (तालव्य) में परिवर्तित हो गया।

इन प्रधान ध्वनि-नियमों के अतिरिक्त ग्रीक नियम (मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का ग्रीक भाषा में पहले 'ह्' हो जाना और फिर लुप्त हो जाना, जैसे *Genesos=genehos=geneos), लैटिन नियम [मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का परिवर्तित होकर 'र्' हो जाना, जैसे *Genesos =generos (Generis)], फारसी नियम (संस्कृत की 'स' ध्वनि का फ़ारसी में ह मिलना, जैसे सप्त-हफ्त, सिंध-हिंद), ओष्ठ्य नियम, तथा मूर्द्धन्य नियम आदि अनेक और भी ध्वनि-नियम हैं।

(अ) ध्वनिग्रामविज्ञान (Phonemics)[1]

ध्वनिग्राम क्या है—पीछे इस अध्याय के आरंभिक पृष्ठों में इस संबंध में कुछ बातें कही गई हैं। वस्तुतः इस सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। कुर्तिने, प्राहा-स्कूल के कुछ भाषाशास्त्री तथा सपीर आदि ध्वनिग्राम को मनोवैज्ञानिक (psychological) इकाई मानते हैं, ब्लूमफील्ड, डेनियल जोन्स आदि भौतिक (physical) इकाई मानने के पक्ष में है, ट्वाडेल इसे अमूर्त काल्पनिक इकाई (abstractional fictitious unit) सिद्ध करते हैं तथा कोपेनहैगेन स्कूल के अनुसार यह (ग्लासीम) बीजगणितीय (algebraical) इकाई है। यहाँ इसके विस्तार में नहीं जाया जा सकता, किंतु मेरे विचार में ध्वनिग्राम को अमूर्त काल्पनिक इकाई मानना ही अधिक समीचीन है, क्योंकि भाषा में संध्वनि (allophone) का ही प्रयोग होता है, ध्वनिग्राम का नहीं। ध्वनिग्राम तो संध्वनियों के वर्ग या परिवार का प्रतिनिधि मात्र है। इस प्रकार वास्तविक सत्ता संध्वनियों की होती है, ध्वनिग्राम की नहीं।

---

१. इसे ध्वनिग्रामिकी, ध्वनि-श्रेणीविज्ञान, ध्वनि-तत्त्वविज्ञान, ध्वनि-मात्रविज्ञान स्वनग्रामिकी, वर्णविज्ञान और लिपिशास्त्र भी कहा गया है। अन्तिम नाम उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लिपि से इसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। यूरोप में इसके कई अन्य नाम हैं। प्राग स्कूल के भाषाविज्ञानवेत्ता तथा कुछ अमेरिकी इसे Phonology कहते हैं। कुछ आंग्ल-भाषाशास्त्री इसे Phonetics में ही अन्तर्भूत मानते हैं। कुछ विद्वान् इसे Functional Phonetics या Higher Phonetics कहते हैं। Phonotactis फोनेमिक्स की एक शाखा है, तथा Glossematics उसको समाहित करनेवाला डेनिश विद्वान् हेम्स्लेव (Hjelmslev) द्वारा प्रयुक्त एक विशेष प्रकार, जिसका आधार गणित (प्रमुखतः बीजगणित) है, और जो बहुत जटिल और पेचीदा है।

'फ़ोनीम' या 'ध्वनिग्राम' मूलतः कोई नई चीज नहीं है। इसे उतना ही पुराना माना जाना चाहिये, जितनी पुरानी वर्णलिपि (alphabetic writing) है। इसका प्रारम्भ एक प्रकार से १२वीं सदी से माना जा सकता है। किन्तु यह शब्द (फ़ोनीम) इतना पुराना नहीं है।

मूलतः 'फोनीम' शब्द के बनाने वाले हैवेट हैं। उन्होंने भाषा-ध्वनि के अर्थ में १८७६ के लगभग इसका प्रयोग किया था। आज के अर्थ के समीप के अर्थ में इसका प्रयोग तीन ही वर्ष बाद १८७९ में क्रुशेव्स्की (Kruszewski) ने अपने एक लेख में किया। यों इस शब्द में भरे विचारों से स्वीट और पाल पासी भी उन्हीं दिनों पूर्णतः परिचित थे; जैसा कि उनमें स्थूल-लेखन और सूक्ष्म-लेखन के सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है। इस सदी के आरम्भ में इस क्षेत्र में काम करने वाले 'सास्यूर' का भी इसे आगे बढ़ाने में योग है, किन्तु अधिक उल्लेख्य योग अमेरिका के प्रसिद्ध भाषाविद् सपीर का है। १९२१ के कुछ पूर्व से उन्होंने काम किया, और आगे चलकर ध्वनिग्रामविज्ञान के विश्व में चार केन्द्र विकसित हुए—प्राग (१९२८), लन्दन (१९२९), अमेरिका, कोपेन-हैगेन (१९३५)। इस क्षेत्र में हेमस्लेव, ब्लूमफील्ड, ट्रूबेजकॉय, डैनियल जोन्स, रोमन-याकोबसन, पाइक आदि के नाम उल्लेख्य हैं। पाइक ने तो इस विषय के ज्ञान और अभ्यास के लिए 'फोनीमिक्स' नाम की एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अभ्यास के लिए जो नमूने दिए गए हैं, कल्पित हैं। इस प्रकार के अभ्यासों के लिए कल्पित नमूने अधिक सुविधाजनक होते हैं, क्योंकि उन्हें आवश्यकतानुसार सीमित किया जा सकता है। पाइक ने इन उदाहरणों को समाहित करने वाली कल्पित भाषा को 'कलवा' नाम दिया है। वस्तुतः यह नाम क ल व ध्वनि के बार-बार आने के कारण पहले उनके विद्यार्थियों द्वारा प्रयुक्त हुआ।

'ध्वनिग्राम' से संबद्ध विज्ञान ध्वनिग्रामविज्ञान है, जिसके अंतर्गत किसी भाषा या बोली के ध्वनिग्राम एवं संध्वनि आदि का निर्धारण करते हैं। ध्वनिग्रामविज्ञान का आधार है—ध्वनिविज्ञान। ध्वनिविज्ञान सामग्री प्रस्तुत करता है और ध्वनिग्रामविज्ञान उसके आधार पर विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष सामने रखता है। इसीलिये इसके लिए ध्वनिविज्ञान का पूर्ण ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसमें सबसे पहले जिस भाषा का अध्ययन विश्लेषण करना होता है, उससे शब्दों को एकत्र करते हैं। मृत भाषा के शब्द तो उसके प्राप्त लिखित साहित्य से एकत्र किए जाते हैं, किन्तु जीवित भाषा के शब्द भाषा को बोलने वाले व्यक्ति के मुँह से सुनकर। जिससे सुनकर सामग्री एकत्र करते हैं, उसके लिये 'सूचक' (informant) नाम का प्रयोग किया जाता है। किसी ऐसे व्यक्ति को सूचक बनाना चाहिए जो उस भाषा को अधिक से अधिक प्रकृत रूप में बोल सके तथा जिस पर किसी भी प्रकार का बाहरी प्रभाव न हो। सामग्री, अर्थात् उस भाषा के शब्दों को सामान्य लिपि में न लिखकर ध्वन्यात्मक लिपि (phonetic alphabet) में अधिक से अधिक सूक्ष्मता से सूक्ष्म लेखन (narrow transcription)[1] के सिद्धांतों के अनु-

१. इसे आगे स्पष्ट किया जायगा।

सार लिखना चाहिये । अर्थात्, केवल यही नहीं लिखा जाना चाहिए कि उस शब्द में क्, ख् आदि कौन से व्यंजन और अ आदि कौन से स्वर हैं, अपितु इस बात का भी उल्लेख होना चाहिये कि यदि कोई स्वर ध्वनि है तो वह (१) सामान्य या जपित (अघोष), (२) प्रकृत रूप से ह्रस्व या दीर्घ, (३) सामान्य रूप से संवृत या विवृत, (४) प्रकृत रूप से अग्र, पश्च या मध्य, (५) अनुनासिक, (६)मर्मर, (७) विशेष सुर या बलाघात से युक्त, (८) अनाक्षरिक, आदि तो नहीं है । यदि है तो कितना ? इसी प्रकार यदि व्यंजन है तो (१) स्थान या प्रयत्न की दृष्टि से अपने प्रकृत रूप से भिन्न या (२) आक्षरिक आदि तो नहीं है । स्पर्श व्यंजन है तो (३) अस्फोटित है या नहीं, या पूर्ण स्पर्श है या अपूर्ण इत्यादि ।

इतनी सूक्ष्मता से अंकन कर लेने के बाद संकलित सारे शब्दों के आधार पर उनमें प्रयुक्त ध्वनियों का चार्ट बनाते हैं । स्वरों का चार्ट अग्र, पश्च, मध्य, वृत्तमुखी-अवृत्तमुखी, विवृत-संवृत, ह्रस्व-दीर्घ आदि आधारों पर बनता है, और व्यंजन का चार्ट स्थान और प्रयत्न के आधारों पर । (ध्वनियों के वर्गीकरण तथा ध्वन्यात्मक लिपि के प्रसंग में ऐसे चार्ट दिए गए हैं ।)

यह ध्यान देने योग्य है कि यह चार्ट उन सारी ध्वनियों का होगा जो उस भाषा में प्रयुक्त होती हैं । कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ये सारी एक प्रकार से संध्वनियाँ हैं । संध्वनियों के प्राप्त हो जाने पर हमें यह देखना होगा कि इनमें कितने ध्वनिग्राम हैं। और कितनी संध्वनियाँ । यह ज्ञात करने के लिए इस चार्ट को एक ओर से देखते हैं । जो ध्वनियाँ चार्ट में पास-पास हैं, या जिनमें स्थान या प्रयत्न आदि की दृष्टि से कुछ समानताएँ[1] हैं या जो मिलती-जुलती हैं, उनके बारे में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये दोनों कहीं एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत आने वाली संध्वनियाँ तो नहीं हैं । जिन-जिन दो ध्वनियों के बारे में ऐसा सन्देह होता है, उन्हें संदिग्ध या सन्देहास्पद युग्म (suspicious pair) कहते हैं । यदि दो से अधिक ध्वनियाँ संदेहास्पद हों तो उन्हें संदिग्ध वर्ग कहा जा सकता है । ये ऐसे जोड़े या वर्ग होते है जिनके बारे में संदेह रहता है । ऐसी दोनों या अधिक ध्वनियों को अलग लिख लेते हैं और उन सारे शब्दों की परीक्षा करते हैं, जिनमें वे ध्वनियाँ आई हों । परीक्षा करते समय कई प्रकार की स्थितियाँ मिल सकती हैं : कभी तो ऐसा होता है कि उन ध्वनियों के न्यूनतम विरोधी युग्म (minimal pair) या वर्ग—अर्थात् शब्दों के ऐसे जोड़े या वर्ग जिनमें ध्वन्यात्मक अंतर केवल उन ध्वनियों के कारण ही होता है, और जिनके अर्थ भिन्न होते हैं—मिल जाते हैं । ऐसी स्थिति में यह मान लिया जाता है कि उन ध्वनियों में व्यतिरेक या विरोध (contrast) है, अर्थात् वे अलग ध्वनिग्राम हैं, एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत आने

---

१. कभी-कभी स्थान, पयत्न दोनों दृष्टियों से असम्बद्ध ध्वनियाँ भी परिपूरक वितरण में देखी जाती हैं, यद्यपि ऐसा कम होता है ।

वाली संध्वनियाँ नहीं। उदाहरणार्थ, मान लिया जाय कि 'संदिग्ध युग्म' 'म' और 'न' का है और शब्दों में हमें 'काम' और 'कान' मिले। इन दोनों में ध्वनि का अंतर केवल 'म' 'न' से ही है, और अर्थ एक नहीं है, अतः ये न्यूनतम विरोधीयुग्म हैं। इसका आशय यह हुआ कि जिस भाषा से ये आये हैं, वहाँ दोनों (म, न) अलग-अलग ध्वनिग्राम हैं। इन्हीं दोनों के कारण उन शब्दों के दो अर्थ हैं। इसी आधार पर कहा जाता है कि ध्वनिग्राम अर्थभेदक होते हैं। एक ध्वनिग्राम की दो संध्वनियाँ अर्थभेदक नहीं होतीं।

कभी ऐसा होता है कि संदिग्ध युग्मों के उपर्युक्त प्रकार के न्यूनतम विरोधी युग्म नहीं मिलते। न मिलने पर उन सारे शब्दों में दोनों ध्वनियों की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इसमें कई बातें देखी जाती हैं: (क) दोनों एकाक्षरी शब्दों में आते हैं या अधिक अक्षरों में। यदि अधिक अक्षरों वाले में आते हैं तो पहले में या दूसरे आदि में। अर्थात् अक्षर की दृष्टि से उनकी स्थिति क्या है? (ख) शब्दों के आदि, मध्य या अंत में आने की दृष्टि से उसमें कोई विशेष प्रवृत्ति है या नहीं? (ग) बलाघात या सुर से उनके वातावरण किसी रूप में संबद्ध तो नहीं हैं। (घ) विशेष प्रकार की ध्वनियों घोष, अघोष, महाप्राण, अल्पप्राण; स्वर, व्यंजन; स्पर्श, संघर्षी, लुंठित आदि (प्रयत्न पर आधारित); ओष्ठ्य, तालव्य आदि (स्थान पर आधारित); तथा अनुनासिक-निरनुनासिक आदि से उनकी स्थिति किसी रूप में संयमित तो नहीं है? अर्थात्, इनमें से किसी विशेष प्रकार की ध्वनि उनमें किसी के आगे या पीछे या अक्षर में तो नहीं आती? इन दृष्टियों से देखने पर या तो ऐसा होगा कि (१) उक्त दोनों ध्वनियाँ एक प्रकार की स्थिति या वातावरण में भी आती होंगी। यदि ऐसा हुआ तो उन्हें विरोधी माना जायगा और दोनों को अलग-अलग ध्वनिग्राम माना जायगा। (२) या फिर ऐसा होगा कि एक किसी एक प्रकार के वातावरण या किसी एक प्रकार की स्थिति में आती होगी और दूसरी किसी दूसरी प्रकार की स्थिति या वातावरण में। अर्थात्, जिस स्थिति में पहली आयेगी, उस स्थिति में दूसरी नहीं और जिस स्थिति में दूसरी आयेगी, वहाँ पहली नहीं। एक परिवार के दो सदस्यों की तरह, जैसे दोनों ध्वनियों ने आपस में तै कर लिया हो कि अमुक-अमुक स्थानों पर एक काम करेगी और शेष अमुक-अमुक स्थानों पर दूसरी। उदाहरणार्थ, हम मान लें कि किसी भाषा में आप्, रूप्, पढ़ और अपढ़, केवल ये चार शब्द ही हैं। इनके चार्ट बनाने पर देखा गया कि 'प' दो हैं—एक स्फोटित और दूसरा अस्फोटित। दोनों को संदिग्ध युग्म मानकर देखा गया तो पता चला कि अस्फोटित 'प' शब्दांत में (आप्, रूप्) आता है और स्फोटित 'प' अन्यत्र। ऐसी स्थिति को परिपूरक वितरण (complementary distribution) कहते हैं, अर्थात् वितरण में एक दूसरे का पूरक है। दोनों के स्थान अलग-अलग बंटे हुए हैं। एक के स्थान पर दूसरी नहीं आ सकती; भाषा दोनों को मिलकर पूर्ण है। इस प्रकार दोनों में विरोध नहीं है। ऐसी दो या अधिक ध्वनियाँ जिनका आपस में विरोध न हो और जो 'परिपूरक वितरण' में हों, संध्वनियाँ (allophone) मानी जाती हैं।

इस प्रकार जिन-जिन ध्वनियों के बारे में सन्देह हो, उनके बारे में विचार करना पड़ता है। अभ्यस्त ध्वनिग्रामविज्ञान प्रायः सरलता से संदिग्ध युग्मों को पहचान लेते हैं। नये व्यक्तियों को, प्रायः सभी ध्वनियों को, जिनमें थोड़ा भी सम्बन्ध की गन्ध हो, देख लेना चाहिए। एक ही ध्वनि का संदिग्ध युग्म एक से अधिक ध्वनियों के साथ बन सकता है, वैसी स्थिति में हर ध्वनि के साथ उसे अलग-अलग देखना पड़ता है। उदाहरणार्थ—
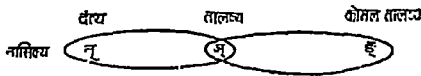
इस प्रकार घेर कर चार्ट में संदिग्ध युग्म बनाते हैं। यहाँ दो संदिग्ध युग्म हैं 'न ञ' और 'ञ ङ'। 'न ङ' का भी संदिग्ध युग्म बनाया जा सकता है। सन्दिग्ध युग्म नीचे-ऊपर भी बनते हैं—

इस प्रकार की सारी सम्भावनाओं की परीक्षा करने पर मान लिया जाय कि किसी भाषा में प्राप्त ६० प्रयुक्त ध्वनियों में तीन संध्वनियों का एक वर्ग बना, अर्थात् वे तीनों एक ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ हैं, तो उनमें सबसे अधिक स्थानों पर आने वाली ध्वनि को ध्वनिग्राम मानेंगे और उसके अंतर्गत उन तीनों को संध्वनि मानेंगे। ध्यान देने की बात है कि तीनों में प्रमुख को तो ध्वनिग्राम मान लिया जायगा, किन्तु साथ ही वह संध्वनियों में भी रहेगी। ऊपर के 'न' वाले उदाहरण को लें और मान लें कि तीनों संध्वनियाँ सिद्ध हुईं तो उन्हें यों दिखायेंगे—

। न् ।—[न] [ङ] [ञ]

अर्थात् *ध्वनिग्राम* को रेखाओं के भीतर तथा संध्वनियों को कोष्ठकों के भीतर दिखाते हैं। इसके साथ ही इस बात का भी विवरण देना होता है कि इन तीनों संध्वनियों के आने के अलग-अलग वातावरण क्या हैं, जिनके कारण ये परिपूरक वितरण में हैं।

जैसे । ड । [ड] शब्दारंभ में, मध्य में, संयुक्त व्यंजन रूप में, अंग्रेजी शब्दों में
(डोरी) (डण्डा) (रेडियो)
[ड़] अन्यत्र (कड़ाका, पहाड़)

थोड़ी देर के लिए मान लें कि एक ही ध्वनि के विभिन्न रूप संध्वनियों के रूप में मिले, जैसे ल[१] (सामान्य), ल[२] (अग्रोन्मुख), ल[३] (पश्चोन्मुख), तो ल को ध्वनिग्राम मानेंगे और इन तीनों को संध्वनियाँ—

। ल । [ल्[१]] [ल्[२]] [ल्[३]]

यदि कोई ध्वनि किसी के साथ संध्वनि रूप में नहीं आती तो जैसा कि कहा जा चुका है, उसे ध्वनिग्राम मानेंगे, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उसके अन्तर्गत भी उसी एक को संध्वनि के रूप में रखना चाहिए—

। र् । [र्]

क्योंकि उस भाषा के ध्वनिग्रामों की गणना में 'र' ध्वनि आयेगी ही, किन्तु साथ ही संध्वनि के रूप में भी र् ध्वनि आयेगी, क्योंकि भाषा में प्रयोग संध्वनि का ही होता है। कुछ लोग इस रूप में इसे स्वीकार नहीं करते, किंतु वैज्ञानिकता एवं व्यवस्थित पद्धति की दृष्टि से यह सर्वथा उचित है। यों किसी भी भाषा में शायद ही ऐसा कोई ध्वनिग्राम हो, जिसकी कम से कम दो-तीन संध्वनियाँ न हों।

इस पद्धति पर ध्वनिग्रामविज्ञान किसी भाषा के ध्वनिग्रामों और संध्वनियों को अलग करता है। यदि उस भाषा के लिए लिपि की आवश्यकता हो तो केवल ध्वनिग्रामों के लिए लिपि-चिह्न बनाते हैं और वे ही चिह्न संध्वनियों के स्थान पर भी आते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी में ल की ४-५ संध्वनियाँ हैं, किन्तु सभी के स्थान पर 'ल' लिखते मिलते हैं।

निष्कर्षतः ध्वनिग्राम के विषय में ये ३-४ बातें प्रमुख रूप से उल्लेख्य हैं—

(१) ध्वनिग्राम किसी भाषा की लघुतम अखंड्य इकाई है (अ् क् आदि)।

(२) ध्वनिग्राम अर्थ को बदलने की शक्ति रखते हैं, जैसे नाली-लाली में 'न' 'ल'। संध्वनियों में अर्थ बदलने की शक्ति नहीं होती। लाली के प्रथम 'ल' को यदि इस रूप में न बोल कर थोड़ा और आगे या पीछे करके बोलें—अर्थात् 'लाली' की प्रथम संध्वनि 'ल' के स्थान पर ल की किसी अन्य संध्वनि का प्रयोग करें—तो सुनने में अस्वाभाविक भले लगे, अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

(३) ध्वनिग्राम आसपास की ध्वनियों से प्रभावित होते हैं। 'ल' ध्वनिग्राम का ही उदाहरण लें, यह ऊ (लू) के साथ कुछ पीछे चला जाता है और ट (वाल्टी) के साथ प्रतिवेष्ठित हो जाता है। इसी प्रकार प्रायः सभी ध्वनिग्राम आसपास की ध्वनियों से प्रभावित होते हैं, और अधिकांश संध्वनियाँ इन प्रभावों के कारण ही आपस में भिन्न होती हैं।

(४) प्रायः ध्वनिग्रामों में एक व्यवस्था होती है या भाषा में ध्वन्यात्मक संतुलन होता है। मान लें, किसी भाषा में प ब, त द, ट, ड और क ध्वनिग्राम हैं तो संभावना

इस बात की होगी कि प्रथम तीन युग्मों में अघोष और घोष दोनों हैं, अतः क के साथ भी 'ग' (घोष) होगा। यदि प्राप्त ध्वनिग्रामों में ऐसी कमी दिखाई पड़े तो फिर से सूचक की सहायता से सामग्री की परीक्षा करनी चाहिए। यों डॉ० ग्लीसन (व्यक्तिगत बातचीत के सिलसिले में) का कहना है कि ऐसा साम्य या संतुलन प्रायः होता है, किन्तु सभी भाषाओं में होता हो, ऐसी बात नहीं है। फिर भी साम्य या संतुलन न मिलने पर फिर से देख लेना चाहिए।

(५) ध्वनिग्राम केवल स्वर और व्यंजन ही नहीं होते, अपितु अनुनासिकता (सँवार, सवार; आँत, आत; आँधी, आधी; गिराँ, गिरा; बिँधना, बिधना; बेंदी, बेदी); सुर (चीनी में मा= घोड़ा, मा= एक कपड़ा), बलाघात [अंग्रेजी में present (संज्ञा) present (क्रिया)]; मात्रा (हिन्दी में पका, पक्का; सटा, सट्टा; बचा, बच्चा) तथा संगम (हिन्दी, में चलन, चल न, तुम्हारे, तुम् हारे) भी होते हैं। इन पर अलग-अलग प्रकाश डालते हुए यह कहा जा चुका है कि ये सार्थक होते हैं, और भाषा के शरीर (ध्वनि) का हर सार्थक उपकरण ध्वनिग्रामविज्ञान में विवेचन का विषय होता है।

(६) कभी-कभी दो ध्वनियाँ एक दूसरे के स्थान पर बिना अर्थ-परिवर्तन किये आती रहती हैं, जैसे हिन्दी की लोक बोलियों में क़, क या ग़, ग आदि। उदाहरण के लिए 'क़ानून' 'कानून', (अर्थात् क़ और क) कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसे **स्वच्छन्द परिवर्तन** (free variation) कहते हैं। यों यह क़, क वाली बात उर्दू या परिनिष्ठित हिन्दी में ठीक नहीं मानी जा सकती। वहाँ क, क़, ख, ख़, ग, ग़, आदि ध्वनिग्राम हैं, क्योंकि उनके न्यूनतम विरोधी युग्म (ताक, ताक़, खैर, ख़ैर, बाग, बाग़, आदि) मिलते हैं। यहाँ ध्वनिग्रामविज्ञान का केवल परिचयात्मक विवरण दिया गया है, उसका विस्तृत विवेचन इस पुस्तक की सीमा से बाहर है।

हिन्दी ध्वनिग्राम

ध्वनिग्राम दो प्रकार के होते हैं: क. खंड्य (segmental), ख. खंड्येतर (suprasegmertal)। खंड्य में 'स्वर' और 'व्यंजन' आते हैं, तथा खंड्येतर में बलाघात, सुरलहर, संगम, अनुनासिकता, दीर्घता आदि। खंड्येतर ध्वनिग्राम स्वतंत्र रूप से नहीं आ सकते, वे खंड्य ध्वनिग्रामों पर ही आधारित होते हैं।

खंड्य ध्वनिग्राम

हिन्दी में प्रयुक्त प्रमुख ध्वनियाँ निम्नांकित हैं—

व्यंजन—					
प्	त्	च्	ट्	क्	क़
फ़	थ्	छ्	ठ्	ख्	
ब्	द्	ज्	ड्	ग्	
भ्	ध्	झ्	ढ्	घ्	
म्	न्	ञ्	ण्	ङ्	
	र्				
	ल्				
			ड़्		
			ढ़्		
फ़	स्	श्	ष्	ख़्	ह्
व़्	ज़्			ग़्	ह़्
व्		य्			

(१) वर्णमाला में दिए जाने वाले वर्णों में यहाँ 'ऋ', 'अं', 'अः', 'क्ष', 'ज्ञ' 'त्र' नहीं लिए गए हैं, क्योंकि ये उच्चारण में एक ध्वनि न होकर संयुक्त ध्वनियाँ (रि; अङ्, अञ्, अन्, अण्, अम्, अह; क्+श् (ष), ग्+यँ (मूलतः ज्+ञ्); त्+र्) हैं। व्यंजनों में ऊपर का ह् अघोष है, दूसरा घोष; इसी प्रकार ऊपर का व दंतोष्ठ्य है, दूसरा द्वयोष्ठ्य।

(२) कुछ लोगों के अनुसार स्वरों में अ, इ, उ ही मूल स्वर हैं, और आ, ई, ऊ उनके दीर्घ रूप हैं; अतः अ, इ, उ, आ, ई, ऊ छः ध्वनिग्राम मानना अनावश्यक है, अ, इ, उ तथा दीर्घता चार ही पर्याप्त हैं। अर्थात् आ=अ+दीर्घता, ई=इ+दीर्घता, ऊ=उ+दीर्घता। किन्तु ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आ, ई, ऊ केवल मात्रा की दृष्टि से ही भिन्न न होकर स्थान की दृष्टि से भी भिन्न हैं।

(३) कुछ पश्चिमी विद्वान् महाप्राण व्यंजनों को अल्पप्राण+ह (जैसे ख्=क्+ह; झ=ज्+ह) मानकर उन्हें भी हटाने के पक्ष में हैं, किन्तु वितरण तथा बोलने में लगने वाला समय आदि दृष्टियों से उन्हें संयुक्त व्यंजन नहीं माना जा सकता, वे भी अल्पप्राण की तरह मूल व्यंजन हैं।

(४) हिन्दी के काफी लोग क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का भी प्रयोग करते हैं, अतः इन्हें भी ले लिया गया है।

(५) स्वरों में 'ऑ' को भी लिया जा सकता है जो अंग्रेजी शब्दों (कॉलिज, डॉक्टर) में उच्चरित होता है। इसका स्थान 'ओ' से कुछ नीचे है।

ध्वनिग्रामों एवं संध्वनियों का निर्धारण—जिन ध्वनियों के बारे में सन्देह हो कि कहीं वे एक ध्वनिग्राम की संध्वनि तो नहीं हैं, पहले उनके 'न्यूनतम विरोधी युग्म' (ऐसे जोड़े जिनके अर्थ भिन्न हों, और ध्वनि के स्तर पर अंतर केवल उन्हीं ध्वनियों के कारण हो जिनके बारे में सन्देह हो) ढूंढ़ते हैं; यदि मिल गया तो उन्हें अलग ध्वनिग्राम मान लेते हैं। यदि ऐसे युग्म न मिलें तो वितरण के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर इस बात का निर्धारण करना पड़ता है। हिन्दी के काफ़ी युग्म मिल जाते हैं। उदाहरण के

लिए, स्वरों के युग्म हैं : अ-आ : कम-काम; इ-ई : कटि-कटी; उ-ऊ : सुर-सूर; ए-ऐ : मेल-मैल; ओ-औ : ओर-और। इसी प्रकार यदि कोई चाहे तो अन्य स्वरों के बारे में भी अपना संदेह मिटा सकता है, जैसे अ-इ : पट्-पिट्; अ-उ : पट-पुट; अ-ए : कला-केला आदि। व्यंजनों के भी युग्म या इस प्रकार ये वर्ग मिल जाते हैं, जैसे क-ख-ग-घ; कड़ा-खड़ा-गड़ा-घड़ा, च-छ-ज-झ : चल्-छल्-जल् झल्। यदि चार के एक साथ न मिलें तो तीन या दो के खोजे जा सकते हैं, जैसे ट-ड-ढ : टाल्-डाल्-ढाल्; ट-ठ : काट्-काठ्। जैसा कि ऊपर संकेतित है, हिन्दी की काफ़ी ध्वनियों के इस प्रकार के 'युग्म' या 'वर्ग' मिल जाते हैं। इस तरह अधिकांश ध्वनियाँ ध्वनिग्राम सिद्ध हो जाती हैं। मुख्य विवाद निम्नांकित के विषय में है।

(क) आ-ऑ—इनके न्यूनतम विरोधी युग्म नहीं मिलते, और न वितरण के अन्य आधारों पर इनमें विरोध दिखाया जा सकता है, अतः ये दो स्वतंत्र ध्वनिग्राम नहीं हैं। अंग्रेज़ी शब्दों में जहाँ ऑ (कॉलिज, डॉक्टर आदि) का प्रयोग करते हैं, वहाँ अनेक लोग आ (डाक्टर, कालिज) भी बोलते हैं। इस प्रकार उन शब्दों में ये दोनों मुक्त परिवर्तन (free variation) में हैं, अर्थात् कोई भी आ सकता है।

(ख) ड-ड़—पहले ये दोनों 'ड' ध्वनिग्राम की दो संध्वनियाँ थीं। डर, डाल, अण्डा, अड्डा, खड्ड, खण्ड, खण्डन; सड़क, पहाड़ के आधार पर इनका वितरण दिखलाया जा सकता है :

	आदि	मध्य (मूल)	मध्य (अन्य)	अंत (मूल)	अंत (अन्य)
ड	✓	×	✓	×	✓
ड़	×	✓	×	✓	×

इस तरह परिपूरक वितरण थे। अब अंग्रेज़ी शब्दों (रेडियो, रोड) के आने तथा नये शब्दों के बनने (अडिग, निडर) से यह संतुलन बिगड़ गया है, और दोनों विरोधी हो गए हैं, अतः दोनों स्वतंत्र ध्वनिग्राम हैं। अब तो इनके न्यूतम विरोधी युग्म भी हैं : कोड-कोड़ (हिन्दू कोड बिल तथा ईख का कोड़=गुड़ाई)।

(ग) ढ-ढ़—पहले ये भी 'ढ' ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ थीं। 'ढ' आरम्भ में (ढक्कन, ढोल) या अन्यत्र संयुक्त रूप में (गड्ढा) आता था तथा ढ़ मध्य एवं अन्त में मूल रूप में (पढ़ाई, गढ़) आता था। अब बेढब, निढाल जैसे शब्दों के कारण ये दोनों स्वतन्त्र ध्वनिग्राम माने जा सकते हैं। यों हिन्दी के पूरे ढाँचे में ड-ड़ की समानता की दृष्टि से भी यह स्वीकार्य है।[1]

१. इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि अमरीकी विद्वान् ध्वनिग्राम के निर्धारण में मात्र वितरण पर बल देते हैं। भारत के अधिकांश भाषाशास्त्री भी इसी पक्ष में हैं। मैं इस दृष्टि से भाषाविज्ञान के लेनिनग्राद स्कूल एवं अमरीकी स्कूल के सिद्धान्तों को मिलाकर यह मानता हूँ कि वितरण, उच्चारण और श्रवणीयता तीनों ध्वनिग्राम के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से यदि रोड, रेडियो, निडर, बेढब निढाल जैसे शब्द न हों तो भी हिन्दी में ड़, ढ़ स्वतंत्र ध्वनिग्राम माने जाने चाहिए।

(ई) म-न-ण-ञ-ङ—इनमें म-न तो स्पष्ट ध्वनिग्राम हैं : काम-कान। कुछ लोग ण-ञ-ङ को न की संध्वनियाँ मानते हैं। मेरे विचार में 'ञ' ही 'न' की संध्वनि है :

ञ=च, छ, ज, झ के पूर्व

न—अन्यत्र

'ङ' सामान्यतः क ख ग घ के पूर्व आता है, और इस दृष्टि से इसे 'न' की संध्वनि कहा गया है, किंतु इससे 'न' का विरोध भी (कंखी-पङ्खी'; तिन्का, चिन्गारी, उन्का) है, अर्थात् 'न' भी 'क' के पूर्व आता है। साथ ही वास्तविक उच्चारण में ङ, क ख ग घ के साथ ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी आता है : वाङ्मय, माँङ् (माँग), बाँङ् (बाँग), इंसिङ्। उसका स्वतंत्र उच्चारण तो है ही, और वह स्पष्ट श्रवणीय भी है। अतः मेरे विचार में 'ङ' भी स्वतंत्र ध्वनिग्राम है, 'न' की संध्वनि नहीं। 'ण' ट ठ ड ढ के साथ संयुक्त रूप में तो आता है, किन्तु साथ ही आदि स्थिति छोड़कर अन्यत्र भी गणना, प्राण, गण्यमान, कण्व आता है; अतः वह भी स्वतंत्र ध्वनिग्राम है। यों इसके बारे में तीन बातें उल्लेख्य हैं : (१) इसका उच्चारण अब प्रायः ड़ँ होता जा रहा है; (२) जिन शब्दों (गुण, गणना, प्राण, वीणा) में यह स्वतन्त्र रूप से आता है, वहाँ भी यह 'न' से मुक्त परिवर्तन (गुण-गुन, प्राण-प्रान) में है, (३) इस प्रकार इसकी सत्ता धीरे-धीरे समाप्त-सी हो रही है, और आगे चलकर ध्वनिग्राम के रूप में इसकी सत्ता समाप्त हो जाने की संभावना है, अर्थात् म, न, ङ ध्वनिग्राम हैं, ण समाप्तोन्मुख ध्वनिग्राम तथा ञ संध्वनि।

(उ) क़-ख़-ग़-ज़-फ़—कुछ अन्य लोग इन्हें ध्वनिग्राम नहीं मानते। मेरे विचार में इनके सम्बन्ध में तीन स्थितियाँ हैं : (१) जो लोग इनका शुद्ध उच्चारण करते हैं, उनके उच्चारण में ये निश्चित रूप से ध्वनिग्राम हैं। न्यूनतम विरोधी तथा उपन्यूनतम विरोधी युग्म हैं : ताक़-ताक, क़दम-कदम्ब; ख़ैर-खैर, ख़त-खत (घाव, क्षत); बाग़-बाग, ग़म-गम (पहुँच), ग़मक-गमक; राज़-राज, ज़माना-जमाना; कफ़-कफ (श्लेष्मा); (२) जो लोग इनका प्रयोग नहीं करते, उनकी भाषा में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ हैं ही नहीं। (३) बीच के लोग जो इनका प्रयोग करते भी हैं, और नहीं भी करते, उनके उच्चारण में ये मुक्त परिवर्तन (free variant) हैं, अर्थात् उनके उच्चारण में ग़रीब-गरीब, फ़ैसला-फैसला में कोई अन्तर नहीं है। यों मेरे विचार में वितरण, उच्चारण एवं श्रवणीयता

---

१. जब ध्वनियों के न्यूनतम विरोधी युग्म नहीं मिलते तो उपन्यूनतम विरोधी युग्म (subminimal pair) खोजे जाते हैं, और उनके आधार पर भी विरोध दिखाया जा सकता है। यद्यपि यह उतना निश्चित नहीं होता, जितना न्यूनतम विरोधी युग्म द्वारा प्रदर्शित विरोध। उपन्यूनतम विरोधी युग्म में ध्वनियों का अन्तर न्यूनतम युग्म से अधिक होता है। कन्खी-पङ्खी उपन्यूनतम विरोधी युग्म हैं। यदि 'कन्खी-कङ्खी' या 'पन्खी-पङ्खी' होते तो न्यूनतम विरोधी युग्म होता।

तीनों दृष्टियों से—जैसा कि मैं ध्वनिग्राम के लिए आवश्यक मानता हूँ—परिनिष्ठित हिन्दी एवं उर्दू में इन्हें ध्वनिग्राम मानना चाहिए।

(ऊ) श की दो संध्वनियाँ हैं : (१) ष—ट वर्ग के पहले संयुक्त व्यंजन रूप में (कष्ट, अष्ट, स्पष्टता); (२) श—अन्यत्र।

(ए) व की को संध्वनियाँ हैं : दंतोष्ठ्य व तथा द्वयोष्ठ्य व। दोनों के वितरण के बारे में मतभेद है। डॉ० सक्सेना के अनुसार दंतोष्ठ्य आदि (वहाँ), व्यंजन के पूर्व (अवकाश) तथा दीर्घ (कव्वाली) रूप में आता है तथा द्वयोष्ठ्य आरम्भिक व्यंजन के बाद (स्वाद) तथा उ के बाद (कनकउवा)। डॉ० उ० ना० तिवारी के अनुसार दंतोष्ठ्य शब्द के मध्य में व्यंजन-संयोगों के साथ आता है। डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया द्वयोष्ठ्य को व्यंजन-गुच्छ रूप में मध्य (क्वार) तथा अंत (स्व) में मानते हैं तथा दंतोष्ठ्य को अन्यत्र (वन, नवल, हवा)। मेरे अनुसार दन्तोष्ठ्य संयुक्त व्यंजन के प्रथम सदस्य-रूप में (व्यापार, व्यवहार) तथा दंतोष्ठ्य म के बाद (संविधान, संवेदना) एवं द्वयोष्ठ्य अन्यत्र (स्वाद, ज्वर, वहाँ, सवारी, राव, कनकउवा) आता है। डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार द्वयोष्ठ्य उ तथा स-श के बाद (कनकउवा, स्वर, श्वेत) एवं दंतोष्ठ्य अन्यत्र आता है। इधर मैंने इस विषय में फिर से सर्वेक्षण किया है और लगता है कि इस दृष्टि से हिन्दीभाषियों में अब एकरूपता नहीं है, और न्यूनाधिक रूप में ये मुक्त परिवर्तन होने के पथ पर हैं।

(ऐ) ह की दो संध्वनियाँ हैं, अघोष ह, घोष ह। संस्कृत में विसर्ग अघोष था, किंतु हिंदी में घोष हो गया है। हिंदी में ह का वितरण है : अघोष—आदि में (हवा, हीरा, हाथ); घोष—अन्यत्र (वहाँ, यह, प्रायः)।

खंड्येतर ध्वनिग्राम

बलाघात—मेरे विचार में वाक्य-स्तर पर अन्य भाषाओं की भाँति हिंदी में भी बलाघात ध्वनिग्रामिक है। वाक्यों के न्यूनतम युग्म हैं :

मैं घर जा रहा हूँ। (सामान्य)

मैं घर जा रहा हूँ। (मैं पर बल, अतः वाक्य का विशेष अर्थ)

मैं घर जा रहा हूँ। (घर ,, ,, ,, ,, ,,)

यहाँ सुरलहर का भी योग है, किन्तु बल भी है।

सुरलहर—हिंदी में ध्वनिग्रामिक है। वाक्य-स्वर पर भी तथा शब्द-स्तर पर भी। वाक्य का उदाहरण है—

मोहन मर गया। (सामान्य)

मोहन मर गया ? (प्रश्न)

मोहन मर गया ! (आश्चर्य)

यहाँ स्वर-व्यंजन आदि एक हैं, किंतु सुरलहर में अंतर से अर्थ बदल गया है। हिंदी में ४-५ प्रकार की सुरलहर प्रयुक्त होती है।

सङ्गम—हिंदी में ध्वनिग्रामिक है। न्यूनतम विरोधी युग्म हैं : तुम् हारे-तुम्हारे, न दी—नदी, आ जा-आजा, खा जा-खाजा, सिर का-सिरका, हो ली-होली। हिंदी में संगम कई प्रकार का है।

अनुनासिकता—हिंदी में ध्वनिग्रामिक हैं। न्यूनतम विरोधी युग्म हैं : है-हैं, सास-साँस, गोद-गोंद, बाए-बाएँ, संवार-सँवार, बिदना-बिंदना आदि।

दीर्घता—व्यंजनों की दीर्घता भी ध्वनिग्रामिक है : पका-पक्का, लगी-लग्गी, बचा-बच्चा, सजी-सज्जी, मिटी-मिट्टी, आसन-आसन्न, बला-बल्ला।

निष्कर्षतः हिंदी में इक्यावन ध्वनिग्राम माने जा सकते हैं स्वर—अ, आ, इ, ई उ, ऊ, ए, ऐ, व्यंजन—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, ङ, ण, न, म, य, र, ल, व, स, श, ह, ड़, ढ़, क़, ख़, ग़, ज़, फ़; खंड्येतर—बलाघात, सुरलहर, संगम, अनुनासिका, दीर्घता।

(ट) ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic Transcription)

पीछे ध्वनि के सम्बंध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। उससे तथा ध्वनिग्रामविज्ञान में संध्वनि (allophone) के प्रसंग में कही गई बातों से स्पष्ट है कि हम जो बोलते हैं, वह ठीक वैसा ही नहीं है जैसा कि लिखते हैं। बोलने में अनेक सूक्ष्म बातें हैं, जिनका लिखने में बिल्कुल विचार नहीं किया जाता। इतना ही नहीं, परम्परा का अनुकरण करने के कारण हम लिखने में प्रायः बहुत दूर चले जाते हैं। इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतिलेखन के प्रमुखतः दो भेद हैं—(१) परम्परागत, (२) ध्वन्यात्मक। (१) परम्परागत प्रतिलेखन में हमारा ध्यान इस बात पर विशेष नहीं रहता कि हम क्या बोल रहे हैं, अपितु इस बात पर रहता है कि हम जो बोल रहे हैं, उसे परम्परागत रूप से कैसे लिखते आये हैं। नागरी, रोमन, उर्दू आदि में आज जो हम लिखते हैं, इसी प्रकार का है। अर्थात्, उसमें काफ़ी अंश ऐसा है जो हमारे बोलने के अनुरूप बिल्कुल नहीं है। उर्दू में 'तोय' और 'ते' का प्रयोग होता है यद्यपि सर्वत्र 'ते' बोलते हैं। जे, ज़ाल, ज़ोय, ज्वाद आदि लिखते हैं, यद्यपि बोलते केवल 'ज' हैं। 'से, सीन' तथा 'दो, हे' भी इसी प्रकार लिखने में प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि बोलने में उन सभी का अस्तित्व नहीं है। अंग्रेज़ी में तो और भी गड़बड़ियाँ हैं। एक ओर तो 'अ' के लिए u (cup) या i (bird) या o (son) आदि का प्रयोग करते हैं, और दूसरी ओर u कभी 'अ' (sun) उच्चारित होता है, कभी 'उ' (put)। वर्तनी में अनुच्चारित स्वर (colour) तथा व्यंजन (know, right, neighbour, write, talk आदि) एक और ही समस्या उत्पन्न करते हैं। उर्दू में बोलते हैं 'बिलकुल' और लिखते हैं 'बालकुल'। नागरी लिपि में लिखी गई हिन्दी भी इन दोषों से मुक्त नहीं, यों उसे प्रायः बहुत वैज्ञानिक समझा जाता है। लिखने-बोलने के कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे। पहले लिखित रूप दिया गया है फिर कथित या उच्चरित। ऋण-रिड़ँ, ऋषि-रिषि, चंद्रिका-चन्द् इका, द्विवेदी-दुवेदी, साहित्यिक-साहित्तिक, काम-काँम्, नाग-पुर-नाक्पुर, लगभग-लग्भग् आदि। इस प्रकार परम्परागत प्रतिलेखन उससे बहुत दूर

है, जो हम बोलते हैं। (२) ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन का अर्थ है वह प्रतिलेखन जो बोलने के अनुरूप हो। उसमें जो हम बोलते हैं, वही लिखते भी हैं। इसके दो उपभेद हैं: (क) स्थूल प्रतिलेखन (broad transcription) और (ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (narrow transcription)। स्थूल को प्रशस्त या आयत प्रतिलेखन भी कहते हैं। इस प्रतिलेखन में लिखते तो वही हैं जो बोलते हैं, किन्तु मोटे रूप से लिखते हैं। सूक्ष्म बातों का ध्यान नहीं रखते। उदाहरण के लिए, 'ध्वनिग्रामविज्ञान' के प्रसंग में कहा जा चुका है कि कोई भी ध्वनि किसी भाषा में सभी प्रसंगों में बिल्कुल एक नहीं होती। बाल्टी, लू, ला, ली, इन चारों के 'ल' सूक्ष्मता की दृष्टि से एक नहीं हैं, अपितु चार हैं, किन्तु स्थूल प्रतिलेखन में इन चारों को चार न लिखकर एक 'ल' ही लिखते हैं। दूसरे शब्दों में, संध्वनियों को सूक्ष्म रूप में न लिखकर मोटे ढङ्ग से सारी संध्वनियों के लिए एक चिह्न का ही प्रयोग होता है। रोज के सामान्य लेखन के लिए यही लेखन अच्छा है। तुर्की आदि ने अपना लेखन ऐसा ही बना लिया है। हर भाषा की लिपि ऐसी ही हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। इसमें तीन बातों का ध्यान प्रमुख रूप से रक्खा जाना चाहिए: (१) भाषा के हर ध्वनिग्राम के लिए लिपिचिह्न हो। (२) न तो एक लिपिचिह्न एक से अधिक ध्वनिग्रामों को व्यक्त करे, और न एक ध्वनिग्राम एक से अधिक लिपिचिह्न द्वारा व्यक्त हो। इस प्रकार लिपि में ठीक उतने चिह्न हों, जितने भाषा में ध्वनिग्राम हों। (३) लिपिचिह्न लिखने, पढ़ने, टाइप करने एवं प्रेस की दृष्टि से सरल एवं स्पष्ट हों।

सूक्ष्म प्रतिलेखन को 'संकीर्ण' या 'संयत' भी कहते हैं। यह प्रतिलेखन सामान्य लेखन में नहीं प्रयुक्त होता। जब किसी भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन करना होता है, तो उसका सूक्ष्म प्रतिलेखन करते हैं। इसका मूल आधार तो स्थूल प्रतिलेखन के लिपिचिह्न होते हैं, किंतु लिखने में केवल स्थूल बातों का ही ध्यान न देकर सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को देखते हैं और उनके लिए अलग-अलग चिह्नों का प्रयोग कर ठीक उसके अनुरूप लिखने का प्रयास करते हैं, जैसे कि वक्ता बोलता है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि स्थूल प्रतिलेखन में केवल ध्वनिग्रामों को लिखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म में संध्वनियों को लिखा जाता है। ऐसा करने के लिए स्थूल प्रतिलेखन के चिह्नों के अतिरिक्त और भी बहुत से उपचिह्नों (डायक्रिटिक्स) (जैसे संवृत, विवृत, ईषत् अनुनासिक, वृत्तमुखी, आगे बढ़ा, पीछे हटा, मूर्द्धन्यीकृत, आदि) की सहायता लेनी पड़ती है। प्रमुख लिपिचिह्न ऊपर दिए गए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिन्ह (International Phonetic Alphabet)

ध्वनिशास्त्र के अध्येताओं ने बहुत पहले यह देख लिया था कि संसार की कोई भी लिपि ध्वन्यात्मक लेखन के लिए ठीक नहीं है। इसीलिए कई सदी पूर्व से लोग किसी वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक लिपि के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। इसके लिए अब तक लगभग दो दर्जन से अधिक प्रयास हुए हैं, किन्तु बहुत कम को कुछ विशेष मान्यता मिल सकी है।

कुछ समय पूर्व तक भारत में तथा यूरोप आदि में भी रोमन लिपि पर आधारित रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की लेखन-पद्धति का प्रायः प्रयोग होता रहा है। इसमें दीर्घ स्वर के लिए—(i, a) तथा टवर्ग के लिए (t.) का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से सबसे अधिक प्रचार 'अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न' का है। यह आज भी विश्व के अधिकांश भाषाविदों द्वारा प्रयुक्त हो रहा है। इस लिपि-चिह्न का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषद् से है। १८८६ में येस्पर्सन ने सर्वप्रथम संसार की सारी भाषाओं के लिए एक लिपिचिह्न बनाने के लिए पाल पासी को एक पत्र लिखा था। उसी के फलस्वरूप परिषद् के सदस्यों ने दो वर्ष बाद १८८८ में इस लिपि का प्रथम रूप बनाया। तब से इसका प्रयोग होता आ रहा है, और प्रयोग के आधार पर आवश्यकतानुकूल इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते आ रहे हैं। इनमें डैनियल जोन्स का विशेष हाथ रहा है। आज इसके व्यंजन तथा स्वर-चिह्न ये हैं—

अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि

		द्वयोष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालु वर्त्स्य	वर्त्स्यतालव्य	तालव्य	कंठ्य	अलिजिह्वीय	उपालिजिह्वीय	स्वर यंत्र मुखी
व्यंजन	स्पर्शी	p b		t d	ʈ ɖ			c ɟ	k g	q G		ʔ
	नासिक्य	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	N		
	पार्श्विक संघर्षी			ɬ ɮ								
	पार्श्विक संघर्षहीन			l	ɭ			ʎ				
	लुंठित			r						R		
	उत्क्षिप्त			ɾ	ɽ					R		
	संघर्षी	ɸ β	f v	θ ð | s z | ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç ʝ	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
	संघर्षहीन सतत तथा अर्ध स्वर	w ɥ	ʋ	ɹ				j (ɥ)	(w)	ʁ		
स्वर								अग्र मध्य पश्च				
	संवृत	(y u)						i y ɨ ʉ	ɯ u			
	अर्ध संवृत	(ø o)						e ø ə	ɤ o			
	अर्ध विवृत	(œ ɔ)						ɛ œ æ	ʌ ɔ ɐ			
	विवृत	(ɒ)						a	ɑ ɒ			

कहना न होगा कि इनके प्रयोग से किसी भी भाषा का प्रायः केवल स्थूल प्रतिलेखन ही किया जा सकता है, इसीलिये सूक्ष्म प्रतिलेखन के लिये इस पद्धति में कुछ अतिरिक्त चिह्न भी बनाये गये हैं। बहुत-सी भाषाओं में अपेक्षित नयी ध्वनियों के लिये ये सभी लिपि-चिह्न या चिह्न यादृच्छिक हैं, और आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं।

नागरी लिपि के आधार पर भी ध्वनि-चिह्न बनाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से कुछ प्रयास हो चुके हैं। ध्वन्यात्मक नागरी लिपि का रूप कुछ इस प्रकार हो सकता है :

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि

उच्चारण विधि	स्थान →	द्वयोष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य-तालव्य	तालव्य	कोमल तालव्य	अलिजिह्वीय	उपालिजिह्वीय	स्वरयंत्रमुखी
स्पर्श अल्पप्राण	अघोष	प्		त्	ट्	ट्		क्	क्	क़्		?
	सघोष	ब्		द्	ड्	ड्		ग्	ग्	ग़्		
महाप्राण	अघोष	फ्		थ्		ठ्			ख्			
	सघोष	भ्		ध्		ढ्			घ्			
स्पर्श-संघर्षी अल्पप्राण	अघोष	प्फ़्		त्स्	ट्स् (च़्)		ट्श् (च्)					
	सघोष	ब्व़्		द्ज़्	ड्ज़्		ड्झ़् (ज्)					
महाप्राण	अघोष						छ्					
	सघोष						झ्					
पार्श्विक-संघर्षी	अघोष				ट्ल्							
	सघोष				ड्ल्							
संघर्षी	अघोष	फ़्	फ़	थ़्	स्	ष्	श्	श़्	ख़्	ख़्	ह़	ह्
	सघोष	ब़्	व़्	द़्	ज़्, ऱ्	ज़्	झ़्	य़्	ग़्	ग़्	९	ह्
अनुनासिक	अल्पप्राण सघोष	म्	म्ँ		न्	ण्		ञ्	ङ	ङ़		
	महाप्राण सघोष	म्ह्			न्ह्				ङ्ह्			
पार्श्विक	अल्पप्राण सघोष				ल्	ळ्		ल़्				
	महाप्राण सघोष				ल्ह्							
लुंठित	अल्पप्राण सघोष				र्					ऱ्		
	महाप्राण सघोष				र्ह्							
उत्क्षिप्त	अल्पप्राण सघोष				ड़	ड़्				ऱ्		
	महाप्राण सघोष					ढ़्						
अप्रवाह अर्धस्वर	सघोष	य़्	व्		ऱ्			य्				

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि की भाँति ही इस नागरी लिपि से भी स्थूल प्रति

लेखन ही संभव है। सूक्ष्म प्रतिलेखन के लिये कुछ संस्कारक या विकारक (modifier) या अन्य बातों के लिये विशेष चिह्न भी अपेक्षित हैं, जो सुविधा एवं आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं। कुछ प्रमुख चिह्न पीछे दिये गये हैं।

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि के स्वर इस प्रकार के हो सकते हैं :

स्वर

	द्वयोष्ठ्य	तालव्य अग्र	मध्य	कोमल तालव्य पश्च
संवृत	(ई़ ऊ)	ई ई़	ई ऊ	ऊ ऊ
अर्द्ध संवृत	(ए़ ओ)	ए ए़		ओ ओ
अर्द्ध विवृत	(ऍ़ ऑ)	ऍ ऍ़	अं	अ ऑ
विवृत	(आ)		ऍ अ्	आ आ आ

ध्वन्यात्मक लिपि की अमरीकी पद्धति

अन्तर्राष्ट्रीय लिपि-चिह्न में सिद्धान्त के अतिरिक्त टाइप आदि की सुविधा की दृष्टि से भी कुछ कमियाँ हैं। इसी कारण इधर अमेरिका में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ कई पद्धतियाँ विकसित हो गई हैं, जिनमें पाइक की सम्भवतः सबसे अधिक प्रचलित है।

यूरोप के भी कई देशों में कुछ नयी पद्धतियाँ चल रही हैं।

७ | शब्दविज्ञान[1]

'शब्दविज्ञान' शब्द का विज्ञान है। इसमें 'शब्द' और उससे संबद्ध उन सारे अध्ययनों को रखा जा सकता है, जो भाषाविज्ञान की पारम्परिक शाखाओं—ध्वनि-विज्ञान, रूपविज्ञान तथा अर्थविज्ञान—में नहीं रक्खे जा सकते।

संसार की सभी भाषाओं को दृष्टि में रखते हुए शब्द की सभी दृष्टियों से पूर्ण परिभाषा देना असम्भव-सा है। इस विषय पर विचार करते हुए येस्पर्सन, वेंद्रिये, डैनियल जोन्स तथा उल्डल आदि भाषाविज्ञान के अनेक दिग्गजों ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। फिर भी 'शब्द' की काम चलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है : शब्द अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतन्त्र इकाई है। इस परिभाषा में शब्द के सम्बन्ध में प्रमुखतः दो बातें कही गई हैं, जो उसकी विशिष्टता मानी जा सकती हैं : (क) यह अर्थ के स्तर की लघुतम इकाई है, अर्थात् इसका एक स्पष्ट अर्थ होता है, जो अर्थ के स्तर पर लघुतम होता है। यह ध्वनि के स्तर की लघुतम इकाई नहीं है क्योंकि इसमें एक ध्वनि भी हो सकती है और अधिक भी। (ख) यह इकाई स्वतन्त्र है, अर्थात् प्रयोग में या अर्थ व्यक्त करने में इसे किसी और की सहायता अपेक्षित नहीं होती। 'अ' (उपसर्ग) भी अर्थ के स्तर पर लघुतम इकाई (=नहीं) है और 'ता' (प्रत्यय) भी (=भाववाचकता), किन्तु ये शब्द नहीं माने जा सकते, क्योंकि अर्थ की लघुतम इकाई होते हुए भी इनका अकेले प्रयोग नहीं हो सकता। इनके अर्थ की सार्थकता किसी के साथ होने (अपूर्ण, पूर्णता) पर ही है और उसी रूप में प्रयोग में आ सकते हैं। इस प्रकार ये परतन्त्र हैं। इनके विरुद्ध "पूर्ण" एक शब्द है,

---

१. भाषाविज्ञान की प्रमुख शाखाएँ केवल चार—ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान, अर्थविज्ञान—परम्परा गत रूप से मानी जाती हैं। मेरा विचार है कि 'शब्दविज्ञान' नाम की एक पाँचवीं शाखा इनके साथ जोड़ दी जानी चाहिए, क्योंकि इस अध्याय में शब्द के जिन विभिन्न पक्षों को लिया गया है, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से सुविधापूर्वक, उपर्युक्त चार में किसी में भी नहीं रक्खा जा सकता और साथ ही भाषा के सर्वाङ्गीण विवेचन से वे इतने अधिक संबद्ध हैं कि उन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता। शब्दों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की ये पुस्तकें : 'शब्दों का जीवन तथा 'शब्दों का अध्ययन'।

क्योंकि इसमें उपर्युक्त दोनों बातें हैं। यह लघुतम इकाई भी है और स्वतंत्र (वह पूर्ण है) भी।

शब्दों का वर्गीकरण—यों तो शब्दों को व्याकरणिक कार्यकारिता की दृष्टि से आठ वर्गों (parts of speech) में रखा जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण बड़ा उथला और मात्र व्यावहारिक है, जैसाकि येस्पर्सन आदि ने दिखाया है। अपने यहाँ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप में जो चार, या सुबन्त तिङन्त और अव्यय रूप में जो तीन वर्ग बनाये गये हैं, वे भी अपेक्षाकृत ठोस होते हुए भी बहुत दूर तक नहीं टिकते। कार्यकारिता को यदि छोड़ दें तो प्रमुखतः दो आधार वर्गीकरण के लिये बच रहते हैं : रचना और इतिहास। रचना के आधार पर शब्दों के रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ ये तीन भेद होते हैं। रूढ़ शब्द तो वे हैं, जिनके उस अर्थ में सार्थक टुकड़े न हो सकें, जैसे भैंस, जल, कलम आदि। यौगिक उन शब्दों को कहते हैं, जो दो शब्दों या दो सार्थक लघुतम भाषा-इकाइयों के योग से बने हों। 'ग्राममल्ल' दो शब्दों के योग से बना है और 'कलमदान' या 'सुन्दरता' दो सार्थक लघुतम भाषा-इकाइयों से। इनमें प्रथम भाग 'शब्द' है और दूसरा 'प्रत्यय'। योगरूढ़ उन्हें कहते हैं जो दो से बने हैं, किंतु जिनका अर्थ विशेष अर्थ में संकुचित हो गया है, जैसे 'पंकज'। इसका अर्थ पंक से उत्पन्न सभी चीजों या वनस्पतियों के लिए न होकर केवल 'कमल' है। ऊपर शब्द को 'लघुतम इकाई' कहा जा चुका है। उस दृष्टि से स्पष्ट ही इन तीनों में तत्त्वतः प्रथम ही शब्द है, शेष दो प्रयोगतः शब्द होते हुए भी प्रकृतितः लघुतम इकाई न होने के कारण यौगिक शब्द हैं, जिनमें एक शब्द के साथ या तो दूसरा शब्द जोड़ा गया है, या कोई अन्य व्याकरणिक तत्त्व।

इतिहास के आधार पर शब्दों को तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी इन चार वर्गों में रखने की परम्परा रही है। तत्सम[1]—संस्कृत के शुद्ध या अविकृत शब्दों को कहते रहे हैं, जैसे जल, विद्या, नर। तद्भव—संस्कृत शुद्ध शब्दों से निकले विकृत या विकसित शब्दों को कहते रहे हैं, जैसे जीभ (जिह्वा), कन्हैया (कृष्ण), साँप (सर्प) और कान (कर्ण)। विदेशी शब्द उन्हें कहते रहे हैं जो बाहर से आये हों, जैसे अंग्रेजी रेल, मोटर, फ़ोटो, या अरबी किताब आदि। देशज शब्द उन्हें कहते हैं, जो उपर्युक्त तीन में किसी में न हों अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति का पता न हो। दूसरे शब्दों में जो इन तीनों में न होकर देश में उत्पन्न या विकसित हुए हों। 'देशज' वस्तुतः निश्चयात्मक नाम है, जबकि इनकी व्युत्पत्ति के बारे में निश्चय के साथ हम कुछ नहीं जानते। इसी लिए मैं 'देशज' के स्थान पर अज्ञातव्युत्पत्तिक नाम के प्रयोग का सुझाव देना चाहता

---

१. 'तत्सम शब्दों की तत्समता चिंत्य है। तत्सम, अर्धतत्सम एवं देशज, आदि पर विस्तृत विवेचन के लिए देखिए मेरी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' का 'शब्द-समूह' शीर्षक अध्याय।

हैं। इन चार के अतिरिक्त इस प्रसंग में कुछ और भी नाम लिये जाते हैं। कुछ लोगों ने दृश्यात्मक शब्द (चमचम, वगवग), प्रतिध्वनि शब्द (लोटा-ओटा), अनुकरणात्मक शब्द (भोंपू), अनुरणनात्मक शब्द (झनझन, टनटन) आदि को अलग माना है, किंतु वस्तुतः ये प्रकृति की दृष्टि से ही भिन्न हैं। इतिहास की दृष्टि से उपर्युक्त चार में ही किसी के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं। अर्थात् ये तो तत्सम होंगे या तद्भव या देशी या विदेशी। कुछ लोगों ने तत्समाभास (श्राप, प्रण), तद्भवाभास (दुलहिन, मौसा) को भी अलग स्थान दिया है। इस तरह तो विदेश्याभास (अखरोट, कलेजा) और देशजाभास (पगड़ी) शब्द भी हो सकते हैं। वस्तुतः जहाँ इतिहास के आधार पर वर्गीकरण किया जा रहा है; 'आभास' पर आधारित शीर्षकों को रखना पूर्णतः अवैज्ञानिक और असंगत है। यहाँ हम लोग इस बात पर नहीं विचार कर रहे हैं कि कोई शब्द क्या लगता है, अपितु इस बात पर विचार कर रहे हैं कि वह क्या है।

ग्रियर्सन, चटर्जी तथा धीरेन्द्र वर्मा आदि बहुत-से चोटी के भाषाविज्ञानवेत्ता इस प्रसंग में 'अर्द्धतत्सम' नामक एक अन्य वर्ग का उल्लेख करते हैं, जो तत्सम और तद्भव के बीच में आता है। अर्द्धतत्सम शब्द उनको कहा जाता है जो आधुनिक काल में या हाल में संस्कृत से गृहीत तत्सम शब्दों से विकसित हुए हैं। उदाहरणार्थ, 'कृष्ण' के 'कान्हा', 'कन्हैया', 'कान्ह' आदि तो तद्भव हैं, किन्तु आधुनिक काल में 'कृष्ण' शब्द भी प्रयोग में आया और 'किशुन' या किशन' उससे आधुनिक काल में ही विकसित हुए। ये 'किशुन' या 'किशन' जैसे शब्द ही अर्द्धतत्सम या अर्द्धतद्भव हैं। वस्तुतः यह वर्ग ठोस विचार-भूमि पर आधारित नहीं दीखता। यदि शब्द संस्कृत के समान है तो 'तत्सम' हुआ और यदि उससे विकसित या विकृत होकर उससे भिन्न हो गया तो तद्भव (—उससे पैदा) हो गया। यह तद्भवता पूर्ण-अपूर्ण, आधी, तिहाई या चौथाई हुई है, इसे नापने के लिए कोई भी आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी शब्द हैं जो वैदिक काल से चले आ रहे हैं और जिनमें बहुत थोड़ा अन्तर आया है, जैसे हल—हर[1] (जोतने का उपकरण)। इसमें केवल एक ध्वनि परिवर्तित हुई। दूसरी ओर ऐसे भी शब्द हैं जो आधुनिक काल में विकृत हुए हैं और जो अर्द्धतत्सम कहे जाते हैं, किंतु उनमें अपेक्षाकृत अधिक ध्वनियाँ विकृत हो गई हैं: कृष्ण-किशन। इसमें ऋ से इ, ष् से श और ण से न हो गया है। ऐसी स्थिति में यदि किशन अर्द्धतत्सम है तो 'हर' को ¾ या ⅘ तत्सम कहना होगा, किंतु 'हर' तद्भव कहलाता है, और 'किशन' अर्द्धतत्सम जो बिलकुल उलटा-सा है। जो अधिक तद्भव है उसे अर्द्धतत्सम कहा जा रहा है जो कम तद्भव है उसे तद्भव। वस्तुतः यदि इन शब्दों को अलग करना ही हो तो मैं परवर्ती तद्भव नाम का सुझाव देना चाहूँगा।

विदेशी शब्द भी विचारणीय हैं। इसका अर्थ दूसरे देश का नहीं है। मान लें हिन्दी में कोई पंजाबी शब्द है। किसी कारण से कल पंजाब भारत से अलग हो जाय,

१. भोजपुरी आदि बोलियों में 'हर' शब्द 'हल' के लिए चलता है।

तो उस दिन से उस शब्द को विदेशी कहेंगे और उसके पूर्व देशी, ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजी शब्द 'फॉरेन' इसके लिए अधिक उपयुक्त है। कोई भी शब्द जो विशिष्ट भाषा-क्षेत्र का नहीं है, अपितु किसी अन्य भाषा से आ गया है, विदेशी है। यहाँ विदेशी का अर्थ है 'अपने क्षेत्र से बाहर का'। ऐसी स्थिति में हिन्दी में आगत तमिल या बँगला शब्द भी उसी प्रकार विदेशी हैं जिस प्रकार फ़ारसी या अंग्रेजी शब्द। देशी जैसा कि कहा जा चुका है, वह है जो इन तीनों में न आये और जिनका जन्म या विकास उसी भाषाक्षेत्र में हुआ हो।

तत्सम-तद्भव का प्रयोग जैसे संस्कृत शब्दों के साथ किया जा सकता है, उसी प्रकार विदेशी के लिए भी किया जा सकता है; क्योंकि उनमें भी कुछ तो मूल रूप में आते हैं, कुछ विकृत रूप में। जैसे हिन्दी में पेंट अपेक्षाकृत तत्सम (अंग्रेजी) है तो दर्जन (दजन) तद्भव (अंग्रेजी) है।

शब्द-समूह (Vocabulary)—किसी भाषा में प्रयुक्त होने वाले समस्त शब्दों के समूह को उस भाषा का 'शब्द-समूह' कहते हैं। किसी भाषा के पूरे शब्द-समूह का ठीक-ठीक अनुमान संभव नहीं है। अंग्रेजी भाषा अन्य क्षेत्रों की भाँति शब्द-समूह के क्षेत्र में भी सबसे धनी कही जाती है। वेब्स्टर कोश के १९३४ के संस्करण में ५५०,००० से कुछ अधिक शब्द हैं। इधर २६ वर्षों में अधिक नहीं तो १०,००० शब्द तो अवश्य ही बढ़े होंगे। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा में इस समय लगभग ५६०,००० शब्द होंगे। मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोष के आधार पर संस्कृत भाषा में १२५,००० शब्दों के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। शब्द-समूह की दृष्टि से हिन्दी का सबसे बड़ा कोश 'बृहत् हिन्दी कोश' है। इसमें लगभग १३६,००० शब्द हैं। इसके आधार पर इस समय हिन्दी में लगभग डेढ़ लाख शब्दों के होने का अनुमान लगाना अनुचित न होगा।

भाषा की भाँति ग्रंथ तथा व्यक्ति का भी अपना शब्द-समूह होता है। पुरानी बाइबिल में ५६४२, नई बाइबिल में ४८००, होमर के ग्रन्थों में ९,०००, मिल्टन में ८,०००, शेक्सपीयर में १५,००० और तुलसीदास में लगभग १६,००० शब्द प्रयुक्त हुए हैं। बिना पढ़े-लिखे सामान्य व्यक्ति का शब्द-समूह ५००-८०० के बीच या कभी-कभी इससे भी कम होता है। चर्चिल के शब्द-समूह में लगभग ६०,००० शब्द कहे जाते हैं, जिनमें ३०,००० का तो वे प्रयोग करते थे। अनेक वकीलों का शब्द-समूह ५०,००० के लगभग का होता है, पर सबसे अधिक शब्द वैज्ञानिकों को ज्ञात रहते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य लोगों के प्रयोग के सामान्य शब्द तो वे जानते हैं, साथ ही विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को भी उन्हें जानना होता है। लोगों का ख्याल है कि अच्छे विज्ञानवेत्ता ८०,००० शब्द जानते हैं।

जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक व्यक्ति के शब्द-समूह में परिवर्तन होता रहता है। और ठीक इसी प्रकार भाषा का शब्द-समूह भी परिवर्तित होता रहता है।

ऊपर हम अर्थ-विचार में इस बात पर विचार कर रहे थे कि शब्दों का अर्थ किस भाँति और क्यों बदलता है ? ध्वनि के प्रकरण में हम शब्द के शरीर, या वाह्य रूप के परिवर्तन पर विचार कर चुके हैं। यहाँ न तो शब्द की आत्मा (अर्थ) के परिवर्तन पर विचार करना है, और न शरीर (ध्वनि) पर, अपितु हमें यह देखना है कि शब्द अपनी आत्मा एवं शरीर के साथ किस भाँति भाषा के शब्द-समूह से निकल जाता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी तो उस अर्थ में भाषा किसी दूसरे शब्द का स्वागत करती है, पर कभी-कभी तो वह भावना या विचार ही त्याग देती है। इस प्रकार शब्द-समूह में परिवर्तन दो प्रकार से होता है—

१. प्राचीन शब्दों का लोप,
२. नवीन शब्दों का आगमन।

(१) प्राचीन शब्दों का लोप

शब्दों के लोप के सम्बन्ध में हम जितने कारणों पर यहाँ विचार करेंगे, उनके दो पक्ष हो सकते हैं। प्रथम है 'वैयक्तिक पक्ष'। इसमें कारण बोलने वाले के मस्तिष्क में रहता है। जैसे शब्द कभी-कभी घिस जाने के कारण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता तो बोलने वाले उसे व्यर्थ समझ कर छोड़ देते हैं। दूसरा है 'सामाजिक पक्ष'। समाज की कुछ रीतियों के समाप्त हो जाने के कारण उनसे सम्बन्धित शब्द भी छूट जाते हैं। कभी-कभी ये दोनों पक्ष साथ-साथ भी देखे जाते हैं, पर इन दोनों पक्षों के साथ-साथ होने में भी कुछ में एक का प्राधान्य रहता है और कुछ में दूसरे का।

यहाँ लोप के कारणों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क) रीति या कर्मों का लोप—परिवर्तनशील समाज में सर्वदा एक ही प्रकार के कार्य नहीं होते और न तो उसमें एक प्रकार की रस्मों या रीतियों का ही प्रचलन सर्वदा रहता है। ऐसी अवस्था में रीतियों या कर्मों के लुप्त होने पर उनसे सम्बन्धित शब्द भी भाषा के शब्द-समूह से प्रायः निकल जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में भारत में प्रचलित 'यज्ञ' को लें। उस समय देश में भाँति-भाँति के यज्ञ होते थे, अतः उस काल की भाषा में यज्ञ से सम्बन्धित सुब्रह्मण्या, न्यूङ्ख, यज्वा, यायजूक, स्थण्डिल, आवसथिक, अहीन, अभिप्लव, संचाय्य, सुत्या तथा आनाय्य आदि सैकड़ों शब्द प्रचलित थे, जो बाद में 'यज्ञ' की परम्परा लुप्त हो जाने के कारण शब्द-समूह से निकल गये। यदि यज्ञ-कर्म आज तक होते आते तो तत्सम या तद्भव रूप में ये शब्द अवश्य वर्तमान होते।

(ख) रहन-सहन तथा खान-पान आदि में परिवर्तन—खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा या इस प्रकार की अन्य चीजों में परिवर्तन का भी शब्द-समूह पर प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन होने पर पुरानी चीजें नहीं रह जातीं, अतः उनसे सम्बन्धित शब्द भी लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में भक्त, अभ्यूप, अपूप तथा सक्तुक का का प्रचार खाने में था और आज भी है। अतएव ये शब्द लुप्त नहीं हुए हैं, और तद्भव

रूप में (भात, हाबुस, पूआ या मालपूआ और सत्तू), आज भी शब्द-समूह में हैं, पर दूसरी ओर मंथ (धान का मथकर बनाया गया सत्तू), यावक (जौ से बना एक खाद्य) तथा संयाव (एक प्रकार का हलुवा) का प्रयोग बहुत पहले से बन्द हो गया है, अतः ये शब्द भी शब्द-समूह से निकल गये हैं। इसी प्रकार पुराने ढङ्ग के कपड़ों, गहनों, शृङ्गार की अन्य सामग्रियों, वाहनों, अस्त्रों तथा बर्तनों आदि जिन-जिन भी चीजों का प्रयोग समाप्त हो जाता है, उनसे संबंधित शब्द भी शब्द-समूह से लुप्त हो जाते हैं।

(ग) अश्लीलता—सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के अनुसार मैथुन या शौच-विषयक बहुत से शब्द अश्लील स्वीकार कर लिए जाते हैं। इसका फल यह होता है कि शिक्षित तथा सभ्य समाज में उनका प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार वे लुप्त हो जाते हैं। आश्चर्य यह है कि ठीक वही अर्थ रखने वाले अन्य शब्द समय और क्षेत्र-विशेष से अश्लील नहीं माने जाते। 'पाखाना और गुह', 'पेशाव और मूत' आदि में यह बात स्पष्ट है। इन दोनों जोड़ों में प्रथम शब्द प्रचलित हैं, पर दूसरे सभ्य समाज के शब्द-समूह से निकल चुके हैं। इसी प्रकार लिंग, उपस्थ, सहवास, वीर्य, शौच तथा गुदा आदि शब्द प्रचलित हैं, पर इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द अब बिल्कुल ही अश्लील हो गए हैं तथा सभ्य समाज के लिये त्याज्य समझे जाते हैं। वे शब्द-समूह से निकल गये हैं।

(घ) ध्वनि की दृष्टि से शब्दों का घिस जाना—ध्वनि-परिवर्तन होते-होते कभी-कभी शब्द इतने घिस जाते हैं कि उन्हें शब्द-समूह से निकल जाना पड़ता है और उनके स्थान पर भाषा में फिर से उनके मूल तत्सम शब्द या अन्य शब्द ले लिए जाते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश तक आते-आते बहुत से शब्द इस प्रकार के हो गये थे। कुछ में केवल स्वर ही स्वर रह गये थे। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें घिसते-घिसते कई शब्द एक रूप धारण कर चुके थे और उनमें प्रयोगकर्त्ता के लिए परेशानी थी। फल यह हुआ कि इस प्रकार के बहुत-से शब्द निकल गये। यहाँ कुछ इस प्रकार के उदाहरण लिए जा सकते हैं जो स्पष्ट रूप से घिसे लगते हैं और जिनको प्राकृत-अपभ्रंश के बाद हम प्रयोग में नहीं पाते और उनके स्थान पर उनके मूल तत्सम शब्दों को फिर से अपना लिया गया है।

(क) ऐसे शब्द जिनमें घिसने से केवल स्वर ही स्वर शेष थे—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अति	अइ
इति	इइ
उदर	उअअ
ऋतु	उउ
उचित	उइअ
एक	एअ

(ख) अन्य घिसे शब्द—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
ऋण	अण
उदास	उआस
राज	राअ
चरित	चरिउ
अजगर	अअगर
अतिथि	अइहि
वर्ष	वास
रजत	रयय
भरत	भरह
साधक	साहय
शाखा	साहा
अंतर	अंतों
अध्ययन	अहिज्जण
इत्यादि	इच्चाइ
स्त्री	इत्थि
प्रयोग	पओग
प्रदेश	पएस
शब्द	सद्द
धर्म	धम्म

(ग) ऐसे शब्द जिन्होंने घिसकर एक रूप धारण कर लिया था और भ्रम की आशंका थी—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अवतार	ओआर
अपकार	ओआर
उपकार	ओआर

(ग) के अन्तिम दो उदाहरणों में हम देखते हैं कि दो विरोधी भावों के शब्द भी घिसकर एक हो चुके थे। यहाँ भ्रम की कितनी अधिक गुन्जाइश थी, कहने की आवश्यकता नहीं।

(ङ) अंधविश्वास—यह विशेषतः जंगली या अर्द्धसभ्य लोगों की भाषाओं में पाया जाता है। वे लोग अंधविश्वास से शब्दों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देते हैं। यदि किसी भी कारण से उन्हें आभास मिल गया कि अमुक शब्द अशुभ है या उसके कहने से कोई देवता रुष्ट होगा तो ये उसका प्रयोग छोड़ देते हैं। कुछ सभ्य लोगों में भी इस

प्रकार के अंधविश्वास मिलते हैं। जापान में राजा या उसके परिवार में बोली जाने वाली भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो वहाँ की सामान्य भाषा से निकल गये हैं, क्योंकि सामान्य जनता उनका प्रयोग पाप समझती है। भारत में पति का नाम पत्नी या पत्नी का नाम पति नहीं लेता। कहीं-कहीं बड़े लड़के का नाम नहीं लिया जाता। एक संस्कृत का श्लोक भी है, जिसमें अपना नाम, गुरु का नाम, राजा का नाम तथा इसी प्रकार के कुछ और नामों को लेने का निषेध है। कहीं-कहीं रात में लोग साँप-बिच्छू का नाम न लेकर साँप को जेवर, करियवा या पोंढ़ा तथा बिच्छू को टेढ़की आदि कहते हैं। पर, इस प्रकार के वैयक्तिक या विशिष्ट समय (जैसे रात में बिच्छू आदि का नाम न लेना) के टैबू शब्दों का भाषा के शब्द-समूह पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(च) पर्याय—कभी-कभी यह देखा जाता है कि जन-मस्तिष्क व्यर्थ में एक भावना के लिये कई शब्दों का भार ढोना पसन्द नहीं करता। ऐसा होता है कि शब्दों के अर्थ में यदि कुछ भी अन्तर न हो तो उसमें कुछ लुप्त हो जाते हैं। मुसलमानों के आगमन के बाद मध्ययुग में जनभाषा में 'सहस' (सं० सहस्र) शब्द 'हजार' की प्रतियोगिता में खड़ा न हो सका और उसे मैदान छोड़ना ही पड़ा। इसी प्रकार 'इशारा' की प्रतियोगिता में संकेत, आईना या शीशा की प्रतियोगिता में दर्पण, शकल की प्रतियोगिता में आकृति, शराब की प्रतियोगिता में मदिरा या मद्य, शहर की प्रतियोगिता में नगर या पुर, शिकार की प्रतियोगिता में मृगया या आखेट तथा खाली की प्रतियोगिता रिक्त या रीता भी जनभाषा में नहीं ठहर सके। हाँ, अब अवश्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ फिर धीरे-धीरे ये लुप्त शब्द प्रयोग में आ रहे हैं।

बेईमान, ईमान तथा ईमानदार आदि ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनके लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों के संपर्क में आने के पूर्व भारत में ये भाव व्यक्त नहीं किए जाते थे, पर हाँ आज इनके उपर्युक्त भारतीय पर्याय इतनी बुरी तरह लुप्त हो गये हैं कि बिना समुचित शोध किये उन्हें जान पाना भी कठिन है।

(२) नवीन शब्दों का आगमन

भाषा में एक ओर तो कुछ प्राचीन शब्दों का लोप होता है, पर दूसरी ओर कुछ नये शब्दों का आगमन भी होता है। आगमन के लिये निम्नांकित कारण सम्भव हैं—

(क) सभ्यता में विकास—सभ्यता के विकास के साथ तरह-तरह की नवीन चीजों का निर्माण होता है और उनसे सम्बन्धित शब्दों का निर्माण करना पड़ता है। अंग्रेजी भाषा में तरह-तरह के वैज्ञानिक विकास के कारण ही तरह-तरह की चीजों तथा विचारों के लिए प्रति वर्ष हजारों नये शब्द अन्य भाषाओं से लेने या बनाने पड़ते हैं। हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद इस प्रकार के पर्याप्त शब्द आये हैं, जैसे नलकूप आदि।

(ख) चेतना—राजनीतिक या सांस्कृतिक चेतना के कारण भी नवीन शब्दों का आगमन होता है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में बहुमुखी चेतना दृष्टिगत हो रही है।

फल यह हुआ है कि उन विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित विचार की अभिव्यक्ति के लिए हजारों शब्द संस्कृत के आधार पर बनाये जा रहे हैं; या संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं या कभी-कभी अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं से लिए जा रहे हैं।

(ग) भिन्न भाषाभाषी शब्दों या क्षेत्रों का सम्पर्क—जब दो भिन्न भाषा-भाषी राष्ट्र, प्रान्त या क्षेत्र एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो दोनों ही एक दूसरे से कुछ न कुछ शब्द लेते हैं। भारत के संपर्क में समय-समय पर अरब, ईरानी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज आदि आये और फल यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय भाषाओं ने इन सभी की भाषाओं (अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी) के शब्द लिये, तथा दूसरी ओर अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि ने भी भारतीय भाषाओं से अनेकानेक शब्द लिये। संसार की सभी भाषाओं ने संपर्क के कारण कुछ न कुछ शब्द इस प्रकार ग्रहण किये हैं। जर्मन में विदेशी शब्दों की संख्या लगभग १०,००० है। अंग्रेजों ने केवल भारतीय भाषाओं से लगभग २,५०० शब्द लिए हैं। हिन्दी ने तुर्की से लगभग ८०, फारसी-अरबी से लगभग ७,०००, अंग्रेजी से लगभग ३५०० तथा पुर्तगाली से लगभग ८०, शब्द लिए हैं। फारसी में भारत से लगभग १५० शब्द लिये गये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार बंगला में अरबी-फारसी-तुर्की शब्द २४००, अंग्रेजी शब्द ७०० तथा पुर्तगाली शब्द लगभग १०० हैं।

(घ) दृश्यात्मकता—कुछ चीजों के विशिष्ट रूप से दिखाई पड़ने के कारण कभी-कभी कुछ शब्द उनकी दृश्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए आ जाते हैं। बगबग, जगमग, चमचम, लकदक आदि हिन्दी शब्द इसी श्रेणी के हैं।

(ङ) ध्वन्यात्मकता—कुछ वस्तुओं की ध्वनि के कारण भी नये शब्द उन ध्वनियों के आधार पर आ जाते है। मोटर-ध्वनि के कारण पों-पों, कुत्ते के कारण भों-भों शब्द हिन्दी में आये हैं। चरमर, भड़भड़, हड़हड़, कल-कल, छल-छल तथा खल-खल आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

(च) साम्य और नवीनता लाने के लिये—साम्य और नवीनता लाने के लिए कभी-कभी लोग बलात् नये शब्दों को लाते हैं और वे शब्द चल पड़ते है। हिन्दी में साम्य के लिये 'पाश्चात्य' के साथ नवीन शब्द 'पौर्वात्य' आ गया है। पिंगल के आधार पर डिंगल, मीठा के आधार पर सीठा आदि ऐसे ही हैं। नवीनता के लिए उपसर्गों आदि को जोड़ कर भी इधर कितने ही नवीन शब्द बनाये जाते हैं। १९१५ से १९३६ तक तथा इधर १९४७ के बाद हिन्दी में ऐसे बहुत से शब्द बने हैं।

नवीन शब्दों का स्रोत

नवीन शब्दों के प्रमुखतः दो स्रोत हैं—

१. निर्माण,

२. उधार।

कुछ शब्द तो (क) दो शब्दों के मेल से, (ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर, (ग) ध्वनि के आधार पर, (घ) दृश्य के आधार पर, (ङ) सदृशता के आधार पर,

(च) व्याकरण के आधार पर, (छ) स्वतन्त्र, निर्मित कर लिये जाते हैं, और कुछ (क) दूसरी भाषाओं से, (ख) अपने प्राचीन साहित्य से, या (ग) ग्रामीण बोलियों से उधार ले लिये जाते हैं। यहाँ इन सभी पर अलग-अलग संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

(१) निर्माण

(क) दो शब्दों के मेल से—आवश्यकतानुसार हम कभी-कभी दो शब्दों को मिलाकर एक तीसरा शब्द बना लेते हैं। यह क्रिया सभी समुन्नत भाषाओं में हुआ करती है। यह मिलाना आवश्यकतानुसार प्राचीन शब्द+प्राचीन शब्द, प्राचीन शब्द+नवीन शब्द, नवीन शब्द+नवीन शब्द, विदेशी शब्द+विदेशी शब्द, विदेशी शब्द+देशी शब्द तथा देशी शब्द+देशी शब्द आदि कई प्रकार का हो सकता है। फारसी भाषा में फारसी और अरबी के मेल से बनाये गये शब्द कई हजार हैं। कुछ उदाहरण हैं।

अरबी	फारसी	मेल से बने शब्द
अक्द (विवाह)	नामा	अक्दनामा (विवाह का इकरारनामा)
अक्ल	मंद	अक्लमंद
अरक़	रेज़ी	अरक़रेज़ी (बहुत परिश्रम)
अर्ज़ी	नवीस	अर्ज़ीनवीस
जमा	बंदी	जमाबंदी

हिन्दी में भी इस प्रकार मेल से बनाये गये शब्दों की संख्या कम नहीं है। कुछ उदाहरण हैं—

अंग्रेजी 'रेल'	+	हिन्दी 'गाड़ी'	=	रेलगाड़ी
अरबी 'अजायब'	+	हिन्दी 'घर'	=	अजायबघर
हिन्दी 'चिड़िया'	+	फ़ारसी 'खाना'	=	चिड़ियाखाना
संस्कृत 'दल'	+	फ़ारसी 'बंदी'	=	दलबंदी
हिन्दी 'रसोई'	+	हिन्दी 'घर'	=	रसोईघर
संस्कृत 'देश'	+	हिन्दी 'निकाला'	=	देशनिकाला
हिन्दी 'अब'	+	हिन्दी 'ही'	=	अभी
पुर्तगाली 'पाव'	+	हिन्दी 'रोटी'	=	पावरोटी
हिन्दी 'कब'	+	हिन्दी 'ही'	=	कभी
हिन्दी 'जब'	+	हिन्दी 'ही'	=	जभी

(ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर—व्यक्तिवाचक शब्दों के आधार पर भी उनके कार्य, गुण या विशेषता को लेकर शब्द बना लिये जाते हैं। 'सैंडो बनियाइन' में का सैंडो शब्द एक अमेरिकन पहलवान के नाम से लिया गया है, जिसने इस प्रकार की बनियाइन का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। अंग, वंग, कुरु, पंचाल, भारत तथा अमेरिका आदि भी व्यक्तिवाचक नामों पर ही आधारित हैं। अंग्रेजी के बॉयकाट,

एटलस, मर्सराइज, इको तथा क्विसलिंग एवं हिन्दी के जयचन्द (देशद्रोही), सावित्री (पतिव्रता), हरिश्चन्द्र (सच्चा) तथा विभीषण (घर का भेदिया, देशद्रोही) आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

स्थानों के नाम के आधार पर भी शब्द बनते हैं। सुर्ती (सूरत नगर से आने वाली), चीनी (चीन की), मिस्री (मिस्र की), तथा मोरस (मारिशस की) ऐसे ही शब्द हैं। लखनौवा (छैला, नाजुक) तथा बनारसी (चतुर, ठग) आदि विशेषण भी इसी के उदाहरण हैं।

(ग) **ध्वनियों के आधार पर**—कुछ शब्द ध्वनियों के आधार पर भी बनते हैं। धड़-धड़, तड़-तड़, पड़-पड़, चर-मर, चू-चू, मर-मर तथा खड़-खड़ आदि शब्द ऐसे ही हैं।

(घ) **दृश्य के आधार पर**—कुछ वस्तुओं के देखने से ही उनके दिखाई पड़ने के सम्बन्ध में शब्द बन जाते हैं। चम-चम, जग-मग, बग-बग तथा दग-बग आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

(ङ) **दूसरे शब्दों के रूप के आधार पर (औपम्य या सादृश्य के आधार पर)**—दूसरे शब्दों के वजन या औपम्य पर भी कुछ शब्दों से नये शब्द बनाये जाते हैं। कुछ इस प्रकार के विचित्र उदाहरण भी मिलते हैं। उस्मानिया यूनिवर्सिटी से एक कोश (A Concise English Hindi Dictionary) प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'करना', 'कराना' आदि के सादृश्य पर अंग्रेजी शब्द canvass से हिन्दी 'कन्वसना' acknowledge के लिये रसीद से 'रसीदियाना' तथा alientc के लिये विपक्ष से 'विपक्षियाना' जैसे बहुत-से शब्द बनाये गये हैं। कहना न होगा कि योग्य संपादकों ने धन, श्रम और बुद्धि का यह जो दुरुपयोग किया है, दयनीय है और इसका अधिकांश कभी प्रयुक्त नहीं होगा। पर, सादृश्य के आधार पर बने ऐसे शब्द भी बहुत हैं जो खूब चलते हैं और अच्छे हैं। हिन्दी में एक शब्द 'दुहेल' है जो सुहेल (सुखकोली, सुखेल) पर आधारित है। शहर से शहरी और देहात से देहाती शब्द थे, पर बाद में 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहराती' शब्द बना जो आज भी कुछ क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है। 'बराती' के आधार पर कुछ हिन्दी क्षेत्रों में 'घराती' (लड़की-पक्ष के लोग) चलता है। बहुत-से संज्ञा-शब्दों से (करना, मरना, आदि के) सादृश्य के आधार पर क्रिया शब्द बने हैं, जैसे संस्कृत टंकार से टंकारना, फ़ारसी दाग से दागना या लालच से ललचाना, अंग्रेजी फिल्म से फिल्माना। लोकभाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है और बरध से बरधाना, पाड़ी से पड़ियाना, भैंस से भैंसाना तथा लत से लतियाना आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(च) **संक्षेप के आधार पर**—संयुक्त विधायक दल=संविद, भारतीय क्रांति दल=भाक्रांद, उत्तरी-पूर्वी सीमा=उपूसी, पेप्सू, यूनेस्को, नकेन (वाद), सुदी, बदी, राडार आदि।

(छ) **व्याकरण के नियमों के आधार पर**—व्याकरण के नियमों के आधार पर पुराने या नये, देशी या विदेशी शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि लगाकर बहुत अधिक

शब्दों का निर्माण होता है। जैसे हिन्दी में 'अ' परसर्ग लगाकर 'अथाह'; 'दु' लगाकर 'दुकाल'; 'नि' लगाकर 'निकम्मा' या 'अक्कड़' प्रत्यय लगाकर 'भुलक्कड़'; 'आऊ' लगाकर 'दिखाऊ', 'चलाऊ', 'उड़ाऊ'; 'आका' लगाकर 'पड़ाका' 'घड़ाका', तथा 'आरी' लगाकर 'भिखारी', 'पुजारी', आदि।

संस्कृत में कृत में 'अप' उपसर्ग लगाकर अपकृत, 'उप' लगाकर 'उपकृत', 'वि' लगाकर विकृत, या 'ता' प्रत्यय लगाकर 'सुन्दर' से 'सुन्दरता', 'मृदु' से 'मृदुता' आदि। अंग्रेजी में 'डिविजन' में 'सब' उपसर्ग लगाकर 'सबडिविजन' या 'अल' प्रत्यय लगाकर 'डिविजनल'। अरबी-फ़ारसी में 'ला' उपसर्ग लगाकर 'वारिस' से 'लावारिस' या 'कम' लगाकर 'कमजोर', और 'खोर' प्रत्यय लगाकर 'चुग़लखोर' या 'कार' लगाकर 'पेशकार' आदि।

(ज) स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द—बिना किसी आधार के स्वतन्त्र रूप से शब्दों का निर्माण होता है या नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अधिकतर विद्वान् इसी पक्ष में हैं कि स्वतन्त्र रूप से शब्दों का निर्माण नहीं होता। कुछ लोग अंग्रेजी शब्द 'कोडक', 'गर्ल', 'डॉग' तथा 'गैस' को स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द मानते हैं। यों इसमें संदेह नहीं कि बिना किसी आधार के प्रायः बहुत ही कम शब्द बनते हैं।

(२) उधार

(क) दूसरी भाषाओं से—देश या विदेश की दूसरी भाषाओं के संपर्क में आने पर शब्द उधार ले लिये जाते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि तुर्की, फ़ारसी, अंग्रेजी आदि के बोलने वालों के संपर्क में आने कारण हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं ने बहुत से शब्द लिये हैं। ये शब्द कभी-कभी तो ज्यों के त्यों ले लिये जाते हैं, जैसे अंग्रेजी निब, पिन, टिन आदि और कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तित होकर, जैसे दिसम्बर, अगस्त. पैटमैन तथा वास्कट आदि।

(ख) अपने प्राचीन साहित्य से—सभी भाषाओं के प्राचीन साहित्य या वहाँ की प्राचीन भाषाओं के साहित्यों में ऐसे अनेकानेक शब्द मिलते हैं, जो अब प्रचलित नहीं हैं और आवश्यक होने पर वे वहाँ से ले लिये जाते हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी को पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से संपन्न बनाने के लिये संस्कृत साहित्य से बहुत-से पुराने शब्द लिये जा रहे हैं। अंग्रेजी तथा फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाएँ आवश्यकता पड़ने पर ग्रीक तथा लैटिन से इसी प्रकार शब्द लेती हैं।

(ग) ग्रामीण बोलियों से—ग्रामीण बोलियों से भी आवश्यकतानुसार, भाषा को जीवंत बनाने के लिये या यों भी शब्द लिये जाते हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में तत्कालीन बोलियों से काफी शब्द लिये गये हैं। आधुनिक युग में भी विशेषतः आँचलिक उपन्यासों में इस प्रकार के शब्द पर्याप्त मिलते हैं। नागार्जुन का 'बलचनमा' या रेणु का 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' इस दृष्टि से दर्शनीय हैं। हिन्दी के चिपोंग, झाँपी, झाम, लहूबर, लेंहड़ा, ठड्डा, ढोंका, ढुकना, टट्टू, ठर्रा, ठेट, हेट, टंटा तथा डील आदि शब्द ग्रामीण बोलियों से ही लिये गये हैं।

कोशविज्ञान

भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में कोशविज्ञान भी मान्य है, यद्यपि 'शब्द-विज्ञान' रूप में भाषाविज्ञान को एक शाखा मानने पर, जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है, 'कोशविज्ञान' को 'शब्दविज्ञान' की एक शाखा मानना ही अधिक उचित है, क्योंकि इसमें विशेष दृष्टि से शब्दों का ही अध्ययन किया जाता है।

कोशविज्ञान (lexicology) से सम्बद्ध ही दूसरा शब्द कोशकला (lexicography) है। कोशविज्ञान तो कोश बनाने का विज्ञान है। इसमें उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं, जिनके आधार पर कोश बनाते हैं। इस प्रकार इसका सम्बन्ध सिद्धान्त से है। दूसरी ओर 'कोशकला' सिद्धान्त न होकर कला या प्रयोग है। सिद्धांतों के आधार पर कोश बनाना इसमें आता है।

भाषाविज्ञान की अन्य शाखाओं के कार्यों की भाँति ही कोश-निर्माण भी सबसे पहले अपने प्रारम्भिक रूप में भारतवर्ष में ही विकसित हुआ। लगभग १००० ई० पू० निघण्टुओं की रचना हुई। तब से लेकर १००० ई० तक इन दो हजार वर्षों में भारत में कई प्रकार के सैकड़ों कोश लिखे गए, जिनमें से बहुत-से तो अब भी उपलब्ध हैं। यूरोप में १००० ई० के पूर्व ठीक अर्थों में कोश नहीं मिलते। अंग्रेजी कोशों का इतिहास तो १६वीं सदी के अन्तिम चरण से ही प्रारम्भ होता है, यद्यपि अब वे संसार में संभवतः सबसे आगे हैं।

कोशों के प्रमुख प्रकार—कोश मूलतः तीन प्रकार के होते हैं—व्यक्ति-कोश, पुस्तक-कोश और भाषा-कोश। **व्यक्ति-कोश**—किसी एक व्यक्ति द्वारा अपने साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का कोई कोश व्यक्ति-कोश कहलाता है। शेक्सपीयर, मिल्टन, तुलसीदास आदि के कोश इसी प्रकार के हैं। **पुस्तक-कोश**—ऐसा कोश होता है जो केवल एक पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों का हो। बाइबिल कोश, कुरान कोश इसी प्रकार के हैं। हिन्दी में इस प्रकार का एक रामचरित मानस का कोश बहुत पहले बना था। **भाषा-कोश**—इस प्रकार के कोश एक भाषा (बोली आदि) के हो सकते हैं, या एक से अधिक भाषाओं के। पहले एक भाषा के कोशों पर विचार किया जा रहा है।

एक भाषा के कोश (जिनमें अर्थ उस भाषा से उसी भाषा में दिये गये हों, जैसे हिन्दी-हिन्दी या अंग्रेजी-अंग्रेजी, या जिनमें अर्थ एक भाषा से दूसरी भाषा में हों, जैसे अंग्रेजी-हिन्दी, रूसी-अंग्रेजी) प्रमुखतः तीन प्रकार के हो सकते हैं। वर्णनात्मक, तुलनात्मक (दे० बहुभाषा कोश) और ऐतिहासिक।

वर्णनात्मक कोश—इसमें किसी भाषा में किसी एक काल में प्रयुक्त सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को देते हैं। इस प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि यदि एक शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं, तो उन्हें किस क्रम में रक्खा जाय। हिन्दी में नागरी प्रचारिणी सभा का हिन्दी शब्दसागर या उसका संक्षिप्त रूप, बृहद् शब्दसागर, या प्रामाणिक आदि इसी प्रकार के वर्णनात्मक कोश हैं। उनमें अर्थ किसी भी क्रम से न दिये जाकर मनमाने ढंग से, जैसे याद आते गये, आगे-पीछे दे दिये गये हैं। वस्तुतः

वर्णनात्मक कोश में अर्थ प्रचलन के आधार पर क्रमबद्ध किये जाने चाहिए—जो अर्थ सब से अधिक प्रचलित हो, उसे सबसे पहले और जो सबसे कम प्रचलित हो, उसे बाद में। कभी-कभी अर्थ के कम या अधिक प्रचलन के सम्बन्ध में विवाद भी खड़ा हो सकता है और ऐसी स्थिति में विवादग्रस्त अर्थों मे किसी को भी आगे-पीछे रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक कोश—किसी भाषा का ऐतिहासिक कोश उसके विकास आदि को समझने के लिए बड़ा सहायक होता है। ऐतिहासिक कोश में किसी भाषा में केवल प्रचलित शब्दों या उनके प्रचलित अर्थों को ही न लेकर सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को लेते हैं। वर्णनात्मक कोश में, हमने देखा कि, अर्थ प्रचलन के आधार पर सजाया जाता है। यहाँ अर्थ अपने इतिहास के आधार पर सजाया जाता है। उदाहरणार्थ, हम मान लें कि किसी भाषा का एक शब्द है 'अ'। उसके 'आ', 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', ये पाँच अर्थ हैं। यहाँ देखना होगा कि सबसे पहले किस अर्थ का प्रयोग हुआ और फिर किस-किस का। मान लें कि उस भाषा का आरम्भ १००० ई० से और 'आ' अर्थ का प्रयोग १६०० ई० में, 'इ' का ११०० में, 'ई' का १००० में, 'उ' का १७०० में और 'ऊ' का १२०० ई० में हुआ है। कहना न होगा कि यहाँ उन अर्थों को कालक्रम से सजाना होगा; अर्थात् १००० ई० में प्रचलित अर्थ पहले दिया जायगा, फिर क्रम से ११००, १२००, १६०० और १७०० ई० का। अर्थात्—

अ—ई, इ, ऊ, आ, उ

इस प्रकार का कोश बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस भाषा का साहित्य उपलब्ध हो। ऐसे कोश के निर्माण के पूर्व दो बातें आवश्यक हैं: (१) उस भाषा में प्राप्त सभी ग्रन्थों का पाठ पाठालोचन के आधार पर निश्चित कर लिया जाय। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रक्षिप्त अंशों को निकाल फेंकने की आवश्यकता नहीं, अपितु उनके रचे जाने का काल-निर्धारण करके, उन्हें भी उस काल या सदी की रचना मान कर उनके समकालीन साहित्य के साथ रखा जाय। (२) सभी रचनाओं का काल निश्चित कर लिया जाय।

इन दो बातों के कर लेने पर किस सदी में, कौन शब्द, किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ, इसका निश्चय करना सरल हो जायेगा, और उनके आधार पर सरलता से ऐतिहासिक कोश बन जायेगा। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक कोश हर दृष्टि से बहुत पूर्ण नहीं बन सकता, क्योंकि तैयार होने के बाद नयी खोजों के आधार पर यदि कोई नयी रचना सामने आ गई, पुरानी रचना का नया पाठ आ गया, या किसी रचना का काल कुछ और सिद्ध हो गया तो उनके कारण उसमें पर्याप्त परिवर्तन करना होगा। किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा का इस प्रकार का ऐतिहासिक कोश अभी तक नहीं बना। संस्कृत का मोनियर विलियम्स का कोश इसी प्रकार का है, यद्यपि बहुत अपूर्ण है। संस्कृत का इस प्रकार का एक आदर्श कोश पूना में बन रहा है। अंग्रेजी की 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' इस प्रकार का अब तक का सर्वोत्तम प्रयास है।

पारिभाषिक कोश—भाषा-कोश के अन्तर्गत ही पारिभाषिक कोश भी आते हैं। किसी भी भाषा में विभिन्न विषयों (इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, भाषाविज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान आदि) या उनकी शाखाओं (प्राचीन भूगोल, सांख्यिकी, ध्वनिविज्ञान) में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के कोश बन सकते हैं। इस प्रकार के कोश साहित्यिक धाराओं के भी बन सकते हैं। हिन्दी में 'संत साहित्य कोश' बड़ा उपयोगी हो सकता है।

पर्याय कोश—यह भी भाषा-कोश का एक रूप है, जिसमें मिलते-जुलते अर्थ के शब्द एक साथ रक्खे जाते हैं। उनके साथ कभी-कभी विरोधी या विलोम शब्दों का भी उल्लेख कर दिया जाता है। कवियों तथा लेखकों के लिए इस प्रकार के कोश बड़े उपयोगी हैं।

मुहावरा और लोकोक्ति कोश—इन दोनों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द से नहीं है, और इस प्रकार ये शब्दकोश नहीं हैं, किन्तु इनका भाषा से सम्बन्ध है, अतएव भाषा-कोशों के प्रसंग में इनका उल्लेख भी आवश्यक है। ये दोनों ही कोश वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों प्रकार के बनाए जा सकते हैं।

बहुभाषा कोश—ये दो या अधिक भाषाओं के हो सकते हैं। अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के साथ उनके लिए हिन्दी या संस्कृत समानार्थी शब्द देने वाले या इसी प्रकार के अन्य कोश भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

इसी प्रकार कथाओं, जीवनियों आदि अनेक विषयों के कोश हो सकते हैं। विश्वकोश का भी कोशों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कोश निर्माण की कुछ आवश्यक बातें

शब्द-संकलन—कोश-निर्माण में सबसे पहला काम कोशकार को इस दिशा में करना पड़ता है। कोश यदि जीवित भाषा का बनता है तो शब्द लोगों से सुनकर इकट्ठे करने पड़ते हैं। यदि साहित्य या पुरानी भाषा का बनाना हो तो पुस्तकों से लेना पड़ता है। लोगों से सुनकर इकट्ठा करने में पूर्ण कोश बनाना प्रायः असम्भव-सा है, क्योंकि हर जीवित भाषा में शब्द बढ़ते रहते हैं। नये शब्द विभिन्न स्रोतों से आते रहते हैं। साहित्य के आधार पर कोश बनाने के लिये संबद्ध सारी पुस्तकों की पूरी शब्दानुक्रमणी बना लेना सबसे अच्छा होता है। इससे कोई शब्द या अर्थ छूटने नहीं पाता। ऐतिहासिक कोशों के लिए तो ऐसा करना अनिवार्य है।

वर्तनी—शब्द-संकलन के बाद उन्हें कोश में देने के लिए उनकी वर्तनी (spelling) ठीक कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक चीज है एकरूपता। अनेकरूपता होने पर होता यह है कि कभी-कभी शब्द कोश में रहता तो है, किन्तु मिलता नहीं। इस विषय के आवश्यक निर्णयों का उल्लेख भूमिका में अवश्य किया जाना चाहिये।

शब्द-निर्णय—यह कार्य बहुत कठिन है। इसमें कई प्रश्न आते हैं। जैसे—किस शब्द को मूल मानें और किसको दूसरे के अन्तर्गत रक्खें; समस्त पदों को प्रथम के

साथ रखें या दूसरे के। इसी प्रकार से ध्वनि की दृष्टि से एक दीखने वाले शब्द को एक मानें या अधिक। उदाहरणार्थ, 'आम' शब्द है। एक तो अरबी का 'जो खास न हो' दूसरे संस्कृत में 'आम्र' का तद्भव। अच्छे कोश में दोनों को अलग शब्द मानना होगा। आम (१), आम (२)।

शब्द-क्रम—कोश में शब्द विशेष क्रम से होते हैं ताकि देखने वाला उन्हें सरलता से पा ले। संसार में कोशों में अनेक प्रकार के शब्द-क्रम प्रचलित रहे हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

(१) वर्णानुक्रम—आज की अधिकांश भाषाओं के अधिकांश कोशों में शब्द वर्णानुक्रम से रक्खे जाते हैं। पहले शब्द केवल प्रथम वर्ण के आधार पर रखे जाते थे। अर्थात् 'क' से शुरू होने वाले सारे शब्द एक साथ। इसका आशय यह हुआ कि यदि किसी भी भाषा में 'क' से प्रारम्भ होने वाले ५००० शब्द हैं तो वे एक जगह बिना किसी क्रम से रखे जाते थे और खोजने वाले को सारे शब्दों को देखकर अपेक्षित शब्द खोजना पड़ता था। बाद में शब्द के दूसरे वर्ण का भी विचार होने लगा और अन्त में सारे वर्णों का।

(२) अक्षर-संख्या—इसके आधार पर भी शब्दों को रखा जाता है। भारत में इस प्रकार के एकाक्षरी कोश मिलते हैं। चीनी तथा कुछ और भाषाओं में भी यह पद्धति प्रचलित है। इसमें एक अक्षर (syllable) वाले शब्द पहले, फिर दो वाले, फिर तीन वाले और आगे भी इसी प्रकार रखे जाते हैं।

(३) सुरप्रधान भाषाओं में वर्णानुक्रम या अक्षर-संख्या के आधार पर शब्दों के रखने के अतिरिक्त उन्हें सुरों के आधार पर भी रखते हैं, क्योंकि वहाँ एक ही शब्द कई सुरों में भी प्रयुक्त होता है।

(४) विचारों के आधार पर—पर्याय कोशों या थेसारस में शब्दों को भावों या विचारों के आधार पर रखा जाता है, जैसे सारे जीवों के शब्द एक स्थान पर। ऐसे ही धर्म, अंग, खाद्य-पदार्थ, कला, विज्ञान आदि के अलग-अलग। अमरकोश के कांड इसी आधार पर हैं।

(५) व्युत्पत्ति के आधार पर—कभी-कभी शब्द व्युत्पत्तियों के आधार पर रखे जाते हैं। अरबी में इस प्रकार के कोश प्रायः मिलते हैं जिनमें वर्णानुक्रम से 'माद्दा' देते हैं और हर 'माद्दा' के साथ उससे बनने वाले शब्द।

व्याकरण—बहुत-से कोशों में शब्द पर व्याकरण की दृष्टि से भी टिप्पणी रहती है। इसका निर्णय भी विचारपूर्वक होना चाहिए। कभी-कभी एक शब्द कई व्याकरणिक इकाइयों के रूप में प्रयुक्त होता है। मूलतः वह जो है, उसी का कोश में उल्लेख होना चाहिये।

अर्थ—अर्थ वर्णनात्मक कोश में प्रचलन के आधार पर और ऐतिहासिक कोश में इतिहास के आधार पर दिया जाता है। इसे पीछे समझाया जा चुका है। अर्थ दो

प्रकार के होते हैं : एक में केवल एक समानार्थी शब्द देते हैं (जैसे गज-हाथी) दूसरे में परिभाषा देते हैं, या समझाते हैं (जैसे हाथी एक जानवर है जो..)। दोनों प्रकारों का उचित प्रयोग होना चाहिए। व्याख्या जहाँ अपेक्षित हो, वहीं दी जानी चाहिये।

उद्धरण—अर्थ के स्पष्टीकरण या उदाहरण के लिए अर्थ के साथ उसके प्रयोग भी दिये जाते हैं। ऐसे उद्धरण प्रामाणिक होने चाहिये। यदि कई दिये जायँ तो उन्हें कालक्रमानुसार रखना चाहिये।

चित्र—कभी-कभी अर्थ, पर्याय या व्याख्या से स्पष्ट नहीं होते। ऐसी स्थिति में वस्तु का चित्र आवश्यक हो जाता है।

उच्चारण—कोश में उच्चारण भी आवश्यक है, क्योंकि मात्र सामान्य वर्तनी से वह स्पष्ट नहीं होता। हिन्दी कोशों में उच्चारण नहीं रहता। नागरी लिपि के समर्थकों का कहना है कि जैसा हमारा उच्चारण है, वैसा ही नागरी में लिखते हैं। अतः अलग उच्चारण की हिन्दी में जरूरत नहीं। किन्तु ऐसा मानना अवैज्ञानिक है। बलाघात, एवं अ, ऐ, औ, ऋ, ष, ज्ञ आदि कई ध्वनियों के सम्बन्ध में हिन्दी शब्दों में भी संकेत अपेक्षित है।

व्युत्पत्ति—यह भी कोश का महत्त्वपूर्ण अंग है। अच्छे कोश में इसका होना आवश्यक है। व्युत्पत्ति का कभी तो सीधे संकेत कर देते हैं, कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि से और भाषाओं के भी रूप दे देते हैं।

व्युत्पत्ति (Etymology)

व्युत्पत्तिशास्त्र शब्दविज्ञान का एक प्रमुख अंग है। यह ध्वनिविज्ञान, शब्दविज्ञान तथा अर्थविज्ञान का सम्मिलित योग है, जिसके आधार पर किसी शब्द का मूल खोजा जाता है। इसमें यह पता लगाया जाता है कि कोई शब्द-विशेष मूलतः किस भाषा का है। साथ ही इसमें इस बात के पता लगाने का भी प्रयास हो सकता है कि मूल शब्द का अर्थ तथा रूप क्या था और किन परिस्थितियों में एवं किन कारणों से उसमें ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी परिवर्तन हुए? आधुनिक ढंग से कोशों में व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। कोशों में अर्थ देने के साथ-साथ अब यह भी देने का प्रयास किया जा रहा है कि शब्द मूलतः कहाँ का है। इसके साथ अन्य भाषाओं से तुलनात्मक सामग्री भी देते हैं। इस दिशा में पथ-प्रदर्शक कार्य टर्नर का 'नेपाली कोश' है। इधर उनका भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक कोश भी आया है। व्युत्पत्तिशास्त्र के आधार पर किसी भाषा-विशेष के किसी एक समय में प्रयुक्त शब्द-समूह का विश्लेषण कर इस बात का भी पता लगाते हैं कि उसमें कितने प्रतिशत शब्द अपने हैं तथा कितने प्रतिशत विदेशी या अन्य भाषाओं के।

व्युत्पत्तिशास्त्र के लिए अंग्रेजी शब्द 'एटिमालोजी' है। यह असल में यूनानी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ यथार्थ लेखा-जोखा (etymos-यथार्थ, logos-शब्द या लेखा-जोखा) है। यूनानी में 'एटिमालोजी' मूलतः दर्शन की एक शाखा थी, न कि

भाषाविज्ञान की, और इसके अन्तर्गत यूनानी दार्शनिक किसी शब्द द्वारा व्यक्त भाव या विचार की यथार्थ जानकारी के लिये शब्दों के मूल तथा उसके मूल अर्थ का अध्ययन करते थे। हिन्दी में इसके लिये 'व्युत्पत्तिशास्त्र' शब्द है। व्युत्पत्ति का अर्थ 'विशेष या विशिष्ट उत्पत्ति' है। प्राचीन काल में भारत में इस शास्त्र को निरुक्त कहते थे और यह छः वेदांगों में एक था। लोगों का विश्वास है कि उस समय निघण्टु के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिये बहुत से निरुक्त ग्रन्थों की रचना हुई थी, जिनमें सबसे प्रसिद्ध निरुक्त यास्क का था। और आज केवल वही उपलब्ध है। इस प्रकार यास्क विश्व के प्राचीनतम व्युत्पत्तिकार हैं। इन्होंने अपने निरुक्त में कुल १२६८ व्युत्पत्तियाँ दी हैं, जिनमें २२४ बहुत ही वैज्ञानिक तथा युक्तिसंगत हैं।

व्युत्पत्तिशास्त्र के प्राचीन रूप को ठीक से हृदयंगम करने के लिये यह बतला देना आवश्यक है कि यास्क ने एक शब्द की एक ही व्युत्पत्ति न देकर एक से अधिक व्युत्पत्तियाँ[1] भी दी हैं। इसका आशय यह है कि उन लोगों के लिए यह एक निश्चित और नियमित विज्ञान या शास्त्र नहीं था। मनमाने ढङ्ग से जितनी भी बुद्धि दौड़ाई जा सके, दौड़ाई जाती थी। यही कारण है कि इन व्युत्पत्तियों में आधी से अधिक तो अत्यन्त पुराने ढङ्ग की तथा मनमानी हैं[2] तथा कुछ संयोग से ठीक और वैज्ञानिक हो गई हैं।[3]

प्लेटो के समय में तथा उनके कुछ पूर्व भी यूनान में दर्शन की शाखा के रूप में इस शास्त्र का अध्ययन प्रचलित था। वहाँ, उस समय विद्वानों का विश्वास था कि किसी शब्द की ध्वनि और उसके द्वारा व्यक्त किये गये अर्थ में कुछ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए वहाँ भी मनमानी व्युत्पत्तियाँ दी गईं। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'क्रैटीलस' में ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध का, उस समय की ये बातें देखने के कारण ही मजाक उड़ाया है।

मध्य युग तक आते-आते जब लोगों का देश-देशान्तर तथा उनकी भाषाओं से परिचय बढ़ा तो संसार की सारी भाषाओं को किसी एक भाषा से निकली सिद्ध करने के लिये अर्थ तथा ध्वनि की दृष्टि से मिलते-जुलते शब्दों के बहुत से संग्रह बने। उस समय तक इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित् सिद्धांत तो थे नहीं। लोग अटकल से दो शब्दों के बाह्य रूप को देखकर दोनों को एक शब्द से निकला मान बैठते थे। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के शब्द 'नीअर' (near) का अर्थ 'समीप' है, और भोजपुरी में भी 'नीअर' का अर्थ यही है। बस प्राचीन लोगों का इतना पाना था कि दोनों शब्द एक मूल के मान लिए जाते थे। ऐसे ही न जाने कितनी बड़ी-बड़ी पुस्तकें बनीं, जिनमें इस प्रकार के उदाहरणों के

---

१. यास्क के निरुक्त में इन्द्र की १४ व्युत्पत्तियाँ, जातवेदस की ६, अग्नि की ५ तथा अरण्य की २ दी गई हैं।

२. जैसे अंगार, आरि, गर्द्ध तथा अरण्य आदि की।

३. जैसे सहस्र, त्रिंशति, श्रद्धा तथा कंटक आदि की।

आधार पर हिब्रू से अंग्रेजी का या हिब्रू से ग्रीक का सम्बन्ध स्थापित किया गया। यों तो उन लोगों के ये कार्य आज व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं, पर इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व है कि उन्हीं अटकलों और असंगत बातों में भाषाविज्ञान के शिशु ने जन्म लिया और पलता रहा।

व्युत्पत्ति और भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)[1]

ध्वनि-साम्य देखकर किसी और शब्द को और समझ लेना भ्रामक व्युत्पत्ति है। इसके कारण बहुत-से शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। 'ध्वनिविज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत इस पुस्तक में अन्यत्र इस पर विचार किया जा चुका है। भ्रामक व्युत्पत्ति के कुछ मनोरंजक उदाहरण लिए जा सकते हैं। पहरा देने वाला संतरी अधिकतर किसी के आने पर कहता सुना जाता है—

'हुकुम सदर'

इसका अर्थ लोग समझते हैं कि 'यह सदर हुक्म है कि यहाँ आना मना है।' पर, मूलतः यह शब्दावली 'हुकुम सदर' न होकर—

हू कम्ज देयर (Who comes there)

है, जिसका आशय है—

कौन आता है ?

पर भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण लोगों ने इसे 'हुकुम सदर' कर डाला है। ग्रामीण जनता में इसी प्रकार लाइब्रेरी (=पुस्तकालय) 'रायबरेली' कही जाती है और गाँव के मिडिल स्कूलों में चेम्सफोर्ड महोदय 'चिलमफोड़' कहे जाते रहे हैं। 'चार्जशीट' को चार-शीट (जो चार पन्ने कागज पर हो) और 'पाउरोटी' को 'पावरोटी' (पाव भर की रोटी या बड़ी रोटी) भी इसी कारण हो जाना पड़ा है, और इसी कारण मुकदमेबाज लोग 'अस्सरे नौ' को 'साढ़े नौ' और 'आनरेरी' को 'अन्हेरी' (जहाँ अँधेरा या अन्याय हो) कहते हैं। अंग्रेजी का कन्ट्री डान्स (country dance) इसी कारण फ्रांसीसी में कोंत्र डान्स (contra danse) हो गया है। भ्रामक व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती चीज कुछ दिन पूर्व तक आर्यसमाजियों में प्रचलित रही है। वे लोग सारे संसार को आर्य-संस्कृति से अभिभूत तथा सभी भाषाओं की आदि जननी संस्कृत को मानते रहे हैं और इसी भावना से कितने ही देश के नामों तथा अन्य शब्दों को संस्कृत से लिया गया सिद्ध करते रहे हैं। उनके लिए अरबी का ज़ात सं० जाति, स्कैंडिनेवियन सं० स्कंधनिवासी, जापान संज्जय प्राण, अफ़ग़ानिस्तान सं० आवागमनस्थान, चीन सं० च्यवनदेश, क्राइस्ट सं० कृष्ण, तथा मिस्टर सं० मित्र हैं।

---

१. Popular का शुद्ध अनुवाद 'लौकिक' होने के कारण कुछ लोगों ने इसे 'लौकिक व्युत्पत्ति' कहा है, पर लौकिक-पारलौकिक अन्य अर्थ में रूढ़ हैं, अतएव यहाँ 'भ्रामक व्युत्पत्ति' प्रयोग किया गया है, जो अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

अन्य बातें

यों तो व्युत्पत्तितः एक मूल के शब्द बाह्य रूप तथा अर्थ की दृष्टि से प्रायः कुछ मिलते-जुलते रहते है, पर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह समानता नहीं रहती, उदाहरण के लिए—

भारोपीय* 'Penqe'—अंग्रेजी 'Five' (रूप बिल्कुल भिन्न है)
फ्रेंच 'Larme'— 'Tear' (" " ")
अंग्रेजी 'फ्री' (Free)—संस्कृत 'पशु' (अर्थ और रूप दोनों भिन्न हैं)
संस्कृत 'उपाध्याय' —'ओझा' (" " ")

यहाँ एक पंक्ति में दिये गये शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक हैं, पर ऊपर से अलग-अलग हैं और कुछ में तो अर्थ की दृष्टि से भी कोई समानता नहीं है।

शब्दों की व्युत्पत्ति देने में बहुत-सी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, जिनमें प्रधान ये हैं—

(१) जिस शब्द की व्युत्पत्ति देनी हो, उसके जीवन का पता लगाकर और उस पर कालक्रमानुसार विचार करके उसके प्रचलतम रूप, अर्थ एवं प्रयोग को निश्चित कर लेना चाहिए। जिस शब्द के सम्बन्ध में ये बातें निश्चित हो जायँ, उसकी व्युत्पत्ति देने में भटकने का भय प्रायः नहीं रह जाता।

(२) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर बिना और छान-बीन किये दोनों को सम्बद्ध नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए भोजपुरी का 'नीयर', 'नियर' या 'नियरा' (=नजदीक) और अंग्रेजी का 'नीअर' (near)=नजदीक, शब्दों को लें। दोनों में ध्वनि तथा अर्थ-साम्य है, पर यथार्थतः भोजपुरी का 'नियर' या 'नियरा' संस्कृत शब्द 'निकट' से निकला है और अंग्रेजी का 'नीअर' पुरानी नार्स के 'नेर' से; और इस प्रकार दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ इस प्रकार का साम्य मिले, उस भाषा या बोली की जननी भाषा में, उस शब्द के समानार्थी शब्दों तथा उस शब्द की प्राप्त जीवनी को लेकर विचार करना चाहिए।

(३) दो शब्दों को सम्बद्ध सिद्ध करने में या किसी पुराने शब्द से किसी बाद के शब्द को व्युत्पन्न सिद्ध करने में ध्वनि या रूप के अतिरिक्त अर्थ पर भी विचार करना चाहिए, और यदि कोई अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़े तो भूगोल, इतिहास तथा सामाजिक नियमों एवं रूढ़ियों के प्रकाश में उस परिवर्तन का कारण समझ लेना चाहिए।

(४) किसी भी ध्वनि का न तो यों ही लोप होता है और न तो कोई अतिरिक्त ध्वनि यों ही किसी शब्द में जुड़ जाती है। अकारण अनुनासिकता भी इसका अपवाद नहीं। इस प्रकार के परिवर्तन में मुख-सुख, सादृश्य, किसी और शब्द का साथ में जुड़ना तथा स्वराघात (बलात्मक तथा संगीतात्मक) आदि काम करते हैं। इन दृष्टियों से भी दो शब्दों (यदि उनके रूप अभिन्न न हों) को सम्बद्ध सिद्ध करने में विचार आवश्यक है। इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करने में ध्वनि-नियमों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(५) भाषा के विकास के साथ, शब्द उच्चारण की दृष्टि से सरल तथा लम्बाई में प्रायः छोटे* होते जाते हैं। एक शब्द के दो रूपों में प्राचीन तथा अर्वाचीन रूप पहचानने के लिए इस सिद्धान्त को सामान्यतः अपनाया जा सकता है। यों इसके अपवाद भी मिल सकते हैं।

(६) यदि किसी अन्य भाषा से किसी शब्द के उधार लिए जाने की संभावना हो तो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से उस पर विचार अपेक्षित है। दो भाषा-भाषियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्पर्क होने पर ही, एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचते हैं।

(७) किसी भी भाषा के शब्द प्रमुखतः तीन प्रकार के हो सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित करने में इन सबका ध्यान आवश्यक है। सम्भव है देखने में कोई शब्द विदेशी ज्ञात हो, पर यथार्थतः वह अपनी प्राचीन भाषा से विकसित हुआ हो, और उसी जननी भाषा से अतीत में कभी विदेशी भाषा में चला गया हो। या दूसरी ओर कोई शब्द जननी भाषा से विकसित हुआ ज्ञात हो, पर यथार्थतः वह जननी भाषा से विदेशी भाषा में गया हो और फिर विदेशी भाषा से ही वह आधुनिक काल में लिया गया हो। इस दूसरी अवस्था में वह शब्द विदेशी कहा जायगा, यद्यपि उसका मूल देशी है। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी शब्द 'शैंपू' लें। पढ़ी-लिखी औरतों में यह एक प्रचलित शब्द है। प्रसाधन-सामग्री में इसका प्रमुख स्थान है। इसे प्रायः लोग अंग्रेजी का समझते हैं, पर यथार्थतः यह हिन्दी शब्द 'चाँपना' से ही अंग्रेजी में लिया गया है। इस प्रकार मूलतः 'शैंपू' हिन्दी शब्द है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से मूलतः हिन्दी 'चाँपना' से विकसित होते हुए भी 'शैंपू' अंग्रेजी से हिन्दी में लिया गया माना जायेगा।

(८) दो भाषाओं के दो शब्द यदि अर्थ एवं ध्वनि की दृष्टि से समान या समीप ज्ञात हों तथा अन्य सारी बातों का विचार करने पर भी उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय न हो सके तो यह देखना चाहिये कि वे दोनों भाषाएँ कहीं एक परिवार की तो नहीं हैं, और यदि हैं तो उनमें पाये जाने वाले मिलते-जुलते शब्द उन दोनों की आदि जननी मूलभाषा के तो नहीं हैं। संस्कृत पितृ, अंग्रेजी फ़ादर, या फ़ारसी हफ्त, संस्कृत सप्त ऐसे ही शब्द हैं। इस प्रकार के शब्दों में यदि मूलभाषा के किसी एक शब्द से विकसित होने की सम्भावना का ध्यान न रक्खा जाय तो प्रायः इस निर्णय पर पहुँचने का भय रहता है कि वह शब्द उन दोनों भाषाओं में किसी से दूसरे में लिया गया है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिशास्त्रियों में नेपाली डिक्शनरी के सुयोग्य

*जिस प्रकार नाटे व्यक्ति बहुत दिनों तक परिवर्तित नहीं होते और दूसरी ओर लम्बे व्यक्ति शीघ्र परिवर्तित हो (वृद्ध हो) जाते हैं, उसी प्रकार छोटे शब्दों में भी परिवर्तन कम होता है, और लम्बे शब्द परिवर्तित हो जाते हैं।

सम्पादक टर्नर के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिकार स्कीट, यूल और वर्नेल आदि के नाम लिये जा सकते हैं। भारतवर्ष के इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में मुनि रत्नचन्द्र जी महाराज (अर्धमागधी), हरगोविन्द दास विक्रमचन्द्र सेठ (प्राकृत), ज्ञानेन्द्र मोहन दास (बँगला), गोपालचन्द्र (उड़िया), कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी (मराठी), हरिवल्लभ भायाणी (गुजराती) तथा वासुदेवशरण अग्रवाल (हिन्दी) आदि प्रधान हैं।

व्युत्पत्तिशास्त्र के आधार पर किसी भाषा के समस्त शब्दों की सम्पूर्ण जीवनी देकर उस भाषा का बहुत सुन्दर कोश बनाया जा सकता है, जिससे भाषा के अतिरिक्त समाजविज्ञान तथा विज्ञान सम्बन्धी कितनी ही समस्याओं पर प्रकाश पड़ सकता है। कार्य के कठिन होने के कारण अभी तक इस दिशा में उल्लेख्य प्रयास नहीं हुए हैं, पर आशा है कि निकट भविष्य में विद्वान् इधर अवश्य ध्यान देंगे।

तीन व्युत्पत्तियाँ

(१) सं० घोटक>प्रा० घोडअ>हि० घोड़ा। यहाँ 'घो' तो ज्यों का त्यों है। 'ट' दो स्वरों के बीच में था, अतः घोषीकरण हो गया 'ड'। हिन्दी में उसी का विकास 'ड़' हो गया है। अंत का 'अक' (>अग>अग़, अअ>आ) विकसित होते-होते 'आ' हो गया।

(२) सं० हस्ती>प्रा० हत्थी> हि० हाथी। यहाँ 'ह' ज्यों का त्यों है। 'स' जो 'ह्' में परिवर्तित हो जाता है, के मिलने से 'त' का 'थ' हो गया। मात्रा में कमी न होने देने के लिए 'थ' का 'थ्थ' हुआ, किन्तु दो महाप्राण साथ-साथ उच्चरित नहीं हो सकते। अतः 'थ्थ' का 'त्थ' हो गया। प्राकृत में यही 'हत्थी' है।

हिन्दी में सामान्यतः तद्भव शब्दों में एक व्यंजन की प्रवृत्ति है, अतः 'त्थ' का 'थ' रह गया और शब्द की मात्रा की दृष्टि से इस क्षति की पूर्ति के लिए 'ह' के 'अ' का 'आ' हो गया। इस प्रकार हाथी हो गया।

(३) सं० उष्ट्र>प्रा० उट्ट>हि० ऊँट। 'ष्ट्र' में उच्चारण की दृष्टि से ष्, र् निवर्ल हैं तथा 'ट' सबल है, अतः 'ट' ने ष् और र् को समीकृत कर लिया, अतः 'ष्ट्र' का हो गया 'ट्ट' और प्राकृत में हो गया 'उट्ट'। हिन्दी में एक व्यंजन की प्रवृत्ति के कारण जब 'ट्ट' का 'ट' हो गया, तो मात्रा की दृष्टि से क्षतिपूर्ति के रूप में 'उ' का 'ऊ' हो गया, साथ ही स्वतः अनुनासिकता भी आ गई। इस प्रकार 'उष्ट्र' का ऊँट हो गया।

नामविज्ञान

शब्दविज्ञान की यह महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसमें स्त्री-पुरुष, स्थान, नगर, देश, नदी आदि के नामों का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। (विस्तार के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'शब्दों का अध्ययन' का 'नामविज्ञान' शीर्षक अध्याय।)

———

९ / भाषाविज्ञान की कुछ अन्य शाखाएँ

इस अध्याय के पूर्व भाषाविज्ञान की वाक्य, रूप, ध्वनि, अर्थ तथा शब्द से संबद्ध शाखाओं पर विचार किया गया है, तथा आगे 'लिपि' तथा 'इतिहास' को लिया गया है। यहाँ कुछ अन्य शाखाओं को संक्षेप में देखा जा रहा है—

(क) भाषाभूगोल (Linguistic Geography)

अर्थ और अध्ययन-विस्तार—भौगोलिक विस्तार में स्थानीय विशेषताओं की दृष्टि से किसी क्षेत्र की भाषा का अध्ययन ही 'भाषाभूगोल' या 'क्षेत्रीय भाषाविज्ञान' (areal linguistics) है। दूसरे शब्दों में किसी क्षेत्र में, बोली जाने वाली भाषाओं, भाषा या बोलियों आदि में ध्वनि, सुर, शब्द-समूह, रूप, वाक्य-गठन तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से कहाँ-कहाँ, क्या-क्या अन्तर या विशेषताएँ हैं, इनका अध्ययन ही भाषाभूगोल में किया जाता है। इस प्रकार भाषाभूगोल में पहले किसी क्षेत्र के अनेक स्थानों की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन किया जाता है और फिर उन विभिन्न स्थानों की भाषा-विषयक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चय किया जाता है कि कितने स्थानों की भाषा लगभग एक-सी है, और स्थानीय अन्तर प्रायः नहीं के बराबर हैं, तथा किस-किस स्थान से भाषा में अन्तर आने लगा है और वह अन्तर कहाँ थोड़ा है और कहाँ अधिक। साथ ही कहाँ से भाषा में इतना परिवर्तन आरम्भ हो गया है कि एक क्षेत्र का व्यक्ति दूसरे क्षेत्र की भाषा को समझ न सके। इन बातों का निर्धारण हो जाने पर, यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उस क्षेत्र में 'इतनी' भाषाएँ हैं, और उनके क्षेत्र अमुक स्थान से अमुक स्थान तक हैं। साथ ही प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत आने वाली बोलियों और प्रत्येक बोली के अन्तर्गत आने वाली उपबोलियों एवं उनके क्षेत्रों (तथा एक दूसरे से अलग करने वाली प्रमुख विशेषताओं), आदि का भी निर्धारण किया जाता है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की भाषा जिसे 'व्यक्ति-भाषा' या 'व्यक्ति-बोली' (idiolect) कहते हैं, दूसरे से भिन्न होती है; और यहाँ तक कि एक व्यक्ति की भाषा भी हर क्षण बदलती रहती है। किसी व्यक्ति की भाषा का विभिन्न दृष्टियों से जो स्वरूप किसी दिन दो बजकर पाँच मिनट पर होगा, ठीक वही रूप दो बज कर छः मिनट पर नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यक्ति भी ठीक वही नहीं है, जो दो बजकर पाँच मिनट पर था। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सूक्ष्मता में नहीं जाया जा सकता। इसीलिए सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि किसी क्षेत्र की व्यक्ति-भाषाओं (idiolects) में यदि कोई स्पष्ट भेद नहीं है तो उस क्षेत्र की भाषा

को 'उपबोली' कह सकते हैं। ऐसी कई उपबोलियों (जिनमें आपस में थोड़ा ही अन्तर है) से मिलकर बने क्षेत्र की भाषा को 'बोली' कह सकते हैं। ऐसी कई बोलियों (जिनमें आपस में अन्तर तो बहुत स्पष्ट है, किन्तु उनमें बाह्य और आंतरिक दृष्टि से आपसी साम्य कम से कम इतना है कि किसी एक के बोलने वाले को दूसरी बोली का बोलने वाला सरलता से समझ सके) से मिलकर बने क्षेत्र की भाषा को 'भाषा' कहते हैं। दो (या अधिक) ऐसे क्षेत्र की भाषाएँ, जिनके व्यक्ति एक दूसरे को सरलता से न समझ सकें, एक भाषा के अन्तर्गत नहीं माने जायेंगे और वे सभी अलग-अलग भाषाएँ मानी जायेंगी।

बोलियों का निर्धारण हो जाने पर उनके क्षेत्र में ध्वनि, रूप, शब्द आदि सभी दृष्टियों से सर्वेक्षण किया जाता है, और इस प्रकार अलग-अलग बोलियों के अलग-अलग व्याकरण तथा कोश बनाये जाते हैं। उपबोलियों के अन्तरों का भी विवरण प्रस्तुत किया जाता है, और आवश्यकतानुसार बोली-क्षेत्रों के अलग-अलग नक्शे भी बनाये जाते हैं, जिनमें भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट करने वाली रेखाएँ (देखिए आगे) खींची जाती हैं। बोलियों के इस प्रकार के सर्वाङ्गीण—ऐतिहासिक और तुलनात्मक—अध्ययन को बोलीविज्ञान (dialectology) कहते हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से बोलियों के बनने एवं उनके भाषा बन जाने के कारण आदि का भी इससे विवेचन किया जा सकता है। बोली के इस सम्बन्ध में स्पष्टत : दो भाग हैं : एक भाग तो भौगोलिक है, और दूसरा अन्य प्रकार का। भौगोलिक भाग में बोलियों के भौगोलिक विस्तार एवं स्थानीय अन्तरों आदि का अध्ययन तथा नक्शे बनाना आदि आता है। बोली-भूगोल (dialect geography) में बोली का यह भौगोलिक अध्ययन ही तत्त्वतः आता है, यों आजकल इसका प्रयोग बोली के पूरे अध्ययन, यहाँ तक कि तुलनात्मक और ऐतिहासिक के लिए भी होने लगा है, और इस प्रकार उसे बोलीविज्ञान के बहुत निकट ला दिया गया है। भाषा-भूगोल में बोली-भूगोल पूर्णतः आ जाता है। भाषा-भूगोल में दो भाषाओं की सीमारेखा निर्धारित करना, या किसी असर्वेक्षित क्षेत्र में सर्वेक्षण के सहारे विभिन्न भाषाओं का पता लगाना तो आता ही है, साथ ही किसी एक भाषा के पूरे क्षेत्र का सर्वेक्षण कर उनकी स्थानीय विशेषताओं का अध्ययन भी आता है, और यही अध्ययन बोली-भूगोल भी है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, एक में भाषा पर बल है, तो दूसरे में बोली पर, यों बोली भाषा का अंग है।

इस प्रसंग में 'शब्द-भूगोल'(word geography) का भी उल्लेख किया जा सकता है। किसी क्षेत्र में एक शब्द के एक से अधिक रूपों का अलग-अलग स्थानों में प्रचलन, तथा एक भाव के लिए एक से अधिक शब्दों या एक से अधिक भावों के लिए एक शब्द का विभिन्न स्थानों में प्रयोग आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। यह भाषा-भूगोल या बोली-भूगोल की एक शाखा है। ध्वनि-भूगोल (phono-geography), रूप-भूगोल morpho-geograqhy) आदि रूपों में इस प्रकार की और भी शाखाएँ-प्रशाखाएँ बनाई जा सकती हैं।

इतिहास—भाषा-भूगोल के अध्ययन की परम्परा १९वीं सदी के प्रथम चरण तक जाती है। इस क्षेत्र में प्रथम उल्लेखनीय नाम श्मेलर का है। इन्होंने १८२१ के कुछ पूर्व एक ववेरियन उपबोली का अध्ययन करके उसका व्याकरण तैयार किया था। १८७३ में स्कीट ने 'इंगलिश डायलेक्टालोजी सोसायटी' की स्थापना की, और बाद में एटलस बनाने का भी प्रयास किया गया। इसके ३ वर्ष बाद १८७६ में जर्मन विद्वान् जार्ज वेंकर ने राइन में स्थानीय बोलियों का सर्वेक्षण किया। बाद में पूरे जर्मनी को अपने सर्वेक्षण का क्षेत्र बनाया और सरकारी सहायता से स्कूल के शिक्षकों के सहारे ४० वाक्यों को ४०,००० से अधिक स्थानीय बोलियों में रूपांतरित कराया। यह अध्ययन बहुत विस्तृत तो था, किन्तु भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों से अपरिचित लोगों ने काम किया था, अतएव इसके परिणाम बहुत विश्वसनीय नहीं थे। बाद में रीड द्वारा संपादित होकर, इनके आधार पर नक्शे छपे। वेंकर के अध्ययन पर आधारित सिद्धांतों पर १९०८ में यावर्ग ने विचार किया। १८९५ में फ़िशर ने अपना 'स्वाविया का एटलस' छपाया। भाषा-भूगोल के क्षेत्र में गिलेरो और एडमंट का फ्रांस में किया गया सर्वेक्षण-कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एडमंट ध्वनिविज्ञान आदि से पूर्ण परिचित था और उसने अकेले लगभग २०० शब्दों और वाक्यांशों के आधार पर ६०० से कुछ अधिक स्थानों का अध्ययन किया। जर्मन-अध्ययन की तुलना में यहाँ स्थान तो बहुत कम लिये गये थे, किन्तु एडमंट अपेक्षित शिक्षण-प्राप्त था अतः उसकी सामग्री अपेक्षाकृत बहुत प्रामाणिक थी। गिलेरो ने इसी आधार पर फ्रांस का एटलस (१८९६ से १९०८) प्रकाशित किया। ये नक्शे अब भी भाषा-भूगोल के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। एलिस ने अंग्रेजी बोलियों के ध्वनि-पक्ष पर कार्य किया, और राइट ने अंग्रेजी बोलियों की ध्वनियों का कोश और व्याकरण (१८९६ से १९०५) प्रकाशित किया। १८९८ में हाग ने दक्षिणी स्वाविया के एक जिले का पर्यवेक्षण किया, और भाषा-भूगोल के अध्ययन के सिद्धान्तों का विवेचन किया। १८९८ से १९४० तक वेनिक तथा क्रिस्टेन्सन ने डेनमार्क में काम किया और उसे प्रकाशित भी किया। वेगैन्ड का रूमानिया में किया गया कार्य १९०९ में प्रकाश में आया। इटली में यावर्ग और युद ने कार्य किया और उनका एटलस (१९२८ से १९४० तक) प्रकाशित हुआ। यह कार्य भी महत्त्वपूर्ण है। ल्वम द्वारा ब्रिटैनी में किया गया कार्य १९२४ में, और कोयके द्वारा नीदरलैण्ड और वेल्जियम में किया गया कार्य १९२७ में प्रकाशित हुआ। कोयके का अध्ययन केवल दो शब्दों के स्वर फ़ोनीमों तक सीमित था। इधर कनाडा तथा अमेरिका में कार्य हुआ है, जिसमें कुरेथ का न्यू इंगलैंड का एटलस (१९३९-४३), हैंडबुक तथा शब्द-भूगोल आदि प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत में ग्रियर्सन ने सर्वे का कार्य किया था, जो अपनी कमियों के बावजूद बहुत महत्त्व रखता है। इसका प्रकाशन २०वीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। इधर डॉ० विश्वनाथ प्रसाद की देखरेख में बिहार के कुछ पूर्वी भाग का सर्वेक्षण हुआ है। पंजाब

के भाषा-विभाग की ओर से भी कुछ कार्य हो रहा है। विभिन्न बोलियों-उपबोलियों पर इधर जो प्रबंध लिखे गए हैं, उनके लिये सर्वेक्षण हुआ है।

भाषा-भूगोल के क्षेत्र में काम करने वालों में कुछ और उल्लेख्य नाम पाँप, वाच, वीनरीच, गैमिलशेग, दउजा, ग्राइरा, ब्लॉक तथा ब्लैंक्वार्ट आदि के हैं।

पद्धति—जिस भौगोलिक क्षेत्र में भाषा का अध्ययन करना हो, उसमें पहले घूम-फिर कर मोटे ढंग से उसकी भाषा-स्थिति का पता लगा लेते हैं, और इस आधार पर प्रारम्भिक रूप में उसे अध्ययन को सुविधा की लिये खण्डों में भी बाँट लेते हैं। साथ ही वहाँ की स्थिति और अपने अध्ययन के आवश्यकतानुसार शब्दों या वाक्यों आदि की सूची तैयार करते हैं। सूची कैसे बनायें तथा उसके सम्बन्ध में लोगों से सूचना कैसे प्राप्त करें, इसका अध्ययन 'सर्वेक्षण-पद्धति' (दे० अगला अध्याय) के अंतर्गत आता है। भाषा का अध्ययन ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य, अर्थ तथा मुहावरे आदि दृष्टियों से किया जाता है। सूची के आधार पर फिर पूरे क्षेत्र में सामग्री एकत्र करते हैं। इसके लिए कभी-कभी यह भी किया जाता है कि क्षेत्र में उन स्थलों का निश्चय कर लिया जाता है, जहाँ से सामग्री लेनी हो। अच्छा तो यह होता है कि हर ५—५ या १०—१० मील के बाद से सामग्री लें, किन्तु यदि इतने अधिक स्थलो से लेना सम्भव न हो, तो उन स्थलों से लेना चाहिये, जहाँ स्पष्टतः कुछ अन्तर हो। सामग्री एकत्र करने पर उस क्षेत्र के नक्शे में उसे विषयानुसार भरा जाता है। मान लें कि उस क्षेत्र में उत्तरी भाग में 'आ' अधिक विवृत है और दक्षिण में अर्द्धसंवृत है, तो बीच में एक रेखा खींचेंगे। वह रेखा ऐसे स्थलों से होकर जायेगी जिसके उत्तर में आ विवृत हो और दक्षिण में संवृत हो। इस प्रकार की रेखाएँ सामान्य रूप से 'आइसोग्लास' कहलाती हैं; यद्यपि इन्हें 'ध्वनि-रेखा' या 'आइसोफोन' कहना अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार ध्वनि के अन्तरों की रेखाएँ बना ली जायेंगी। हर विशेषता के लिए अलग-अलग नक्शे का प्रयोग अधिक अच्छा होता है। रूप, वाक्य, शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से भी इसी प्रकार के नक्शे बनाये जा सकते हैं। सबके तैयार होने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि पूरे क्षेत्र में भाषा-सम्बन्धी विशेषताएँ क्या हैं? क्षेत्र की बोलियों में विभाजन के लिए इन नक्शों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रायः सभी रेखाएँ (ध्वनि-रेखा, रूप-रेखा, वाक्य-रेखा, अर्थ-रेखा तथा शब्द-रेखा) अलग-अलग हैं, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो जायगा कि कुछ स्थलों पर कुछ रेखाएँ एक दूसरे के अधिक समीप हैं, या कभी-कभी एक में मिल भी जाती हैं। जहाँ भाषा का अन्तर दिखाने वाली ये दो या अधिक रेखाएँ एक दूसरे पर हों, या समीप हों, उसी को दो बोलियों की सीमारेखा मानते हैं, क्योंकि इसी के आसपास से अन्तर आरम्भ होते हैं, किन्तु दो बोलियों के बीच रेखा या स्पष्ट सीमा जैसी कोई चीज नहीं होती। प्रायः दो के बीच एक ऐसी पतली पेटी रहती है जिसमें दोनों बोलियों की विशेषताएँ रहती हैं। शब्दों का स्थान दिखाने के लिये विन्दु या तारक से भी काम लेते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन प्रमुखतः नक्शे की दृष्टि से था। इस प्रकार बोलियों के क्षेत्र का निर्धारण हो जाने पर उनके क्षेत्र से अधिक सूक्ष्मता से सामग्री एकत्र कर उनका व्याकरण, कोश आदि बनाया जा सकता है, या उपबोलियों या उनके भी स्थानीय भेदों के क्षेत्र का निर्धारण हो सकता है।

कहना न होगा कि यह अध्ययन वर्णनात्मक तथा तुलनात्मक है। तुलना भौगोलिक रूपों की है। इनका ऐतिहासिक अध्ययन भी हो सकता है और साथ ही इस अध्ययन से ऐतिहासिक परिणाम भी निकाले जा सकते हैं और प्राचीन इतिहास का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है, किन्तु यहाँ उस विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है।

(ख) सर्वेक्षण-पद्धति (Field-Method)

यदि हमें किसी ऐसी भाषा का विश्लेषण करना हो जिसकी सामग्री लिखित रूप में हमें प्राप्त नहीं है, और वह भाषा किसी क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही है, तो उस क्षेत्र में जाकर, उसके प्रयोक्ताओं से सुनकर, अपेक्षित सामग्री संकलित करने की पद्धति को क्षेत्र-पद्धति या सर्वेक्षण-पद्धति कहते हैं। यह सामग्री-संकलन भी प्रायः दो प्रकार से होता है : (१) स्वयं उस क्षेत्र में जाकर, (२) उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलने वाले, अर्थात् मातृभाषाभाषी (native speaker) को अपने यहाँ बुलाकर। इन दोनों में प्रथम अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, क्योंकि उस क्षेत्र में उस भाषा का अपना वातावरण बना रहता है, अतः सहज रूप में संबद्ध और अपेक्षित सारी सामग्री प्राप्त करना संभव होता है। क्षेत्र के बाहर बुलाने में निम्नांकित कारणों से ठीक और अपेक्षित पूरी सामग्री नहीं मिल पाती :—(क) उक्त भाषा का वहाँ का मूल वातावरण नहीं रहता, जिसमें भाषा बोली जाती है। इसके कारण कुछ असहजता आ जाती है। (ख) बाहर जाने से नये वातावरण के भी कुछ प्रभाव की संभावना होती है जो चाहे बहुत थोड़े रूप में ही सही, सूचक को प्रभावित कर सकता है। (ग) सूचक के घर या उसके गाँव में जाकर उससे बात करने पर वह अधिक सहज रूप में उत्तर देता है, किन्तु यदि उसे कहीं बाहर बुलाया जाय तो अपनी भाषा के प्रति उसके अधिक सतर्क हो जाने की संभावना होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि ऐसे शब्द, रूप या प्रयोग जिन्हें वह शिष्ट या परिनिष्ठित नहीं समझता, प्रायः छोड़ जाता है। इसके विपरीत उसके अपने वातावरण में सहज रूप से बात करने का यदि यत्न किया जाये तो ऐसी सामग्री के छूटने की अपेक्षाकृत कम संभावना रहती है। (घ) उस गाँव में होने पर किसी शब्द, रूप, प्रयोग आदि में संदेह होने पर दूसरों से बात करके सही रूपादि प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु उस क्षेत्र के बाहर ऐसी सुविधा नहीं होती। (ङ) क्षेत्र में हाथ से इशारा करके भी अनेक वस्तुओं, संबंधों, क्रियाओं के नाम आदि पूछे जा सकते हैं, किन्तु क्षेत्र के बाहर यह आवश्यक नहीं है कि क्षेत्र में उपलब्ध सभी वस्तुएँ आदि हों ही। इस तरह सामग्री छूट जाने का भय रहता है।

सूचक से सामग्री प्राप्त करने के लिये उसके संपर्क में आना पड़ता है। इस प्रसंग

में आने की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है। कभी तो ऐसा होता है कि सूचक केवल अपनी भाषा जानता है, उसे किसी ऐसी दूसरी भाषा की जानकारी नहीं होती जो सामग्री संकलित करने वाले या सर्वेक्षक को ज्ञात हो, और कभी-कभी इसके विपरीत वह ऐसी कोई एक (या अनेक) भाषा जानता है, और वह भाषा (या भाषाएँ) उन दोनों के बीच विचार-विनिमय के माध्यम का कार्य करती है (हैं)। पहली स्थिति में उन दोनों के बीच केवल वही भाषा होती है, जिसकी सामग्री लेनी है। अतः इस रूप में सामग्री-संकलन की पद्धति को एकभाषिक (monolingual) पद्धति कहते हैं, तथा दूसरी को द्वैभाषिक (bilingual) पद्धति, क्योंकि उस स्थिति में उन दोनों के बीच एक और भाषा भी आ जाती है। दूसरी में यदि एक से अधिक भाषाओं को माध्यम बनाया जाय तो उसे बहुभाषिक पद्धति कह सकते हैं। यों एकभाषिक पद्धति के सादृश्य पर दूसरी को अनेकभाषिक पद्धति भी कहा जा सकता है, जिसमें द्वैभाषिक और बहुभाषिक दोनों ही पद्धतियाँ आ जाती हैं। आगे की बातें मुख्यतः एकभाषिक पद्धति को ध्यान में रखकर कही गई हैं। द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से सामग्री-संकलन अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। उसके लिए जिस भाषा को विचार-विनिमय का माध्यम बनाना होता है, उसमें प्रश्नावली तैयार करते हैं। प्रश्नावली बनाते समय मुख्यतः केवल इस बात का ध्यान रखते है कि वह इतनी व्यापक हो कि उसके उत्तरस्वरूप, उक्त भाषा के विश्लेषण-विवेचन के लिए अपेक्षित सारी सामग्री (ध्वनि, लिंग, वचन, कारक, सर्व-नाम, संख्यावाचक विशेषण, क्रिया, अव्यय एवं वाक्यादि विषयक) प्राप्त हो जाय। सर्वेक्षण-पद्धति के संबंध में निम्नांकित बातें उल्लेख्य हैं—

सूचक (Informant)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूचक उस व्यक्ति को कहते हैं, जिससे सूचना (भाषा-विषयक सामग्री) प्राप्त की जाय। सूचक के चयन आदि के संबन्ध में प्रमुख रूप से ये बातें ध्यान में रखने की हैं : (१) सामान्यतया १७-१८ वर्ष से कम का सूचक बहुत काम का नहीं होता, क्योंकि उसका भाषाज्ञान अपेक्षित गहराई का नहीं होता। यों मेरा अनुभव तो यह रहा है कि ३०-३५ वर्ष के आसपास का सूचक बहुत अच्छा होता है, क्योंकि वह अपनी भाषा की सूक्ष्मताओं से अधिक परिचित होता है। चालीस से ऊपर के सूचकों में साधारणतया अपेक्षित चुस्ती नहीं होती। (२) कभी-कभी एक ही स्थान की भाषा, उच्च वर्ग, निम्न वर्ग, उच्च जाति, निम्न जाति, हिन्दू-मुसलमान, विशेष प्रकार के अलग-अलग पेशे, आदि दृष्टियों से एकाधिक प्रकार की होती है। यह अन्तर शब्द-समूह के अतिरिक्त कभी-कभी, यद्यपि सीमित रूप में, ध्वनि एवं व्याकरण के स्तर पर भी (बिजनौर में हिन्दु-आय है, मुसलमान-आवे है, खड़ीबोली के ही कुछ अन्य क्षेत्रों में आता है) होता है। सूचक-चयन के समय इसका विचार भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में कई सूचकों (कुछ पुरुषों तथा कुछ स्त्रियों) से सामग्री लेना अच्छा रहता है। (३) एक स्थान से दो-तीन सूचक लिए जाने चाहिए, किन्तु सभी से अलग-अलग (दूसरे की उपस्थिति में नहीं) सामग्री नोट करनी चाहिए। जो बातें सभी में समान हों, वे

निश्चित रूप से ठीक हैं, किन्तु जिनमें अन्तर है, आवश्यक नहीं कि सर्वदा गलत ही हों। उम्र, व्यवसाय, कुल-परम्परा, शिक्षा आदि कारणों से अन्तर पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं सूचकों से फिर सुनकर, या अन्य सूचकों से पता लगा कर शुद्धि-अशुद्धि या बोलीगत अन्तर आदि का निर्णय किया जा सकता है। (४) स्त्री-पुरुष में पुरुष सूचक अपेक्षाकृत अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि अधिक सामाजिक जीवन बिताने के कारण, उनका भाषा-विषयक अनुभव भी अधिक होता है। किन्तु इसके साथ ही, यह भी उल्लेख्य है कि पुरुष सूचकों पर बाह्य प्रभाव की अधिक संभावना रहती है। स्त्री सूचक अपेक्षाकृत अधिक अप्रभावित एवं ठेठ भाषा का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई कठिनाई न हो तो एक पुरुष और एक स्त्री, दो सूचकों से सामग्री ली जानी चाहिए। (५) पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में शब्दों, रूपों, मुहावरों आदि के स्तर पर कभी-कभी अन्तर भी मिलते हैं। उर्दू में 'मुहावराते निस्वाँ' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। हास (M.R. Haas) ने अपने एक लेख (Men's and Women's Speech in Koasafil; Language, 20, 1944.) में इस प्रकार के अन्तर का अच्छा विवरण दिया है। इसीलिए अपनी आवश्यकतानुसार केवल पुरुष से, केवल स्त्री से, या दोनों से सामग्री ली जा सकती है। (६) कभी-कभी कुछ पिछड़े वर्गों या जातियों में स्त्रियाँ दूसरों से नहीं मिलतीं-जुलतीं। ऐसे स्थानों पर केवल पुरुष सूचक से काम चलाया जा सकता है। (७) शब्दों, रूपों एवं प्रयोगों आदि के स्तर पर कम आयु, अधिक आयु और बहुत अधिक आयु के लोगों में अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के पुराने लोग 'चिड़िया' का बहुवचन 'चिड़ियें' भी प्रयुक्त करते हैं, किन्तु नयी पीढ़ी 'चिड़ियाँ' का ही प्रयोग करती है। इसी प्रकार अनेक पुराने लोग आए, गाए के स्थान पर आवे, गावे जैसे रूपों को व्यवहृत करते हैं। शब्दों के स्तर पर भी इस प्रकार के अन्तर मिलते हैं। हिन्दी में हो सुशिक्षितों की पुरानी पीढ़ी 'आश्चर्य' और 'मूर्ख' का प्रयोग करती है, किन्तु नयी पीढ़ी 'अचरज' और 'मूरख' (सात युगोस्लाव कहानियाँ—प्रभाकर माचवे १९६६; इसमें एकाधिक बार 'मूर्ख' के स्थान पर 'मूरख' प्रयुक्त हुआ है) को भी परिनिष्ठित हिन्दी का अंग मानती है। सामान्यतः नयी पीढ़ी के लोगों को धर्म, अंधविश्वास आदि विषयक शब्दों या वर्जित शब्दों (टैबू) के सम्बन्ध में पुरानी पीढ़ी की तुलना में कम जानकारी होती है। अलग-अलग क्षेत्रों में इनसे मिलते-जुलते अन्य प्रकार के भी अन्तर मिल सकते हैं। यदि इस प्रकार के अन्तरों को ज्ञात करना भी हमारा लक्ष्य हो, तो सूचक तदनुकूल चुने जा सकते हैं। (८) सूचक कई पीढ़ियों से यदि उसी क्षेत्र में रह रहा हो, तो अधिक अच्छा है क्योंकि बाहर से आने वालों की भाषा में किसी न किसी स्तर पर, किसी और भाषा या बोली के प्रभाव की पूरी संभावना रहती है। इस प्रकार उससे उस भाषा या बोली का प्रकृत रूप नहीं मिल पाता। (९) सूचक कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहा हो, किन्तु यदि वह अपने जीवन-काल में अधिक दिनों तक कहीं बाहर रहा हो, तो भी उसकी भाषा में बाह्य तत्त्वों के आ जाने की संभावना रहती है, अतः अच्छा हो कि ऐसे व्यक्ति को सूचक बनाया जाय जो अधिक दिनों के लिए कहीं बाहर न गया

हो। (१०) सामग्री के साथ सूचक का नाम, उसकी आयु, स्थान, परिवार की यात्रा, मूल, प्रवास, पेशा आदि विषयक संक्षिप्त इतिहास, तथा उच्चारण-अवयव-विषयक विशेषता (जैसे दाँत बाहर निकले या नीचे का जबड़ा भीतर को धँसा आदि) आदि लिख लेनी चाहिए। सामग्री-विश्लेषण में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। एक बार एक सूचक से मैं सामग्री नोट कर रहा था। वह सभी स्थितियों में दंतोष्ठ्य 'व' का ही प्रयोग कर रहा था, अतः मैंने मान लिया कि उस बोली में केवल दंतोष्ठ्य 'व' है, किन्तु बाद में औरों से तुलना करने पर पता चला कि और लोग द्वयोष्ठ्य का भी प्रयोग करते हैं। जब दुबारा मैंने उस सूचक से मुलाकात की और उसका उच्चारण समझने की कोशिश की तो पता चला कि उसका नीचे का जबड़ा कुछ भीतर को धँसा होने के कारण, उसके लिए द्वयोष्ठ्य 'व' का उच्चारण संभव नहीं था। इसी प्रकार बड़े दाँत वाले पवर्ग का उच्चारण भी दंतोष्ठ्य करते हैं। एक व्यक्ति मुझे ऐसा भी मिला जो जीभ कुछ छोटी होने के कारण प्रायः सभी जिह्वोच्चरित ध्वनियों को सामान्य से कुछ पीछे से उच्चरित करता था। इस प्रकार की और भी असामान्यताएँ मिलती हैं, जिनका उच्चारण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सूचक के चयन में भी इन बातों का ध्यान रखना चाहिए और भरसक सभी दृष्टियों से सामान्य आदमियों को लेना चाहिए। (११) समझदार आदमी अधिक अच्छा सूचक बन सकता है, क्योंकि वह सर्वेक्षक की आवश्यकता को जल्दी समझ सकेगा। (१२) अल्पभाषी, लज्जालु, एकांतप्रिय या बहुत गंभीर व्यक्ति प्रायः अच्छे सूचक नहीं बन पाते। इसके विपरीत बातूनी, हँसमुख, न झेंपनेवाला व्यक्ति सूचक के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त होता है। (१३) सूचक ऐसा होना चाहिए जो सहज रूप में बोले। बहुत से लोग सतर्क होकर बनावटी रूप में बोलने लगते हैं। इस बात का पता चलते ही, या तो उसे छोड़ देना चाहिए या फिर उसके द्वारा बताई गई बातों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का किसी अन्य अच्छे सूचक की सहायता से पता लगा लेना चाहिए। (१४) सभी दृष्टियों से विचार करने पर अन्य लोगों की तुलना में किसान अपने क्षेत्र की भाषा को प्रायः अधिक प्रकृत रूप में जानता तथा बोलता है, अतः मजदूर या अन्य नौकरीपेशा व्यक्ति की तुलना में वह प्रायः अधिक अच्छा सूचक हो सकता है। (१५) ऐसा व्यक्ति जो कोई ऐसी भी भाषा जानता हो जिसका ज्ञान सर्वेक्षक को हो, ऐसी भाषा न जानने वाले की तुलना में, सूचक का काम अधिक अच्छी तरह कर सकेगा। उससे बड़ी सरलता से और कम समय में अपेक्षित सारी सूचनाएँ ली जा सकती हैं। (१६) यदि कई पढ़े-लिखे सूचक उपलब्ध हों तो भषाविज्ञान का जानकार सूचक अपेक्षाकृत अधिक अच्छा हो सकता है।

सर्वेक्षक—सर्वेक्षक स्वभाव, योग्यता तथा प्रशिक्षण आदि की दृष्टि से कैसा हो, इस संबंध में ये बातें ध्यान में रखने की हैं : (१) सर्वेक्षक को यथाशीघ्र अपरिचित को परिचित एवं परिचित को मित्र बना लेनेवाला, मिलनसार, विनम्र, व्यवहार-कुशल, हँसमुख, धैर्यवान, अपना काम सहज ढंग से निकालनेवाला, जिज्ञासु, सूचक से एक

शिष्य की तरह भाषा सीखने तथा उसके संबंध में जानकारी प्राप्त करने को इच्छुक, बातचीत में पटु, चुस्त और सावधान होना चाहिए। (२) उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए। इससे तुलना, विश्लेषण आदि में वह अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकता है। (३) जिस क्षेत्र से सर्वेक्षक को सामग्री संकलित करनी हो, उसके भूगोल, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, रहन-सहन, लोग, जाति, उद्योग-धंधे आदि का यथा-साध्य उसे समुचित ज्ञान होना चाहिए। इससे उसे अपनी प्रश्नावली बनाने, लोगों से निकट सम्पर्क स्थापित करने, अच्छे सूचक चुनने और अंततः वहाँ की भाषा का समुचित अध्ययन एवं विश्लेषण करने में सहायता मिलेगी। (४) उसकी श्रवण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए ताकि उच्चारण-स्थान, प्रयत्न, प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता, मात्रा-काल, सुर, सुरलहर, बलाघात, संगम आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर को अत्यंत शीघ्रता से और ठीक-ठीक पकड़ सके। इसके लिए, सहज श्रवण-शक्ति के अतिरक्त, ध्वनि विज्ञान का सैद्धांतिक ज्ञान, तथा उस ज्ञान के प्रयोग का उसे जितना ही अधिक अभ्यास होगा, वह उतनी ही कुशलता और सफलता से अपना काम कर सकेगा। (५) भाषाविज्ञान—सामग्री-संकलन एवं सामग्री-विश्लेषण—में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अच्छी गति, सर्वेक्षक के लिए बड़ी सहायक होती है। (६) सर्वेक्षक को काफ़ी तेज़ लिखने का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह सूचक की बोलने की सहज गति को कम किए बिना अपेक्षित सामग्री नोट कर सके। (७) ध्वन्यात्मक लिपि का न केवल अच्छा ज्ञान, बल्कि तेज़ी से उसमें लिखने का अभ्यास भी होना चाहिए।

प्रश्नावली—कहानी, गीत, चुटकुला, आदि के लिए तो किसी प्रश्नावली की अपेक्षा नहीं होती, किंतु शब्द, रूप, वाक्य आदि जानने के लिए सर्वेक्षक को प्रश्नावली बना लेनी चाहिए। प्रश्नावली बना लेने से एक तो सरलता एवं सहजता से सूचक अपेक्षित सूचनाएँ देता चलता है, दूसरे आवश्यक सूचनाओं के छूटने का भय नहीं रहता। यों ऐसी कोई भी प्रश्नावली नहीं बनाई जा सकती जो अपने मूल रूप में बिना किसी परिवर्तन के सभी क्षेत्रों में भाषा-सर्वेक्षण के काम आ सके, क्योंकि हर भाषा या बोली की अपनी सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न होती है। इसीलिए अच्छा यह होता है कि क्षेत्र के लोगों, जातियों, धर्म, रहन-सहन एवं उद्योग-धंधे आदि से परिचय प्राप्त करके ही सर्वेक्षक प्रश्नावली तैयार करे। फिर भी मोटे रूप से इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें बताई जा सकती हैं: (१) प्रश्नावली में स्थूल या मूर्त्त वस्तुओं या क्रियाओं से सम्बन्धित प्रश्न पहले आने चाहिए तथा सूक्ष्म या अमूर्त्त से सम्बन्धित बाद में। (२) व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा वाक्य-क्रम से सामग्री प्राप्त करने की दृष्टि से प्रश्नावली बनानी चाहिए। (३) वाक्य के बाद कहानी, चुटकुले, गीत जैसी चीजें पूछकर नोट की जा सकती हैं। (४) प्रारंभ में मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि कहानी आदि से खोजी जा सकती हैं। भाषा के बारे में अच्छी जानकारी हो जाने पर स्वतंत्रतः भी इन्हें पूछ कर मालूम किया जा सकता है। प्रश्नावली बनाते समय क्षेत्र की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अग्रलिखित आधारों से सहायता ली जा सकती है—

(अ) संज्ञा—(क) शरीर के अंग—सिर, पैर, हाथ, अँगूठा, उँगली, नाखून, बाल, आँख, नाक, मुँह, कान, गाल, दाँत, जीभ, होंठ, भौं, गर्दन, छाती, पीठ, पेट, कमर, जाँघ, घुटना, पिंडली, हड्डी, रक्त, मांस; दिल, जिगर, फेफड़ा जैसी चीजों के नाम बाद में पूछे जा सकते हैं। (ख) संबंधियों के नाम—बाप, माँ, भाई, भाभी, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, बहन, जीजा, दादा, दादी, ताऊ, ताई, चाचा, चाची, नाना, नानी, मामा, मामी, मौसा, मौसी, फूफा, बूआ, साला, साली, सास, ससुर, पोता, पोती, नाती, नतिनी, पतोहू। (ग) घरेलू चीजों के नाम—चारपाई, बिछौना, रजाई, तकिया, चादर, लोटा, गिलास, थाली, कटोरी, पतीला, पतीली, कड़ाही, तवा, चमचा, अँगीठी, चूल्हा। (घ) अन्न तथा खानपान—गेहूँ, धान, जौ, मटर, चना, बाजरा, उड़द, चावल, दाल, आटा, खाना, पानी, मिठाई, रोटी, पराठा, सब्जी, आलू, बैंगन, गोभी, पालक, आम, सेब, अमरूद, केला, अंगूर, संतरा, नींबू, अनन्नास, नाशपाती, अखरोट, बादाम, किशमिश, काजू आदि। (ङ) जीव-जन्तुओं के नाम—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, कुत्ता, बिल्ली, बंदर, घोड़ा, हाथी, शेर, चीता, हिरन, गीदड़, ऊँट, मछली, चूहा, साँप, मेढक, तोता, कोयल, मुर्गी, बत्तख, मक्खी, मच्छर आदि। (च) फूलों के नाम—गुलाब, चमेली, गेंदा, चम्पा, रातरानी, बेला आदि। (छ) भौगोलिक नाम आदि—नदी, नाला, समुद्र, पर्वत घाटी, जमीन, आसमान, सूर्य, चाँद, तारे, बादल। (ज) कपड़े आदि—धोती, कुर्ता, टोपी, तौलिया, अँगौछा, रूमाल, कोट, पाजामा, बनियाइन, जूता, मोजा, कमीज, स्वेटर आदि। (झ) पढ़ने-लिखने की चीजों के नाम—किताब, कागज, कलम, स्याही, पत्र, पत्रिका, अखबार आदि।

(आ) सर्वनाम—यदि एकभाषिक पद्धति से पूछना हो तो सर्वनामों में प्रारंभ में मेरा घर, उसका घर, तुम्हारा घर जैसे प्रयोगों से संबंध कारक के रूप मालूम किए जा सकते हैं तथा अन्य रूपों (मैं, हम, तुम, वह, यह, मुझे, उन्हें आदि) को बाद में जानने का यत्न किया जा सकता है। हाँ द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से यदि सामग्री एकत्र की जा रही हो तो मूल रूप (मैं, तुम, हम, वह, यह आदि) एवं सम्बन्ध के रूप दोनों ही नोट किए जा सकते हैं। अन्य रूप (उन्हें, मुझे, जिसे, आदि) बाद में वाक्यों के विश्लेषण के बाद खोजे जाने चाहिये। उसके पूर्व इनको जानने का यत्न अनावश्यक-रूप से बहुत समय तो लेता ही है, स्पष्टतः पता चलना भी कठिन हो जाता है।

(इ) विशेषण—सबसे पहले संख्यावाचक विशेषण। इनमें भी पूर्ण तथा कम पहले, और अपूर्ण आदि बाद में। पूर्ण में भी दस तक पहले तथा अन्य बाद में। रंग आदि विषयक विशेषणों को छोड़कर अन्य विशेषण वाक्य के माध्यम से अधिक अच्छी तरह जाने जा सकते हैं। ये बातें एकभाषिक पद्धति की दृष्टि से कही जा रही हैं। द्वैभाषिक आदि में इनका ध्यान रखना आवश्यक नहीं है।

(ई) वाक्य—लिंग, वचन, कारक, शेष सर्वनाम, शेष विशेषण, अव्यय, क्रिया, आदि की जानकारी फुटकर उदाहरणों से अपेक्षित पूर्णता के साथ नहीं प्राप्त की जा

सकती। वाक्य के स्तर पर ही इन्हें पाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसे प्रश्न बनाए जाने चाहिए कि उत्तर में प्राप्त वाक्यों से पूरी भाषा के सम्बन्ध में इन विषयों से संबद्ध तथ्य जाने जा सकें।

प्रश्नावली के लिए कुछ संकेत—संज्ञा के लिए : वस्तु या जानवर आदि की ओर संकेत करते हुए 'यह क्या है ?' व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए 'यह कौन है ?' या 'यह तुम्हारा कौन है ?' सर्वनाम के सम्बन्ध में कारकीय रूपों के लिए : वस्तु की ओर संकेत करते हुए 'यह किस का (की) है ?' संख्याओं के लिए : कई वस्तुओं को एक स्थान पर रखकर 'ये कितने हैं ?' क्रिया के लिंग : स्वयं चलते या कूदते हुए 'मैं क्या कर रहा हूँ ?' या दूसरे को कुछ करते हुए देखकर, संकेत करते हुए 'वह क्या कर रहा है ?' इत्यादि।

कहानी, गीत, चुटकुले आदि का संकलन—वाक्यों के बाद इनका संकलन करना चाहिए। इनके विश्लेषण द्वारा सूक्ष्म संज्ञाएँ (आत्मा, दया, श्रद्धा आदि), सूक्ष्म विशेषण (वृद्ध, चालाक, संतोषी आदि) प्रत्यय, उपसर्ग, समास, संधि, मुहावरे तथा लोकोक्तियों आदि का पता लगाया जा सकता है तथा ऊपर जिनका उल्लेख किया जा चुका है, उनसे संबद्ध जानकारी की प्रामाणिकता की परीक्षा की जा सकती है। असल में इस प्रकार के पाठों (texts) में ही भाषा अपने सहज और पूरे रूप में हमारे सामने आती है। इसी कारण इसके आधार पर अपने अनेक पूर्ववर्त्ती निर्णय हमें बदलने भी पड़ते हैं। यों इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि कहानी तथा गीत आदि की भाषा कभी-कभी प्रचलित सहज भाषा से कई बातों में थोड़ी भिन्न तथा पुरानी होती है। उदाहरण के लिए, अनेक भोजपुरी क्षेत्रों की बोलचाल की भाषा में मुझे 'पहिती' ('सगपहिता' अपवाद है), 'लुचुई', 'सगौती' शब्द नहीं मिले, किन्तु गीतों में इनका प्रयोग खूब मिलता है। गीतों में छंद की आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़ की प्रवृत्ति भी असामान्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कहानी, गीत, आदि के आधार पर भाषा के स्वरूप-निर्धारण में इन दृष्टियों से पर्याप्त सतर्कता आवश्यक है।

बातचीत की रिकार्डिङ्ग—दो या अधिक सूचकों की बातचीत की टेप-रिकार्डर से रिकार्डिङ्ग करके, उसे फिर सुनकर उसका विश्लेषण करना भी उस भाषा या बोली विषयक सामग्री की प्राप्ति का अच्छा साधन है। सच पूछा जाय तो दो या अधिक सूचकों की आपसी बातचीत में ही भाषा का सर्वाधिक प्रकृत रूप मिल सकता है।

सामग्री-लेखन—इस संबंध में मुख्यतः निम्नांकित बातें ध्यान में रखने की हैं : (१) विश्लेषण के समय कभी-कभी यह जानना आवश्यक हो जाता है कि कौन-सी सामग्री कब ली गई थी। अतः जिन चिटों पर सामग्री नोट करें, उन पर उस दिन की तिथि भी अंकित होनी चाहिए। पहले से तिथि अंकित करने में बची चिटों पर तिथि काटनी पड़ती है; अतः प्रतिदिन नोट करने के बाद तिथि अंकित करना अधिक अच्छा रहता है। (२) यदि चिटों पर कोई संशोधन करना हो तो ऐसे काटकर लिखना

चाहिए कि पूर्वलिखित सामग्री भी पढ़ी जा सके। कभी-कभी संशोधनपूर्व सामग्री को जानना भी आवश्यक हो जाता है। (३) सामग्री कितने बड़े कागज पर नोट करें, यह प्रश्न भी विचारणीय है। नाइडा ने बड़े कागज पर सामग्री नोट करने की राय दी है, जिस पर काफ़ी लिखा जा सके। मेरे विचार में शब्द, रूप, वाक्य आदि छोटी-छोटी चिटों पर नोट करना अच्छा है, ताकि फिर से सामग्री उतारनी न पड़े और ध्वनि-ग्रामिक, रूपग्रामिक तथा वाक्य-विश्लेषण में चिटों को आवश्यकतानुसार विभिन्न वर्गों में रखा जा सके। हाँ, कहानी, गीत आदि बड़े कागज पर नोट किए जा सकते हैं। (४) कागज के एक तरफ़ लिखना चाहिए। दोनों तरफ़ लिखने में तुलना करते समय बहुत समय लग जाता है तथा विश्लेषण में भी कठिनाई पड़ती है। (५) छिपाकर नहीं लिखना चाहिए। इससे सूचक को सर्वेक्षक के उद्देश्य पर संदेह हो सकता है। (६) हर शब्द को कम से कम दो बार सुनकर लिखना अधिक अच्छा होता है। लिखने के बाद तुरन्त एक बार दुहरा भी लेना चाहिए ताकि लेखन में यदि कोई त्रुटि हो तो उसे ठीक किया जा सके। प्रस्तुत लेखक ने रूस में ताजुज्बेकी भाषा का सर्वेक्षण करते समय यह अनुभव किया कि उसी समय लेखन की गलती यदि नहीं पकड़ी गई और उसे ठीक नहीं किया गया, तो बाद में ऐसा करना कई कारणों (उस सूचक का न मिलना, अन्य लोगों का उच्चारण कुछ भिन्न होना आदि) से प्रायः असंभव हो जाता है। (७) जो शब्द जैसे सुनाई पड़े, वैसे ही लिखना चाहिए। किसी स्तर पर बलात् एकरूपता लाने का यत्न नहीं किया जाना चाहिए। अनुसंधाता में ऐसी ईमानदारी बड़ी ही आवश्यक है। (८) सामग्री ध्वनिग्रामिक लिपि में न लिखी जाकर ध्वन्यात्मक लिपि में लिखी जानी चाहिए। साथ ही अपेक्षित उपचिह्नों की सहायता से विवृतता, संवृतता, अग्रता, मध्यता, पश्चता, प्रयत्न, स्थान, प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता, मात्रा, सुर, सुरलहर, बलाघात, संगम आदि विषयक असामान्यताओं को भी नोट कर लेना चाहिए। (९) सूचक से सामग्री नोट करने के लिए अच्छी किस्म की पेंसिल ठीक रहती है। एक तो इससे अपेक्षाकृत अधिक तेजी एवं सरलता से लिखा जा सकता है, दूसरे कागज के भीगने पर अपठ्य होने का भय नहीं रहता, और तीसरे स्याही साथ रखने की परेशानी से भी छुटकारा मिल जाता है। (१०) टेप-रिकार्डर से टेप करके, बाद में अकेले बैठ कर भी सामग्री लिखी जा सकती है।

अर्थ—सामग्री लिखने के साथ-साथ उसका अर्थ भी लिखते चलना चाहिए। इस संबंध में निम्नोक्त बातें ध्यान में रखी जा सकती हैं: (१) स्थूल वस्तुओं के सुनिश्चित अर्थ (जैसे रोटी, चारपाई, मकान आदि) तो सरलता से लिखे जा सकते हैं। (२) जिन शब्दों के लिए अपनी भाषा में शब्द न मिले, उनकी व्याख्या लिखी जा सकती है। (३) बहुत-सी वस्तुओं के ऐसे भी नाम मिल सकते हैं जिनके लिए अपनी भाषा में शब्द नहीं हैं, और उनकी ठीक व्याख्या लिखना भी जल्दी में कठिन होता है। ऐसी स्थिति में उनके रेखाचित्र या संकेत से काम चलाया जा सकता है। (४) अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट शब्दों के अर्थ उनके प्रयोग से पकड़ने का प्रयास करना चाहिए; क्योंकि सूचक

के लिए सभी शब्दों का अर्थ समझाना—विशेषतः ठीक अर्थ समझाना—सर्वदा संभव नहीं होता।

सर्वेक्षक के लिए अन्य सुझाव—ऊपर, सर्वेक्षक 'कैसा हो', इस संबंध में कुछ बातें कही गई हैं। यहाँ कुछ वे बातें दी जा रही हैं, जिनका उसे सर्वेक्षण करते समय ध्यान रखना चाहिए : (१) यदि सूचक की अभिवादन-पद्धति से सर्वेक्षक परिचित है, या मिलते ही देखकर परिचित हो जाता है, तो उसे उसी पद्धति से तुरंत अभिवादन करना चाहिए। प्रारम्भ में बिना विशेष परिचय के अपनी पद्धति से अभिवादन करना उचित नहीं होता, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि सर्वेक्षक की पद्धति से सूचक परिचित न हो, और पहली भेंट में ही उसकी वह हरकत सूचक के लिए एक रहस्य बन जाय, या यह भी हो सकता है कि उस प्रकार की क्रिया (जैसे हाथ उठाना) उसकी अपनी संस्कृति में कुछ भिन्न अर्थ रखती हो, या खराब अर्थ रखती हो। विशेषतः किसी भी देश के बहुत पिछड़े आदिवासियों में जाते समय तो इस बात का ध्यान नितांत आवश्यक है। (२) सूचक से मुस्कराते हुए मिलना चाहिए। यों विभिन्न स्थितियों में मुस्कराहट व्यंग्य या मजाक उड़ाने की भी द्योतिका होती है; किन्तु प्रथम मिलन या मिलते समय का सहज मुस्कान, प्रायः सभी संस्कृतियों में इसी बात का द्योतन करती है कि मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विशेषतः एकभाषिक पद्धति में तो यह मुस्कान और भी आवश्यक हो जाती है, क्योंकि सर्वेक्षक ऐसी स्थिति में नहीं होता कि बोलकर अपने भावों को सूचक तक पहुँचा सके। (३) मिलते ही चुप न रहकर किसी न किसी भाषा में (चाहे उसे सूचक भले न समझता हो) बात करनी शुरू कर देनी चाहिए। सूचक पर इसकी सहज प्रतिक्रिया यही होगी कि सर्वेक्षक बात करना चाहता है। (४) यदि सूचक की सभ्यता में प्रचलित विनम्रता एवं शिष्टता के ढंगों से सर्वेक्षक परिचित हो, या परिचित हो जाय तो उसे उसी के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। इससे सूचक को अपनी ओर आकर्षित करने एवं उससे उपेक्षित सहयोग प्राप्त करने में मदद मिलती है। (५) क्षेत्र में कुछ उपहार (जैसे मिठाई आदि) लेकर जाना प्रायः अच्छा साबित होता है। यदि सर्वेक्षक को इस बात का पता हो कि सूचक के क्षेत्र में कैसा उपहार विशेष पसंद किया जायगा तो वही लेकर जाना चाहिए। उदयपुर में एक बार मैं कुछ नटों से वहाँ की भाषा-संबंधी कुछ सामग्री नोट करने गया। एक बुड्ढे ने बात शुरू करते ही अपनी भाषा में अपने साथियों से कुछ संकेत किया, और परिणाम यह हुआ कि स्पष्टतः कुछ विरोध न करके भी वे कुछ विशेष बतलाने को तैयार न हुए। शाम को मैं बीड़ी के दस बंडल लेकर वहाँ गया। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे अपेक्षित सारी बातें बतलाईं और अंत में यह भी बतलाया कि प्रातः बुड्ढा कह रहा था कि 'ये साले हमसे पूछ-पूछ कर अपना पैसा बनाते हैं, और हमें कुछ नहीं देते।' (६) सूचक से मैत्रीपूर्ण भंगिमा से स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। (७) सर्वेक्षक कुछ सीखने के लिए सूचक के पास जाता है। उसे सच्चे अर्थों में अपने को शिष्य समझना चाहिए। (८) सूचक की हर परंपरा, बात एवं व्यवहार आदि के प्रति सर्वेक्षक को सहज प्रशंसात्मक दृष्टिकोण

अपनाना चाहिए तथा ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि सूचक को भी दृष्टिकोण का पता चल जाए। (६) यदि सूचक से कोई गलती हो जाय तो ऐसा रुख अपनाना चाहिए या ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे उसे ग्लानि, संकोच आदि न हो, और उसे लगे कि सर्वेक्षक यह कहना चाहता है कि कोई बात नहीं, ऐसी गलतियाँ तो हो ही जाती हैं। या ऐसी गलती देखकर भी नजरंदाज कर देना चाहिए ताकि सूचक लगे कि सर्वेक्षक ने देखा नहीं, या ध्यान ही नहीं दिया, ताकि उसमें लज्जा, संकोच आदि के भाव न आएँ। (१०) सूचक के साथ जब भी सर्वेक्षक रहे, उसे प्रसन्नचित रहना चाहिए। (११) यदि किसी प्रकार यह पता चल जाय कि किसी कारण सूचक कुछ दुःखी है तो ऐसी स्थिति में उस समय उससे सामग्री नोट करने का प्रयास न कर, फिर कभी उसके लिए जाना चाहिए। यदि किसी प्रकार संभव हो तो ऐसी स्थिति में सहानुभूति के भाव व्यक्त करना उसे अपने समीप लाने में बहुत सहायक होता है। (१२) सूचक यदि कोई बात अशुद्ध भी बतलाये तो न तो उसे टोकना चाहिए और न उससे विवाद करना चाहिए। यदि किसी बात के अशुद्ध होने का संदेह हो तो बिना उसे बताए, उससे फिर एक बार घुमा-फिरा कर किसी अन्य प्रसंग में वही बात पूछ लेनी चाहिए। यदि फिर भी गलती का संदेह हो तो बाद में दूसरे सूचक से पूछना चाहिए। (१३) यदि अपने से कोई गलती या अभद्रता हो जाय तो सर्वेक्षक को क्षमा-प्रार्थी होना चाहिए। नाइडा ने अपनी भूलों पर तुरन्त हँसने की सलाह दी है। मेरे विचार में कुछ स्थितियों में तो यह ठीक हो सकता है, किन्तु सभी स्थितियों में भूल करके हँसने से गलतफहमी हो सकती है। (१४) सूचक के शब्द या वाक्य दुहराने में यदि सर्वेक्षक से कोई अशुद्धि हो जाय और इस पर सूचक या अन्य लोग हँसें तो इसका बुरा न मान, ठीक रूप से उच्चरित करने का प्रयास करना चाहिए, और उन लोगों के साथ अधिक से अधिक बातचीत करनी चाहिए। (१५) सर्वेक्षक को सूचक या उस भाषा के भाषियों के संपर्क में अधिक रहना चाहिए; ताकि उन लोगों को आपस में बात करते सुना जा सके। (१६) सूचक से सुने गए कुछ शब्द या वाक्य यथावसर सूचक के सामने प्रयुक्त किये जायँ तो सूचक आगे और भी तत्परता से बतलाता है' क्योंकि उसे विश्वास हो जाता है कि उसकी भाषा के संबंध में जानकारी एकत्र करने वाला व्यक्ति बताई गई चीजें परिश्रम से याद कर रहा है। (१७) सूचक के साथ लगातार बहुत देर तक काम करना ठीक नहीं होता। ऐसा न हो कि वह ऊब कर बतलाने में रुचि लेना छोड़ दे। नाइडा (मारफालॉजी, पृ० १६१) ने ४५ मिनट को सामान्यतः ठीक समय माना है। मेरे विचार में ऐसा कोई नियम बनाना कदाचित् बहुत व्यावहारिक नहीं। मिथिला के एक सूचक के साथ मैथिली के संबंध में कार्य करते समय मैंने देखा कि डेढ़-दो घंटे के पूर्व वह स्वयं मुझे छोड़ने को तैयार न होता था। दूसरी ओर बिजनौर के एक व्यक्ति के साथ कौरवी पर काम करते हुए मैंने पाया कि २०-२५ मिनट बाद ही वह ऊब जाता था। वस्तुतः समय का निर्धारण सूचक की प्रकृति (कम बोलने वाला या बातूनी), उसके पास कितना समय है, उसकी उम्र (मेरा अनुक-

भव यह रहा है कि अधेड़ या कुछ बूढ़े देर तक बिना ऊबे बतलाते रहते हैं, और १८-२० वर्ष की उम्र वाले सबसे जल्दी ऊब जाते हैं) तथा उसके स्वास्थ्य आदि के आधार पर भाषा-सर्वेक्षक स्वयं कर सकता है। (१८) सूचक से एक ही बात बार-बार दुहराने को नहीं कहना चाहिए। इससे वह ऊब सकता है। यदि दो-तीन बार के बाद भी उसी को दुहराने की आवश्यकता है तो ऐसा बाद में किसी और प्रसंग में करना अधिक उचित होगा। (१६) 'ऐसा क्यों' या इस प्रकार के अन्य प्रश्न पूछना उचित नहीं। यदि सूचक जानता है तो बतला देगा, और यदि नहीं जानता है तो यह सोचकर कि उसे अपनी भाषा के बारे में नहीं मालूम है, झेंप सकता है, और आगे सर्वेक्षक की सहायता करने से कतरा सकता है। सूचक ऐसी स्थिति में यह सोच कर भी हीन ग्रंथि का अनुभव करता है कि सर्वेक्षक उसके बारे में क्या सोचेगा कि उसे अपनी भाषा के बारे में, इतनी सी बात भी नहीं मालूम है। (२०) नाइडा ने लिखा है कि एक बार कोई सर्वेक्षक अंगुली से इशारा करके विभिन्न वस्तुओं के नाम पूछता रहा, और सूचक हर बार एक ही उत्तर देता रहा। हुआ यह कि हर बार सूचक यह समझता था कि सर्वेक्षक अंगुली का नाम पूछ रहा है और वह वही बतलाता रहा। इस प्रकार जब एक ही उत्तर बार-बार मिले तो ऐसी गलतफहमी का अनुमान लगा लेना चाहिए, और इससे बचने के लिए वस्तु को छुआ जा सकता है या और तरीके अपनाए जा सकते हैं। (२१) नाम जानने के लिए सूचक को वस्तुओं को देखने में, अपनी वस्तुओं को दिखाना बहुत सहायक होता है। इसका आशय यह भी हुआ कि सर्वेक्षक भी अपने साथ कुछ वस्तुएँ ले जाय, और अच्छा हो कि वह पहले अपनी वस्तुएँ दिखाए। (२२) अपनी वस्तुएँ दिखाते समय सर्वेक्षक को सतर्कता के साथ सूचक के शब्दों को सुनना चाहिए। निश्चित रूप से 'यह क्या है' या 'इसका क्या नाम है' या 'यह किस काम आता है' का समानार्थी कोई शब्द या वाक्य प्रयुक्त करेगा। इस प्रकार के प्रश्नों के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को जान लेने पर उनकी वस्तुओं के नाम-काम आदि पूछने में सर्वेक्षक को आसानी रहेगी। (२०) इस संबंध में एक यह बात भी ध्यान देने की है कि यदि सूचक से सुनकर उसी रूप में प्रश्न किया जाय और सूचक एक शब्द न कहकर एक या कई वाक्य कहे, या देर तक बोलता रहे, तो इसका आशय यह समझना चाहिये कि उस प्रश्न का अर्थ 'इसका क्या नाम है' न होकर 'यह किस काम आता है' है। (२४) अपनी वस्तुएँ दिखाते समय उनके नाम तथा काम आदि के बारे में कहते चलो, यद्यपि यह निश्चित है कि सूचक कुछ नहीं समझेगा। इससे लाभ यह होगा कि अपनी वस्तुएँ दिखाते समय वह भी उनके बारे में कुछ कहना चाहेगा, जिससे उसकी भाषा को सुनने और कुछ प्रारम्भिक बातों को पकड़ने का अवसर मिलेगा। (२५) सूचक की संस्कृति एवं उसके अंधविश्वास आदि को ध्यान में रखते हुए उन वस्तुओं के नाम प्रायः नहीं पूछने चाहिए, जिन्हें बताने में सूचक को किसी भी कारण संकोच हो। उदाहरण के लिए, अनेक पिछड़ी जातियों के आदिवासी अपना नाम, रात में साँप-बिच्छू के नाम तथा शैतान-भूत आदि तथाकथित अमांगलिक शक्तियों आदि

के नाम लेना नहीं चाहते। आदिम जातियों में कुछ शब्द हैवू होते हैं। यदि उनकी जानकारी हो तो उन्हें भी नहीं पूछना चाहिए। (२६) सूचक की चीजें देखते समय उन चीजों के बारे में उसके न समझने के बावजूद कुछ कहते और पूछते चलो, जिससे वह स्पष्ट समझ जाय कि उन वस्तुओं के बारे में सर्वेक्षक जानना-सुनना चाहता है। इसका परिणाम यह होगा कि वह हर वस्तु को दिखाने के समय उसके नाम-काम के बारे में कुछ कहता चलेगा, जिससे अनेक वस्तुओं के नाम जानने तथा सूचक की भाषा समझने-सीखने में मदद मिलेगी। (२७) अनुसंधाता को सूचक की वस्तुओं के प्रति प्रशंसात्मक भाव व्यक्त करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि लोभ या उस वस्तु को लेने के भाव की गंध न आने पाये। (२८) सूचक की सभी वस्तुओं के संबंध में सर्वेक्षक को सहज जिज्ञासा का भाव प्रदर्शित करना चाहिये। (२९) ऊपर 'यह क्या है' का समानार्थी शब्द या वाक्य जानने के लिए कहा जा चुका है। वस्तुतः सर्वेक्षक के लिए सूचक की भाषा के तीन वाक्य जानने बहुत आवश्यक है: 'वह क्या है', 'वह किसका है', 'वह क्या कर रहा है।' इनमें प्रथम से अनेक संज्ञा शब्दों, दूसरे से सर्वनाम के संबंध कारक के रूपों तथा तीसरे से अनेक धातुओं की जानकारी हो सकती है। (३०) भाषा सीखने के लिए उसे बार-बार सुनना और बोलने का प्रयास करना बहुत आवश्यक है। क्षेत्र में इन दोनों के द्वारा भाषा सीखने की कोशिश करनी चाहिए। (३१) भाषा के (विषय एवं वक्ता से संबद्ध) विभिन्न स्तरों की जानकारी के लिए, विभिन्न विषयों एवं अवसरों पर, तथा विभिन्न वर्गों-जातियों-धर्मों-स्तरों के लोगों के बीच बातें सुननी चाहिये। इससे उस भाषा के विभिन्न रूपों या स्तरों को समझने में आसानी होगी। (३२) काम के बाद समय मिलते ही सामग्री का विश्लेषण आरंभ कर देना चाहिये। इससे आगे के काम में मदद मिलती है तथा जानी गई चीज के भूलने का भय नहीं रहता, और वह याद होती चलती है। (३३) विश्लेषण के साथ-साथ ऐसी सामग्री याद करते चलनी चाहिए जो आगे के काम में सहायक हो।

(ग) भाषा-कालक्रम-विज्ञान (Glottochronology)

भाषाविज्ञान में सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) से काम करने या सांख्यिकी (statistics) की सहायता लेने का इतिहास पिछली सदी से आरम्भ होता है। ह्विटनी ने १८७४ में अंग्रेजी ध्वनियों पर इस पद्धति से कुछ काम किया था। किंतु इस पर विशेष बल १९३५ के बाद दिया गया है। १९४८ में भाषाविज्ञान की छठी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने, जो पेरिस हुई थी, इस सम्बन्ध में काम करने के लिए एक कमेटी बनाई थी। इस क्षेत्र में काम करने वालों में किंग्स्ले जिप्फ, हॉकेट, रीड, क्रोयबर, क्रेटीन तथा रास आदि के नाम उल्लेख्य हैं। ग्लाटोक्रोनालोजी (जिसे हिंदी में 'भाषा-कालक्रम-विज्ञान' कहा जा सकता है) इसी क्षेत्र में विकसित अध्ययन का एक रूप है, जिसे विकसित करने का श्रेय मारिस स्वाडेस को है। इस विज्ञान को १९५० में इन्होंने विद्वानों के समक्ष रखा। १९५२ में उत्तरी अमरीकी इंडियनों तथा एस्किमों के सम्बन्धों

पर इसी आधार पर लिखित इनका लेख अमरीकन फ़िलासोफ़िकल सोसायटी की कार्यवाही में प्रकाशित हुआ। एक वर्ष बाद रावर्ट बी० लीज ने इस पर एक बहुत सुन्दर सैद्धान्तिक लेख प्रकाशित किया। इसके बाद ग्लीसन तथा कुछ अन्य लोगों ने इसे आगे बढ़ाया है। यद्यपि सही अर्थों ने भाषाविज्ञान की यह शाखा अभी अपनी बाल्यावस्था में है, और इसकी प्रक्रिया तथा परिणामों आदि का पूर्ण उद्घाटन अभी तक नहीं हुआ है; फिर भी इसकी सम्भावनाओं की धुँधली छाया हमारे सामने आ चुकी है। यहाँ अत्यंत संक्षेप में इसका परिचय दिया जा रहा है।

भाषा-कालक्रम-विज्ञान: वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर एक भाषा-परिवार की दो या अधिक भाषाओं के शब्द-समूह को एकत्र करते हैं और फिर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में पुराने शब्दों के लोप और नये के आगम के आधार पर भाषाओं के एक मूल भाषा से अलग होने के काल का पता लगाते हैं। साथ ही कभी-कभी ऐसी भाषाओं में जिनमें कुछ समानता हो और कुछ भिन्नता हो, जिसके कारण उनके एक परिवार के होने के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन हो, भाषा-कालक्रम-विज्ञान के आधार पर उनके एक परिवार के होने या न होने के सम्बन्ध में, अपेक्षाकृत अधिक निश्चय के साथ कहा जा सकता है। एक ही भाषा के दो कालों का शब्द-समूह ज्ञात हो तो उनके बीच के समय के सम्बन्ध में भी इसके आधार पर कुछ कहा जा सकता है। इस प्रकार वर्णनात्मक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर आधारित इस नई शाखा के आधार पर ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं।

तेरह भाषाओं के आधार पर आरम्भ में गणना की गई। गणना के परिणाम-स्वरूप यह सिद्धांत स्थापित किया गया कि सामान्यतया एक हजार वर्षों में कोई भी भाषा अपने मूल शब्दों के केवल ८१% शब्द रख पाती है। शेष १९% शब्द लुप्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रति हजार वर्ष में किसी भाषा में १९% शब्द नये आ जाते हैं। यों इस प्रतिशत के बारे में कुछ विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है, किन्तु किसी सर्व-सम्मत प्रतिशत के न होने पर इस अधिक मान्य प्रतिशत को स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रतिशत की प्राप्ति वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों आधारों पर हुई है। अब इसे स्वीकार करके किसी भी भाषा के बारे में बहुत-सी बातों का यदि बिलकुल सही नहीं तो, उसके बहुत समीप का अनुमान लगाया जा सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि किसी भाषा के शब्द-समूह का किसी प्राचीन काल में पता हो और आधुनिक काल में पता हो, किंतु यह न पता हो कि वह प्राचीन काल कितने वर्ष पूर्व का है तो दोनों शब्द-समूहों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लुप्त होने वाले या नये आने वाले शब्दों के प्रतिशत का पता लगाया जा सकता है और फिर उपर्युक्त प्रतिशत के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह पुरानी स्थिति कितने वर्ष पुरानी है। इसी प्रकार यदि एक परिवार की दो भाषाओं के शब्द-समूह का पता हो, किंतु यह न पता हो कि वे दोनों कब एक-दूसरे से अलग हुईं, तो उपर्युक्त

पद्धति से उस मूल भाषा के उस समय के शब्द-समूह का पता लगाया जा सकता है, जब दोनों भाषाएँ उससे निकलीं और फिर उस समय का भी पता लगाया जा सकता है। राजस्थानी-गुजराती या बँगला, उड़िया, असमियाँ के लिये इस प्रकार की गणना बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सैद्धांतिक दृष्टि से जो बातें ऊपर कही गई हैं, प्रायोगिक दृष्टि से उन्हें पूर्णतः ठीक या प्रयोग के योग्य नहीं माना जा सकता। पहली बात तो यह है कि किसी भाषा के पुराने रूप के आधारभूत शब्द-समूह को जिसके लिए प्रायः केवल थोड़ा-बहुत साहित्य ही उपलब्ध होता है, निश्चित करना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरे, शब्द-समूह में परिवर्तन-सम्बन्धी जो प्रतिशत निकाले गए हैं, सभी भाषाओं के लिए लागू नहीं हो सकते। एक भाषा ऐसी भी हो सकती है जो किसी ऐसी जगह बोली जाती हो, जिससे बाहर के लोगों का सम्पर्क नहीं के बराबर हो। ऐसी स्थिति में उसके शब्द-समूह में परिवर्तन प्रायः नहीं के बराबर होगा। दूसरी ओर ऐसी भी भाषा हो सकती है जो भौगोलिक तथा अन्य दृष्टियों से ऐसे जगह की हो जहाँ अनेक राष्ट्रों को सम्पर्क स्थापित करने तथा संस्कृति के आदान-प्रदान करने का अवसर मिला हो, और ऐसी स्थिति में उसके शब्द-समूह में परिवर्तन बहुत अधिक होगा। आइसलैंडिक तथा ईरानी भाषा की इस दृष्टि से तुलना की जा सकती है। साथ ही, एक ही भाषा की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। ऐसा असम्भव नहीं है कि अपने इतिहास के प्रथम एक हजार वर्षों में शब्द-समूह में पतिवर्तन कम हो और दूसरे हजार वर्ष में बहुत अधिक। दूसरी ओर ऐसी भाषा हो सकती है जिसमें इसके ठीक उलटा हो। तीसरी भाषा ऐसी भी सम्भव है जिसमें दोनों हजार वर्षों में पर्याप्त परिवर्तन हो और चौथी ऐसी हो सकती है जिसमें दोनों ही में परिवर्तन नाम-मात्र का हो। ऐसी स्थिति में सब को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। हाँ, यह माना जा सकता है कि अपवादों को यदि छोड़ दिया जाय तो सामान्य भाषाओं के लिए इन नियमों को काफ़ी अंशों में लागू किया जा सकता है। पर साथ ही एक अन्य बात की ओर भी यहाँ संकेत कर देना अन्यथा न होगा। भाषा एक बहुत ही संश्लिष्ट चीज है। भूगोल, परम्परा, संस्कृति, बाह्य प्रभाव, वर्तमान सामाजिक स्थिति आदि अनेक बातों पर उसके परिवर्तन की गति निर्भर करती है। इसीलिए शुद्ध गणना पर आधारित सिद्धान्त उसके अध्ययन में उतने अधिक सहायक नहीं हो सकते, जितने कि अन्य बहुत से अत्यधिक निश्चित और विकल्प-विहीन विज्ञानों में होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्था में है। इसके और विकसित होने पर भाषाविज्ञान में इससे और अधिक सहायता मिलने की सम्भावना हो सकती है।

(घ) व्यक्ति-बोली-विकास (Linguistic Ontogeny)

'आंटोजेनी' (व्यक्ति-विकास) शब्द मूलतः जीवविज्ञान का है। इसका प्रयोग १८७० के आसपास किसी एक व्यक्ति (मनुष्य या अन्य जीव) के विकास के लिये किया

गया। आधुनिक काल में भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने इसके साथ 'लिंग्विस्टिक' जोड़ कर भाषा-विज्ञान की शाखा के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है। इसमें, व्यक्ति-बोली या व्यक्ति-भाषा (idiolect) के जन्म से मृत्यु तक के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन होता है। दूसरे शब्दों में इसमें एक व्यक्ति की भाषा के विकास (जन्म से मृत्यु तक) का अध्ययन किया जाता है। बच्चों की भाषा पर ओविस सी० इरविन, मैकार्थी, वाट्स, लियोपोल्ड याकोब्सन, ब्रैंडनबर्ग, डेलाक्रवायक्स, केलाग, स्टर्न, कैज़, सिद्धेश्वर वर्मा आदि कई विद्वानों ने काम किया है, जिसे इस अध्ययन से सम्बद्ध माना जा सकता है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस विषय पर हाकेट तथा कुछ अन्य लोगों ने भी विचार किया है।

छोटे बच्चों में भाषा जैसी चीज नहीं होती, किन्तु भूखा या दर्द आदि से पीड़ित होने पर वह रोकर या अंगों को पटक कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। और यह प्रतिक्रिया ही उसके लिए भाषा बन जाती है। माँ समय और स्थिति के आधार पर इन प्रतिक्रियाओं से उसके भूखे या दर्द आदि से पीड़ित होने का अनुमान लगा लेती है। धीरे-धीरे उसे पता चल जाता है कि भूखा होने पर रोने की क्रिया द्वारा वह खाना पा सकता है और तब वह रोने का धीरे-धीरे भाषा के रूप में प्रयोग करने लगता है। साथ ही अभ्यास से पीठ ठोंकने आदि से सोने और बैठाने से शौच होने आदि के रूप में वह माँ के इशारों या 'इशारों की भाषा' को समझने लगता है। इस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान बच्चा बहुत छोटी अवस्था से करने लगता है, किन्तु इसे सच्चे अर्थों में 'भाषा' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दोनों में बहुत अंतर है।

फिर, धीरे-धीरे बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति आ जाती है, साथ ही वह ओठों से और जीभ से तरह-तरह की ध्वनियों को बिना किसी उद्देश्य के उच्चरित करता है। यों तो पैदा होते ही बच्चा रोने के रूप में हँ, कँ, यँ, आँ आदि ध्वनियों का उच्चारण करता सुना जाता है, किन्तु शीघ्र ही वह अन्य ध्वनियों का भी उच्चारण करने लगता है। कुछ लोगों का कहना है कि बच्चा पहले दोनों ओठों से बोले जाने वाली ध्वनियाँ कहता है, किन्तु यह बात पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। मैंने व्यक्तिगत रूप से एक लड़की में, ध्वनियों के उच्चारण में विकास का अध्ययन पर्याप्त सावधानी से किया है। आरम्भ में 'किहाँ-कियाँ' जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती थी। एक महीने २२ दिन की होने पर, लड़की 'घी-घो' जैसी ध्वनि उच्चरित करने लगी। एक महीने बाद, अर्थात् लगभग पौने तीन महीने की होने पर दुखी होने पर अघी, ङ ङ, हियाँ, अँगा, अँङा, अँहँ-अँहँ, अङऽऽ, उँहँ-उँहँ जैसी ध्वनियाँ उच्चरित करती थी और प्रसन्न होकर खेलते समय हँ-हँ, अबू-अबू, अफ्-अफ् अऽऽ, अँऽ, गे-गे, गीगी, अगी-अघी आदि। निष्कर्षतः अनुनासिक और घोष ध्वनियों का यहाँ प्राधान्य माना जायगा। यों कुछ ऐसे बच्चे भी देखे गये हैं जो म, प, व का भी उच्चारण इस काल में विशेष रूप से करते हैं। इस प्रकार के अनर्गल ध्वनि-समूहों से उसका ध्वनि-उच्चारण का अभ्यास बढ़ता है और धीरे-धीरे वह अभ्यास के आधार पर सफलता से अनुकरण करने लगता है। आरम्भ में उसकी सफलता इतनी ही होती है कि मामा को 'माँ' या 'पापा' को 'पा' आदि रूप में वह कह लेता है, पर

धीरे-धीरे ये कमियाँ दूर होती जाती हैं। आरम्भ में मौखिक के स्थान पर अनुनासिक, अल्पप्राण के स्थान पर महाप्राण या महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण, घोष के स्थान पर अघोष या अघोष के स्थान पर घोष आदि का उच्चारण करता है। संघर्षी ध्वनियाँ प्राय: उसके लिए कठिन होती हैं। साथ ही पार्श्विक 'ल' और लुंठित 'र' भी बच्चों के लिए कठिन होते हैं, इसलिए वे इन दोनों के स्थान पर 'न' आदि कहते हैं। कुछ बच्चे 'ल' को पहले पकड़ लेते हैं और 'र', 'ड़' आदि के स्थान पर इसी का प्रारम्भ में प्रयोग करते हैं। धीरे-धीरे उन्हें अपनी ग़लती का पता चलता जाता है और वे उसे ठीक करते जाते हैं। यह है ध्वनि की दृष्टि से बच्चों की बोली का विकास।

बच्चे आरम्भ में केवल एक-एक शब्द कहते हैं, किन्तु वे शब्द हमारी दृष्टि से हैं, बच्चों की दृष्टि से वे वाक्य हैं। बच्चे द्वारा कहे गये 'दू' या 'दूध' का अर्थ है 'मैं दूध चाहता हूँ' या 'मुझे दूध दो'। धीरे-धीरे वे व्याकरण की अन्य बातों—सैद्धांतिक दृष्टि से नहीं, अपितु प्रायोगिक दृष्टि से—को सीख लेते हैं। सादृश्य के आधार पर शब्दों का निर्माण भी इसी काल के बाद शुरू होता है। बच्चे में इस निर्माण के आरम्भ होने का अर्थ है कि उसके मस्तिष्क में भाषा की नियमितता अपना स्थान बनाने लगी है। मैं जिस लड़की का अध्ययन कर रहा था, चार वर्ष की उम्र में वह कुछ लड़कियों के साथ खेलने लगी और उन्हें सहेली कहने लगी। फिर कुछ लड़के भी उसके साथ खेलने लगे और आरम्भ में उन्हें भी सहेली कहती थी, पर शीघ्र ही वह उन्हें 'सहेला' कहने लगी। मेरे पूछने पर उसने बतलाया कि वे लड़की नहीं हैं, लड़के हैं, अतः 'सहेली' न कह कर उन्हें 'सहेला' कहना चाहिए। मैं तरह-तरह से पूछ कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'सहेला' उसका बनाया (सादृश्य के आधार पर) शब्द है और वह 'ई' प्रत्यय के स्त्रीलिंग और 'आ' से पुंलिंग के सम्बन्ध से परिचित है। इतना ज्ञान हो जाने के उपरान्त बच्चे बड़ी जल्दी भाषा सीखने लगते हैं।

इसी प्रकार 'फ़ोनीम' और 'अर्थ' की दृष्टि से भी धीरे-धीरे विकास होते हैं। छः-सात वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बच्चा अपनी भाषा को काफ़ी हद तक सीख लेता है। उसके आधारभूत शब्द-समूह से परिचित हो जाता है। आगे बढ़ने पर प्रायः ध्वनि या व्याकरण की दृष्टि से आदमी में बहुत विकास नहीं होता; जो होता है, शब्द-समूह, मुहावरे तथा शैली आदि की दृष्टि से ही होता है, और स्वभावतः ये विकास उसके पेशे एवं वातावरण आदि पर निर्भर करते हैं।

(ङ) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method) तथा पुनर्निर्माण (Reconstruction)

भाषाविज्ञान में अध्ययन की पद्धति, और भाषाविज्ञान के तीन रूपों पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। तुलनात्मक पद्धति को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का एक अंग माना जा सकता है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें (तुलनात्मक पद्धति में) दो (या अधिक) भाषाओं

या बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पहले से यह निश्चय किया जाता है कि वे एक परिवार की हैं या नहीं, और फिर सूक्ष्म तुलना के आधार पर उन भाषाओं या बोलियों की पूर्वजा भाषा (जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है) का पुनर्निर्माण किया जाता है, अर्थात् उसकी ध्वनियों तथा व्याकरणिक रूपों एवं अन्य नियमों आदि को ज्ञात किया जाता है।

तुलनात्मक पद्धति—तुलनात्मक पद्धति का आरम्भ १७वीं सदी में हो गया था। तब से अब तक भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण एवं पारिवारिक अध्ययन के क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ है, उसका आधार तुलनात्मक पद्धति ही है। अब यह पद्धति पहले की अपेक्षा सांख्यिकी आदि शास्त्रों की सहायता से बहुत सुविकसित हो गई है।

तुलनात्मक पद्धति में पहले दो भाषाओं के शब्दों को एकत्र पर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम देखते हैं कि दोनों भाषाओं के बहुत से शब्दों में ध्वनि (या रूप) और अर्थ की दृष्टि से बहुत साम्य है। उदाहरणार्थ, संस्कृत पिता, ग्रीक pater या लैटिन pater फ़ारसी पेदर, या अंग्रेजी father आदि। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ध्वनि और अर्थ दोनों में यह साम्य क्यों हुआ? यदि विचार करें तो चार सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं: (१) सम्भव है यह साम्य यों ही संयोग से हो गया हो। इसका कोई ऐतिहासिक आधार न हो। उदाहरणार्थ, जर्मन नास (nass) और ज़ूनी नास (nas) दोनों का अर्थ 'भीगा हुआ' होता है, और दोनों में ध्वनि-साम्य भी है, किन्तु इसका कोई आधार नहीं है। संयोग से ही यह साम्य हो गया है, अंग्रेजी near तथा भोजपुरी नीयर (= समीप) में भी इसी प्रकार का साम्य है। (२) दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि इन दोनों भाषाओं में से किसी एक ने दूसरी से उस शब्द को लिया हो। उदाहरणार्थ, हिन्दी ने द्रविड़ भाषाओं से 'पिल्ला' शब्द लिया है। या यदि संस्कृत और द्रविड़ परिवार की किसी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो एक ओर ऐसे बहुत-से शब्द मिलेंगे जो उन भाषाओं में संस्कृत से लिये गये हैं, जैसे कन्नड़ अन्नम् (भात) और दूसरी ओर संस्कृत में ऐसे बहुत-से शब्द मिलेंगे जो द्रविड़ भाषाओं से लिये गये हैं, जैसे व्रीहि (चावल)। (३) तीसरी संभावना यह भी हो सकती है कि दोनों ही भाषाओं ने ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से साम्य रखने वाले शब्दों को किसी तीसरी भाषा से लिया हो। इस सम्भावना के कई अन्य रूप भी हो सकते हैं। दोनों ऐसी दो अन्य भाषाओं से भी शब्द ले सकती हैं जो या तो पारिवारिक दृष्टि से सम्बद्ध हो, या किसी भी स्तर पर उधार लेने के कारण दोनों में एक ही शब्द हो। उदाहरणार्थ, पंजाबी और हिन्दी ने फ़ारसी से बहुत-से शब्द लिये हैं। या फ़ारसी और तुर्की ने अरबी से बहुत से शब्द लिए हैं। जर्मन और अंग्रेजी ने फ्रांसीसी भाषा से बहुत-से शब्द लिये हैं। (४) चौथी सम्भावना यह भी हो सकती है कि जिन दो भाषाओं में कुछ शब्दों में अर्थ और ध्वनि का साम्य हो, वे दोनों एक ही परिवार की हों और वे समता वाले शब्द उस मूल भाषा के हों, जिनसे वे निकली हों। हिन्दी-पंजाबी, हिन्दी-मराठी या हिन्दी-बँगला की तुलना करने पर बहुत अधिक शब्द

इस प्रकार के मिलेंगे और कहना न होगा कि वे शब्द मूलतः संस्कृत के हैं। वहीं से परम्परागत रूप से इन भाषाओं को मिले हैं।

इन चारों सम्भावनाओं को संक्षेप में रखना चाहें तो केवल तीन वर्ग बना सकते हैं। एक संयोग या चांस का, दूसरा उधार लिये जाने का और तीसरा मूल भाषा से, उससे निकली भाषाओं में परम्परागत रूप से आने का।

पहली या संयोग की सम्भावना को लेकर विद्वानों ने बहुत सोचने-समझने तथा विभिन्न भाषाओं के आधार पर इसका प्रतिशत निकालने की कोशिश की है। मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि संयोग या चांस के कारण अधिक से अधिक दो भाषाओं के चार प्रति शब्दों में ध्वनि या रूप का साम्य हो सकता है। यदि साम्य इससे अधिक शब्द में हो तो, इसका आशय है कि साम्य चांस पर आधारित न होकर शेष दो में किसी एक पर आधारित है। दूसरे प्रकार के—अर्थात् उधार पर आधारित—साम्य की जानकारी के लिए उधार की सम्भावनाओं की छानबीन करनी पड़ती है। इसके लिए दोनों भाषाओं की भौगोलिक स्थिति एवं उनके बोलने वालों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास एवं पारस्परिक सम्बन्ध आदि पर दृष्टि दौड़ानी पड़ती है। इन आधारों पर इस बात का निर्णय हो जाता है कि समता रखने वाले शब्द उधार दिये गये हैं, या नहीं। इसके लिए प्रतिशत का निर्धारण सम्भव नहीं। कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिसमें उधार शब्दों की संख्या बहुत अधिक है, जैसे फ़ारसी भाषा में अरबी शब्द, और दूसरी ओर ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें इस प्रकार की संख्या बहुत कम है, जैसे आइसलैंडिक।

उपर्युक्त दोनों सम्भावनाओं के न रहने पर तीसरी सम्भावना के लिए गुन्जाइश होती है। इस सम्भावना के होने पर दोनों भाषाओं की कुछ और दृष्टियों से भी तुलना अपेक्षित होती है। पहले प्रकार की तुलना ध्वनियों की हो सकती है, दूसरे प्रकार की व्याकरणिक रूपों की। इस दूसरे में उपसर्ग तथा प्रत्ययों की तुलना भी महत्त्वपूर्ण है। तीसरे प्रकार की तुलना वाक्य-गठन आदि भाषा के अन्य नियमों की हो सकती है। इन तुलनाओं के अतिरिक्त इन दोनों के बोलनेवालों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, उनके शरीर, जीवन एवं संस्कृति के मानवशास्त्रीय विश्लेषण, एवं उनके आदि स्थान एवं इतिहास के अध्ययन द्वारा भी इन भाषाओं के एक परिवार की होने की संभावना को पुष्ट किया जाता है, और फिर दोनों भाषाओं के एक परिवार की होने का निश्चय हो जाता है।

पुनर्निर्माण (Reconstruction)—पारिवारिक दृष्टि से आपस में संबद्ध भाषाओं के शब्दों, रूपों, ध्वनियों, तथा वाक्य-निर्माण के नियमों आदि से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उस मूल भाषा की ध्वनियों, शब्दों, रूपों आदि का पता लगाना पुनर्निर्माण है। संस्कृत, प्राचीन फ़ारसी, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उनकी मूल भारोपीय भाषा के सारे अंग

पुनर्निर्मित किये गये हैं। इस प्रकार के पुनर्निर्मित रूप तारक (*) के साथ लिखे जाते हैं।

ध्वनियों के पुनर्निर्माण के लिए संबद्ध भाषाओं—मान लें दो—से बहुत-से ध्वनि और अर्थ की समता रखने वाले शब्द लिये जाते हैं। मान लें, एक भाषा के शब्दों में जहाँ-जहाँ 'क' ध्वनि आई है, दूसरी में भी वहाँ 'क' ध्वनि है, तो सामान्यतया यह माना जायगा कि मूल भाषा में उस स्थान पर 'क' ध्वनि थी। यदि उस परिवार में दो से अधिक भाषाओं का पता है तो उन सभी भाषाओं में प्रयुक्त उन्हीं शब्दों के रूपों को लेकर इसकी परीक्षा की जायगी। यदि सभी में 'क' है तो यह प्रायः निश्चित है कि मूल भाषा में उस स्थान पर 'क' ध्वनि थी। उदाहरणार्थ संस्कृत नव, यूनानी enna, लैटिन novem, गोथिक niun के आधार पर उस स्थान पर मूल भारोपीय में भी 'न' के होने का अनुमान लगता है। इसी प्रकार इन शब्दों की अन्य ध्वनियों की तुलना एवं अन्य शब्दों में इन ध्वनियों की तुलना के आधार पर नौ के पर्याय उपर्युक्त सारे शब्दों के मूल रूप का पुनर्निर्माण *newn रूप में किया गया है। आशय यह हुआ कि मूल भारोपीय भाषा में नौ के लिए *newn शब्द था और उसी उपर्युक्त सारे रूप या उस परिवार की अन्य भाषाओं के रूप (जैसे अंग्रेजी nine, हिन्दी नौ आदि) विकसित हुए हैं। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक भाषा में, कहीं एक ध्वनि मिलती है और दूसरी में उसी स्थान पर दूसरी। इसमें कई सम्भावनाएँ हो सकती हैं। संभव है, मूल भाषा में उन दोनों में की कोई एक ध्वनि रही हो, और दूसरी भाषा की दूसरी ध्वनि उसका विकसित रूप हो। जैसे सात के लिए मूल भारोपीय भाषा में *septm शब्द का पुनर्निर्माण किया गया है। लैटिन में इसका रूप septem मिलता है और गॉथिक में sibun। अब यदि लैटिन और गॉथिक के आधार पर पुनर्निर्माण करना हो तो समस्या यह खड़ी होगी कि लैटिन में जहाँ 'प' है, गॉथिक में वहाँ 'ब' है, फिर मूल भाषा में क्या था। यहाँ संस्कृत सप्त, ग्रीक hept आदि के आधार पर तथा अन्य शब्दों में 'प' की गति का अध्ययन कर भाषाविज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मूल में 'प' ध्वनि थी। लैटिन में तो वह 'प' ही रही, किन्तु गॉथिक में उसका घोषीकरण हो गया, और वह 'ब' हो गई। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दो संबद्ध भाषाओं में एक स्थान पर दो भिन्न ध्वनियाँ मिलती हैं, पर तरह-तरह के तुलनात्मक अध्ययन के उपरांत निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल भाषा में उन दोनों में एक भी नहीं थी और उन दोनों के स्थान पर कोई तीसरी ध्वनि थी। उदाहरणार्थ, 'एक' के लिए लैटिन में unus शब्द मिलता है, तथा गॉथिक में ains, जिनके आरम्भ में क्रम से u तथा ai हैं, किन्तु इन दोनों के आधार पर जिस मूल शब्द का पुनर्निर्माण किया गया है, वह *oinos है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ मूल oi ध्वनि एक ओर तो u बन गई है और दूसरी ओर ai। इस प्रकार पुनर्निर्माण में ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियम और दिशाओं से भी पूरी सहायता मिलती है, और ग्रिम नियम जैसे ध्वनि-नियम का भी निर्धारण होता है।

इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा मूल भाषा की सारी ध्वनियों, शब्द, रूप तथा भाषा-विषयक अन्य नियमों का पुनर्निर्माण होता है। इस पुनर्निर्माण की सफलता तुलनात्मक अध्ययन के लिये प्राप्त सामग्री की प्रचुरता और निश्चितता पर निर्भर करती है। इसीलिए जहाँ सामग्री कम या अनिश्चित होती है, पुनर्निर्मित ध्वनियों या रूपों आदि के विषय में प्रायः विद्वानों में एक मत नहीं होता। मूल भारोपीय भाषा के बहुत-से अंगों के विषय में इस प्रकार के मत-वैभिन्न्य हैं।

पुनर्निर्माण कई सीढ़ियों तक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—
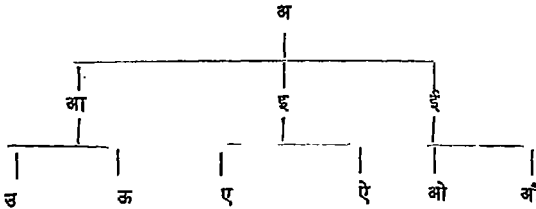
यह भाषा-परिवार है। इसमें उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ जीवित भाषाएँ हैं और उनके सम्बन्ध में हमें जानकारी है। ऊपर कही गई तुलनात्मक पद्धति से उ-ऊ के आधार पर 'आ' का; ए-ऐ के आधार पर इ का; और ओ-औ के आधार पर ई का पुनर्निर्माण करेंगे। फिर पुनर्निमित आ, इ, ई के आधार पर 'अ' का पुनर्निर्माण करेंगे। इसी प्रकार यदि सामग्री मिले तो और पीछे तक भी पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

किसी मूल भाषा के पुनर्निमित रूप (विशेषतः पुनर्निर्मित शब्द-समूह) के आधार पर तत्कालीन संस्कृति-सभ्यता एवं उसके प्रयोक्ता जन के स्थान आदि का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

पुनर्निर्माण का एक आंतरिक पुनर्निर्माण (internal reconstruction) भी कहलाता है, जिसमें एक ही भाषा में तुलनात्मक पद्धति के सहारे पुरानी ध्वनियों या शब्दों आदि का निर्माण करते हैं। इस रूप में उपयुक्त पुनर्निर्माण को बाह्य पुनर्निर्माण (external reconstruction) कहा जा सकता है।

आंतरिक पुनर्निर्माण (internal reconstruction) उस भाषा का अपेक्षित होता है, जिसका पुराना लिखित रूप प्राप्त नहीं। इसके द्वारा, उसके प्राचीन रूप—ध्वनि, शब्द-रूप या व्याकरण आदि—का पता लगाते हैं। इसका आधार यह माना गया है कि भाषा के प्राचीन रूप के कुछ चिह्न, किसी न किसी रूप में भाषा के वर्तमान रूप में वर्तमान होते हैं। वे ही अंधे की लकड़ी का काम करते हैं। उनके आधार पर ही प्राचीन भाषा का एक सीमा तक निर्माण सम्भव है।

(च) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज
(Linguistic palaentology)

भाषाविज्ञान की यह शाखा इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें इतिहास के उस अन्ध युग पर, जिसके सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी नींव रखी। जर्मन में इसका नाम उर्गेशिख्त (Urgeschichte) है।

खोज की प्रणाली—इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है, फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्राचीनतम काल के शब्द कौन-कौन थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियों से किया जाता है। सामाजिक, धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी? जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे? 'क्रिया' शब्दों से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार यथासाध्य उन शब्दों के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छानबीन की जाती है और एक पूरा नक्शा तैयार करने का प्रयास किया जाता है।

साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौधे तथा ऋतु से सम्बन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना सम्भव है। इससे उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान—इस खोज का आधार यद्यपि भाषाविज्ञान है, पर पूर्णता के लिए अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से भी सहायता लेनी पड़ती है। इनमें सबसे प्रथम स्थान मानव-विज्ञान का है। इसके द्वारा उस काल के मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन अन्य आधारों से होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व (archaeology) की सामग्रियों एवं निष्कर्षों से भी हमें भाषाविज्ञान के आधार पर की गई खोज को पर्याप्त सहायता मिलती है, साथ ही उनके सत्यासत्य होने की परीक्षा भी कुछ हद तक हो जाती है। भूगर्भ विद्या (geology) भी हमारी कम सहायता नहीं करती है। पर सबसे अधिक सहायता भूगोल (geography) से मिलती है। विशेषतः उस स्थान-विशेष का प्राचीन भूगोल, शब्दों के आधार पर प्राप्त वहाँ की तत्कालीन भौगोलिक दशा को समझने में तथा आदि स्थान को निश्चित करने में बहुत सहायक होता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें—(१) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो उसकी नयी-पुरानी सभी शाखाओं-प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझकर छोड़ना उचित नहीं। (२) एक शब्द एक शाखा की

अनेक प्रशाखाओं में और अन्य शाखा की एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शब्द मूल भाषा का है। हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से आगम हुआ हो और दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस सम्बन्ध में, शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले, जिनकी आपस में भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे निम्न चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।
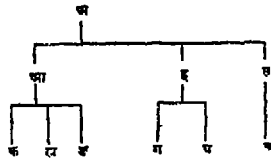
यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुईं और क्रमशः आ से क, ख, ङ, इ से ग, घ, तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क, ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा में अ का शब्द है। पर यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की अधिक सम्भावना हो सकती है। इतना ही नहीं, यदि अँग्रेजी और हिन्दी की भाँति क और च का सम्बन्ध हो, या रहा हो, तो इस प्रकार के एक शब्द का पाया जाना विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि सम्भव है संसर्ग के कारण, एक ने दूसरे से उधार लिया हो। पर दूसरी ओर दोनों भाषाओं में पाया जाने वाला शब्द यदि इतने पुराने समय से पाया जाता हो जब कि दोनों का आपस में सम्बन्ध नहीं था, तो उसका महत्त्व हो सकता है। यह बात प्रत्यक्ष सम्पर्क की है। कभी-कभी अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण भी शब्द एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उपर्युक्त चित्र में क और घ से सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा है। पर क यदि का ग से और ग का घ से रहा तो यह अप्रत्यक्ष सम्बन्ध माना जायगा और शब्द के उधार लिये जाने की सम्भावना हो सकती है। पर यहाँ भी पहले के उदाहरण की भाँति सम्पर्क के समय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। (३) दो भाषाओं में एक शब्द मिले, किन्तु ध्वनि और अर्थ में कुछ या अधिक अन्तर हो, तो इस आधार पर शब्द छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि सम्भव है अर्थ एवं ध्वनि परिवर्तन के कारण यह अन्तर पड़ा हो और मूलतः शब्द एक हो। (४) कोई एक शब्द एकाध प्रशाखा में हो और शेष में न हो तो इससे सीधे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि मूल भाषा में शब्द नहीं था, क्योंकि यह भी सम्भावना हो सकती है कि शेष भाषाओं में उस शब्द का लोप हो गया हो। अतः और आधारों से इसकी परीक्षा करनी चाहिए। (५) किसी शृङ्खलाबद्ध शब्द-पंक्ति में इधर-उधर के शब्द मिलें तो बीच के शब्द न मिलने पर भी उसकी सम्भावना की जा सकती है। जैसे नाक, कान, मुँह के

लिए शब्द मिलें तो आँख के लिए शब्द मिले या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि उसके लिए शब्द था। इसी प्रकार १, २, ३, ५, ६, ७, ६ के लिए शब्द हो तो ४ और ८ का होना भी माना ही जायगा, चाहे शब्द मिलें या न मिलें।

शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें—(१) एक वस्तु के नाम का मूल भाषा में मिलने पर जब तक और शब्द न मिलें, उसके विभिन्न प्रयोगों का उस काल में होना न मान लेना चाहिए। जैसे यदि घोड़ा के लिए शब्द मिल जाय, पर चढ़ने और रथ आदि के लिए शब्द न मिले तो इसका प्रयोग संदिग्ध हो सकता है। क्योंकि यह भी सम्भव है कि परिचय मात्र रहा हो और रथ में जोतना, चढ़ना, आदि प्रचलित न रहा हो। इसी प्रकार दूध के लिए शब्द मिलने पर दधि और घी होने की सम्भावना अन्य आवश्यक शब्दों के मिले विना नहीं हो सकती। (२) पानी पर्वत, पेड़ आदि के शब्दों के तथा ऋतु के आधार पर मूल निवास-स्थान के निश्चित करने में बहुत सतर्क रहना चाहिए। इसमें प्राचीन भूगोल से विशेष सहायता ली जानी चाहिए। साथ ही केवल कुछ ही शब्दों के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं। (३) सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था आदि के विषय में भी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से सहारा लेकर निष्कर्ष निकालना चाहिए। साथ ही अपने परिणाम को पर्याप्त सामग्री पर आधारित करना चाहिए। उस विषय में शब्द के मिलने पर भी किसी ऐसी परम्परा या ऐसे विधान की कल्पना न की जानी चाहिए जो उस काल के लिए असम्भव हो। क्योंकि ऐसी दशा में अधिक सम्भव यह है कि वह शब्द-विशेष उस समय कुछ दूसरा अर्थ रखता रहा हो। उदाहरणार्थ, प्राचीन भारोपियों के सम्बन्ध में खोज करते समय रेल के लिए कोई शब्द मिले तो उसका आशय यह नहीं कि उस समय रेल थी, बल्कि उसका अर्थ यह अवश्य है कि उस शब्द विशेष के ठीक अर्थ से हम अवगत नहीं हैं।

भाषाविज्ञान के आधार पर ऐसी खोजें विशेषतः भारोपीय परिवार के विषय में हुई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में प्रथम व्यवस्थित कार्य मैक्स-मूलर द्वारा हुआ। उसने और बातों पर प्रकाश डालते हुए मध्य एशिया में आर्यों का आदि स्थान निश्चित किया। तब से लैथम, पीटर गाइल्स, सरदेसाई, तिलक, ब्रँदेस्ताइन, दास, सम्पूर्णानन्द, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, किन्तु अभी तक सभी लोग किसी एक मत को मान्य नहीं मान सके हैं।

(छ) समाज-भाषाविज्ञान (Sociolinguistics)

भाषा पूर्णतः सामाजिक वस्तु है। व्यक्ति समाज में ही उसे सीखता है और समाज में ही उसका प्रयोग करता है। इस प्रकार समाज और भाषा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध का परिणाम है कि भाषा अपनी व्यवस्था में समाज के अनुरूप होती है, साथ ही उसका विकास भी सामाजिक विकास के समानान्तर चलता है। इसी लिए किसी समाज के बारे में उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर बहुत कुछ कहा

जा सकता है। भारतीय भाषाओं में चाचा, ताऊ, मामा, मौसा जैसे सम्बन्धबोधक स्वतन्त्र शब्दों का पाया जाना, किंतु यूरोपीय भाषा में इनका अभाव, इस बात को स्पष्ट करता है कि भारतीय समाज में इन संबन्धों का यूरोपीय समाज की तुलना में अधिक महत्त्व था। फ़ारसी में बड़े लोगों के लिए आदरार्थ में क्रिया के बहुवचन रूप का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि वहाँ की सामन्ती व्यवस्था में अमीर या बड़े आदमी एक से अधिक सामान्य या निम्न श्रेणी के व्यक्ति के बराबर माने जाते थे। जापान में राजा तथा राजघराने के लोगों के लिए सामान्य भाषा से अलग शब्दों एवं रूपों के प्रयोग, इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि वहाँ के समाज में राजा का स्थान बहुत ही विशिष्ट रहा है जो अन्य देशों में प्रायः दुर्लभ है। भाषा और समाज के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर ध्यान जाने के कारण ही अब भाषाविज्ञान की यह एक नयी शाखा विकसित हो गई, जिसमें भाषा और समाज के सम्बन्धों तथा उसे सम्बद्ध बातों पर विचार किया जाता है। इसे हम भाषाविज्ञान और समाजविज्ञान का एक प्रकार का सम्मिलित रूप भी कह सकते हैं।

समाज-भाषाविज्ञान का पूर्ण एवं व्यवस्थित अध्ययन मोटे रूप से निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है—

(क) ध्वनिविज्ञान
(ख) रूपविज्ञान
(ग) वाक्यविज्ञान
(घ) अर्थविज्ञान
(ङ) शब्दविज्ञान
(च) मुहावरे
(छ) लोकोक्तियाँ

भाषा में सामाजिक भेद इन सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है : शिक्षित-अशिक्षित, उच्च वर्ग-मध्य वर्ग-निम्न वर्ग शिक्षित में विभिन्न स्तरों (जैसे हिन्दी प्रदेश में मात्र हिन्दी पढ़ा—उर्दू पढ़ा—संस्कृत पढ़ा—अंग्रेजी पढ़ा), विभिन्न पीढ़ियों, विभिन्न पेशों, विभिन्न प्रकार के जीवन (विद्यार्थी आदि), विभिन्न जातियों (जैसे ब्राह्मण, बनियाँ, कोरी), विभिन्न धर्मों (जैसे हिन्दू-मुसलमान), स्त्री या पुरुष आदि द्वारा प्रयुक्त एक ही भाषा-ध्वनि (मूल स्वर, संयुक्त स्वर, अनुनासिक स्वर, मूल व्यंजन, संयुक्त व्यंजन, बलाघात, सुरलहर, दीर्घता), रूप-रचना, वाक्य-गठन, शब्द-प्रयोग, मुहावरे तथा लोकोक्तियों आदि की दृष्टि से थोड़ी-बहुत अलग-अलग होती है, और वक्ता की बात सुनकर एक सीमा तक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किस सामाजिक स्तर का व्यक्ति बोल रहा है। यह दो व्यक्तियों की बातचीत सुनकर दोनों के सामाजिक स्तर तथा आपसी सम्बन्ध आदि का अन्दाज लगाया जा सकता है। हिन्दी प्रदेश के एक ही गाँव में जमुना-यमुना, व्यक्ति-व्यक्ति, कानून-क़ानून, वर्सा-वर्षा, रच्छा-रक्षा, लम्दार-

अखबार, गरीब-ग़रीब, रोज-रोज़, कालेज-कॉलिज, रजिन्नर-रजिन्दर-राजेन्दर-राजेन्द्र, परसाद-परशाद-प्रसाद, बरहमन-बाम्हन-ब्राम्हन-ब्राम्हण-ब्राह्मण, सहर-शहर, रपट-रिपोर्ट, नखलऊ-लखनऊ, टीसन-टेसन-इस्टेशन-स्टेशन जैसे हजारों शब्दों में उच्चारण-भेद सामाजिक भेदों की अभिव्यक्ति करते हैं। तमिल में विशिष्ट प्राचीन ध्वनि ऴ केवल ब्राह्मणों में सुरक्षित है, अन्यों की भाषा में नह ल, ळ आदि हो गई है। बंगलोर के ब्राह्मणों की कन्नड़ में 'मनुष्य' शब्द 'मनुश्य' रूप में है तो अन्यों की कन्नड़ में 'मनुस' रूप में। विश्व की अन्य अनेक भाषाओं में भी ऐसे तत्व खोजे जा सकते हैं। रूप के क्षेत्र में भी सामाजिक अन्तर होते हैं। दिल्ली की भाषा इस दृष्टि से बड़ी समृद्ध सामग्री प्रस्तुत करती है। इन पंक्तियों के लेखक ने रूप की दृष्टि से कुछ काम किया था। कभी इस पर विस्तृत रूप से लिखने का विचार है। यहाँ कुछ भेदों की ओर संकेत मात्र किया जा सकता है : किया-करा, हैं-हैंगे, आना-आइयों, उन्होंने-उन्ने, मुझको-मैंने-मेरे को, मुझसे-मेरे से, मुझमें-मेरे में, मुझ पर-मेरे पर, देना-दियो।

इसी प्रकार वाक्य-रचना तथा शब्दों के अर्थ में भी अन्तर मिलता है। यों सर्वाधिक अन्तर शब्द-प्रयोग में मिलता है। मेरे अपने गाँव (आरीपुर, ज़िला ग़ाज़ीपुर, उत्तर प्रदेश) में तथाकथित निम्न जाति के लोग, प्रायः ३० वर्ष पहले 'सोहारी' शब्द का प्रयोग पूड़ी के लिए करते थे, जबकि अन्य लोग 'पूड़ी' कहते थे। साड़ी-लुग्गा, भोजन-खाना-खयका, कुर्ता-अंगरखा, घर-बखरी आदि भी इसी प्रकार चलते थे। मुहावरों, लोकोक्तियों में भी एक सीमा तक पर्याप्त अंतर मिलते हैं। जातियों आदि के अतिरिक्त स्त्रियों और पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों, लोकोक्तियों तथा शब्दों में भी काफ़ी अंतर होता है। दोनों की गालियों में तो बहुत अधिक अंतर है। भोजपुरी में 'नौज', 'नौजी', 'लगनकरे', 'मरकिनौना', 'उड़ासी', 'मुँहझौंसा' आदि केवल स्त्रियों की भाषा में मिलते हैं तो अनेक अश्लील गालियाँ केवल पुरुषों की भाषा की ही शोभा बढ़ाती हैं।

भाषा के विशिष्ट रूप का उद्भव, उसका विशेष प्रकार का विकास तथा उस के शब्द-समूह आदि में परिवर्तन, उस पर अन्य भाषाओं का प्रभाव एवं उसका अन्य भाषाओं पर प्रभाव, परिनिष्ठित भाषा के रूप में उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति आदि भाषा-विषयक अनेक बातें मूलतः उसके बोलने वालों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती हैं।

उदाहरण के लिए, भाषा के एक रूप का परिनिष्ठित (standard) मान लिया जाना मूलतः सामाजिक स्वीकृति है। कैसे और क्यों आज दिल्ली के आसपास की भाषा परिनिष्ठित मान ली गई है और शिक्षा आदि के क्षेत्रों में वही पूरे हिन्दी प्रदेश पर छा गई है, इसका उत्तर समाज के संदर्भ में ही दिया जा सकता है। जब किसी एक क्षेत्र के समाज को अन्य क्षेत्रों का समाज किसी भी कारण (धर्म, राजनीति आदि) अपनी तुलना में, जाने या अनजाने, प्रमुखता देने लगता है तो वहाँ की भाषा भी सहज ही शेष समाज के लिए मान्य होने लगती है और धीरे-धीरे वही परिनिष्ठित भाषा बन

जाती है। बहुत से देशों में राजधानी के आसपास की भाषा परिनिष्ठित है, इसके पीछे यही सामाजिक कारण है।

इसी तरह किसी एक भाषा के दूसरी भाषा पर प्रभाव (शब्द, वाक्य-रचना आदि किसी भी क्षेत्र में) के पीछे भी सामाजिक कारण कार्य करते हैं। ऐसे समाज की भाषा जो किसी भी कारण अन्यों की तुलना में उच्च समझी जाती है, अन्य भाषाओं को बड़ी जल्दी प्रभावित कर लेती है, हालाँकि कुछ अन्य कारणों से इसके विपरीत भी होता है।

जापानी भाषा के अनेक प्रयोगों में सामाजिक दृष्टि से कई स्तर हैं। इन स्तरों का मुख्य आधार समाज में एक दूसरे के प्रति आदर की भावना की कमी-बेशी है जो शब्दों, रूपों, आदि में अभिव्यक्त हुई हैं। यहाँ कुछ उदाहरण मनोरंजक होंगे। इस तरह के अंतर सर्वनामों में बहुत अधिक हैं, । मध्यम पुरुष के लिए अंग्रेजी में thou तथा *you* दो हैं, हिन्दी में तू, तुम, आप तीन हैं, किन्तु जापानी में छः-सात हैं। ओमाए —इसे हिन्दी में कहते हैं 'आप हैं मेरे सामने उपस्थित होने वाले'। पहले इसमें कुछ आदर का भाव था, किंतु अब आदरभाव प्रायः नहीं के बराबर है। बहुत नज़दीक के पुरुष मित्र आपस की बातचीत में एक-दूसरे के लिए इसका प्रयोग करते हैं। पति पत्नी के लिए भी इसका प्रयोग करता है। अनाता—यह आदरसूचक 'आप' है। उदाहरण के लिए शिष्य, गुरु को इसके द्वारा संबोधित करता है। अन्ता—इसमें आदर 'अनाता' से कुछ कम है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'अनाता' का ही विकसित रूप है। माँ बेटी के लिए, पत्नी पति के लिए या पति पत्नी के लिए इसका प्रयोग कर सकता है। ओमाए सान—यह बहुत आदरसूचक है। इसका प्रयोग प्रायः केवल पुरुष के लिए होता है। अनाता सामा—अपने से बड़े के लिए आता है। प्रायः स्त्रियाँ ही इसका प्रयोग करती हैं। यह लिखने में अधिक प्रयुक्त होता है और बोलने में कम। किमि— इसमें स्वामी, राजकुमार जैसा आदर का भाव है। इसका प्रयोग पुरुष आपस में करते हैं। स्त्रियाँ नहीं करतीं। नान्जी—यह thou का समानार्थी है। बोलने में इसका प्रयोग नहीं होता। वस्तुतः अंग्रेजी से अनुवाद करने में thou के प्रतिशब्द रूप में इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'मैं' के लिए भी जापानी में कई शब्द प्रयुक्त होते हैं। वाताशी—यह अत्यंत शिष्टाचारयुक्त है तथा प्रायः लिखित भाषा में प्रयुक्त होता है। स्त्री-पुरुष दोनों प्रयोग करते हैं। शोसेइ—इसका प्रयोग प्रायः पुरुष करते हैं, स्त्रियाँ बहुत कम। इसे हिन्दी 'मैं अत्यंत तुच्छ' कह सकते हैं। शिष्य अध्यापक को यदि लिखे तो इसका प्रयोग करेगा। बोकु—इसका प्रयोग प्रायः पुरुषों तक सीमित रहा है। ओरे—समीपी मित्र से बोलचाल में प्रयुक्त होता है। यह बहुत शिष्ट नहीं है। सेश्शा— इसके प्रयोग में भी बड़ी विनम्रता और तुच्छता का भाव निहित रहता है। इसका प्रयोग सामंत युग में अधिक होता था। इसी तरह 'वह' के लिए कोनोकाता (आदरयुक्त और बहुत शिष्ट; स्त्री-पुरुष दोनों के लिए दोनों प्रयोग कर सकते हैं), कोनोहितो (पूर्ववर्ती से कम आदर), सोनोकाता (कुछ समीप), आनोकाता (दूर), कारे (he), कानोजो

(she), सोरे (it), श्रारे (that) आदि हैं। विशेषण में ऐसे प्रयोग कम हैं। एक उदाहरण पर्याप्त समझा जाना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को लम्बा कहना हो तो सेनोनाकाइ कहेंगे, किन्तु राजा या राजकुमार को लम्बा कहना हो तो सेनोश्रोताकाइ कहेंगे। क्रिया में भी अंतर है। 'आ रहा है' के लिए श्रोइदेनीनारीमासु (अधिक आदर, जैसे सम्राट् के लिए), श्रोइदेनीनारारेमासु (अत्यधिक आदर), इराश्शाइमासु (आदर, जैसे अध्यापक के लिए), किमासु (सामान्य)। संज्ञा शब्दों में भी यह अंतर है: बेटा के लिए मुसुको (सामान्य), मुसुकोसान (कुछ आदर), रेइसोकु (आदर, उच्च परिवार के बेटे के लिए), गोरेइसोकु (अत्यधिक आदर) आदि कई शब्द हैं।

एक सीमा तक ऐसे प्रयोग हिन्दी-उर्दू में भी हैं : तू, तुम, आप, जनाब, जनाब-आली, हुज़ूर; बैठना-विराजना-तशरीफ़ रखना, आना-पधारना-तशरीफ़ लाना-पवित्र करना (कभी मेरे घर आ/ आओ/ आइए/ पधारो/ पधारिए/ तशरीफ़ लाइए/ (को) पवित्र कीजिए), नाम-शुभनाम ; ग़रीबख़ाना-दौलतख़ाना ; चल-चलो-चलें-चलिए आदि।

हरियाणी-भाषी क्षेत्र के कुछ भागों में [उदाहरण के लिए माजरा डबास (दिल्ली का एक गाँव) तथा उसके आसपास] सामान्य भाषा में 'यह' के लिए स्त्रीलिंग में 'याह' का प्रयोग होता है तथा पुल्लिंग में 'योह' का। उदाहरणार्थ—

याह के करै सै = यह क्या कर रही है ?
योह के करै सै = यह क्या कर रहा है ?

किन्तु वहीं का हरिजन चूहड़ा, चमार तथा धानक (जुलाहे) [आदि] स्त्रीलिंग में 'याह' के स्थान पर 'योह' का प्रयोग भी करता है। साथ पुल्लिंग में 'योह' के स्थान पर 'याह' भी बोलता है।

सामाजिक परिवर्तनों के साथ भाषा में भी परिवर्तन आता है। शब्दों के स्तर पर यह परिवर्तन बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी प्रदेश में मध्ययुग में जहाँपनाह, अन्नदाता, ग़रीबपरवर जैसे शब्द संबोधन के रूप में बहुप्रचलित थे। अब ये हमारी भाषा के बहुप्रयुक्त शब्द नहीं रह गए हैं, क्योंकि उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अब नहीं रही। जापान में वहाँ के राजा को भगवान माना जाता था और उसे 'तेन्नो हेइका' या 'तेन्नो सामा' कहते थे। केवल 'तेन्नो' कहने वाला राजद्रोही समझा जाता था। अब कुछ लोग केवल 'तेन्नो' भी कहने लगे हैं। आज की हिन्दी में केक, बिस्कुट, पैंट, कोट हैं तो मध्ययुग की हिन्दी में मिर्जई, शीरमाल आदि थे, तथा आदिकालीन हिन्दी में कुछ और थे। तत्त्वतः शब्द-समूह में परिवर्तन अनेक दृष्टियों से समाज की विचारधारा तथा उसकी रहन-सहन में परिवर्तन का बहुत ही अच्छा सूचक है।

इस प्रकार यदि भाषा का सूक्ष्मता से सामाजिक स्तरों के संदर्भ में अध्ययन किया जाय तो उन सूक्ष्मताओं को खोज निकाला जा सकता है जो सामाजिक स्तरों से उद्भूत हैं तथा एक सीमा तक उनकी अभिव्यक्ति करती हैं। साथ ही अभी तक भाषा केवल

विचारों-भावों की अभिव्यक्ति का साधन समझी जाती रही है, समाज-भाषाविज्ञान के अध्ययन द्वारा और गहराई में जाकर उससे भावों और विचारों को जनाने के अतिरिक्त यह भी जाना जा सकता है कि वक्ता की सामाजिक स्थिति—धर्म, जाति, शिक्षा, आय, परम्परा आदि की दृष्टि से—क्या है, तथा जिससे वह बातें कर रहा है, उसका उससे संबंध तथा सामाजिक स्तर क्या है ? साथ ही भाषाओं में हुए अनेक परिवर्तनों, भाषाओं के आपसी संबंध तथा प्रभाव, उनके शिष्ट-अशिष्ट, श्लील-अश्लील, मान्य-अमान्य, परिनिष्ठित-अपरिनिष्ठित आदि होने की स्वीकृति-अस्वीकृति आदि अनेक बातों को भी समाज से जोड़ा जा सकता है।

(ज) सांख्यिकीय भाषाविज्ञान (Statistical Linguistics)

भाषाविज्ञान की इस शाखा में सांख्यिकी के आधार पर भाषा के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जाता है। यह गणितीय भाषाविज्ञान (mathematical linguistics) के अंतर्गत है। जैसा कि ज्ञात है, सांख्यिकी गणित की ही एक शाखा है। यहाँ इसकी कुछ प्रारम्भिक बातों का ही परिचय दिया जा रहा है।

यह बात कम आश्चर्य की नहीं है कि भाषाविज्ञान की यह अपेक्षाकृत नयी शाखा, भारत के लिए नयी नहीं है, और इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य करने का श्रेय भारत को ही है। *तीसरी-चौथी* सदी ई० पू० में बनाई गई वैदिक अनुक्रमणियाँ विश्व में अपने ढंग की प्रथम हैं। इनमें संहिताओं पर सांख्यिक दृष्टि से कार्य है। इनमें से एक के अनुसार ऋग्वेद में १०१७ मंत्र, १०५८० $\frac{१}{४}$ छंद, १५३८२६ शब्द *तथा* ४३२००० अक्षर हैं।

आधुनिक काल में सांख्यिकीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ हुआ है, वह प्रेरणा आदि की दृष्टि से प्राचीन भारतीय कार्य से संबद्ध नहीं है। इसका विकास स्वतंत्रत: हुआ है। हुआ यह कि गणितशास्त्र ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, अन्य अनेक शास्त्र उसे अपने लिए उपयोगी पाते गए। इसी परंपरा में इसने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी प्रवेश किया। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस दिशा में पहल करने का श्रेय सोवियत संघ को है। सर्वप्रथम प्रसिद्ध रूसी गणितज्ञ बुंजकोफ्स्की (Bunjakovskiy) ने १८४७ ई० में भाषाविज्ञान में गणित के प्रयोग की संभावना की ओर संकेत किया था। १८७४ में ह्विटने (W. D. Whitney) ने अंग्रेजी ध्वनियों की आवृत्ति (frequency) पर काम किया। १६०४ में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री कुर्तने (B. Courtenay) ने विभिन्न शास्त्रों में गणित को सहायक होता देख भाषाविज्ञान के लिए भी गणित के अत्यन्त सहायक होने की बात कही थी। १६०५ में आर्नल्ड (Arnold) ने अपना Vedic Metre In its Historical Development प्रकाशित किया, जिसमें सांख्यिकी का प्रयोग, ऋग्वेद के विभिन्न भागों की सापेक्षिक प्राचीनता के निर्धारण में किया गया था।

१६१३ में रूसी गणितज्ञ मार्कोव (A. A. Markov) ने पुश्किन के (Evgeniy

Onegin) के सांख्यिकीय अध्ययन के आधार पर रूसी में स्वरों और व्यंजनों के साथ-साथ आने (co-occurence) के नियम निकाले। इस दिशा में यह पहला गंभीर कार्य था। मार्कोव ने यह भी दिखाया कि किसी भाषा की भाषिक इकाइयों के पारस्परिक आश्रय (mutual dependence) का पता लगाया जा सकता है। इसके लिए उसने जो पद्धति दी, वह आज भी मार्कोव पद्धति (Morkov Process) के नाम से प्रसिद्ध है।

इसी समय आशुलिपिकों एवं टंककों की समस्याओं ने उनका ध्यान सांख्यिकी की ओर खींचा। फ्रांसीसी आशुलिपिक एस्तोप (Estoup) ने १९१६ में अपनी पुस्तक (Gammes Stenograpliques में) गणना के आधार पर कहा कि हर प्रकार के पाठ में शब्द विशिष्ट सांख्यिक नियमों का अनुसरण करते हैं। १९२८ में भौतिक शास्त्री कन्डन (E. U. Condon) ने अपने अध्ययन (Statistics of Vocabulary) में कहा था कि शब्द-आवृत्तियाँ नियमित होती हैं।

इस तरह धीरे-धीरे भाषा के अध्ययन-विश्लेषण में सांख्यिकी का प्रयोग बढ़ता गया। यही नहीं, गणित ने भी भाषाविज्ञान को अपने लिए काफ़ी उपयोगी पाया। दूसरे महायुद्ध के बाद (१९५० से) सूचना-सिद्धांत (information theory) के विकास के पश्चात् गणित से भाषाविज्ञान में और भी अधिक सहायता ली जाने लगी है। गणितीय भाषाविज्ञान की कई अलग संस्थाएँ बनी हैं तथा इसकी कई पत्रिकाएँ भी निकल रही हैं। १९५७ में आठवीं अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान कांग्रेस के बाद इस क्षेत्र में और भी अधिक काम होने लगा है। इस क्षेत्र में काम करने वाले देशों में रूस, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान और चीन विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

सांख्यिकीय भाषाविज्ञान (statistical linguistics) में ध्वनि, ध्वनिग्राम, अक्षर, शब्द, रूप, मुहावरे, लोकोक्ति तथा वाक्यों के पैटर्न आदि सभी भाषिक इकाइयों की गणना की जाती है और उनके आधार पर अनेकानेक दृष्टियों से उपयोगी परिणाम निकाले जा सकते हैं।

यहाँ हम पहले इस बात को ले सकते हैं कि साहित्य तथा भाषाविज्ञान विषयक विभिन्न समस्याओं एवं अध्ययनों में सांख्यिक भाषाविज्ञान का क्या योगदान हो सकता है।

इस प्रसंग में सबसे पहले शैलीविज्ञान को लें। शैलीविज्ञान को इधर सांख्यिक भाषाविज्ञान से बहुत सहायता मिलने लगी है। पहले की किसी शैली पर विचार अपनी वैयक्तिक रुचि के आधार पर किया जाता था, अतः वह बहुत 'सब्जेक्टिव' होता था। अब सांख्यिकी ने शैलीविज्ञान को सचमुच विज्ञान बनने के पथ पर अग्रसर किया है, और वह समय दूर नहीं जब वैज्ञानिक स्तर पर शैली का विवेचन हो सकेगा। सांख्यिकी के आधार पर यह देखा गया है कि अभिव्यक्ति की सामान्यता की आवृत्ति (frequency) अधिक होती है। इसी प्रकार दो या अधिक लेखकों या कवियों की शैली में वास्तविक अंतर क्या है, सांख्यिकी के आधार पर साफ़-साफ़ देखा जा सकता

है कि यह अंतर शब्द-चयन, मुहावरे, लोकोक्तियों तथा व्याकरणिक ढाँचे के प्रयोग पर निर्भर करता है।

सांख्यिकीय भाषाविज्ञान से किसी रचना के रचनाकार के बारे में भी काफ़ी हद तक ठीक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'सूरसागर' सूरदास की रचना है, किन्तु 'सूरसारावली' के संबंध में थोड़ा संदेह है। दोनों की शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि दोनों एक कवि की हैं, या नहीं। इसमें भी सांख्यिकी बहुत सहायक हो सकती है। यूल (Yule) ने De Imitatione Christi के रचनाकार का पता लगाने के लिए इस पद्धति का प्रयोग १९४४ में किया था।

इसी प्रकार किसी कवि या लेखक की विभिन्न रचनाओं के कालक्रम का भी सांख्यिकी के आधार पर निर्धारित शैली से पता लगाया जा सकता है।

किसी भाषा से दूसरी या कई भाषाएँ कब निकलीं (जैसे अपभ्रंश से हिन्दी), कोई पुस्तक मूलतः किस भाषा की है (जैसे 'संदेशरासक' अपभ्रंश का है या हिन्दी का), दो बोलियों का या भाषाओं की ठीक-ठीक सीमारेखा क्या है (जैसे ब्रज-खड़ीबोली की), कोई बोली सचमुच स्वतंत्र बोली है या दो का मिश्रण-मात्र है (जैसे कनौजी), दो भाषाओं या बोलियों में कितनी समानताएँ और कितनी असमानताएँ है, कोई भाषा कितनी पुरानी है (दे० लेखक की पुस्तक 'भाषाविज्ञान' का 'भाषा-कालक्रम-विज्ञान' शीर्षक अध्याय) आदि बातों का उत्तर भी सांख्यिकीय भाषाविज्ञान के आधार पर पर्याप्त वैज्ञानिक रूप में दिया जा सकता।

विदेशी भाषा के शिक्षण के लिए भी सांख्यिकीय भाषाविज्ञान बड़ा उपयोगी है। उसके आधार पर किसी भाषा की आधारभूत शब्दावली, आधारभूत व्याकरणिक रूप तथा वाक्यों के आधारभूत ढाँचों का पता लगाया जा सकता है, जिनके आधार पर बनाए गए पाठ भाषा सिखाने के बड़े उपयोगी हो सकते हैं। मातृभाषा की शिक्षा में भी आवृत्ति (frequency) के आधार पर सिखाना अधिक उपयोगी हो सकता है।

अब तक शब्दों के दिशा में जो काम हुआ है, उसमें यह स्पष्ट हो गया है कि सभी भाषाओं में लगभग तीन हजार मूल शब्द होते हैं जिनका प्रयोग उस भाषा में लगभग ८० प्रतिशत तक होता है। शेष २० प्रतिशत विभिन्न प्रकार के पाठों के अनुसार विभिन्न प्रकार के शब्दों के होते हैं।

वर्णों की आवृत्ति के अध्ययन के आधार पर प्रेस, टाइपराइटर आदि के लिए भी भाषाविज्ञान की यह शाखा बहुत सहायक हो सकती है। यदि वर्णों की आवृत्ति का ठीक पता लगाकर टाइपों को स्थानित किया जाय तो गति बहुत अधिक बढ़ सकती है।

इस प्रकार का कार्य अपनी सीमाओं के साथ विश्व की कई भाषाओं में हुआ है। यहाँ कुछ कार्यों का परिचय उपयोगी एवं मनोरंजक होगा।

सोवियत संघ के 'इस्तोनिया' जनतंत्र की राजधानी ताल्लित की अकेडेमी के रूसी विभाग ने, आधुनिक रूसी भाषा में शब्दों एवं रूपों की गणना के लिए ३००

व्यक्तियों को नियुक्त किया। ये ३०० व्यक्ति यह गणना ३ वर्षों तक (१६५६ से १६६२ तक) करते रहे। जिस साहित्य से यह गणना की गई, वह इस प्रकार था—

उपन्यास-कहानी	५६ प्रतिशत
नाटक	७ प्रतिशत
आलोचना-लेख	१४ प्रतिशत
पत्र-पत्रिकाएँ	२० प्रतिशत

उपर्युक्त साहित्य से कुल ४ लाख रूप एकत्र किए गए। इनकी गणना के आधार पर पता चला कि समवेत रूप में, आधुनिक रूसी साहित्य में विभिन्न व्याकरणिक वर्गों के प्रयोग प्रतिशत इस प्रकार हैं—

संज्ञा	२६.४ प्रतिशत
क्रिया	१७.३ प्रतिशत
सर्वनाम	१२.१ प्रतिशत
पूर्वसर्ग	११.१ प्रतिशत
विशेषण	८.३ प्रतिशत
क्रियाविशेषण	७.८ प्रतिशत
समुच्चयबोधक	७.२ प्रतिशत
उपपद (पार्टिकल, चस्तीत्सी)	५.१ प्रतिशत
संख्यावाचक शब्द	२.१ प्रतिशत
विशेषणवत् प्रयुक्त भूत० एवं वर्त० कृदंत	१.५ प्रतिशत
पूर्वकालिक कृदंत	०.७ प्रतिशत
विस्मयादि बोधक	०.३ प्रतिशत
अवलंब शब्द (तकिया क़लाम)	०.१ प्रतिशत

इस गणना के परिणामों की कुछ और बातें भी मनोरंजक हैं—

संज्ञा का प्रयोग

वचन	एकवचन	७१.५ प्रतिशत
	बहुवचन	२८.३ प्रतिशत
	दोनों वचनों में एक रहने वाले रूप	०.२ प्रतिशत
लिंग	पुल्लिंग	४६.८ प्रतिशत
	स्त्रीलिंग	३५.१ प्रतिशत
	नपुं० लिंग	१५.५ प्रतिशत
	बहुलिंगी	२.६ प्रतिशत

वर्तमान रूसी भाषा में सर्वाधिक प्रयुक्त कुछ शब्द—(इनमें पहले शब्द का प्रयोग सर्वाधिक होता है, दूसरे का उससे कम, तीसरे का और कम, तथा आगे भी इसी प्रकार)—और, में, पर, नहीं, वह (पुल्लिग), मैं, क्या (कि), यह, होना तथा कुल आदि ।

व्याकरणिक दृष्टि से सर्वाधिक प्रयुक्त कुछ शब्द—(उपर्युक्त की भाँति ही, पहले का सर्वाधिक प्रयोग होता है, तथा दूसरे का कम) ।

संज्ञा—वर्ष, काम, दिन, आँख, हाथ, समय, बार, जीव, लोग, शब्द, लड़का, जगह तथा घर आदि ।

क्रिया—होना, सकना, बोलना (कहना), जानना, चाहना, चलना, देखना, सोचना, देना, करना, पूछना, लेना, बैठना आदि ।

विशेषण—बड़ा, नया, अच्छा, छोटा, बूढ़ा (पुराना), अंतिम, ऊँचा, ज्यादा, सफेद, मुख्य, लाल आदि ।

संख्या—१, पहला, २, १०००, ३, दूसरा, २०, तीसरा, ५, ४, १०, ४०, ३० तथा चौथा आदि ।

सर्वनाम— वह, मैं, ये, सब, वे, वह (स्त्री), हम, तू, तुम (आप) तथा अपना आदि ।

क्रियाविशेषण—ऐसे, फिर, बहुत, अब, कैसे, वहाँ, तथा यहाँ आदि ।

सोवियत संघ के ताशकंद विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री कासानोव्स्की ने अखबारों में प्रयुक्त हिन्दी पर इस प्रकार का कार्य किया है । उनकी गणना के अनुसार हिन्दी समाचारपत्रों में १९५ आधार-शब्द ऐसे हैं जो समाचारपत्रों की सामान्य सामग्री में ६० प्रतिशत तक मिलते हैं । उनका संक्षिप्त विवरण है—

व्याकरणिक कोटि	शब्द	प्रतिशत
समुच्चयबोधक	५	६ प्रतिशत
परसर्ग	२०	२१ प्रतिशत
सहायक क्रिया 'है' 'था'	२	१.३ प्रतिशत
निपात (particle)	८	३ प्रतिशत
सर्वनाम	२४	८ प्रतिशत
संख्या	३	१ प्रतिशत
क्रिया	३९	१२.५ प्रतिशत
क्रियाविशेषण	१५	२.३ प्रतिशत
विशेषण	१०	०.५ प्रतिशत
संज्ञा	६९	४.५ प्रतिशत
	१९५	६०.१ प्रतिशत

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने 'कामायनी' पर सांख्यिक कार्य किया है। कुछ परिणाम इस प्रकार हैं। कामायनी में कुल रूप २५४४१ हैं। इनमें मूल केवल ३५०५ हैं। विभिन्न प्रकार के व्याकरणिक रूपों का प्रतिशत इस प्रकार है—

संज्ञा	५१ प्रतिशत
क्रिया	२४ प्रतिशत
विशेषण	२० प्रतिशत
सर्वनाम	२.५ प्रतिशत
क्रियाविशेषण	१.२५ प्रतिशत
संख्यावाचक	०.०५ प्रतिशत
परसर्ग	०.०४ प्रतिशत
अन्य अव्यय	०.६८ प्रतिशत

एकवचन के प्रयोग ८५ प्रतिशत तथा बहुवचन के १५ प्रतिशत। इसी प्रकार पुल्लिंग ७३ प्रतिशत तथा स्त्रीलिंग २७ प्रतिशत।

ध्वनियों पर भी इस प्रकार के कार्य हुए हैं। उज्बेक भाषा पर किस्सेन ने काम किया है। उनके अनुसार वर्णों के प्रयोग का प्रतिशत इस प्रकार है : अ-आ १४.४४; इ-ई १३.८६; न ६.२६; र ६.१८; ल ५.६३; ओ ४.६४; द ४.३६; त ४.०५; व ३.८० प्रतिशत; म ३.६७; क ३.०५; क़ ३.००; य २.६४; च २.६७; ग २.३१; श २.१२; ए १.६५ आदि।

इधर हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि कई भारतीय भाषाओं की ध्वनिग्रामिक, रूपग्रामिक तथा शाब्दिक आवृत्ति पर काम हुए हैं। वस्तुतः भारत में अभी इस प्रकार के कार्यों का प्रारम्भ ही है। इस क्षेत्र में अपने अध्ययन को समुचित विकसित करके भाषा और साहित्य विषयक अनेक निष्कर्षों पर पुनर्विचार करने तथा नयी दिशाओं में अध्ययन-विश्लेषण की पर्याप्त गुंजाइश है।

(ञ) शैलीविज्ञान (Stylistics)

भाषाविज्ञान की यह शाखा बहुत नयी नहीं है। बहुत पहले जेनेवा स्कूल के कुछ भाषाशास्त्रियों तथा कुछ फ्रांसीसी विद्वानों का इस ओर ध्यान गया था। सस्यूर के प्रसिद्ध शिष्य चार्ल्स बेली का नाम इस दृष्टि से प्रसिद्ध है। ये रैशनल स्टाइलिस्टिक्स (rational stylistics) के जन्मदाता कहे जाते हैं।

बफ़ाँ का प्रसिद्ध उद्धरण है: Style is the man himself. वस्तुतः हर व्यक्ति की शैली उसके व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। किंतु 'शैली क्या है' इस बात का इतना ही उत्तर काफ़ी नहीं है। भाषा के प्रसंग में शैली का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। हर भाषा में ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-रचना तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से अभिव्यक्ति का एक सर्वस्वीकृत मानक या परिनिष्ठित रूप होता है, जिसे उस भाषा में अभिव्यक्ति का एक सामान्य ढंग कह सकते हैं। जो लोग लेखन में या बोलने में इसी सामान्य रूप का प्रयोग करते हैं, उनकी कोई अपनी शैली नहीं मानी जाती। शैली मानी जाती है

उनकी, जो इस सामान्य रूप से ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-रचना तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से हट कर (deviatingly) प्रयोग करते हैं। इस तरह शैली-विशेष के लिए यह आवश्यक है कि चुनकर भाषिक इकाइयों का ऐसा प्रयोग हो जो सामान्य की तुलना में विशेष या अलग हो। भाषा की सामान्य अभिव्यक्ति पूरे भाषा-समाज की होती है, किंतु शैली व्यक्ति की या वैयक्तिक होती है। जैसा कि ऊपर संकेतित है, इसका मुख्य आधार है चयन। चयन से यहाँ आशय है किसी भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों, शब्दों, रूपों, वाक्यों आदि से चयन। व्यक्ति अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुकूल चयन करके अपनी बात को व्यक्त करता है। इस चयन की पहचान के आधार पर ही हम कोई पैराग्राफ़ या छन्द देकर यह कह सकते हैं कि यह तो प्रसाद का है, पंत का नहीं हो सकता। वस्तुतः हर अच्छे कवि या लेखक की अपनी शैली होती है जो इस चयन पर ही आधारित होती है।

शैली का अध्ययन ही शैलीविज्ञान है। शैलीविज्ञान में यों तो समवेत रूप से किसी की शैली का अध्ययन करते हैं, किंतु यदि चाहें तो शैलीविज्ञान को ध्वनिशैलीविज्ञान, शब्दशैलीविज्ञान, रूपशैलीविज्ञान, तथा वाक्यशैलीविज्ञान इन चार शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं, जिनमें क्रमशः शैलीय प्रयोग की दृष्टि से किसी के द्वारा प्रयुक्त ध्वनियों, शब्द-समूह, रूपों तथा वाक्यों पर विचार किया जा सकता है। बात को स्पष्ट करने के लिए हिंदी से कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

ध्वनि—क-क़, ख-ख़, ग ग़, ज-ज़, फ-फ़, आ-ऑ में चयन जैसे कानून-क़ानून, खराब ख़राब, गरीब-ग़रीब, जहाज, जहाज़, फायदा-फ़ायदा, डाक्टर-डॉक्टर। इनमें किसी का भी चयन किया जा सकता है। किशोरीदास वाजपेयी की शैली में पहले मिलेंगे तो प्रेमचंद में प्रायः दूसरे। इसी प्रकार अन्य अनेक ध्वनियों तथा संयुक्त व्यंजनों आदि में भी शैलीकार चयन करता है: मूरख-मूर्ख, अचरज-आश्चर्य, सूरज-सूर्य, ब्राह्मण-ब्राह्मण, चिह्न-चिह्न आदि।

शब्द—हर भाषा में अर्थ की समानता की दृष्टि से शब्दों के कुछ वर्ग होते हैं। शैलीकार वर्ग में अपनी आवश्यकतानुसार किसी एक को चुन लेता है। हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू शब्द के स्तर पर ही हिन्दी की तीन शैलियाँ हैं: तत्सम-तद्भव-देशज-विदेशी में प्रायः चयन होता है: सहस्र-हज़ार, गृह-घर-मकान, पुष्प-फूल-गुल, सुन्दर-सुघर-खूबसूरत, राजकुमार-शाहज़ादा, मूर्ख-मूरख-मूढ़-घामड़-बेवकूफ। कुछ लोग अप्रचलित शब्दों के प्रयोग में रुचि लेते हैं तो कुछ अतिप्रचलित मसृण-कोमल। कुछ बीच के शब्दों में रुचि लेते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग अपने नये शब्द बनाते रहते हैं। डॉ० रघुवीर के लेखन में ऐसे शब्द प्रायः मिल जाते हैं। शब्द के क्षेत्र में चयन की गुंजाइश सर्वाधिक होती है।

रूप—रूपों में चयन की गुंजाइश सबसे कम होती है। इसका कारण यह होता है कि हर भाषा में परिनिष्ठित रूप प्रायः निश्चित होते हैं, और उनसे हटकर प्रयोग अपरिनिष्ठित माना जाता है। उदाहरण के लिए 'किया-करा' में चयन नहीं किया जा सकता। 'जाया-गया' में भी चयन संभव नहीं, क्योंकि दोनों के वितरण निश्चित हैं।

सर्वनामों में आज कुछ प्रदेशों में 'मुझे-मुझको-मैंने-मेरे को' में चयन चल रहा है—मुझे/मुझको/मैंने मेरे को जाना है। इसी प्रकार 'तुम्हें-तुमको-तुमने-तेरे को'। तथा इसी रूप में कुछ अन्य सर्वनामों में भी। कवियों-कविजन, मंत्रियों-मंत्रिगण, मकानों-मकानात, हाकिमों-हुक्काम या डाक्टरनी-डाक्टरानी-डाक्टराइन आदि कुछ अन्य उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

वाक्य—वाक्य-रचना के क्षेत्र में भी चयन के लिए काफ़ी अवकाश है। कुछ उदाहरण हैं : राम ने ही—राम ही ने; राम को ही—राम ही को; राम से ही—राम ही से; राम के लिए ही—राम ही के लिए; राम ही का—राम का ही; मात्र पानी, पानी मात्र; खाकर-खाकर के, न...न...—न...नाहीं; राम नहीं आता है—राम नहीं आता; खा चुका हूँ—खा लिया है—खा बैठा हूँ; जो लड़का आया था चला गया—लड़का जो आया था चला गया; राम ने कहा कि मैं/वह जाऊँगा/जाएगा; साधारण वाक्य—संयुक्त वाक्य—मिश्रित वाक्य; छोटे वाक्य—बड़े-वाक्य इत्यादि। पदक्रम में परिवर्तन करते हुए एक ही वाक्य के कई रूप संभव हैं—

मैं जा रहा हूँ और तुम...
जा मैं रहा हूँ और तुम...
जा रहा मैं हूँ और तुम...
जा रहा हूँ मैं और तुम...

इसी प्रकार प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त दो या अधिक मुहावरों, विशेष प्रयोगों या लोकोक्तियों में किसी एक का प्रयोग भी शैलीय विशेषता के लिए प्रायः किया जाता है—

(१) घर का उजाला
घर का चिराग़
(२) घात पर चढ़ना
घात में आना
(३) घी के चिराग़ जलाना
घी के दिए जलाना
(४) घूँघट करना
घूँघट काढ़ना
घूँघट निकालना
(५) चंपत बनना
चंपत हो जाना
(६) बेखबर सोना
घोड़ा बेचकर सोना

वस्तुतः शैलीविज्ञान अभी पूरी तरह विकसित नहीं है। यहाँ मैंने इसे उस रूप में रखा है, जैसा मैं मानता हूँ। यों इस क्षेत्र में काफ़ी विकास तथा कार्य की संभावना है।

१०| लिपि

भाषा की उत्पत्ति भावों को ध्वनियों द्वारा व्यक्त करने के लिए हुई और लिपि की उत्पत्ति उसे चित्रों या चिह्नों द्वारा प्रकट करने के लिए। कदाचित् यह कार्य भाषा के कुछ विकसित हो जाने के बाद हुआ होगा।

लिपि की उत्पत्ति—भाषा की उत्पत्ति की भाँति ही लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी पुराने लोगों का विचार था कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं और इसके लिए उनके पास सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लिपि का नाम 'ब्राह्मी' है। इसी प्रकार मिस्री लोग अपनी लिपि का कर्त्ता थाथ (Thoth) या आइसिस (Isis) को बेबिलोनिया के लोग नेबो (Nebo) को, पुराने ज्यू लोग मोजेज (Moses) को तथा यूनानी लोग हर्मेस (Hermes) या पैलमीडस, प्रामेथ्यूस, आर्फ्यूस तथा लिनोज आदि अन्य पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। पर, भाषा की भाँति ही लिपि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के मत अन्ध-विश्वास मात्र हैं। तथ्य यह है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया। आरम्भ में मनुष्य ने इस दिशा में जो कुछ भी किया, वह इस दृष्टि से नहीं किया गया था कि उससे लिपि विकसित हो, बल्कि जादू-टोने के लिये कुछ रेखाएँ खींची गईं, या धार्मिक दृष्टि से किसी देवता का प्रतीक या चित्र बनाया गया, या पहचान के लिए अपने-अपने घड़े या अन्य चीजों पर कुछ चिह्न बनाये गये, ताकि बहुतों की ये चीजें जब एक स्थान पर रक्खी जायँ, तो लोग सरलता से अपनी चीजें पहचान सकें, या सुन्दरता के लिए कंदराओं की दीवालों पर आसपास के जीव-जन्तुओं या वनस्पतियों को देखकर उनके टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाये गये*, या स्मरण के लिए किसी रस्सी या पेड़ की छाल आदि में गाँठें लगाईं गईं और बाद में इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया और वह धीरे-धीरे विकसित होकर लिपि बन गई।

लिपि का विकास—आज तक लिपि के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम सामग्री

---

*इस प्रकार के चिह्न या चित्र आदि या तो रेखा खींचकर या पत्थर या अन्य चीजों पर खोद या रंग कर बनाये गये।

उपलब्ध है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि ४,००० ई० पू० के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था और इस प्रकार के प्राचीनतम अव्यवस्थित प्रयास १०,००० ई० पू० से भी कुछ पूर्व किये गये थे। इस प्रकार इन्हीं दोनों के बीच, अर्थात् १०,००० ई० पू० और ४,००० ई० पू० के बीच लगभग ६,००० वर्षों में धीरे-धीरे लिपि का प्रारम्भिक विकास होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम में आने वाली विभिन्न प्रकार की लिपियाँ

लिपि के विकास-क्रम में हमें निम्न प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं—

१. चित्र लिपि
२. सूत्र लिपि
३. प्रतीकात्मक लिपि
४. भावमूलक लिपि
५. भाव-ध्वनिमूलक लिपि
६. ध्वनिमूलक लिपि

आगे इन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

[कैलिफ़ोर्निया में प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है। चित्र से स्पष्ट है कि कुछ तो मनुष्य, पशु तथा पक्षी आदि के तरह-तरह के चित्र हैं, और कुछ ज्यामितीय शक्लें।]

१. चित्रलिपि—चित्रलिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। पर, वे प्रारम्भिक चित्र केवल लेखन के इतिहास के आरम्भिक प्रतिनिधि थे, यह सोचना गलत होगा। उन्हीं चित्रों से चित्रकला के इतिहास का भी आरम्भ होता है, और लेखन के भी इतिहास का। उस काल के मानव ने कंदराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर वनस्पति, मानव-शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आदि के टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाये होंगे। यह भी सम्भव है कि कुछ चित्र धार्मिक कर्मकांडों के हेतु देवी-देवताओं के बनाये जाते रहे हों। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उज्बेकिस्तान, सीरिया, मिस्र, ग्रेटब्रिटेन, केलिफोर्निया, ब्राजील, तथा ऑस्ट्रेलिया आदि अनेकानेक देशों में मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथीदाँत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाये जाते थे।

चित्रलिपि में किसी विशिष्ट वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था। जैसे सूर्य के लिए गोला और उसके चारों ओर निकलती रेखाएँ, विभिन्न पशुओं के लिए उनके चित्र, आदमी के लिए आदमी का चित्र तथा उनके विभिन्न अंगों के लिए उन अंगों के चित्र आदि। चित्रलिपि की परम्परा उस प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। भौगोलिक नक्शों में मन्दिर, मस्जिद, बाग तथा पहाड़ आदि तथा पंचांगों में ग्रह आदि चित्रों द्वारा ही प्रकट किये जाते हैं।

एरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्रलिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है।]

प्राचीन काल में चित्रलिपि बहुत ही व्यापक रही होगी, क्योंकि इसके आधार पर किसी भी वस्तु का चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते रहे होंगे। इसे एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु या जीव का चित्र सर्वत्र प्रायः एक-सा ही रहेगा, और उसे देखकर विश्व का कोई भी व्यक्ति जो उस वस्तु या जीव से परिचित होगा, उसका भाव समझ जायगा और इस प्रकार उसे पढ़

लेगा। पर यह तभी तक सम्भव रहा होगा जब तक चित्र मूल रूप में रहे हों।

चित्रलिपि की कठिनाइयाँ—(१) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का इसमें कोई साधन नहीं था। आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम, मोहन और माधव का पृथक्-पृथक् चित्र बनाना साधारणतया सम्भव नहीं था। (२) स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो सम्भव था, पर भावों या विचारों का चित्र सम्भव न था। कुछ भावनाओं के लिये चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सबका इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना व्यावहारिक नहीं था। (३) शीघ्रता में ये चित्र नहीं बनाये जा सकते थे। (४) कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकार-प्रवृत्ति के होने के कारण समर्थ न रहे होंगे। ऐसे लोगों को और भी कठिनाई पड़ती रही होगी। (५) काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि में एकान्त अभाव था।

चित्रलिपि विकसित होते-होते प्रतीकात्मक हो गई। उदाहरणार्थ, यदि आरम्भ में पहाड़ इस प्रकार बनता था तो धीरे-धीरे लोग उसे केवल इस तरह बनाने लगे।

दूसरे शब्दों में उसका रूप घिस गया। शीघ्रता में लिखने के कारण संक्षेप में इसी प्रकार लोग लिखने लगे और रूढ़ि-रूप में इसी से पहाड़ का भाव व्यक्त होने लगा। चीनी लिपि का विचार करते समय इस प्रकार चिह्नों के प्रतीक बन जाने के और भी उदाहरण हमें मिलेंगे। इस तरह धीरे-धीरे चित्रलिपि के सभी चित्र प्रतीकात्मक हो गये होंगे। इस रूप में चित्रलिपि की विश्व भर में समझी जाने की क्षमता समाप्त हो गई होगी और विभिन्न सजीव और निर्जीव वस्तुओं के चित्र उन वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर बनकर विकसित चिह्नों के रूप में बनने लगे होंगे। यहाँ वह अवस्था आ गई होगी जब इन प्रतीकात्मक या रूढ़ि-चिह्नों को याद रखने की आवश्यकता पड़ने लगी होगी।

२. **सूत्रलिपि**—सूत्रलिपि का इतिहास भी बहुत पुराना है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। स्मरण के लिए आज भी लोग रूमाल आदि में गाँठ देते हैं। सालगिरह या वर्षगाँठ में भी वही परम्परा अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गाँठ दी जाती थी। किसी बात को सूत्र में रखने या सूत्र*यादकर पूरी बात को याद रखने की परंपरा का भी सम्बन्ध इसी से ज्ञात होता है।

---

*व्याकरण या दर्शनशास्त्र आदि के सूत्र।

सूत्रों में गाँठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परंपरा भी काफ़ी प्राचीन है। इस आधार पर भाव कई प्रकार से व्यक्त किये जाते रहे हैं, जिनमें प्रधान ये हैं—(क) रस्सी में रंग-बिरंगे सूत्र बाँध कर। (ख) रस्सी को रंग-बिरंगे रंगों से रंग कर। (ग) रस्सी या जानवरों की खाल आदि में भिन्न-भिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूँगे या मनके आदि बाँधकर। (घ) विभिन्न लम्बाइयों की रस्सियों से। (ङ) विभिन्न मोटाइयों की रस्सियों से। (च) रस्सी में तरह-तरह की तथा विभिन्न दूरियों पर गाँठें बाँध कर। (छ) डंडे में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मोटाइयों या रंगों की रस्सी बांध कर।

इस तरह के लेखन का उल्लेख, ५वीं सदी के ग्रंथकार हेरोडोटस (४६८) ने किया है। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीरू की 'क्वीपू' है। 'क्वीपू' में भिन्न-भिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत (जो प्राय: बटे ऊन के होते थे) लटकाकर भाव प्रकट किये जाते थे। कहीं-कहीं गाँठें भी लगाई जाती थीं। इनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था।
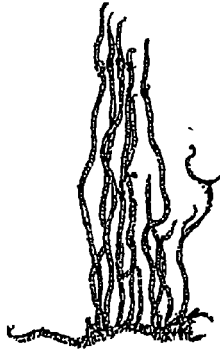
[पीरू में प्राप्त 'क्वीपू' नामक सूत्रलिपि]

पीरू के सैनिक अफ़सर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे। इसके माध्यम से सेना का एक वर्णन आज भी प्राप्त है, पर उसे पढ़ने या समझने का कोई साधन नहीं है। चीन तथा तिब्बत में भी प्राचीन काल में सूत्रलिपि का व्यवहार होता था। बंगाल के संथालों, तथा कुछ जापानी द्वीपों आदि में अब भी सूत्रलिपि कुछ रूपों में प्रयोग में आती रही है। टंगानिका के मकोन्दे लोग छाल की रस्सियों में गाँठ देकर बहुत दिनों से घटनाओं तथा समय की गणना करते आये हैं।

(३) भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि—शुद्ध अर्थ में लिपि न होते हुए भी, इस रूप में कि आँख के सहारे दूरस्थ व्यक्ति के विचार भी उनके द्वारा भेजी गई वस्तुओं के द्वारा जाने जा सकते हैं, यह पद्धति लिपि कही जा

[टंगानिका की सूत्रलिपि । गांठें स्पष्ट हैं ।]

सकती है । कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है । तिब्बती-चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेटकर भेजने का अर्थ रहा है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना, युद्ध में सफेद झंडा फहराना तथा स्काउटों का हाथ से बातचीत करना भी इसी के अन्तर्गत आ सकता है । गूंगे-बहरों के वार्त्तालाप का आधार भी कुछ इसी प्रकार का साधन है । फतेहपुर जिले में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि उच्च जातियों में लड़की के विवाह का निमन्त्रण हल्दी भेजकर तथा लड़के के विवाह का निमन्त्रण सुपारी भेजकर दिया जाता है । भोजपुर प्रदेश में अहीर आदि जातियों में हल्दी बाँट कर निमन्त्रण देते हैं । इलाहाबाद के आसपास छोटी जाति के लोगों में गुड़ बाँट कर निमन्त्रण देते हैं । कुछ स्थानों पर किसी के मृत्यु-संस्कार में भाग लेने के लिए आने वाला निमन्त्रण-पत्र कोने पर फाड़कर भेजा जाता है । इस प्रकार विचारा-भिव्यक्ति के साधन विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मिलते हैं । कांगो नदी की घाटी में कोई हरकारा जब कोई बहुत महत्त्वपूर्ण समाचार लेकर किसी के पास जाता था तो भेजने वाला उसे एक केले की पत्ती दे देता था । यह पत्ती ६ इंच लम्बी होती थी और दोनों ओर पत्ती के चार-चार भाग किये रहते थे । कम महत्त्व के समा-चार के साथ चाकू या भाले आदि भेजे जाते थे । सामान्य समाचारों के साथ कुछ भी

नहीं भेजा जाता था। कहना न होगा कि लिपि के अन्य रूपों की भाँति यह बहुत व्यापक नहीं है और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित है।

(४) भावमूलक लिपि—भावमूलक लिपि चित्रलिपि का ही विकसित रूप है। चित्रलिपि में चित्र वस्तुओं को व्यक्त करते थे, पर भावलिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, चित्रलिपि में सूर्य के लिए एक गोला बनाते थे पर भावमूलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से संबद्ध अन्य भावों को भी व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि। इसी प्रकार चित्रलिपि में पैर का चित्र पैर को व्यक्त करता था पर भावमूलक लिपि में यह चलने का भी भाव व्यक्त करने लगा। कभी-कभी चित्रलिपि के दो चित्रों को एक में मिलाकर भी भावमूलक लिपि में भाव व्यक्त किये जाते हैं। जैसे दुःख के लिए आँख का चित्र और उससे बहता आँसू, या सुनने के लिए दरवाजे का चित्र और उसके पास कान। भावमूलक लिपि के उदाहरण उत्तरी अमरीका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं। इस लिपि के द्वारा बड़े-बड़े पत्र आदि भी भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही है। इसका आधुनिक काल का एक मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। उत्तरी अमेरिका के एक रेड इंडियन सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेंट के यहाँ एक पत्र अपनी भावमूलक लिपि में भेजा। पत्र मूलतः रंगीन था, पर यहाँ उसका स्केच-मात्र दिया जा रहा है—
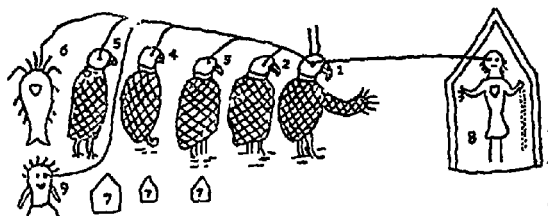
इसमें जो अंक दिये गये हैं वे मूल पत्र में नहीं थे। समझने के लिए ये दे दिये गये हैं, पत्र पाने वाला (नं० ८) ह्वाइट हाउस में प्रेसिडेंट है। पत्र लिखने वाला (१) उस कबीले का सरदार है, जिसका गणचिह्न (टोटेम) गरुड़ है। उसके सर पर दो रेखाएँ यह स्पष्ट कर रही हैं कि वह सरदार है। उसका आगे बढ़ा हुआ हाथ यह प्रकट कर रहा है कि वह मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। उसके पीछे उस के कबीले के चार सिपाही हैं। छठाँ व्यक्ति मत्स्य-गणचिह्न के कबीले का है। नवाँ किसी और कबीले का है। उसके सर के चारों ओर की रेखाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि पहले सरदार से वह अधिक शक्तिशाली सरदार है। सबकी आँखों को मिलाने वाली

रेखा उनमें मतैक्य प्रकट करती है। नीचे के तीन मकान यह संकेत दे रहे हैं कि ये तीन सिपाही प्रेसिडेंट के तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं। पत्र इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—'मैं, गरुड़-गणचिह्न के कबीले का सरदार, मेरे कई सिपाही, मत्स्य-गणचिह्न के कबीले का एक व्यक्ति, और एक अज्ञात गणचिह्न के कबीले का, मुझसे अधिक शक्तिशाली सरदार एकत्र हुए हैं, और आपसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हमारा आपसे सभी बातों में मतैक्य है। हमारे तीन सिपाही आपके तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं।'

इस प्रकार भावलिपि, चित्रलिपि तथा सूत्रलिपि की अपेक्षाअधिक समुन्नत तथा अभिव्यक्ति में सफल है। चीनी आदि कई लिपियों के बहुत से चिह्न आज तक इसी श्रेणी के हैं।

(५) भाव-ध्वनिमूलक लिपि—चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनिमूलक लिपि है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा, पर उसके पूर्व ऐसी लिपि के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है जो कुछ बातों में तो भावमूलक है और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। मेसोपोटैमियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को प्रायः लोग भावमूलक कहते हैं, पर यथार्थतः ये भाव-ध्वनिमूलक हैं, अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक हैं और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अन्तर्गत आती है। इन लिपियों के कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं, और कुछ ध्वनिमूलक; और दोनों ही का इसमें यथासमय उपयोग होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

(६) ध्वनिमूलक लिपि—चित्रलिपि तथा भावमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं। उनसे उस वस्तु या भाव के नाम से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। पर इसके विरुद्ध ध्वनिमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर, ध्वनि को प्रकट करते हैं, और उनके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपियाँ ध्वनिमूलक ही हैं।

ध्वनिमूलक लिपि के दो भेद हैं—(क) अक्षरात्मक (syllablic), (ख) वर्णात्मक (alphabetic)।

(क) अक्षरात्मक लिपि—अक्षरात्मक लिपि में चिह्न किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण (alphabet) को नहीं। उदाहरणार्थ, नागरी लिपि अक्षरात्मक है। इसके 'क' चिह्न में क् + अ (दो वर्ण) मिले हैं, पर इसके विरुद्ध रोमन लिपि वर्णात्मक है। उसके K में केवल 'क्' है। अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु भाषाविज्ञान में जब हम ध्वनियों का विश्लेषण करते चलते हैं तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी का 'कक्ष' शब्द लें। नागरी लिपि में इसे लिखने पर स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसमें कौन-कौन वर्ण हैं, पर रोमन

लिपि में यह बात (kaks'a) बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। नागरी में इसे देखने पर लगता है कि इसमें दो ध्वनियाँ हैं, पर रोमन में लिखने पर सामान्य पढ़ा-लिखा भी कह देगा कि इसमें पाँच ध्वनियाँ हैं। अरबी-फ़ारसी, बँगला, गुजराती, उड़िया तथा तेलगू आदि लिपियाँ अक्षरात्मक ही हैं।

(ख) वर्णनात्मक लिपि—लिपि-विकास की प्रथम सीढ़ी चित्रलिपि है तो इसकी अंतिम सीढ़ी वर्णात्मक लिपि है। वर्णात्मक लिपि में ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई भी शब्द लिखा जा सकता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह आदर्श लिपि है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है। ऊपर नागरी और रोमन में 'कक्ष' लिखकर अक्षरात्मक लिपि और वर्णात्मक लिपि के भेद को तथा अक्षरात्मक की तुलना में वर्णात्मक लिपि की अच्छाई को हम लोग देख चुके हैं।

लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएँ—लिपि के विकास-क्रम में प्राप्त छः प्रकार की लिपियों का ऊपर परिचय दिया गया है। विकास-क्रम की क्रमिक सीढ़ी की दृष्टि से सूत्रलिपि तथा भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति (या प्रतीकात्मक लिपि) का विशेष स्थान नहीं है। वे दोनों भाव प्रकट करने की विशिष्ट पद्धतियाँ हैं, जो किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही हैं। उनका न तो उनकी पूर्ववर्ती चित्रलिपि से कोई सम्बन्ध है और न बाद की भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपि से। दूसरे शब्दों में न तो ये दोनों चित्रलिपि से विकसित हुई हैं और न इनसे उनके बाद प्रचलन में आनेवाली भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपियाँ।

इन दो को छोड़ देने पर शेष चार प्रकार की लिपियाँ बचती हैं। इनमें जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रारम्भिक लिपि चित्रलिपि है। चित्रलिपि का ही विकसित रूप भावमूलक लिपि है। और आगे चलकर भावमूलक लिपि विकसित होकर भाव-ध्वनिमूलक लिपि और फिर ध्वनिमूलक हुई है। ध्वनिमूलक में भी अक्षरात्मक ध्वनि-मूलक लिपि प्रारम्भिक है, और वर्णात्मक ध्वनिमूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।

इस प्रकार लिपि के विकास-क्रम में चित्रलिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णात्मक ध्वनिमूलक लिपि अन्तिम अवस्था की।

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग—संसार की लिपियाँ प्रमुख से दो वर्गों में रक्खी जा सकती हैं : (१) जिनमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफॉर्म तथा चीनी आदि। (२) जिनमें अक्षर या वर्ण हैं, जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

पहले वर्ग की प्रधान लिपियाँ

१. क्यूनीफ़ार्म
२. हीरोग्लाफ़िक
३. क्रीट की लिपि (या लिपियाँ)

४. सिंधुघाटी की लिपि
५. हिट्टाइट लिपि
६. चीनी लिपि
७. प्राचीन मध्य-अमेरिका तथा मेक्सिको की लिपियाँ, सात

तथा दूसरे वर्ग की प्रधान लिपियाँ

१. दक्षिणी सामी लिपि
२. हिब्रू लिपि
३. फ़ोनेशियन लिपि
४. खरोष्ठी लिपि
५. आर्मेइक लिपि
६. अरबी लिपि
७. भारतीय लिपि
८. ग्रीक लिपि
९. लैटिन लिपि

नी हैं। यहाँ इनमें कुछ प्रधान पर (कुछ पर विस्तार से और कुछ पर संक्षेप में) विचार किया जा रहा है। सिंधुघाटी की लिपि तथा खरोष्ठी लिपि पर अलग विचार न करके 'भारतीय लिपियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत ही भारत की अन्य लिपियों के साथ विचार किया गया है।

क्यूनीफ़ार्म या (तिकोनी या फन्नी या बाणमुख) लिपि

क्यूनीफ़ार्म विश्व की प्राचीनतम लिपि है। इसकी उत्पत्ति कब और कहाँ हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी तक कोई आधार-सामग्री नहीं मिली है। यों इसका प्राचीनतम प्रयोग ४,००० ई० पू० के आसपास मिलता है, साथ ही विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरी लोग इसके उत्पत्तिकर्त्ता हैं। इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में १७०० ई० के आसपास इसे 'क्यूनीफ़ार्म' नाम दिया गया। इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम थामस हाइड ने और कुछ लोगों के अनुसार ई० कैम्फर ने किया।

४,००० ई० पू० से १ ई० पू० तक इसका प्रयोग मिलता है। इसके अध्ययन-कर्त्ताओं का कहना है कि मूलतः यह लिपि चीनी या सिंधुघाटी की मूल लिपि की भाँति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईंटों पर लिखने के कारण धीरे-धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। यह कारण ठीक ही है। गीली मिट्टी पर गोल, धनुषाकार या और प्रकार की रेखा खींचने की अपेक्षा सीधी रेखा बनाना सरल है। इसके अतिरिक्त रेखा का गीली मिट्टी पर तिकोनी हो जाना भी स्वाभाविक है। जल्दी में रेखा जहाँ से बननी आरम्भ होगी वहाँ गहरी और चौड़ी होगी और जहाँ समाप्त होगी, लिखने की कलम के उठने के कारण कम गहरी और

कोणाकार। इस प्रकार उसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा-सा हो जायेगा। इस लिपि में

इसी प्रकार की छोटी रेखाएँ पड़ी, खड़ी और विभिन्न कोणों पर आड़ी मिलती हैं। आरम्भ में इसमें बहुत अधिक चिह्न थे, पर बाद में सुमेरी लोगों ने ५७० के लगभग कर दिये और उनमें भी ३० ही विशेष रूप से प्रयोग में आते थे।

चित्रात्मकता से विकसित होकर यह लिपि भावमूलक लिपि हुई। (सूर्य का चित्र =दिन, या पैर का चित्र=चलना आदि) तथा और बाद में असीरिया और फारस आदि में यह अर्द्ध-अक्षरात्मक हो गई। पहले यह ऊपर से नीचे को लिखी जाती थी, पर बाद
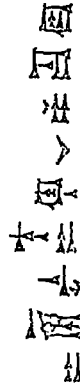
में दाएँ से बाएँ, और फिर बाएँ से दाएँ भी लिखी जाने लगी थी। सुमेरी, वेबीलोनी असीरी तथा ईरानी लोगों के अतिरिक्त हिट्टाइट, मितानी, एलामाइट तथा कस्साइट आदि ने भी इस लिपि का प्रयोग किया है।

हीरोग्लाइफ़िक लिपि—इसे पवित्राक्षर गूढ़ाक्षर, चित्राक्षर या बीजाक्षर आदि भी कहते हैं। विश्व की प्राचीन लिपियों में हीरोग्लाइफ़िक लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका यह नाम यूनानियों का रक्खा हुआ है, जिसका मूल अर्थ 'पवित्र खुदे अक्षर' है। प्राचीन काल में मन्दिर की दीवारों पर लेख खोदने में इस लिपि का प्रयोग होता था। इसी आधार पर इसका यह नाम रक्खा गया। विद्वानों का अनुमान है कि ४,००० ई० पू० में यह लिपि प्रयोग में आ गई थी। आरम्भ में यह चित्रलिपि थी, बाद में भावलिपि हुई और फिर यह अक्षरात्मक हो गई। संभवतः इसी लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। पर

ये व्यंजन ठीक आज के अर्थ में नहीं थे। एक ध्वनि के लिए कई चिह्न थे और साथ ही एक चिह्न का कई ध्वनियों के लिये भी प्रयोग हो सकता था। सामान्यतः यह दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी, पर कभी-कभी इसके उलटे या एकरूपता के लिये दोनों ओर से भी। हीरोग्लाइफ़िक लिपि के घसीट लिखे जाने वाले रूप का नाम 'हारीटिक' है, जो पहले ऊपर से नीचे को और बाद में दायें से बायें को लिखी जाने लगी थी। इसका बाद में एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। यह दायें से बायें को लिखी जाती थी। हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रयोग ४००० ई० पू० से छठी ई० तक, हीराटिक का २००० ई० पू० से ३री सदी तक, तथा डेमोटिक का ७वीं सदी ई० पू० से ५वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियां—क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियां मिलती हैं। इन लिपियों की उत्पत्ति सम्भवतः वहीं हुई थी, पर इन पर मिस्र की हीरोग्लाइफ़िक लिपि का प्रभाव पड़ा था। कुछ लोगों के अनुसार इन लिपियों की उत्पत्ति में भी हीरोग्लाइफ़िक लिपि का हाथ रहा है। चित्रात्मक लिपि में लगभग १३५ चित्र मिलते हैं। यह बाद में कुछ अंशों में भावमूलक लिपि तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक लिपि हो गई थी। इसको कभी तो बायें से दायें और कभी-कभी क्रमशः दोनों ओर से लिखा जाता था। इसका प्राचीनतम प्रयोग ३,००० ई० पू० में होता था। १७०० ई० पू० के लगभग इसकी समाप्ति हो गई। रेखात्मक लिपि का प्रयोग १७०० ई० पू० के बाद प्रारम्भ हुआ। इसमें लगभग ९० चिह्न थे। इसे बाएँ से दाएँ लिखते थे। यह कुछ अंशों में चित्रात्मक तथा भावात्मक और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। १२०० ई० पू० से पूर्व ही यह समाप्त हो गई।

हिट्टाइट लिपि—हिट्टाइट लिपि को 'हिट्टाइट हीरोग्लाइफ़िक' लिपि भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग १५०० ई० पू० का मिलता है। ६०० ई० पू० के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी, पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसमें कुल ४१९ चिह्न मिलते हैं। इसे कभी दाएँ से बाएँ और कभी इसके उलटे लिखते थे। इसकी उत्पत्ति कुछ लोग मिस्री हीरोग्लाइफ़िक से तथा कुछ लोग क्रीट की चित्रात्मक लिपि से मानते हैं, पर डॉ० डिरिंजर ने इन मतों का विरोध करते हुए इसे वहीं की उत्पत्ति माना है। उनके अनुसार केवल यह सम्भव है कि आविष्कारकों ने इसके आविष्कार की प्रेरणा मिस्र से ली हो।

चीनी लिपि—चीनी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चीन में तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार एक आठ प्रकार की त्रिपंक्तीय रेखाओं से यह निकली है। इन विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहाँ के धार्मिक कर्मकांडों में होता था। एक चीनी कहावत के अनुसार लगभग ३२०० ई० पू० फू-हे नाम के एक व्यक्ति ने चीन में लेखन का आविष्कार किया। कुछ धार्मिक प्रवृत्तिवालों के अनुसार लिपि के देवता 'त्सूशेन' ने चीनी लिपि बनाई। एक मत से त्सं-की नामक एक बहुत ही प्रतिभा-

संपन्न व्यक्ति चीन में २७०० ई० पू० के लगभग पैदा हुआ। उसने एक दिन एक कछुआ देखा और उसी के स्वरूप को देखकर उसने उसके भाव के लिए उसका रेखाचित्र बनाया। बाद में उसने इस दिशा में और सोच-समझ कर सभी आसपास के जीवों और निर्जीव वस्तुओं का रेखाचित्र बनाया और उसी का विकसित रूप चीनी लिपि हुआ। चीनी भाषा के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वकोश 'फा युअन् चु लिन्' (निर्माण-काल सन् ६६८ ई०) में भी 'त्सं-की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक माना गया है, और यह भी लिखा है कि उसने पक्षी के पैरों आदि को देखकर यह लिपि बनाई। त्सं-की का होना और कछुआ या पक्षी के पैर को देखकर लिपि बनाना ठीक हो या नहीं, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आसपास के इसी प्रकार के जन्तुओं तथा पदार्थों को देखकर लोगों ने उनके चित्र बनाये और उसी से मूल चीनी लिपि (जो चित्रात्मक लिपि थी) का जन्म हुआ। यों विद्वानों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में तरह-तरह के अनुमान लगाये हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं—(१) पीरू की ग्रन्थ-लिपि की भाँति की किसी लिपि से यह निकली है। (२) सुमेरी लोगों की क्यूनीफ़ार्म लिपि से इसका जन्म हुआ है। (३) चीन में हाथ की मुद्रा से भाव-प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसका जन्म हुआ है। (४) सजावट या स्वामित्व-चिह्न रूप में बनने वाले चिह्नों से इसका जन्म है। (५) मिस्र की हीरोग्लाइफ़ी से इसकी उत्पत्ति हुई है। (६) मेसोपोटामिया, ईरान या सिंधु-घाटी की चित्रलिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनाई है।

इनमें छठा कुछ ठीक लगता है, क्योंकि इन देशों से चीन का सम्बन्ध था और और इन देशों में चीन से पहले चित्रलिपि बनी। अतः असम्भव नहीं है कि इन लोगों की लिपि से प्रेरणा लेकर चीनियों ने अपने यहाँ के जीवों और निर्जीवों के आकार-अनुकरण के आधार पर अपनी लिपि बनाई हो।

चीनी लिपि में भी अन्य अक्षर या वर्णविहीन लिपियों की भाँति अक्षर या वर्ण नहीं हैं। वहाँ अलग-अलग शब्दों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं। अपने मूल रूप में अधिकतर चिह्न चित्र रहे होंगे, पर धीरे-धीरे परिवर्तित होते-होते अधिकतर चित्र रूढ़ि-रूप में चिह्न-मात्र रह गये। उदाहरणार्थ पहले सूर्य के लिये

बनता था, जो सूर्य का चित्र है। पर बाद में परिवर्तित होते-होते यह 日 हो गया। पहाड़ पहले यों

बनता था, जिसे पहाड़ का चित्र कहा जा सकता है पर बाद में यह घिसते-घिसते या विकसित होते-होते 山 हो गया।

चीनी लिपि में कुल लगभग ५०,००० चिह्न हैं। उन्हें मोटे रूप से चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—

(क) चित्रात्मक चिह्न—ये चिह्न चीनी लिपि के आरम्भिक काल के हैं। यों अधिकतर चिह्न, जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, चित्र से विकसित होकर अब चिह्न मात्र रह गये हैं। पर इन चिह्नों में भी इनकी चित्रात्मकता देखी जा सकती है ईश्वर, कुआँ, मछली, सूर्य, चाँद तथा पेड़ आदि के चिह्न इसी श्रेणी के हैं।

(ख) संयुक्त चित्रात्मक चिह्न—ये चिह्न पहले की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के हैं। जब बहुत-से चित्रात्मक चिह्न बन गये तो दो या अधिक चित्रात्मक चिह्नों के संयोग से कुछ चीजों के लिए चिह्न बने। जैसे दो पेड़ के चिह्न पास-पास बना कर 'जंगल' का चिह्न बना। या एक रेखा खींच कर उसके ऊपर सूर्य बनाकर 'सवेरा' का चिह्न बनाया गया, जिसमें रेखा क्षितिज का प्रतीक है। इसी प्रकार मुँह से निकलती हवा दिखाकर 'शब्द', तथा मुँह से कोई निकलती चीज दिखलाकर 'जीभ' के चिह्न बनाये गये। चित्रात्मक चिह्नों की भाँति ही, आज ये संयुक्त चित्रात्मक चिह्न भी, चित्र न रहकर चिह्न-मात्र रह गये हैं।

(ग) भाव-चिह्न—स्थूल वस्तुओं और जीवों के लिए चित्र बन जाने पर सूक्ष्म भावों को चीनी लिपि में व्यक्त करने का प्रश्न आया। कहना न होगा कि भावों के चित्र खींचना सरल न होने के कारण यह समस्या बड़ी विकट थी पर चीनी लोगों ने बड़ी चतुराई से काम लिया और सूक्ष्म भावों को भी चित्रों द्वारा प्रकट कर लिया। कुछ मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। सूर्य और चाँद के चिह्न एक स्थान पर बनाकर 'चमक' या 'प्रकाश' का भाव प्रकट किया गया। इसी प्रकार स्त्री+लड़का =अच्छा, भला। खेत+पुरुष=शक्ति। पेड़ के बीच सूरज=पूरब। दो हाथ= मित्रता। दो स्त्रियाँ=झगड़ा। आँख में निकलते आँसू दुःख। दरवाजा+कान= सुनना। मुँह+पक्षी=गाना, तथा छत के नीचे स्त्री=शांति इत्यादि। कहना न होगा कि ये सभी भावचित्र बहुत ही उचित और सफल हैं और चीनियों के सूक्ष्म चिन्तन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

(घ) ध्वन्यर्थ संयुक्त चिह्न—चीनी भाषा में एक शब्द के प्रायः बहुत-से अर्थ होते हैं। कहते समय वे अर्थभेद के लिए विभिन्न सुरों में शब्दों का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने में तो सुर के कारण अर्थ स्पष्ट हो जाता है, पर कोई लिखित चीज पढ़ने में इस अनेकार्थता के कारण पहले बहुत कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग आरम्भ किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक चीनी शब्द 'फँग' है, जिसका अर्थ 'बुनना' तथा 'कमरा' होता है। अब यदि यों कहीं 'फँग' लिख दें तो पढ़नेवाला यह न जान पायेगा कि यह 'फँग' बुनने का अर्थ रखता है या 'कमरे' का और यह न जान पाने से उसको ठीक सुर में या ठीक ध्वनि से उच्चरित न कर पायेगा। पर यदि 'फँग' के साथ कोई और शब्द लिख दें, या किसी और भाव को प्रकट कर देने वाला चिह्न बना दें, जिससे अर्थ तथा ध्वनि स्पष्ट हो जाय तो यह

कठिनाई न रहेगी। चीन में यही किया गया है। जहाँ 'फँग' का बुनना अर्थ अपेक्षित होता है, उसके साथ 'सिल्क' का भाव प्रकट करने वाला चिह्न बना देते हैं, और जहाँ कमरा अर्थ अपेक्षित होता है 'दरवाजे' के भाव के चिह्न बना देते हैं, और चूँकि दरवाजे और कमरे तथा सिल्क और बुनने में सम्बन्ध है, अतः उन शब्दों के संकेत से पढ़ने वाला ठीक अर्थ समझ कर उनका उच्चारण ठीक सुर में करता है। इसीलिए इस दोहरे प्रयोग को 'ध्वन्यर्थ चिह्न' कहते हैं। कहना न होगा कि इसके कारण चीनी लिपि को शुद्ध पढ़ना सम्भव है, नहीं तो बड़ी कठिनाई होती।

दोहरे प्रयोगों में केवल उपर्युक्त उदाहरण में दिये गये सम्बन्धित शब्द ही नहीं रक्खे जाते। इसके लिए तीन, अन्य तरीके भी अपनाये जाते हैं। एक के अनुसार कभी-कभी उसी चिह्न को दो बार रख देते है। जैसे 'को' के कई अर्थ हैं, जिनमें एक 'बड़ा भाई' भी है। 'बड़े भाई' के भाव तथा सुर की ओर संकेत करने के लिए 'को' का एक चिह्न न बनाकर दो चिह्न बना देते हैं। इस प्रकार एक ही चिह्न का दोहरा प्रयोग भी सुर और अर्थ स्पष्ट करने का काम दे जाता है। यह परम्परागत रूप से रूढ़ि-सा हो गया है कि दो 'को' साथ होने पर बड़े भाई का ही अर्थ लिया जाय, अतः इससे लोग यही भाव समझ जाते हैं। पहले उदाहरण की भाँति इसमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

दूसरे के अनुसार सुर तथा अर्थ की स्पष्टता के लिए दो पर्याय साथ रखते हैं। हिन्दी से इनका उदाहरण लेकर स्पष्टता से इसे समझाया जा सकता है। 'हरि' का अर्थ विष्णु, साँप, पानी तथा मेढक आदि होता है। इसी प्रकार 'क्षीर' का अर्थ 'दूध' तथा 'पानी' आदि होता है। अब यदि 'हरि क्षीर' लिखें तो अर्थ में गड़बड़ी न होगी। दोनों शब्दों के अनेक अर्थों में 'पानी' उभयनिष्ठ है, अतएव स्वभावतः उसी की ओर लोगों का ध्यान जायेगा। चीनी में इस प्रकार के समानार्थी शब्द-चिह्नों को एक स्थान पर रखकर भी उपर्युक्त कठिनाई का निवारण किया जाता है। कुंग-पा (डरना), शु-मु (पेड़), या काओ-सु (कहना) आदि ऐसे ही चिह्न हैं।

अन्तिम प्रकार के प्रयोग में जो दो शब्द-चिह्न साथ-साथ रखे जाते हैं, उनमें आपस में कोई इस प्रकार का स्पष्ट करने वाला सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ हु (=चीता) के लिए लाव-हु (वृद्ध चीता) लिखते हैं। इस लाव (वृद्ध) का चीते से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर प्रयोग की रूढ़ि के कारण इन दोनों चिह्नों को एक स्थान पर देखकर लोग समझ जाते हैं कि यह 'चीते' के लिए आया है।

चीनी लिपि में अलग-अलग अक्षर या वर्ण न होने के कारण विदेशी नामों के लिखने में कठिनाई होती है। इसके लिए ये लोग अधिकतर नामों का चीनी भाषा में अनुवाद करके लिखते हैं। उदाहरणार्थ उन्हें 'केशवचंद्र' लिखना होगा तो वे 'ईश्वर' और 'चाँद' के भाव प्रकट करने वाले चिह्न एक स्थान पर रख देंगे। बुद्ध भगवान के पिता 'शुद्धोदन' का चीनी लिपि में लिखा जो रूप मिलता है, उसका मूल अर्थ 'शुद्ध चावल' (शुद्ध+ओदन) है। पर, इसके अतिरिक्त यदि किसी नाम से ध्वनि में मिलता-

जुलता उन्हें अपनी भाषा में कोई शब्द मिल जाता है तो उसी के चिह्न से काम चलाते हैं। बुद्ध की स्त्री 'यशोधरा' का नाम उन्होंने इसी पद्धति से लिखा है। सुना है इधर ध्वनि की इस पद्धति पर ही वे लोग अधिकतर विदेशी नाम तथा शब्द लिखने लगे हैं और अनुवाद करके लिखने का तरीका छोड़ा जा रहा है।

चीनी लिपि दो दृष्टियों से बहुत कठिन है : एक तो यह कि इसके चिह्न बहुत टेढ़-मेढ़े हैं। रेखाओं के भीतर रेखाएँ और बिन्दु आदि इतने घिच-पिच होते हैं कि इन्हें बनाना तथा याद रखना दोनों ही बहुत कठिन है। दूसरे, इसमें लिपि-चिह्न बहुत अधिक (४०५० हजार) हैं। इस प्रकार के (कठिन) इतने अधिक चिह्नों को याद रखना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नहीं। चिह्न के कठिन होने की कठिनाई को पार करने के लिए चीनी लोगों ने अपने ५०० बहुप्रयुक्त चिह्नों को सरल बनाया है और अब उसका प्रयोग ही वहाँ विशेष रूप से चल रहा है। चिह्नों को सरल बनाने के लिए स्ट्रोक या रेखाओं की संख्या घटा दी गई है। उदाहरण के लिए, पहले यदि किसी चिह्न में १६ छोटी-छोटी रेखाएँ थीं तो उसके स्थान पर अब ६ या ७ से लोग काम चला लेते हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह सुनने में आया था कि चीनी रोमन लिपि को अपनाने जा रहे हैं। तीस अक्षरों (२४ व्यंजन + ६ स्वर) को प्रस्तावित रोमन में ल्ह, च्ज, ङ के लिए नये चिह्न बनाए गए थे तथा अनावश्यक अक्षर छोड़ दिए जाने वाले थे।

馬 (मा) = घोड़ा
媽 (माँ) = माँ
麻 (मा) = एक कपड़ा
罵 (मा) = गाली देना

[चीनी लिपि का उदाहरण। कोष्ठक में उच्चारण है]

अरबी लिपि—अरबी लिपि विश्व का एक बहुप्रचलित लिपियों में है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएँ हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत-सी लिपियों को जन्म दिया, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेबातेन आदि प्रधान हैं। नेबातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहाँ हुआ, इस सम्बन्ध में

निश्चय के साथ कहने के लिए प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख ५१२ ई० का है। अतएव इस आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके पूर्व अरबी लिपि का जन्म हो चुका था। अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कुफ़ा तथा दमस्कस आदि नगरों में हुआ और इनमें अधिकांश की अपनी-अपनी शैली तथा विशेषताएँ विकसित हो गईं, जिनमें प्रमुख दो थीं—(क) कुफ़ी (मेसोपोटामिया के कुफ़ा नगर में विकसित); (ख) नस्खी (मक्का-मदीना में विकसित)। इनमें 'कुफ़ी' का विकास ७वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में तरह-तरह से आती थी। 'नस्खी' का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों तथा त्वरालेखन आदि में होता था। अरबी लिपि दाएँ को लिखी जाती है। इसमें कुल २८ अक्षर हैं।

इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया जिनमें तुर्की (अब तुर्कों ने अरबी लिपि छोड़कर 'रोमन' को अपना लिया है), फारस, अफ़गानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान हैं। इन विभिन्न देशों में जाकर इस लिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आ गये हैं। उदाहरणार्थ, फ़ारसी में 'रे' और 'जे' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखने लगे तथा उनकी भाषा में अरबी की २८ ध्वनियों के अतिरिक्त प, च, ज़्ह तथा ग, ये चार ध्वनियाँ और थीं, अत: इनके लिए ४ नये चिह्न

پ چ ژ گ

अरबी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिए गये, और इस प्रकार फ़ारसी अक्षरों की संख्या ३२ हो गई। भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए भी अरबी लिपि अपनाई गई। यहाँ, फ़ारस वालों ने जो वृद्धि की थी उसे तो स्वीकार किया ही गया, उसके अतिरिक्त

ٹ ڈ ڑ ھ ں ء ے

सात चिह्न और बढ़ा लिए गये। इस प्रकार उर्दू आदि भाषाओं की लिपि में अक्षरों की संख्या ३७ हो गई। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दृष्टि से केवल तीन ही (टे, डाल, ड़े)

नवीन हैं। अन्य चार में ( ) अक्षर ( ) का, (') अक्षर ( ) का ( ) अक्षर (,) का दूसरा रूप मात्र है, और ( ) अक्षर ( ) तथा ( ) का योग मात्र

है। इसीलिए ये महत्वपूर्ण नहीं हैं। भारत में 'रे', 'जे' आदि की बनावट अरबी की भाँति न होकर प्रायः फ़ारसी की भाँति है। 'काफ़' और 'गाफ़' अक्षर अरबी या फ़ारसी की भाँति के न होकर

हैं। तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषाभाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लिये। अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियाँ पुरानी सामी की भाँति व्यंजन-प्रधान हैं। हैं। स्वरों के लिए 'जेर', 'ज़बर' 'पेश' तथ 'मद' आदि का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है, पर वह उतना वैज्ञानिक नहीं है, जितना नागरी या रोमन आदि में है। इस दृष्टि से अरबी तथा उससे निकली अन्य सभी लिपियों में सुधार अपेक्षित है।

भारतीय लिपियाँ

सिन्धु घाटी लिपि—भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधु घाटी (पंजाब के मांटगोमरी जिले के हड़प्पा तथा सिंधु के लरकाना जिले के मोहन-जोदड़ों में प्राप्त सीलों पर) में मिले हैं। हेरास, लैंग्डन, स्मिथ, गैड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिल सकी है।

सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति—सिंधु घाटी की लिपि की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं : (क) द्रविड़ उत्पत्ति—इस मत के समर्थकों में एच० हेरास तथा जान मार्शल प्रधान हैं। इन लोगों के अनुसार सिंधु घाटी की सभ्यता द्रविड़ों की थी, और वे लोग इस लिपि के जनक तथा विकास करने वाले थे। इस मत के समर्थकों के तर्क पुरातत्त्व वेत्ताओं को इतने सशक्त नहीं लगे हैं कि उन्हें स्वीकार किया जा सके। (ख) सुमेरी उत्पत्ति—एल० ए० वैडेल के तथा डॉ० प्राणनाथ के अनुसार सिंधु घाटी की लिपि सुमेरी लिपि से निकली है। वैडेल के अनुसार सिंधु की घाटी में ४००० ई० पू० सुमेरी लोग थे, और उन्हीं की भाषा तथा लिपि वहाँ प्रचलित थी। वस्तुतः प्राचीन भारत, मध्य एशिया, क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियाँ चित्रलिपि थीं और व्यापारिक सम्बन्धों के कारण उनमें कुछ साम्य भी है, किन्तु आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है कि इस प्रकार की लिपि के मूल निर्माता कौन थे, और किन लोगों ने मूल निर्माताओं से इसे सीखा ? (ग) आर्य या असुर उत्पत्ति—कुछ लोगों के अनुसार सिंधु की घाटी में आर्य या असुर (जो जाति तथा संस्कृति में आर्यों में सम्बद्ध थे) रहते थे और इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया। इन लोगों के अनुसार प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिस्री लिपियों से, इस लिपि का साम्य इस कारण

है कि इन तीनों ही देशों में लिपि भारत से ही गई है। (दीक्षित—प्रीहिस्टारिक सिविलाइजेशन आॅव् इंडस वैली, पृ० ४६)।

ये तीनों ही मत अपने समर्थकों को ही मान्य हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि आधार-सूत्र की कमी के कारण इस लिपि की उत्पत्ति या उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिंधु घाटी की लिपि में कुछ चिह्न तो चित्र जैसे हैं—

और कुछ अक्षर जैसे—
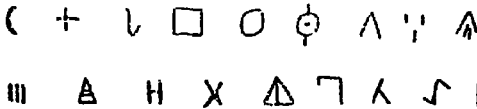
विद्वानों का कहना है कि यह लिपि यदि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिह्नों से काम नहीं चलता, जितने वहाँ मिले हैं। इसी आधार पर लोगों ने अनुमान लगाया है कि यह भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधि-स्थल पर है। अर्थात् कुछ चिह्न चित्रमूलक हैं, और कुछ अक्षर-से हैं। डिरिंजर ने इसी आधार पर इसे 'ट्रांजिशनल स्क्रिप्ट' (भाव-ध्वनिमूलक लिपि) कहा है।

सिंधु घाटी की लिपि में कुल कितने चिह्न हैं, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वर्गीकरण में कुछ लोग तो कई चिह्नों को एक चिह्न का ही लेखन के कारण परिवर्तित रूप मानते हैं, और कुछ लोग उन्हें अलग चिह्न मानते हैं। इस सम्बन्ध में तीन विद्वानों के मत प्रधान हैं। हन्टर के अनुसार चिह्नों की संख्या २५३, लैंग्डन के अनुसार २२८ तथा गैड और स्मिथ के अनुसार ३६६ है।

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता—सिंधु घाटी की लिपि के प्रकाश में आने के पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ। मैक्समूलर ने पाणिनि का काल ४थी शताब्दी ई० पू० माना है और उनके अनुसार, पाणिनि के अष्टाध्यायी में लिपि के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार ४थी शताब्दी ई० पू० के बाद भारत में लिपि का प्रचार हुआ। बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने ४थी या ५वीं शताब्दी ई० पू० में फोनेशियन लोगों से लिखने की कला सीखी। डॉ० बूलर ने उपर्युक्त दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए अपना मत सामने रखा। इनके अनुसार ५०० ई० पू० या इसके भी पहले भारतीयों ने सेमिटिक लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया।

इधर भारत में लिपि या लेखन-ज्ञान की प्राचीनता (सिन्धु घाटी की लिपि को छोड़कर) के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। यहाँ इनमें से कुछ प्रधान का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भारत में लिपि या लेखन-ज्ञान की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री अधोलिखित वर्गों में रखी जा सकती है—(१) ग्रन्थों के प्रमाण : क. विदेशी; ख. देशी, (२) शिलालेख आदि, (३) अन्य।

१. ग्रन्थों के प्रमाण [क] विदेशी—बहुत से विदेशी ग्रन्थों में भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रमाण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं : (अ) एरिअन ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई० पू०) द्वारा लिखित भारत के वृत्तांत को संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहाँ लिखने के लिए कागज बनाया जाता था। (आ) मेगस्थनीज (३०५ ई० पू०) ने अपने 'इंडिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थरों के गड़े होने का उल्लेख किया है। उसने जन्म-कुण्डली का भी उल्लेख किया है। (इ) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपि-ज्ञान के अत्यन्त प्राचीन काल में होने का उल्लेख किया है। (ई) प्रसिद्ध चीनी विश्वकोश 'फ़ावान-शु-लिन' में ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है। उसके अनुसार इस लिपि का आविष्कार ब्रह्मा ने किया था।

[ख] देशी : (अ) बौद्ध ग्रन्थ मुत्तंत (सूत्रांत) में, जो राइस डेविड्ज के अनुसार ४५० ई० पू० के आसपास का, पर डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार छठी सदी ई० पू० से भी पूर्व का है, 'अक्खरिका' लेख का उल्लेख है, जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे। (आ) विनय-पिटक (ओल्डनवर्ग के अनुसार ४०० ई० पू० के भी पूर्व) में लेखन-कला की प्रशंसा की गई है। (इ) जातकों में अनेक नियमों को सुवर्ण पत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋणपर्ण लिखे जाने के रूप में लेखन-कला के उल्लेख हैं। ओझा जी के अनुसार जातकों में ई० पू० छठी सदी या उससे भी पूर्व के समाज का चित्र है। (ई) रामायण, महाभारत (४०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (४थी सदी ई० पू०) तथा अष्टाध्यायी (गोल्ड्स्टकर के अनुसार बुद्ध के पूर्व, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ४४०-४३० ई० पू०) आदि में भी लिपि-विषयक पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पीछे मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि में लेखन के विषय में प्रमाण न मिलने का उल्लेख किया जा चुका है, पर वह नितान्त भ्रामक है। अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि, लिपिकर, लिबिकर, ग्रन्थ तथा यवनानी आदि के उल्लेख लिपि-ज्ञान की निश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाणिनीकालीन भारतवर्ष' (पृ० ३०६—७) पठनीय है।

लिपि तथा लेखन-विषयक कुछ प्रमाण और भी पहले के मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में 'हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति अक्षरं तत्समं' में स्पष्ट रूप से अक्षर का उल्लेख है। तैत्तिरीय में 'वर्ण: स्वर: मात्रा बलम्' में वर्ण, स्वर तथा मात्रा का मिलना भी उसी ओर संकेत करता है। इसी प्रकार यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय

संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी प्रमाण हैं। पर, इतना ही नहीं, प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में भी इस प्रकार के संकेत हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी आर्यों को लेखन-ज्ञान था। 'सहस्रम् में ददती अष्टकर्ण्यः' से स्पष्ट है कि गायों के कान पर ८ की संख्या लिखी जाती थी।

२. शिलालेख—भारत में लेखन-कला प्राचीन होने पर भी पुराने लेख आदि नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि लोग पत्ते, कागज़ तथा भोजपत्र आदि पर लिखा करते थे और ये वस्तुएँ सड़-गल गईं। पुराने लेख केवल पत्थरों पर कुछ मिले हैं। प्राचीनतम शिलालेख अजमेर जिले के 'बडली' गाँव तथा नेपाल के 'पिपरावा' में मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये लेख लगभग ४८३ ई० पू० के हैं। आगे चलकर ४थी सदी ई० पू० के कुछ लेख तथा ३री के० सदी ई० खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेख मिलते हैं।

३. अन्य—कुछ पुराने सिक्कों तथा ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्तियों (जिनके हाथ में पुस्तक बनी है) से भी भारत में लेखन-कला के प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

भारत की प्राचीन लिपियाँ

सिंधु घाटी की लिपि को थोड़ी देर के लिये छोड़ दिया जाय तो भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दो लिपियाँ (ब्राह्मी, खरोष्ठी) मिलती हैं। किंतु पुस्तकों में और अधिक लिपियों के नाम मिलते हैं। उदाहरण के लिए, जैनों के पन्नवणासूत्र में १८ लिपियों के नाम हैं : १. बंभी, २. जवणालि, ३. दोसापुरिया, ४. खरोट्ठी, ५. पुक्खरसारिया, ६. भोगवइया, ७. पहाराइया, ८. उपअन्तरिक्खिया, ९. अक्खरपिट्ठिया, १०. तेवणइया, ११. गि (णि) राहइया, १२. अंकलिवि, १३. गणितलिवि, १४. गंध-व्वलिवि, १५. आदंसलिवि, १६. माहेसरी, १७. दामिल्ली, १८. पोलिंदी। इसी प्रकार बौद्धों की संस्कृत पुस्तक 'ललितविस्तर' में ६४ लिपियों के नाम दिए गए हैं : १. ब्राह्मी, २. खरोष्ठी, ३. पुष्करसारी, ४. अंगलिपि, ५. वंगलिपि, ६. मगधलिपि, ७. मांगल्य-लिपि, ८. मनुष्यलिपि, ९. अंगुलीयलिपि, १०. शकारिलिपि, ११. ब्रह्मवल्लीलिपि, १२. द्राविड़िलिपि, १३. कनारिलिपि, १४. दक्षिणिलिपि, १५. उग्रलिपि, १६. संख्यालिपि १७. अनुलोमलिपि, १८. ऊर्ध्वधनुलिपि, १९. दरदलिपि, २०. खास्यलिपि, २१. चीन-लिपि, २२. हूणलिपि, २३. मध्याक्षरविस्तरलिपि, २४. पुष्पलिपि, २५. देवलिपि, २६. नागलिपि, २७. यक्षलिपि, २८ गन्धर्वलिपि, २९. किन्नरलिपि, ३०. महोरगलिपि, ३१. असुरलिपि, ३२. गरुडलिपि, ३३. मृगचक्रलिपि, ३४. चक्रलिपि, ३५. वायुमरु-लिपि, ३६. भौमदेवलिपि, ३७. अंतरिक्षदेवलिपि, ३८. उत्तरकुरुद्वीपलिपि, ३९. अपर-गौड़ादिलिपि, ४०. पूर्वविदेहलिपि, ४१. उत्क्षेपलिपि, ४२. निक्षेपलिपि, ४३. विक्षेप-लिपि, ४४. प्रक्षेपलिपि, ४५. सागरलिपि, ४६. वज्रलिपि, ४७. लेखप्रतिलेखलिपि, ४८. अनद्रुतलिपि, ४९. शास्त्रावर्तलिपि, ५०. गणावर्तलिपि, ५१. उत्क्षेपावर्तलिपि,

५२. विक्षेपावर्तलिपि, ५३. पादलिखितलिपि, ५४. द्विरुत्तरपदसन्धिलिखितलिपि, ५५. दशोत्तरपदसन्धिलिखितलिपि, ५६. अध्याहारिणी लिपि, ५७. सर्वरुत्संग्रहणीलिपि, ५८. विद्यानुलोमलिपि, ५९. विमिश्रितलिपि, ६०. ऋषितपस्तप्तलिपि, ६१. धरणी-प्रेक्षणीलिपि, ६२. सर्वौषधनिष्यन्दलिपि, ६३. सर्वसारसंग्रहणीलिपि, ६४. सर्वभूतरुद्-ग्रहणीलिपि। इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो का ही आज पता है। यों, इनमें के अधिकांश नाम कल्पित ज्ञात होते हैं।

खरोष्ठी—खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत-से विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्त सामग्री मोटे रूप से ४थी सदी ई० पू० से ३री सदी ई० तक मिलती है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रोपालि या आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित नाम 'खरोष्ठी' ही है, जो चीनी साहित्य में ७वीं सदी तक मिलता है। नाम पड़ने के कारण—'खरोष्ठी' नाम पड़ने के सम्बन्ध में निम्नांकित ९ मत मिलते हैं—(१) चीनी विश्वकोश 'फ़ा-वान-शु-लिन' के अनुसार किसी 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति ने इसे बनाया था। (२) यह 'खरोष्ठ' नामक सीमाप्रान्त से अर्धसभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इस नाम की अधि-कारिणी बनी। (३) इस लिपि का केन्द्र कभी मध्य एशिया का एक प्रान्त 'काशगर' था, और 'खरोष्ठ' काशगर का ही संस्कृत रूप है। (४) सिलवाँ लेवी के अनुसार खरोष्ठ काशगर के चीनी नाम 'किया-लु-शु-ता-ले' का विकसित रूप है, और काशगर ही इस लिपि का केन्द्र रहा है। (५) गदहे की खाल पर लिखी जाने से इसे ईरानी में 'खर-पोश्त' कहते थे, और उसी का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठ' है। (६) डॉ० प्रजिलुस्की के अनुसार, यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से 'खरपृष्ठी' और फिर खरोष्ठी कहलाई। (७) कोई आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' था, और उसी का भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर बना संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' है। (८) डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार, इस लिपि के अधिक अक्षर गदहे के ओठ की तरह बेढंगे हैं, अतएव यह नाम पड़ा है। (९) डॉ० चटर्जी के अनुसार हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ 'लिखावट' है। उसी से लिया जाने के कारण इसका नाम 'खरोशेथ' पड़ा, जिसका संस्कृत रूप खरोष्ठ और उससे बना शब्द खरोष्ठी है। इन नवों में कोई भी बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, अतएव इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों अधिक विद्वान् इस लिपि की उत्पत्ति, जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे, आर्मेइक लिपि से मानते हैं, अतएव आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसके नाम को संबद्ध माना जा सकता है। उत्पत्ति—खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सभी लोग एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो मत हैं: (१) यह आर्मेइक लिपि से निकली है। (२) यह शुद्ध भारतीय लिपि है।

प्रथम मत का सम्बन्ध प्रसिद्ध लिपिवेत्ता जी० बूलर से है। इनका कहना है कि—(१) खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि की भाँति दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है।

(२) खरोष्ठी लिपि के ११ अक्षर बनावट की दृष्टि से आर्मेइक लिपि के ११ अक्षरों से बहुत मिलते-जुलते हैं, साथ की इन ११ अक्षरों की ध्वनि भी दोनों लिपियों में एक है। यथा—

खरोष्ठी		आर्मेइक	थ		गाथ्
क	...	काफ्	र	...	रेश्
ज	...	ज़ाइन्	व	...	वाव्
द	...	दालेथ्	प	...	शिन्
न	...	नून	म	...	त्साद्वे
व	...	बैथ्	ह	..	हे

(३) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है। (४) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भारत से आर्मेइक लोगों का सम्बन्ध था। इन चारों बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि आर्मेइक से ही संबद्ध है। भारतीय लिपियों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी इस मत से सहमत हैं। आधुनिक युग के लिपिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् और अध्येता डिरिंजर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

दूसरा मत खरोष्ठी को शुद्ध भारतीय मानने का है। डॉ० राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलोग्राफी' में इस मत का प्रतिपादन किया है। यह मत केवल तर्क पर आधारित है। पूर्व मत की भाँति ठोस आधारों की इसमें कमी है, अतः जब तक इस मत के पक्ष में कुछ ठोस सामग्री उपलब्ध न हो जाय, पूर्व मत की तुलना में इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती है।

खरोष्ठी लिपि उर्दू लिपि की भाँति पहले दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी, पर बाद में सम्भवतः ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण यह भी नागरी आदि लिपियों की भाँति बाएँ से दाएँ को लिखी जाने लगी। डिरिंजर तथा अन्य विद्वानों का अनुमान है कि इस दशा-परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ और बातों में भी ब्राह्मी लिपि ने इसे प्रभावित किया। इसमें मूलतः स्वरों का अभाव था। वृत्त, रेखा या इसी प्रकार के अन्य चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है। इसी प्रकार भ, ध तथा घ आदि के चिह्न आर्मेइक में नहीं थे। यह भी ब्राह्मी के ही आधार पर इसमें सम्मिलित किये गये।

खरोष्ठी लिपि को बहुत वैज्ञानिक या पूर्ण लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक कामचलाऊ लिपि थी, और आज की उर्दू लिपि की भाँति इसे भी लोगों को प्रायः अनुमान के आधार पर पढ़ना पड़ता रहा होगा। मात्राओं के प्रयोग की इसमें कमी है, विशेषतः दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ, ऐ और औ) का तो इसमें सर्वथा अभाव है। संयुक्त व्यंजन भी इसमें प्रायः नहीं के बराबर या बहुत थोड़े हैं। इसकी वर्णमाला में अक्षरों की मूल संख्या ३७ है।

खरोष्ठी लिपि के अक्षर यहाँ दिये जा रहे हैं—

अ —	ण —
इ —	त —
उ —	थ —
ए —	द —
ओ —	ध —
अं —	न —
क —	प —
ख —	फ —
ग —	ब —
घ —	भ —
च —	म —
छ —	य —
ज —	र —
झ —	ल —
ञ —	व —
ट —	श —
ठ —	ष —
ड —	स —
ढ —	ह —

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी अक्षर देकर उनके सामने उसी ध्वनि के खरोष्ठी अक्षर दिये गये हैं।]

ब्राह्मी—ब्राह्मी प्राचीन काल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने वस्ती जिले में प्राप्त पिपरावा के स्तूप में तथा अजमेर जिले के बड़ली (या बर्ली) गाँव के शिलालेख में मिले हैं। इनका समय ओझा जी ने ५वीं सदी ई० पू० माना है। उस समय से लेकर ३५० ई० तक इस लिपि का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मी नाम का आधार—इस लिपि के 'ब्राह्मी' नाम पड़ने के सम्बन्ध में कई मत हैं—(१) इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीन काल से होता आ रहा है कि लोगों के इसके निर्माता के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है और धार्मिक भावना से विश्व की अन्य चीजों की भाँति 'ब्रह्मा' को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं, और इसी आधार पर इसे ब्राह्मी कहा गया है। (२) चीनी विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन' (६६८ ई०) में

इसके निर्माता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गये हैं, अतएव उनके नाम के आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पड़ना सम्भव है। (३) डॉ॰ राजबली पांडेय के अनुसार भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (=वेद अर्थात् ज्ञान) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम पड़ने की सम्भावना हो सकती है। (४) कुछ लोग साक्षर समाज—ब्राह्मणों—के प्रयोग में विशेष रूप से होने के कारण भी इसके नाम से पुकारे जाने का अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः 'खरोष्ठी' की भाँति ही ब्राह्मी के विषय में भी व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमें किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यों पहला मत अन्यों की अपेक्षा अधिक तर्क-सम्मत लगता है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद होता आया है। इस विषय में व्यक्त किये गये विभिन्न मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से सम्बन्ध रखती है और दूसरे के अनुसार इसका उद्भव और विकास भारत में हुआ है। यहाँ दोनों प्रकार के मतों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

(क) ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से निकली है—इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं—(१) फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। यह मत सब से अधिक अवैज्ञानिक है। चीनी और ब्राह्मी चिह्न आपस में सभी बातों में एक दूसरे से इतने दूर हैं कि किसी एक से दूसरे को सम्बन्धित मानने की कल्पना ही हास्यास्पद है। इस मत की व्यर्थता के कारण ही प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इसका उल्लेख तक नहीं किया है। (२) डॉ॰ अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेप तथा सेनार्ट आदि ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी को उत्पन्न माना है। सेनार्ट का कहना है कि सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का संपर्क हुआ और उसी समय इन लोगों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी। पर, जैसा कि बूलर तथा डिरिंजर आदि ने लिखा है, सिकंदर के आक्रमण (३२५ ई॰ पू॰) के बहुत पहले से यहाँ लेखन का प्रचार था,[1] अतएव यूनानी लिपि से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। (३) हलवे के अनुसार ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके ८ व्यंजन ४थी सदी ई॰ पू॰ आर्मेइक लिपि से; ६ व्यंजन, दो प्राथमिक स्वर, सब मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार खरोष्ठी से; तथा ५ व्यंजन एवं तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूनानी से लिये गये हैं, और यह मिश्रण सिकन्दर के आक्रमण (३२५ ई॰ पू॰) के बाद हुआ है। कहना न होगा कि ४थी सदी ई॰ पू॰, एवं सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, अतएव यह मत भी अल्फ्रेड मूलर के मत की भाँति ही निस्सार है। (४) ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी (सेमिटिक) लिपि से मानने के पक्ष में

---

१. पीछे भारत में लेखन की प्राचीनता पर विचार किया जा चुका है।

अधिक विद्वान् हैं, किन्तु इनमें सभी दृष्टियों से पूर्णतः मतैक्य नहीं है। यहाँ कुछ प्रधान मत दिये जा रहे हैं। (अ) वेबर, कस्ट, वेनफे तथा जेनसन आदि विद्वान् सामी लिपि की फोनीशियन शाखा से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत का मुख्य आधार है कुछ ब्राह्मी और फ़ोनीशियन लिपि-चिह्नों का रूप-साम्य। इसे स्वीकार करने में दो आपत्तियाँ हैं: (१) जैसा कि डिरिंजर ने अपनी पुस्तक 'द अलफ़ाबेट' में दिखलाया है, जिस काल में इस प्रकार के प्रभाव की सम्भावना हो सकती है, भारत तथा फ़ोनेशियन लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क के कोई निश्चित और प्रौढ़ प्रमाण नहीं मिलते।[1] (२) फोनीशियन लिपि से ब्राह्मी की समानता स्पष्ट नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह समानता यदि स्पष्ट होती तो इस सम्बन्ध में इस विषय के चोटी के विद्वानों में इतना मतभेद न होता। इस प्रसंग में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत ही समीचीन ज्ञात होता है कि दोनों में केवल एक अक्षर (ब्राह्मी 'ज' और फ़ोनीशियन 'गिमेल') का ही साम्य है। कहना अनुचित न होगा कि एक अक्षर के साम्य के आधार पर इतने बड़े निर्णय को आधारित करना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। (आ) टेलर तथा सेथ आदि के अनुसार, ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डॉ० आर० एम० साहा ने इसे अरबी से सम्बन्धित माना है। पर सत्य यह है कि इन लिपियों में समानता नही के बराबर है और ऐसी स्थिति में केवल इस आधार पर, कि अरब से भारत का पुराना सम्पर्क था,[2] यह मान लेना न्यायसंगत नहीं लगता कि ब्राह्मी अरबी या दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डीके के अनुसार, असीरिया के कीलाक्षरों (क्यूनीफ़ार्म) से किसी दक्षिणी सामलिपि की उत्पत्ति हुई थी और फिर उससे ब्राह्मी की। इस सम्बन्ध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत पूर्णतः न्यायोचित लगता है कि रूप की विभिन्नता के कारण कीलाक्षरों से न तो किसी सामी लिपि के निकलने की

---

१. डॉ० राजबली पाण्डेय का कहना है कि ऋग्वेद में (६-५१, १४; ६१, १) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फ़ोनोशी लोग मूलतः भारतीय थे और ब्राह्मी तथा फ़ोनोशी लिपि में जो थोड़ा-बहुत साम्य है, वह इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी फोनिशियन से निकली है, अपितु इसलिए है कि ब्राह्मी को ही वे अपने साथ ले गये और उसी का विकसित रूप फोनोशी है। पांडेय जी की इस स्थापना के सम्बन्ध में विद्वानों का क्या विचार है, मुझे ज्ञात नहीं है। पर, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि फ़ोनोशी तथा ब्राह्मी लिपि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों लिपियों में कुल एक ही अक्षर में समता मिलती है; और केवल एक अक्षर की समता के आधार पर दो लिपियों को संबद्ध या एक दूसरे से निकली मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

२. और यह सम्बन्ध भी इतना अधिक पुराना नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि ब्राह्मी जो अशोक के समय में इतनी विकसित है, अपने मूल रूप में इससे निकली है।

सम्भावना है और न तो सामी से ब्राह्मी की। (इ) कुछ लोग उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के समर्थकों में प्रधान नाम बूलर का लिया जाता है। यों वेबर, वेनर्फ, पाट, वेस्टरगार्ड, ह्विटने तथा विलियम जोन्स आदि अन्य लोगों के भी इनसे बहुत भिन्न मत नहीं हैं। बूलर का कहना है कि हिन्दुओं ने उत्तरी सामी लिपि के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने अक्षरों को बनाया। परिवर्तन से उसका आशय यह है कि कहीं लकीर को कुछ इधर-उधर हटा दिया, जैसे 'अलेफ' से 'अ' करने में—
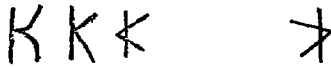
जहाँ लकीर न थी वहाँ नई लकीर बना दी, जैसे जाइन से 'ज' बनाने में। कहीं-कहीं लकीरें मिटा दीं जैसे 'हेथ' को 'घ' करने में—

और इसी प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर ऊपर घुमा दी, कहीं तिरछी लकीर सीधी कर दी, कहीं आड़ी लकीर खड़ी कर दी, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बना दिया और कहीं कोण को अर्द्धवृत्त या कहीं लकीर को काटकर छोटी या बड़ी कर दी तो कहीं और कुछ। आशय यह कि जहाँ जो परिवर्तन चाहा, कर लिया।

यहाँ दो बातें कहनी हैं : (१) इतना करने पर भी बूलर को ७ अक्षरों [दालेथ (द) से 'घ' हेथ (ह) से 'ध', तेथ से 'घ', सामेख (स) से 'प', फे (फ़) से 'प', त्सादे से 'च' तथा क़ाफ (क़) से 'ख'] की उत्पत्ति ऐसे अक्षरों से माननी पड़ी, जो उच्चारण में भिन्न हैं। (२) बूलर ने जिस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर 'अलेफ' से 'अ' या इसी प्रकार अन्य अक्षरों की उत्पत्ति सिद्ध की है, यदि कोई चाहे तो संसार की किसी भी लिपि को किसी अन्य लिपि से निकली सिद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए, 'क' अक्षर से यदि अँग्रेजी K को निकला सिद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि बनाने वाले ने क के बाईं ओर के गोले हटाकर ऊपर की शिरोरेखा तिरछी कर दी और K बन गया या, इसी प्रकार ब्राह्मी के अ—

का मुँह फेर कर सीधी रेखा को जरा हटा दिया और उत्तरी सामी का अलेफ़—

बन गया। इसी तरह जैसा कि ओझा जी ने लिखा है अंग्रेजी A से ब्राह्मी अ—

A A H H H K

या D से ब्राह्मी द

का निकलना सिद्ध किया जा सकता है।

बूलर ने इस द्रविण-प्राणायाम के आधार पर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मी के २२ अक्षर उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनीशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा ५ असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिये गये।

इधर डॉ० डेविड डिरिंजर ने भी अपनी 'द अलफाबेट' नामक पुस्तक में बूलर का समर्थन करते हुए ब्राह्मी को उत्तर सामी लिपि से उत्पन्न माना है। उत्तरी सामी से ब्राह्मी के उत्पन्न होने के लिए प्रधान तर्क ये दिये जाते हैं—(१) दोनों लिपियों में साम्य है। (२) भारत में सिंधु घाटी में जो प्राचीन लिपि मिली है, वह चित्रात्मक या भाव-ध्वनिमूलक लिपि है, और उससे वर्णात्मक या अक्षरात्मक लिपि नहीं निकल सकती। (३) ब्राह्मी प्राचीन काल में सामी की भाँति ही दायें से बायें को लिखी जाती थी। (४) भारत में ५वीं सदी ई० पू० के पहले की लिपि के नमूने नहीं मिलते। नीचे एक-एक करके इन तर्कों पर विचार किया जा रहा है—

(१) दोनों लिपियों में प्रत्यक्ष साम्य बहुत ही कम है। ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि किस प्रकार तरह-तरह के परिवर्तनों तथा द्रविण-प्राणायाम के आधार पर बूलर ने दोनों लिपियों के अक्षरों में साम्य स्थापित किया है। साथ ही हम लोग यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार यदि साम्य सिद्ध करने पर कोई तुल ही जाय तो संसार की किसी भी दो लिपि में थोड़ा-बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आरोपित साम्य दोनों में सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है। (२) जहाँ तक दूसरे तर्क का प्रश्न है, दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि चित्रात्मक लिपि या चित्र-भावमूलक लिपि या भाव-ध्वनिमूलक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास ही नहीं होता। प्राचीन काल में संसार की सभी लिपियाँ चित्रात्मक थीं और उनसे ही वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ।[1] दूसरे यह

१. सामी का 'अलेफ़्' उदाहरणार्थ लें। शब्द का मूल अर्थ 'बैल' है और अलेफ़् के लिए मूल चिह्न बैल का सर था, जिस पर दो सींग थे। उसी चित्रलिपि से शुद्ध वर्णात्मक लिपि रोमन के A का विकास हुआ है। इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। लिपि के विकास-क्रम की चित्रात्मक, भाव-ध्वनिमूलक, अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक लिपियाँ सीढ़ियाँ हैं।

कि सिंधु घाटी की लिपि पूर्णतया चित्रलिपि नहीं है। पीछे हम देख चुके हैं कि उसमें कुछ तो चित्र हैं, पर साथ ही कुछ ऐसे भी चिह्न है जिन्हें चित्र न कहकर लिपि-चिह्न कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। जैसा कि डिरिंजर ने लिखा है, यह भाव और ध्वनि के बीच में थी, अर्थात् भाव-ध्वनिमूलक लिपि थी। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु घाटी की लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास संभव नहीं है। संभव है कल कोई टूटी कड़ी मिल जाय और सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध हो जाय। यों यदि ध्यान से सिंधु घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी को देखा जाय तो दोनों के कई चिह्नों में पर्याप्त साम्य है, और वह साम्य वूलर द्वारा उत्तरी सामी और ब्राह्मी में आरोपित साम्य से कहीं अधिक युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। (३) तीसरे तर्क में उत्तरी सामी से ब्राह्मी को निकली मानने वालों ने कहा है कि सामी दायें से बायें को लिखी जाती है, और पुरानी ब्राह्मी के भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें वह बायें से दायें न लिखी जाकर दायें से बायें को लिखी गई है। इसका आशय यह है कि सामी से निकली होने के कारण ब्राह्मी मूलतः दायें से बायें को लिखी जाती थी।

ब्राह्मी के उदाहरण जो दायें से बायें लिखे मिले हैं, निम्नांकित हैं—

(क) अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर।[1]

(ख) मध्यप्रदेश के एरण स्थान में प्राप्त सिक्के का लेख।

(ग) मद्रास के येरगुड़ी स्थान में प्राप्त अशोक का लघु शिलालेख।

वूलर के सामने इनमें केवल प्रथम दो थे। तीसरा बाद में मिला है।

'क' के सम्बन्ध में यह कहना है कि इसके उदाहरण बहुत थोड़े हैं जब कि इसके समकालीन लेखों में बायें से दायें लिखने के उदाहरण इससे कई गुने अधिक हैं। जैसा कि ओझा जी का अनुमान है, यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है; या संभव है देशभेद के कारण इस प्रकार का विकास हो गया हो, जैसे छठीं सदी के यशोधर्मन के लेख में 'उ' नागरी के 'उ' सा मिलता है, पर उसी सदी के गारुलक सिंहादित्य के दानपत्र में ठीक उसके उलटा। बंगला का 'च' भी पहले बिल्कुल उल्टा लिखा जाता था। अतएव कुछ उल्टे अक्षरों के आधार पर लिपि को उल्टी लिखी जाने वाली (दायें से बायें) मानना उचित नहीं कहा जा सकता। 'ख' का सम्बन्ध सिक्के से है। किसी सिक्के पर अक्षरों का उल्टे खुद जाना आश्चर्य नहीं। ठप्पे की गड़बड़ी के कारण प्रायः ऐसा हो जाता है। सातवाहन (आन्ध्र) वंश के राजा शातकर्णि के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर ऐसी अशुद्धि मिलती है। इसी प्रकार पार्थिअन अब्दगसिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी का लेख भी उलट गया है। और भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। इसी कारण प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० हुल्श तथा फ्लीट

१. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथा जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

ने बूलर के इस तर्क को अर्थहीन माना है। 'ग के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि इसमें एक पंक्ति बायें से दायें को लिखी मिलती है तो दूसरी दायें से बाएँ और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तन होता गया है। इससे ऐसा लगता है कि लिखने वाला नये प्रयोग या खिलवाड़ की दृष्टि से यह कर रहा था। यदि वह दायें से बायें लिखने के किसी निश्चित सिद्धान्त का पालन करता तो ऐसा न होता। पूरा लेख एक प्रकार का होता।'[1] इन सारी बातों को देखने से स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन थोड़े से अपवादस्वरूप प्राप्त और अशुद्धियों या नये प्रयोगों पर आश्रित उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ब्राह्मी दायें से बायें को लिखी जाती थी। (४) चौथा तर्क भी महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक उत्तरी भारत के सभी संभाव्य स्थलों की पूरी खुदाई नहीं हो जाती, यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पुराने शिलालेख नहीं हैं। साथ ही साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो ही चुका है कि इससे बहुत पूर्व[2] से भारत में लिखने का प्रचार था। यह बहुत संभव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की बाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री जो भोजपत्र आदि पर रही हो सड़-गल गई हो। इस प्रकार उत्तरी सामी से ब्राह्मी का सम्बन्ध संभव नहीं है।

ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से सम्बद्ध सिद्ध करने वालों में प्रधान के मतों का विवेचन यहाँ किया गया, और इससे स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जिसके आधार पर ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से निकली सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार कुछ और लोगों ने कुछ और लिपियों से ब्राह्मी को सम्बद्ध माना है। संक्षेप में इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी चीनी, आर्मेइक, फ़ोनीशियन, उत्तरी सेमिटिक, दक्षिणी सेमिटिक, मिस्री, अरबी, हिमिअरेटिक क्यूनीफ़ार्म, हड़मांट या ओर्मज की किसी अज्ञात लिपि या सेबिअन आदि से मिलती-जुलती तथा सम्बद्ध है।

इस प्रसंग में सीधी बात यह कही जा सकती है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले उच्च श्रेणी के विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि से इन विभिन्न प्रकार की लिपियों से समता देखी है और सम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इन विभिन्न लिपियों में किसी एक से भी स्पष्ट और यथार्थ साम्य होता तो इस विषय में इतने मतभेद न होते। इन विद्वानों में इतना अधिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि यथार्थतः इनमें विद्वानों को दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी ऊपर गिनाई गई लिपियों में किसी से भी नहीं निकली है।

---

१. सन् १८६५ में डान मार्टिनो डी० जिल्वा विक्रमसिंघे ने एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में (पृ० ८८५) लंका में प्राप्त कुने ब्राह्मी के शिलालेखों में दो अक्षरों के उल्टे होने का उल्लेख अपने एक पत्र में किया था, पर उसका चित्र कहीं प्रकाश में नहीं आया, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं है।

२. बुद्ध-युग से भी पूर्व।

(ख) ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई है—इस वर्ग में कई मत हैं, जिन पर यहाँ अलग विचार किया जा रहा है।

(१) द्रविड़ीय उत्पत्ति—एडवर्ड थामस तथा कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कारक द्रविड़ थे। डॉ० राजवली पांडेय ने इस मत को काटते हुए लिखा है कि द्रविड़ों का मूल स्थान उत्तर भारत न होकर दक्षिण भारत है, पर ब्राह्मी लिपि के पुराने सभी शिलालेख उत्तर भारत में मिले हैं। यदि इसके मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ होते तो इसकी सामग्री दक्षिण भारत में भी अवश्य मिलती। साथ ही उनका यह भी कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा तमिल है और उसमें विभिन्न वर्गों के केवल प्रथम एवं पंचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं, पर ब्राह्मी में पाँचों वर्ण मिलते हैं। यदि ब्राह्मी मूलतः उनकी लिपि होती तो इसमें भी केवल प्रथम और पंचम वर्ण ही मिलते। किसी ठोस आधार के अभाव में कहना तो सचमुच ही सम्भव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ ही थे, पर पांडेय जी के तर्क भी बहुत युक्तिसंगत नहीं दृष्टिगत होते। यह सम्भव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो, पर यह भी बहुत-से विद्वान् मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और मोहन-जोदड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़-भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में सम्भवतः आर्यों ने अपने आने पर उन्हें मार भगाया और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली। पांडेय जी यदि सिंधु-सभ्यता से द्रविड़ों का सम्बन्ध नहीं मानते, या ब्राहुई भाषा के उस क्षेत्र में मिलने के लिए कोई अन्य कारण मानते हैं, तो उनकी ओर यदि यहाँ संकेत कर देते तो पाठकों को इस प्रकार सोचने का अवसर न मिलता। पांडेय जी की दूसरी आपत्ति तमिल में ब्राह्मी से कम ध्वनि होने के सम्बन्ध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उनमें परिवर्द्धन कर लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत सम्भव है और यह भी असम्भव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय-समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्त्वतः असम्भव न होकर सम्भव तथा स्वाभाविक है।

(२) सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्ति—श्री आर० शामशास्त्री ने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जिल्द ३५ में एक लेख देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में लिखा था। इनके अनुसार देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी, 'जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र (जो 'देवनगर' कहलाता था) के मध्य में लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ।'[1] ओझा जी के शब्दों में शास्त्रीजी

१. प्राचीन लिपिमाला, पृ० ३०।

का यह लेख, गवेषणा के साथ लिखा गया तथा युक्तियुक्त है, पर जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिये गये हैं, वे वैदिक साहित्य से पहले के या काफ़ी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(३) वैदिक चित्रलिपि से उत्पत्ति—श्री जगमोहन वर्मा ने सरस्वती (१९१३-१५) में एक लेखमाला में यह दिखाने का यत्न किया था कि वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी निकली है। पर, इस लेख के चित्र पूर्णतया कल्पित हैं, और उनके लिए प्राचीन प्रमाणों का अभाव है, अतएव इनका मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सिंधु घाटी की लिपि	ब्राह्मी लिपि	नागरी लिपि
(	(	ट
+	+	क
ʅ	ᒪ	ह
□	□	व
○	○	ठ
⏀	⊙	थ
∧	∧	ग
⩚	⩚	श
।	।	र
⁖	⁖	इ

(४) आर्य उत्पत्ति—डाउसन, कनिंघम, लासन, थामस तथा डॉसन आदि विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ही भारत की किसी पुरानी चित्रलिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया। बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्रलिपि मिलती ही नहीं तो चित्रलिपि से ब्राह्मी के विकसित होने की कल्पना निराधार है। पर संयोग से इधर सिंध की घाटी में चित्रलिपि मिल गई है, अतएव बूलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है, और सम्भव है कि यह लिपि आर्यों की अपनी चीज हो। यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि भारतीयों[1] ने ही इस लिपि को जन्म दिया तथा इसका विकास किया, पर यह कार्य

१. डॉ० डिरिंजर इस मत से सहमत नहीं हैं कि भारतीयों ने ब्राह्मी को जन्म दिया, पर इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं उनमें बहुत सार नहीं दिखलाई पड़ता।

आर्यों, द्रविड़ों या किसी अन्य जाति के लोगों द्वारा हुआ, यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। ओझा जी का यह कथन—'जितने प्रमाण मिलते हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उनके आरम्भिक विकास का पता नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का

ब्राह्मी लिपि

अ—	त—
आ—	थ—
इ—	द—
उ—	ध—
ए—	न—
ओ—	प—
अं—	फ—
क—	बं—
ख—	भ—
ग—	म—
घ—	य—
च—	र—
छ—	ल—
ज—	व—
झ—	श—
ञ—	ष—
ट—	स—
ठ—	ह—
ड—	
ढ—	
ण—	

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी लिपि के अक्षर दिये गये हैं।]

आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में वह किन-किन परिवर्तनों के बाद पहुँची।...निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहाँ तक मिलते हैं, वहाँ तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में

आती हुई मिलती है, और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।' बहुत ही ठीक है, और जब तक और सामग्री प्रकाश में न आए, इसके आगे कुछ कहना उचित नहीं है। यों इधर सिंधु घाटी की लिपि प्रकाश में आई है और उसके कुछ चिह्न ब्राह्मी से मिलते भी हैं (ऊपर उदाहरण दिये गये हैं)। अतएव इस आधार पर इतना और जोड़ा जा सकता है कि यह भी असम्भव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिन्धु घाटी की लिपि से हुआ हो। पर, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना तभी उचित होगा जब सिंधु घाटी के चिह्नों की ध्वनि का भी पता चल जाय। डॉ० राजबली पाण्डेय का निश्चित मत है कि सिंधु घाटी की लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है, पर तथ्य यह है कि बिना ध्वनि* का विचार केवल स्वरूप में थोड़ा-बहुत साम्य देखकर दोनों लिपियों को संबद्ध मान लेना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मी लिपि का विकास—ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने ४थी सदी ई० पू० के मिले हैं। आगे चलकर इसके उत्तरी भारत और दक्षिण भारत के रूपों में अन्तर होने लगा। उत्तरी भारत के रूप पुराने रूप के समीप थे, पर दक्षिणी रूप धीरे-धीरे विकसित होकर भिन्न हो गये। यह लिपि भारत के बाहर भी गई। वहाँ इसके रूपों में धीरे-धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि में ही पुरानी खोतानी तथा तोखारी आदि भाषाओं के लेख मिलते हैं। ५वीं सदी ई० पू० से लेकर ३५० ई० तक की भारत में प्राप्त ब्राह्मी लिपि थोड़े-बहुत भेद तथा विभिन्नताओं के होते हुए भी ब्राह्मी नाम से ही पुकारी जाती है। ३५० ई० के बाद इसकी स्पष्ट रूप से दो शैलियाँ हो जाती हैं—(१) उत्तरी शैली—इसका प्रचार प्रमुखतः उत्तरी भारत में था। (२) दक्षिणी शैली—इसका प्रचार प्रमुखतः दक्षिणी भारत में था। इन्हीं दोनों शैलियों से और आगे चलकर भारत की विभिन्न लिपियों का विकास हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

उत्तरी भारत की लिपियाँ

गुप्त लिपि—गुप्त राजाओं के समय (चौथी तथा पाँचवीं सदी) में इसका प्रचार होने से इसे 'गुप्त लिपि' नाम आधुनिक विद्वानों ने दिया है।

कुटिल लिपि—इस लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ। स्वरों की मात्राओं की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा गया है। नागरी तथा शारदा लिपियाँ इसी से निकली हैं।

प्राचीन नागरी लिपि—इसका प्रचार उत्तर भारत में ६वीं सदी के अन्तिम

---

*सम्भव है जिन दो चिह्नों को स्वरूप-साम्य की दृष्टि से हम एक समझते हों, मूलतः दो अलग-अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।

चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है, पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर ८वीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर 'नंदनागरी' है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी तथा महाराष्ट्री आदि लिपियाँ इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हुई हैं और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बँगला आदि लिपियों का विकास हुआ है। इसका प्रचार १६वीं सदी तक मिलता है। नागरी[1] लिपि को नागरी या देवनागरी[2] लिपि भी कहते हैं। इसके नाम के सम्बन्ध में निम्नांकित मत हैं—(१) गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी है। (२) प्रमुखतः नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया है। (३) कुछ लोगों के अनुसार 'ललित-विस्तर' में उल्लिखित नाग लिपि ही नागरी है, पर यथार्थतः इन दोनों में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। (४) तांत्रिक चिह्न देवनगर से साम्य के कारण इसे देवनागरी और फिर नागरी कहा गया है। (५) आर० शाम शास्त्री के अनुसार 'देवनागर' से उत्पन्न होने के कारण ही यह देवनागरी और फिर नागरी कही गई है।(६) 'देवनगर' अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह 'देवनागरी' कहलाई। ये मत कोरे अनुमान पर आधारित हैं, अतएव किसी को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यों दूसरा मत कुछ अधिक मान्य है।

शारदा लिपि—कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा कही जाती हैं, और इसी आधार पर कश्मीर को 'शारदा-मंडल' तथा वहाँ की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं। कुटिल लिपि से ही १०वी सदी में इसका विकास हुआ और नागरी के क्षेत्र के उत्तर-पश्चिम में (कश्मीर, सिंध तथा पंजाब आदि) इसका प्रचार रहा। आधुनिक काल की शारदा, टाकरी, लंडा, गुरमुखी, डोग्री, चमेआली तथा कोछी आदि लिपियाँ इसी से निकली हैं।

आधुनिक लिपियाँ ये हैं: (१) टाकरी—ग्रियर्सन इसे शारदा और लंडा की बहिन मानते हैं, पर बूलर इसे शारदा की पुत्री मानते हैं। ओझा जी ने इसे शारदा का घसीट रूप कहा है। इसका नाम टक्की भी है। टक्क लोगों की लिपि होने से इसका नाम टक्की है। महाजनी की तरह इसमें भी स्वरों की कमी है। इधर इसके बहुत-से रूप विकसित हो गये हैं। 'टाकरी' शब्द टाँक (एक जाति) या ठक्कुर (ठाकुरों की लिपि) से व्युत्पन्न माना जाता है। (२) सिरमौरी—यह टाकरी या टक्की लिपि की

---

१. नागरी लिपि की उत्पत्ति, विकास, सुधार के संबंध में विस्तृत सामग्री के लिये देखिये प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'हिन्दी भाषा' का 'लिपि' से संबद्ध अध्याय।

२. देवभाषा संस्कृत के लिये यह लिपि प्रयुक्त हुई है, अतः 'नागरी' को 'देवनागरी' कहा गया है।

ही एक उपशाखा है। सिरमौरी बोली इसमें लिखी जाती है। इस पर देवनागरी का प्रभाव पड़ा है। (३) डोग्री—यह पंजाब की डोग्री भाषा की लिपि है। इसकी भी उत्पत्ति शारदा से हुई है। (४) चमेआली—चंबा प्रदेश की चमेआली भाषा की यह लिपि है। देवनागरी की भाँति यह पूर्ण लिपि है। यह भी शारदा से निकली है। (५) मंडेआली—मंडा तथा सुकेत राज्यों की मंडेआली भाषा की यह लिपि है और शारदा से निकली है। (६) जौनसारी—सिरमौरी से मिलती-जुलती 'जौनसारी' लिपि पहाड़ी प्रदेश जौनसार की जौनसारी बोली की लिपि है। यह भी शारदा से ही विकसित हुई है। (७) कोछी—शारदा से उत्पन्न इस लिपि का प्रयोग शिमला से पश्चिम पहाड़ों में बोली जाने वाली कोछी के लिये होता है। यह लिपि भी अवैज्ञानिक है। (८) कुल्लुई—यह भी शारदा से उत्पन्न है। कुल्लू घाटी की बोली कुल्लुई की यह लिपि है। (९) कश्टवारी—कश्मीर के दक्षिण-पूर्व में कश्टवार की घाटी की बोली कश्टवारी इसी लिपि में लिखी जाती है। यह भी शारदा से उत्पन्न है। ग्रियर्सन ने इसे टक्की और शारदा के बीच की कड़ी माना है। (१०) लंडा—पंजाब तथा सिन्ध के महाजनों की यह लिपि शारदा से निकली है। सिन्धी तथा लहँदा भाषा इसमें लिखी जाती हैं। यह भी महाजनी लिपि की भाँति अपूर्ण है। इसके कई स्थानीय भेद विकसित हो गए हैं। 'लंडा' शब्द का सम्बन्ध 'लहँदा' से है। (११) मुल्तानी—लहँदा की प्रमुख बोली 'मुल्तानी' की यह लिपि 'लंडा' लिपि से ही विकसित है। (१२) वानिको—वानिको या वनिया, 'लंडा' का सिन्ध में प्रचलित नाम है। अब केवल वहाँ के हिन्दू ही इसका प्रयोग करते हैं। मुसलमानों ने फ़ारसी लिपि को कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ अपना लिया है। (१३) गुरुमुखी—लंडा लिपि को सुधार कर सिक्ख के दूसरे गुरु अंगद ने यह लिपि १६वीं सदी में बनाई। सिक्खों में इस लिपि का विशेष प्रचार है। (१४) नागरी—प्राचीन नागरी या नागर लिपि से ही इसका विकास हुआ है। यह वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि है। यों भाषाविज्ञान की ध्वनि-विषयक सूक्ष्मताओं की दृष्टि से इसे बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसीलिये सुभाष बाबू तथा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि बहुत-से विद्वान् इसे छोड़कर रोमन लिपि को अपना लेने के पक्ष में रहे हैं। पूरे हिन्दी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्धन-परिवर्तन के साथ यह प्रयुक्त होती है। नेपाली, संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिये भी यही लिपि प्रयुक्त होती है।

नागरी लिपि में आदर्श लिपि की दृष्टि से कई कमियाँ हैं, जिन्हें क्रम से यहाँ लिया जा सकता है : (१) वैज्ञानिक लिपि में एक ध्वनि के लिये एक ही चिह्न होना चाहिये। नागरी में एक ध्वनि के लिये एकाधिक चिह्न हैं : र, ̍, ़, ,; ल-ळ, अ-अ, ण-ण, आदि। इन में र, ल, अ, ण को लेकर शेष को छोड़ देने पर यह कमी दूर हो सकती है। (२) आदर्श या वैज्ञानिक लिपि में उन सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग अक्षर होना चाहिये जो उस भाषा में हों, जिसे लिखने में लिपि प्रयुक्त होती हो। इस

दृष्टि से नागरी की समस्या थोड़ी अलग है, क्योंकि यह किसी एक भाषा के लिये नहीं, अपितु संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, नेपाली तथा सिंधी आठ भाषाओं के लिये प्रयुक्त हो रही है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सभी भाषाओं के ध्वनिग्रामों का निर्धारण करके, जितने अक्षर न हों, उन्हें जोड़ लेना चाहिये। (३) वैज्ञानिक लिपि में अक्षर उसी क्रम से लिखे जाने चाहिये, जिस क्रम से वे बोले जायँ। नागरी लिपि में यों तो उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ की मात्राएँ भी इस दृष्टि से अवैज्ञानिक हैं; क्योंकि वे दाईं ओर न दी जाकर ऊपर-नीचे दी जाती हैं, किन्तु यदि उन्हें छोड़ भी दें तो कम से कम 'इ' की मात्रा अवश्य ही परिवर्तित होनी चाहिए, क्योंकि यह अपने स्थान से कभी एक, कभी दो, कभी तीन स्थान पहले (कि, प्रिय, चन्द्रिका) लिखी जाती है। उसके लिये कई सुझाव आए हैं (देखिए हिन्दी भाषा—भो० ना० तिवारी, पृ० ३२६-३२७), उनमें किसी को भी माना जा सकता है। 'र' (क्रम, कर्म, ट्रेन) के संबंध में भी ऐसी गड़बड़ी है। इसके लिए 'र' को ले लेना तथा शेष (ँ,्र,्र) को छोड़ देना उचित होगा। (४) वैज्ञानिक लिपि में अक्षरों में समानता के कारण भ्रम की गुंजाइश नहीं होनी चाहिये। हिन्दी में खाना-र वा ना, अराडा-अ रा डा अर्थात् ख-र व, ए तथा ण में है। यह भ्रम ख के नीचे के भागों को मिला देने तथा 'ण' को अपना लेने एवं 'ण' को छोड़ देने से दूर हो सकता है। म-भ, घ-ध में भी कभी-कभी भ्रम हो जाता है। इससे बचाने के लिए भ तथा ध को घुंडीदार (ध, भ) किया जा सकता है। (५) नागरी में संयुक्त व्यंजन स्वतंत्र अक्षर जैसे हैं (श्र, ज्ञ, क्ष, त्र आदि) इन्हें छोड़ 'श्र' आदि रूपों में संयुक्त व्यंजन लिखे जा सकते हैं। (६) वैज्ञानिक लिपि में लेखन की एकरूपता भी आवश्यक है। हिन्दी में शिरोरेखा, बिन्दी (क़, ग़, ख़ आदि) तथा अनुस्वार (पम्प-पंप) के संबंध में एकरूपता नहीं है। इस संबंध में एक पद्धति (क़, ख़, ग़, ज़, फ़, शिरोरेखा का न होना तथा अनुस्वार) को स्वीकार कर लेना चाहिये। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'सुधार तथा विकास' पर कुछ विस्तृत सामग्री के लिये 'हिन्दी भाषा' देखिये)।

ट — ट

ठ — ठ ठ

ड — ड ड

ढ — ढ

ण — ण

शा — शा

त — त

थ — थ

द — द

ध — ध

न — न

प — प प

फ — फ

ब — ब ब

स्वर

अ —

अ —

इ —

उ —

ए —

अंक

१ —

२ —

३ —

४ —

५ —

६ —

७ —

८ —

९ —

नागरी लिपि अपने आरम्भ से अब तक एक रूप में नहीं है। उसमें पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। इस दृष्टि से ४-५ बातें उल्लेख्य हैं—(१) धीरे-धीरे कठिनता से सरलता की ओर आई है, और आगे भी इसी ओर जा रही है। (२) लिखने में प्रायः अब शिरोरेखा का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। लगता है कि धीरे-धीरे लेखन में शिरोरेखा का प्रयोग बन्द हो जायगा। (३) विराम-चिह्नों का पर्याप्त प्रयोग होने लगा है। संगम (juncture) की दृष्टि से अब उन्हें भी लिपि का एक अंग-सा माना जाना चाहिए। (४) पंचम अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग बढ़ता जाता रहा है। (५) ड़, ढ़, ज़, फ़, ग़, ख़, कॉं, आदि कई नये चिह्न भी आवश्यकतानुकूल बना लिये गये हैं।

(१) गुजराती—यह लिपि भी पुरानी नागरी लिपि से ही निकली है और हिन्दी के लिए प्रयुक्त नागरी की बहिन है। गुजरात में देवनागरी तथा सराफ़ी (बनियई

या बोडिया भी इनके नाम हैं) भी प्रयोग में आती है। सराफ़ी लिपि महाजनों की भाँति बनियों द्वारा प्रयुक्त होती है और बड़ी ही अपूर्ण है। (१६) महाजनी—हिन्दी क्षेत्र (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्यप्रदेश आदि) में बहीखाता में इसी लिपि का प्रयोग होता है। इसके कुछ ही अक्षर नागरी से भिन्न हैं। इसमें मात्रा नहीं दी जाती, अतः पढ़ने में बड़ी दुरूह है। (१७) मोड़ी—यह महाराष्ट्र की पुरानी लिपि है। लोगों का कहना है कि बालाजी आबाजी ने १७वीं सदी में इसे बनाया, पर यथार्थतः यह और पहले की लिपि है। यह भी पुरानी नागरी से ही निकली है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों के रूप तोड़े-मरोड़े गये हैं, इसी से इसका नाम मोड़ी है। (१८) कैथी—पुरानी नागरी लिपि के पूर्वी रूप से उत्पन्न यह लिपि, कायस्थों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण 'कैथी' कहलाई। इसका प्रमुख क्षेत्र बिहार है। इसके कई स्थानीय रूप हैं—(क) भोजपुरी कैथी—यह भोजपुर प्रदेश में प्रयुक्त होती है और नागरी के बहुत निकट है। (ख) तिरहुती कैथी—इसका क्षेत्र तिरहुत है। (ग) मगही कैथी—मगही बोली का क्षेत्र इसका क्षेत्र है। (१९) मैथिली—इसका क्षेत्र मिथिला है। यह बँगला से बहुत मिलती-जुलती है। पुरानी नागरी के पूर्वी रूप से इसका भी विकास हुआ है। (२०) बंगाली—पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से ११वीं सदी में इसका जन्म हुआ। कुछ लोग इसका जन्म ७वीं सदी में भी मानते हैं। इसका क्षेत्र बंगाल है। (२१) असमिया—यह बँगला लिपि की बहिन है। केवल 'र' तथा 'व' के रूप इसमें भिन्न होते हैं। यह असम में प्रचलित है। (२२) उड़िया—उड़ीसा की यह लिपि भी बँगला की भाँति पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से विकसित हुई है, पर इस पर दक्षिण की तेलगू तथा तमिल लिपियों का प्रभाव पड़ा है, और इसी कारण बड़ी कठिन हो गई है। कुछ लोग इसे पुरानी बँगला लिपि से निकली मानते हैं। इसके दो रूप 'करनी' तथा 'ब्राह्मणी' नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणी ताड़पत्रों पर लिखने में प्रयुक्त होती रही है, और करनी कागज़ पर। गंजाम जिले में उड़िया का एक और रूप मिलता है जिसके अक्षर अपेक्षाकृत और भी वर्तुलाकार होते हैं। (२३) मनीपुरी—इसका क्षेत्र मनीपुर है। यह भी बँगला का ही एक विकसित रूप है। (२४) नेवारी—यह बँगला से उत्पन्न है और नेपाल की नेवारी भाषा की लिपि है। इसे नेपाली भी कहते हैं।

मध्य तथा दक्षिणी भारत की लिपियाँ

पीछे कहा जा चुका है कि ३५० ई० के बाद ब्राह्मी लिपि की स्पष्टतः उत्तरी और दक्षिणी दो शैलियाँ हो गईं। इस दक्षिण शैली से ही दक्षिणी भारत की लिपियों का विशेष सम्बन्ध है। (१) पश्चिमी—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि उत्तरी शैली के क्षेत्र की सीमा पर प्रचलित होने के कारण कुछ उत्तरी शैली से भी प्रभावित है। इसके क्षेत्र भारत के मध्य तथा दक्षिण के पश्चिमी प्रदेश (गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश तथा सतारा ज़िले, हैदराबाद, मैसूर के कुछ भाग तथा कोंकड़) हैं ५वीं सदी से ९वीं सदी तक इसका काल है। (२१) मध्यप्रदेशी—ब्राह्मी

की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि भी पश्चिमी की भाँति ही उत्तरी शैली से प्रभावित है। इसके क्षेत्र मध्य प्रदेश, बुन्देलखंड, हैदराबाद राज्य का उत्तरी भाग तथा मैसूर के कुछ भाग हैं। ५वीं सदी से ६वीं सदी तक इसका समय है। इसके अक्षरों के सिर संदूक की तरह चौखुएटे (कभी भरे और कभी खाली) होते हैं, और अक्षरों की आकृति समकोणवाली होती है। (३) तेलगू-कन्नड़—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि वर्तमान तेलुगु और कन्नड़ लिपियों की जननी होने से इस नाम से अभिहित की गई है। ५वीं सदी से १४वीं सदी तक यह दक्षिणी महाराष्ट्र, शोलापुर, बीजापुर, बेलगाँव, धारवाड़, तथा कारवाड़ जिले, हैदराबाद के दक्षिणी तथा मद्रास के उत्तरी-पूर्वी भाग एवं मैसूर के कुछ हिस्सों में प्रचलित रही। १४वीं सदी के बाद इससे तेलुगु तथा कन्नड़ लिपियाँ विकसित हुईं। (४) ग्रन्थ—वर्तमान ग्रन्थ लिपि की जननी होने से इसका नाम ग्रन्थ लिपि है। यह भी ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से निकली है। इसके क्षेत्र में तमिल लिपि का प्रचार रहा है, पर वह अपूर्ण है। अतएव संस्कृत ग्रन्थों के लिखने के लिए यह लिपि प्रयुक्त होती रही है, इसी कारण इसका नाम 'ग्रन्थ' है। ७वीं सदी से १५वीं सदी तक यह मद्रास प्रांत के कुछ भागों में प्रचलित रही है। उसके बाद वर्तमान ग्रन्थ लिपि विकसित हुई और फिर उससे मलयालम तथा तुलू लिपियाँ। (५) कलिंग—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से इसका विकास हुआ है। कलिंग के आसपास इसका ७वीं से ११वीं सदी तक प्रचार रहा। समय-समय पर इस लिपि पर मध्य प्रदेश, पश्चिमी, तेलगू-कन्नड़ी, ग्रंथ और नागरी का प्रभाव पड़ता रहा है, इसी कारण भिन्न-भिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं। (६) तमिल—वर्तमान तमिल लिपि की यह जननी है और दक्षिणी ब्राह्मी से निकली है। ग्रन्थ लिपि के क्षेत्र में तथा कुछ उसके बाहर भी इसका प्रचार रहा है। इसके अक्षर ग्रन्थ लिपि से समानता रखते हैं। पर साथ ही 'क' तथा 'र' ब्राह्मी की उत्तरी शैली से लिए गये जान पड़ते हैं। (७) वट्टलुत्तु—यह तमिल लिपि का ही विकसित घसीट रूप है। इसके अक्षर बहुधा गोलाई लिए हुए होते हैं। ७वीं सदी से १४वीं सदी तक यह मद्रास के पश्चिमी तट तथा बिल्कुल दक्षिण में प्रचलित रही है।

भारत के ब्राह्मी लिपि का विकास

ब्राह्मी लिपि भारत के बाहर भी पहुँची और वहाँ भी उसका विकास हुआ तथा अन्य लिपियाँ उससे विकसित हुईं। पीछे कहा जा चुका है कि भारत के धर्म-प्रचारकों के साथ यह मध्य एशिया पहुँची और वहाँ तोखारी, पुरानी खोतानी तथा ईरानी भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग हुआ। गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठी शताब्दी में सिद्ध-मात्रिका लिपि विकसित हुई (इसे बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा है। बोधगया का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में है) और उससे तथा कश्मीरी लिपि से तिब्बती लिपि की उत्पत्ति हुई और इसका थोड़ा-बहुत प्रचार आज भी चीन तथा जापान के बौद्धों में है। ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली ने भी भारत

के बाहर कम यात्रा नहीं की है। सिंहली, हिंदेशियाई, हिंदचीनी, मान, तलंग, आधुनिक बर्मी, कोरियाई, कंबोडियाई, स्यामी, बटक तथा जावा, बाली, सेलिबीज़ और फिलिपाइन्स की लिपियाँ इसी की पुत्रियाँ या पौत्रियाँ हैं।

यूनानी लिपि—विश्व की अन्य लिपियों की भाँति यूनानी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, पर यथार्थतः उनमें कोई तत्त्व नहीं है। पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से निकली आर्मेइक की पुत्री एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर फ़ोनीशियन लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कुछ लोगों के अनुसार यह पूर्णरूपेण फ़ोनीशी लिपि से ही निकली है। पर, जैसा कि डॉ॰ डिरिंजर ने स्पष्ट किया है (१) यूनानी लिपि के अक्षरों के स्वरूप, (२) उनका क्रम, तथा (३) उनके नाम बहुत अंशों में सामी से मेल खाते हैं, अतएव एशियानिक से होते हुए सामी से इसका निकलना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। ११वीं सदी ई॰ पू॰ के लगभग यूनानी लिपि का जन्म हो चुका था। आगे चलकर इससे एट्रस्कन और उससे लैटिन लिपि का जन्म हुआ, जिससे आधुनिक यूरोप की लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार यूनानी लिपि बहुत महत्त्वपूर्ण लिपि है। सामी लिपि मूलतः व्यंजन-प्रधान लिपि थी। उर्दू-फ़ारसी लिपि के जानकारों के लिये यह स्पष्ट है। यूनानियों ने उससे अपनी आवश्यकतानुसार व्यंजनों को लिया और कुछ नये व्यंजनों तथा स्वरों के लिये चिह्नों का निर्माण कर अपनी लिपि को अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इसमें कुल २४ लिपि-चिह्न हैं। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि—लैटिन लिपि अपने वंश की अन्य लिपियों को ले-देकर विश्व की सबसे महत्त्वपूर्ण लिपि है, और विश्व की संस्कृति और सभ्यता की यह सबसे प्रमुख संरक्षिणी है। अरबी लिपि की भाँति लैटिन लिपि की भी उत्पत्ति पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। पीछे अरबी लिपि के सम्बन्ध में कहते समय कहा जा चुका है कि उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक और फ़ोनीशी या फ़ोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। आर्मेइक से कई लिपियाँ निकलीं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा एशियानिक प्रधान हैं। एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है और यूनानी से एट्रस्कन। एट्रस्कन लिपि से अम्ब्रिअन, रूनी, ओस्कन तथा लैटिन आदि लिपियाँ निकली हैं। लैटिन लिपि इस (एट्रस्कन) लिपि से ७वीं सदी ई॰ पू॰ में विकसित हुई। एट्रस्कन में कुल २६ अक्षर थे, जिनमें से लैटिन में अपनी ध्वनियों की आवश्यकतानुसार केवल २१ अक्षर A, B, C, D, E, F, ⌶, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R (R की मूल आकृति यही थी), S, T, V, X लिये गये। मोटे रूप से मूल तत्त्व की दृष्टि से इन २१ अक्षरों में सामी, यूनानी और एट्रस्कन तीनों के ही तत्त्व हैं। आगे चलकर सिसरो के समय में जब बहुत-से यूनानी शब्द लैटिन भाषा के शब्द-समूह में आ गये तो स्वभावतः उन नयी ध्वनियों के अंकन की आवश्यकता हुई जो लैटिन में पहले से नहीं थीं। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो चिह्न Y और Z ग्रीक लिपि से लिये गये, और

इस प्रकार लैटिन अक्षरों की संख्या २३ हो गई। और आगे चलकर मध्ययुग में ध्वनि की आवश्यकता के कारण तथा लिपि को पूर्ण बनाने के लिए ३ अक्षर U, W और J और बढ़ाये गये और इस प्रकार कुल २६ अक्षर हो गये। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि[1] को यूरोप तथा यूरोप के बाहर के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटली, पुर्तगाली, रूमानियन, जर्मन, चेक, पोलिश, तुर्की[2] तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं) के लिये अपना लिये हैं। इसमें कुछ ने चिह्नों तथा ध्वनियों में कुछ परिवर्तन भी कर लिये हैं। अंग्रेजी में अक्षर यही हैं। आधुनिक यूनानी लिपि प्राचीन यूनानी से विकसित हुई है, पर उसके विकास मे लैटिन लिपि का भी प्रभाव पड़ा है। इधर चीनी भाषाभाषी भी अपनी भाषा के लिए कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ रोमन लिपि को अपनाने के पक्ष में हो रहे हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी इस पक्ष में हैं कि सभी भारतीय भाषाओं को कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यह लिपि अपना लेनी चाहिए। वैज्ञानिकता की दृष्टि से यह उचित भी है, पर राष्ट्रीयता के मोह में हमारा उधर जाना सम्भव नहीं लग रहा है।

'रोमन' लिपि जो वर्णनात्मक होने के कारण तथा अन्य दृष्टियों से भी और लिपियों की तुलना में अच्छी होने के कारण संसार की सर्वोतम लिपियों में समझी जाती है, सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं है। किसी भी भाषा की सभी ध्वनियों के लिये उसमें स्वतन्त्र चिह्न नहीं हैं। अंग्रेजी को ही लें। 'श', 'च', 'थ' तथा 'द' आदि के लिए रोमन लिपि को एक से अधिक अक्षरों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है (sh, tio, ch, th)। इतना ही नहीं i, u, o, e, a, आदि स्वरों तथा th, ch, आदि संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण निश्चित नहीं है। उदाहरणार्थ i कहीं 'अ' का काम करती है तो कहीं 'इ' का, और th कहीं 'थ' का काम करते हैं तो कहीं 'द' का। ऐसी स्थिति में इस लिपि में भी सुधार अपेक्षित हैं। डायक्रिटिकल मार्क आदि लगाकर इसे वैज्ञानिक रूप दिया जाता है, पर इन वैसाखियों की सहायता से इसे खड़ा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा हो यदि आवश्यक चिह्नों की वृद्धि कर दी जाय और सब चिह्नों की ध्वनियाँ निश्चित कर दी जायँ।

लिपि की उपयोगिता और उसकी शक्ति—लिपि का कार्य भावों का अंकन है। अपने इस कार्य में जो लिपि जितनी ही सफल होगी, उसे उतनी ही शक्ति-सम्पन्न तथा उपयोगी कहा जायगा। रज्जु लिपि तथा भावमूलक लिपि की अपनी सीमायें हैं, अतः ध्वनिमूलक लिपि की तुलना में उन्हें उपयोगी नहीं कहा जा सकता। ध्वनिमूलक लिपि में भी, जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, वर्णात्मक लिपि (alphabetical script), अक्षरात्मक लिपि (syllabic script) की तुलना में अधिक वैज्ञानिक तथा उपयोगी है, क्योंकि उसके द्वारा ध्वनियों का अंकन अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक ढंग से

१. इसी को रोमन लिपि कहते हैं।

२. तुर्की के लिये रोमन लिपि १६२८ मे अपनाई गई। यहाँ इसमें २६ के स्थान पर २६ अक्षर हो गये हैं।

किया जा सकता है। इस श्रेणी की लिपि केवल रोमन तथा उससे निकली कुछ अन्य हैं। यों जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन लिपियों में भी अभी सुधार के लिये स्थान है। आशा है भावी भाषा-तत्त्वविज्ञ इसे अधिक पूर्ण बनाएँगे, साथ ही विश्व की अन्य अपूर्ण तथा लूली लिपियों को भी पूर्ण तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करेंगे।

अन्त में, संक्षेप में उन तत्त्वों का उल्लेख कर देना अन्यथा न होगा, जिनका किसी वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि में होना आवश्यक है। वे हैं: (१) लिपि वर्णात्मक हो। (२) उसमें उच्चारण के अनुरूप ही लिपि-चिह्न रक्खे जायँ। आशय यह है कि जिस ध्वनि का किसी शब्द में जहाँ उच्चारण हो, वहीं वह रक्खी भी जाय। नागरी की भाँति नहीं, जिसमें इ की मात्रा अपने उचित स्थान से पहले रक्खी जाती है। (३) भाषा में जितने ध्वनिग्राम हों, उतने ही चिह्न भी रहें। न तो यह हो कि एक ध्वनि-ग्राम के लिए कई चिह्न हों (जैसे उर्दू में 'स' के लिए से, सीन, स्वाद या ज़ के लिए, ज़े ज़ो, ज़्वाद आदि या वर्तमानकालीन नागरी श के लिए श और ष) और न यह हो कि कई ध्वनियों के लिए एक चिह्न हो (जैसे नागरी में दन्त्योष्ठ्य 'व' तथा द्वयोष्ठ्य 'व', दोनों के लिए 'व' चिह्न है।)

आधुनिक काल में लिपियों के अध्ययन पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। इस दृष्टि से (क) लिपियों के सामान्य विकास, (ख) लिपि-विकास की विभिन्न सीढ़ियाँ, (ग) लिपियों के वर्गीकरण, (घ) वर्णमाला की उत्पत्ति और उनके नाम के आधार, (ङ) विभिन्न देशों, संस्कृतियों और भाषाओं की लिपियों की उत्पत्ति, उनके प्राचीन रूप में प्राप्त लेखों को पढ़ने, उनके विकास, उनकी कमियों तथा सुधार एवं परिवर्तन आदि पर महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहाँ इन क्षेत्रों में काम करने वालों के नाम अलग-अलग शीर्षक में दिये जा रहे हैं: (अ) लिपियों पर सामान्य रूप से गार्डिनर, काउले, लैंग्डेन तथा बरोज आदि अंग्रेज विद्वान्; जेन्सेन, ग्रिम तथा लिटमैन आदि जर्मन विद्वान; थोर्मे, मान्तेत तथा बल्लायद आदि फ्रांसीसी विद्वान्; अल्ब्राइट, टोरे, ग्रांट तथा हैरिस आदि अमरीकी विद्वान् और डिरिंजर (इटैलियन विद्वान्) आदि ने कार्य किये हैं। (आ) भारतीय लिपियाँ—बूलर, फ्लीट, लूडर्स, सेवेल, मार्शल, वैडेल, हन्टर, रास्स तथा जोन्स आदि। इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्राणनाथ, शाम शास्त्री, एच० कृष्णा शास्त्री तथा राजबली पांडेय आदि प्रमुख हैं। (इ) चीनी लिपि—एडकिन्स, चालफैंड, लाफर, ओवेन तथा हापकिन्स आदि। (ई) सामी लिपि—टिकसेन, बाल, जेसेनियस, काप, लूडल्फ, राइट, लिटमैन तथा एवाट आदि। (ऊ) हीरोग्लाइफिक लिपि—सीथ, मूलर, गार्डिनर, आकरब्लाड, सासी तथा शैम्पोलियन आदि। (ऋ) क्रीटन लिपियाँ—बरोज, इवन्स, वीकवर्गर, मेयर तथा पेंडिलबरी आदि। (ए) हित्ती लिपि—थामसन, होज्नी, होगर्थ, रिवेज़ो तथा गेल्ब आदि (ऐ) अमरीकी लिपियाँ—फोर्स्टमन, गुडमैन, मार्ले, वेयर तथा लांग आदि। (ओ) लैटिन तथा उससे निकली अन्य लिपियाँ—मूर, बिन्ने, हेनिंग, अलेन, ह्यू तथा स्ट्रोफेन्स आदि। (औ) यूनानी लिपि—रॉबर्ट्स, थामसन तथा हिक्स आदि।

भाषाविज्ञान का इतिहास | ११

भाषा का अध्ययन-विश्लेषण अत्यन्त प्राचीन काल से कई देशों में होता आया है। इन देशों में प्रमुख भारत, अरब, चीन, जापान तथा यूरोप-अमेरिका आदि हैं। इन देशों में हुए अध्ययन का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(क) भारत

अनेक शास्त्रों और विज्ञानों की भाँति भाषा-सम्बन्धी अध्ययन भी अपने देश में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। भारत की इस क्षेत्र में गति अप्रतिम रही है। इस बात को कई चोटी के भाषाशास्त्रियों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[1] इतना ही नहीं, आधुनिक भाषाविज्ञान पाणिनि के ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव के प्रकाश में विकसित हुआ है।[2] भारत में हुए अध्ययन को 'प्राचीन' और 'आधुनिक' दो वर्गों में रखा जा सकता है। 'प्राचीन अध्ययन' का काम वैदिक काल से लेकर लगभग १७वीं सदी तक है। आधुनिक अध्ययन का आरम्भ १९वीं सदी के मध्य से होता है।

(क्ष) प्राचीन अध्ययन

भारत का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है। भाषा के सम्बन्ध में चिंतन और अध्ययन के प्रारम्भिक बीज इसी में मिलने लगते हैं। ऋग्वेद के अन्त के कुछ मंडल इस दृष्टि से देखने योग्य हैं।

कृष्ण यजुर्वेद संहिता में देवों ने देवराज इन्द्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़ों में कर दीजिये। इससे स्पष्ट है कि वे इतना जानते थे कि वाक्य के खंड हो सकते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है, किन्तु व्यवहार-रूप में सर्वप्रथम कार्य ब्राह्मणों में ही मिलता है।

---

१. आधुनिक भाषाविज्ञान के एक प्रकार से पिता ब्लूमफ़ील्ड अपनी पुस्तक Language में, जो आधुनिक भाषाविज्ञान की बाइबिल मानी जाती है, लिखते हैं : This grammar (पाणिनीय अष्टाध्यायी) which dates from somewhere round 350 to 250 B. C. is one of the greatest monuments of human intelligence.........No other language to this day has been so perfectly described.

२. हार्वर्ड विश्वविद्यालय के जान बी० कैरौल लिखते हैं : Western scholars were for the first exposed to the descriptive methods of the Hindu grammarian Panini, influenced either directly or indirectly by Panini, began to produce descriptive and historical studies......

[१] ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथ—संहिताओं के बाद की रचनाओं का नाम ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसमें कहीं-कहीं शब्दों के अर्थ समझाने का प्रयास किया गया है, यद्यपि यह प्रयास बहुत कम है और खण्ड आदि करने की क्रिया बहुधा अनुमान पर आधारित और अशुद्ध है; जैसे अपाप' (अप+अप) का खन्ड 'अ+पाप' किया गया है। पर, इसका महत्त्व इसलिए है कि भाषाविज्ञान के विश्व-इतिहास में व्याकरण (खण्ड-खण्ड करना) और धात्वर्थ तक पहुँचने का यह प्रथम प्रयास है। ब्राह्मण ग्रन्थ-कारों का प्रधान लक्ष्य ध्वनि या अर्थ की ओर नहीं था, कहीं-कहीं आनुषंगिक रूप से ही इस ओर उनका ध्यान गया है। इस दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण प्रमुखतः उल्लेख्य है। आरण्यकों, विशेषतः ऐतरेय, में ब्राह्मणों की तुलना में भाषा के सम्बन्ध में अधिक सामग्री मिलती है।

[२] पदपाठ—ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद भाषा का अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। पदपाठ में वैदिक संहिताओं को पदरूप में किया गया। इसमें संधि और समासों के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग किया गया, साथ ही कुछ स्वराघात पर भी विचार हुआ। साकल्य ऋषि ऋग्वेदीय पदपाठ के, गार्ग्य सामवेदीय के तथा मध्यन्दिन यजुर्वेदीय के पदपाठकार हैं।

[३] प्रातिशाख्य—कुछ दिन बाद धीरे-धीरे जनभाषा वैदिक भाषा से दूर हट गई। फल यह हुआ कि वैदिक भाषा से लोग अपरिचित होने लगे। पर, वेद का प्रथानुसार पाठ आवश्यक था, और पाठ भी साधारण न होकर प्राचीन स्वराघातों पर आधारित होना चाहिये था। उसे परम्परा रूप में गाकर करना अनिवार्य था। अन्यथा करने पर ध्वनि-संबन्धी अशुद्धि होने पर दोष का भागी बनना पड़ता। ऐसी परि-स्थिति में इस अशुद्धि से लोगों को बचाने के लिए ध्वनि की दृष्टि से वेदों का विशिष्ट अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार धार्मिक प्रेरणा से प्रातिशाख्यों के रूप में विश्व का प्राचीनतम वैज्ञानिक ध्वनि-अध्ययन भारतवर्ष में सम्पन्न हुआ। प्रमुख प्रातिशाख्य ऋक्प्रातिशाख्य, अथर्वप्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र व्याकरण आदि हैं। उस प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखने के प्रयास में वेद की प्रतिशाखा का अध्ययन उच्चारण-सम्बन्धी विशिष्ट पक्षों की दृष्टि से किया गया। प्रतिशाखा के कारण ही इन पुस्तिकाओं का नाम 'प्रातिशाख्य' पड़ा। आज जो प्रातिशाख्य मिलते हैं, वे प्राचीनतम प्रातिशाख्य तो नहीं हैं, पर उन्हीं प्राचीन प्रातिशाख्य पर आधारित अवश्य हैं। आज के उपलब्ध प्रातिशाख्य प्रायः पाणिनि के बाद के माने जाते हैं। प्रातिशाख्यों में किये गये कार्य—(क) प्रातिशाख्यों का मूल उद्देश्य, अपनी-अपनी संहिताओं का परम्परागत उच्चारण सुरक्षित रखना था, अतः स्वराघात, मात्राकाल तथा उच्चारण-सम्बन्धी अन्य नियमों के अध्ययन का कार्य इनमें हुआ। (ख) संस्कृत ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया। यह वर्गीकरण इतना प्रौढ़ था कि आज तक लगभग वही प्रच-लित है। (ग) पदों के (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग और (४) निपात नाम के चार विभाग किये गये। (घ) इन सब के अतिरिक्त अनुमान है कि पदों के आरम्भिक

विश्लेषण तथा संज्ञा के सामान्य लक्षणों पर भी प्रातिशाख्यों में प्रकाश डाला गया होगा। साथ ही यह भी सम्भावना है कि धातु तक पहुँचने का भी प्रयास उनमें किया गया था।

मूल प्रातिशाख्यों के न मिलने के कारण उपर्युक्त बातें अनुमान पर ही प्रायः आधारित हैं।

[४] शिक्षा—शिक्षाग्रन्थों में ध्वनि का सैद्धान्तिक विवेचन है। ऐसा लगता है कि काफ़ी शिक्षाग्रन्थों की रचना हुई। आज लगभग ४० शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें पाणिनीय शिक्षा, नादर शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, स्वर-व्यंजन शिक्षा आदि प्रमुख हैं। कुछ शिक्षाग्रन्थ होते तो सामान्य हैं और कुछ का सम्बन्ध विभिन्न वेदों से है। सैद्धान्तिक ग्रन्थ होने के कारण ऐसा अनुमान लगता है कि कुछ शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्यों के पूर्व लिखे गये, यद्यपि आज मिलने वाली अधिकांश शिक्षाएं बाद की हैं। शिक्षाग्रन्थों में ध्वनि-स्वरूप, वर्गीकरण, सुर, अक्षर आदि पर विचार किया गया है।

[५] निघण्टु—वैदिक भाषा में अधिक अपरिचित हो जाने पर लोगों को अर्थ की दृष्टि से भी वेदों के अध्ययन की आवश्यकता हुई। इसी दृष्टिकोण से वैदिक शब्दों के लोगों ने संग्रह-ग्रन्थ बनाये। इन संग्रहों का ही नाम 'निघंटु' है। इन्हें वैदिक कोश कहा जा सकता है, यद्यपि इनमें अर्थ नहीं दिया गया है। आज तो केवल एक ही निघंटु उपलब्ध है, पर ऐसी आशा की जाती है कि उस समय बहुत से निघंटु बने। मैकडानेल के अनुसार यास्क के समय में ऐसे पाँच निघंटु थे। (यों तो निघंटु का प्रयोग प्रायः इन वैदिक शब्द-संग्रहों के लिए ही होता है किन्तु कभी-कभी 'अमर', 'वैजयन्ती' आदि लौकिक कोशों को भी 'निघंटु' कहते हैं।) उपलब्ध निघंटु और उसका स्वरूप—जो निघंटु आज उपलब्ध है, और जिस पर यास्क का कार्य आधारित है, पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में, जिनमें क्रम से १७,२२ तथा ३० खण्ड हैं, शब्दों को पर्याय-क्रम से सजाया गया है, इस कारण अर्थ न देने पर भी अर्थ प्रायः स्पष्ट हो जाता है। चौथा अध्याय ३ खण्डों का है। इसमें वेद के कुछ अत्यन्त क्लिष्ट शब्द रखे गये हैं। पाँचवाँ अध्याय वैदिक देवताओं के नामों का है इसमें ६ खंड हैं।

[६] यास्क (८वीं सदी ई० पू०)—यास्क के समय के विषय में विद्वानों में मत भेद है। 'अपार्ण' आदि कुछ शब्दों के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें पाणिनि का परवर्ती मानते थे पर अब यह मत अशुद्ध सिद्ध हो चुका है। यास्क का समय पाणिनि से कम से कम १०० वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए। यास्क का निरुक्त—निरुक्त निघंटु की व्याख्या है। अर्थ-विचार का यह विश्व में प्राचीनतम विवेचन है। इसमें निघंटु के प्रत्येक शब्द को अलग-अलग लेकर उसकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया गया है। निरुक्त के लेखक के व्यक्तित्व की महानता सबसे बड़ी इस बात में है कि अस्पष्ट शब्दों के साथ दुराग्रह न करके उसने यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है कि ये शब्द उसके

लिए अस्पष्ट हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार निघंटुओं की भाँति ही निरुक्त ग्रंथ भी एक से अधिक थे, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध यास्क का था, जो आज उपलब्ध हैं। निरुक्त की प्रधान बातें—(क) इसमें निघंटु के शब्दों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयास है। साथ ही, प्रयोग एवं अर्थ की स्पष्टता के लिये वैदिक संहिताओं से शब्दों के प्रयोग भी दे दिये गये हैं। (ख) निरुक्त में अनेक पूर्ववर्ती तथा समवर्ती व्याकरण-सम्प्रदायों एवं वैयाकरण के नाम[1] एवं उद्धरण दिये गये हैं, जिनमें उस समय तक भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के प्रचार एवं अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है। (ग) शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक को दृष्टि डालनी पड़ी है, जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। (घ) शब्दों पर विचार के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा के सम्बन्ध में इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय भी इसी के लेखक को है। (ङ) निरुक्त का ग्रंथ-कार वाणी के अतिरिक्त अन्य अवयव-संकेतों को भी भाषा ही मानता है, यद्यपि, अव्यावहारिक एवं अस्पष्ट होने के कारण उनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण नहीं मानता। (च) कुछ शब्दों के नामकरण को लेकर बहुत वैज्ञानिक और सुन्दर शंकाएं की गई हैं, जिनसे भाषाविज्ञान के अनेक छोटे-मोटे प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है। तृण को लेकर कहा गया है कि √तृ=चुभना, अतः चुभने वाला होने के कारण तृण को 'तृण' की संज्ञा दी गई है, पर, यदि यही बात है तो सुई और भाले को भी तृण क्यों नहीं कहा गया? या सीधा खड़ा होने के कारण 'स्थूण' नाम है तो उसे और कोई (एक स्थान पर रहने वाला, या थामने वाला आदि) नाम क्यों नहीं दिया गया? ऐसे विवेचनों से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। (छ) शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण बतलाये गये हैं—१. शब्द का अर्थ किसी की इच्छा पर पूर्णतः आधारित न होकर सिद्ध और स्थिर रहता है, जिससे श्रोता और वक्ता दोनों में एक भावना उत्पन्न करता है। २. कम परिश्रम में इसके द्वारा सूक्ष्म अर्थ का बोध होता है। (ज) पाणिनि जिस धातु-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में सफल हुए थे उसका मूल यहीं है। निरुक्तकार का भी कम या वेश, सभी शब्दों को कुछ मूलों या धातुओं पर आधारित सिद्ध करने का प्रयास है। (झ) विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी कुछ संकेत किया गया है। (ञ) प्रतिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का संकेत मात्र है, पर यहाँ इसका कुछ विस्तृत विवेचन है। (पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च) (ट) संज्ञा और क्रिया तथा कृदन्त और तद्धित के प्रत्यय-भेदों का भी अस्पष्ट उल्लेख मिलता है। (ठ) निरुक्तकार का प्रयास ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों से अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक है तथा विरोधी मतों के खण्डन आदि के कारण तर्कपूर्ण भी है। यास्क का

---

१. आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्यक्य, गालव, चर्मशिरा, शाकटायन तथा शाकल्य आदि।

'निरुक्त' कसौटी पर—यास्क के निरुक्त की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। एक ओर स्कोल्ड (द निरुक्त, लंदन १९२६, पृ० १८१) तथा डॉ० स्वरूप (द निघंटु ऐंड द निरुक्त, आक्सफोर्ड १९२०, भूमिका पृ० ६४) इसे बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक तथा आश्चर्य में डाल देने वाला कार्य मानते रहे हैं, तो दूसरी ओर वी० के० राजवादे (यास्क्' स निरुक्त पूना; १९४०, पृ० ci, civ आदि) जैसे विद्वान् इसे बहुत ही अवैज्ञानिक मानते रहे हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने (द एटिमालोजीज आव् यास्क, होशियारपुर, १९५३) यास्क के निरुक्त की पूरी परीक्षा की है और निष्कर्ष-स्वरूप इसे वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता के बीच का कहा है। इसमें कुल १२९८ व्युत्पत्तियाँ देने का प्रयास है, जिनसे ८४९ पुराने ढंग की, २२४ वैज्ञानिक और २२५ अस्पष्ट है। भाषा के अध्ययन के उस आदिम युग में आज जैसी वैज्ञानिकता की आशा तो नहीं की जा सकती, किन्तु यह कहना असत्य न होगा कि पुराने ढंग का होते हुए भी यह पूर्णतया अवैज्ञानिक नहीं है।[1]

(७) आपिशलि तथा काशकृत्स्न—यास्क और पाणिनि के बीच में भाषा के अध्ययन का पर्याप्त विकास हुआ। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुव्रीहि, कृत्, तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इससे आशय यह निकलता है कि उस समय तक भाषा के अध्ययन का इतना विकास हो चुका था कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता नहीं समझते थे। इस सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह भी है कि यास्क के बाद सीधे पाणिनि[1] इतने उच्च कोटि के व्याकरण की रचना नहीं कर पाते, यदि उनके पीछे एक परम्परा की साधना न रहती। पाणिनि के पूर्व के व्याकरण-सम्प्रदायों के जनक आपिशलि तथा काशकृत्स्न माने जाते हैं। कुछ विद्वान इन लोगों को ऐंद्र सम्प्रदाय का मानते हैं। जयादित्य और वामन की काशिका में आपिशलि का एक नियम मिलता है। पाणिनि ने भी दस वैयाकरणों में आपिशलि का नाम लिया है। कैय्यट ने आपिशलि और काशकृत्स्न दोनों ही के उद्धरण दिये हैं। काशिका में काशकृत्सन व्याकरण के सम्बन्ध में मिलता है कि वह सूत्रों में था और उसमें तीन अध्याय थे (त्रिक काशकृत्स्नम्) इसी प्रकार की दो एक अन्य बातों के अतिरिक्त इन दोनों के विषय में कुछ अधिक नहीं मिलता।

(८) ऐन्द्र सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोई इन्द्र ऋषि माने जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ये ही प्रथम वैयाकरण थे। यह सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व का है। कुछ लोगों के अनुसार यह सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। पाणिनि में इसका कोई

---

१. श्यूआन् चुआङ के अनुसार पाणिनि के पूर्व कई ऋषियों ने व्याकरण बनाये। प्रो० मैक्समूलर ने 'प्रातिशाख्यों' तथा 'निरुक्त' आदि के आधार पर आग्निवेश्य, आग्रायण, काण्व, सेनक तथा बाभ्रव्य आदि लगभग ६५ आचार्यों के नाम गिनाये हैं।

स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन होते हुए भी पाणिनि के समय तक इसमें कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं हुआ था। पाणिनि के बाद के वैयाकरण कात्यायन इसी सम्प्रदाय के हैं। मूल प्रातिशाख्यों (जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है) पर आधारित वर्तमान प्रातिशाख्य भी कुछ लोगों के अनुसार इसी सम्प्रदाय द्वारा निर्मित हुए थे। कुछ लोग कातंत्र सम्प्रदाय भी इसी का नाम बतलाते हैं। ऐंद्र सम्प्रदाय के सिद्धान्त पाणिनि से कम विकसित हैं, पर इसकी कुछ बातें (विशेषतः परिभाषाएँ) उनसे अधिक सुबोध हैं। ऐन्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव और प्रचार दक्षिण में अधिक था। डॉ० बर्नेल के अनुसार दक्षिण के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम' पूर्णतः इसी आधार पर बना है। सामग्री के अभाव के कारण इस सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्व के जीवन पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका है।

(६) पाणिनि—पाणिनि को यदि विश्व का सबसे बड़ा वैयाकरण माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दुःख यह है कि इतने बड़े व्यक्ति के समय एवं जीवन के सम्बन्ध में हमें अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। पाणिनि के अन्य नाम 'आहिक', 'शालंकि', 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' आदि मिलते हैं। इनका जन्म गंधार देश के शलातुर नामक स्थान पर हुआ था। पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः)कहा है। इससे कुछ लोग इनकी माता का नाम दाक्षी' होने का अनुमान लगाते हैं, पर कुछ अन्य लोगों ने इस आधार पर पाणिनि को पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाला दक्ष (जाति) माना है। कथासरित्सागर और वृहत्कथामंजरी के अनुसार ये 'वर्ष' नामक आचार्य के शिष्य थे। इन्हें पढ़ना-लिखना बिल्कुल न आता था। एक दिन अपनी अकुशाग्रता से दुःखी हो ये तपस्या करने चले गये और वहीं से शिव के आशीर्वाद से उद्भट व्याकरणकार बनकर आए। समय—पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पीटर्सन आदि कुछ विद्वान् कवि पाणिनि को इनसे मिलाकर सुभाषितावली तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर इनका समय ईसा के आरंभिक वर्षों के समीप मानते हैं। मैक्समूलर तथा वेबर आदि विद्वान् इन्हें ३५० ई० पू० के बाद का मानते हैं। इनका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि में 'यवन' शब्द मिलता है और यह शब्द सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा। भंडारकर और गोल्डस्कर ने ५०० ई० पू० के भी पूर्व इनका समय निश्चित किया है। सत्यव्रत आदि कुछ लोग दूसरे छोर पर हैं। उनके अनुसार पाणिनि का काल २४०० ई० पूर्व है। डॉ० बेलवेकर ने सभी महत्वपूर्ण मतों की परीक्षा करते हुए पाणिनि का समय ७०० ई० पूर्व के समीप माना है। इधर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने विस्तार के साथ इस प्रश्न पर विचार करते हुए पाणिनि को ५वीं सदी ई० पू० के मध्य भाग का माना है। यह मत सबसे अधिक तर्क-सम्मत है। पाणिनि की अष्टाध्यायी—अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, और प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। सब मिलाकर सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र है। पूरी पुस्तक १४ सूत्रों (अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट् लण्

ञमङणनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्) पर, जिन्हें माहेश्वर-सूत्र भी कहते हैं, आधारित है। संक्षेप में कहने के लिए, प्रत्याहार, गण आदि का सहारा लिया गया है'। अष्टाध्यायी की विशेषताएँ—(१) इन १४ सूत्रों के आधार पर संस्कृत भाषा जैसी जटिल और विस्तृत भाषा को थोड़े से पृष्ठों में इस खूबी से पाणिनि ने बाँधा है कि आज तक लगभग ढाई हजार वर्ष बाद भी वह टस से मस न हो सकी। इस बीच में अनेक नवीन वैयाकरण आये पर उसके सामने किसी की दाल न गल सकी। बंधन अटूट तो है ही, साथ ही, एक बड़ी बात यह भी है कि यह कार्य इतने संक्षेप में प्रत्याहार, आदि के सहारे किया गया है कि देखने वाला आश्चर्यचकित रह जाता है। (२) सभी शब्दों को कुछ धातुओं पर आधारित किया है। ये धातुएँ किसी क्रिया का भाव प्रकट करती हैं। इन्हीं से उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि की सहायता से अनेकानेक शब्द बना लिए जाते हैं। (३) भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ है, इसका भी प्रथम उल्लेख यहीं है? भाषा में इसके अनुसार वाक्य ही प्रधान हैं। (४) यास्क के नाम, आख्यात आदि चार भेदों को न स्वीकार करके पाणिनि ने शब्द को सुबन्त (अव्यय भी सुबन्त हैं। अष्टा० २-४-८२) और तिङन्त इन दो श्रेणियों में विभक्त किया। आज तक विश्व में शब्दों के जितने भी विभाजन किये गये हैं, उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है' पश्चिम के ८ भेद (Eight Parts of Speech) भी इसके समक्ष नहीं टिकते। (५) ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण जो इसमें है, ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। (६) लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। संक्षेप में अष्टाध्यायी में अर्थ, ध्वनि और तुलनात्मक व्याकरण की सामग्री समय को देखते हुए आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाली है। पाणिनि के अन्य ग्रंथ—अष्टाध्यायी के अतिरिक्त इसी के सहायक ग्रन्थ के रूप में पाणिनि ने कुछ अन्य पुस्तकों की भी रचना की। इन ग्रन्थों में प्रथम स्थान 'धातुपाठ' का है। इसमें धातुओं की सूची है। कहना न होगा कि इसमें संस्कृत के सभी शब्दों को इन्हीं कुछ धातुओं पर आधारित माना गया है। धातुओं को गणों में भी विभाजित किया गया है। पाणिनि का दूसरा ग्रन्थ गणों से सम्बन्धित 'गणपाठ' है। एक गण में आये धातुओं का रूप एक प्रकार से चला है। कुछ विद्वानों के अनुसार गणपाठ का कुछ ही भाग पाणिनि द्वारा रचित है। तीसरा ग्रन्थ उणादिसूत्र है। इसे कुछ विद्वान् शाकटायन की रचना मानते हैं, पर इसके पारिभाषिक शब्दों (उदात्त, उपधा, लोप) को देखने से यह भी पाणिनि का ही ज्ञात होता है। यों इसके विरुद्ध प्रमाण भी काफ़ी मिलते हैं। आशय यह है कि तीसरे ग्रंथ के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। पाणिनि का प्रभाव—प्रभाव के सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि इनके बाद अधिकतर विद्वान् चाहे वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना, प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी आदि में प्रायः लगे रहे। यदि कुछ लोगों ने स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने का प्रयास भी किया तो कार्य इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उसका नाम काल-कवलित होने से बच

सके। आज जब हम राष्ट्रभापा हिन्दी के लिए पारिभापिक शब्द बनाने बैठते हैं तो २५०० वर्ष बाद भी हमारी दृष्टि परिपक्व शब्द पाने के लिए उसी ऋषि पर जाती है। प्रभाव की पराकाष्ठा इससे अधिक हो ही क्या सकती है?

[१०] कात्यायन—कथासरित्सागर कात्यायन को पाणिनि का समकालीन एवं पाणिनि से आयु में बड़ा बतलाता है जो असम्भव है। इनके कार्य को देखते हुए इनका समय पाणिनि से दो-तीन सदी बाद होना चाहिए। अर्थात् यदि पाणिनि ५वीं सदी ई० पू० के लगभग के हैं तो कात्यायन २री सदी ई० पू० के। इनको ऐन्द्र सम्प्रदाय का कहा जाता है। पतंजलि इनको दक्षिणी बतलाते हैं। हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि ऐन्द्र सम्प्रदाय का विशेप प्रचार दक्षिण में ही था। कात्यायन का वार्तिक—तीन सौ वर्ष के अन्तर के कारण भापा में यथेष्ट विकास हो गया था अतः पाणिनि के कुछ सूत्र समय के प्रतिकूल हो गये थे। इन सूत्रों को ठीक करने के लिए कात्यायन ने अपना वार्तिक लिखा। वार्तिक के सूत्र भी अष्टाध्यायी की भाँति ही हैं। वार्तिक में पाणिनि के अष्टाध्यायी के १५०० सूत्र लिये गये हैं, और उनका दोष दिखलाते हुए लेखक ने सूत्र में परिवर्तन करके उन्हें फिर से लिखा है। उदाहरणार्थ, कात्यायन ने पाणिनि के 'अदर्शनं लोपः' सूत्र लेकर 'वर्णस्याऽदर्शनं लोपः' कर दिया है। पतंजलि के अनुसार कात्यायन ने अनेक स्थलों पर पाणिनि को समझने में अशुद्धि की है। कात्यायन ने पाणिनि के पारिभापिक शब्दों में भी कुछ परिवर्तन किया है। सब मिलकर इसमें चार हजार वार्तिक हैं।

वार्तिक का महत्व—यों तो अन्य सम्प्रदाय का होने के कारण कात्यायन अपनी आलोचना में कहीं-कहीं सीमा पार कर गये हैं, पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, भापा के परिवर्तन के कारण ही उस पर विचार करना उन्होंने आरम्भ किया, अतः अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए और उसके कुछ पक्षों को समझने के लिये यह बात बहुत ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

[११] पतंजलि—इनका समय पहले विद्वान् ई० के आरम्भ में मानते रहे हैं, पर डॉ० भंडारकर के अथक परिश्रम के फलस्वरूप अब १५० ई० पू० माना जाने लगा है। पतंजलि अपनी अप्रतिम शैली के लिए संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। पतंजलि का महाभाष्य—महाभाष्य अष्टाध्यायी की भाँति ही ८ अध्यायों में बँटा है। प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं और प्रत्येक पाद कुछ आह्निकों में विभाजित है। महाभाष्य प्रमुखतः दो ध्येयों को समक्ष रख कर लिखा गया है—(१) कात्यायन ने पाणिनि की जो आलोचना की थी, उसका उत्तर देने के लिए। (२) पाणिनि के उन सूत्रों की व्याख्या के लिए जो कुछ समय बीत जाने के कारण दुरूह हो गये थे। कात्यायन के आक्षेपों का उत्तर देने में पतंजलि पूर्णतः सफल हुए हैं। साथ ही अपने दूसरे ध्येय में भी इनकी सफलता कम नहीं है। इन्होंने अपने नियमों को 'इष्टि' की संज्ञा दी है। महाभाष्य का महत्व—उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त महाभाष्य का महत्व भापा-सम्बन्धी कुछ विवेचनाओं के लिए भी अधिक है। इसमें भापा

का दार्शनिक विवेचन बहुत ही सुन्दर है। ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध, वाक्य के विभिन्न भाग, शब्द तथा ध्वनि की परिभाषा आदि पर भी बहुत वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला गया है।

मुनित्रय—पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण के मुनित्रय' की संज्ञा दी गई है। सचमुच संस्कृत व्याकरण को उच्चतम बिंदु पर पहुँचाने में ये ही लोग सफल हुए हैं। यों पाणिनि के पूर्व के भी एक 'त्रिमुनि-व्याकरण' का पता चलता है, जो प्रसिद्धि नहीं पा सका।

[१२] पाणिनि शाखा और उसके अन्य वैयाकरण—पाणिनि शाखा, सच पूछा जाय तो पाणिनि के कुछ पहले से आरम्भ हुई होगी। पाणिनि के अप्रतिम कार्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी परम्परा की साधना उसमें अवश्य सन्निहित है। वह एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। हाँ, इसका नामकरण-संस्कार पाणिनि के ही नाम पर हुआ है। व्याकरण के मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि) इस शाखा के प्रधान आचार्य हैं। इन तीनों में ही मौलिकता का अंश पर्याप्त है, पर इनके पश्चात् पाणिनि शाखा में कोई भी ऐसा विद्वान् न हो सका जो ऐसी प्रतिभा का हो। सभी लोगों ने या तो इसी पर टीकाएँ लिखीं या समय को देखते हुए पढ़ने और समझने की सुविधा के लिए नवीन क्रम दिया। यहाँ संक्षेप में उन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(अ) टीकाकार—संस्कृत में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन हो रहा था। उन परिवर्तनों को देखते हुए टीकाकारों ने टीकाएँ लिखीं। इस प्रकार ये टीकाएँ उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी गईं।

(क) जयादित्य तथा वामन (७वीं सदी पूर्वार्द्ध)—इन लोगों की लिखी टीका 'काशिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें भी अष्टाध्यायी की भाँति ८ अध्याय हैं, जिनमें प्रथम ५ जयादित्य विरचित, और शेष ३ वामन द्वारा लिखे गये हैं। काशिका में पाणिनि के सूत्रों को पर्याप्त उदाहरणों के साथ सुबोधता से समझाया गया है। प्राचीन वैयाकरणों के कुछ उदाहरण भी इसमें मिलते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अमूल्य हैं।

(ख) जिनेन्द्र बुद्धि (८वीं सदी पूर्वार्द्ध)—जिनेन्द्र ने उपर्युक्त काशिका पर एक टीका लिखी, जिसका नाम 'काशिक-न्यास' या 'काशिका-विवरण-पंजिका' है। जिनेन्द्र बौद्ध थे। इन्होंने वार्तिकसिद्ध शब्दों को सूत्रों से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस न्याय की अभी तक एक भी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं है।

(ग) हरदत्त (१२वीं सदी)—इनका ग्रन्थ 'पदमंजरी' भी काशिका की ही एक सुन्दर टीका है। हरदत्त दक्षिणी थे और सम्भवतः तेलुगु साहित्य से भी इनका परिचय था, क्योंकि एक उदाहरण 'कूचिमची' इन्होंने उस भाषा का दिया है।

(घ) भर्तृहरि (६वीं सदी)—शृंगार, नीति और वैराग्य शतकों के रचयिता

ही ये वैयाकरण भर्तृहरि थे, यह नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी, जिसमें तीन ही पाद पाये थे। सम्भवतः इसके बाद उनका देहान्त हो गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यपदीय' है। इसमें व्याकरण के दर्शन-पक्ष का बहुत सुन्दर विवेचन है, पुस्तक तीन खंडों में बँटी है, जिनका नाम क्रमशः आगम या ब्रह्मखंड, वाक्यखंड और प्रकीर्ण या पद-खंड हैं। द्वितीय खंड के अंत में इसमें कुछ व्याकरणकारों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री भी दी गई है।

(ङ) कय्यट (११वीं सदी)—कय्यट कश्मीरी थे। इनका ग्रन्थ महाभाष्य-प्रदीप है। जैसा कि लेखक ने स्वयं भूमिका में कहा है, इनका पथ-प्रदर्शक भर्तृहरि का वाक्यपदीय है। महाभाष्य के विवेचन में कय्यट बहुत ही सफल हुए हैं। इनमें भी तात्विक पक्ष की प्रधानता है। कय्यट के प्रदीप के टीकाकारों में नागोजि भट्ट, नारायण और ईश्वरानन्द प्रधान हैं। विशेषतः नगोजि भट्ट का प्रदीपोद्योत बहुत ही सुन्दर और गम्भीर है। इनके व्याकरण-विषयक अन्य १०-११ ग्रंथों 'परिभाषेन्दु-शेखर' तथा 'वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें दूसरा, भर्तृहरि और कय्यट की भाँति ही तात्विक विवेचन का बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। नागोजि का व्यक्तित्व बहुत ही अलौकिक था। विवाहित होने पर भी आप आजीवन ब्रह्मचारी रहे और अपनी पुस्तकों को ही अपनी सन्तान समझते रहे। कय्यट के तीनों ही टीकाकारों का समय लगभग १६वीं सदी है।

[अ] कौमुदीकार—मुसलमानों के राज्य-स्थापना के बाद देश की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। वातावरण विदेशी-सा बन गया, अतः अष्टाध्यायी को सुबोध बनाने के लिए नये क्रम से रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कौमुदियों के लिखे जाने का एक और कारण यह भी था कि टीका जितनी संभव थी हो चुकी थी। अब उस क्षेत्र में और कार्य करने की गुंजाइश नहीं के बराबर थी। तीसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरण पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे जा चुके थे कि उनको सुबोध बनाने के लिए नवीन क्रम की ही आवश्यकता शेष थी। प्रधान कौमुदीकार नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) विमल सरस्वती (१४वीं सदी)—इनके ग्रन्थ का नाम रूपमाला है। इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय का क्रम दिया। पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को और उसके बाद स्वर, प्रकृति-भाव, व्यंजन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा छः भागों में सुबन्त, तथा स्त्री-प्रत्यय और कारकों को स्थान दिया। अन्त में कृत, तद्धित और समास के प्रकरणों को रखा। रूप-माला में आख्यात का प्रकरण बहुत ही विस्तार से है। प्रत्येक लकार पर अलग शीर्षक में विचार किया गया है। अन्त में लकारार्थ-माला के रूप में एक परिशिष्ट भी है। रूप-माला की शैली बहुत ही सुन्दर है। विशेषतः विषयों का क्रम बहुत ही समीचीन है

(ख) रामचन्द्र (१५वीं सदी)—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनकी पुस्तक प्रक्रिया-कौमुदी है। १६वीं सदी में प्रक्रिया-कौमुदी पर कई टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध विट्ठलाचार्य की है। टीका का नाम 'प्रसाद' है। दूसरी शेषकृष्ण की 'प्रक्रिया-प्रकाश' है। इसके अतिरिक्त 'सार', 'अमृतसृति' तथा 'व्याकृति' आदि भी हैं, किन्तु इनका काई विशेष महत्व नहीं है।

(ग) भट्टोजि दीक्षित (१७वीं सदी प्रथम चरण)—इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिद्धान्त-कौमुदी' है। इसकी महत्ता इतने से ही सिद्ध हो सकती है कि इसके आगे लोग अष्टाध्यायी को भी भूल गये। आज भी अधिकतर विद्यार्थी इसी को पढ़ते हैं। भट्टोजि ने रामचन्द्र की प्रक्रिया-कौमुदी तथा हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से अपनी कौमुदी बनाने में विशेष सहायता ली है। आपने स्वयं ग्रंथ पर 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की टीका लिखी। फिर उसका एक छोटा रूप 'बाल मनोरमा' भी बनाया। सिद्धान्त-कौमुदी पर एक वासुदेव दीक्षित रचित 'बाल मनोरमा' टीका भी है, जो नागेश के बाद लिखी गई। आपने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक टीका लिखी जो अपूर्ण है। भट्टोज की 'प्रौढ़ मनोरमा' के खंडनार्थ जगन्नाथ ने 'मनोरमा-कुचमर्दन' नामक एक मनोरंजक पुस्तक लिखी। 'प्रौढ़ मनोरमा' की 'शब्दरत्न' नाम की अत्यन्त प्रचलित टीका हरि दीक्षित की है, यद्यपि प्रसिद्ध है कि नागेश ने ही अपने गुरु हरिदीक्षित के नाम से इसे लिखा। इसके बाद बिहारी की सतसई की भाँति इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गईं।

(घ) वरदराज (१८वीं सदी)—विद्यार्थी वर्ग में आपका नाम विशेष आदर से लिया जाता है। वरदराज ने सिद्धान्त-कौमुदी के मध्य, लघु और सार तीन संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किये। इनके इन तीनों संस्करणों पर भी टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन टीकाकारों में राम शर्मा और जयकृष्ण आदि प्रसिद्ध हैं।

[१३] व्याकरण की पाणिनीतर शाखाएँ—ब्राह्मण-कर्त्ताओं को भाषा-विचारक के रूप में न माना जाय तो शाकटायन, प्रातिशाख्य-कर्त्ता (१००० ई० पू०), यास्क (८वीं सदी ई० पू०), आपिशलि तथा काशकृत्स्न (७वीं सदी) आदि पूर्व पाणिनि शाखा के वैयाकरण थे। इनके बाद पाणिनि शाखा आई, जिसमें पाणिनि से लेकर वरदराज का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन दो के अतिरिक्त भी कुछ शाखाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध शाखाओं पर हम यहाँ संक्षेप में विचार कर रहे हैं।

(क) चान्द्र शाखा—इस शाखा का प्रथम उल्लेख भर्तृहरि के वाक्यपदीय में और अंतिम मेघदूत की मल्लिनाथकृत टीका में मिलता है। इस शाखा के अधिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। डॉ० बूलर और डॉ० लीबिक के श्रम से इसके सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन् हैं, जिनका समय ५वीं सदी के लगभग है। इन्होंने अपना व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के व्याकरण से अधिक सुन्दर और संक्षेप में लिखा। वैदिक व्याकरण और स्वराघात के विषय में कुछ पाणिनि के नियमों को परिवर्तित भी कर दिया। पाणिनि के माहेश्वर-

सूत्रों की संख्या को घटाकर १३ कर दी। 'हयवरट्' और 'लण्' इन सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र 'हयवरलण्' बनाया। कुछ प्रत्याहारों को निकालकर नये प्रत्याहार बनाये। सूत्रों को भी घटा कर लगभग ३१०० कर दिया। चन्द्रगोमिन् की मौलिक और प्रधान देन ३५ सूत्रों की है। इनके व्याकरण में केवल छः अध्याय हैं। व्याकरण को असंज्ञक कहा गया है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगोमिन् ने उणादि सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ आदि भी लिखे हैं। इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष हुआ, क्योंकि चन्द्र-गोमिन् बौद्ध थे। इस शाखा में और भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे, पर आज हमें उनका पता नहीं है। १३वीं सदी में लिखित एक ग्रंथ 'बालवबोध' अवश्य लंका के एक बौद्ध पंडित काश्यप का मिलता है, जो चन्द्रगोमिन् के ही ग्रंथ का एक छोटा संस्करण मात्र है।

(ख) जैनेन्द्र शाखा—जिस प्रकार चान्द्र शाखा पूर्णतः बौद्धों की थी, जैनेन्द्र शाखा जैनों की थी। इसके प्रथम वैयाकरण अन्तिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस शाखा का भी आरम्भ चान्द्र शाखा के आरम्भ के समय ही हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण मिलते हैं। छोटे में ३००० सूत्र और बड़े में ३७०० हैं। इनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। पाणिनि और कात्यायन से अधिकतर बातें ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। इसके रचयिता देवनन्दी या पूज्यपाद हैं। धार्मिक कट्टरता इनमें इतनी है कि अन्य धर्मावलंबी वैयाकरणों का आभार तक नहीं स्वीकार किया है। इस पर अभयनन्दी (८वीं सदी) और सोमदेव की केवल दो टीकाएँ मिलती है। 'पंचवस्तु' नाम से व्याकरण आरम्भ करने वालों के लिए इसका एक नवीन संस्करण भी मिलता है। इस शाखा के विषय में कुछ और अधिक ज्ञात नहीं है।

(ग) शाकटायन शाखा—यह शाखा भी जैनों की ही है। इसके प्रधान वैया-करण शाकटायन (८वीं सदी) दयापाल (१०वीं सदी), प्रभाचन्द्र तथा अभयचन्द्र (१४वीं सदी) हैं। इनका प्रथम और प्रधान ग्रंथ 'शाकटायन-शब्दानुशासन' है। पाणिनि, चन्द्रगोमिन् और पूज्यपाद से इस व्याकरण में अधिक लिया गया है। इसमें चार-चार पादों के चार अध्याय हैं और लगभग ३२०० सूत्र हैं। क्रम कौमुदियों की भाँति है। शाकटायन के ही लिखे पाणिनि के आधार पर उन्हीं नामों के धातुपाठ, गणपाठ आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस शाखा में हैं। इस शाखा में भी टीकाकारों और कौमुदीकारों के दो युग आये हैं। टीकाओं में 'न्यास' और 'चिन्तामणि' प्रसिद्ध हैं। कौमुदियों में 'प्रक्रिया-संग्रह' मुख्य है। हेमचन्द्र की शाखा के कारण यह शाखा लुप्त हो गई।

(घ) हेमचन्द्र शाखा—प्रचार की दृष्टि से पाणिनि शाखा के बाद हेमचन्द्र शाखा का नाम आता है। इसके सूत्रपातकर्त्ता हेमचन्द्र (१०८८ ई०—११७२ ई०) एक जैन साधु थे। गुजरात के इतिहास में भी इनका हाथ है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शब्दा-नुशासन' है, जिसका पूरा नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इसमें ८ अध्याय और ३२ पाद है। सूत्रों की संख्या ४५०० है। इनमें लगभग ११०० सूत्र

अन्तिम अध्याय में हैं, जिनमें उस समय की जन-भाषा प्राकृतों (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंश) का वर्णन है। इनका संस्कृत व्याकरण का अंश तो अच्छा नहीं है, पर इन जनभाषाओं का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इन्होंने संक्षेप में अधिक से अधिक कहने का प्रयास किया है। शाकटायन के 'शब्दानुशासन' का इन पर प्रभाव स्पष्ट है। हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन पर 'शब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति' नामक टीका भी लिखी। यह टीका बहुत ही विवेचनापूर्ण है। इनके द्वारा लिखे कुछ अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं, जिनमें पाणिनि की भाँति, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा गणपाठ आदि भी हैं। हेमचन्द पर लिखी गई टीकाओं में बृहद्वृत्ति ढुंढिका' प्रसिद्ध है, पर इसकी पूरी पोथी नहीं मिलती। इसके लेखक के विषय में भी अनिश्चय है। दूसरी प्रसिद्ध टीका देवेन्द्र सूरी की 'हैमलघुन्यास' है। टीकाओं के अतिरिक्त 'हैम-लघु-प्रक्रिया' आदि कई कौमुदियाँ भी अन्य शाखाओं के अनुकरण पर इस शाखा में बनाई गईं। १५वीं सदी तक ही इस शाखा में काम होता रहा।

(ङ) कातंत्र शाखा[1]—'कातंत्र' का शाब्दिक अर्थ 'संक्षिप्त संस्करण' है। यह व्याकरण पढ़ना आरम्भ करने वालों के लिए पाणिनि के आधार पर बनाया गया था। मूलतः यह कोई स्वतंत्र शाखा नहीं थी। इसकी रचना सर्वसाधारण के लाभ के लिए की गई थी। विशेषतः जब कि लोगों को प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखनी थी। इसमें १४०० सूत्र हैं। इसके आरम्भ के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक बार एक दक्षिणी राजा शातवाहन ने जलक्रीड़ा करते समय अपनी रानी के 'मोदक देहि राजन्' कहने पर उसे कुछ मोदक (मिठाई) दिये, फिर जब उसे अपनी गलती ज्ञात हुई तो अपने पंडित शर्ववर्मन को संस्कृत जानने के लिए एक विशिष्ट व्याकरण रचने की आज्ञा दी। उसने भगवान कार्तिकेय या कुमार की सहायता से इस संक्षिप्त संस्करण को तैयार किया। इसीलिए इसे 'कौमार व्याकरण' भी कहते हैं। इसी से संबद्ध एक अन्य आधार पर इस शाखा का नाम 'कालाप शाखा' भी है। इसका आरम्भ दूसरी सदी से है। ७वीं सदी के लगभग इसका कश्मीर में प्रचार हुआ। इसके प्रथम टीकाकार दुर्गसिंह (९वीं सदी) हैं। आज के उपलब्ध पाठों में प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य है। इसके प्रसिद्ध वैयाकरण जगद्धर तथा महादेव आर्य आदि हैं। १५वीं सदी से इसका प्रचार बंगाल में हो गया और बहुत-सी-टीकाएँ लिखी गईं। आज भी काश्मीर में प्रचलित व्याकरण 'कातंत्र' के आधार पर ही बने हैं।

(च) सारस्वत शाखा—इसका आरम्भ १३वीं सदी से है। इसकी मूल पुस्तक में सारी बातें बहुत सरल ढंग से संक्षेप में समझाई गई हैं। पाणिनि के ४००० सूत्रों के स्थान पर इसमें केवल ७०० सूत्र हैं। इसका अवतरण भी जनता की माँग के कारण ही हुआ। इस शाखा को प्रोत्साहन देने वाले गयासुद्दीन खिलजी और सलेमशाह नामक

---

१. कुछ लोग इसी को ऐन्द्र भी मानते हैं। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कातंत्र' है।

मुसलमान शासक थे। संक्षेप और सरलता इसकी प्रधान विशेषता थी। प्रत्याहार तथा माहेश्वर सूत्र भी कुछ परिवर्तित ढंग से इसमें रखे गये हैं। वैदिक व्याकरण को यहाँ अनावश्यक समझ कर स्थान नहीं दिया गया है। कहा जाता है कि सरस्वती से इसे अनुभूतिस्वरूप आचर्य ने प्राप्त किया था। पर सत्य यह है कि अनुभूतिस्वरूप एक टीकाकार थे। शाखा के जनक कोई अन्य महाशय थे जिनके सम्बन्ध में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। अमृतभारति, क्षेमेन्द्र, हर्षकीर्ति, मण्डन आदि भी अन्य टीकाकार इस शाखा में हुए हैं। यह शाखा १८वीं सदी तक चलती रही है। फिर इधर पाणिनि शाखा के अधिक प्रचार के कारण इसका लोप हो गया। विल्किन नामक अंग्रेज विद्वान् ने भी इस शाखा के आधार पर एक व्याकरण लिखा। कुछ लोग आज भी इसे प्रोत्साहन देते हैं। सचमुच सरलता की दृष्टि से इसे पाणिनि शाखा से कहीं अधिक उपयोगी कहा जा सकता है।

(छ) वोपदेव शाखा—इस शाखा का आरम्भ वरार निवासी वोपदेव से माना गया है। वोपदेव (१३वीं सदी) बहुत बड़े विद्वान् थे और इन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिखीं। भाषा-सम्बन्धी इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुग्धबोध' है। जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रभाव इन पर नहीं था। इनका भी प्रधान ध्येय सरलता और संक्षेप ही है। इनकी शैली कातंत्र से मिलती-जुलती है। इनके माहेश्वर-सूत्र और प्रत्याहार पाणिनि से कुछ भिन्न हैं। वैदिक विशेषताओं की ओर से ये भी उदासीन हैं। इनके पारिभाषिक शब्द भी पाणिनि से भिन्न हैं। (जैसे धातु के लिए 'धू' तथा वृद्धि के लिए 'वृ' आदि) मुग्धबोध का अधिक प्रचार नहीं हो सका। १७वीं सदी तक यह बंगाल के नदिया जिले तक सीमित हो गया। इस पर टीकाएँ और कौमुदियाँ बनीं जिनमें रामतर्क-वागीश की अधिक प्रसिद्धि है।

(ज) शेष शाखाएँ—शेष में प्रधान जौमर (१२००-१४००), सौपद्म (१३००-१५५०) और हरिनामामृत (१६वीं सदी) आदि शाखाएँ हैं, जिनके प्रसिद्ध लेखक क्रम से जुमरनन्दी[1], पद्मनाभदत्त और जीव गोस्वामी हैं। महत्वपूर्ण न होने के कारण इनका नाम ले लेना ही पर्याप्त है।

[१४] पाली—पाली व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्म प्रदेश और लंका तीनों ही स्थानों में हुई। इन व्याकरणों की तीन शाखाएँ बनाई जा सकती हैं—कच्चायन, मोग्गलान तथा अग्गवंस। ये तीनों ही शाखाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं और विषय की दृष्टि से अपूर्ण हैं। यहाँ इन पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है।

(क) कच्चायन—(कात्यायन) संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय ८वीं या ९वीं सदी के लगभग है। इनकी प्रधान कृति 'कच्चायन व्याकरण' है, जिसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कृति पाली और संस्कृत के ऐतिहा-

१. क्रमदीश्वर कृत 'संक्षिप्तसार व्याकरण' पर 'जौमर वृत्ति' नामक वृत्ति संभवतः इन्हीं ने लिखी थी।

सिक सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डालती। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त दो और व्याकरण ग्रंथ भी इनके लिखे कहे जाते हैं। इनकी शाखा में 'कच्चायन व्याकरण' की कई टीकाएँ लिखी गईं। इसमें सबसे प्रसिद्ध विमलबुद्धि की टीका 'न्यास' है। इस 'न्यास' पर भी कुछ टीकाएँ भारत तथा ब्रह्मदेव में लिखी गई हैं। छपद की 'सुत्तनिद्देस' तथा संघरचित की 'सम्बन्ध-चिन्ता' आदि पुस्तकें भी इसी शाखा की हैं।

(ख) मोग्गलान (१२वीं सदी)—इन्हें मोग्गल्लायन भी कहा गया है। उनकी प्रधान पुस्तक 'मोग्गलायन व्याकरण' है। इस पर इन्होंने स्वयं 'मोग्गल्लायन-पंचिका' नामक टीका भी लिखी है। इनका व्याकरण भी कुछ दृष्टियों से अपूर्ण है, पर कच्चायन की अपेक्षा बहुत अच्छा है। वर्गीकरण तथा इनके पारिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न हैं। इन्होंने छोटे-मोटे प्राचीन पाली व्याकरण और पाणिनि तथा चन्द्रगोमिन आदि से अधिक सहायता ली है। इस शाखा में भी अनेक टीकायें लिखी गईं, जिनमें से पियदस्सिन की 'पदसाधन' तथा राहुल की 'मोग्गल्लायन-पंचिकापदीप' उल्लेखनीय हैं।

(ग) अग्गवंश (१२वीं सदी)—अग्गवंश ब्रह्मदेश के निवासी थे। इनकी पुस्तक 'सिद्धनीति' है। अग्गवंस की शाखा का प्रचार लंका और ब्रह्मदेश में हुआ। यह शाखा प्रमुखतः कच्चायन पर आधारित है, अतः कुछ लोग इसे स्वतन्त्र शाखा न मान कर कच्चायन के अन्तर्गत ही रखते हैं।

[१५] प्राकृत—प्राकृत के व्याकरण, विशेषतः संस्कृत नाटकों के प्राकृत-अंशों को समझने के लिये लिखे गये थे। जीवित प्राकृत से उनका बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं था। इन व्याकरणों का ढाँचा भी पूर्णतः संस्कृत व्याकरणों पर आधारित था। प्राकृत वैयाकरणों की प्रतीच्य और प्राच्य दो शाखाएँ मानी गई हैं।

(क) प्रतीच्य शाखा—इस शाखा के सूत्रों के रचयिता कोई वाल्मीकि कहे जाते हैं, इसी कारण इस शाखा को वाल्मीकि शाखा की भी संज्ञा दी गई है। इन सूत्रों की सबसे प्रसिद्ध टीका त्रिविक्रम (१३वीं सदी) की है जो 'प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी टीका लक्ष्मीधर (१६वीं सदी) लिखित 'शब्द-भाषा-चंद्रिका' है।

हेमचन्द्र (१२वीं सदी)—प्रतीच्य शाखा का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हेमचंद्र-लिखित ('सिद्ध हेमचन्द्र' शब्दानुशासन) है। इस ग्रंथ का नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दा-नुशासन' है। इस पुस्तक के ७ अध्याय तो संस्कृत-व्याकरण के हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका ८वाँ अध्याय पूरे ग्रन्थ के लगभग चौथाई है, जिसमें प्राकृतों पर विचार किया गया है, जिनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिकापैशाची आदि प्रधान हैं। हेमचन्द्र के सूत्र इनके अपने हैं, पर शैली वही पुरानी है।

(ख) प्राच्य शाखा—इस शाखा के सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि हैं, अतः उनके नाम से भी यह शाखा प्रसिद्ध है।

वररुचि (५वीं सदी)—प्राकृत भाषा का सबसे पुराना व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' है। इसके प्रथम नौ अध्याय में संस्कृत के आधार पर महाराष्ट्रीय प्राकृत का बहुत विस्तृत वर्णन है। १०वें, ११वें और १२वें अध्याय में क्रम से पैशाची मागधी और शौरसेनी का वर्णन है। शौरसेनी का वर्णन बहुत संक्षेप में है क्योंकि शेष बातों में वह महाराष्ट्री से भिन्न नहीं है। 'प्राकृत-प्रकाश' पर प्राचीनतम टीका कात्यायन (७वीं सदी) लिखित 'प्राकृत-मंजरी' है।

इस शाखा की अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ लंकेश्वर की 'प्राकृत-कामधेनु', वसंतराज की 'प्राकृत-संजीवनी' तथा उड़ीसा-निवासी मारकंडेय (१७वीं सदी) की 'प्राकृत-सर्वस्व' है। इनमें 'प्राकृत-सर्वस्व' का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से लिखी गई प्राचीन पुस्तकें प्रायः नहीं के बराबर हैं। हाँ, हेमचन्द्र आदि के प्राकृत व्याकरणों के अंत में इस सम्बन्ध में कुछ सामग्री अवश्य दी हुई है।

(१६) व्याकरणेतर ग्रंथों में भाषा-विषयक अध्ययन—उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रवालों ने भी भाषा पर प्रकाश डालने के सुन्दर प्रयास किये हैं, जिनमें प्रधान नैयायिक, साहित्यिक तथा मीमांसक हैं।

(क) नैयायिक—बंगाल के नदिया के तार्किकों या नैयायिकों ने भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर ध्यान दिया। इससे 'अर्थ-विज्ञान' पर कुछ प्रकाश पड़ा। इस दृष्टि से जगदीश तर्कालंकार का 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण है।

(ख) साहित्य—कुछ साहित्यकों ने रीति या काव्यशास्त्र का विवेचन करते हुए भाषा के अर्थ-पक्ष का सुन्दर विवेचन किया। ऐसों में ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक आदि के रचयिता प्रधान हैं। ये लोग अलंकार एवं शब्द-शक्तियों के वर्णन में इस ओर झुके हैं।

(ग) मीमांसक—इन्होंने भी शब्द-स्वरूप, शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ आदि पर विचार किया है।

भारत में की गई भाषा-सम्बन्धी प्राचीन खोज को यहाँ समाप्त करते हुए कहा जा सकता है कि रूप, वाक्य, ध्वनि और अर्थ प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोणों के अभाव में भी यहाँ पर्याप्त कार्य हुआ था, और इस क्षेत्र में भारत अन्य देशों से बहुत आगे था।

ख. आधुनिक अध्ययन

भारत में भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप में अध्ययन यूरोप के संसर्ग से आरंभ हुआ है। सत्य तो यह है कि पहले-पहल उन्हीं लोगों ने यहाँ इसका प्रारम्भ भी किया, और इसी कारण यह श्रेय उनको ही प्राप्त है। यहाँ इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रमुख लोगों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) बिशप काल्डवेल (१८१४-१८९१)—काल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन में अपना पूरा जीवन खपा दिया। ये सभी द्रविड़ भाषाओं के पंडित थे। १८५६ में इनका 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar of the Dravidian Languages) प्रकाशित हुआ, जो आज १०० वर्ष बाद भी अपने क्षेत्र का अद्वितीय ग्रंथ है।

(२) जान बीम्स—बीम्स १८५७ में सिविल सर्विस में आये। यहाँ आते ही इन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन शुरू किया और लगभग १० वर्ष बाद इनका 'आउट लाइन्स ऑव इंडियन फिलालजी' नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' है। इसके ३ भाग क्रम से १८७२, १८७५ और १८७९ में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में एक लम्बी सी भूमिका है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस भाग में ध्वनियों का विवेचन है। उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह भाग अन्यों की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। दूसरे भाग का सम्बन्ध संज्ञा तथा सर्वनाम से तथा तीसरे का क्रिया से है। इस विशालकाय व्याकरण में योग्य लेखक ने, आर्य-परिवार की सभी भाषाओं (सिंधी पंजाबी, हिन्दी, गुजराती मराठी, बँगला तथा उड़िया आदि) के व्याकरणों का तुलनात्मक ढंग से ऐतिहासिक अनुशीलन किया है।

(३) डॉ० ट्रम्प—ट्रम्प संस्कृत, प्राकृत, सिन्धी तथा पश्तो आदि भाषाओं के विद्वान् थे। सन् १८७२ में इनका सिन्धी व्याकरण (Grammar of the Sindhi Language compared with the Sanskrit, Prakrit and the Cognate Indian Vernaculars) प्रकाशित हुआ, जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से भी तुलनात्मक सामग्री दी गई है। एक वर्ष बाद १८७३ में इनका पश्तो व्याकरण प्रकाश में आया।

(४) एच० एच० केलाग—ये पादरी थे। इनका हिन्दी भाषा का व्याकरण १८७६ में प्रकाशित हुआ। व्याकरण प्रमुखतः तो खड़ी बोली हिन्दी का है, पर तुलनात्मक ढंग से व्रज, अवधी, राजस्थानी, पहाड़ी तथा बिहारी आदि की भी सामग्री दी गई है। अध्यायों के अन्त में व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास भी दे दिया गया है।

(५) डा० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर—भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में काम करने वाले ये प्रथम भारतीय हैं। भंडारकर प्रमुखतः प्रत्न भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व के विद्वान् थे, पर आर्य भाषाओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। १८७७ में बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय पर इन्होंने सात व्याख्यान दिये जो ३७ वर्ष बाद १९१४ में पुस्तक-रूप में छपे।[1] भंडारकर ने प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान के साथ-साथ नवीन यूरोपीय भाषाविज्ञान का भी अध्ययन किया था, इसी कारण यह

---

१. Wilson : Philological Lectures.

पुस्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। आरम्भ में भाषा के विकास के सम्बन्ध में सामान्य नियम दिये गये हैं, तथा संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में पाली तथा उस समय की अन्य बोलियों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय क्रम से 'प्राकृत-अपभ्रंश' तथा 'उत्तरभारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि' से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवें और छठें में आधुनिक भाषाओं में पाये जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व रखता है। सातवाँ अध्याय प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्माण-काल को देखते हुए ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व का है।

(६) डा० ए० रूडल्फ हार्नली (१८४१-१९१८ ई०)—हार्नली साहब पहले काशी में जयनारायण स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। बाद में 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका' के संपादक हो गये। १८८० में इनका गौडियन भाषाओं, विशेषतः 'पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' (Grammar of Eastern Hindi, compared with other Gaudian Languages) प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख ध्यान भोजपुरी पर है, साथ-साथ प्रमुख आधुनिक आर्य-समभाषाओं में तुलनात्मक ढंग पर भी सामग्री दी गई है। विवेचन की कमी होने पर भी सामग्री की नवीनता एवं प्रचुरता के कारण यह ग्रंथ आज तक महत्वपूर्ण है।

(७) जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन—ये बिहार में काम करते थे। भाषा के सम्बन्ध में इनके अतुल ज्ञान का पता इसी से लग सकता है कि भारतीय तथा अभारतीय अनेक भाषाओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। पहले इन्होंने बिहारी भाषाओं का अध्ययन किया और इनके 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' १८८३ से ८७ तक प्रकाशित हुए। १८९४ में इनका प्रसिद्ध कार्य 'भारतीय भाषाओं का सर्वे' आरंभ हुआ। ३३ वर्ष घोर परिश्रम के बाद १९२७ में ये इसे समाप्त कर सके। आज तक विश्व के किसी भी देश में भाषाओं की ऐसी पैमाइश नहीं हुई है। यह ग्रन्थरत्न ११ बड़ी-बड़ी जिल्दों में है, जिनमें सभी भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का सोदाहरण व्याकरण दिया गया है। आरम्भ में बहुत विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, जिसमें भारतीय आर्य भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास है। १९०६ में पिशाच भाषा तथा १९११ में कश्मीरी पर (२ भागों में) भी इनके प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। १९२४ में ४ भागों में इनका कश्मीरी कोश प्रकाशित हुआ।

(८) रॅल्फ लिले टर्नर—लगभग ३०-३५ वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली कोश १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है। साथ में भारत की प्रधान आर्य भाषाओं के शब्द भी तुलना के ढङ्ग पर दे दिये गये हैं। कहीं-कहीं यूरोपीय भाषाओं के भी तुलनात्मक शब्द हैं। लगभग २०० शब्द मूल भारोपीय भाषा के दिये गये हैं। पुस्तक २१२ भाषाओं के आधार पर लिखी गई है। यह सभी ने स्वीकार किया है कि यह

भारतीय आर्यभाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोश है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त टर्नर ने मराठी स्वराघात, गुजराती ध्वनि तथा सिंधी पर भी कुछ कार्य किया है। इधर वे सारी भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश (तत्सम-तद्भव शब्दों का) को प्रकाशित करने पर लगे थे जो पूरा हो गया है।

(६) जूल ब्लाक—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मराठी की बनावट' (१६१६) है। किसी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक इतिहास तथा उसकी बनावट का पूर्ण विवेचन प्रथम बार इस पुस्तक में हुआ है। ध्वनि और रूप का विवेचन इसमें विशेष है। इसके अतिरिक्त इनका 'भारतीय आर्यभाषाएँ' ग्रन्थ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने द्रविड़ तथा द्रविड़ों और आर्यों के पूर्व के भारतीयों की भाषा आदि के सम्बन्ध में भी कार्य किया है।

(१०) शेष विद्वान् और उनके प्रधान विषय—इन प्रमुख नौ के अतिरिक्त और भी बहुत-से विद्वानों ने भारत में भाषाओं पर कार्य किये हैं। यहाँ भाषाओं के अनुसार प्रमुख लोगों के उल्लेख किये जा रहे हैं।

(क) मूल भारोपीय भाषा—इस सम्बन्ध में केवल टर्नर तथा सुनीति कुमार चटर्जी का नाम उल्लेख्य है।

(ख) संस्कृत—डॉक्टर लक्ष्मण स्वरूप, वी० के० राजवादे तथा डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क के निरुक्त पर काम किया है। विश्ववंधु शास्त्री तथा आर० एन० डाडेकर आदि के कार्य वेदों से सम्बद्ध हैं। संस्कृत में ध्वनिविज्ञान, यास्क का निरुक्त और दरद भाषा के सम्बन्ध पर कार्य करने का श्रेय सिद्धेश्वर वर्मा को है। ई० डी० कुलकर्णी ने महाभारत की कुछ क्रियाओं पर प्रकाश डाला है। डॉ० सुकुमार सेन भी इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने 'संस्कृत में अर्थ-विचार' तथा 'संस्कृत व्याकरण' के दर्शन पर 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' नामक एक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री का 'ए ग्रैमेटिकल डिक्शनरी ऑव् संस्कृत' भी सुन्दर कार्य है। बटकृष्ण घोष ने भी संस्कृत भाषा पर कार्य किया है।

(ग) पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश—अलफ्रेड सी० वूलनर (प्राकृत), मनमोहन घोष (माहाराष्ट्री प्राकृत, जिसे ये भारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं), वापट, विधुशेखर भट्टाचार्य, गुणे, वैद्य, उपाध्ये, केशव का० शास्त्री, दूरीसेले, गाइगर, हरिवल्लभ भायाणी, सुकुमार सेन, एम० एम० कत्रे, भिक्षु जगदीश (पाली), हीरालाल जैन (अपभ्रंश), शहीदुल्ला (पाली तथा सिद्धों की अपभ्रंश), प्रबोध चन्द्र बाग्ची (अपभ्रंश), महेंदेले, तगारे, पी० बी० पंडित तथा बनारसी दास जैन आदि ने विशेष कार्य किये हैं।

(घ) अवेस्ता आदि—तारापुरवाला, पूनावाला, कागा, कपाड़िया तथा सुकुमार सेन आदि के इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हैं।

(ङ) बंगाली—वर्तमान समय के भारत के ही नहीं, एशिया के सबसे बड़े भाषाविज्ञानवेत्ता डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास, (ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव् बंगाली लैंग्वेज) है। इस पुस्तक को वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं का विश्वकोश कहा गया है, क्योंकि इसकी भूमिका में लगभग सभी वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। डॉ० चटर्जी ने 'भाषातत्त्वेर भूमिका' रूप में भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धांतों पर तथा बंगला के व्याकरण पर भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने बंगला-ध्वनि पर भी स्वतंत्र पुस्तक के रूप में कार्य किया है। मजूमदार की 'हिस्ट्री ऑव् बंगाली लैंग्वेज' भी बंगला भाषा पर अच्छी पुस्तक है। सुकुमार सेन ने 'भाषार इतिवृत्त', 'इस्लामी बंगला साहित्य' के अंतिम अध्याय एवं 'चर्यागीति पदावली की भूमिका' रूप में अच्छे कार्य किये हैं। बंगला वाक्यविज्ञान पर भी इनका कार्य है। अर्थविज्ञान पर हेमंत कुमार सरकार तथा विजन बिहारी भट्टाचार्य ने कार्य किया है। भट्टाचार्य जी की पुस्तक का नाम 'वागर्थ' है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी इस विषय पर 'शब्द-तत्त्व' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। ज्ञानेन्द्र मोहनदास का 'बंगला भाषार अभिधान' शीर्षक बंगला का व्युत्पत्ति-कोश है। बंगला भाषा की बोलियों पर भी सुन्दर कार्य हुए हैं। इस सम्बन्ध में गोपाल हल्दर (दक्षिणी-पूर्वी बंगाल के नोआखाली की बोली), कृष्णपद गोस्वामी (चिटगांग की बोली) तथा प्रफुल्ल भट्टाचार्य (बर्दवानी) के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। कृष्णपद गोस्वामी ने उत्तर बंगाल के स्थानवाचक भौगोलिक नामों पर शोधकार्य किया है। इसी प्रकार सी० दत्त ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में (१२००-१५०० ई० तक) फ़ारसी तथा अरबी के शब्दों पर काम किया है।

(च) उड़िया—उड़िया भाषा के इतिहास पर 'ओड़िया भाषार इतिहास' शीर्षक पं० विनायक मिश्र का प्रसिद्ध ग्रंथ है। गोपाल प्रहराज का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'ओड़िया कोश' है, जिसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिये गये हैं। पं० गोपीनाथ नन्द ने 'ओड़िया भाषा-तत्त्व', तथा गिरिजाशंकर राय ने 'सरल भाषा-तत्त्व' शीर्षक ग्रन्थ लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त ग्रेडी तथा गोलोक बिहारी दल ने भी उड़िया भाषा पर कार्य किया है। जी० एस० राय का कार्य उड़िया व्याकरण पर है।

(छ) नेपाली—टर्नर का नेपाली कोश अपने ढंग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। टर्नबुल ने नेपाली व्याकरण पर कार्य किया है।

(ज) असमी—असमी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् बाणीकान्त काकती हैं। १९४१ में उन्होंने 'असमी का स्वरूप और विकास' ग्रन्थ लिखा। असमी कोश बरुआ तथा ब्रान्सन के अच्छे हैं।

(झ) सिंधी—इस सम्बन्ध में टर्नर तथा ट्रम्प के नाम ऊपर लिये जा चुके हैं। ट्रम्प का व्याकरण पुराना होने पर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शाहानी का अंग्रेजी से सिंधी तथा सिंधी से अंग्रेजी कोश सिंधी का प्रामाणिक कोष है। भेरूमल महरचन्द की 'सिन्धी बोलीअ जी तवारीख' भी अच्छी पुस्तक है।

पंजाबी, कश्मीरी तथा दरद आदि—बनारसी दास ने पंजाबी ध्वनियों पर काम किया है। टी० ग्रैहेम बेली तथा डॉ० खजुरिया का भी पंजाबी भाषा पर काम करने वालों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इधर प्यारा सिंह पदम का 'पंजाबी बोली दा इतिहास' तथा प्रो० प्रेम प्रकाश सिंह का 'पजाबी बोली दा निकास ते विकास' सुन्दर ग्रन्थ निकले हैं। सन्त-साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ मोहन सिंह ने भी पंजाबी पर कुछ काम किया है। लहँदी की ध्वनियों पर डॉ० हरदेव बाहरी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। मुल्तानी की ध्वनियों पर डॉ० परमानन्द बहल ने काम किया है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कुछ कार्य दरद पर भी है। कश्मीरी के सम्बन्ध में ग्रियर्सन के काम का सकेत पीछे किया जा चुका है।

मराठी—मराठी की बनावट के सम्बन्ध में ज़्यूल ब्लाक ने फ्रेंच में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, जिसका मराठी अनुवाद हो चुका है। इसमें मराठी ध्वनि तथा रूप-विवेचन विशेष रूप से विस्तृत तथा वैज्ञानिक है। डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे ने कोंकणी की बनावट पर कार्य किया है। मराठी का तौलनिक व्युत्पत्ति कोश, श्री के० पी० कुलकर्णी ने लिखा है। आधुनिक मराठी के रूप आदि पर काम करने वाले विद्वान् सबनीस हैं। इनका 'आधुनिक मराठी चे उच्चतर व्याकरण' बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। कुलकर्णी ने 'मराठी भाषा : उद्गम व विकास' शीर्षक से मराठी के उद्गम और विकास पर कार्य किया है।

गुजराती—अभारतीय लोगों में टर्नर, टेसीटरी तथा ग्रियर्सन ने गुजराती भाषा पर काम किये थे। केशवराम काशीराम शास्त्री ने ग्रियर्सन के कार्य का 'गुजराती भाषा' नाम से अनुवाद किया है। टर्नर का 'गुजराती फोनालोजी' अपने विषय का प्रामाणिक कार्य है। भारतीय विद्वानों में गुजराती पर काम करने वालों में नरसिंहराव भोलानाथ डिवाटिया प्रथम व्यक्ति हैं। इनकी पुस्तक का नाम 'हिस्ट्री ऑव द गुजराती लैंग्वेज' है। प्रामाणिकता की दृष्टि से तीसडाल का 'गुजराती लैंग्वेज एँड लिटरेचर' ग्रंथ उल्लेख्य है। अन्य लोगों में केशवराम काशीराम शास्त्री, डॉ० भोगीलाल, डॉ० सांडेसरा, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, बेचरदास जीवराज दोशी, डॉ० पी० बी० पंडित तथा कांतिलाल ब० व्यास आदि प्रधान हैं। केशवराम शास्त्री ने 'आपणा कविओ' खंड १ में प्राचीन गुजराती भाषा पर प्रकाश डाला है। डॉ० सांडेसरा का 'शब्द अने अर्थ' शीर्षक अर्थविज्ञान-विषयक ग्रंथ प्रसिद्ध है। डॉ० भायाणी ने गुजराती के सम्बन्ध में बहुत-से लेख लिखे हैं, जिनका संग्रह 'वाग्व्यापार' नाम से प्रकाशित हुआ है। पी० बी० पंडित ने ध्वनिविज्ञान तथा ध्वनिग्रामविज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया है। दोशी जी तथा व्यास जी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' तथा 'गुज-राती भाषा-शास्त्रनाविकासिनी रूपरेखा' है।

द्रविड़—द्रविड़ भाषाओं के सम्बन्ध में काल्डवेल का 'काम्परेटिव ग्रामर आव् ड्रविडियन लैंग्वेजेज' पुराना और प्रामाणिक ग्रन्थ है। अन्य लोगों में नरसिंह चार (कन्नड़), रामकृष्ण(तमिल), अमृतराव(तमिल), नीलकंठ शास्त्री (तमिल), रामास्वामी

अय्यर (मलयालम), चन्द्रशेखर (मलयालम), डेनिस डे एस० ब्रे (ब्राहुई), फादर हेरास (सिंधुघाटी के अभिलेख और द्रविड़ भाषा) तथा कृष्णमूर्ति आदि प्रमुख हैं।

सिंहली—सिंहली पर काम करने वालों में गाइगर का नाम उल्लेख्य है।

हिन्दी—हिन्दी और उसकी विभिन्न बोलियों या रूपों के सम्बन्ध में कार्य करने वाले कुछ प्रमुख व्यक्ति ये हैं : हिन्दी—बीम्स, केलाग, ग्रियर्सन, श्यामसुन्दर दास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा, कामताप्रसाद गुरु, विश्वनाथ प्रसाद, उदय नारायण तिवारी, कहाँगीरदार, चन्द्रबली पाँडेय, रामचन्द्र वर्मा, हरदेव बाहरी, किशोरीदास वाजपेयी, भोलानाथ तिवारी, कैलाश चन्द्र भाटिया, रमेश चंद्र मेहरोत्रा, दयानन्द श्रीवास्तव तथा रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव आदि। उर्दू—पद्मसिंह शर्मा, मसऊद हसन खाँ, चन्द्रबली पाँडेय, ब्रजधारी आदि। हिन्दुस्तानी—फैलन, गिल-क्राइस्ट, सी० जे० लाल, मोइनुद्दीन क़ादरी तथा पद्मसिंह शर्मा आदि। पूर्वी हिन्दी—हार्नली। बिहारी—ग्रियर्सन, सान्याल। ब्रज—धीरेन्द्र वर्मा, हरिहर निवास द्विवेदी, किशोरीदास वाजपेयी, शिवप्रसाद सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी। बुंदेली—रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, एम० पी० जायसवाल। अवधी—बाबूराम सक्सेना, रामाज्ञा द्विवेदी। भोज-पुरी—विश्वनाथ प्रसाद, उदय नारायण तिवारी, वासुदेव उपाध्याय। राजस्थानी—तेसीतोरी, चटर्जी। छत्तीसगढ़ी—हीरालाल काव्योपाध्याय, हैरिंग। कौरवी—हरिश्चंद्र शर्मा। बांगरू—जगदेव सिंह। दक्खिनी—बाबूराम सक्सेना, श्रीराम शर्मा। मैथिली—सुभद्र झा।

वर्तमानकालिक प्रवृत्तियाँ—इस दिशा में भारतीय प्रगति का मूल श्रेय पश्चिम को है। काल्डवेल, बीम्स, ट्रम्प, केलाग, हार्नले, फैलन, ग्रियर्सन, टर्नर तथा जूल ब्लाक आदि ने इस दिशा में हमारे लिए अग्रणी का कार्य किया और हमने अपना रास्ता कुछ अपनी प्राचीन परम्परा तथा इन लोगों के आदर्श पर बनाया। इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान ने अपना जीवन-रस दो स्रोतों से लिया है : (क) भाषा-अध्ययन की प्राचीन भारतीय परम्परा—मुख्यतः प्रातिशाख्य, शिक्षा ग्रंथ, पाणिनि, पतंजलि तथा भर्तृहरि—से, तथा (ख) भाषा-अध्ययन की पश्चिमी परम्परा से, जिसका संबंध मुख्यतः इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका तथा रूस से है। आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अब तक जो काम हुआ है, और जो हो रहा है, उसे देखते हुए निम्नांकित चार धाराओं का संकेत किया जा सकता है—(१) शास्त्रीय धारा—यह धारा मुख्यतः प्राचीन भारतीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसके सबसे सजग और सशक्त व्याख्याता आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ('हिन्दी शब्दानुशासन' तथा 'भारतीय भाषाविज्ञान' आदि) हैं। दामले (शास्त्रीय मराठी व्याकरण) तथा कामता प्रसाद गुरु (हिन्दी व्याकरण) आदि भी अंग्रेजी व्याकरणों के प्रभाव के बावजूद इसी परंपरा में आते हैं। (२) ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्रभावयुक्त धारा—इस धारा में डॉ० भंडारकर (भारतीय आर्यभाषा), डॉ० चटर्जी (बंगाली), डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा

(प्राचीन भारतीय ध्वनिविज्ञान), डॉ० कत्रे (कोंकणी), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रजभाषा, हिन्दी), डॉ० बाबूराम सक्सेना (अवधी), डॉ० मोइनुद्दीन क़ादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि), डॉ० सुकुमार सेन (प्राकृत), डॉ० मसऊद हुसन खाँ (उर्दू ध्वनि), डॉ० विश्वनाथ प्रसाद (भोजपुरी ध्वनि), डॉ० महेन्देले (प्राकृत), डॉ० तगारे (अपभ्रंश), डॉ० उदय नारायण तिवारी (भोजपुरी, हिन्दी), डॉ० बाहरी (लहँदा, हिन्दी), डॉ० एस० के० वर्मा (अंग्रेज़ी-हिन्दी क्रिया) आदि के नाम मुख्य हैं। दो-तीन अपवादों को छोड़कर इस धारा के विद्वान् प्राचीन भारतीय परंपरा से भलीभाँति परिचित एवं कुछ प्रभावित हैं; तथा जहाँ तक आधुनिक पद्धति का संबंध है, यह धारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इंग्लैंड या फ्रांस की भाषा-अध्ययन-पद्धति से जुड़ी है। यह धारा विशेष सक्रिय पिछले दशक तक ही रही। इस धारा का कार्य मुख्यतया ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में है। अन्य प्रकार के कार्य अपेक्षाकृत कम हुए हैं। (३) अमेरिकी प्रभावयुक्त धारा—अमेरिका में यों तो बोआश, सपीर, ब्लूमफ़ील्ड आदि ने काफी पहले बहुत अच्छा काम किया था, किंतु पहले अमेरिकी भाषाविज्ञान से हमारा प्रत्यक्ष संपर्क न था। अमेरिका के राकफ़ेलर फ़ाउंडेशन की मदद से १९५३ से भारत में पूना तथा अन्य स्थानों में भाषाविज्ञान के ग्रीष्म एवं शीतकालीन स्कूलों का आयोजन प्रारम्भ हुआ तथा उनमें पढ़ने के लिए अमेरिकी भाषाशास्त्री (फ़ेयरबैंक्स, ह्वेलिंग्सवाल्ड, ग्लीसन, एमेन्यू, गम्पर्ज़, केली आदि) आते रहे। मूलतः स्कूलों के माध्यम से ही भाषाशास्त्र में रुचि लेने वाले भारतीयों का परिचय भाषा-अध्ययन की अमेरिकी पद्धति से प्रत्यक्षतः हुआ, और धीरे-धीरे पुराने लोगों में डॉ० घाडगे, डॉ० पंडित, डॉ० उदय नारायण तिवारी आदि अनेक विद्वान् अमेरिकी पद्धति तथा इसके माध्यम से भाषाशास्त्र के क्षेत्र में विकसित नयी पद्धतियों से परिचित हुए। पुरानी और नयी पीढ़ी के अनेक लोग अमेरिका गए, और वहाँ इस विषय का व्यवस्थित अध्ययन किया। इस समय सच पूछा जाय तो भारत में भाषावैज्ञानिक कार्य कुछ अपवादों एवं अवशेषों को छोड़कर अधिकांशतः प्रायः अमेरिकी पद्धति पर ही हो रहा है। इस दृष्टि से कृष्णमूर्ति (तेलुगु), बिलगिरी (मुण्डा), पिल्लई (तमिल), केलकर (मराठी), बहल और गिल (पंजाबी), गोस्वामी (असमिया) आदि १५-२० नाम उल्लेख्य हैं। इस धारा ने विशेष कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान (विशेषतः ध्वनि और रूप के क्षेत्र) में किया है। टाटा इन्स्टीच्यूट के सांख्यिकीय विभाग में कम्प्यूटर की सहायता से ध्वनियों के वितरण पर जो काम हो रहा है, वह भी इसी धारा के अंतर्गत है। (४) इस प्रसंग में तत्त्वतः किसी धारा का रूप न ले सकने के बावजूद रूसी प्रभाव-युक्त एक अंकुरित हो रही धारा यदि उल्लेख्य नहीं तो संकेत्य अवश्य है। अभी हाल तक रूस की भाषा-विश्लेषण-पद्धति से भारत का परिचय प्रायः नहीं के बराबर था। इधर रूस-भारत के संबन्धों में वृद्धि के साथ-साथ हम उससे परिचित होने लगे हैं। इस धारा में प्रथम नाम डॉ० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव का लिया जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी के आदि व्यंजन-गुच्छों की ध्वानिक प्रकृति (acoustic nature) तथा उनके वितरण पर काम किया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में किसी भारतीय द्वारा रूसी सिद्धान्तों

पर आधारित यह प्रथम कार्य है। मैं स्वयं भी दो वर्षों तक रूस में रहा, और वहाँ के भापावैज्ञानिक सिद्धांतों की अनेक नयी बातें मुझे प्रभावित किए बिना न रह सकीं। उदाहरण के लिए, ध्वनिग्राम के लिए वितरण पर बल देने का अमेरिकी सिद्धांत, जिसे प्रायः सभी भारतीय भापाशास्त्री मानते हैं, मुझे अधूरा लगता है और मैं स्वतन्त्र उच्चारण और स्पष्ट श्रवण को भी समान महत्त्व देने के पक्ष में हूँ। पीछे ध्वनिग्राम के प्रकरण में इसी आधार पर परिपूरक वितरण में न होने पर भी ड़, ढ़ की बात ध्वनिग्राम के प्रकरण में कही गई है।

यों भारतीय भापाविज्ञान के क्षेत्र में इधर जो काम हुए हैं तथा इस समय जो कार्य हो रहे हैं, उनमें प्रमुख हाथ प्रथम तीन धाराओं का ही है। ये कार्य मुख्यतः ६-७ प्रकार के हैं: (१) पूरा अध्ययन-भापाओं, बोलियों, किसी काल की भापा, किसी कवि या लेखक की भापा तथा किसी रचना की भापा का अध्ययन। (२) ध्वनि—ध्वनि, ध्वनिग्राम, व्यंजन-गुच्छ बलाघात, सुरलहर, संगम, आक्षरिक रचना आदि का अध्ययन। (३) रूप—प्रत्यय, उपसर्ग, समास, कारक-रूप, सर्वनाम, विशेपण, क्रिया, अव्यय का अध्ययन। (४) वाक्य—वाक्य की रचना का अध्ययन। (५) शब्द—बोलियों की औद्योगिक एवं सांस्कृतिक शब्दावली का अध्ययन, भापा या बोली के शब्द-समूह का अध्ययन, अन्य भापा के विदेशी प्रभावों का अध्ययन। पारिभापिक शब्द-निर्माण तथा एकभापिक-द्वैभापिक कोश-रचना आदि, (६) अर्थ-परिवर्तन एवं आर्थिक अन्तर की अर्थ दृष्टि से अध्ययन, शब्दों का अध्ययन। (७) मुहावरों, लोकोक्तियों का अध्ययन। ये अध्ययन ऐतिहासिक दिशा में अधिक हुए हैं, वर्णनात्मक में कम तथा तुलनात्मक में और भी कम।

आवश्यकता—जीवित भापाओं के जो अध्ययन आजकल अपने देश में चल रहे हैं, उनमें अधिकतर ध्वनि तथा रूप तक ही सीमित हैं। ध्वनि के अध्ययन में यूरोपीय देशों की भाँति ध्वनि-अध्ययन के लिए बने कायमोग्राफ, एक्सरे, लैरिंगोस्कोप, एंडोस्कोप, कृत्रिम तालु, आटोफोनोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, स्पिरोमीटर, स्टैथोग्राफ, न्यूमोग्राफ तथा स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप आदि का उपयोग अभी तक कम किया गया है, अतएव अपने ध्वनि-अध्ययन को इन साधनों पर आधारित कर पूर्ण वैज्ञानिक रूप देने की आवश्यकता है। इसके लिए प्रयोगशालाएँ अपेक्षित हैं। वाक्य तथा अर्थ विज्ञान का अध्ययन हमारे यहाँ अभी शैशवास्था में है। इन दोनों ही को मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र के प्रकाश में आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। पश्चिमी देशों में भापा-विज्ञान के लिए मानव-विज्ञान का भी अध्ययन किया जाने लगा है। यहाँ भी उसे अपनाना चाहिए। हमारी जीवित भापाओं ने अपना जीवन-रस प्राचीन भापाओं से खींचा है, उनका भी अध्ययन आवश्यक है। प्रसन्नता है कि इस ओर लोग यथेष्ठ ध्यान दे रहे हैं और संस्कृत पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवेस्ता, अरबी तथा फारसी आदि का कुछ अध्ययन अब चल रहा है। पर, इस क्षेत्र में और गहराई में उतरना

अपेक्षित है। इनके अतिरिक्त उन यूरोपीय भाषाओं का भी अध्ययन आवश्यक है, जिनसे अपने शब्द आदि उधार लिये हैं। इस सम्बन्ध में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। कहना न होगा कि हमारे विद्वानों ने अंग्रेजी तथा कुछ-कुछ फ्रांसीसी पर ध्यान दिया है, पर अभी पुर्तगाली आदि का कोना पूर्णतः अछूता ही है। आशा है कि शीघ्र ही हम उधर भी ध्यान देंगे। इन सबके साथ-साथ समाजविज्ञान तथा धर्मविज्ञान का भी पर्याप्त अध्ययन होना आवश्यक है। इनके बिना भारत-जैसे धर्मप्रधान देश की भाषाओं का अध्ययन पूरी गहराई से नहीं किया जा सकता। इन सारे साधनों की सहायता से विभिन्न भाषाओं और उनकी बोलियों का अध्ययन पूरा कर लेने के उपरान्त भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों पर काम करना पड़ेगा और इन दोनों कार्यों को समाप्त कर हमें भाषाविज्ञान की सहायता से अपने इतिहास के विस्मृत पृष्ठों का पुनरुद्धार करना है। ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं और उनकी बोलियों का सर्वेक्षण बड़ी योग्यता से किया था, पर पटवारियों आदि की सहायता से सामग्री एकत्र किये जाने के कारण उसे पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अब भाषाविज्ञान के विद्वानों की सहायता से उस काम को फिर से कराने की आवश्यकता है। अभी ऐसी बहुत-सी जङ्गली बोलियाँ हैं, जिनका पूरा अध्ययन नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में भी आगे बढ़ना आवश्यक है। जीवित भाषाओं के विकास की गतिविधि का अध्ययन तथा उसके आधार पर व्याकरण को परिवर्तित करते रहने के लिए हर क्षेत्र में कुछ भाषा-अध्ययन के केन्द्र भी अपेक्षित हैं। आशा है इस क्षेत्र के हमारे विद्वान् इन सभी की पूर्ति शीघ्र ही कर सकेंगे।

[ख] चीन

भाषाओं के प्रकरण में चीनी भाषा पर विचार करते समय उसकी प्राचीनता की ओर हम लोग संकेत कर चुके हैं। कुछ लोग तो पाँच-छः हजार वर्ष ई० पू० से ही इसे सुसंस्कृत भाषा मानने के पक्ष में हैं, पर यदि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इतनी दूर न भी जायँ तो कम से कम १५०० वर्ष ई० पूर्व से चीनी को समुन्नत भाषा मानने में तो संभवतः किसी को भी आपत्ति न होगी। फू-हि हुआङ्-सी तथा शेन-नुङ आदि सम्राट्, जिनके समय से वहाँ लिपि का आरम्भ माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ई० पू० के बहुत पहले हो चुके थे। चीन का स्वर्ण-युग भी लगभग २००० ई० पू० के पहले ही समाप्त हो चुका था। ऐसी दशा में यह अनुमान सरलता से किया जाता है कि १५०० ई० पू० से साहित्य-सृजन वहाँ पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हो गया होगा। महात्मा कनफ्यूशिअस ने ५०० ई० पू० के लगभग १८०० ई० पू० तक के गीतों का संग्रह किया था। चीन में इतिहास और कहानियाँ लिखने की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। जब लोगों की प्रवृत्ति इस प्रकार साहित्य-सृजन की ओर थी तो अवश्य ही भाषा की ओर भी उनका ध्यान गया होगा। अन्य

भाषाओं के व्याकरणों की भाँति किसी व्याकरण[1] का तो आज भी वहाँ अभाव है, पर शब्दकोश अवश्य बहुत-से बनाये गये हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी अवश्य ही कुछ कोश बनाये गये होंगे। कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि भाषा-सम्बन्धी पुराना ग्रंथ एक भी नहीं मिलता। हूणों, मंगोलों और मांचुओं के आक्रमण के अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि २१३ वर्ष ई० पू० चीन के राजा छिनस्म-ह्वांग ने कुछ राजनीतिक कारणों से सभी उपलब्ध पुस्तकों को जलवा डाला था। इस राजा की मृत्यु के बाद प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की ओर जब चीनी विद्वानों का ध्यान गया तो वैज्ञानिक रूप से भाषा के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की ज्ञात तिथि लगभग २०० ई० पू० है। इसी के लगभग भारतीय बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए वहाँ पहुँचे। उस समय तक भाषा का अध्ययन भारत में बहुत आगे बढ़ चुका था, अतः इन साधुओं की सहायता से भी चीनियों ने ध्वनि के सम्बन्ध में अपना अध्ययन आगे बढ़ाया। उसी समय से चीनी कोशों में चिह्नों को ध्वन्यनुसार क्रम भी दिया जाने लगा। चीनी में भाषा के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रधान कार्य कोशों का है। कोशों में चिह्न या शब्द प्रायः दो प्रकार से सजाए जाते हैं। प्रथम प्रकार अन्य भाषाओं के कोशों की भाँति ध्वनियों पर आधारित है। पर ऐसे कोश बहुत उपयोगी नहीं समझे जाते। इसका कारण यह है कि चीनी चिह्नों का उच्चारण निश्चित नहीं है। एक ही चिह्न कहीं तो कुछ उच्चरित होता है और कहीं कुछ। इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति कोशकार के उच्चारण से परिचित न रहे, वह कोश में शब्द का अर्थ नहीं देख सकता। चिह्नों के सजाने का दूसरा क्रम रेखाओं की संख्या पर आधारित रहता है। जिस चिह्न में एक रेखा हो उसे पहले रक्खेंगे और जिसमें दो रेखाएँ हों, उसे उसके पश्चात् स्थान देंगे। इसी तरह आगे भी तीन, चार, पाँच इत्यादि। चीन का प्राचीनतम कोष 'एर्हय' है, जिसका काल १२वीं सदी ई० पू० के बाद माना जाता है। चीन का प्रथम ज्ञात प्रामाणिक कोशकार हू-शेन है, जिसके कोश का नाम 'शुओ-वेन-की-त्सी' है। इसका प्रकाशन १०० ई० के लगभग हुआ था। इस कोश में उस समय के प्रचलित शब्दों की व्याख्या बहुत ही सुन्दर की गई है। इसमें कुल ३६४ चिह्न हैं। आज भी यह कोश बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है और इसकी टीकाएँ भी लिखी गई हैं। हू-शेन की कृति का आधार तीसरी सदी ई० पू० के एक राजा 'त्स-इन' के मन्त्री 'ली-सी' की एक पुस्तक मानी जाती है। इसके बाद का दूसरा कोश 'त्ज़-युआन' ७वीं सदी के आरम्भ का है। सामग्री की दृष्टि से यह भी बहुत

---

१. जे० एडकिन्स तथा एम० कूरंट आदि कुछ अंग्रेज और फ्रेंच विद्वानों ने कुछ व्याकरण लिखे हैं, पर वे भी ठीक अर्थ में व्याकरण नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि चीनी के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कोश ही वहाँ व्याकरण का कार्य करता है।

महत्त्वपूर्ण हैं। १२वीं सदी के लगभग सिमाक्वांङ ने भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। चीन के प्रसिद्ध बादशाह 'खां-शी' (१६६२-१७२३) ने बहुत से विद्वानों की सहायता से एक बहुत ही अच्छे कोश का सम्पादन कराया जो आज उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम 'खां-शी त्ज़ तेंय' है। इसमें ४४,००० शब्दों का अर्थ है। यह १७१६ में प्रकाश में आया।

आधुनिक युग में चीनी भाषा तथा लिपि के बारे में चीनियों तथा विदेशियों दोनों ही ने काम किये हैं। विदेशियों में एल० सी० हापकिन्स ने 'चीनी लेखन का विकास' तथा 'चीनी लिपि-चिह्नों के छः वर्ग' पर शोधपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। गाइल्स और काउरूर ने अंग्रेजी में कोश लिखे हैं। कार्लग्रेन ने चीनी ध्वनि और प्रतीकों पर कार्य किया है। चीनी लोगों में लो-चेन-यू, वाङ-कुओ-वि, वांली, छ्न्-वां-ताओ, त्सूत-शी तथा ल्वी-मु-शां के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। ल्वी-मु-शां की प्रसिद्ध पुस्तक 'यू-फ्रा-शू-त्ज़' है जिसमें चीनी को शुद्ध रूप से बोलने तथा लिखने की वैज्ञानिक विधि दी गई है।

[ग] जापान

जापान में पहले लोग चीनी भाषा में ही लिखते थे, इसी कारण जापान द्वारा भाषा के क्षेत्र में किया गया प्राचीन कार्य जापानी भाषा में न होकर चीनी में ही है। ८वीं सदी में जापानियों ने चीनी भाषा में चीनी लिपि के बारे में लिखा था। ९वीं सदी में जापान में संस्कृत का प्रवेश भलीभाँति हो गया था और उसका अध्ययन होने लगा था। कूके (९वीं सदी) एक बौद्ध पुजारी थे। ये चीन से एक पुस्तक 'सिद्ध मातृका' ले आये और जापानी वर्णमाला बनाया जो संस्कृत के नामों के आधार पर ही 'अइउएओ' [अलफाबेट (अलफा, बेटा) की भाँति] कहलाती है। १८वीं सदी तक संस्कृत के अध्ययन के लिए जापानी में संस्कृत का व्याकरण लिखा जा चुका था। १९वीं सदी तक जापान के पुरुष चीनी में लिखते थे, किन्तु वहाँ की स्त्रियों ने जापानी में लिखना शुरू किया, इस प्रकार प्रारम्भिक जापानी साहित्य के विकास में महिलाओं का ही हाथ है।

जापान की एक यह भी बहुत बड़ी विशेषता रही है कि वहाँ बोलने की भाषा बिल्कुल अलग तथा लिखने की अलग रही है। लिखने की भाषा का नाम बूङो और बोलने की भाषा का नाम कोङो रहा है*। १८९० ई० के आसपास इन दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य शुरू हुआ और इस दृष्टि से यमाद मिमियो तथा हुताबते शिमे

---

* साथ ही जापान में इन दो के अतिरिक्त कुछ शब्दों तथा प्रयोगों की दृष्टि से बादशाह के लिए अलग भाषा है तथा अच्छे घर की औरतों के लिए अलग। व्याकरण-रूपों में भी इस प्रकार के अन्तर हैं। उर्दू की भाँति यह बड़ी शिष्ट भाषा है। शब्दों के आदरसूचक रूप अलग हैं, जैसे 'अपने बाप' के लिए 'चिचि' शब्द है, तो 'आपके बाप' के लिए 'उतोसमा'।

के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने मिलकर 'उकीगुमो' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें प्रथम बार बोलने की भाषा का लिखने के लिए प्रयोग है।

इधर जापान में भाषा के अध्ययन के लिए एक संस्था भी खुल गई और वह महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। जापानी का प्रामाणिक व्याकरण यमादा तकाव ने लिखा है। जी० बी० सैनसम ने जापानी का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा है और तोकिइदा मोतोकि ने नये तरीके से जापानी का व्याकरण बनाया है। जापानी का प्रामाणिक कोश 'गेन्काइ' है, जिसके सम्पादक ओत्स्की हुमिहिको हैं। कनाजावा सोज़ाबो का 'कोजरिन' नामक कोश भी अच्छा है। बोलचाल की जापानी पर चैंबरलेन की पुस्तक सबसे अच्छी है। सामान्य भाषाविज्ञान तथा अंग्रेजी पर काम करने वाले विद्वान् इचिकावासांकी हैं। हत्तोरिशिरी ध्वनिविज्ञान तथा मंगोलियन भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। कोज़हरोशिंगे तुलनात्मक व्याकरण के अध्येता हैं और हेराल्ड पार्लेट कोशकार तथा जापानी भाषा और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं। 'फोनेटिक सोसायटी आव् जापान' ध्वनि के क्षेत्र में अच्छा काम कर रही है।' ५८ में स्वरों पर वहाँ से प्रो० छीवा और प्रो० काजियामा की एक बड़ी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई।

[घ] अरब

अरब में भी भाषा का अध्ययन प्रायः संस्कृत की भाँति ही आरम्भ हुआ। धार्मिक ग्रन्थों (विशेषतः कुरान) के समझने के लिए भाषा के विवेचन की ओर लोगों का ध्यान गया और धीरे-धीरे वह साधारण ध्यान ही प्राचीन भाषावैज्ञानिक या व्याकरणीय विवेचन हो गया। भारत में प्रायः यह प्रवृत्ति है कि किसी भी चीज का आरम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। ठीक उसी प्रकार बहुत-सी इल्मों का आरम्भ अरबी में मुसलमानी मजहब के चौथे खलीफ़ा हजरत अली से माना जाता है।[1] भाषा के अध्ययन में भी वे ही प्रथम व्यक्ति कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यूनानी भाषाविज्ञ एवं दार्शनिक अरस्तू की तरह अली ने भी भाषा के ३ भाग किये थे। इसके अतिरिक्त उनके विवेचन के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

१०वीं सदी के अरबी के विद्वान्, अरबी ज्ञान को दो भागों में बाँटते थे: प्रथम तो अरब ज्ञान (Arab Sciences) कहलाता था जिसमें भाषा का अध्ययन, नीतिशास्त्र, साहित्य तथा इतिहास आदि विषय थे। दूसरी ओर दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि विषय अरबेतर ज्ञान (Non-Arab Sciences) कहलाते थे। इस प्रकार अरबों के अनुसार भाषा का अध्ययन पूर्णतः इनकी अपनी चीज है, यद्यपि यह ठीक नहीं है। डॉ० ब्रोअर ने स्पष्टतः लिखा है कि तथाकथित अरब ज्ञान पूर्णतः अरबों के नहीं हैं।

---

१. हजरत मुहम्मद ने कहा है—

'अना मदीनतुलइल्मे व अलीय्युन बाबोहा'

अर्थात् मैं (मुहम्मद) इल्म का शहर हूँ और अली उसके दरवाजे हैं।

उन पर भी अन्य लोगों के प्रभाव पड़े हैं।[1] इन प्रभाव डालनेवालों में सीरियन, भारतीय और परशियन प्रधान हैं।

कुछ भी हो, निश्चित रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि अमुक समय में भाषा के अध्ययन का विकास यहाँ प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार संस्कृत में व्याकरण के आचार्य पाणिनि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अरबी में सेबवै (Sibawaih) का नाम लिया जाता है। ये भाषाशास्त्र के ईमाम या पेशवा थे। पाणिनि के अष्टाध्यायी की भाँति ही इनका ग्रन्थ भी अपने में बहुत पूर्ण मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि की भाँति ही यह भी किसी प्राचीन प्रचलित सम्प्रदाय के सम्भवतः अन्तिम व्यक्ति थे। बाद में पाणिनि की भाँति ही इनके ग्रन्थ के भी बहुत-से भाष्य हुए तथा टीकाएँ आदि लिखी गईं। आगे चलकर व्याकरण के प्रधान दो सम्प्रदाय बने : एक तो बसरा में तथा दूसरा कुफ़ा में था। बसरा वाले या 'बसरी', बगदादियों की भाँति भाषा में 'सादृश्य' का बहुत प्रभाव मानते थे, पर कुफा वाले या 'कुफी' नहीं मानते थे। 'बसरी' भाषाशास्त्र पर तर्कशास्त्र का बड़ा प्रभाव था। भारत में नदिया के वैयाकरण भी प्रायः ऐसे ही थे। अरस्तू के तर्कशास्त्र ने भी बसरी सम्प्रदाय को बहुत प्रभावित किया। बाद में, 'भाषा स्वाभाविक है या कृत्रिम' जैसे प्रश्नों पर भी विचार किया गया। कुछ दिन बाद तक यह अध्ययन चलता रहा और फिर लुप्त-सा हो गया। आधुनिक युग में भारत की ही तरह यूरोपीय विद्वानों ने अरबी भाषाविज्ञान पर भी विशेष काम किया है। अब धीरे-धीरे कुछ अरब विद्वान् भी इस ओर झुक रहे हैं।

[ङ] यूरोप

यूरोप में अन्य सभी विषयों की भाँति भाषा के भी अध्ययन का आरंभ यूनान में हुआ। भारत की ही भाँति यूरोप का भी प्राचीन वा प्रारंभिक अध्ययन विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक नहीं था, अतः स्पष्टता के लिए इसके भी (क्ष) प्राचीन और (त्र) आधुनिक दो भेद किये जा सकते हैं।

[क्ष] प्राचीन

यों तो सुकरात के पूर्व भी समुन्नत यूनानियों[2] का कुछ न कुछ ध्यान अवश्य ही भाषा की ओर भी गया रहा होगा, पर इस बात के निश्चित प्रमाण सुकरात से ही मिलते हैं, अतः उन्हीं से भाषा के अध्ययन का आरम्भ माना जाता है।

१. सुकरात (४६९ ई० पू० से ३९९ ई० पू०)—भाषा के अध्ययन के सिलसिले में सुकरात के समक्ष यह प्रश्न आया था कि क्या शब्द और उसके अर्थ में कोई

---

१. And yet the so-called Arab Sciences are not altogether pure native products—Dr. T. J. De Boer (The History of Philosophy in Islam, London, 1903, p. 31)।

२. इस सम्बन्ध में अंटिस्थिनिट, हीराक्लीटस तथा पिथागोरस आदि के नाम मिलते हैं।

स्वाभाविक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि क्या पुस्तक का 'पुस्तक' नाम ही स्वाभाविक है? यदि कोई दूसरा नाम रखा जाता तो क्या वह अस्वाभाविक हो जाता? इसका सुकरात नकारात्मक उत्तर देते हैं, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर माना हुआ सम्बन्ध है, इसी कारण प्रत्येक भाषा में पृथक्-पृथक् नाम हैं। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो सम्भवतः एक वस्तु का प्रायः एक ही नाम सभी भाषाओं में होता। इतना ही क्यों, तब तो संसार में एक ही भाषा (स्वाभाविक) भी सम्भवतः होती। पर, इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम्भव नहीं है, जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु और नाम का स्वाभाविक सम्बन्ध हो। सुकरात का यह द्वितीय कथन स्पष्ट ही सत्य से दूर है।

२. प्लेटो (४२६ से ३४७ ई० पू०)—प्लेटो अपने गुरु सुकरात की भाँति ही दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आनुषंगिक रूप से इन्होंने 'क्रेटिमस' तथा 'सोफ़िस्ट' आदि में अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किये हैं। इनके द्वारा दी गई बातों को संक्षेप में यों गिनाया जा सकता है: (क) यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लेटो को ही है। इन्हीं ने ग्रीक-ध्वनियों को घोष और अघोष दो वर्गों में बाँटा और फिर अघोष के भी दो भेद किये। (ख) 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा पर विचार करते समय इन्होंने स्पष्ट किया है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा दे देते हैं। अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यतः एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते हैं। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलतः भाषा और विचार एक हैं, पर वाह्य अंतर इतना अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक। (ग) उद्देश्य-विधेयक तथा वाक्यों आदि की ओर भी इन्होंने कुछ संकेत किये हैं। इस प्रकार वाक्य के विश्लेषण तथा शब्द-भेदों के सम्बन्ध में भी उन्हें कुछ ज्ञान होने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। (घ) इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्ति की ओर भी संकेत मिलता है, पर उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

३. अरस्तू (३८५ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)—अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भाँति तत्ववेत्ता थे, पर आनुषंगिक रूप से आपने भी भाषा पर कुछ विचार किया, और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढ़ाया। अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोलटिकस' है। इसके द्वितीय भाग के २२वें तथा १५वें अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशेष रूप में भाषाविज्ञान से सम्बन्धित न होने पर भी महत्त्वपूर्ण है, अतः कुछ विस्तार से देखने योग्य है। (क) अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं। इसके उन्होंने स्वर, अंतस्थ और स्पर्श तीन भेद किये हैं। इनके आगे दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि अन्य भेद किये गये हैं। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जो बिना जिह्वा या ओंठ के उच्च-

रित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती है। (ख) मात्रा तथा सम्बन्धसूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। (ग) वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया का विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है। (घ) कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है। (ङ) शब्द, मोटे रूप से 'साधारण' और 'दुहरे', दो प्रकार के माने गये हैं। साधारण से अरस्तू का अर्थ 'अर्थरहित' से है और दुहरे शब्द वे हैं जिनमें 'सार्थक' और 'निरर्थक' दोनों तत्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौहरे शब्द भी माने गये हैं। शब्द के शुद्ध, विदेशी, परिवर्तित, मनगढ़ंत आदि और भी भेद किये गये हैं, जो शब्द-समूह (vocabulary) की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। प्लेटो के वाग्भाग (parts of speech) को पूरा कर ८ बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है। (च) अरस्तू ने स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग तथा उनके लक्षणों पर भी विचार किया है।

४. अरस्तू और थ्रैक्स के बीच का कार्य—अरस्तू के पद-विभाजन को बाद के ग्रीक-वैयाकरणों ने आगे बढ़ाया। उस आधार को कुछ विकसित करके व्यंजनों के तनु (tenues), मध्य (media) और महाप्राण (aspiratae) तीन भेद किये। इस सम्बन्ध में स्तोइक-वर्ग के तत्ववेत्ताओं के कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके बहुत-से पारिभाषिक शब्द लैटिन भाषा का बाना पहन कर आज भी व्याकरण के क्षेत्र में शुद्ध या अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं। स्तोइक-वर्ग के विद्वानों के बाद ग्रीक विद्वानों का अलक्षेंद्र-सम्प्रदाय (Alexandrian School) आता है। इन विद्वानों ने ग्रीक भाषा के प्राचीन कवियों की कविताओं को लोगों को समझाने के लिए कुछ अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप शब्दों के नियमित या सादृश्य से प्रभावित तथा अनियमित रूपों की ओर ध्यान गया। साथ ही अर्थ को समझने में कुछ 'अर्थविज्ञान' पर भी प्रकाश पड़ा।

५. डियोनीसिअस थ्रैक्स (२री सदी ई० पू०)—ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण थ्रैक्स महोदय हैं। इनका प्रधान कार्य पुरुष, काल, लिंग तथा वचन आदि पर प्रकाश डालना है। यूरोप में, 'स्वर के स्वयं उच्चरित होने, तथा व्यंजन के स्वर की सहायता से उच्चरित होने की बात' सर्वप्रथम इन्होंने ही की थी। इसके अतिरिक्त कर्त्ता और क्रिया के सम्बन्ध पर भी इन्होंने सम्यक् विचार किया है। थ्रैक्स के बाद इनकी एक शिष्य-परम्परा चलती रही, जिसमें अपोलोनियस डिसकोलस अधिक प्रसिद्ध हैं। डिसकोलस ने प्रमुख रूप से वाक्यविज्ञान पर कार्य किया था। बाद में भी थ्रैक्स और डिसकोलस को आधार मानकर बहुत से ग्रंथ लिखे गये।

६. यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युग—ग्रीस और रोम से संपर्क बढ़ने पर आदान-प्रदान में रोमवालों ने ग्रीस की भाषा-अध्ययन-प्रणाली को भी अपनाया, जिनके फलस्वरूप लैटिन के भी व्याकरण लिखे जाने लगे। प्रथम प्रामाणिक

लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय १५वीं शती के एक विद्वान् लौरेंशस वाल को है। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिस्किअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण लिखे हैं। इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, जिसका फल यह हुआ कि ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इन परिस्थितियों में विद्वानों को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू (Old Testament की भाषा) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण लोग हिब्रू को स्वर्ग में बोली जाने वाली तथा सभी भाषाओं की जननी मानते थे। इसी आधार पर मिलते-जुलते शब्दों के कोश बनने लगे और यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों को हिब्रू के शब्दों से व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्बन्धित माना गया। ऐसे अनुमानों का एक मात्र आधार ध्वनि-साम्य तथा कभी-कभी अर्थ-ध्वनि-साम्य था। इसी सिलसिले में विद्वानों ने सीरियन और अरबी आदि का भी कुछ अध्ययन किया।

नवीन युग के कुछ पहले जागरण-आन्दोलन (renaissance) के कारण सभी लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर गया। फल यह हुआ कि कोश आदि में व्युत्पत्ति के लिए लोग प्राचीन शब्दों को भी देने लगे। इन प्राचीन धार्मिक एवं नवीन सामाजिक आन्दोलनों से भाषा के अध्ययन में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण बातें घटित हुईं: (क) तुलनात्मक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया। (ख) विद्वानों को कुछ-कुछ इस बात का संकेत मिला कि शब्द धातुओं पर आधारित हैं। (ग) लैटिन तथा ग्रीक के मूलतः किसी एक भाषा से निकले होने का आभास मिला। (इस प्रकार भाषा-परिवारों के ज्ञान का मूल भी यही है।)

प्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज़ भी भाषा के अध्ययन का प्रेमी था। उसी से प्रभावित होकर पीटर-महान् ने शब्दों का संग्रह करवाया। रानी कैथरिन-द्वितीय ने भी इस कार्य में प्रोत्साहन दिया। इन्हीं लोगों के फलस्वरूप पल्लस, हर्वस तथा एडलंग आदि विद्वानों ने शब्द-संग्रह के सुन्दर कार्य किये। विशेषतः पल्लस (१७४१-१८११) महोदय का संग्रह एशिया और यूरोप की बहुत-सी भाषाओं के आधार पर था, जिसके प्रथम संस्करण में २८५ शब्द तुलनात्मक ढंग पर दिये गये थे। १८वीं सदी के काम करने वालों में हर्डर और जेनिश के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रूसो ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में निर्णय-सिद्धांत को ठीक माना था। इस सिद्धांत की अव्यावहारिकता भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं। इसी प्रकार कंडिलैक् ने भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। उत्पत्ति के प्रश्न के सम्बन्ध में जे० जी० हर्डर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्डर ने १७७२ में बर्लिन एकेडमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' नामक निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने दैवी उत्पत्ति का सफलता के साथ खंडन किया। साथ ही उन्होंने यह भी नहीं माना कि मनुष्य ने भाषा बनायी। उनका कहना यह था कि आवश्यकता के कारण भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ। १७९४ में बर्लिन एकेडमी ने पूर्ण और आदर्श भाषा पर लेख के सम्बन्ध में एक प्रतियोगिता की। डी० जेनिश नामक एक जर्मन विद्वान् इस प्रतियोगिता में

प्रथम रहे। इस निवन्ध में जेनिश ने ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं को तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास किया था। इस तुलना की कसौटी के लिये तथा आदर्श भाषा के लिए उन्होंने चार बातें बतलाईं : (क) भाषा का सम्पन्न होना—इसमें भाषा का शब्द-समूह, तथा नये शब्द बनाने की क्षमता आदि बातें आती हैं। (ख) भाषा की शक्ति—'कम से कम शब्द और सरल से सरल युक्ति से भाषा अधिकाधिक अभिव्यक्ति कर सकती है या नहीं ?' तथा 'व्याकरण के रूप कठिन हैं या सरल ?' आदि बातों का इसमें समावेश है। (ग) स्पष्टता—शब्दों के अर्थ निश्चित हैं या नहीं ? इसी प्रकार नियम स्पष्ट तथा निश्चित हैं, या अस्पष्ट एवं लचीले। निश्चित अर्थ और नियमों वाली भाषा अधिक स्पष्ट कही जायगी। (घ) माधुर्य—बोलने तथा सुनने में कोई भाषा कितनी मधुर है, इसका सम्बन्ध ध्वनि से है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर जेनिश द्वारा की गई तुलना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष थी।

यहाँ भाषा-सम्बन्धी प्राचीन यूरोपीय अध्ययन का अन्त होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय अध्ययन की तुलना में यह अध्ययन बहुत ही पिछड़ा हुआ है।

(ब) आधुनिक

जिस प्रकार भारत में भाषा-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग से आरम्भ हुआ, उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान् भारत में संस्कृत सीख कर ही वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन में सफल हो सके। पर, इसका आशय यह नहीं कि नवीन अध्ययन एक मात्र संस्कृत के ज्ञान के कारण हुआ। अब तक लोग साधारण ढंग से भाषा का विश्लेषण करते थे। चौड़ाई स्थान होने के कारण गहराई में जाना लोगों के लिये स्वाभविक नहीं था। पर, जब ऊपर स्थान समाप्त हो गया और भाषाओं से अपेक्षाकृत लोग अधिक परिचित हो गये, तो गहराई में जाना भी स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार १९वीं सदी के आरम्भ से ही विद्वान् भाषा के सम्बन्ध में अधिक शास्त्रीय और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने लगे। इस आधुनिक युग के भी दो चरण हैं—प्रथम चरण को 'प्रत्न-युग' और द्वितीय को 'नवयुग' कहा जा सकता है।

(क) प्रत्य-युग

हम ऊपर संस्कृत के यूरोप में प्रवेश के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता मिलने का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम प्रयास तो फ्रान्सीसी पादरी कोर्दो (Coeurdoux) का १७६७ में ही हुआ था, जब उसने ग्रीक, लैटिन, तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ शब्दों से संस्कृत-शब्दों की तुलना करने का प्रयास किया था। उक्त लेख को उसने भारत से फ्रेंच-इन्स्टीच्यूट में भेजा था। दुर्भाग्य से उस समय

वह लेख लोगों के समक्ष न आ सका और इसी कारण कोर्दो इस विषय में अग्रणी न माने जा सके।

१. सर विलियम जोंस (१७४६-१७९६)—जोन्स साहब कलकत्ता हाईकोर्ट में चीफ़ जस्टिस थे। यहाँ आपने संस्कृत का अध्ययन किया तो आपको यूरोपीय भाषाओं से अनेक दृष्टियों से अभूतपूर्व साम्य दिखाई पड़ा। १७९६ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की नींव डालते हुए आपने संस्कृत के महत्त्व की घोषणा की और संस्कृत को कई बातों में ग्रीक और लैटिन से भी श्रेष्ठ* बतलाया। इनकी इस घोषणा के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

जोन्स महोदय ने अपने इसी व्याख्यान में शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गाथिक, केल्टिक तथा पुरानी फ़ारसी को एक मूल से निकली होने का अनुमान लगाया था।

२. हेनरी थामस कोलब्रुक (१७६५-१८३७)—कोलब्रुक भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत के सम्बन्ध में बहुत-से निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया। ये संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अरबी तथा फ़ारसी के भी विद्वान् थे।

३. फ्रीड्रिख वान श्लोगल् (१७७२-१८२९)—श्लेगल् भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने केवल भाषा की दृष्टि से संस्कृत को न पढ़कर दर्शन और काव्य का भी अवगाहन किया था। आपने पेरिस जाकर १८०३ में एक सिपाही अलेक्जेंडर हैमिल्टन से, जो युद्ध का कैदी था, संस्कृत पढ़ी थी और बाद तक ज्ञानवृद्धि करते रहे। भारतीय भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ (On the Language and the Wisdom of the Indians) १८०८ में प्रकाशित हुआ। इन्हीं के कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रचार बढ़ा। तुलनात्मक व्याकरण के विषय में भी आवाज उठाने वाले प्रथम विद्वान श्लेगल् ही हैं। इसके अतिरिक्त, इन्होंने बहुत-से ऐसे शब्दों को इकट्ठा किया जो बिना किसी विशेष अर्थ या ध्वनि-सम्बन्धी अंतर के ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत में एक थे। इनके पूर्व कुछ लोगों का विश्वास था कि भारतीयों के उधार लेने के कारण ही शब्द-साम्य मिलता है, पर श्लेगल् ने पुष्ट आधारों पर इसका खंडन किया। तुलना करने में आपने कुछ ध्वनि-परिवर्तन तथा ध्वनि-नियमों (लैटिन f के लिये स्पैनिश h; जर्मन f के लिये लैटिन p आदि) की ओर भी संकेत किया था। कहना न होगा कि जर्मन ध्वनि-नियम की जानकारी का मूल बीज यहीं है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करने वाले प्रथम विद्वान् भी श्लेगल् ही हैं। इन्होंने भाषाओं को २ वर्गों में रक्खा — (१) संस्कृत तथा सगोत्रीय भाषाएँ— श्लेगल् द्वारा दी गई इस वर्ग की परिभाषा बहुत कुछ आज के श्लिष्ट वर्ग से मिलती-

---

*The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more coprious than the Latin, and more exquisitely refined than either......

घुलती है। (२) अन्य भाषाएँ—इस वर्ग को श्लेगल् लगभग अश्लिष्ट वर्गीय मानते हैं, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। इस दूसरी शाखा के अंत में वे चीनी भाषा को स्थान देते हैं, पर साथ ही उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि अन्य भाषाओं से चीनी कुछ भिन्न है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से २ वर्ग बनाते हुए भी श्लेगल् ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा है।

भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनका विश्वास था कि इसके लिए एक ही आधार नहीं माना जा सकता। मांचू आदि कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें अनुकरणात्मक एवं अनुरणनात्मक शब्द अधिक हैं, अतः उस भाषा की उत्पत्ति में अवश्य ही प्रकृति तथा जीव-जंतुओं का अधिक हाथ है, पर संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं के लिए भी यही बात नहीं कही जा सकती। अपने परिणाम निकालने के जोश में श्लेगल् ने बहुत-सी ऊल-जलूल बातें भी कही हैं। उनका कहना है कि फ़ारसी और जर्मन भाषा में बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। इसी प्रकार उनका यह भी विश्वास था कि भारत के दर्शन एवं काव्य का भाषाविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धांतों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्हें यह भी आशा थी कि जिस प्रकार ग्रीक के अध्ययन से यूरोपीय विचारों में क्रान्ति मच गई, उसी प्रकार संस्कृत के अध्ययन से भी हो सकती है।

४. अडोल्फ डब्ल्यू० श्लेगल् (१७६७-१८४५)—ये श्लेगल् के बड़े भाई थे और उन्हीं की भाँति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। फ्रीड्रिख श्लेगल् द्वारा किये गये भाषाओं के अप्रत्यक्ष तीन वर्गों को इन्होंने स्पष्ट किया। इनका विश्वास था कि संस्कृत आदि श्लिष्ट भाषाएँ सर्वोच्च हैं। इन्होंने संस्कृत तथा उसकी सगोत्रीय भाषाओं (श्लिष्ट वर्ग) को दो उपवर्गों (संयोगात्मक और वियोगात्मक) में बाँटने का कार्य किया, और दोनों का अन्तर बड़े वैज्ञानिक ढंग से समझाया।

५. विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ट्ट (१७६७-१८३५)—हम्बोल्ट्ट प्रधान रूप से राजनीति से सम्बन्धित थे, पर भाषाविज्ञान के भी गंभीर अध्येता थे। इस सम्बन्ध में बॉप जैसे प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी से इनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इतना ही नहीं, इनके विचारों से प्रभावित होकर ग्रिम जैसे विश्व-विश्रुत भाषाशास्त्रवेत्ता को अपने कुछ सिद्धान्तों को बदलना पड़ा था। भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक सिद्धांत इनके पूर्णतः अपने हैं। इनकी शैली इतनी ठोस और क्लिष्ट थी कि इनके विचारों को सार रूप से कहना येसपर्सन जैसे विद्वान् भी एक कठिन कार्य मानते रहे हैं। हम्बोल्ट्ट के शिष्य हेमैन स्टेन्थल ने इनके विचारों को कई प्रकार से कई बार समझाया है, और आश्चर्य यह है कि प्रत्येक बार समझाना पिछली बार से भिन्न है।

हम्बोल्ट्ट भाषा को एक अबाध कार्य मानते हैं। इसीलिए वे भाषा को स्थिर परिभाषा में बाँधने के पक्ष में भी नहीं हैं। इनकी दृष्टि में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है। वे भाषा को नियमों द्वारा शब्दों में विश्लेषित करने को अस्वाभाविक मानते हैं। भाषाओं को वे कम या अधिक पूर्ण मानते हैं, और जंगली भाषाओं को भी

कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक भाषा का अपना व्यक्तित्व है जो भाषा की गतिविधि को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। हम्बोल्ड्ट बोलियों को भी अपने में पूर्ण मानते हैं, क्योंकि वे किसी रूप में अपने बोलने वालों का पूरा व्यक्तित्व व्यक्त करती हैं।

भाषा-वर्गों के सम्बन्ध में चीनी को, जिसमें व्याकरण के रूप नहीं हैं, वे अलग मानते हैं। शेष को ३ वर्गों—श्लिष्ट, अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट—में रखते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि कोई एक भाषा निश्चित रूप से एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। सभी भाषाओं में कुछ न कुछ कई वर्गों के लक्षण मिल सकते हैं। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के विषय में इनका मत था कि विभिन्नता के आधिक्य के कारण सफल वर्गीकरण सम्भव नहीं है। हम्बोल्ड्ट ने बोलनेवाले के मानसिक स्तर में परिवर्तन का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव माना है। शब्दों को धातु पर आधारित मानने के पक्ष में भी वे थे। प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि कभी न कभी ये स्वतन्त्र शब्द अवश्य थे। इनके अनुसार किसी का आरम्भ और अन्त हम नहीं जान सकते, इसलिए भाषा की उत्पत्ति के विषय में हमें व्यर्थ में सर खपाना ठीक नहीं। उसके प्राप्त इतिहास का अध्ययन ही पर्याप्त है। हम्बोल्ड्ट ने भाषा के प्रतिदिन के व्यावहारिक रूप पर अधिक न कह कर सूक्ष्म बातों तथा भाषा के दर्शन पक्ष पर ही अधिक विचार किया है।

भाषाविज्ञान को इनकी सबसे बड़ी देन इनका भाषा-अध्ययन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पिता कहा गया है। जावा की भाषा का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उस सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी थी।

६. रैज्मस रैस्क (१७८७-१८३२)—रैस्क डैनिश विद्वान् थे। ये शैशवावस्था से ही व्याकरण मे विशेष प्रेम रखते थे। बड़े होने पर इन्होंने प्राचीन नार्स (आइसलैंड की भाषा) का अध्ययन किया। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैंडिक व्याकरण' १८११ में प्रकाशित हुई, जो उस समय के लिए अभूतपूर्व पुस्तक थी। १८१४ में इन्होंने प्राचीन नार्स पर एक बहुत सुन्दर निबन्ध लिखा। उसे देखते हुए बहुत-से विद्वान् रैस्क को आधुनिक भाषाविज्ञान के पिता मानने के पक्ष में हैं। रैस्क के अनुसार, किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा की गठन एवं शब्द-समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। विशेषतः उस काल के लिये, जिसकी कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न हो, भाषा से उत्तम और कोई साधन नहीं है। रैस्क ने अपने सारे सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन आइसलैंडिक भाषा के आरम्भ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यह करते समय उन्होंने सगोत्रीय भाषाओं पर भी विचार किया है। इस प्रसंग में इस परिवार की कुछ भाषाओं के सम्बन्धों का उसमें सुन्दर वर्णन है। इसी सिलसिले में रैस्क ने फ़िनो-उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण भी किया है जो बहुत ही प्रामाणिक है। रैस्क भारतवर्ष भी आये थे। अवेस्ता को आर्य-परिवार में उचित स्थान

दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके पूर्व के विद्वानों का मत इस सम्बन्ध में नितान्त भ्रामक था। इसके अतिरिक्त रैस्क ने ही सर्वप्रथम द्रविड़ भाषाओं को—जिन्हें वह 'मालाबारिक' कहते हैं—संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया। कीलाक्षरीय लेखों के दो अस्पष्ट वर्णों को पढ़ने में भी पहले-पहल रैस्क ही सफल हुए। १८१६ में ये देशाटन करने निकले और लगभग ७ वर्षों तक स्वेडेन, फ़िनलैंड, रूस, तुर्की, ईरान तथा भारत आदि में घूमते और भाषाओं का अध्ययन करते रहे। इन्होंने बहुत-सी भाषाओं के व्याकरण लिखे, जिनमें प्रमुखत: रूप-विचार-सम्बन्धी अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

७. याकोब ग्रिम (१७८५-१८६३)—फेयरी टेल्स के लेखक यही ग्रिम महोदय हैं। इनका जन्म जर्मनी में एक वकील-परिवार में हुआ था। इन्होंने स्वयं भी वकालत पढ़ी थी। बाद में प्राचीन जर्मन के अध्ययन की ओर झुके। अपने भाई विल्हेम के साथ इन्होंने लोक-संस्कृति-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की और कुछ प्रकाशित भी की। प्राचीन पंडितों की भाँति पहले ये भी भाषा के सम्बन्ध में आनुमानिक व्युत्पत्तिशास्त्र पर काम कर रहे थे, पर रैस्क के कार्य और श्लेगल् की आलोचना से इन्हें होश आया, और तब इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्रीय भाषाओं का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। रैस्क के 'आइसलैण्डिक व्याकरण' का परिचय देते हुए इन्होंने बोलियों और असभ्य भाषाओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। अब तक लोगों का अध्ययन केवल प्राचीन भाषाओं तक सीमित था, पर ग्रिम ने ही सर्वप्रथम वर्तमान भाषाओं और बोलियों के अध्ययन पर जोर दिया। ग्रिम की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक उनका 'देवभाषा व्याकरण' (Deutsche Grammatik) है। जर्मन भाषा का यह व्याकरण १८१६ में प्रकाशित हुआ। जैसा कि भूमिका में उन्होंने लिखा है यह अपने ढंग का प्रथम व्याकरण था। इसमें पूरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। १८२२ में इसका दूसरा संस्करण निकला, जिस पर रैस्क के व्याकरण का बहुत प्रभाव था। इन्होंने स्वयं रैस्क की बहुत तारीफ की है। इस दूसरे संस्करण में ध्वनि-प्रकरण में नवीनता थी। इसी प्रकरण में इन्होंने Lautverschiebung (वर्ण-परिवर्तन) का विवेचन किया है, जिसे मैक्समूलर के बाद से ग्रिम-नियम कहा जाने लगा। यद्यपि इसका बीज रैस्क में है, अत: उचित नाम तो 'रैस्क-नियम' ही होता। प्रस्तुत नियम पर हम लोग पीछे ध्वनि-नियम प्रकरण में विचार कर चुके हैं। ग्रिम के गढ़े हुए बहुत से पारिभाषिक शब्द (umlaut, ablaut आदि) आज भी भाषाविज्ञान में प्रचलित हैं। इन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा ध्वनि के अतिरिक्त वाक्य पर भी कार्य किया है। इनके व्याकरण के चौथे भाग में यह प्रकरण देखने ही योग्य है। जीवन के अन्तिम चरण में ग्रिम बर्लिन में अध्यापक थे और अन्त तक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य करते रहे।

८. फ़्रान्त्स बॉप—उस युग के भाषाविज्ञान के प्रधान स्तम्भों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का भी नाम आता है। ये अपनी अवस्था के बीस वर्ष समाप्त करने के बाद ही पेरिस जा पहुँचे और वहाँ संस्कृत का अध्ययन करने लगे। बॉप भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पिता कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में इनकी प्रथम पुस्तक 'धातु-

प्रक्रिया' १८१६ में प्रकाशित हुई, जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप तुलनात्मक ढंग से दिये गये थे। इसके बाद काफ़ी दिनों तक ये संस्कृत-अध्येता के रूप में संस्कृत-पुस्तकों का संपादन और उनका अध्ययन करते रहे। संस्कृत की कुछ पुस्तकों से इनके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। १८२२ में बॉप प्रसिद्ध बर्लिन-एकेडमी में अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद १६वीं सदी के दूसरे चरण में (१८३३ और १८४६ के बीच में) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान् लेखक ने संस्कृत, अवेस्ता, आर्मीनीयन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गॉथी तथा जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण दिया है। बॉप प्रधानतः इस बात का अध्ययन करना चाहते थे कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके लिए उन्होंने संस्कृत को अपनाया। और भाषाओं को छोड़ कर संस्कृत को ही क्यों अपनाया, इसका भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। वे यह निश्चित रूप से मानते थे कि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि का विकास किसी एक भाषा से हुआ है, पर साथ ही यह भी मानते थे कि उस मूल भाषा की विशेषताएँ संस्कृत में औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। इसी कारण इन्होंने संस्कृत पर अपनी खोज आधारित की और प्रथम पुस्तक (धातु-प्रक्रिया) में संस्कृत को ही आधार माना तथा इसी के तुलनात्मक ढंग से मूलरूपों को जानने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त बॉप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी लिखा है। प्रत्ययों के विषय में हार्नी-टुके तथा हम्बोल्ड्ट आदि की भाँति बॉप का भी विश्वास था कि ये कभी-न-कभी स्वतंत्र शब्द अवश्य थे। स्वरों के सम्बन्ध में बॉप का विचित्र मत था। पहले इनका विश्वास था कि लिपि की अपूर्णता के कारण ही यूरोपीय भाषाओं के ए और ओ के स्थान पर संस्कृत में अ मिलता है। बाद में ग्रिम के प्रभाव से अ, इ और उ को ही उन्होंने मूल स्वर माना, फिर भी ये तथा इनके अनुगामी संस्कृत के अ को मूल भाषा का प्रतिनिधि मानते रहे। १८८० के लगभग 'तालव्य नियम' की खोज के बाद इस भ्रम का निवारण हो सका। बॉप सामी धातुओं को भारोपीय भाषाओं से भिन्न मानते हैं। सामी धातुएँ तीन वर्णों (letters) की होती हैं।[1] उनमें अधिकतर दो अक्षर (syllables) होते हैं : दूसरी भारोपीय धातुओं में वर्णों की संख्या निश्चित नहीं हैं, पर वे सर्वदा एक अक्षर की होती हैं। ग्रिम ने अपश्रुति (ablaut) के अन्तर्गत आने वाले ध्वनि-परिवर्तन का कारण मनोवैज्ञानिक माना था। इसका बॉप ने विरोध किया और शब्द के अन्तिम अंश में इसका कारण निहित बतलाया। बॉप ने, श्लेगल् द्वारा किये गये भाषाओं के दो वर्गों को अशुद्ध बतलाया और श्लेगल् के तीन वर्गों में कुछ सुधार करके अपना तीन वर्ग इस प्रकार रक्खा—१. चीनी आदि बिना व्याकरण की भाषाएँ, २. भारोपीय आदि एकाक्षरीय धातु की भाषाएँ, तथा ३. तीनवर्णीय या दो अक्षर की धातु की सामी

१. कुछ धातुएँ ४ या ५ वर्णों की भी होती हैं, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है।

भाषाएँ। बॉप ने सामान्य रूप से भाषा-सम्बन्धी बहुत-सी समस्याओं का स्पर्श किया, किन्तु वे गहराई में न जा सके। जैसा कि येस्परसन ने संकेत किया है—गम्भीर पाठक के लिए बॉप में आलोचना के योग्य बहुत-सी बातें मिल जाती हैं। बॉप का सबसे बड़ा सिद्धान्त-वाक्य[1] यह था कि भाषाविज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित परिधि के भीतर ही सत्य होते हैं।

६. पश्च पर एक दृष्टि—यूरोप में संस्कृत के प्रवेश से १६वीं सदी के मध्य तक भाषाविज्ञान का जो अध्ययन हुआ, समय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी अध्ययन की गहराई और दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि आगे के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई थी। इसीलिए इस युग को कुछ लोगों ने 'सामग्री-संग्रह युग' का नाम दिया है। इन पाँच दशाब्दियों के अध्ययन की मुख्य प्रवृत्तियों को हम उँगलियों पर गिन सकते हैं : (१) संस्कृत का विशेष महत्त्व माना जाता था और इसी कारण सभी भाषाविज्ञानी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते थे। (२) प्राचीन या क्लासिकल भाषाओं का ही अध्ययन प्रधान रूप से किया जाता था। वर्तमान भाषाओं का यदि थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ भी तो उनमें भी पुरानी भाषाओं के ही लक्षणों को खोजने की धुन थी। (३) कुछ-कुछ तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी होने लगा था, पर प्रायः सामान्य लक्षणों पर ही अधिक बल दिया जाता था। (४) परिवारों की कल्पना अपने धुंधले रूप में आने लगी थी। (५) आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर भी लोगों का पर्याप्त ध्यान जाने लगा था। (६) प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्द मानने लगे थे। (७) भाषाविज्ञान को लोग अन्य विज्ञानों की भाँति निश्चित विज्ञान बनाने की आशा रखते थे।

१०. आगस्ट एफ० पॉट—ये वैज्ञानिक व्युत्पत्तिशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। इन्होंने इस सम्बन्ध में एक बड़ी पुस्तक लिखी। अब तक तुलनात्मक ध्वनियों की तालिका (table) नहीं बनायी गयी थी। इसका श्रेय भी पॉट को मिला। इसके अतिरिक्त पॉट ने बॉप के व्याकरण का संस्कार किया।

पॉट के समकालीन कुछ और भी विद्वान् हुए जिन्होंने उपर्युक्त तीन महारथियों के मार्ग पर कुछ कार्य किया।

११. के० एम० रैप—रैप ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनिशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में इन्होंने एक बड़ी पुस्तक भी लिखी, जिसके चार भाग क्रम से १८३६, '३६, '४० और '४१ में प्रकाशित हुए। रैप ने कई देशों में जाकर जीवित भाषाओं का अध्ययन किया और डेनमार्क जाकर रैस्क की शिष्यता स्वीकार की। इनका विश्वास था कि किसी भाषा के प्राचीन इतिहास का अध्ययन अपने में पूर्ण नहीं है। उसे पूर्णता देने के लिए जीवित भाषा का भी अध्ययन अनिवार्यतः

१. Laws of philology are true only within certain limits.

आवश्यक है। यह बात ग्रिम के सिद्धान्तों के विपरीत थी। रैप ने एक ओर अन्य बातों के लिए ग्रिम की तारीफ़ की, पर इसके लिए उसका घोर विरोध किया। दुःख है कि इस विरोध के कारण ही रैप के ग्रन्थ का यथोचित स्वागत न हो सका। इस स्वागत के न होने का एक और कारण यह भी था कि कुछ सत्यता और मौलिकता होने पर भी पुस्तक में इतनी अधिक अशुद्धियाँ थीं कि विद्वानों के द्वारा उसका हेय समझा जाना स्वाभाविक था। कुछ भी हो, ध्वनि के सम्बन्ध में रैप का अध्ययन स्तुत्य है। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध की स्थापना करके उन्होंने जो ध्वन्यात्मक अनुलेखन (phonetic transcription)—मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं का—किया है, वह भी कम श्लाघ्य नहीं है। येस्पर्सन के इस कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि यदि ग्रिम आदि विद्वानों ने रैप के मौलिक मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया होता तो भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रगति और भी तीव्र हो गई होती।

१२. जे० एच० ब्रेड्स्डार्फ—ब्रेड्स्डार्फ डैनिस विद्वान् थे। ग्रिम, बॉप आदि ने भाषा के विकास के कारण पर ध्यान नहीं दिया था। इस ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय ब्रेड्स्डार्फ को है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ १८२१ में प्रकाशित हुआ। यों तो ये प्रधानतः ध्वनिशास्त्र के विशेषज्ञ थे, पर उक्त ग्रंथ में इन्होंने भाषा के सामान्य परिवर्तन के कारणों पर भी विचार किया और उन्हें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया। संक्षेप में हम कारणों को गिन सकते हैं— १. शब्दों को अशुद्ध सुनना या उनके अर्थ को न समझना, २. अशुद्ध स्मरण, ३. ध्वनि-अवयव की अपूर्णता, ४. आलस्य (विदेशी प्रभाव के कारण होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त होने वाले ध्वनि-परिवर्तन में लगभग ६० प्रतिशत का कारण ब्रेड्स्डार्फ इस 'आलस्य' को ही मानते हैं।), ५. सादृश्य की ओर जाने की प्रवृत्ति, ६. स्पष्ट होने का प्रयास, तथा ७. नये विचारों को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता। इसके अतिरिक्त ब्रेड्स्डार्फ यह भी मानते थे कि कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो उपर्युक्त कारणों से घटित हुए नहीं कहे जा सकते और उनमें से अधिक के मूल में विदेशी प्रभाव कार्य करता है। यह कहना न्यायसंगत ही होगा कि बहुत-सी बातों में (सादृश्य आदि) ब्रेड्स्डार्फ अपने युग से बहुत आगे थे।

१३. रूडल्फ राथ (१८२१-१८९५) तथा ओटो बार्टलिक (१८१५-१९०४)—ये दोनों ही संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् तथा भाषाशास्त्रवेत्ता थे। इन दोनों ने मिलकर St. Petersbury Dictionary नामक संस्कृत का एक बहुत बड़ा कोश तैयार किया। इस कोश की विशेषता यह है कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातु के आधार पर दी गई है।

१४. आगुस्ट श्लाइखर (१८२१-६८)—यूरोप में संस्कृत-प्रवेश के समय से भाषाविज्ञान का आधुनिक युग मान कर यदि हम इस युग के दो भाग कर दें, तो प्रथम चरण के ऊर्ध्व बिन्दु पर श्लाइखर आसीन मिलते हैं। इनके बाद आधुनिक युग का दूसरा चरण आरम्भ होता है, जिसके ध्येय और मार्ग दोनों ह ् कुछ भिन्न हैं।

श्लाइखर शुरू से आखीर तक भाषाविज्ञानी—स्वयं अपने शब्दों में 'Glottiker' थे। उन्हें कई भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था, तथा उनकी विवेचन-शैली बहुत ही प्रौढ़ और दो-टूक थी। इन्हीं सब कारणों से बहुत दिनों तक उनकी पुस्तकें इस क्षेत्र में प्रामाणिक समझी जाती रहीं और वे अग्रणी बने रहे। श्लाइखर स्लावोनिक और लिथुआनियन के विशेषज्ञ थे, और विशेषतः लिथुआनियन को तो वहाँ जाकर उन्होंने सीखी थी तथा बहुत-सी कथाओं और गीतों को वहाँ के किसानों के मुँह से सुनकर नोट भी किये थे। वे कुछ दिन तक प्राग विश्वविद्यालय में अध्यापक थे, जहाँ उन्हें चेक सीखने का भी अवसर मिला। रूसी का भी उन्हें ज्ञान था। इस प्रकार कई भाषाओं के वे ज्ञाता थे। शैशवावस्था में उनके पिता उन्हें ग्राम्य वातावरण से दूर रख कर शुद्ध भाषा की शिक्षा देना चाहते थे। इनकी प्रतिक्रिया इतनी हुई कि जनभाषा की ओर ही वे विशेष झुके, और लोकगीतों पर पुस्तकें तक लिखीं। इस प्रकार मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं की ओर श्लाइखर की रुचि थी। श्लाइखर भाषाविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन तथा भौतिकविज्ञान के भी प्रेमी थे। इनके बहुत-से सिद्धान्तों को उन्होंने भाषाविज्ञान में भी लागू किया। श्लाइखर हीगेल के बहुत ऋणी हैं। उनकी प्रथम दो पुस्तकों के आमुख पूर्णतः हीगेल से प्रभावित हैं। डारविन की भाँति वे भाषा को भौतिक वस्तु (material thing) मानते थे। इसके लिए विरोध भी हुआ था जिसके फलस्वरूप, उत्तर में उन्हें एक पुस्तक लिखनी पड़ी। भौतिकविज्ञान से भाषा को वे इतनी मिली मानते थे कि मनुष्यों का वर्गीकरण खोपड़ी या बालों के आधार पर न कर, भाषा के आधार पर करना अधिक ठीक मानते थे। उनका कहना था कि भाषा अधिक स्थिर चीज है।

हीगेल के त्रयवाद (trilogics) के आधार पर श्लाइखर ने भी भाषाओं के तीन वर्ग बनाये—(क) अयोगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ का बोध होता है। (ख) अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ और सम्बन्ध दोनों का बोध होता है। (ग) श्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ—जिनमें अर्थ और सम्बन्ध प्रकट करने वाले अंग आपस में मिले रहते हैं।

इन तीनों वर्गों को उन्होंने बीजगणित की भाँति धातु = R, उपसर्ग = P, प्रत्यय = S तथा आंतरिक परिवर्तन = X मानकर समझाया भी है। इस वर्गीकरण को ह्विटनी तथा मैक्समूलर ने पूर्णतः मान लिया था, यद्यपि भाषाविज्ञान की विशुद्ध दृष्टि से इसमें कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं।

श्लाइखर की सबसे मौलिक देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है। इसके पुनर्निर्माण का विचार उनके मस्तिष्क में बहुत पहले से नाच रहा था, पर अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्पेंडियम' के पूर्व वे इस पर विस्तारपूर्वक विचार न कर सके। इस पुस्तक में उन्होंने उस मूल भाषा के स्वर, व्यंजन, धातु तथा रूप-रचना आदि पर स्वतन्त्र अध्यायों में विचार किया। मूल भाषा के सम्भावित रूपों को देते हुए उनसे निकलने वाले

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा गॉथिक आदि रूपों को भी दिया। इन संभावित रूपों में उन्होंने एक कहानी (Avis Akvasas ka) भी लिख डाली। इस कहानी की भूमिका में उन्होंने अपनी कठिनाइयों का निर्देश करते हुए ध्वनि तथा व्याकरण के रूपों के सम्बन्ध में मूल भाषा के बहुत समीप होने का विश्वास दिलाया है। इस प्रकार अनुमान-सिद्ध भाषा का निर्माण भाषाविज्ञान के लिए बहुत उपयोगी नहीं कहा जा सकता, इसी कारण बाद के भाषाविज्ञानियों ने इस प्रकार का फिर कोई प्रयास नहीं किया। बॉप के कार्य को आगे बढ़ाने का तथा पीछे की सारी खोजों को ठीक से सजाने का श्रेय भी श्लाइखर को ही है। १९वीं सदी के अंतिम तथा २०वीं सदी के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता कार्ल ब्रुगमान इन्हीं के शिष्य थे।

१५. गेओर्ग कुर्टिउस (१८२०-१८८५)—कुर्टिउस श्लाइखर के समकालीन थे और प्राग विश्वविद्यालय में उनके साथ काम कर चुके थे। भाषाविज्ञान-सम्बन्धी विद्वता में उस युग में श्लाइखर के बाद इन्हीं का नाम आता है। इसी कारण नवीन भाषाविज्ञानियों की आलोचना की कटु बौछार श्लाइखर की मृत्यु के बाद कुर्टिउस को ही सहनी पड़ी। इनका विशेष अध्ययन ग्रीक का था। ग्रीक क्रिया तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी इनके ग्रंथ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ध्वनि-नियमों में इनका भी विश्वास था, पर नवयुग के विद्वानों की भाँति ये इस बात को नहीं मानते थे कि ध्वनि-नियम के अपवाद नहीं होते। नवयुग के विद्वान् प्राचीन भाषाओं की पद-रचना में भी सादृश्य का बहुत अधिक प्रभाव मानने लगे थे, पर कुर्टिउस ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नवयुग की इन मान्यताओं के विरुद्ध-कुर्टिउस ने अपने अन्तिम काल में एक पुस्तक भी लिखी। इस प्रकार अंत तक ये नवीनतावादियों के विरुद्ध लड़ते रहे।

१६. निकोलई मैडविग—ये प्रमुखतः ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। भाषाविज्ञान के सामान्य नियमों के विवेचन की ओर भी इनकी अभिरुचि थी। भाषा के सम्बन्ध में रहस्यवादी भावनाओं या दैवी बातों के ये विरोधी थे। तर्कवाद इनका मूल मन्त्र था, पर इस तर्कवाद की धारा में ये इतने आगे बढ़ गये कि हम्बोल्ड्ट आदि ने जिस ध्वनि-प्रतीकवाद (sound-symbolism) पर इतना बल दिया था, उसकी स्थिति ही अस्वीकार कर दी। व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते थे। विद्वान् होने पर भी केवल डैनिश भाषा में लिखने के कारण ये अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके। १८७५ में प्रकाशित अपनी जर्मन पुस्तक की भूमिका में इन्होंने लिखा भी है कि ह्विटनी आदि जिन सिद्धांतों के कारण इतने प्रसिद्ध हुए, उनको ये वर्षों पहले निकाल चुके थे, पर किसी प्रसिद्ध भाषा में न लिखने के कारण संसार इनको न जान सका।

१७. इस युग के कुछ प्रसिद्ध विशेषज्ञ—इस युग के पूर्व तक लोग अधिकतर सभी प्रसिद्ध भाषाओं पर कार्य किया करते थे, पर इस युग में विशिष्ट भाषाओं के कुछ विशेषज्ञ भी हुए। इन विशेषज्ञों ने तुलनात्मक ढङ्ग पर भाषाओं के इतिहास का विवेचन किया। ग्रीक के विशेषज्ञ कुर्टिउस का उल्लेख हम लोग ऊपर कर चुके

हैं। संस्कृत के बहुत-से विशेषज्ञों में वेस्टर्गार्ड और बेनफ़ी का नाम अग्रगण्य है। इसी प्रकार स्लावोनिक के श्लाइखर और मिक्लोसिख, तथा केल्टिक के जेउस आदि प्रसिद्ध हैं। रोमानिक के विशेषज्ञों में फेड्रिख सर्वोपरि हैं।

१८. फ्रॅंडरिख मॅक्समूलर (१८२३-१९००)—भाषाविज्ञान का इतना अध्ययन हुआ, पर अभी तक उसका प्रचार केवल उसके विद्वान् वर्ग में था। अन्य लोग उससे पूर्णतः अपरिचित थे। इस परिचय कराने के कार्य को मैक्समूलर ने किया। १८६१ में उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि इस सूखे विषय को भी उन्होंने मनोरंजक बना दिया और इसका फल यह हुआ कि भाषाविज्ञान की ओर बहुत-से लोग झुके। इस ग्रंथ का नूतन संस्करण २६ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। नूतन संस्करण की भूमिका में इस बीच हुई खोजों का परिचय देते हुए मैक्समूलर ने नवयुगीन भाषाविज्ञानियों के लगभग सभी सिद्धांतों को मान लिया। मैक्समूलर प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। इसी कारण उनके व्याख्यान या पुस्तकें जितनी मनोरंजक और आकर्षक हैं, उतनी गहरी नहीं हैं। ध्यान से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहाँ वे किसी प्रश्न को लेकर चलते हैं, और बीच में ही मनोरंजक व्युत्पत्ति आदि के फेर में पड़कर अपना मूल विषय ही भूल जाते हैं। श्लाइखर की बहुत-सी बातों को उन्होंने बिना विश्लेषण किये मान लिया है। उदाहरणार्थ, भाषाविज्ञान को एक भौतिकविज्ञान मानते थे, पर उसे फिलोलोजी (philology) से भिन्न मानते थे, जो उनकी दृष्टि में एक ऐतिहासिक विज्ञान है। पर, यह केवल उनका मानना मात्र था। जहाँ उन्होंने भाषाविज्ञान को भौतिकविज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया है, वे असफल ही रहे हैं। प्रचार-कार्य के साथ ही मैक्समूलर ने जो सबसे बड़ा कार्य किया, वह उनका संग्रह-कार्य है। परिचय देने के लिए उन्होंने भाषा के उद्‌गम, भाषा की प्रकृति, भाषा का विकास, विकास का कारण तथा भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषयों पर हुए कार्यों को एकत्र कर दिया। मैक्समूलर भारत के बहुत बड़े हिमायती थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को संसार में उचित स्थान दिलाने वालों में उनका नाम सबसे ऊपर है। 'पूरब की पवित्र पुस्तकें' माला में उन्होंने पचासों पुस्तकों के अनुवाद किये हैं। औपनिषदिक दर्शन, एवं जातियों की धर्मानुष्ठान-पद्धति पर भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। तुलनात्मक पौराणिक कथा तथा धर्मविज्ञान पर कार्य करने वाले ये प्रथम व्यक्ति हैं। सायण-भाष्य के साथ इनका जो ऋग्वेद का संस्करण है, अब तक प्रामाणिक माना जाता है। भाषाविज्ञान से सम्बन्धित इनके तीन अन्य कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके पूर्व विद्वानों का ध्यान अर्थविज्ञान पर प्रायः नहीं के बराबर था। इन्होंने पहले-पहल इसकी ओर ध्यान दिया। आर्यों की मूल भाषा पर तो विचार हुआ था, पर उनके मूल स्थान पर विशेष नहीं। मैक्समूलर ने इस पर भी पर्याप्त कार्य किया और मूल स्थान मध्य एशिया निश्चित किया। इनका तीसरा कार्य नागरी लिपि के प्रचार का है। इनके पूर्व यूरोप आदि में कौन कहे भारत के भी सभी प्रान्तों में नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयास के

फलस्वरूप यूरोप तथा भारत दोनों ही में इसकी वैज्ञानिकता सराही गई और संस्कृत आदि के लिए इसका प्रयोग होने लगा।

१६. विलियम ड्वाइट ह्विटनी (१८२७-१८९४)—भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रथम अमेरिकी विद्वान् ह्विटनी हैं। ये न्यू-हेवन के येल कॉलिज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा और भाषा का अध्ययन' १८६७ में लिखी। दूसरा ग्रन्थ 'भाषा का जीवन और विकास' १८७५ में लिखा गया। इनका संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण १८७९ में निकला जो अपने ढङ्ग का अकेला है। विद्वत्ता की दृष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक योग्य कहे जाते हैं, पर अंग्रेज़ी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारत में इनका यथोचित आदर एवं प्रचार न हो सका, जिसका इन्हें बहुत दुःख था। इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी, पर दूसरी ओर उनकी अपेक्षा अधिक गम्भीर और ठोस थी। मैक्स-मूलर से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता चली। इन्होंने उनके बहुत-से काल्पनिक सिद्धान्तों की आलोचना की और उन्हें ठीक भी किया। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तकों में उदा-हरणों का कहीं-कहीं दुरुपयोग किया है। इन सबकी आलोचना भी ह्विटनी ने अपने अनेक लेखों में की है। मैक्समूलर ने इन आलोचनाओं का उत्तर अपनी पुस्तक Chips from a German Workshop में दिया। ह्विटनी ने अन्त में एक 'मैक्समूलर और भाषाविज्ञान' नाम की छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी। भाषा की परिभाषा के सम्बन्ध में भी दोनों में मतभेद था। मैक्समूलर के लिए वह भौतिक वस्तुओं-सी थी, पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानते थे। उनके लिए भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी। इतना होने पर भी दोनों ही कुछ-बातों में एक-से थे। दोनों ने पिछले अर्द्ध-शताब्दी के किये गये कार्य को इकट्ठा किया तथा दोनों ही प्रधान रूप से गम्भीर भाषाविज्ञानी नहीं थे। उनके लगभग सभी सिद्धान्त आज अमान्य हो गए हैं। जिन बातों को उन्होंने शाश्वत समझ कर उच्चरित किया था, वे भी आज के लिए केवल ऐतिहासिक महत्त्व की रह गई है।

(ख) नवयुग

यों तो किसी भी युग का आरम्भ किसी निश्चित सन् या दिन से नहीं होता, पर जैसा कि कहा जाता है, नवयुग का आरम्भ हम १९वीं सदी के तृतीय चरण से मान सकते हैं। इस समय भाषाविज्ञानियों की एक नयी शाखा चली, जिसे प्राचीन विद्वानों ने 'नौसिखियों की शाखा' (Junggrammatiker) या 'नव्य शाखा' कहा। सबसे पहले दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध ध्वनि को लेकर चला। नव्य शाखा वालों का, विशेषतः लेस्कीन का कहना था कि ध्वनि-नियमों के अपवाद नहीं होते, पर प्राचीन शाखा वाले इसे मानने को तैयार न थे। इसे न मानने के लिए पर्याप्त कारण भी था। वे देख चुके थे कि प्रसिद्ध ग्रिम-नियम अपवादों से भरा है। इस प्रथम विरोध के बाद फिर दोनों शाखाओं में काफ़ी सनसनी रही और पुराने नयों

की बड़ी हँसी उड़ाते रहे, जैसा कि प्रायः होता आया है। पर अन्त में जैसा कि हम लोग देखेंगे, नयी शाखा की सभी बातें लगभग सत्य निकली, जिसके फलस्वरूप प्राचीनों को झुकना पड़ा। आज नयी शाखा के सिद्धान्तों का ही बोलवाला है। इसका केन्द्र बहुत दिन तक लिपिजिग में रहा है।

१. हेमैन स्टाइन्थाल (१८२५-१८९९)—भाषाविज्ञानियों की नव्य शाखा का इनको अग्रणी कहा गया है। ये व्याकरण और भाषाविज्ञान के साथ-साथ तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के भी प्रकांड पंडित थे। इनके पूर्व भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा नहीं लिया जाता था। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। स्टाइन्थाल का प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन किया। श्लाइखर आदि ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्व बिंदु पर थे, इस पुस्तक की खूब खिल्ली उड़ाई। भाषा के मनोविज्ञान पर स्टाइन्थाल के और भी ग्रंथ प्रकाशित हुए। इन्होंने अपने इस नूतन पथ के लिये हम्बोल्ड्ट के ग्रंथों से प्रेरणा ली थी। भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन पर्याप्त हो चुका था, इसलिये स्टाइन्थाल ने विशेषतः चीनी तथा अफ्रीका की मन्डे-निग्रो भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ लोग इनको इसलिये भी हीन समझते थे कि इनकी शैली अच्छी नहीं थी और ये समझी बात को भी स्पष्ट रूप से नहीं रख पाते थे। इन्हीं सब कारणों से ये प्रसिद्धि न पा सके। कुछ भी हो, जीवित भाषाओं के अध्येता, अस्पर्शित भाषाओं पर कार्यकर्त्ता, एवं भाषाविज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान की महत्ता के अंगुलि-निर्देशक के रूप में स्टाइन्थाल का नाम अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।

२. कार्ल ब्रुगमान्—नव्य शाखा के विद्वानों में ये सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। आगे इस शाखा या युग की मूलप्रवृत्तियों के रूप में जो कुछ भी नयी बातें कही जायँगी, लगभग सभी में इनका हाथ है। ब्रुगमान् का सबसे बड़ा कार्य भारोपीय भाषा में व्याकरण के सम्बन्ध में है। यह बड़े-बड़े पाँच भागों में है। इनके समय तक वाक्य के सम्बन्ध में कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ था। इन्होंने इस दिशा में भी उक्त व्याकरण के पंचम खंड में कार्य किया। हर्मन ओस्टाफ के साथ इनका मिश्रित कार्य रूप-रचना पर है। यह ग्रंथ 'नयी शाखा की गीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रुगमान् का अनुनासिक सिद्धान्त (sonant nasal thoery) भी प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है।

३. ग्रैसमैन, वर्नर, अस्कोली तथा येस्पर्सन आदि—प्रथम तीनों ही विद्वानों के नाम ध्वनि के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रैसमैन ने अपने 'ग्रैसमैन-नियम' (जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है) की खोज की जिससे ग्रिम-नियम (दे० ध्वनिविज्ञान) के कुछ अपवाद समाप्त हो गये। शेष अपवादों को दूर करने के लिए कार्ल वर्नर ने १८७७ में वर्नर-नियम खोज निकाला। अस्कोली ने १८७० में खोज निकाला कि मूल

भारोपीय भाषा में की 'क' ध्वनि आगे चलकर कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रही और कुछ में 'स' या 'श' हो गई। इसी आधार पर भारोपीय परिवार के केंतुम और सतम् वर्ग ब्रेंड के द्वारा बनाये गये। येस्पर्सन ने व्याकरण के दार्शनिक आधार, वाक्यविज्ञान, अंग्रेजी व्याकरण तथा भाषा की उत्पत्ति और विकास पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम किया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान तथा प्रमुख स्कूल—अन्य अनेक विज्ञानों एवं शास्त्रों की तुलना में भाषाविज्ञान अपने भव्य रूप में बहुत पुराना नहीं है, किंतु इधर कुछ दर्शकों में जो उन्नति उसने की है, वह किसी भी विज्ञान के लिये स्पर्धा का विषय हो सकती है। इस विज्ञान के मूल बीज ईस्वी पूर्व से व्याकरणशास्त्र में मिलते हैं, किन्तु इसका अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप १८वीं सदी में भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययन की सहज परिणति ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में हुई, और काफ़ी दिनों तक भाषाविज्ञान का अर्थ भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन माना जाता रहा। १९वीं सदी में भाषाशास्त्रवेत्ताओं का ध्यान जीवित भाषाओं की ओर गया। इन जीवित भाषाओं की समकालिकता ने २०वीं सदी के आरंभ में समकालिक (synchronic) भाषाविज्ञान के बीज डाले। इस दिशा में कार्य करने वालों का ध्यान स्वभावत: इस बात की ओर गया कि यदि किसी भाषा का एक काल का अध्ययन नहीं होगा तो सच्चे अर्थों में न तो उसका ऐतिहासिक अध्ययन हो सकता है, और न दूसरी भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन ही। इस तरह समकालिक अथवा सांकालिक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी। इस ओर संकेत तथा प्रारंभिक कार्य कुर्तने, सस्यूर तथा बोआस आदि ने किया। इन तीनों ही में सस्यूर विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। जैसा कि आगे कहा गया है, उन्होंने सर्वप्रथम भाषा के दो अध्ययनों —समकालिक और ऐतिहासिक—को भाषाविज्ञान-संसार के समक्ष रखा। किसी भाषा के एककालिक या समकालिक विश्लेषण या अध्ययन के लिये जो पद्धति अपनाई गई, वर्णनात्मक (descriptive) कहलाई। अमेरिका में बोआस के बाद सपीर तथा ब्लूमफ़ील्ड ने वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को आगे बढ़ाया। अध्ययन की मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से १९३० को एक सीमारेखा मान सकते हैं। उसके बाद वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। १९२८ में हेग में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान-परिषद् हुई थी जिसमें सर्वप्रथम सामूहिक रूप से इस बात पर बल दिया गया कि वर्णनात्मक अध्ययन बहुत आवश्यक है। बिना उसके तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन संभव नहीं है। इस सदी के पाँचवें दशक में भाषा के वर्णन की एक नयी पद्धति सामने आई है जिसे संरचनात्मक या संघटनात्मक (structural) कहा गया है। इसका स्पष्ट रूप हैरिस ने भाषाविज्ञान-संसार के समक्ष रखा। इस काल में अर्थविज्ञान को भाषाविज्ञान से प्राय: अलग कर दिया गया (कम से कम अमेरिका में) तथा मानवशास्त्र, भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान एवं यंत्रों आदि से पर्याप्त सहायता ली गई।

प्रमुख स्कूल—यों तो भाषाविज्ञान का अध्ययन अनेक देशों एवं विश्वविद्यालयों

में हुआ है और हो रहा है, किंतु मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से विश्व में इसके कुछ ही केन्द्र या स्कूल हैं। आगे उन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

रूसी स्कूल—यह स्कूल निम्नांकित कज़ान, लेनिनग्राद और मास्को आदि स्कूलों में बँटा है—(१) कज़ान स्कूल—रूस के कज़ान विश्वविद्यालय के इस केन्द्र का संबंध १९वीं सदी के दो पोलिश विद्वानों—वादविन द कुर्तने (Courtenay १८४५-१९२९) तथा क्रुजेव्स्की (Kruszewski १८५१-१८८७) से है। कुर्तने वहाँ प्रोफेसर थे तथा क्रुजेव्स्की उनके शिष्य। इस स्कूल का सर्वाधिक महत्त्व इस बात में है कि आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्मदाता सस्यूर इस स्कूल से बहुत प्रभावित थे। सच पूछा जाय तो सस्यूर की मौलिक उद्भावनाओं (जैसे एक तो 'भाषा' होती है जो किसी समाज की होती है, एक उसका वास्तविक रूप होता है, जिसका प्रयोग उस समाज का व्यक्ति विशेष करता है। सस्यूर ने इसी को lange या language एवं parole या speech कहा; या भाषा का समकालिक अध्ययन) के बीज इसी स्कूल में मिलते हैं। प्राग स्कूल को भी मूल प्रेरणा इसी स्कूल के विचारों से मिली। क्रुजेव्स्की बहुत पहले मर गये तथा कुर्तने १९१८ में रूस से वारसा चले गए। इस तरह यह स्कूल समाप्त हो गया, किंतु इसके भाषिक विचार रूस में फैल चुके थे और अनेक रूसी भाषाशास्त्री, जैसे शेरबा आदि कुर्तने के शिष्य थे। इस प्रकार रूस के विभिन्न स्कूल (पीटर्सबर्ग स्कूल, मास्को स्कूल, लेनिनग्राद स्कूल आदि) प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः कज़ान स्कूल की ही देन हैं। (२) लेनिनग्राद स्कूल—इसके जन्मदाता कुर्तने के शिष्य शेरबा (Scerba १८८०-१९४४) थे। यह स्कूल प्रमुखतः ध्वनि-विषयक अध्ययन (ध्वनिविज्ञान, ध्वनिग्रामविज्ञान) का केन्द्र है। जिन्दर, गोज्दफ़ आदि ने शेरबा के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया है। (३) मास्को स्कूल—इस स्कूल का प्रारंभ तुलनात्मक व्याकरण के प्रोफेसर फ़र्तुनातफ़ (Fortunatov १८४८-१९१४) से हुआ जो कुर्तने के समकालीन थे। भाषा के समकालिक या एककालिक एवं बहुकालिक या ऐतिहासिक अध्ययन के संकेत फ़र्तुनातफ़ में हैं। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री मार (Marr १८६४-१९३४) भी इसी स्कूल में आते हैं, यद्यपि सिद्धांततः उनका फ़र्तुनातफ़ से कोई संबंध नहीं है। मार के अनुसार किसी एक भाषा से ही सभी भाषाओं का विकास हुआ है। १९२४ में उन्होंने अपने को मार्क्स-वादी भाषाशास्त्री घोषित किया तथा भाषा की संरचना में परिवर्तन को समाज की संरचना में परिवर्तन (आर्थिक) से संबद्ध मानने लगे। भाषा उनके लिए सामाजिक और आर्थिक वाह्यारोपित संरचना (social and economic superstructure) थी। वे भाषा को उसके वक्ता के वर्ग (class) की विशेषताओं से युक्त मानते थे। अब मास्को स्कूल का प्रतिनिधित्व रिफ़रमात्स्की (ये कई बातों में सपीर के निकट हैं) कर रहे हैं और इस स्कूल का ध्यान प्रमुखतः रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान एवं रूपध्वनिग्रामविज्ञान पर केंद्रित है। अवानोसफ़ भी पहले इस स्कूल के थे, किन्तु अब वे मतभेद रखते हैं। इस तरह उनका एक अलग स्कूल बन गया है।

जेनेवा स्कूल—इसे संरचनात्मक (structural) भाषाविज्ञान का मूल उत्स

माना जा सकता है। संरचनात्मक भाषाविज्ञान के पिता सस्यूर (१८५७-१९१३) जेनेवा में भाषाविज्ञान के अध्यापक थे, और उन्होंने भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण कार्य यहीं किया। इस तरह यह स्कूल उनसे संबद्ध होने के कारण भाषा के क्लैसिकल संरचनात्मक अध्ययन (classical structuralism) का कभी गढ़ रहा है। सस्यूर भाषाविज्ञान के पूरे इतिहास में चोटी के पाणिनि, ब्लूमफ़ील्ड आदि दो-चार विद्वानों में एक माने जाते हैं। ये स्वयं नव्य वैयाकरण ब्रुगमान, ओस्तफ़ आदि के शिष्य थे तथा इन पर भाषाविज्ञान के कज़ान स्कूल, प्रकृतिवादी भाषाशास्त्री श्लाइखर, भाषिक भूगोलशास्त्री गिलेरो तथा ह्विटने का प्रभाव पड़ा था। प्रारंभ में ये भारोपीय भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन जर्मन) के अध्यापक थे और उसी क्षेत्र में काम किया, किंतु १८९४ के बाद सामान्य भाषाविज्ञान को अपना क्षेत्र चुना। इस विषय में इनकी प्रसिद्ध पुस्तक(Course de Linguistique Generale, १९१६) इनके मरने के बाद छपी, जो वस्तुतः इनकी लिखी न होकर इनके विद्यार्थियों के नोटों पर आधारित है। सस्यूर के अनुसार, भाषा प्रतीकों की एक व्यवस्था है जिसके आधार पर समाज विचारों का आदान-प्रदान करता है। इन प्रतीकों के दो पक्ष हैं : ध्वनि, अर्थ। प्रतीकों के अर्थ एक दूसरे पर आधारित हैं। प्रतीकों का प्रयोग सर्वदा केवल अर्थ के आधार पर नहीं किया जा सकता। बल्कि वह भाषा की व्यवस्था के आधार पर होता है। सस्यूर की बात को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी से उदाहरण लें तो कह सकते हैं कि 'नीर' का अर्थ 'जल' है, किंतु 'नीरपान' नहीं अपितु 'जलपान' ही अपेक्षित अर्थ का बोधक है। इन्होंने ही इस बात को प्रथम बार स्पष्ट किया कि किसी भाषा का अध्ययन दो रूपों—एककालिक या समकालिक (synchronic) तथा बहु-कालिक (diachronic) या ऐतिहासिक—में हो सकता है। भाषा की व्यवस्था को ये मूलतः विरोधों पर आधारित मानते थे। सस्यूर के दो शिष्यों—चार्ल्स बेली (Bally १८६५-१९४७), अलबर्ट सेकेहये (Sechehaye १८७०-१९४६)—ने इस स्कूल के काम को आगे बढ़ाया। प्रथम का कार्य शैलीविज्ञान पर है और दूसरे का वाक्य के स्तर पर मनोविज्ञान एवं भाषाविज्ञान के सम्बन्ध पर। आजकल यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् फ्रे (Frei) हैं, जिनका क्षेत्र वाक्यविज्ञान है। सस्यूर के बाद इस स्कूल का विशेष महत्त्व 'शैलीविज्ञान' के कारण है जो बेली (ये Rational Stylics के जन्मदाता हैं) की देन है।

फ्रांसीसी स्कूल इस स्कूल का केन्द्र पेरिस रहा है। पिछली सदी में ही यहाँ कार्य शुरू हो गया था, जो मूलतः ध्वनिविज्ञान से संबंधित था। रूसेलो (Roussselot) विश्व का प्रथम ध्वनिशास्त्री है जिसने काइमोग्राफ़ एवं पैलटोग्राम के सहारे ध्वनियों का अध्ययन किया। पाल पासी का नाम भी ध्वनि-अध्ययन की दृष्टि से उल्लेख्य है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री सस्यूर पेरिस में १८८१ से १८९१ तक भाषाविज्ञान के प्राध्यापक थे। उनकी प्रेरणा से यहाँ अपेक्षाकृत अधिक गंभीर काम की शुरुआत हुई। सस्यूर के दो शिष्योंग्रैमो (Gramont) एवं मेये (Meillet) ने भाषा के विकास

का मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया, विशेषतः विषमीकरण और समीकरण के मनोवैज्ञानिक एवं शरीरवैज्ञानिक कारणों को स्पष्ट किया। मेये सामजिक दृष्टि से भी भाषा के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार वेन्द्रिए (Vendryes) ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के अध्ययन पर बल दिया। अर्थविज्ञान के प्रसिद्ध एवं एक प्रकार से प्रथम व्यवस्थित अध्येता ब्रील (Breal) भी इसी स्कूल के थे। ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मेये एवं ज्यूल ब्लाख (Bloch) के नाम उल्लेख्य हैं। मेये का काम भारोपीय परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन है। ब्लाख़ ने 'भारतीय आर्यभाषा' एवं 'मराठी' पर काम किया है। समवेततः इस स्कूल में ध्वनि, शब्द, अर्थ, भाषा-भूगोल तथा द्विभाषिता पर कार्य हुआ है, किंतु मुख्यतः यह स्कूल मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं शरीरवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा के अध्ययन के लिए ही अधिक प्रसिद्ध है।

ब्रिटिश स्कूल—इसमें निम्नांकित स्कूल आते हैं: (१) इंगलिश स्कूल—इसका प्रारंभ स्वीट से हुआ। डैनियल जोन्स ने इसे आगे बढ़ाया। इस स्कूल का ध्यान प्रमुखतः ध्वनि के अध्ययन पर ही रहा है। जोन्स ने ध्वनि के औच्चारणिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया है। फ़र्थ भी पहले इसी स्कूल के थे। (२) लंदन स्कूल—फ़र्थ (१८६०-१९६०) जैसा कि ऊपर कहा गया, पहले इंगलिश स्कूल में थे। ये १९२० से १९२८ तक लाहौर में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। यहाँ से लौटने के बाद इनकी विचारधारा कुछ बदली और १९४१ से लंदन स्कूल नामक इनका स्वतंत्र स्कूल हो गया। इनके अनुसार ध्वनिग्राम में प्रमुख बात अर्थ में अंतर लाने की क्षमता (substitution counter) है। इन्होंने रागात्मक तत्त्व (prosedic feature) पर भी उल्लेख्य काम किया है। (३) सिस्टिमिक ग्रामर स्कूल—फ़र्थ के अनुयायी हैलिडे (Halliday) ने इसका विकास किया है। इन्होंने भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की एक पद्धति निकाली है, जिसमें दो भाषाओं के रूपों, वाक्यों, उपवाक्यों आदि की तुलना के आधार पर नियमों या तत्त्वों के पहचानने पर बल देते हैं जो दोनों में समान नहीं हैं। इस प्रकार के अध्ययन को उन्होंने व्यतिरेकी विश्लेषण (contrastive analysis) का नाम दिया है। स्पष्ट ही दूसरी भाषा के शिक्षण एवं मशीन-अनुवाद में यह विश्लेषण बहुत सहायक होगा। ब्रिटिश स्कूल में ध्वनिविज्ञान पर विशेष कार्य होने के कारण इसे ध्वनिविज्ञानीय (phonetic) स्कूल भी कहते हैं। इस स्कूल ने अफ्रीका तथा एशिया की अनेक भाषाओं की ध्वनियों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

प्राहा या प्राग (Prague) स्कूल—प्राग चेकोस्लाविया की राजधानी है। इस स्कूल की नींव तब पड़ी जब मस्यूर कुर्तने तथा फ़र्तुनातफ़ के कार्यों एवं सिद्धांतों से प्रेरित होकर कुछ लोगों ने १९२६ में प्राग में अपना एक केन्द्र (Cercle Linguistique de Prague) स्थापित किया। रोमन याकोबसन (Jakobson), त्रुबेत्सकॉय (N. Trubetzkoy १८६०-१९३८), करसेव्स्की (Karcevskij १८८४-१९५५) आदि इस स्कूल के प्रमुख स्तंभ रहे हैं। याकोब्सन के अमेरिका चले जाने एवं त्रुबेत्सकॉय के निधन

से इस स्कूल को बड़ी क्षति हुई और यह विशेष उल्लेख्य कार्य १२-१३ वर्षों तक ही कर सका। इस स्कूल के अनुसार, भाषा भावों और विचारों की अभिव्यंजना की एक व्यवस्था है जिसका स्वरूप उस वातावरण से निर्धारित होता है जहाँ वह प्रयुक्त होती हैं। इसीलिए दफ़्तर, बाज़ार, घर, साहित्य की भाषा एक नहीं होती। ध्वनियों के प्रभेदक लक्षण (distinctive features) की ओर इस स्कूल का ध्यान, वितरण (distribution) की अपेक्षा अधिक रहा है। प्रभेदक लक्षण मूलतः याकोवसन की देन है। वे ध्वनिग्राम को प्रभेदक लक्षणों का समूह मानते हैं। ध्वनियों के प्रभेदक विरोध (distinctive opposition) का आधार उनका द्विगतिकवाद (binarism) सिद्धान्त है, अर्थात् भाषिक इकाइयों में द्विगतिक विरोध होता है। एक में कोई लक्षण है तो दूसरे में नहीं है। जैसे 'ब' में घोषत्व है, 'प' में नहीं है। प्राहा स्कूल ने प्रत्यक्षतः-अप्रत्यक्षतः आधुनिक भाषाविज्ञान को पर्याप्त प्रभावित किया है। यहाँ विशेष उल्लेख्य कार्य ध्वनि के क्षेत्र में ही हुआ है।

कोपेहैगेन स्कूल—'कोपेनहैगेन' डेनमार्क की राजधानी है। डेनिश विद्वान् ब्रन्दल (Brondal १८८७-१९४२) और येम्स्लेव (Hjemsleu) द्वारा स्थापित संरचनात्मक (structural) भाषाविज्ञान का यह स्कूल भाषाविज्ञान में तर्कशास्त्र और गणित के प्रयोग के लिए प्रसिद्ध है। इस स्कूल ने ध्वनिग्रामविज्ञान के क्षेत्र में भी लागू किए जाने वाले विरोध (opposition) आधार को रूप और अर्थ के क्षेत्र में भी लागू करने पर बल दिया। सस्यूर से बहुत अधिक प्रभावित इस स्कूल के वर्तमान कर्णधार येम्स्लेव ने ग्लासीमविज्ञान (Glossematics) के रूप में अपना नया सिद्धान्त भाषाविज्ञान-संसार के समक्ष रखा। 'ग्लासीम' यूनानी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ है 'वाणी' या 'जीभ'। अब कोपेनहैगेन स्कूल को इसी आधार पर ग्लासेमेटिक स्कूल भी कहते हैं। इस विज्ञान में अभिव्यक्ति के सभी साधनों का गणित की पद्धति से तर्कपूर्ण विश्लेषण पर बल है। येम्स्लेव ने ही सबसे पहले भाषा के विचार (content) और अभिव्यक्ति (expression) के अंतर को सामने रखा। ग्लासीमविज्ञान विचार के प्रसंग में अभिव्यक्ति के रूप का अध्ययन करता है। उल्डल (Uldall) भी इस स्कूल के उल्लेख्य विद्वान् हैं। इस स्कूल के 'सिद्धान्तों' के सम्बन्ध में पूरी जानकारी अन्य स्कूलों के लोगों को अभी तक भी बहुत अधिक नहीं है।

अमेरिकी स्कूल—अमेरिका के प्रथम प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ह्विटने (१८२७-१८९४) थे, किन्तु उनकी विचारधारा यूरोप के परंपरावादी भाषाशास्त्रियों से भिन्न न थी। अमेरिकी स्कूल की नींव फ्रांज बोआस (Franz Boas, १८५८-१९४२) ने रखी जो कोलंबिया विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। ये मानवविज्ञान तथा अमेरिकन-इंडियन भाषाओं के पंडित थे। मानवविज्ञान एवं जीवित भाषाओं के अध्ययन ने उनके लिए नयी दिशा दी, और उन्होंने इन इंडियन भाषाओं के अध्ययन के माध्यम से समकालिक भाषाविज्ञान की वर्णनात्मक पद्धति की नींव रखी। सपीर बोआस के शिष्य थे। मानवविज्ञान में इनकी भी अच्छी गति थी। इन्होंने बोआस के कार्य को

आगे बढ़ाया और अमेरिकी-इंडियन भाषाओं के वर्णनात्मक अध्ययन में लगे रहे। ये भाषा को एक व्यवस्था मानते थे। भाषिक पैटर्न का सिद्धान्त (अर्थात् व्यक्ति के मस्तिष्क में उसकी भाषा का विशेष पैटर्न होता है) इन्हीं का है। ध्वनिग्राम के निर्धारण में इन्होंने वितरण पर बल दिया। अमेरिकी स्कूल की बोआस और सपीर की परंपरा ब्लूमफ़ील्ड (१८८७-१९४९) के माध्यम से आगे बढ़ी। ये येल में प्राध्यापक थे। यूरोपीय भाषाविज्ञान, समाजवाद, मनोविज्ञान तथा व्यवहारवाद, (behaviourism)—अर्थात् वातावरण ही मनुष्य के व्यवहार (जिसमें भाषा भी शामिल है) को बनाता है—ने इन्हें प्रभावित किया था। भाषा के विश्लेषण में इन्होंने अर्थ का बहिष्कार किया। भाषिक इकाई के वितरण पर ध्यान देने की ओर इन्होंने भी बल दिया। ब्लूमफ़ील्ड के परवर्ती अमेरिकी भाषाशास्त्रियों ने ध्वनिग्राम-विज्ञान, रूपग्रामविज्ञान, वाक्यविज्ञान, गणितीय भाषाविज्ञान, प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान, भाषा-भूगोल तथा कोशविज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त काम किया है। ध्वनिग्राम-विज्ञान (phonemics) अपने विशिष्ट रूप में अमेरिका की देन है, अतः अमेरिकी स्कूल को ध्वनिग्रामीय (phonemic) स्कूल भी कहते हैं। इस स्कूल ने अमेरिका की आदिम भाषाओं पर विशेष रूप से कार्य किया है। अमेरिकी भाषाविज्ञान प्रमुखतः ३-४ बातों के कारण यूरोपीय भाषाविज्ञान से कुछ भिन्न रूपों में विकसित हुआ है : (१) यहाँ के प्रारम्भिक भाषाशास्त्री बोआस, सपीर, ब्लूमफ़ील्ड मानवविज्ञान के भी पंडित थे, अतः यहाँ आधुनिक भाषाविज्ञान की शुरुआत ही मानवविज्ञान के परि-प्रेक्ष्य में भाषा के अध्ययन-विश्लेषण से आरम्भ हुई। (२) यूरोप में प्राचीन भाषाओं पर काम शुरू हुआ था, किन्तु अमेरिका में उत्तरी अमेरिकी रेड-इंडियन लोगों की बोलचाल की आधुनिक भाषाओं से। (३) यूरोप में लिखित भाषा के अध्ययन-विश्लेषण से कार्य प्रारम्भ हुआ, जबकि अमेरिका में रेड-इंडियन लोगों की अलिखित भाषा से। (४) अमेरिका में इस दिशा में विशेष रूप से दूसरे महायुद्ध के दौरान काम हुआ, और उस समय यूरोप से बहुत अधिक सम्पर्क रखना विशेषतः इस क्षेत्र में तानवपूर्ण वाता-वरण के कारण संभव न था। इस कारण भी यहाँ यह विज्ञान कुछ स्वतंत्र रूप में विक-सित हुआ। अब अमेरिकी भाषाविज्ञान एक स्कूल न रह कर कई में विभाजित हो गया है, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है : (१) सपीर स्कूल—यह स्कूल मूलतः बोआस से जुड़ा है, किन्तु इसे प्रौढ़ता सपीर ने दी। बाद में सपीर के शिष्य ह्वार्फ़ (Whorf १८-९७-१९४१) ने इसे और आगे बढ़ाया। समाजविज्ञान एवं मानवविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भाषा का अध्ययन इस स्कूल की सबसे उल्लेख्य विशेषता है। (२) ऐन आर्बर स्कूल—यह सपीर स्कूल का ही एक उपस्कूल है। इसका केन्द्र ऐन आर्बर विश्वविद्यालय है। पाइक, नाइडा इसी स्कूल के हैं। यहाँ ध्वनिग्रामविज्ञान, रूपग्रामविज्ञान के अतिरिक्त प्रायोगिक भाषाविज्ञान (applied linguistics) के क्षेत्र में (जैसे भाषा की शिक्षा या अनुवाद आदि) में भी काम हुआ है। सर्वेक्षण-पद्धति के क्षेत्र में भी इस स्कूल

की देन है। यह स्कूल अर्थ को उतना त्याज्य नहीं मानता, जितना ब्लूमफ़ील्ड और उनका स्कूल। (३) ब्लूमफ़ील्ड स्कूल—प्रमुखतः येल यूनिवर्सिटी में ही इसका केन्द्र होने से इसे 'येल स्कूल' भी कहते हैं। यह स्कूल अर्थ पर वल न देकर भाषा के विश्लेपण में उसकी संरचना पर विशेप वल देता है। हैरिस, ब्लूस, वर्नर्ड, ब्लाक, ट्रेगर, हाकिट तथा ग्लीसन आदि इसी स्कूल के हैं। समकालिक भापाविज्ञान की वर्णनात्मक एवं संरचनात्मक पद्धति पर इस स्कूल में वहुत अधिक काम हुआ है। अमेरिका में संरचनात्मक भापाविज्ञान (structural linguistics) इसी स्कूल की देन माना जाता है। वितरण पर वहुत अधिक वल देने से इस स्कूल को वितरणवादी (distributionalist) स्कूल भी कहते हैं। मात्र वितरण का ही आधार लेने के कारण यह स्कूल ध्वनि के अध्ययन की तुलना में रूप और वाक्य के अध्ययन में अधिक सफल रहा है। (४) हर्वर्ड स्कूल—प्राहा स्कूल के प्रमुख कर्णधार रोमन याकोवसन (Jakobson) द्वितीय महायुद्ध में हर्वर्ड विश्वविद्यालय (अमेरिका) में आ गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस स्थान पर भापा-विश्लेपण का एक वहुत अच्छा केन्द्र वन गया। जैसा कि स्वाभाविक है, यह स्कूल प्राहा स्कूल का ही एक विकसित रूप है। ब्लूमफ़ील्ड स्कूल जहाँ वितरण पर वल देता है, ये प्रभेदक लक्षण (distinctive features) पर वल देते हैं। आरम्भ में ब्लूमफ़ील्ड स्कूल एवं हर्वर्ड में कुछ कशमकश चली थी। सच पूछा जाय तो दोनों ही की पद्धतियों में कुछ वातें अच्छी हैं, और हर्वर्ड ध्वनि के अध्ययन में अपेक्षाकृत अधिक सफल रहा है तो दूसरा रूप और वाक्य के अध्ययन में। (५) रूपांतरण स्कूल—यह स्कूल नोअम चाम्स्की का है। गणितीय भापाविज्ञान एवं सूचना (information) सिद्धान्त में निष्णात् चाम्स्की मूलतः ब्लूमफ़ील्ड स्कूल के हैं, साथ ही हर्वर्ड स्कूल के सिद्धांतों मे भी ये प्रभावित हैं। इन्होंने भापा-विश्लेपण एवं भापा के व्याकरण वनाने की एक नयी पद्धति निकाली है। ऐसे व्याकरण को रूपांतरण-व्याकरण (transformational grammar) या उत्पादक व्याकरण (generative grammar) कहते हैं। मशीन-अनुवाद तथा दूसरी भापा के शिक्षण में इस प्रकार के विश्लेपण से वहुत सहायता मिल रही है। इस स्कूल में लीज का नाम भी उल्लेख्य है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ— आधुनिक भापाविज्ञान की मूल प्रवृत्ति वर्णनात्मक (descriptitve) या संरचनात्मक (structural) है। जीवित और मृत दोनों ही प्रकार की भापाओं पर इन दृष्टियों से काम हो रहा है। ध्वनियों का अध्ययन 'उच्चारण' तथा उनसे वनने वाली लहरों आदि के सहारे किया जा रहा है। इन दोनों ही क्षेत्रों में एक्सरे, स्पेक्टोग्राफ़, आसिलोग्राफ़, काइमोग्राफ़, पिचमीटर, इंकराइटर, पैटर्न-प्लेवैक, स्पीच-स्ट्रेचर, फ़ार्मेंट ग्राफिंग मशीन, लैरिंगोस्कोप, उंडोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, आटोफ़ोनोस्कोप, आदि अनेक यन्त्रों की सहायता वड़ी फलप्रद सिद्ध हो रही है। स्वर-व्यंजन के अतिरिक्त सुर, सुरलहर, तान, वलाघात, संगम, आदि का भी गहराई में अध्ययन हो

रहा है। ध्वनिग्राम-विज्ञान के सहारे भाषा के खंड्य और खंडेतर ध्वनिग्राम तथा संध्वनियों की खोज की जा रही है। कम्प्यूटर के सहारे ध्वनियों के वितरण पर काम हो रहा है। रूपग्रामविज्ञान तथा रूपध्वनिग्रामविज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के रूपों पर काम हो रहे हैं। प्रकारात्मक (typological) एवं व्याकरणिक कोटियों (grammatical categories) की दृष्टि से भाषाओं के अध्ययन की शुरुआत हो चुकी है। वाक्य के क्षेत्र में पहले पदक्रम, लोप, उद्देश्य-विधेय आदि की दृष्टियों से काम होता था। इधर कुछ दिनों से निकटतम अवयव, अंतःकेन्द्रिक रचना, तथा बहिष्केन्द्रिक रचना के आधार पर विश्लेषण होता रहा है। अब चॉम्स्की के रूपांतरण (transformation) तथा हैलिडे के (systemic grammar) के आधार पर काम होने लगा है। भाषा-भूगोल तथा बोलीविज्ञान में भी काम चल रहे हैं, यद्यपि मन्द गति से। रूस आदि कुछ देशों को छोड़कर अर्थविज्ञान को भाषाविज्ञान से प्रायः बाहर-सा कर दिया गया था, किन्तु अब उसे भी ले लिया गया है। उस पर भी काम होने लगा है। कोशविज्ञान, भाषा-कालक्रम-विज्ञान, व्यक्ति-भाषा-विकास तथा नामविज्ञान आदि क्षेत्रों में भी काम चल रहे हैं। इधर कुछ काम काव्य-अभिव्यंजना (शैलीविज्ञान) पर भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से शुरू हुआ है। भू-भाषाविज्ञान (geolinguistics) अपेक्षाकृत नयी शाखा है, जिसमें विश्व में भाषाओं के वितरण, उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक महत्त्व का, भाषाएँ कैसे एक दूसरे को तथा राष्ट्रों की संस्कृति को प्रभावित करती हैं, तथा विभिन्न राष्ट्रों की भाषिक समस्याओं का हल कैसे हो सकता है, आदि का, अध्ययन किया जा रहा है। प्रायोगिक (applied) भाषाविज्ञान में दूसरी भाषा की शिक्षा, मातृभाषा की शिक्षा, अनुवाद, लिपि-सुधार तथा उच्चारण-सुधार आदि की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित है। गणित इधर सभी विज्ञानों में प्रवेश करता रहा है और भाषाविज्ञान भी अपवाद नहीं है। उसके सूचना-सिद्धांत (information theory) तथा सांख्यिकी (statistics) भाषाविज्ञान के लिए धीरे-धीरे अनिवार्य होते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी के अच्छे टाइपराइटर के लिए आवश्यक है कि हिन्दी-ध्वनियों के प्रयोग का प्रतिशत निकाला जाय। हिन्दी की विभिन्न स्तर की पाठ्यपुस्तकों के लिए इसी प्रकार हिन्दी के शब्दों, रूपों एवं व्याकरण के नियमों के प्रयोग-प्रतिशत की जानकारी आवश्यक है। स्पष्ट ही इनके लिए गणित का सहारा अनिवार्य है। यों ये तो सामान्य बातें हैं, उच्च स्तर पर और भी कई प्रकार से गणित अनिवार्य होता जा रहा है। मशीन से अनुवाद के क्षेत्र में प्राथमिक तैयारी के रूप में इधर काफी काम हो रहा है। सिस्टिमिक व्याकरण एवं रूपांतरण, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसके लिए बड़े सहायक सिद्ध हो रहे हैं। किंतु सब ले-देकर अभी इस दिशा में अपेक्षित सफलता प्राप्त करने में समय लगेगा। शैलीविज्ञान में साहित्यिक अभिव्यंजना का भाषाविज्ञान के स्तर पर विश्लेषण हो रहा है। मनोभाषाविज्ञान में विचार और अभिव्यक्ति से सम्बन्ध तथा इसी प्रकार की भाषा के अन्य ऐसे पक्षों पर विचार हो रहा है जो मनोविज्ञान से संबद्ध हैं।

समाज-भाषाविज्ञान में समाज को पृष्ठभूमि में रखकर भाषा में देखा तथा सामाजिक स्तर से सम्बद्ध किया जा रहा है। इस प्रकार भाषाविज्ञान दिनोंदिन अधिक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण, गहरा तथा विस्तृत होता जा रहा है। पहले तो यह अन्य विज्ञानों से सहायता लेता था, किन्तु अब मनोविज्ञान, यांत्रिकी तर्कशास्त्र, इतिहास, साहित्य आदि अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की सहायता करता हुआ मानवता की अधिकाधिक सेवा के लिए अग्रसर हो रहा है।

परिशिष्ट

(१) लहरसिद्धान्त (Wave Theory)—जे० श्मिट ने १८७२ में ध्वनि-परिवर्तन के प्रसंग में लहर सिद्धान्त भाषाविज्ञान के विद्वानों के समक्ष रखा। आशय यह है कि जैसे पानी की लहर एक बिंदु पर उत्पन्न होकर चारों ओर धीरे-धीरे फैल जाती है, उसी प्रकार भाषा-परिवर्तन भी एक व्यक्ति से आरम्भ होकर चारों ओर संसर्ग से धीरे-धीरे समाज में फैल जाता है। इसे बहुत लोगों ने ध्वनि-परिवर्तन के कारण के रूप में लिया है, किन्तु वस्तुतः यह कारण नहीं है। यह सिद्धान्त तो मात्र यह बतलाता है कि ध्वनि-परिवर्तन एक जगह आ जाने या घटित होने के बाद कैसे फैलता है।

(२) सादृश्य (Analogy)—मनुष्य स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। यह किसी पुराने शब्द को किसी पुराने शब्द के वजन पर उसकी आकृति के साँचे में ढाल लेता है और इस प्रकार दोनों शब्द रूप की दृष्टि से एक-से हो जाते हैं, या दोनों में सादृश्य (या रूप-सादृश्य) हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' के वजन पर संस्कृत वालों ने 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया। सैंतिस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतिस और पैंतालिस के सादृश्य पर ही आधारित है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा के आरंभ-काल में बहुत से रूप रहे होंगे। धीरे-धीरे सादृश्य के आधार पर ही रूपों की विभिन्नता दूर हुई होगी। अंग्रेजी की बली (strong) क्रियाएँ इसी आधार पर धीरे-धीरे बलहीन (weak) होती जा रही हैं। एक समय ऐसा भी असम्भव नहीं है, जब कि एक भी बली क्रिया अंग्रेजी में शेष न रहे।

(३) मिथ्या सादृश्य (False Analogy)—सर्वप्रथम रोमांस भाषाओं के अध्ययन में लोगों का ध्यान इस ओर गया। उस समय लोग इसे सादृश्य न कह कर मिथ्या सादृश्य कहते थे। बाद में इस आधार पर कि, सभी सादृश्य मिथ्या हैं, 'मिथ्या' शब्द को निरर्थक समझा गया और 'मिथ्या सादृश्य' के स्थान पर 'सादृश्य' का प्रयोग होने लगा।

क्या सादृश्य एक कारण है ?—अधिकतर लोग ऐसा समझते हैं कि सादृश्य स्वयं एक कारण है और इसी कारण से परिवर्तन होते हैं। यथार्थतः यह बात नहीं है। सादृश्य पर आधारित परिवर्तनों का कारण सादृश्य नहीं है। उसका कारण तो सुविधा, सरलता आदि है। सादृश्य तो एक साधन मात्र है, जिससे सुविधा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 'मझ' शब्द 'तुझ' के सादृश्य पर 'मुझ' हो गया। यहाँ यह नहीं

कहा जा सकता कि 'मझ', 'तुझ' के सादृश्य के कारण 'मुझ' हो गया, अपितु यह कहना उचित है कि याद रखने की सुविधा के कारण 'तुझ' के आधार पर 'मुझ' बना लिया गया। 'तुझ' का सादृश्य तो आधार या साधन मात्र है। अतः यह कहना अशुद्ध है कि सादृश्य किसी परिवर्तन का कारण है।

सादृश्य की गति—इसकी गति गणित की भाँति है।

१ : २ : ६ : १२ :

संस्कृत में केवल युग्म शब्दों के लिए द्विवचन का प्रयोग होता था : पादौ, कर्णौ, पितरौ। बाद में विलोम तथा युग्म के लिए भी प्रयोग होने लगा : लाभालाभौ, जयाजयौ। कुछ दिन बाद सादृश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी यही बात आने लगी : सिंह-मृगालौ, राम-लक्ष्मणौ आदि। अंग्रेज़ी में shall से should और will से would बना तो यहाँ shall और will में l होने से, यद्यपि l होना अस्वाभाविक नहीं था, पर इसी सादृश्य पर can में l न रहते हुए भी could में l ला दिया गया। छोटे लड़के या नवीन भाषा सीखने वाले सादृश्य के आधार पर अधिकतर रूप बना लेते हैं। अंग्रेज़ी में s लगाकर बहुधा बहुवचन बनाया जाता है। नया विद्यार्थी कभी-कभी उसी सादृश्य पर box से boxes देखकर ox से oxes कर देता है, यद्यपि oxen होना चाहिए। नया हिन्दी सीखने वाला इसी प्रकार मर से मरा, धर से धरा देखकर कर से 'करा' या बैठिए, लिखिए देखकर 'करिए' कह बैठता है, यद्यपि परिनिष्ठित रूप 'किया' और 'कीजिये' हैं।

सादृश्य के कुछ प्रधान कारण—यों तो सुविधा के लिए सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है, पर उस सुविधा के भी कुछ विशेष पक्षों की ओर पृथक्-पृथक् संकेत किया जा सकता है : (क) अभिव्यंजना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए—एक प्रकार के भाव के लिए दो शब्द भिन्न-भिन्न रूपों के रहते हैं तो कुछ कठिनाई होती है। यदि दोनों को एक वजन का बनाना सम्भव होता है तो जन-मस्तिष्क बना लेता है। 'पूर्वीय' और पौरस्त के रहते हुए भी पाश्चात्य के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द इसी कारण हिन्दी में आ गया है। (ख) अधिक स्पष्टता लाने के लिए—यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्टतः न वहन कर सकते हों तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके रूप बना लिये जाते हैं। अंग्रेज़ी में, ग्रीक 'ism' के आधार पर optimism, socialism; जर्मन—ard के आधार पर bastard, coward; इटैलियन—sque के आधार पर romanesque, picturesque तथा फ्रेंच—al के आधार पर national, local आदि शब्द बना लिये गये हैं। (ग) समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए—अंग्रेजी before, after या लैटिन के antid, postid आदि इसके उदाहरण हैं। संस्कृत में स्वसृ का पंचमी में स्वसुः, मातृ का मातुः, पितृ का पितुः तो ठीक है, पर इन्हीं समानता से सादृश्य पर पति का पत्युः रूप चल पड़ा है, यद्यपि पतेः होना चाहिए, जैसा कि कुछ स्थानों पर मिलता भी है। संस्कृत में 'अभ्यन्तर' और 'बाह्य' शब्द थे। अभ्यन्तर से हिन्दी 'भीतर' का बनना तो ठीक था, पर बाह्य से

'बाहर' क्यों बना ? दोनों एक-दूसरे के विपर्यय हैं, अतः रूप की समानता दे दी गई। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' को मध्ययुगीन काव्य में 'सरगुण' का रूप दे दिया गया है। (घ) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए—कभी-कभी कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है तो उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों के सादृश्य पर नया रूप दे दिया जाता है। कभी-कभी नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाये जाते हैं। कुछ लोगों ने हिन्दी के 'इक' प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर ऐतिहासिक के स्थान पर 'इतिहासिक' लिखना आरम्भ किया और अब उसके सादृश्य पर समाजिक, व्यवहारिक, भूगोलिक आदि भी प्रयुक्त हो सकते हैं। (ङ) शीघ्रता, अशुद्धि तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि—इनका प्रभाव प्रायः अस्थायी होता है। शीघ्रता से, असावधानी से या अज्ञानतः अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य का आगमन हो जाता है। बच्चों और विभाषियों की भाषा में इसके प्रयोग अधिक मिलते हैं। घोड़ों, लड़कों और घरों के साथ हिन्दी में अनेक का भी 'अनेकों' हो गया है, यद्यपि अनेक स्वयं ही (एक न होने के कारण) बहुवचन है। पांडित्य-प्रदर्शन में भी अशुद्धि कभी-कभी सादृश्य का आधार लेती है। बाहुल्यता, पांडित्यता, आधिक्यता आदि इसके उदाहरण लिये जा सकते हैं। सादृश्य का आरम्भ—कुर्टियस आदि कुछ विद्वानों का मत था कि सादृश्य का आरम्भ हाल में हुआ है, पर इसके विपरीत ग्रील आदि इसे भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है। भाषा ही क्या, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरम्भ से ही सादृश्य का आरम्भ हुआ होगा। एक को घर बनाते देख, वैसा ही दूसरे ने बनाया होगा। तीसरे ने जब उससे अधिक उपयोगी बनाया होगा तो अपनी सुविधा के लिये पहले और दूसरे ने भी अपने मकान को तीसरे के आधार पर नया रूप दिया होगा। भाषा के आरम्भ होने पर यही बात भाषा में भी लागू हुई होगी। व्याकरण के सारे नियम 'सादृश्य' के कार्य करने के उपरांत ही समानता देखकर बनाये गये होंगे। सादृश्य के प्रभाव—(१) सादृश्य नियम के विरुद्ध पाये जाने वाले अपवादों को दूर करके नियमबद्धता लाता है। अंग्रेजी क्रियाएँ धीरे-धीरे इसी कारण एकरूप होती जा रही हैं। (२) एक भाषा का दूसरी पर भी प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी वाक्यों का प्रभाव इसी रूप में नेहरू, जैनेन्द्र आदि के वाक्यों पर पड़ा है। (३) दो जातियों के मिश्रण के बाद जब भाषा का विकास होता है तो वहाँ भी सादृश्य ही काम करके भाषा को दोनों के उपयुक्त बनाता है। (४) इसके प्रभाव से भाषा आसान होती जाती है। एसपिरैंतो इसी पर आधारित होने के कारण थोड़े समय में ही सीखी जा सकती है। सादृश्य का क्षेत्र—भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रमुख चारों ही शाखाओं में इसका क्षेत्र है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। पर रूप और ध्वनि में तो इसका प्रधान हाथ है। रूप, ध्वनि तथा अर्थ के प्रकरण में परिवर्तनों के साथ इसका भी कुछ वर्णन किया गया है। अन्त में यह कहना असंगत न होगा कि भाषा के विकास में सादृश्य का प्रधान हाथ है। (३) ध्रुवाभिमुख नियम (Law of Polarity)—अफ्रीका में भाषा-

कुलों में प्रधान कुल हेमेटिक है। इस कुल की परिभाषाएँ उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में बोली जाती हैं। इन भाषाओं की सबसे विशेषता यह है कि इनमें संज्ञा एकवचन का बहुवचन बनाया जाता है तो उसका लिंग भी परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् संज्ञा एकवचन पुल्लिंग का बहुवचन स्त्रीलिंग तथा संज्ञा एकवचन स्त्रीलिंग का बहुवचन पुल्लिंग हो जाता है। इस कुल की एक प्रधान भाषा सोमाली से इस सम्बन्ध में उदाहरण लिये जा सकते हैं। 'होयोदि' (माँ) स्त्रीलिंग एकवचन का बहुवचन 'होयोइन-कि' (= माताएँ) शब्द वहाँ के व्याकरण से पुल्लिंग है। दूसरी ओर 'लिबाहिह' (=शेर) पुल्लिंग एकवचन का बहुवचन शब्द 'लिबाहिह्ययो-दि (- कई शेर) वहाँ के व्याकरण से स्त्रीलिंग है। कारण और उसका स्पष्टीकरण—इस प्रकार के कुछ उदाहरण अफ्रीका के दूसरे भाषाकुल 'सेमिटिक' में भी मिलते हैं, पर वे अपवाद हैं और प्रायः हामी (हेमिटिक) के प्रभावस्वरूप हैं। इन भाषाओं के विशेषज्ञ श्री मेनहाफ़ (Meinhof) ने इस विचित्रता का कारण यह बतलाया है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार का भी परिवर्तन मान लेता है। वह दोनों को अलग नहीं कर पाता, अर्थात् एक वचन से दूसरे वचन में जाने में वह मूल लिंग से भी दूसरे में जाना मान लेता है। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को वह संभवतः एक मानता है। इसका पूरा परिचय अगले चित्र और विवरण में दिया जा रहा है। इन भाषाओं में संज्ञाओं के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग 'व्यक्ति' का है और दूसरा वस्तु' का। व्यक्ति-वर्ग 'जीवित' और वस्तु-वर्ग 'मृत' माना जाता है। साथ ही व्यक्ति-वर्ग की संज्ञाएँ 'सबल' और 'बड़ी' मानी जाती हैं और दूसरी ओर वस्तु-वर्ग की संज्ञाएं 'निर्बल' और 'छोटी'। इसके साथ ही एक और विचार है। वे लोग व्यक्ति-वर्ग की संज्ञाओं को कर्त्ता या करनेवाला मानते हैं और वस्तु-वर्ग को 'वह जिस पर कुछ किया जाय।' प्रथम वर्ग की संज्ञाएँ पुल्लिंग हैं और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'व्यक्तित्व', 'जीवन', 'सबलता', 'बड़ा होना' और 'कर्त्ता' आदि उनकी प्रधानताएँ हैं। इसके उलटे दूसरे वर्ग की संज्ञाओं की 'वस्तुत्व', 'अजीवन,' 'निर्बलता', 'छोटी होना' तथा 'अकर्त्ता' आदि विशेषताएँ हैं।

प्रोफेसर मेनहाफ़ द्वारा बनाया गया चित्र

[ऊपर की कही बातें इस चित्र से स्पष्ट की जा सकती हैं। चित्र में ऊपर और नीचे तीर द्वारा वचन-परिवर्तन दिखाया गया है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वचन के परिवर्तन होने पर संज्ञा एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चली जाती है, अतः उसमें सभी उलटी बातें (यदि एकवचन में संज्ञा पुल्लिंग, व्यक्ति, सबल, और कर्त्ता आदि) थी तो बहुवचन में (ऊपरी तीर) स्त्रीलिंग, वस्तु, निर्बल तथा अकर्त्ता आदि) आ जाती है।]

(४) एसपिरंतो (Esperanto) - एक विश्व-भाषा के निर्माण के लिये कितने ही लोगों ने प्रयास किये, पर इस सम्बन्ध में सबसे सफल और स्तुत्य प्यास डॉक्टर

एल० एल० ज़मेनहाफ़ (Zomenhof) का है। आप बहुत ही बड़े भाषाविज्ञान-विशारद थे। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं को लिख, पढ़ और बोल सकते थे। आपने
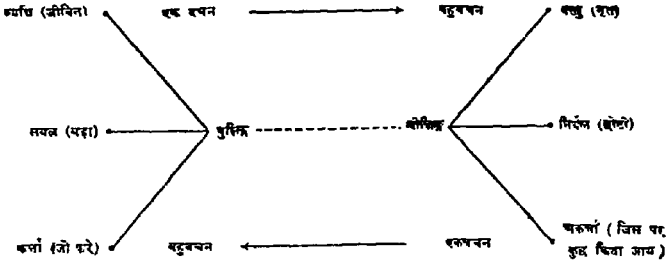
अपना पूरा जीवन इस कृत्रिम विश्व-भाषा एसपिरैंतो के लिये लगाया। आरम्भ और प्रचार—सर्वप्रथम सन् १८८७ ई० में डाक्टर महोदय ने इस अभूतपूर्व भाषा को विश्व के समक्ष रखा। पहले तो लोग इसकी ओर आकर्षित न हो सके, पर शीघ्र ही इसकी उपयोगिता और महत्ता समक्ष में आने लगी और यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् इसकी प्रशंसा करने लगे। प्रचारार्थ एक इसी नाम की संस्था भी खुली। लीग ऑव नेशन्स ने सभी राष्ट्रों से इसके लिये कहा और यह भी अनुरोध किया कि स्कूलों में इसका पढ़ाया जाना आरम्भ हो। सन् १९२५ में अन्तर्राष्ट्रीय टेलिग्राफ़िक सङ्घ ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और इसे बहुत ही स्पष्ट भाषा कहा। दो वर्ष बाद सन् १९२७ में संसार के ४४ प्रधान रेडियो स्टेशनों से इसके विषय में और इस भाषा में भाषण दिये गये। दिल्ली में भी इसे पढ़ाने का प्रबन्ध है। एसपिरैंतो का साहित्य—इसमें कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी गईं, पर अनूदित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। सब मिलाकर लगभग चार हज़ार पुस्तकें और बहुत-सी पत्रिकाएँ हैं। अनूदित पुस्तकों में बाइबिल का अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका साहित्य दिन-पर-दिन बढ़ रहा है। अभी निकट भूत में एसपिरैंतो भाषा में १०० से भी अधिक पत्रिकाएँ निकलती रही हैं। कमी—इस भाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह जीवित भाषा नहीं है, और न तो इसका स्वाभाविक विकास ही हुआ है। यदि किसी राष्ट्र या क्षेत्र की यह मातृभाषा होती तो इसका प्रचार और अधिक तेजी से होता और इसके सर्वमान्य होने की भी संभावना होती। उपर्युक्त कमी के कारण ही सरल, उपयोगी और स्तुत्य भाषा होने पर भी अभी तक विश्व क्या किसी एक देश की भी भाषा बनने में एसपिरैंतो सफल न हो सकी। व्याकरण, लिपि और शब्द-समूह—स्वयं एसपिरैंतो शब्द लैटिन के एक शब्द से बना है और इसका अर्थ 'आशापूर्ण' है। डॉ० ज़मेनहाफ़ ने इसको बनाने के पूर्व बहुत-सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया था। उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने सोलह नियम बनाये, जिन्हें कोई भी पढ़ा-

लिखा आदमी आधे घन्टे में पूर्णतः समझ सकता है। इसके व्याकरण में सादृश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। वाक्य-रचना की दृष्टि से यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है। तुर्की की भाँति इसमें भी सम्बन्ध-तत्त्व बिल्कुल स्पष्ट रहते हैं। उदाहरणार्थ—कैट (kat)=बिल्ली; इन (in)=स्त्रीलिंग का चिह्न; इड (id)=बच्चों का चिह्न; एट (et)=छोटे का चिह्न; ओ (o)=संज्ञा का चिह्न।

इनके योग से—

एक बिल्ली (स्त्री०) कैट-इन-ओ (Kat-in-o)

एक बिल्ली का बच्चा=कैट-इड-ओ (Kat-id-o)

एक छोटी बिल्ली (स्त्री०) का बच्चा=कैट-इन-एट-इड-ओ (Kat-in-et-id-o)

इसी प्रकार सभी शब्दों को पद बनाने के लिए केवल प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अपवाद नहीं मिलते। इसी कारण एक सप्ताह में ही पढ़कर यह बोली जा सकती है। इसकी लिपि रोमन है, पर अंग्रेजी की भाँति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं। निश्चित नियम के अनुसार जो कहा जाता है, वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। शब्द-समूह विशेषतः भारोपीय है। शब्द धातु पर आधारित हैं। इन धातुओं में आधी से भी अधिक लैटिन भाषा से ली गई हैं और शेष में आधी से कुछ अधिक ट्यूटानिक भाषाओं की हैं। बाकी लगभग १० प्रतिशत धातुएँ अन्य भाषाओं की हैं।

इडो (Ido) : एक शाखा

बीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ लोग एसपिरैंतो में कुछ परिवर्तन के पक्षपाती हो गए, पर जब इसके प्रधान लोगों ने उन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं किया तो नये लोग (इन लोगों में प्रधान कांदुरट (Conturat) महोदय थे) एक नवीन, परिवर्तित और अधिक उपयोगी तथा सरल भाषा को जन्म देने की बात सोचने लगे। इसी ध्येय से इस भाषा को और अधिक लचीला, वैज्ञानिक, सरल और स्वाभाविक बनाकर सन् १९०७ में 'इडो' नाम से नवीन भाषा की स्थापना की गई। 'इडो' शब्द स्वयं एसपिरैंतो भाषा का है, जिसका अर्थ 'बच्चा' या 'जन्मा हुआ' है। एसपिरैंतो में जो कुछ कठिनाइयाँ थीं, इडो में नहीं हैं, अतः यह विश्व-भाषा होने के लिए और अधिक उपयोगी है। पर इन दोनों ही में कोई भी विश्व-भाषा हो सकेगी, यह विषय संदेहास्पद है। सत्य तो यह है कि किसी भी कृत्रिम भाषा को यह स्थान प्राप्त हो सकेगा, यह कहना कठिन है।

(५) आइसोग्लास (Isogloss)—किसी भाषा या बोली में कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट शब्दों का या किसी एक शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। भाषा या बोली के नक्शे में उस विशिष्ट शब्द के प्रयोग-स्थलों को मिलाती हुई जो रेखा खींची जाती है, उसे आइसोग्लास कहते हैं। भाषा के नक्शों में शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग आइसो-

ग्लास का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में करते हैं। ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार आइसो-ग्लास उन रेखाओं को कहते हैं जो किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में भाषा-सम्बन्धी किसी भी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए खींची जायें।

(६) आइसोफोन (Isophone)—जब किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में ध्वनि-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही होती हैं तो नक्शे में उनको एक रेखा से प्रदर्शित करते हैं। इन रेखाओं को ध्वनिरेखा या आइसोफ़ोन कहते हैं। आइसोग्लास की विस्तृत परिभाषा के अनुसार आइसोफ़ोन भी एक प्रकार का आइसो-ग्लास है।

(७) ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic या Onomatopoetic Word)—किसी वस्तु या प्राणी की ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द बना लिए जाते हैं, उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। प्रायः सभी भाषाओं में ऐसे बहुत-से शब्द होते हैं। इसी आधार पर 'भाषा का आरम्भ' मानने का एक सिद्धान्त है जो अब व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं, धड़धड़, छलछल, कलकल, गड़गड़, इत्यादि। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में साधारण भाषा में इसका प्रयोग मध्य-भारतीय आर्यभाषा-काल के तृतीय चरण के पूर्व प्रायः कम मिलता है संसार में कुछ ऐसी भी भाषाएँ (जैसे अमेरिका की मैकेंज़ी नदी के किनारे रहने वाली असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा) हैं, जिनमें इस प्रकार के शब्द बिल्कुल नहीं हैं।

(८) प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-word)—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। अभी तक ये साधारणतया बोलचाल में ही विशेष प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में इनको स्थान कम ही मिला है। पर ज्यों-ज्यों जनभाषा का साहित्य पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है, साहित्य में भी इनके प्रयोग की अधिक सम्भावना है। इनमें किसी शब्द की ध्वनि के अनुकरण पर दूसरा शब्द बनाकर उसी के साथ प्रयुक्त करते हैं। इसका अर्थ साधारणतया 'इत्यादि' होता है। जैसे 'राम श्याम' में 'श्याम' का अर्थ इत्यादि है। इसी प्रकार पानी-वानी, खाना-वाना, रुपया-उपया। मराठी (घोड़ा-वोड़ा), बंगला तथा गुजराती आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है। प्रतिध्व-न्यात्मक शब्द केवल संज्ञा शब्दों के आधार पर ही नहीं बनते। 'जाना-वाना' आदि क्रियाओं के उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

(९) मैलाप्रापिज्म (Malapropism)—सुन्दर तथा बड़े शब्दों के प्रयोग की लालच से शब्दों का अनुचित प्रयोग करना मैलाप्रापिज्म कहलाता है। इसका नाम शेरिडान की पुस्तक 'दी राइवल्स' (The Rivals) के एक पात्र श्रीमती 'मैलाप्राप' पर आधारित है, जिन्होंने इस प्रकार के बहुत प्रयोग किये हैं। आज हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग बहुत हो रहे हैं। लोग उपसर्गों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। ज्ञान के स्थान पर परिज्ञान, क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति, संधि के स्थान पर अभिसंधि इत्यादि अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं, जिनके अर्थ यथार्थतः कुछ दूसरे ही हैं।

(१०) आधारसिद्धान्त (Substratum Theory)—जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (जाति या देश) अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को सीखता है तो नवीन भाषा पर अपनी भाषा के उच्चारण तथा प्रयोग विषयक अनेक गुण आरोपित कर देता है। उसके सुर, बल आदि अपनी पुरानी भाषा के ही रहते हैं। इन सब कारणों से वह नवीन भाषा को कुछ परिवर्तित करके ग्रहण करता है। इसी को आधार सिद्धान्त कहते हैं। शब्द-समूह में भी यह सिद्धान्त देखा जाता है। आधार सिद्धान्त का प्रभाव—भाषा के परिवर्तन में इसका बहुत बड़ा हाथ है। जितनी ही कोई भाषा विभाषियों द्वारा प्रयुक्त होगी, उसमें विभाषी की मातृभाषा के आधार पर सीखने के कारण परिवर्तन आते जाएँगे। बोलियों के बनने में भी इसका बड़ा हाथ है। एक भाषा जब विभिन्न वर्गों द्वारा ग्रहण की जाती है तो आधार सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर काम करता है और स्थानानुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। लैटिन भाषा को गाल और स्पेनी लोगों ने अपनाया और एक ही लैटिन भाषा आधार सिद्धान्त के कारण (यद्यपि कुछ अन्य कारण भी साथ-साथ काम कर रहे थे)। स्पेनिश और फ्रेंच दो बोलियों में परिणत हो गई, जो आज स्वतन्त्र भाषाएँ बन गई हैं। प्रथम जर्मन वर्ण-परिवर्तन आधार सिद्धान्त के ही कारण घटित हुआ कहा जाता है। अंग्रेजी की ट्, ड्, थ् आदि ध्वनियाँ हिन्दी से भिन्न हैं, पर यहाँ वे ट्, ड्, थ् हो गई हैं। हमने अंग्रेजी को अपने आधार पर सीखा है, इसी कारण हमारे उच्चारण को न तो जल्दी से अंग्रेज समझ सकता है और न तो उसके उच्चारण को हम। येस्पर्सन आदि कुछ विद्वान् तो भाषा के विकास में आधार सिद्धान्त को बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बलशाली बतलाते हैं